अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

INTERNATIONAL ECONOMICS

[विभिन्न भारतीय विश्वविद्यालयों की बी.ए. (ऑनर्स), एम.ए. तथा एम.कॉम.
कक्षाओं के स्वीकृत पाठ्यक्रमानुसार]

एच. एस. अग्रवाल
रीडर, अर्थशास्त्र विभाग
आगरा कॉलिज, आगरा

सी. एस. बरला
प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

विश्लेषणात्मक समीक्षापूर्ण अध्ययन



लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा-3

प्रकाशक :
लक्ष्मीनारायण अग्रवाल
अस्पताल मार्ग, आगरा–3

प्रथम संस्करण : 1975
अष्टम संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण : 1991

96743

मूल्य : पैंतालीस रुपये

मुद्रक :
जैनसन्स प्रिन्टर्स
4/45 सकिया बजीरशाह, सेठगली, आगरा–3

अष्टम संस्करण की प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के सप्तम संस्करण का अध्यापकों तथा छात्रों ने जिस प्रकार स्वागत किया वह हमारे लिये काफी प्रेरणा एवं सन्तोष का विषय रहा है। अनेक विद्वान् साथियों ने हमें अपने सुझाव भी भेजे। प्रस्तुत अष्टम संस्करण में यथासम्भव उन सभी सुझावों को दृष्टिगत रखते हुए संशोधन तथा परिवर्द्धन किये गये है।

पूर्व की भाँति इस संस्करण में भी नवीनतम प्रतिवेदनों के आधार पर उपलब्ध आँकड़ों का समावेश किया गया है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं आर्थिक समस्याओं पर की गयी शोध पर आधारित लेख आदि का व्यापक उपयोग किया गया है। 1989 में अमरीका द्वारा 1988 के व्यापार कानून के अन्तर्गत कुछ देशों के विरुद्ध सुपर-301 तथा स्पेशल-301 धाराओं का उपयोग करने की चेतावनी देने पर भारत में काफी प्रतिक्रियाएँ हुई थीं। प्रस्तुत संस्करण में इनके विषय में विस्तृत जानकारी दी गयी है। इसी प्रकार, गैट (GATT) तथा अन्य संगठनों से सम्बद्ध अध्यायों में काफी संशोधन किये गये है। हमें आशा है कि प्रबुद्ध पाठक—विद्यार्थी एवं शिक्षक—हमारे प्रयासों को पसन्द करेंगे तथा पुस्तक को और अधिक उपयोगी बनाने हेतु हमें अपने सुझाव देकर अनुगृहीत करेंगे।

अन्त में, हम प्रकाशक तथा मुद्रक के आभारी हैं जिन्होंने इस संस्करण को हर प्रकार से उत्तम बनाने का प्रयास किया है।

—लेखकगण

प्राक्कथन

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विषय मे वणिकवादियों से लेकर फ्रेडरिक लिस्ट तक तथा मार्शल से लेकर हैक्शर व ओहलिन तक ने काफी कुछ लिखा है। परन्तु आज के सन्दर्भ म इन सभी अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त एव प्रमेयों की अधिक उपादेयता नही रह गयी है। पिछले कुछ दशकों मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे साझा बाजारों एव अन्य प्रकार के क्षेत्रीय सगठनों की स्थापना के कारण अनेक जटिलताएँ उत्पन्न हो गयी हैं। उधर आर्थिक विकास की दौड मे आगे रहने वाले देश विदेशी व्यापार की दृष्टि से भी काफी भाग्यशाली सिद्ध हुए है जबकि अल्प-विकसित देशो का व्यापार-सन्तुलन पर्याप्त विदशी सहायता के बावजूद प्रतिकूल होता जा रहा है। पिछले कुछ वर्षों मे इस स्थिति को सुधारने हेतु जो प्रयास किये गये हैं चार-पाँच दशक पूर्व अर्थशास्त्री उनके विषय मे सोच भी नही पाये थे।

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बद्ध सिद्धान्तो एव प्रवृत्तियो के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की भी विस्तृत विवेचना की जाती है। वस्तुत. इसी आर्थिक सहयोग के कारण विभिन्न देशो मे आर्थिक विकास की प्रक्रिया पर जो प्रभाव हो रहे हैं, कुछ वर्षों पूर्व तक वह सब कल्पनातीत था। आज अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाएँ (विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष आदि) इस सहयोग के प्रतीक के रूप मे विद्यमान हैं तथा इसमे सतत् वृद्धि हेतु प्रयत्नशील हैं। ये सस्थाएँ न केवल अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को सुलभ बनाते हुए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वृद्धि मे सहायक हैं, अपितु विभिन्न देशो के आर्थिक विकास की प्रक्रिया मे प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से सहायक भी हैं। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र इन सभी का अध्ययन करता है।

यह एक प्रसन्नता की बात है कि पिछले कुछ वर्षों मे अनेक भारतीय विश्वविद्यालयो के पाठ्यक्रमो मे अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र को शामिल कर लिया गया है। परन्तु इस विषय पर हिन्दी-भाषी विद्यार्थियों के लिए पर्याप्त विषय-सामग्री एव उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं। प्रस्तुत पुस्तक इस कमी को पूरा करने की दिशा मे एक प्रयास मात्र है। इस पुस्तक मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बद्ध सिद्धान्तो तथा इसके व्यावहारिक पक्ष एव तत्सम्बन्धी समस्याओ को प्रस्तुत करने के साथ-साथ भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रवृत्तियो एव भारत सरकार की विदेशी व्यापार की नीति की भी समीक्षा की गयी है। यही नहीं, इसमें अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या, अवमूल्यन, विदेशी सहायता बनाम विकासशील देशो के निर्यातो को रियायतें देने की नीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग से सम्बद्ध विभिन्न प्रयासो की भी विस्तार से चर्चा की गयी है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के माध्यम से किये जा रहे अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सुधारो तथा इस दिशा मे भारत के दृष्टिकोण पर भी पृथक् से अध्याय दिये गये हैं।

यथासम्भव इस पुस्तक मे नवीनतम आँकडो, उपयुक्त उदाहरणो एव रेखाचित्रों की सहायता से विषय-सामग्री को सुस्पष्ट बनाने का प्रयास किया गया है। विद्यार्थियो के लिए प्रत्येक अध्याय के अन्त मे महत्वपूर्ण प्रश्न एव उनके उत्तर हेतु सकेत दिये गये हैं जो इस पुस्तक की एक प्रमुख विशेषता है। इन सब के बावजूद सम्भव है कही-कही विषय-वस्तु को न्यायपूर्ण ढग से प्रस्तुत नही किया जा सका हो। परन्तु हमें पूर्ण विश्वास है कि विद्यार्थी तथा अध्यापक-बन्धु अपने अमूल्य सुझाव देकर इस पुस्तक को उपयोगी बनाने मे हमें सहयोग देंगे।

हम प्रकाशक व मुद्रक के अत्यन्त आभारी हैं, जिन्होंने पुस्तक को प्रत्येक दृष्टि से उत्तम बनाने का प्रयास किया है।

15 अगस्त, 1975

—लेखकगण

विषय-सूची

1

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का अर्थ, प्रकृति एवं महत्व

[MEANING, NATURE AND IMPORTANCE OF INTERNATIONAL ECONOMICS]

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की अवधारणाएँ सामान्य अर्थशास्त्र की अवधारणाओं के समान ही है। सामान्य अर्थशास्त्र के अन्तर्गत हम व्यक्ति की उन सभी गतिविधियों का अध्ययन करते हैं जिनका सम्बन्ध उपभोग, उत्पादन, विनिमय तथा वितरण की समस्याओं से होता है। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत भी हम इन सभी आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन करते हैं। फिर भी इन दोनों में मुख्य अन्तर गति एवं प्रकृति का है। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से होता है। इसमें विभिन्न देशों के मध्य आर्थिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। परन्तु सभी प्रकार की आर्थिक क्रियाओं का आधार, चाहे वे आन्तरिक हों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय, प्रायः वस्तुओं एवं सेवाओं के बदले में अन्य वस्तुओं एवं सेवाओं को प्राप्त करना है। अतः यह कहना उचित होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में विभिन्न राष्ट्रों के मध्य वस्तुओं एवं सेवाओं के विनिमय की समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के नाम से भी परिभाषित किया जा सकता है।

एक अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्री सम्पूर्ण विश्व को विभिन्न देशों के एक सम्प्रदाय के रूप में देखता है। प्रत्येक देश के अपने प्राकृतिक साधन, पूँजी, श्रम तथा मानवीय साधन होते हैं। इनकी अपनी सामाजिक तथा आर्थिक संस्थाएँ होती हैं एवं इनकी अपनी कुछ स्वतन्त्र आर्थिक नीतियाँ भी होती हैं। इस सन्दर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्री वस्तुओं एवं सेवाओं की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता की व्याख्या करने का प्रयास करता है तथा इसका देश की आन्तरिक नीतियों पर पड़ने वाले प्रभावों को ज्ञात करता है। उसका मुख्य ध्यान उन नीतियों पर होता है जो विदेशी व्यापार तथा भुगतान को प्रभावित करती हैं, जैसे तटकर-नीति, विदेशी विनिमय दर इत्यादि। परन्तु उसे अन्य नीतियों का भी अध्ययन करना पड़ता है; जैसे कर-नीति, सार्वजनिक व्यय की नीति, मौद्रिक नीति आदि क्योंकि उनसे उन शर्तों का निर्धारण होता है, जिनके आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियाँ (विनिमय) सम्पन्न होती हैं।

संक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र भी मुख्य रूप से व्यक्तियों से सम्बन्ध रखता है। इसमें विश्लेषणात्मक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सम्पूर्ण राष्ट्र को एक इकाई समझा जाता है तथा विभिन्न राष्ट्रों के अधिकतम कल्याण हेतु अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र को अनेक कार्य सम्पन्न करने पड़ते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के 'शुद्ध' व्यापार सिद्धान्त के अन्तर्गत इस बात का पता लगाया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण क्यों अपनाया जाता है, श्रम एवं पूँजी की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता के क्या कारण हैं, तथा एक देश द्वारा कौन-कौन सी वस्तुओं तथा सेवाओं का निर्यात एवं आयात किया जाय एवं कितनी-कितनी मात्रा में? इसके साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में इस बात का भी अध्ययन किया जाता है कि स्वतन्त्र विदेशी व्यापार तथा साधन की गतिशीलता के क्या आर्थिक प्रभाव होते हैं, अथवा संरक्षण-नीति किस प्रकार क्रियान्वित की जाती है तथा उसके क्या प्रभाव होते हैं। सरल शब्दों में, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु विनिमय एवं साधनों की गतिशीलता की दरों का अध्ययन किया जाता है तथा उनका विभिन्न देशों की राष्ट्रीय आय के स्तर एवं वितरण पर पड़ने वाले प्रभावों का विवेचन किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का अन्य मुख्य कार्य विभिन्न देशों के भुगतान-सन्तुलनों की व्याख्या

करना है। इसमे यह देखा जाता है कि एक देश द्वारा दूसरे देश का भुगतान करने के कौन-कौन से साधन है ? एक देश अपना भुगतान सन्तुलित करने के लिए भिन्न-भिन्न तरीकों को अपना सकता है ? किसी देश के भुगतान-शेष मे असन्तुलन क्यो उत्पन्न होता है तथा उसके क्या-क्या प्रभाव पड़ते हैं ? भुगतान-असन्तुलन को किन विधियो द्वारा ठीक किया जा सकता है, इसका भी इसमे अध्ययन किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र मे विशेष रूप से अल्पविकसित देशो की समस्याओ का भी अध्ययन किया जाता है। इन देशो की समस्याओ के समाधान हेतु विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की संरचना एव कार्यविधि का भी इसमे वर्णन किया जाता है। उदाहरण के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक कोष (IMF), विश्व बैंक (IBRD), एशियाई विकास बैंक, गाट (GATT) तथा अंक्टाड (UNCTAD) आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अर्थ [MEANING OF INTERNATIONAL ECONOMICS OR INTERNATIONAL TRADE]

जब दो या दो से अधिक राष्ट्रो के मध्य वस्तुओं या सेवाओ का आदान-प्रदान किया जाता है तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कहा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अर्थ स्पष्ट करने के लिए 'राष्ट्रीय' शब्द को समझना आवश्यक है। राष्ट्र से तात्पर्य राजनीतिक दृष्टिकोण के साथ-साथ आर्थिक पहलू से भी होता है। **किण्डलबर्गर** (Kindleberger) के अनुसार, एक देश स्वय को एक राजनीतिक इकाई के रूप मे इस कारण सफलतापूर्वक सगठित कर लेता है कि उसके नागरिक एव उसकी सरकार आपस मे एकता एव निकटता का सम्बन्ध बनाये रखते हैं। इसी प्रकार आर्थिक अर्थ मे एक राष्ट्र उत्पादको का एक ऐसा समूह है जिसमे श्रम एव पूंजी (उत्पत्ति के साधन) गतिशील होते हैं।

अब हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एव अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाओ का अध्ययन करेंगे।

क्लेमेण्ट फीस्टर एवं रोथवेल (Clement, Pfister and Rothwell) के अनुसार, "व्यापार एक ऐसे विश्व मे ही सम्भव होता है, जहाँ वस्तुओ का आवागमन एव उत्पत्ति के साधनो की गतिशीलता सम्भवतया अपूर्ण होती है।"[1] इस परिभाषा मे सकुचित दृष्टिकोण अपनाया गया है। यहाँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उन देशो के बीच मे ही सम्भव होना माना गया है जहाँ उत्पत्ति के साधनों एव वस्तुओं की गतिशीलता अपूर्ण होती हो।

हैरोल्ड (Harrold) के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उस समय सम्भव होता है जबकि श्रम विभाजन राष्ट्रीय सीमाओ के बाहर किया जाता है।"[2] इस परिभाषा के अन्तगत श्रम विभाजन को ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नाम दिया है जो व्यावहारिक नहीं है।

प्रो. एल्सवर्थ (P T Ellsworth) ने अपनी पुस्तक *The International Economy* मे बड़े सरल ढग से अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की परिभाषा दी है। उनके अनुसार जिस प्रकार अर्थशास्त्र की परिभाषा यह कहकर दी जाती है कि "अर्थशास्त्र वह है जो अर्थशास्त्री करते हैं", उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का सम्बन्ध भी विभिन्न राष्ट्रो के बीच आर्थिक सम्बन्धो से है। जब दो देश आपस मे व्यापार करते है तो उनमे आर्थिक सम्बन्धो की शुरूआत होती है, और इनके कारण कुछ आर्थिक समस्याएँ भी उपस्थित होती है। अत विस्तृत रूप से अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र मे इन्ही आर्थिक सम्बन्धो एव समस्याओं का अध्ययन किया जाता है।

प्रो हैरड (Harrod) के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का सम्बन्ध उन समस्त आर्थिक सौदो से है जो देश की सीमा के बाहर किये जाते हैं।" इनके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र एक विस्तृत एव जटिल विषय है इसका सर्वेक्षण ऐतिहासिक एव भौगोलिक दृष्टिकोण से किया जा सकता

1 M O Clement, Richard L. Pfister and Venneth J. Rothwell *Theoretical Issues in International Economics*, Constable, London, 1967, p. 3.

2 Harrold, *International Economics*, p. 9.

है। इसके अन्तर्गत इस बात का अध्ययन भी किया जाता है कि किसी देश मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रमुख घटक कौन-कौन से हैं।[1]

प्रो. वासरमैन एवं हटमेन (Prof Wasserman and Huttman) के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का सम्बन्ध वस्तुओं, सेवाओ, उपहारो, पूँजी एव बहुमूल्य धातुओ के विनिमय से है जिसमे इन मदों का स्वामित्व एक देश के निवासियो के पास से दूसरे देश के निवासियो के पास हस्तान्तरित हो जाता है। यह उन कानूनो, सस्थाओं एव व्यवहारो का वर्णन तथा विश्लेषण करता है जिसके अन्तर्गत व्यापार किया जाता है।"[2]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की एक उपयुक्त परिभाषा निम्न प्रकार दी जा सकती है : 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दो या दो से अधिक राष्ट्रो के मध्य वस्तुओ, सेवाओं तथा अन्य मदों का आदान-प्रदान करने का विज्ञान एव कला है।"

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का विकास
[DEVELOPMENT OF INTERNATIONAL ECONOMICS]

जैसा कि हम स्पष्ट कर चुके हैं, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य विभिन्न राष्ट्रो के हितो को अधिकतम करना है। विभिन्न देशो द्वारा अलग-अलग राजनीतिक प्रणालियो को अपनाने के बावजूद भी चिरकाल से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को महत्व दिया जाता रहा है। बहुत समय पहले से ही पश्चिम के साहसी व्यापारी अपनी वस्तुओं को लेकर महासागरो की जोखिमपूर्ण यात्रा करके पश्चिम से पूरब आये तथा अपनी वस्तुओ के बदले अन्य वस्तुएँ लेकर वापस अपने देशो (पश्चिम) को चले गये। उस समय व्यापार वस्तु अदल-बदल प्रणाली से ही होता था। परन्तु समय के विकास के साथ-साथ मुद्रा के आविष्कार ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का रूप बदल दिया।

17वी शताब्दी मे सबसे पहले वणिकवादियो ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, विशेष रूप से आयातो की अपेक्षा निर्यातो को बढाने की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होने भुगतान-सन्तुलन को अनुकूल बनाये रखने हेतु उद्योगो को सरक्षण देने की नीति अपनाने पर जोर दिया तथा आयातो पर प्रतिबन्ध लगाने को उपयुक्त माना। परन्तु 18वी शताब्दी मे प्रकृतिवादियो ने इन नीतियो का विरोध किया।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सर्वप्रथम व्यवस्थित वर्णन प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अन्तर्गत किया गया है। इसका प्रतिपादन 18वी शताब्दी के अन्त मे किया गया। इसे मुख्य रूप से एडम स्मिथ के नाम से जोड़ा जाता है, परन्तु इस सिद्धान्त का विकास एव विस्तार अन्य अर्थशास्त्रियों द्वारा किया गया जिसमे डेविड रिकार्डो (David Ricardo) तथा जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) के नाम मुख्य है। 19वी शताब्दी के मार्शल (Marshall), बेस्टेबल (Bastable), केर्न्स (Cairnes) आदि अर्थशास्त्रियो ने इस प्रतिष्ठित सिद्धान्त को और अधिक स्पष्ट एव विकसित करने का प्रयास किया।

बीसवी शताब्दी मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रकृति मे मूलभूत परिवर्तन हुए। इस समय में विभिन्न अर्थशास्त्रियो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त मे आवश्यक सुधार एवं सशोधन किये गये। फ्रैंक डी. ग्राहम (Frank D. Graham), बर्टिल ओहलिन (Bertil Ohlin), जैकब वाइनर (Jacob Viner), हैबरलर (Haberler), पाल एंजिग (Paul Einzig) आदि अनेक अर्थशास्त्रियो ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त के विभिन्न सुधरे हुए रूप प्रस्तुत किये। इन्होंने उस समय की अनेक आर्थिक समस्याओ का अध्ययन किया जिनमें जर्मन हस्तान्तरण समस्या, विश्व-युद्धो के बाद तीव्र मुद्रा-प्रसार की समस्या, स्वर्णमान का परित्याग, महामन्दी की समस्या आदि मुख्य हैं। इन समस्याओ ने अनेक देशो के भुगतान-शेष मे असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न कर दी। उसके फलस्वरूप अनेक देशो ने इसे दूर करने के लिए विभिन्न सरक्षणात्मक तरीके अपनाये, जैसे विनिमय-नियन्त्रण, प्रशुल्क एव कोटा प्रणाली, बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली आदि। इस प्रकार जैसे-जैसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्याएँ उपस्थित होती गयी वैसे-वैसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त मे भी परिवर्तन होते गये।

---

1 Sir Roy Harrod, *International Economics*, *1969*, p. 4.
2 Wasserman and Huttman, *Modern International Economics*.

वर्तमान समय में अल्पविकसित देशों की आर्थिक समस्या ने विश्व के अनेक अर्थशास्त्रियों का ध्यान आकर्षित कर रखा है। इनमें जैकब वाइनर (Jacob Viner), जे आर. हिक्स (J R. Hicks), किण्डलबर्गर (Kindleberger), एस. बी. लिंडर (S B Linder), ला मिन्ट (Hla Myint), हैबरलर (Haberler), नर्क्स (Nurkse) आदि के नाम महत्वपूर्ण हैं। इन अर्थशास्त्रियों ने अल्पविकसित देशों की विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करके अनेक सुझाव प्रस्तुत किये हैं। इस सन्दर्भ में इन्होंने तुलनात्मक लागतों की सरचना एवं व्यापार की शर्तों की गति को प्रभावित करने वाले अनेक कारणों का पता लगाने के लिए अनेक मॉडल (models) भी विकसित किये हैं। इनका वर्णन आगे के अध्यायों में किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का महत्व[1]
[IMPORTANCE OF INTERNATIONAL ECONOMICS]

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के अध्ययन के महत्व को जानने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों पर दृष्टिपात करना पड़ेगा। जैसा कि हम कह चुके हैं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विनिमय के दोनों पक्षों को लाभ होता है। इससे औसत उत्पादन लागत में कमी करके लाभ प्राप्त किया जा सकता है। *विशिष्टीकरण के सभी लाभों को प्राप्त किया जा सकता है।* जिस प्रकार घरेलू व्यापार में विनिमय का कार्य दोनों पक्षों की आवश्यकताओं को पूरा करता है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विभिन्न राष्ट्रों के हितों की पूर्ति करता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का महत्व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों की जानकारी में निहित है।

पुनः, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से अल्पविकसित राष्ट्रों की समस्याओं का समाधान प्राप्त किया जा सकता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि विश्व के विकसित देशों के आर्थिक विकास में विदेशी पूंजी तथा श्रम ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। अल्पविकसित देशों को आवश्यक मात्रा में विदेशी पूंजी एवं तकनीकी ज्ञान उपलब्ध कराकर उनके आर्थिक विकास की दर में वृद्धि की जा सकती है।

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का अध्ययन हमें यह भी बताता है कि विश्व के देशों की विभिन्न समस्याएँ अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा हल की जा सकती हैं। इस बात को ध्यान में रखकर ही विश्व के विभिन्न देशों ने मिलकर अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं, जैसे अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक कोष, विश्व बैंक, गाट, अंकटाड आदि का निर्माण किया है। विशेष रूप से आर्थिक क्षेत्र में इन सभी संस्थाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। प्रो. मायर (Mier) के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने विश्व के अनेक राष्ट्रों के विकास को तीव्र गति से आगे बढ़ाने में सहायता की है। किसी भी राष्ट्र का विकास अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बिना नहीं हो सकता। वे राष्ट्र जो आज सबसे अधिक विकसित माने जाते हैं, उनके बीच भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हुआ जिससे उन्हें अधिक तीव्र गति से विकास करने का अवसर प्राप्त हो गया। उदाहरण के लिए, इंगलैण्ड का आर्थिक विकास सूती एवं ऊनी वस्त्रों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप ही हुआ है। इसी प्रकार स्वीडन ने लकड़ी का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किया। कनाडा ने गेहूँ के व्यापार द्वारा, जापान ने रेशम के व्यापार द्वारा, डेनमार्क ने डेयरी के निर्यात द्वारा, स्विटजरलैण्ड ने घड़ी के निर्यात द्वारा, भारत ने चाय एवं जूट के निर्यात द्वारा अपना आर्थिक विकास किया। वर्तमान में भी विश्व के सभी देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से ही लाभान्वित हो रहे हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र
[SCOPE OF INTERNATIONAL ECONOMICS]

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र को निम्नलिखित तीन शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है :

1 अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री (Subject-matter of International Economics),

---

1 अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के महत्व की विस्तृत व्याख्या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों के अन्तर्गत देखिए इसी पुस्तक का अध्याय 8।

2. अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की प्रकृति (Nature of International Economics),

3. अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का अन्य विषयों (विज्ञानों) से सम्बन्ध (Relation of International Economics with other Subjects)।

1. अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री (Subject-matter of International Economics)

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री में एक देश से दूसरे देश के मध्य किये जाने वाले वस्तुओं एवं सेवाओं के आयात-निर्यात को सम्मिलित किया जाता है। संक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री का वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है :

(i) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त—अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाता है। इन सिद्धान्तों में वणिकवादी एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त, एडम स्मिथ का प्रतिष्ठित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त, तुलनात्मक लागत सिद्धान्त, अवसर लागत सिद्धान्त, हैक्शर ओहलिन सिद्धान्त, ल्योनतीफ विरोधाभास, स्टालपर-सेमुल्सन प्रमेय, साधन मूल्य-समानीकरण सिद्धान्त आदि मुख्य हैं।

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मौद्रिक पहलू—अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मौद्रिक पहलुओं का अध्ययन भी किया जाता है। इनमें व्यापार की शर्तें, विदेशी व्यापार गुणक, विदेशी विनिमय एवं विनिमय दर निर्धारण के सिद्धान्त, विनिमय नियन्त्रण, भुगतान सन्तुलन, मूल्य स्थिरता एवं विनिमय स्थिरता एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान आदि का अध्ययन मुख्य है।

(iii) वाणिज्यिक नीतियाँ—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में जो नीति अपनाई जाती है उसे वाणिज्यिक नीति कहते हैं। इसके अन्तर्गत विभिन्न वाणिज्यिक नीतियों का अध्ययन किया जाता है जैसे स्वतन्त्र व्यापार एवं संरक्षण, संरक्षण की विधियाँ, आयात अभ्यंश, एकाधिकारी संघ एवं अन्तर्राष्ट्रीय संघ (Monopolies and International Cartels), प्रशुल्क नीति, राशिपतन, साम्राज्य अधिमान (Imperial Preference), राजकीय व्यापार (State Trading), द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय व्यापार (Bilateral and Multilateral Trade), कस्टम यूनियन का सिद्धान्त (Theory of Custom Union), आदि।

(iv) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग—अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में हम उन सभी संस्थाओं का अध्ययन करते हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहित करती हैं तथा उससे सम्बन्धित समस्याओं का हल करने के लिए स्थापित की गयी हैं। इनमें निम्न मुख्य हैं : अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF), विश्व बैंक (World Bank or IBRD), अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या (Problem of International Liquidity), अंकटाड (United Nations Conference on Trade and Development or UNCTAD), यूरोपीय साझा बाजार (European Common Market), एशिया तथा प्रशान्त सागर क्षेत्र के देशों का व्यापार सम्मेलन (Trade Conference of Asia and Pacific Nations), एशियाई साझा बाजार (Asian Common Market), एवं प्रो. कीन्स का अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र आदि।

(v) विदेशी व्यापार की संरचना एवं दिशा—इसके अन्तर्गत हम किसी देश की काल (समय) के क्रम में व्यापारिक प्रवृत्तियों का अध्ययन करते हैं। विदेशी व्यापार में विविधता एवं आधुनिक प्रवृत्तियाँ, व्यापार एवं भुगतान सन्तुलन, आयात-निर्यात नीति, निर्यात संवर्द्धन एवं आयात प्रतिस्थापन, अवमूल्यन एवं अधिमूल्यन, विदेशी पूँजी और आर्थिक विकास आदि से सम्बन्धित समस्त धारणाओं का अध्ययन भी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री में सम्मिलित होता है। प्रायः सरकार की अनुदान एवं करारोपण नीतियाँ आयात तथा निर्यात को प्रभावित करती हैं। जहाँ सरकार की अन्य नीतियों का प्रत्यक्षतः देश के नागरिकों पर ही प्रभाव होता है, वाणिज्यिक नीतियाँ यानी आयात व निर्यात से सम्बद्ध नीतियाँ न केवल देश के भुगतान-सन्तुलन को अपितु किसी सीमा तक सम्बद्ध देशों के नागरिकों को भी प्रभावित करती हैं। अस्तु, सर-

कार की आयात व निर्यात नीतियों का भी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है।[1]

2 अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की प्रकृति
(Nature of International Economics)

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की प्रकृति के अन्तर्गत हम यह जानने का प्रयास करते हैं कि यह विज्ञान है अथवा कला। जैसा कि हम जानते हैं किसी भी विषय के क्रमबद्ध ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। विज्ञान में किसी तथ्य के कारण एवं परिणाम के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। किसी घटनाचक्र के सम्बन्ध में सामान्य नियमों को विकसित करना ही विज्ञान कहलाता है। विज्ञान की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में हम अनेक नियमों एवं सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं। इनका विकास भी क्रमबद्ध तरीके से होता है। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र तथ्यों के समूहों का प्रतिपादन करने में सहायता करता है जिसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की प्रकृति विशेषताएँ तथा अन्य महत्वपूर्ण बातों (निष्कर्षों) की जानकारी प्राप्त होती है। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र ऐसे सिद्धान्तों की स्थापना करता है जो विदेशी व्यापार में लगे हुए व्यक्तियों के व्यवहारों का अध्ययन करता है अतः अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र को निःसन्देह विज्ञान कहा जा सकता है। परन्तु अन्य विषयों की भाँति यह व्यक्तियों के व्यवहार का अध्ययन करता है। अतः इसे सामाजिक विज्ञान की श्रेणी में ही रखा जाता है।

किण्डलबगर (Kindleberger) के अनुसार, "बढ़ते हुए अन्तर्राष्ट्रीयवाद या बढ़ते हुए राष्ट्रवाद में अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र ज्ञान एवं समझौतों का एक महत्वपूर्ण साधन माना जाता है।" अतः स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र को एक विज्ञान माना गया है जो व्यक्ति के व्यवहार का अन्तर्राष्ट्रीय परिपेक्ष में अध्ययन करता है।

विज्ञान की भाँति कला को भी परिभाषित किया जा सकता है। किसी विषय का क्रमबद्ध ज्ञान विज्ञान कहलाता है जबकि उस विषय से सम्बन्धित नियमों एवं सिद्धान्तों का क्रमबद्ध प्रयोग कला कहलाता है। इस प्रकार कला से तात्पर्य किसी विज्ञान के प्रयोगात्मक रूप से है। कला एक व्यावहारिक क्रिया है जबकि विज्ञान केवल ज्ञान प्रदर्शित करता है। किसी बात का ज्ञान प्राप्त करना विज्ञान है किन्तु जब उस ज्ञान का किसी पूर्व-निश्चित उद्देश्य की पूर्ति हेतु प्रयोग किया जाता है तो उस ज्ञान के प्रयोग को ही कला कहा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में विज्ञान की भाँति नियमों एवं सिद्धान्तों का निर्माण ही नहीं किया जाता बल्कि उन नियमों एवं सिद्धान्तों का प्रयोग भी व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक नीतियों, कार्यक्रमों एवं कार्यवाहियों के लिए इस क्षेत्र (अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र) में उत्पन्न होने वाली समस्याओं के समाधान के लिए किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र एक कला भी है। वासरमैन एवं हॉल्टमैन ने अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र को कला मानने के निम्नांकित कारण बताये हैं :

(अ) अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में आने वाली समस्याओं के समाधान के लिए हल प्रस्तुत करता है, तथा

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र व्यावहारिक समस्याओं को हल करने में नियमों की व्याख्या करता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र विज्ञान तथा कला दोनों ही है।

3 अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का अन्य विषयों से सम्बन्ध
(Relation of International Economics with other Subjects)

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र एक आश्रित विज्ञान है जो व्यक्ति के व्यवहार का अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अध्ययन करता है। इसका अन्य सामाजिक विज्ञान जैसे अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र, इतिहास, भूगोल, गणित, सांख्यिकी आदि से भी घनिष्ट सम्बन्ध पाया जाता है। अर्थशास्त्र में हम विभिन्न आर्थिक नीतियों जैसे आयात-निर्यात नीति, प्रशुल्क नीति, विदेशी व्यापार नीति आदि का अध्ययन

---

1 Kenen, Peter B., *The International Economy*, Second Edition, Prentice Hall (1985), pp. 7-8

करते हैं जिनका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में होता है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में हम अनेक आर्थिक घटनाओं का जिक्र करते हैं जिनका प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र पर पड़ता है। अत: दोनों में घनिष्ट परस्पर सम्बन्ध है।

राजनीति-शास्त्र में हम अनेक देशों के संविधान एवं उनकी राजनीतिक स्थितियों का अध्ययन करते हैं जिनका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र से होता है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के अनेक विषय जैसे विदेशी विनिमय, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के कार्यकलाप आदि राजनीति-शास्त्र को प्रभावित करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में सिद्धान्तों की व्याख्या आँकड़ों के आधार पर की जाती है अत: इसका सम्बन्ध ऐसे मॉडलों से भी है जो गणित तथा सांख्यिकी पर आधारित होते हैं। वास्तव में ज्ञान की प्राय: सभी शाखाओं से अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सम्बन्ध अवश्य पाया जाता है।

प्रश्न एवं उनके संकेत

1. अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का अर्थ स्पष्ट कीजिए। इसकी विषय-सामग्री क्या है?
   Explain the meaning of International Economics. What is its subject-matter?
   [संकेत—अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए बताइए कि सामान्य अर्थशास्त्र की तरह अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र भी व्यक्तियों की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में उन आर्थिक गतिविधियों का अध्ययन किया जाता है जो विभिन्न राष्ट्रों के मध्य सम्पन्न होती हैं। इसके बाद अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की विषय-वस्तु का संक्षेप में वर्णन कीजिए।]
2. अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के महत्व पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
   Write a brief note on the importance of International Economics.
3. अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की प्रकृति एवं क्षेत्र का वर्णन कीजिए।
   Describe the nature and scope of International Economics

2

अन्तर्राष्ट्रीय एवं अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की तुलना
[DISTINCTION BETWEEN INTERNATIONAL AND INTER-REGIONAL TRADE]

एडम स्मिथ (Adam Smith) के समय से लेकर आज तक आर्थिक विचारों की प्रगति काफी तीव्र गति से हुई है। लगभग दो-सौ वर्ष पूर्व सभी (प्रतिष्ठित) अर्थशास्त्रियों का ध्यान मूल्य सिद्धान्त (Theory of Value) पर केन्द्रित था। इन अर्थशास्त्रियों ने केवल श्रम को ही उत्पादन का एक साधन मानते हुए यह तर्क दिया था कि श्रम किसी देश के भीतर तो गतिशील है परन्तु देश की सीमा के बाहर इसकी गतिशीलता निर्बाध नहीं है। इस प्रकार की मान्यता के कारण अर्थशास्त्रियों में यह भावना विकसित होती गयी कि जो परिस्थितियाँ एवं शर्तें किसी देश के भीतर वस्तुओं के विनिमय को नियमित करती हैं वे दो देशों के बीच वस्तुओं के विनिमय के सन्दर्भ में लागू नहीं होती। यद्यपि उन्होंने यह स्वीकार किया कि जलवायु भूमि की उर्वरा शक्ति श्रम की दक्षता आदि के अन्तर का व्यापार की शर्तों पर प्रभाव होना सम्भव है फिर भी उनका ऐसा विश्वास था कि आन्तरिक व्यापार (domestic trade) एवं दो देशों के बीच (यानी विदेशी) व्यापार (international trade) के मध्य प्रमुख अन्तर श्रम की गतिशीलता से सम्बद्ध है।

हाल ही में प्रोफेसर बर्टिल ओहलिन (Bertil Ohlin) ने उपर्युक्त प्रतिष्ठित मान्यताओं (classical assumptions) एवं तत्सम्बन्धी निष्कर्ष को चुनौती दी है। मार्शल को उद्धृत करते हुए ओहलिन लिखते हैं कि श्रम पूँजी एवं भूमि आदि उत्पादन के सभी साधनों में कुछ विशेषताएँ होती हैं तथा इनमें प्रत्येक विशेषता का उत्पादन की प्रक्रिया (production process) एवं विनिमय की सम्भावनाओं (possibilities of exchange) पर प्रभाव होता है। परन्तु "समस्या से सम्बद्ध कठिनाइयाँ प्रमुख रूप से स्थान में परिवर्तनों एवं उस समयावधि पर निर्भर करती हैं जिसमें बाजार का विस्तार हो रहा है।"[1] मार्शल (Marshall) के मतानुसार क्षेत्र की अपेक्षा समय का प्रभाव अधिक प्रबल होता है। ओहलिन के मतानुसार आज के अधिकांश अर्थशास्त्री मार्शल की 'समयावधि परिकल्पना' (Time hypothesis) से सहमत हैं। ओहलिन के अनुसार, "एक से दूसरे निकटस्थ बाजारों के मध्य इसके विस्तार के माध्यम से स्थान तत्व को मूल्य निर्धारण के सिद्धान्त में पूर्ण रूप से सम्मिलित किया जाना चाहिए।"[2]

जैसा कि हम जानते हैं अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार अथवा आन्तरिक व्यापार से तात्पर्य उस व्यापार से है जो किसी एक देश की सीमा के भीतर विभिन्न स्थानों अथवा क्षेत्रों के बीच किया जाता है। उदाहरण के लिए यदि राजस्थान का व्यापारी उत्तर प्रदेश के व्यापारी से व्यापार करता है तो इस प्रकार के व्यापार को भारत में अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार अथवा आन्तरिक व्यापार कहेंगे। हैबरलर ने आन्तरिक व्यापार की परिभाषा देते हुए कहा है कि "गृह व्यापार (Home Trade) से तात्पर्य एक सामान्य व्यापार से है जो किसी क्षेत्र विशेष के अन्तर्गत किया जाता है तथा जिस क्षेत्र का विकास करने में उस देश की सरकार रुचि रखती हो अथवा वह क्षेत्र उस सरकार की सीमा के अन्तर्गत आता है।"

---

1 Alfred Marshall, *Principles of Economics* (8th Edition) Book V. Chapter 15, p 411.

2 "The element of space must be given full consideration in the theory of pricing through its extension from one to a number of closely related markets" —B Ohlin, *Inter regional and International Trade*, 1952, p 4

इसके विपरीत, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से तात्पर्य उस व्यापार से होता है जिसके अन्तर्गत दो या दो से अधिक स्वतन्त्र राष्ट्रों के मध्य वस्तुओं एवं सेवाओं का विनिमय किया जाता हो। उदाहरण के लिए, जब भारत अमरीका से कोई व्यापार करता है तो उस व्यापार को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कहा जाता है। इसे बाह्य व्यापार (**External Trade**) अथवा विदेशी व्यापार (Foreign Trade) भी कहते हैं।

प्रो. हैबरलर के शब्दों में, "गृह व्यापार और विदेशी व्यापार की विभाजक रेखा एक देश की सीमा होती है। इस सीमा के भीतर होने वाला व्यापार गृह व्यापार कहलाता है जबकि इस सीमा के बाहर विभिन्न देशों के साथ होने वाला व्यापार विदेशी व्यापार कहलाता है।"[1] उदाहरणार्थ, दिल्ली या बम्बई के बीच किया जाने वाला व्यापार आन्तरिक व्यापार है, जबकि भारत और रूस या ब्रिटेन या अमेरिका के बीच होने वाला व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कहलाता है।

आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में समानता [SIMILARITY BETWEEN INTERNAL AND INTERNATIONAL TRADE]

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों (एडम स्मिथ, रिकार्डो, जे. एस. मिल आदि) ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं आन्तरिक व्यापार को अलग-अलग माना था। उनका मत था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार वह व्यापार है जो विभिन्न देशों में रहने वाले व्यक्तियों के मध्य होता है जबकि आन्तरिक व्यापार वह व्यापार है जो एक ही देश में रहने वाले व्यक्तियों के मध्य किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक देश की सीमा को पार कर जाता है जबकि आन्तरिक व्यापार सीमा को पार नहीं कर पाता। किन्तु कुछ अर्थशास्त्री अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में कोई विशेष अन्तर नहीं मानते। प्रो. ओहलिन, हैबरलर तथा अनेक अर्थशास्त्रियों के मतानुसार सिद्धान्ततः आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्याओं के मध्य अन्तर बताना असम्भव है। इनके बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती और न ही इस प्रकार का अन्तर करना आवश्यक है। ओहलिन के शब्दों में, "घरेलू तथा विदेशी व्यापार में मौलिक अन्तर नहीं हैं, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अध्ययन हेतु किसी पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है।" ओहलिन ने यह स्पष्ट किया कि जिन कारणों से एक देश में विभिन्न व्यक्ति या समूह व्यापारिक कार्यों में व्यस्त होते हैं उन्हीं कारणों से विभिन्न राष्ट्र भी व्यापारिक कार्यों में संलग्न रहते हैं। उनके दृष्टिकोण से **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का ही एक विशिष्ट रूप है।** ओहलिन के समर्थकों का भी यही विचार है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं विदेशी व्यापार के लक्षणों में अन्तर केवल अंश (degree) का है, वास्तव में दोनों में कोई अन्तर नहीं पाया जाता। यही कारण है कि उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पृथक् सिद्धान्त के औचित्य को स्वीकार नहीं किया।

वस्तुतः प्रोफेसर ओहलिन अन्तर्क्षेत्रीय अथवा देश के भीतर होने वाले व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बीच कोई अन्तर नहीं मानते। उनके मतानुसार दोनों ही प्रकार के व्यापार में हमें निम्न तीन समान बातें दिखायी देती हैं :

(1) **विशिष्टीकरण एवं श्रम-विभाजन**—आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही प्रकार के व्यापार के प्रमुख आधार श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण हैं। व्यक्ति की भाँति कोई भी देश उस वस्तु अथवा वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करने का यत्न करेगा जिनमें उसे अपेक्षाकृत अधिक लाभ है। यदि श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण की यह प्रक्रिया देश की सीमा के भीतर ही (विभिन्न राज्यों या जिलों तक ही) सीमित रह जाय तो यह आन्तरिक व्यापार को जन्म देगी। यदि विभिन्न देशों में तुलनात्मक लाभ के आधार पर विशिष्टीकरण किया जाय तो इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आरम्भ होगा।

(2) **वस्तु-विनिमय की प्रक्रिया**—आन्तरिक व्यापार में वस्तु की पूर्ति जिन इलाकों में अधिक है (और फलतः मूल्य कम है) वहाँ से कम पूर्ति (यानी अधिक मूल्य) वाले इलाकों को वस्तु का स्थानान्तरण होगा। इस प्रकार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी जिस देश में वस्तु का उत्पादन अधिक

1 Haberler G. V., *The Theory of International Trade*, p. 6.

(यानी मूल्य कम) है, वहाँ से जहाँ वस्तु का अभाव है (यानी मूल्य काफी अधिक है) उन क्षेत्रों को वस्तु का निर्यात किया जायेगा।

(3) **अधिकतम लाभ अथवा न्यूनतम उत्पादन लागत का उद्देश्य**—विनिमय का उद्देश्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना है। यही उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भी प्रत्येक व्यक्ति अथवा संस्था का माना गया है। जब तक व्यापार मे (चाहे वह आन्तरिक व्यापार हो अथवा विदेशी व्यापार) लाभ होता है व्यापार की प्रक्रिया चलती रहती है। यदि व्यापार मे हानि प्रारम्भ हो जाय तो व्यापार स्थगित करना पड़ता है। दोनो ही प्रकार के व्यापार मे न्यूनतम लागत पर उत्पादन प्राप्त करते हुए बाजार मे उस क्रेता या क्रेता-समूह को ढूँढना होता है जिससे अधिकतम आय प्राप्त हो सके। यह स्थिति आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे समान रूप से पायी जाती है।

(4) **सामाजिक सम्बन्ध**—जब एक ही देश के दो दूरस्थ क्षेत्रो मे व्यापार होता है तो दोनो मे जब एक दूसरे के सामाजिक रीति-रिवाज और परम्पराओ का आदान-प्रदान होता है जैसे जब राजस्थान व प बंगाल के बीच व्यापार होगा तो दोनो एक-दूसरे की संस्कृतियो से परिचित होगे। इसी प्रकार, जब दो देशो के बीच व्यापार होता है तो उसमे भी सामाजिक व सांस्कृतिक विचारो का आदान-प्रदान होता है।

(5) **ऐच्छिक सौदा**—अन्तर्राष्ट्रीय एवं अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार दोनो ही ऐच्छिक सौदो पर निर्भर करते हैं। विदेशी वस्तुओ का भी उसी समय क्रय एवं विक्रय किया जाता है जब दोनो देश (पक्ष) उसके लिए इच्छुक हो। इसी प्रकार आन्तरिक अथवा अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार मे भी वस्तुओ का क्रय-विक्रय दोनो पक्षो की इच्छा पर ही निर्भर करता है। किसी भी व्यक्ति अथवा संस्था द्वारा वे विवश नही किये जा सकते।

ओहलिन ने इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए उन्ही सिद्धान्तो का अध्ययन करने पर बल दिया जो अन्तर्राष्ट्रीय या आन्तरिक व्यापार हेतु प्रयुक्त होते हैं। उन्होने अपनी 'स्थान थीसिस" (Space Thesis) को आर्थिक जीवन मे दो कारणो से अत्यधिक महत्वपूर्ण बतलाया। प्रथम, निर्दिष्ट क्षेत्रो मे विभिन्न उत्पादको की स्थिति निश्चित है और उसमे सरलता से कोई परिवर्तन सम्भव नही है। दूसरे, वस्तुओ का स्थानान्तरण एक से दूसरे स्थानो पर बिना परिवहन-व्यय किये सम्भव नही हो पाता।

ओहलिन की स्थान सम्बन्धी थीसिस का आर्थिक जीवन मे दोहरा महत्व है। प्रथम, विभिन्न फर्मों की स्थिति अपने आप मे भिन्न होती है और कोई भी फर्म एक स्थिति (locality) से दूसरी पर सरलतापूर्वक नही जा सकती। इसका एक कारण उनकी स्थिर लागतो (fixed costs) म भी निहित है। द्वितीय, वस्तुओ के एक स्थान से दूसरे स्थान को स्थानान्तरण मे परिवहन-लागतो के कारण भी बाधा उपस्थित होती है। इसलिए दो प्रमुख बातो पर आन्तरिक (अन्तर्क्षेत्रीय) एवं विदेशी (अन्तर्राष्ट्रीय) व्यापार का अन्तर आधारित होता है - (अ) स्थान सम्बन्धी कारण (space considerations), तथा (ब) साधनो की गतिशीलता (factor mobility) अथवा इनकी अगतिशीलता (immobility)। इसी बात को इस रूप मे भी व्यक्त किया जा सकता है कि जहाँ अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का सिद्धान्त देश की सीमा के भीतर होने वाले व्यापार का विवरण है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त देश की सीमा के बाहर होने वाले सौदो की विवेचना प्रस्तुत करता है। वस्तुत. अनेक ऐसी बातें हैं जो अन्तर्क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्तर को स्पष्ट करती हैं। हम नीचे इन्ही सब कारणो पर प्रकाश डालेंगे जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पृथक अस्तित्व एवं इसके लिए पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता को स्पष्ट करते हैं।

आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अन्तर
[DIFFERENCES BETWEEN INTERNAL AND INTERNATIONAL TRADE]

हैबरलर के अनुसार, "प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो का मत था कि देशी एवं विदेशी व्यापार मे मूलभूत अन्तर पाया जाता है।"[1] इस मूलभूत अन्तर के कारण ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के

1 "The classical school believed nevertheless *that* there was a fundamental difference between home trade and foreign trade"
—G. V Haberler, *International Trade*, p 4

अध्ययन के लिए पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता को स्वीकार किया जा सकता है। इन कारणों की विवेचना निम्न प्रकार की जा सकती है :

(1) उत्पादन के साधनों की गतिशीलता का अन्तर (Difference of Mobility of Factors of Production)—वस्तुतः प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री यह मानते थे कि उत्पादन का एक मात्र साधन श्रम है और श्रम का एक देश से दूसरे देश को सरलतापूर्वक गतिशील होना सम्भव नहीं है। फिर भी, रिकार्डो आदि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री यह स्वीकार करते थे कि देश के भीतर श्रम (सभी उत्पादन के साधनों) की गतिशीलता सम्भव है।

उत्पादन के साधनों में विद्यमान गतिशीलता के इसी अभाव के कारण उत्पादन-लागतों में सापेक्ष अथवा तुलनात्मक अन्तर (comparative difference in costs of production) उत्पन्न होते हैं। एक देश के भीतर तो मूल्यों का निर्धारण उत्पादन-लागतों के आधार पर सरलतापूर्वक किया जा सकता है। इसके विपरीत, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लागतों का मूल्य-निर्धारण की प्रक्रिया में कोई महत्व नहीं है। श्रम या उत्पादन के साधनों में गतिशीलता के अभाव के कारण अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन की उत्पत्ति होती है और इसके फलस्वरूप निरपेक्ष या सापेक्ष लागत लाभ (absolute or comparative cost advantages) प्राप्त होते हैं।

साधारणतया एक देश के अन्दर एक वस्तु की कीमत उसकी उत्पादन-लागत के बराबर होती है, विशेष रूप से जबकि विश्लेषण का समय पर्याप्त लम्बा हो। अगर दीर्घ काल में किसी उद्योग में साधारण लाभ प्राप्त होता है तो उस उद्योग में अधिक (उत्पादन के) साधनों का प्रयोग किया जायेगा, जिसके फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि होगी तथा वस्तु की कीमत में कमी होगी। यह प्रक्रिया तब तक चलेगी जब तक कि उस वस्तु की कीमत उत्पादन-लागत के बराबर नहीं हो जाती है। इसके विपरीत, अगर किसी उद्योग में कुछ फर्मों को हानि हो रही है तो ये फर्में उस उद्योग में उत्पादन करना बन्द कर देती हैं अथवा उस उद्योग से बाहर निकल जाती हैं, जिसके फलस्वरूप उस उद्योग के उत्पादन में कमी हो जायगी तथा वस्तु की कीमत में वृद्धि होगा तब तक जारी रहेगा जब तक कि उस वस्तु की कीमत उसकी उत्पादन-लागत के बराबर नहीं हो जाती है। इस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में उत्पादन के साधनों की स्वतन्त्र गतिशीलता इस बात को स्पष्ट कर देती है कि दीर्घ काल में प्रत्येक वस्तु की कीमत उसकी उत्पादन लागत के बराबर होगी। परन्तु यह स्थिति केवल आन्तरिक व्यापार अथवा वस्तुओं के विनिमय में ही देखी जा सकती है। चूँकि उत्पादन के साधन किसी देश की सीमा के बाहर स्वतन्त्र गतिशील नहीं होते, अतः विभिन्न देशों में वस्तुओं की कीमतों तथा उत्पादन-लागतों में अन्तर होगा। इसलिए, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बीच के अन्तरों का विश्लेषण करने के लिए एक अलग सिद्धान्त की आवश्यकता है।

(2) राष्ट्रीय नीतियों में भिन्नता (Differences in National Policies)—विभिन्न देशों में कर-प्रणाली, श्रम के स्तर, कारखानों एवं श्रमिक संघों से सम्बन्धित नियमों में काफी अन्तर होता है। इसके विपरीत, एक देश के भीतर ये सभी नियम सामान्यतः एक जैसे ही होते हैं, जबकि विभिन्न देशों में इन नियमों की भिन्नता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय एवं अन्तःक्षेत्रीय व्यापार की शर्तों में भी काफी अन्तर आ जाता है।

(3) भौगोलिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों की असमता (Differences in Geographical and Political Circumstances)—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बाजारों का विभाजन काफी सीमा तक भौगोलिक एवं राजनीतिक सीमाओं से भी प्रभावित होता है। इसके कारण ही उत्पादन के साधनों का एक देश से दूसरे देश को स्थानान्तरण करना उतना सरल नहीं रह जाता जितना कि अन्तःक्षेत्रीय व्यापार के सन्दर्भ में है। दो देशों के मध्य होने वाला व्यापार काफी सीमा तक कस्टम एवं सीमा-शुल्क सम्बन्धी कानूनों द्वारा भी प्रभावित होता है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि देश के भीतरी भागों के मध्य होने वाले व्यापार पर कस्टम या सीमा-शुल्क प्रावधान नहीं होता। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पृथक् रूप से अध्ययन करना अनिवार्य हो जाता है।

फिर यह भी एक निर्विवाद तथ्य है कि प्रत्येक देश अपने आप में एक राजनीतिक इकाई के रूप में संगठित रहता है तथा देश के सभी नागरिक एवं अन्य आर्थिक इकाइयाँ देश के संविधान एवं अन्य कानूनों के प्रति उत्तरदायित्व का अनुभव करती हैं। इसी कारण से हेरिक फ्रिड (Fried-

ric List) ने कहा था, "घरेलू व्यापार हमारा आपसी व्यापार है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हमारे व उनके (विदेशी नागरिकों के) बीच का व्यापार है।"[1]

(4) **मौद्रिक इकाइयों में अन्तर** (*Differences in Monetary Units*)—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सन्दर्भ में मौद्रिक इकाइयाँ एवं मुद्रा सम्बन्धी अन्तर भी काफी महत्व रखते हैं। इसके विपरीत, देश के भीतर ही व्यापार होने पर मुद्रा की इकाई वही रहती है और क्रेता तथा विक्रेता दोनों ही को देश में प्रचलित मुद्रा स्वीकार होती है। दो देशों के बीच व्यापार होने पर मौद्रिक इकाइयों की भिन्नता के कारण दोनों के मध्य विनिमय-दर के निर्धारण की समस्या का उदय होता है।

(5) **प्रतियोगिता का स्तर** (*Degree of Competition*)—देश के भीतर वस्तुओं एवं साधनों के बाजारों में मूल्यों का निर्धारण पूर्ण प्रतियोगिता के आधार पर होता है। यदि किसी भी बाजार में क्रेताओं या विक्रेताओं के बीच गठबन्धन (collusion) हो जाय तो उत्पादन न्यूनतम लागत पर नहीं हो सकेगा, और इसके फलस्वरूप मूल्य भी प्रतियोगात्मक स्तर से अधिक होगा। वस्तुतः साधनों का इष्टतम आवटन एवं सर्वोत्तम उपयोग भी उस स्थिति में सम्भव है जब देश के भीतर मुक्त बाजार व्यवस्था (free market mechanism) विद्यमान हो क्योंकि साधनों की पूर्ण गतिशीलता के कारण प्रत्येक साधन का इष्टतम उपयोग कहाँ होगा इसका स्वयमेव निर्धारण हो जाता है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सन्दर्भ में केवल साधनों की गतिशीलता में ही अवरोध उत्पन्न नहीं होता अपितु वस्तुओं के बाजार भी राशिपातन (dumping) एवं संरक्षण (protection) की नीतियों के कारण विकृत हो जाते हैं। अपितु जहाँ आन्तरिक या अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार के विश्लेषण में पूर्ण प्रतियोगिता के सिद्धान्त का महत्व है अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सन्दर्भ में राशिपातन एवं संरक्षण आदि नीतियों के प्रभावों का विश्लेषण महत्वपूर्ण हो जाता है।

(6) **विकास के स्तर में भिन्नता** (*Differences in the Levels of Development*)—भिन्न भिन्न राष्ट्रों के आर्थिक विकास की विषमता भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को जन्म देती है। अमरीका, रूस, जर्मनी, जापान, इगलैण्ड, फ्रान्स आदि राष्ट्र विकसित राष्ट्रों की श्रेणी में गिने जाते हैं तो दूसरी ओर एशिया और अफ्रीका के अनेक राष्ट्र अविकसित राष्ट्रों की श्रेणी में गिन जाते हैं। आर्थिक विकास की दौड़ में विकसित राष्ट्र अविकसित राष्ट्रों से कहीं आगे है तथा उन्होंने औद्योगिक तकनीक का तेजी से विकास कर लिया है। यही कारण है कि वर्तमान में ये विकसित देश अविकसित या अल्पविकसित देशों के नेता बने हुए हैं। उनके आर्थिक विकास के लिए ये विकसित देश उनको मशीनों, कच्चा माल, तकनीक आदि की सहायता प्रदान करते हैं। इनके बदले अल्पविकसित राष्ट्र उनको कच्चा माल तथा अन्य कृषिगत वस्तुओं का निर्यात करते हैं। इस प्रकार विभिन्न देशों के आर्थिक विकास की समस्याओं का अध्ययन करने हेतु एक पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता है।

(7) **विशिष्ट समस्याएँ** (*Peculiar Problems*)—अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्तर्गत कुछ ऐसी (विशिष्ट) समस्याएँ हैं जिनके कारण इसका पृथक् रूप से अध्ययन करना आवश्यक होता है। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता (international liquidity) की वर्तमान समस्या इसका एक उदाहरण है। अर्थशास्त्री आज इसका समाधान खोजने में जितने उत्सुक हैं उस प्रकार की कोई स्थिति अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में नहीं होती। यह हम जानते हैं कि तरलता की माँग तीन बातों पर निर्भर करती है—सौदों का परिणाम, जन-साधारण की भविष्य के प्रति सतर्कता की भावना, एवं सट्टे की प्रवृत्ति। देश के आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार के सन्दर्भ में इन प्रवृत्तियों का भिन्न होना स्वाभाविक है।

(8) **औद्योगिक एवं व्यावसायिक नीतियों में अन्तर** (*Differences in Industrial and Trade Policies*)—एक देश की औद्योगिक नीति देश के अन्दर तथा देश के बाहर अलग अलग हो सकती है। इसी प्रकार व्यावसायिक गतिविधियों को नियन्त्रित एवं नियमित करने की आन्तरिक एवं बाहरी नीतियों में भी भिन्नता पायी जाती है। प्राय हम अपने निर्यातों में वृद्धि तथा आयातों में कमी करने का प्रयास करते हैं। इसके अनुरूप ही हम उत्पादन नीति का निर्माण करते हैं।

(9) **परिवहन की कठिनाइयों में अन्तर** (*Differences in the Problems of Transpor-*

1 Quoted in C Kindleberger, *International Economics*, p 10

tation)—गृह व्यापार अथवा अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में परिवहन की समस्या कठिन नहीं होती क्योंकि एक देश के अन्दर सरकार द्वारा इसकी व्यवस्था की जाती है तथा इसमें कोई व्यवधान उत्पन्न नहीं होता। इसके विपरीत जब एक देश का व्यापार किसी अन्य देश के साथ होता है तो वह प्रायः जल अथवा वायु मार्ग से किया जाता है। ऐसी स्थिति में लागत अधिक आती है तथा अपेक्षाकृत जोखिम का तत्व भी अधिक होता है। वस्तुओं के परिवहन में अनेक प्रकार की राजनीतिक कठिनाइयाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। परिवहन के लिए दोनों देशों की आपसी सहमति आवश्यक होती है।

(10) अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की समस्या (Problem of International Monetary Co-operation)—गृह अथवा आन्तरिक व्यापार में एक ही मुद्रा का प्रयोग होता है अतः किसी प्रकार के मौद्रिक सहयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती किन्तु दो देशों के मध्य व्यापार में मौद्रिक सहयोग आवश्यक होता है। इसके लिए विभिन्न मौद्रिक संस्थाओं का होना आवश्यक है। यह संस्थाएँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा एवं दिशा दोनों में परिवर्तन कर सकती हैं।

अस्तु, अन्तर्क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रकृति एवं उनसे सम्बद्ध समस्याओं में पर्याप्त अन्तर है; और इसी कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों के सिद्धान्तों का पृथक रूप में अध्ययन करना आवश्यक प्रतीत होता है। परन्तु इस सन्दर्भ में यह स्मरणीय है कि अन्तर्राष्ट्रीय एवं अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का उदय लगभग एक जैसे कारणों से होता है। किन्हीं भी दो क्षेत्रों या दो देशों के बीच व्यापार का आधार सामान्यतया उनकी विशिष्ट उत्पादन क्षमताओं में निहित होता है। ये उत्पादन-क्षमताएँ बहुधा प्राकृतिक होती हैं और इन्हीं के कारण अन्तर्क्षेत्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण की उत्पत्ति होती है। डेविड रिकार्डो (*David Ricardo*) ने इन सभी को तुलनात्मक लागत सिद्धान्त (Theory of Comparative Cost) के रूप में प्रस्तुत किया। आगे चलकर हैबरलर (Haberler), हैक्शर-ओहलिन (Heckscher-Ohlin) एवं अन्य विद्वानों ने रिकार्डो द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त की नये रूप में व्याख्या की। अगले अध्याय में हम तुलनात्मक लागत प्रमेयों (*theorems*) का विस्तृत रूप से अध्ययन करेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता
[NEED FOR INTERNATIONAL TRADE]

वर्तमान समय में विश्व की अर्थ-व्यवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक महत्वपूर्ण स्थान है। जिन देशों को हम आज विकसित राष्ट्रों की श्रेणी में रखते हैं उनका आर्थिक विकास भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा ही सम्भव हो पाया है। आज के इस विशिष्टीकरण के युग में कोई भी राष्ट्र स्वयं अपने साधनों से अपना आर्थिक विकास नहीं कर सकता। संयुक्त राज्य अमरीका जैसे धनी देश को भी अनेक वस्तुओं के लिए अन्य देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। इसका मुख्य कारण अधिकाधिक अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण एवं श्रम-विभाजन की क्रियाएँ हैं। विशिष्टीकरण से तात्पर्य है कि प्रत्येक देश उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करता है जिनके लिए उसके प्राकृतिक साधन, पूँजी तथा श्रम आदि बातें दूसरे देशों की अपेक्षा अच्छी हैं, अर्थात् जिनकी उत्पादन-लागत निम्नतम होती है। इस प्रकार कम लागत वाली वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करके उनका निर्यात करता है एवं उन वस्तुओं का आयात करता है जिनका उत्पादन देश में मँहगा पड़ता है। इस सम्बन्ध में एडम स्मिथ ने ठीक ही लिखा है "प्रत्येक समझदार व्यक्ति की यह मान्यता है कि वह कोई भी ऐसी वस्तु घर पर नहीं बनाते जिसे वह बाजार से सस्ता खरीद सकता है। दर्जी अपने जूतों को स्वयं बनाने का प्रयास नहीं करता बल्कि उन्हें मोची से बनवाता है। इसी प्रकार मोची अपने कपड़ों की सिलाई स्वयं नहीं करता, बल्कि दर्जी से करवाता है। किसान दोनों में से किसी के लिए भी स्वयं प्रयास नहीं करता तथा भिन्न-भिन्न व्यवसाय वालों को काम पर लगाता है। यह सब लोगों के हित में है कि वे अपने समस्त उद्योग को उस वस्तु के उत्पादन में लगाएँ जिसके उत्पादन में उसे अपने पड़ोसी से अधिक सुविधा प्राप्त है और अपने उत्पाद के एक भाग या उस भाग के मूल्य से दूसरी वस्तु को, जिसके लिए अवसर मिलता है, खरीद लें। जो बात एक परिवार के लिए सही है वह एक देश के लिए मूर्खतापूर्ण नहीं हो सकती है।"[1] पुनः एडम स्मिथ ने अपनी पुस्तक

1 Adam Smith, *The Wealth of Nations*, Vol. I, Book IV, Chapter 2, p 401.

मे स्पष्ट कर दिया कि "एक देश को दूसरे देश के ऊपर कुछ विशिष्ट वस्तुओं के उत्पादन मे प्राप्त प्राकृतिक सुविधाएँ कभी-कभी इतनी ज्यादा होती हैं कि यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि उनके उत्पादन के लिए किसी अन्य का संघर्ष करना व्यर्थ है। उदाहरण के लिए, खाद डालकर तैयार की गयी भूमि तथा कृत्रिम गर्म दीवारों के प्रयोग से स्कॉटलैण्ड मे अच्छी किस्म का अंगूर पैदा किया जा सकता है और उससे बहुत अच्छी शराब बनायी जा सकती है। किन्तु विदेश से आयात की गयी उतनी ही अच्छी मदिरा का करीब तीस गुना व्यय होगा। ऐसी स्थिति मे क्या यह तर्कसंगत होगा कि फ्रान्स मे बनी हुई शराब (Claret) तथा स्पेन मे बनी हुई शराब (Bourgundy) को स्कॉटलैण्ड मे बनने के लिए प्रोत्साहन के उद्देश्य से समस्त विदेशी शराब के आयात पर रोक लगादी जाय? जब तक एक देश को वे सुविधाएँ प्राप्त हैं और दूसरा देश उन्हें चाहता है तो दूसरे प्रकार के देश के लिए स्वयं बनाने की अपेक्षा प्रथम प्रकार के देश से आयात करना हमेशा लाभप्रद होगा। यह एक अर्जित सुविधा है जो एक शिल्पी को अपने पड़ोसी, जो अन्य व्यवसाय करता है के ऊपर प्राप्त है। फिर भी, दोनों के लिए यह लाभदायक होगा कि वे उन वस्तुओं को खरीदें जिनका सम्बन्ध उनके व्यवसाय से नहीं है।"[1]

इस प्रकार एडम स्मिथ ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का कारण विशिष्टता एवं श्रम-विभाजन से होने वाला लाभ बताया है। एडम स्मिथ की भाँति ही डेविड रिकार्डो ने भी इन लाभों के सन्दर्भ मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता पर बल दिया है। उन्होंने अपनी पुस्तक मे वर्णन करते हुए बताया है कि "दो व्यक्ति जूता और हैट बनाने का कार्य करते हैं। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की तुलना मे दोनों कार्यों मे श्रेष्ठ है। किन्तु हैट के बनाने मे उसकी श्रेष्ठता अपने प्रतियोगी से 1/5 या 20 प्रतिशत अधिक है जबकि जूता बनाने मे उसकी श्रेष्ठता 1/3 या 33 प्रतिशत अधिक है। क्या यह दोनों के हित मे नहीं होगा कि श्रेष्ठ व्यक्ति केवल जूता बनावे तथा अन्य कम कुशल व्यक्ति हैट बनावे?"[2]

अतः प्रो. रिकार्डो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता न केवल निरपेक्ष लाभों की स्थिति मे ही कहते हैं बल्कि सापेक्ष लाभों को प्राप्त करने के लिए भी इसकी आवश्यकता बताते हैं। यदि विश्व का प्रत्येक देश उन वस्तुओं के उत्पादन एवं निर्यात मे विशिष्टीकरण प्राप्त करता है जिनके उत्पादन के लिए वह अधिक योग्य है तथा उन वस्तुओं का आयात करता है जिनको वह घर की अपेक्षा विदेश से अधिक सस्ती कीमत पर प्राप्त करता है तो इस क्रिया मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे संलग्न देशों की वास्तविक राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होगी, जिसके फलस्वरूप उनके आर्थिक कल्याण मे भी वृद्धि होगी।

बेस्टेबल के अनुसार, "ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं, जो कि पर्याप्त मात्रा मे न तो उत्पादित की जा सकती हैं, और न ही उपभोक्ताओं को आकर्षित करने हेतु कम मूल्यों पर प्राप्त हो पाती हैं, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय द्वारा आसानी से प्राप्त हो जाती हैं।"[3] इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन से उत्पादन मे विशिष्टता प्राप्त की जा सकती है तथा उत्पादन-विधि मे सुधार एवं आविष्कारों मे प्रतिस्पर्धा का भय कम हो जाता है।

जेकब वाइनर के अनुसार, "विदेशी व्यापार कुछ अंश तक विशिष्टीकरण को जन्म देता है।"[4] विशिष्टीकरण से उत्पादन मे वृद्धि होती है जिसके फलस्वरूप जीवन-स्तर मे भी वृद्धि सम्भव हो जाती है। वाल्टर क्रमे का भी कथन है कि "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अधिक मनुष्यों को जीने की अनुमति देता है, विभिन्न रुचियों को प्रदान करके जनता को उच्च जीवन-स्तर का आनन्द

---

1 *Ibid*, p. 403.
2 David Ricardo, *Principles of Political Economy*, p 83
3 "There are many commodities which could not be produced in sufficient quantity or at a price low enough to induce consumers, but which can be easily obtained by means of international exchange."
—C. F. Bastable, *Theory of International Trade*, p. 19.
4 "Foreign trade thus involves some degree of specialisation."
—Jacob Viner, *International and Economic Development*, p. 34.

देता है, जो शायद उसकी अनुपस्थिति में सम्भव नहीं होता।"[1] इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सभी उपभोक्ताओं को अच्छी एवं सस्ती वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं। पुनः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार स्वतन्त्र प्रतियोगिता को जन्म देता है तथा एकाधिकारात्मक प्रवृत्ति से उपभोक्ताओं के शोषण की रक्षा करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार देश के प्राकृतिक साधनों का पूर्ण उपयोग करने में सहायक होता है। चूँकि प्रत्येक देश केवल उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन में अपने साधनों को लगाता है जिनमें उसको तुलनात्मक लाभ अधिकतम होता है, जैसे अल्पविकसित देशों में कृषिगत वस्तुओं एवं कच्चे माल की बहुतायत होती है, अतः ये देश इन वस्तुओं का निर्यात करके अन्य देशों से बनी हुई वस्तुओं का निर्यात करते हैं। इस प्रकार आयात एवं निर्यात से प्रत्येक देश को लाभ प्राप्त होता है तथा जिन वस्तुओं का उत्पादन सम्भव नहीं हो पाता है उन्हें विदेशों से आयात करके उपभोग किया जा सकता है।

स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्रत्येक देश को उन्नति करने का समान अवसर प्राप्त होता है। सभी देश विश्व-बाजार में अपने माल का क्रय-विक्रय कर सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सहायता से कोई भी राष्ट्र अपने उद्योग-धन्धों से सम्बन्धित कच्चा माल, मशीनरी, तकनीकी ज्ञान आदि का आयात करके वस्तुओं के निर्माण द्वारा औद्योगीकरण को प्रोत्साहित कर सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आर्थिक संकट के समय में सहायक होता है। प्राकृतिक एवं आर्थिक संकट, जैसे बाढ़, भूचाल, अकाल, युद्ध आदि के समय में आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति हेतु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आवश्यक होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिरता को भी प्रोत्साहन मिलता है। इसके फलस्वरूप विश्व-शान्ति उत्पन्न होती है। राजनीतिक स्तर पर सुदृढ़ होने से आपसी सद्भाव में वृद्धि होने के साथ-साथ आयात एवं निर्यात को भी प्रोत्साहन मिलता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि होती है। विभिन्न देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ने से एक देश के नागरिक दूसरे देश के नागरिकों के सम्पर्क में आते हैं। इसके फलस्वरूप सांस्कृतिक सम्पर्कों में वृद्धि होती है तथा एक-दूसरे राष्ट्र के रीति-रिवाज, आचार-विचार आदि का आदान-प्रदान सम्भव हो जाता है, इससे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं विश्व-एकता में वृद्धि होती है।

जैसा कि ऊपर बतलाया गया था, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक विशिष्ट पहलू वित्तीय साधनों के प्रवाह में भी निहित है। यदि भुगतान-सन्तुलन के काफी बिगड़ने पर दो देशों की विनिमय दर प्रभावित होती है तो इससे इन देशों की मौद्रिक नीति की प्रभावोत्पादकता भी प्रभावित होती है। हम अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के अध्ययन द्वारा भुगतान (या *व्यापार*) सन्तुलन तथा मौद्रिक नीति के पारस्परिक सम्बन्धों को भी समझ सकते हैं।

अन्त में, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से हम यह भी अध्ययन कर सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय प्रवाह से ऋण लेने वाले तथा अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में ऋण देने वाले देशों की अर्थव्यवस्था किस प्रकार प्रभावित होती है तथा इसका उनकी विकास-दर पर क्या प्रभाव पड़ता है।[2]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अर्थव्यवस्था पर होने वाले प्रभावों को अध्याय 9 में विस्तार से बतलाया गया है।

उपर्युक्त कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता
(NEED FOR A SEPARATE THEORY OF INTERNATIONAL TRADE)

आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्तर के अध्ययन से एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अध्ययन की आवश्यकता के आधार पर प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों (जिनमें एडम स्मिथ, माल्थस,

---

1 "International trade permits more people to live, to gratify more varied tastes and to enjoy a higher standard of living than would be possible in its absence." —Walter Krause, *The International Economy*, p. 3.

2 Kenen, *op. cit.*, p. 2.

रिकार्डो, जे. एस. मिल आदि मुख्य हैं) के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए अलग सिद्धान्त की आवश्यकता है। इसके विपरीत, प्रो. ओहलिन के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए अलग सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का दृष्टिकोण (The Classical View)—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार आन्तरिक व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अनेक अन्तर पाये जाते हैं। उनका विश्वास था कि एक देश के अन्दर श्रम तथा पूंजी में पूर्ण गतिशीलता पायी जाती है। श्रम जहाँ चाहे वहाँ कार्य कर सकता है तथा उसके ऊपर किसी प्रकार का कोई नियन्त्रण नहीं होता। इसी प्रकार कोई भी नियोजक अपनी पूँजी को एक देश के किसी भी क्षेत्र में विनियोजन कर सकता है। किन्तु उत्पत्ति के ये साधन विभिन्न देशों के मध्य पूर्ण गतिशील नहीं होते। इस गतिशीलता के अभाव में ही तुलनात्मक लागत अन्तर उत्पन्न होते हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को जन्म देते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा आन्तरिक व्यापार के मध्य अन्य अनेक अन्तर भी पाये जाते हैं, जिनमें विभिन्न राष्ट्रीय नीतियाँ, भिन्न-भिन्न राजनीतिक इकाइयाँ, मुद्राओं में भिन्नता तथा अलग-अलग व्यापारिक नीतियों का होना है। इन विभिन्न तत्वों के आधार पर ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आन्तरिक व्यापार से पृथक् माना जाता है। अत: वे स्थितियाँ एवं दशाएँ जो आन्तरिक व्यापार के विनिमय में लागू होती हैं वे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विनिमय में लागू नहीं होतीं। अत: अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता है।

ओहलिन का दृष्टिकोण (Ohlin's View)—स्वीडन के अर्थशास्त्री प्रो. बर्टिल ओहलिन ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के इस मत को चुनौती दी है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता है। इन्होंने इस मत का प्रतिपादन किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक् सिद्धान्त की कोई आवश्यकता नहीं है। आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में समानता बताते हुए वे कहते हैं कि "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की केवल एक विशिष्ट दशा है।"

ओहलिन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक अलग सिद्धान्त का विरोध करते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की विभेदक विशेषताएँ एक देश के विभिन्न क्षेत्रों में भी दिखायी दे सकती हैं। उदाहरण के तौर पर, श्रम और पूँजी की गतिशीलता का अभाव, जो प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त का आधार था, केवल विभिन्न देशों में ही नहीं पाया जाता वरन् एक देश के विभिन्न क्षेत्रों में भी पाया जा सकता है।

अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लागू करते हुए ओहलिन कहते हैं कि यदि मार्शल के मूल्य सिद्धान्त को समय तत्व (Space Thesis) में परिवर्तित कर दिया जाय तो इस मूल्य सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लागू किया जा सकता है। उनके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए स्थान तत्व महत्वपूर्ण है और मूल्य सिद्धान्त में इस पर पूर्ण विचार किया जाना चाहिए।

आर्थिक जीवन में स्थान तत्व के दो महत्वपूर्ण पहलू हैं : (i) उत्पत्ति के साधन सामान्य रूप से कुछ स्थानों तक सीमित रहते हैं। (ii) वस्तुओं के स्वतन्त्र प्रवाह में परिवर्तन लागत एवं अन्य बाधक तत्वों से गतिरोध पैदा करते हैं।

इस प्रकार गतिशीलता अथवा अगतिशीलता का प्रश्न स्थान से सम्बन्धित है। ओहलिन का मत है कि उत्पत्ति के साधन विशेष स्थानों में सीमित न होकर जिलों (Districts) में स्थित रहते हैं। जिला होने के लिए निम्न दो शर्तों का होना आवश्यक है :

(अ) जिलों में पर्याप्त विभिन्नता होनी चाहिए।

(ब) एक जिले के भीतर कम विभिन्नता होनी चाहिए।

ओहलिन ने इन दो शर्तों को पूरा करने वाले जिलों को क्षेत्र (Region) कहा है। इस आधार पर यदि हम इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं कि उत्पत्ति के साधन एक क्षेत्र के भीतर गतिशील होते हैं तथा विभिन्न क्षेत्रों में उनमें गतिशीलता का अभाव होता है तो हम क्षेत्रीय व्यापार का रूपान्तर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कर सकते हैं। अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार ओहलिन का निष्कर्ष है कि "एक बाजार के सिद्धान्त के विकास के अन्तर्गत, सामान्य मूल्य सिद्धान्त के एकीकृत अंग के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के

सिद्धान्त का समावेश किया जा सकता है और इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है।"

ओहलिन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पृथक सिद्धान्त के विरोध में जो उपर्युक्त तर्क दिये हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि इनके लिए पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है। मूल्य का सामान्य सन्तुलन सिद्धान्त (General Equilibrium Theory of Price) जो देश के भीतर व्यापार की व्याख्या करता है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को समझाने के लिए भी पर्याप्त है। प्रो. हैबरलर के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त को सामान्य सन्तुलन सिद्धान्त का विशिष्ट प्रयोग समझना चाहिए।"

फिर भी ओहलिन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की एक विशिष्ट दशा माना है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अध्ययन उसी तरह विशेष रूप में किया जाना चाहिए जिस प्रकार अर्थशास्त्र में अनेक शाखाओं का विशेष अध्ययन किया जाता है, जैसे औद्योगिक अर्थशास्त्र, कृषि अर्थशास्त्र, राजस्व, मौद्रिक अर्थशास्त्र आदि।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विपक्ष में तर्क
[ARGUMENTS AGAINST INTERNATIONAL TRADE]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता के सम्बन्ध में दिये गये तर्कों का विश्लेषण करने के बाद हम उसके विपक्ष में दिये जाने वाले तर्कों का विवेचन निम्न प्रकार कर सकते हैं :

(1) **प्राकृतिक साधनों का दुरुपयोग (Misuse of Natural Resources)**—प्रत्येक देश में प्राकृतिक साधन सीमित मात्रा में पाये जाते हैं। इनके निरन्तर निर्यात करते रहने पर इनका भण्डार समाप्त होने का डर बना रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उपस्थिति में अल्पविकसित देश अपने प्राकृतिक साधनों, जैसे खनिज पदार्थ आदि का निर्यात करके बने हुए माल का आयात करते रहते हैं। उनको चाहिए कि अपने कच्चे माल का स्वयं ही उपयोग करें, जिससे औद्योगीकरण को भी प्रोत्साहन मिले तथा बढ़ती हुई निर्भरता भी कम हो सके।

(2) **राष्ट्रीय सुरक्षा (National Defence)**—कुछ लोगों का कहना है कि जो देश अपनी आवश्यक वस्तुओं के उपभोग के लिए विदेशों पर निर्भर रहते हैं उनकी स्थिति युद्ध के समय बड़ी चिन्तनीय बन जाती है। युद्ध के समय उनको विवश होकर अपने देश की आशा का पालन करना पड़ता है।

(3) **देशी उद्योगों को हानि (Loss to Domestic Industries)**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से स्वदेशी उद्योगों को कठिन प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, भारत के कुटीर उद्योग की बनी हुई वस्तुएँ आयातित वस्तुओं की तुलना में महँगी होती हैं। अतः इस उद्योग के प्रोत्साहन के लिए सरकार को अनेक तरीके प्रयोग में लाने पड़ जाते हैं। फिर भी उस उद्योग की उन्नति आशाजनक नहीं हो पायी। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण देशीय उद्योगों को हानि उठानी पड़ती है।

(4) **आर्थिक असन्तुलन (Economic Imbalance)**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप कुछ देश दूसरे देशों से इस तरह बँध जाते हैं कि एक देश के आर्थिक असन्तुलन का प्रभाव अन्य सम्बन्धित देशों पर भी पड़े बिना नहीं रहता। इस तर्क की पुष्टि 1930 की घोर आर्थिक मन्दी से हो जाती है। उस समय में मन्दी एक देश से दूसरे देश में फैलती गयी जिसने वस्तुओं एवं सेवाओं के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह को भंग कर दिया। अतः अधिकांश अर्थशास्त्री, जो नियोजित आर्थिक नीति के समर्थक हैं, यह मत प्रकट करते हैं कि नियोजित आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हानिकारक है।

(5) **व्यापार नीति का राजनीतिक अस्त्र के रूप में प्रयोग**—प्रायः यह देखा गया है कि बड़े देश छोटे देशों के निर्यातों को सीमित करने हेतु संरक्षण या अन्य प्रकार की नीतियों का प्रयोग राजनीतिक लाभ के लिए करने लगते हैं। वैसे प्रत्येक देश अपने व्यापार सन्तुलन को अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है, परन्तु बड़े व समृद्ध देशों की भेदभावपूर्ण नीति के कारण व्यापार के वांछित लाभ केवल उनके (राजनीतिक) कृपापात्र देशों को ही मिल पाता है। हाल ही में अमरीका द्वारा भारत के विरुद्ध लागू किया गया सुपर-301 नियम इसका एक उदाहरण है।

प्रश्न एवं उनके संकेत

1 अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की प्रमुख विशेषताएँ कौन-सी हैं ? क्या इसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से भिन्न मानना युक्तिसंगत है ?

What are the salient features of inter-regional trade ? Is it justifiable to distinguish it from international trade from an analytical point of view ?

[संकेत—उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में यह बताइए कि अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में कौन-सी प्रमुख विशेषताएँ हैं। यह भी बताइए कि अन्तर्क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में किस सीमा तक साम्य है। यह स्मरणीय है कि प्रो ओहलिन के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की ही एक विशिष्ट दशा है। विद्यार्थियों को चाहिए कि ओहलिन के इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या करें और बतायें कि राजनीतिक प्रशासनिक एवं अन्य कारणों से किस सीमा तक अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से भिन्न है।]

2 "आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बीच कोई आवश्यक अन्तर नहीं है और इस कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए कोई विशिष्ट सिद्धान्त होना आवश्यक नहीं है।' इस कथन की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

"There is no essential difference between domestic and international trade and consequently no place is necessary for special theory regarding international trade ?" Examine this statement critically

3 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता क्यों है ? इस सन्दर्भ में प्रो ओहलिन के विचारों की व्याख्या कीजिए।

Why is there a need for a separate theory of international trade ? Discuss the view of Prof Ohlin in this connection

4 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किस प्रकार क्षेत्रीय एवं अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार से भिन्न है ? क्या अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन पर आधारित विशिष्टीकरण द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को हमेशा अधिकतम किया जा सकता है ? अपने उत्तर में उपयुक्त कारण दीजिए।

In what why is the international trade different from the regional and inter-regional trade ? Would specialization on the basis of international division of labour always lead to the maximization of world trade ? Give reasons for your answer.

[संकेत—इस प्रश्न के प्रथम भाग के उत्तर में क्षेत्रीय, अन्तर्क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अन्तर बतायें। अपने उत्तर के द्वितीय भाग हेतु अगले अध्याय में प्रस्तुत विषय-सामग्री देखें। यह स्मरणीय है कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण को आदर्श स्थिति मानते थे तथा उनकी ऐसी मान्यता थी कि इनके आधार पर विश्व के कुल व्यापार को अधिकतम किया जा सकता है। इसी मान्यता का आलोचनात्मक परीक्षण उक्त प्रश्न के दूसरे भाग में प्रस्तुत करना है।]

5 क्या आज के सन्दर्भ में भी आन्तरिक व्यापार की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी वस्तुओं का विनिमय मात्र है ? इन दोनों के बीच क्या मूल अन्तर हैं ?

Is international trade any more a case of barter of goods than domestic trade ? What are the fundemental points of difference between the two ?

[संकेत—यह प्रश्न भी पूर्व-प्रश्नों की भाँति है। परन्तु विद्यार्थियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे यह बतायेंगे कि भले ही भूतकाल में मौद्रिक व आर्थिक नीतियों की समानता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में अन्तर न रहा हो, आज के सन्दर्भ में इन दोनों में आमूल अन्तर है।]

6 "चूँकि विभिन्न देश भी निश्चयत विभिन्न क्षेत्रों की भाँति हैं, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

का सिद्धान्त भी अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार के सिद्धान्त का एक प्रमुख प्रयोग है।" इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

"As nations are certainly the most significant of all regions, so the theory of international trade represents the chief application of the general theory *of Inter-regional trade" (B Ohlin) Discuss this statement critically.*

7. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता स्पष्ट कीजिए। इसकी हानियों का भी उल्लेख कीजिए।
Explain the need for international trade and discuss its demerits.
[*संकेत—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता के बारे में बताये गये कारणों को स्पष्ट कीजिए तथा इसके विरुद्ध में दिये गये तर्कों की पुष्टि भी संक्षेप में कीजिए।*]

3

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण
[INTERNATIONAL DIVISION OF LABOUR AND SPECIALISATION]

वर्तमान उत्पादन-प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक उद्योग मे उत्पादन-क्रिया को छोटे-छोटे भागों मे विभाजित किया जाता है, जिसके फलस्वरूप प्रत्येक श्रमिक को वही कार्य करने को मिल जाता है जिसमें वह दक्ष हो अथवा कार्यकुशल हो। इसी प्रकार उत्पादन-व्यवस्था इस प्रकार से की जाती है कि विशिष्ट क्षमता रखने वाले व्यक्तियों द्वारा विशिष्ट कार्य ही सम्पन्न किया जा सके। हैरोड (Harrod) के शब्दो मे, "जब विनिमय श्रम-विभाजन के द्वारा ही आवश्यक हो जाता है तो विदेशी व्यापार उस समय शुरू हो जाता है जबकि श्रम-विभाजन राष्ट्रीय सीमाओ को पार करके अन्तर्राष्ट्रीय बन जाता है।"[1]

विदेशी बाजार मे सभी वस्तुओ की माँग समान नही होती। यदि किसी देश की कार्यशील जनसंख्या (अर्थात् श्रम-शक्ति) को वस्तुओ की माँग के अनुपात मे विभाजित कर दिया जाय तो हो सकता है कि किसी वस्तु विशेष के मितव्ययितापूर्ण उत्पादन के लिए पूर्ण श्रम-विभाजन अपर्याप्त सिद्ध हो। देश को आत्म-निर्भर बनाने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि श्रमिको का एक बडा भाग प्रमुख वस्तुओं के उत्पादन मे लगा हुआ रहे। ऐसी स्थिति मे बची हुई श्रम-शक्ति अन्य उत्पादो के लिए पर्याप्त नही हो सकती। अत इन वस्तुओ की कमी को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन द्वारा दूर किया जा सकता है। अर्थात् अपनी वस्तु का निर्यात करके अन्य आवश्यक वस्तुओ का विदेशो से आयात किया जा सकता है। इस सन्दर्भ मे हैरोड ने कहा है, "प्रत्येक देश को केवल उन्ही वस्तुओ का उत्पादन करने दिया जाना चाहिए जिन्हे वह कम लागत पर अर्थात् सस्ता उत्पन्न कर सके।"

एडम स्मिथ का भी यही विचार था कि प्रत्येक राष्ट्र को ऐसी वस्तु के उत्पादन मे विशिष्टता प्राप्त करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए जिसके उत्पादन के लिए उसे अधिक उपयुक्त साधन उपलब्ध हो। एडम स्मिथ ने श्रम-विभाजन के महत्व पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट किया कि यह आय मे वृद्धि का आधार है। स्वतन्त्र व्यापार मे प्रत्येक देश को उन वस्तुओं के उत्पादन मे प्रोत्साहन मिलता है जिनको कि वह कम लागत पर सस्ती उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार इसमे श्रम-विभाजन का विस्तार होता है जिससे कि अन्त मे आय मे वृद्धि होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन का महत्व
[IMPORTANCE OF INTERNATIONAL DIVISION OF LABOUR]

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन का महत्व स्पष्ट करते हुए एडम स्मिथ ने कहा है, "एक परिवार के प्रत्येक बुद्धिमान स्वामी का यह सूत्र होता है कि वह उस वस्तु को तैयार करने का कभी प्रयत्न न करे जिसकी लागत उसे उस वस्तु को बाहर से क्रय करने की अपेक्षा अधिक होती है। जो कुछ प्रत्येक परिवार के लिए बुद्धिमानी का आचरण है, एक बड़े राज्य के लिए मूर्खतापूर्ण नही हो सकता।"[2] अतः इस कथन के अनुसार यदि कपडे का उत्पादन इंगलैण्ड मे सस्ता हो सकता है तो

1 "As exchange in general is necessitated by the division of labour, so foreign trade appears when the division of labour is pushed beyond national frontiers"—R. F. Harrod, *International Economics*, p 4.

2 "It is the maxim of every prudent master of a family, never to attempt to make at home what it will cost him more than To buy · What is prudence in the conduct of every private family can scarce be folly in that of a great kingdom."—Adam Smith, *Wealth of Nations*, p. 422.

पुर्तगाल में उसे उत्पन्न करना आर्थिक दृष्टि से अनुपयुक्त होगा। इसी प्रकार यदि अंगूरों का उत्पादन पुर्तगाल में सस्ता हो सकता है तो उन्हें इंग्लैण्ड में उत्पन्न करना भी भूल होगी। अतः अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन से विश्व के सभी देशों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करने पर लाभ प्राप्त होता है। वास्तव में यह तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का ही मूलरूप है जो आगे चलकर विकसित किया गया तथा उसमें अनेक संशोधन किये गये। कोई भी राष्ट्र उस वस्तु को उत्पन्न नहीं करेगा जिसको कि वह कम मूल्य पर विदेशों से प्राप्त कर सकता है, इससे वह अपने कुल लाभ में वृद्धि कर सकता है। स्मिथ ने यह भी कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन से उत्पादन के विशिष्टीकरण का जन्म होता है तथा फिर विभिन्न देशों में परस्पर वस्तुओं के आयात-निर्यात के फलस्वरूप सभी देशों को लाभ होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन के सन्दर्भ में ही एडम स्मिथ ने आर्थिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को स्वीकार किया। उन्होंने स्पष्ट किया कि आर्थिक मामलों में राज्य की स्वतन्त्र नीति राष्ट्र की सम्पन्नता के लिए महत्वपूर्ण है। एडम स्मिथ की स्वतन्त्र नीति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होंने स्वतन्त्र व्यापार को राष्ट्रीय नीति के रूप में स्वीकार किया है।

स्वतन्त्र व्यापार को समर्थन देते हुए भी एडम स्मिथ ने संरक्षण के पक्ष में सुरक्षा के तर्क को मान्यता दी। उन्होंने कहा कि सुरक्षा उद्योगों को पूर्ण संरक्षण दिया जाना चाहिए। इसके साथ-साथ उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि यदि एक देश के माल पर अन्य देशों में भारी आयात शुल्क लगाया जाता है तो प्रथम देश में भी इसी प्रकार का प्रतिशोधात्मक शुल्क (retaliatory duties) लगाना न्यायपूर्ण होगा। लेकिन इन दो अपवादों को छोड़कर स्मिथ ने स्वतन्त्र व्यापार के अन्य बन्धनों को स्वीकार नहीं किया। स्मिथ का विश्वास था कि विदेशी व्यापार से बाजार का विस्तार होता है। इसके फलस्वरूप उत्पादकता बढ़ती है तथा प्रति व्यक्ति आय में भी वृद्धि होती है। यह सभी राष्ट्रों के हित में होता है कि वे अपने साधनों (श्रम) को ऐसे उत्पादन में लगायें जिनमें उन्हें अन्य देशों की तुलना में लाभ प्राप्त होता हो तथा अपनी अन्य आवश्यकता की वस्तुओं को अन्य देशों से खरीद लें। विदेशी व्यापार के प्रमुख लाभ का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा कि "इससे एक देश के उत्पादन का अतिरिक्त अंश भूमि एवं श्रम जिसकी कि देश में माँग नहीं होती, विदेशों को भेजा जा सकता है तथा इसके बदले में उन वस्तुओं को खरीदा जा सकता है जिनकी देश में माँग होती है। इससे इनके अतिरिक्त उत्पादन को मूल्य प्राप्त होता है जिसका विनिमय उन वस्तुओं से किया जाता है जो उनकी आवश्यकताओं के एक अंश को पूर्ण करती है तथा उनके रोजगार को बढ़ाती है।"[1]

अन्त में, यह कहा जा सकता है कि स्मिथ के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन के लाभों को प्राप्त करने के लिए होती है। उनकी विचारधारा आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त का आधार है। स्मिथ ने लागत को श्रम का आधार मानते हुए स्पष्ट किया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लागत भिन्नता के कारण उत्पन्न होता है। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त में निरपेक्ष लागतों (absolute costs) को महत्व दिया जबकि आधुनिक अर्थशास्त्री रिकार्डो के तर्क को स्वीकार करते हैं जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार निरपेक्ष लागतों के अन्तर की अनुपस्थिति में भी उत्पन्न हो सकता है। उन्होंने यहाँ तुलनात्मक लागत के अन्तर (relative cost difference) को ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पर्याप्त कारण होना स्वीकार किया है।

विभिन्न देशों की पारस्परिक निर्भरता एवं विशिष्टीकरण
[MUTUAL INTERDEPENDENCE OF VARIOUS COUNTRIES AND SPECIALIZATION]

जैसा कि हम जानते हैं उत्पादन में लगे हुए उत्पत्ति के समस्त साधन उत्पादन लागत को निर्धारित करते हैं। भिन्न-भिन्न देशों में उत्पत्ति के साधन भिन्न-भिन्न मात्रा एवं गुण में पाये जाते

1 "It carries out that surplus part of the produce of their land and labour for which there is no demand among them, and brings back in return for it something else for which there is a demand. It gives a value to their superfluities, by exchanging them for some thing else, which may satisfy a part of their wants and increase their employments" —Adam Smith, quoted by Ray and Kundu, *International Economics*, p. 10.

हैं। विभिन्न साधनों की भिन्न-भिन्न उपलब्धता के कारण ही वस्तु की उत्पादन लागत भी भिन्न-भिन्न होती है। यह लागत भिन्नता ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को जन्म देती है। लागत भिन्नता के कुछ महत्वपूर्ण कारणों का वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है :

(1) परिवहन व्यय (Transport Expenditure)—उद्योगों के स्थानीयकरण एवं विकेन्द्रीकरण अर्थात् भौगोलिक विशिष्टीकरण के लिए परिवहन लागत का अत्यधिक महत्व है। भौगोलिक विशिष्टीकरण का कारण भी उत्पत्ति के साधनों की असमान उपलब्धता है जिसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आवश्यक हो जाता है। उद्योगों की स्थापना वहाँ की जानी चाहिए जहाँ परिवहन लागत न्यूनतम हो।

(2) बड़े पैमाने पर उत्पादन (Production on Large scale)—विशिष्टीकरण के अन्तर्गत उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जाता है। अतः विशिष्टीकरण का लाभ उठाने के लिए हम सभी वस्तुओं का उत्पादन बड़े पैमाने पर नहीं कर सकते। परिणामस्वरूप एक देश का अन्य देशों के साथ व्यापार अनिवार्य हो जाता है।

(3) जनसंख्या का असमान वितरण (Unequal Distribution of Population)—विश्व के समस्त देशों में जनसंख्या का स्तर समान नहीं है। इसके विपरीत कुछ देशों में जैसे चीन अथवा भारत में अति जनसंख्या की स्थिति है तो जर्मनी, फ्रान्स आदि देशों में न्यून जनसंख्या की स्थिति। इस असमान वितरण के कारण भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आवश्यक हो जाता है। अधिक जनसंख्या वाले देश श्रम प्रधान तकनीक वाली वस्तुओं का विशिष्टीकरण करके बड़े पैमाने पर उनका उत्पादन करेंगे तो न्यून जनसंख्या वाले देश पूँजी प्रधान तकनीक वाली वस्तुओं का अधिक उत्पादन करेंगे। ये देश वस्तुओं का विनिमय करके अपनी-अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति सरलता से कर सकते हैं।

(4) प्राकृतिक साधनों की उपलब्धता (Availability of Natural Resources)—प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से भी कुछ देश अधिक धनी होते हैं तो कुछ कम। भूमि की उर्वरता भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती है। जलवायु का भी वस्तुओं के उत्पादन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। विभिन्न देशों की जलवायु भी प्रायः भिन्न-भिन्न होता है। इन सबके कारण विश्व के देश अलग-अलग वस्तुओं का उत्पादन करने में विशिष्टीकरण अपनाते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि विश्व के प्रत्येक देश समस्त वस्तुओं का उत्पादन अपने देश में न करके केवल कुछ चुनी हुई वस्तुओं का ही उत्पादन करता है जो उसके यहाँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती हैं अथवा जिसके उत्पादन करने में उसे विशिष्टता प्राप्त है। इसमें उत्पादन व्यय अन्य वस्तुओं की तुलना में कम होता है। यह लागतों का अन्तर ही विशिष्टीकरण को प्रोत्साहित करता तथा प्रत्येक देश केवल वही वस्तुएँ उत्पन्न करते हैं जिनमें उसे तुलनात्मक लाभ प्राप्त होते हैं। इन वस्तुओं का निर्यात करके वे अन्य देशों से अपनी आवश्यकता की वस्तुओं का आयात प्राप्त करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभान्वित होता है तथा श्रम विभाजन की प्रगति के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अपनी अधिकतम सीमा तक बढ़ जाता है।

प्रश्न एवं उनके संकेत

1. *"अन्तर्क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आर्थिक आधार श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण है।"* स्पष्ट कीजिए।
   "The economic basis of inter regional and international trade is division of labour and specialisation " Discuss
   [संकेत—यहाँ यह स्पष्ट कीजिए कि श्रम विभाजन ही उत्पादन की लागतों में अन्तर उत्पन्न करता है, जिससे फलस्वरूप आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय दोनों व्यापार अनिवार्य हो जाते हैं। इसे अपनाकर ही देश व्यापार का लाभ उठा सकते हैं।]
2. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन के महत्व की व्याख्या कीजिए।
   Explain the importance of international division of labour.

3. विशिष्टीकरण एवं श्रम-विभाजन पर एक नोट लिखिए।
Write a note on division of labour and specialization.

4 अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन का अर्थ बताइए। विभिन्न देशों की पारस्परिक निर्भरता के क्या कारण हैं ?
Discuss the meaning of international division of labour. What are the causes of mutual interdependence of various countries.
[संकेत—सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन को उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए तथा बताइए कि इसके बिना विभिन्न देशों के बीच व्यापार सम्भव नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन के विभिन्न कारणों का उल्लेख कीजिए।]

4

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का तुलनात्मक लागत सिद्धान्त
[COMPARATIVE COST THEORY OF INTERNATIONAL TRADE]

बहुधा एक प्रश्न उपस्थित होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार क्या है तथा किन दशाओं में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्भव होता है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री—विशेष रूप से एडम स्मिथ एवं रिकार्डो—ऐसा मानते थे कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का कारण उत्पादन-लागतों के अन्तर में निहित है। एडम स्मिथ ने कहा है कि दो देशों के बीच व्यापार इस कारण होता है कि एक देश किसी एक वस्तु को निरपेक्ष (absolute) रूप से कम लागत पर उत्पन्न कर सकता है जबकि दूसरी वस्तु या वस्तुओं का उत्पादन दूसरा देश कम (निरपेक्ष) लागत पर करने में सक्षम है। इस प्रकार स्मिथ के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का कारण लागतों का निरपेक्ष अन्तर (absolute cost differences) है। परन्तु डेविड रिकार्डो ने बताया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए लागतों का निरपेक्ष अन्तर ही एक आवश्यक तथा पर्याप्त शर्त नहीं है, अपितु उनके मत में लागतों के सापेक्ष अन्तर (comparative cost differences) के कारण भी दो देशों के बीच व्यापार हो सकता है। इसके उपरान्त भी एडम स्मिथ व रिकार्डो के विचारों में एक समानता यह थी कि दोनों ही ने उत्पादन-लागत का निरूपण श्रम के आधार पर किया।

उन्नीसवीं शताब्दी में मार्जिनल स्कूल के अर्थशास्त्रियों—विशेष रूप से हैबरलर ने श्रम लागत प्रमेय (Labour Cost Theorem) के स्थान पर अवसर-लागत प्रमेय (Opportunity Cost Theorem) को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार माना। इन अर्थशास्त्रियों ने कहा कि केवल श्रम ही उत्पादन का एकमात्र साधन नहीं है अपितु उत्पादन के अन्य साधन भी समान रूप से महत्वपूर्ण हैं।

आधुनिक युग में स्वीडन के कुछ अर्थशास्त्रियों—विशेष रूप से ओहलिन एवं हैक्शर—ने अवसर-लागत सिद्धान्त (Opportunity Cost Theorem) की आलोचना करते हुए तुलनात्मक लागत सिद्धान्त (*Comparative Cost Theorem*) को एक नये परिवेश में प्रस्तुत किया है। इस आधुनिक सिद्धान्त को हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त (Heckscher Ohlin Theory) की संज्ञा दी जाती है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने यह तो बताया कि उत्पादन लागतों के अन्तर के कारण विदेशी व्यापार होता है परन्तु वे यह बताने में असमर्थ रहे कि अलग-अलग देशों में लागतों का अन्तर क्यों होता है। ओहलिन ने इस प्रतिष्ठित मान्यता का अनुमोदन किया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए लागतों का अन्तर आवश्यक है। परन्तु उन्होंने यह भी बताया कि लागतों का अन्तर विभिन्न देशों में विद्यमान साधनों की निधि (factor-endowments) एवं उत्पादन में प्रयुक्त साधनों के अनुपात (factor input ratio) पर निर्भर करता है। प्रस्तुत अध्याय में हम सर्वप्रथम तुलनात्मक लागतों के प्रतिष्ठित सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे और इसके बाद इस सन्दर्भ में हैक्शर-ओहलिन एवं हैबरलर के योगदान की समीक्षा करेंगे।

तुलनात्मक लागतों का प्रतिष्ठित सिद्धान्त—स्मिथ-रिकार्डो का प्रमेय
[THE CLASSICAL DOCTRINE OF COMPARATIVE COSTS SMITH RICARDO THEOREM]

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है तुलनात्मक लागतों के सम्बन्ध में एडम स्मिथ एवं रिकार्डो के विचार भिन्न भिन्न थे। हम पहले एडम स्मिथ द्वारा प्रस्तुत लागतों के निरपेक्ष अन्तर-सिद्धान्त (Theory of Absolute Cost Difference) की व्याख्या करेंगे और उसके पश्चात् रिकार्डो के

लागतों के सापेक्ष अन्तर-सिद्धान्त (Theory of Comparative Cost Difference) की विवेचना की जायगी।

एडम स्मिथ का लागतों का निरपेक्ष लाभ सिद्धान्त
(Adam Smith's Theory of Absolute Cost Advantage)

नेपोलियन-युद्ध (1793-1815) के समय एवं उसके बाद इगलैण्ड में अनेक नये उद्योगों का तीव्र गति से विकास हुआ जिसमें सूती वस्त्र, लोहा एवं इस्पात, कोयला एवं इंजीनियरिंग उद्योग प्रमुख थे। इनके कारण देश के औद्योगिक उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुई। यह सब औद्योगिक उत्पादन देश की आन्तरिक माँग से कई गुना अधिक था। युद्ध की समाप्ति के साथ ही यह अनुभव किया गया कि इगलैण्ड के प्रमुख उद्योग काफी सुदृढ़ स्थिति में पहुँच चुके थे और वहाँ की बनी हुई वस्तुएँ विश्व की किसी भी देश में निर्मित वस्तुओं से स्पर्धा कर सकती थी। इस समय तक इगलैण्ड के पास निर्यात योग्य अतिरेक (surplus) भी काफी मात्रा में विद्यमान था। यही कारण था कि इगलैण्ड के विदेशी व्यापार में अठारहवीं शताब्दी की अन्तिम शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक बहुत तीव्र गति से वृद्धि हुई।

प्रतिष्ठित स्कूल के संस्थापक एडम स्मिथ के समय इगलैण्ड का विदेशी व्यापार अत्यन्त सीमित था, फिर भी स्मिथ ने विदेशी व्यापार के विषय में जो विचार व्यक्त किये उन्होंने इगलैण्ड की अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नीति को काफी समय तक प्रभावित किया। एडम स्मिथ की ऐसी मान्यता थी कि मुक्त व्यापार नीति पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से दोनों पक्षों को लाभ होता है, जबकि व्यापार में लगाया गया प्रत्येक प्रतिबन्ध अन्ततः प्रतिकूल परिणामयुक्त होता है।

स्मिथ ने श्रम-विभाजन की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए बताया कि श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण न केवल किसी देश के विभिन्न क्षेत्रों में स्थित उद्योगों के लिए उपयोगी होते हैं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण भी समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। यदि एक देश किसी वस्तु को कम लागत पर अन्य दूसरे देश से आयात (import) कर सकता है तो स्मिथ के मतानुसार, उस वस्तु का आयात करना ही श्रेयस्कर होगा। इसके विपरीत, अन्य देशों की तुलना में जिस वस्तु को यह देश कम लागत पर उत्पन्न कर सकता है, उपलब्ध साधनों का केवल उसी दिशा में उपयोग होना चाहिए। एडम स्मिथ ने स्पष्ट किया कि प्रत्येक देश को उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करना चाहिए जिनके लिए उसकी जलवायु, मिट्टियों की प्रकृति, अन्य प्राकृतिक साधनों की प्रकृति व मात्रा, मानव-निर्मित क्षमताएँ, जैसे प्लाण्ट, भवन, परिवहन की सुविधाएँ, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि विशेष रूप से उपयुक्त है। देश ऐसी वस्तुओं के उत्पादन हेतु ही सभी साधनों को प्रयुक्त करेगा और देश की जनता की आवश्यकता से कई गुना अधिक उत्पादन करते हुए अतिरिक्त स्टॉक को उन वस्तुओं के बदले निर्यात (export) करेगा जिनका उत्पादन करने के लिए देश को उपलब्ध प्राकृतिक एवं मानव-निर्मित दोनों ही प्रकार के साधन उपयुक्त नहीं हैं।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है स्मिथ ने श्रम को उत्पादन का एकमात्र साधन माना था। *इसी कारण उनके मतानुसार दो वस्तुओं का विनिमय इनके निर्माण में प्रयुक्त श्रम की मात्राओं* के आधार पर किया जाता था। इसे स्पष्ट करने हेतु उन्होंने एक उदाहरण दिया, 'यदि शिकारियों के एक देश में हिरन को मारने की अपेक्षा एक ऊदबिलाव को मारने में दोगुने अधिक श्रम की आवश्यकता होती है तो स्वाभाविक है कि ऊदबिलाव का विनिमय दो (या अधिक) हिरनों के समान होगा। यदि उस अनुपात में परिवर्तन कर दिया जाय (जैसे एक ऊदबिलाव तीन हिरनों के समान हो) तो अधिक लोग ऊदबिलाव के शिकार में लग जायेंगे ताकि उन्हें ऊदबिलाव के बढ़े हुए मूल्य का लाभ मिल सके। इससे ऊदबिलावों की पूर्ति में वृद्धि होगी और साथ ही हिरनों की पूर्ति में कमी होगी। फलस्वरूप विनिमय का अनुपात हिरनों के पक्ष में एवं ऊदबिलावों के विपक्ष में हो जायगा और यह परिवर्तन तब तक होता रहेगा जब तक कि मूल विनिमय-अनुपात पुनः स्थापित नहीं हो जाता।'[1]

एडम स्मिथ की इस धारणा के पीछे दो मान्यताएँ निहित हैं: (अ) श्रम ही उत्पादन का एकमात्र साधन है, एवं (ब) देश के भीतर तो श्रम पूर्ण रूप से गतिशील है परन्तु दो देशों के बीच

1 Adam Smith, *Wealth of Nations* (Modern Library, New York, 1973), p. 47.

श्रम की गतिशीलता सम्भव नहीं है । इन मान्यताओं के साथ-साथ स्मिथ ने दो देशों व दो वस्तुओं (Two Country-Two Commodity) का सरलतम मॉडल लेते हुए स्पष्ट किया कि यदि प्रत्येक देश एक वस्तु का उत्पादन कम लागत (निरपेक्ष दृष्टि से) पर करने में समर्थ है तो दोनों देशों के बीच व्यापार सम्भव होगा । यदि लागतों में कोई निरपेक्ष अन्तर न हो तो विदेशी व्यापार भी नहीं होगा ।

उदाहरण—हम उपर्युक्त कथन की पुष्टि हेतु दो वस्तुओं व दो देशों का एक उदाहरण लेते है । तालिका 4·1 मे दोनो वस्तुओं (*A* व *B*) की दोनों देशों में प्रति इकाई उत्पादन-लागत (per unit production cost) इस प्रकार दर्शायी गयी है .

तालिका 4.1

दो वस्तुओं-दो देशों में श्रम लागत रचना

देश	वस्तुएँ	
	A	*B*
प्रथम	10	20
द्वितीय	20	10

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि प्रथम देश *A* का उत्पादन कम निरपेक्ष लागत पर कर सकता है जबकि *B* का उत्पादन द्वितीय देश में कम निरपेक्ष लागत पर सम्भव है। फलतः प्रथम देश को *A* का व द्वितीय देश को *B* का उत्पादन करने में (निरपेक्ष दृष्टि) से अधिक लाभ होगा क्योंकि इन्ही के लिए इन देशो मे अनुकूल दशाएँ विद्यमान है । प्रथम देश सारे साधनो को *A* हेतु एवं द्वितीय देश सारे साधनों को *B* हेतु प्रयुक्त करेगा । आन्तरिक माँग को पूरा करने के बाद प्रथम देश *A* का द्वितीय देश को निर्यात करेगा और बदले में उससे *B* प्राप्त करेगा । इस प्रकार दोनों देश विशिष्टीकरण एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के माध्यम से *A* व *B* दोनों ही वस्तुओं को कम लागत पर प्राप्त कर सकेंगे । इसके विपरीत, यदि दोनों देश दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन करें तो प्रथम देश को काफी साधन *B* हेतु एवं द्वितीय देश को काफी साधन *A* हेतु प्रयुक्त करने होंगे । अस्तु, विशिष्टीकरण तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के माध्यम से दोनों ही देशों को लाभ होगा ।

परन्तु व्यवहार में लागतो के निरपेक्ष अन्तर बहुत कम दिखायी देते हैं और इस कारण इनसे प्राप्त लाभ अपवाद-स्वरूप ही दिखायी देते हैं । प्रत्येक देश में आवश्यकता की सभी वस्तुओं का किसी न किसी मात्रा में उत्पादन करना आवश्यक समझा जाता है । पूर्ण विशिष्टीकरण द्वारा उत्पादन-लागत में कमी करना तो सम्भव है परन्तु इससे देश की अन्य देशों पर निर्भरता में बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है । विशेष रूप से विकासशील देशों में तो सभी वस्तुओं की उत्पादन लागत अधिक होने के कारण विशिष्टीकरण की कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती । राजनीतिक एवं राष्ट्रीय भावना के कारण भी कोई देश अन्य देशों पर अपनी निर्भरता को बढ़ाना नहीं चाहता । अस्तु, निरपेक्ष लागत-अन्तर का सिद्धान्त आधुनिक सन्दर्भ में अर्थहीन प्रतीत होता है ।

रिकार्डो का लागत का सापेक्ष लाभ सिद्धान्त
(Ricardo's Doctrine of Relative Cost Advantage)

इस प्रमेय का प्रतिपादन रिकार्डो द्वारा 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में किया गया था। उनका विश्वास था कि उत्पादन-लागतो में निरपेक्ष अन्तर न होने पर भी दो देशों के बीच व्यापार सम्भव है । उन्होंने स्पष्ट किया कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन के लिए लागतों के निरपेक्ष अन्तर की अपेक्षा सापेक्ष अन्तर की आवश्यकता है । रिकार्डो के मतानुसार यदि प्रथम देश दोनों ही वस्तुओं (*A* व *B*) को निरपेक्ष दृष्टि से कम लागत पर तैयार कर सकता है । फलस्वरूप दोनों ही देश लागतों के सापेक्ष लाभ के आधार पर विशिष्टीकरण की ओर प्रवृत्त होंगे तथा परस्पर व्यापार द्वारा दोनों ही देशों को लाभ होगा । ऐसी स्थिति में प्रत्येक देश उस वस्तु में विशिष्टीकरण करेगा जिसके उत्पादन में उसे अपेक्षाकृत कम लागत (या अधिक लाभ) वहन करनी होती है, जबकि दूसरी वस्तु के उत्पादन का दायित्व दूसरे देश पर छोड़ दिया जाता है क्योंकि उसे उसके उत्पादन में अपेक्षाकृत अधिक लाभ है । इसे तुलनात्मक लागत या सापेक्ष लागत-लाभ का सिद्धान्त (Doctrine of Comparative Cost or Relative Cost Advantage) के नाम से जाना जाता है ।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की मान्यताएँ
(Assumptions of the Comparative Cost Theory)

रिकार्डो के तुलनात्मक लागत लाभ सिद्धान्त की विवेचना के पहले इस सिद्धान्त के आधार को समझना उचित होगा। एडम स्मिथ की भाँति रिकार्डो ने भी अपना विश्लेषण श्रम लागत कीमत सिद्धान्त पर आधारित किया। इस सिद्धान्त की निम्नलिखित मान्यताएँ हैं :

(1) श्रम ही उत्पादन का एक मात्र साधन है। वस्तुतः एक वस्तु की कीमत उस वस्तु के उत्पादन में निहित श्रम की लागत को बनाती है।

(2) चूँकि विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में प्रयोग की गयी श्रम की मात्रा अलग-अलग हो सकती है, अतः विभिन्न वस्तुओं की कीमतें भी भिन्न-भिन्न होंगी।

(3) उत्पादन प्रक्रिया में प्रयोग की जाने वाली श्रम की सभी इकाइयाँ समरूप होती हैं।

(4) एक देश में श्रम पूर्ण रूप से गतिशील होता है, परन्तु देश के बाहर यह गतिशील नहीं होता।

(5) श्रम-बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता पायी जाती है। अतएव सम्पूर्ण देश में इस साधन की कीमत समान होती है।

(6) इस सिद्धान्त की व्याख्या के लिए दो देश दो वस्तु का सरल मॉडल लिया गया है।

(7) दोनों ही देशों में दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है।

(8) इस सिद्धान्त की मान्यता है कि दोनों देशों में उत्पत्ति के साधनों को पूर्ण रोजगार प्राप्त है। यह मान्यता प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के "पूर्ण रोजगार" सिद्धान्त के अनुरूप है।

(9) यह सिद्धान्त मानकर चलता है कि दोनों देशों में स्थिर लागत अनुपात के अन्तर्गत (उत्पाद समता नियम) उत्पादन होता है।

(10) दो देशों के बीच व्यापार में कोई रोक-टोक या व्यवधान नहीं होता है।

(11) दोनों देशों में स्थायी साम्य की स्थिति पायी जाती है तथा वहाँ पर व्यापार चक्रों का अभाव पाया जाता है।

(12) सिद्धान्त में यह भी मान्यता ली गयी है कि दोनों देश समान आर्थिक स्थिति वाले हैं और उनके मध्य व्यापार भी समान मूल्य वाली वस्तुओं में हो रहा होता है।

ये मान्यताएँ इसलिए रखी गयी हैं ताकि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को सरलतापूर्वक समझा जा सके।

अब हम रिकार्डो के तुलनात्मक लागत-अन्तर अथवा लाभ सिद्धान्त की व्याख्या एक उदाहरण की सहायता से करेंगे।

उदाहरण—स्मिथ की भाँति रिकार्डो ने भी दो वस्तुओं व दो देशों का मॉडल (Two Commodity-Two Country Model) लिया। ये दो देश क्रमशः इंगलैण्ड एवं पुर्तगाल थे तथा दोनों वस्तुओं में शराब व कपड़ा शामिल किये गये। रिकार्डो के मतानुसार पुर्तगाल को शराब व कपड़ा दोनों ही के उत्पादन में इंगलैण्ड की अपेक्षा निरपेक्ष लाभ है। यह स्थिति तालिका 4.2 में स्पष्ट की गयी है। इस तालिका से यह स्पष्ट है कि पुर्तगाल को शराब व कपड़ा दोनों ही वस्तुओं के उत्पादन हेतु कम (निरपेक्ष) श्रम-लागत वहन करनी पड़ती है। रिकार्डो ने कहा, "इंगलैण्ड में कपड़े की एक इकाई का उत्पादन करने हेतु 100 घण्टे श्रम का उपयोग किया जाता है जबकि एक इकाई शराब की उत्पादन-लागत (श्रम के रूप में) 120 घण्टे है, पुर्तगाल में एक इकाई शराब के लिए 80 घण्टे श्रम एवं एक इकाई कपड़े के लिए 90 घण्टे श्रम प्रयुक्त किया जाता है। यदि किसी देश के दो जिलों में लागत-संरचना इसी रूप में हो तो सारी वस्तुएँ उसी देश में उत्पादित की जायेंगी जहाँ लागतें कम हैं परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में साधारणतया उत्पादन के साधनों का एक देश से दूसरे देश को स्थानान्तरण सम्भव नहीं होता। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की बड़ी महत्ता यह सिद्ध करने में निहित है कि, कुछ भी हो, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन अवश्य होगा।"[1]

---

1 David Ricardo, *Principles of Political Economy*, pp. 82-84.

तालिका 4.2

प्रति इकाई श्रम लागत (श्रम-घण्टों में)

	शराब	कपड़ा	प्रत्येक देश के भीतर विनिमय अनुपात (अथवा आन्तरिक व्यापार की शर्तें)
पुर्तगाल	80	90	80 90 या 0.89 : 1
इंगलैण्ड	120	100	120 100 या 1.20 : 1
पुर्तगाल के लिए लागतों का अनुपात (अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तें)	80/120 =(0.67)	90/100 =(0.90)	

यदि तालिका 4.2 के लागतों के अनुपात (cost ratio) पर दृष्टिपात किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि कपड़े के उत्पादन हेतु इंगलैण्ड में प्रयुक्त श्रम की प्रत्येक इकाई के बदले पुर्तगाल में केवल 0.90 इकाई श्रम की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार शराब की प्रत्येक इकाई के उत्पादन हेतु इंगलैण्ड में आवश्यक श्रम की प्रत्येक इकाई के बदले पुर्तगाल के केवल 0.89 इकाई श्रम की आवश्यकता है। इस प्रकार इंगलैण्ड की अपेक्षा पुर्तगाल को दोनों ही वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ (absolute advantage) है।

परन्तु एक और तथ्य हमें तालिका 4.2 में दिखायी देता है, और वह यह कि पुर्तगाल कपड़े की तुलना में शराब का उत्पादन कम लागत पर कर सकता है। दूसरे शब्दों में पुर्तगाल को शराब के उत्पादन में कपड़े की अपेक्षा तुलनात्मक लाभ (comparative advantage) है। इसके विपरीत, निरपेक्ष दृष्टि से दोनों वस्तुओं का उत्पादन अधिक लागत पर होने के बावजूद इंगलैण्ड को कपड़े के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ है क्योंकि शराब की अपेक्षा इंगलैण्ड कपड़े का उत्पादन कम लागत पर कर सकता है।

इस तथ्य को अच्छी तरह समझने के लिए तालिका 4.2 में प्रस्तुत आन्तरिक व्यापार की शर्तें (domestic terms of trade) देखी जायें। यह स्पष्ट है कि इंगलैण्ड में शराब की एक इकाई के स्थान पर कपड़े की 1.2 इकाई प्राप्त हो सकती हैं जबकि पुर्तगाल में शराब की एक इकाई कपड़े की 0.89 इकाई के समान है। इसका यह अर्थ हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में इंगलैण्ड एक इकाई शराब के बदले 1.2 इकाई से कम कपड़ा देने को सहज ही तैयार हो जायगा। दूसरी ओर पुर्तगाल को एक इकाई शराब के बदले 0.89 इकाई से अधिक कपड़ा मिलने पर लाभ होगा। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि रिकार्डो ने शराब एवं वस्त्र की केवल उत्पादन-लागत (श्रम के रूप में) को सम्मिलित किया तथा परिवहन-व्यय की उपेक्षा कर दी।

अस्तु, पुर्तगाल का लाभ इसी में है कि वह शराब के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करे तथा इसकी अतिरिक्त मात्रा इंगलैण्ड को निर्यात करके बदले में वहाँ से कपड़ा प्राप्त करे। इसके साथ ही इंगलैण्ड के लिए यही उपयुक्त होगा कि वह कपड़े के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करे और अतिरिक्त कपड़े के बदले पुर्तगाल से शराब मँगाये। जब तक इंगलैण्ड को एक इकाई शराब के बदले 1.2 इकाई से कम कपड़ा पुर्तगाल को भेजना पड़ता है और जब तक पुर्तगाल को एक इकाई शराब के बदले 0.89 इकाई से अधिक कपड़ा इंगलैण्ड से प्राप्त होता है इंगलैण्ड व पुर्तगाल क्रमशः कपड़े व शराब में विशिष्टता जारी रखेंगे और परस्पर विनिमय द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ कमायेंगे। विनिमय की वास्तविक दर या कपड़े व शराब के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अनुपात (एक इकाई शराब के बदले) 0.89 से लेकर 1.2 इकाई वस्त्र के बीच कहीं भी निर्धारित हो सकता है। सरल गणितीय रूप में इसे निम्न प्रकार से समझा जा सकता है :

यदि दो वस्तुएँ X एवं Y एवं दो देश प्रथम व द्वितीय के रूप में लिये जायें, तथा

X_1 = प्रथम देश में X की श्रम-लागत हो,

X_2 = द्वितीय देश में X की श्रम-लागत हो,

Y_1 = प्रथम देश में Y की श्रम-लागत हो, एवं

Y_2 = द्वितीय देश में Y की श्रम-लागत हो।

यदि $\frac{X_1}{X_2} < 1$, तो प्रथम देश में X द्वितीय देश से सस्ती है,

यदि $\frac{Y_1}{Y_2} < 1$, तो द्वितीय देश में Y प्रथम देश से सस्ती है,

तथा

$\frac{X_1}{X_2} < \frac{Y_1}{Y_2} < 1$, तो प्रथम देश को X एवं Y दोनों ही वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ है परन्तु सापेक्ष या तुलनात्मक दृष्टि से प्रथम देश को X के उत्पादन में व द्वितीय देश को Y के उत्पादन में लाभ है।

उपर्युक्त उदाहरण में X को शराब व Y को कपड़े के रूप में व्यक्त किया जाय तो लागतों का अनुपात इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

$$X : \frac{80}{120} \; (<1)$$

$$Y : \frac{100}{90} \; (>1)$$

स्पष्ट है, प्रथम देश यानी पुर्तगाल में, X की उत्पादन (सापेक्ष) लागत कम है जबकि इंगलैण्ड में Y यानी कपड़े की उत्पादन (सापेक्ष) लागत कम है। ये दोनों देश क्रमशः शराब तथा कपड़े के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करके परस्पर व्यापार करेंगे तथा लाभ अर्जित करेंगे।

अन्त में, यह कहा जा सकता है कि तुलनात्मक लागत या लाभ सिद्धान्त (Theory of Relative Cost Advantage) एडम स्मिथ के लागतों के निरपेक्ष-अन्तर सिद्धान्त (Adam Smith's Absolute Cost Advantage) की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विश्लेषण में काफी अधिक व्यावहारिक एवं उपयोगी है। परन्तु रिकार्डो का उपर्युक्त सिद्धान्त स्मिथ के सिद्धान्त से अधिक व्यापक होने पर भी इसका एक बड़ा दोष यह है कि इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वास्तविक शर्तें अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में दोनों वस्तुओं के वास्तविक अनुपात के निर्धारण में अनिश्चितता बनी रहती है। रिकार्डो के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में और भी अनेक कमियाँ हैं जिन सभी का संक्षेप में विवरण नीचे दिया गया है।

रिकार्डो के प्रतिष्ठित सिद्धान्त की आलोचना
(Criticism of Ricardian Doctrine of Comparative Cost)

(1) श्रम ही उत्पादन का एकमात्र साधन नहीं—यह प्रमेय (Theorem) इस मान्यता पर आधारित है कि श्रम ही उत्पादन का एकमात्र साधन है। वस्तुतः किसी भी वस्तु के उत्पादन हेतु श्रम के अतिरिक्त भूमि, पूँजी और अन्य साधनों की भी आवश्यकता होती है। फिर इस प्रमेय में यह भी मान्यता निहित है कि श्रम की सभी इकाइयाँ समरूप अथवा एक जैसी (homogenous) हैं और इस कारण सभी श्रमिकों को चुकायी गयी मजदूरी समान है। ये मान्यताएँ आधुनिक सन्दर्भ में उचित नहीं लगती और इस कारण इन पर आधारित सिद्धान्त भी वैध नहीं माना जा सकता।

(2) **साधन की गतिशीलता**—तुलनात्मक लाभ का सिद्धान्त इस मान्यता पर भी आधारित है कि श्रम किसी देश के भीतर तो पूर्णरूपेण गतिशील है परन्तु देश के बाहर इसमें गतिशीलता का नितान्त अभाव है। व्यावहारिक जीवन में अधिक पारिश्रमिक का लालच भी श्रमिक को अपना घर छोड़ने के लिए प्रेरित नहीं कर पाता। सामाजिक, पारिवारिक एवं अन्य बन्धनों के कारण देश के भीतर भी श्रमिक उतना ही अगतिशील (immobile) हो सकता है जितना कि वह देश के बाहर जाने हेतु माना गया है। परन्तु इसके विपरीत उत्पादन के अनेक साधनों को आज बिना किसी

कठिनाई से बाहर भेजा जाता है अथवा इनका विदेशों से आयात किया जाता है। आज भारत न केवल पूंजी (मशीनें आदि) बाहर से मँगाता है अपितु अनेक विशेषज्ञों की सेवाएँ भी समय-समय पर हमें प्राप्त होती रहती हैं। इसी प्रकार, भारतीय इंजीनियर व अन्य विशेषज्ञ देश के बाहर जाकर बस गये हैं। अस्तु श्रम की गतिशीलता से सम्बद्ध मान्यता सही नहीं है।

(3) **सरकारी हस्तक्षेप**—प्रतिष्ठित (तुलनात्मक लाभ का) सिद्धान्त (Classical Theory) इस मान्यता पर भी आधारित है कि किसी भी देश की सरकार वस्तुओं के आयात अथवा निर्यात में कोई हस्तक्षेप नहीं करती। आधुनिक सन्दर्भ में यह मान्यता कोई महत्व नहीं रखती क्योंकि आज सभी देशों में विदेशी व्यापार पर सरकार का अंकुश अथवा नियन्त्रण है। इस कारण भी रिकार्डो का सिद्धान्त आधुनिक सन्दर्भ में कोई महत्व नहीं रखता।

(4) **समय तत्व की उपेक्षा**—इनके अतिरिक्त रिकार्डो का तुलनात्मक लाभ का सिद्धान्त *जिस श्रम-मूल्य सिद्धान्त (Labour-Value Theory) पर आधारित है उसमें समय की पूर्णत* उपेक्षा की गयी है। दूसरे शब्दों में, इस तथ्य की इस सिद्धान्त द्वारा उपेक्षा कर दी गयी है कि वस्तुओं को भण्डार में रखने की लागत एवं ब्याज का भी मूल्य-निर्धारण की प्रक्रिया पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।

(5) **उत्पत्ति ह्रास नियम की व्यावहारिकता**—तुलनात्मक लाभ का सिद्धान्त इस मान्यता पर भी आधारित है कि अर्थ-व्यवस्था में पैमाने के स्थिर प्रतिफल (constant returns to scale) प्राप्त होते हैं। दूसरे शब्दों में, वस्तुओं के लागत फलन (cost functions) रेखीय (linear) हैं ऐसा मान लिया गया है। *वास्तविक जीवन में लागत में उत्पादन के साथ अनुपात में कमी या वृद्धि* हो सकती है। यदि बाह्य बचतें (external economies) या अबचतें (diseconomies) उत्पादक *इकाइयों को उपलब्ध हो तो यह सिद्धान्त वैध नहीं होगा।*

(6) **परिवहन व्यय की उपेक्षा**—तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्त का एक बड़ा दोष यह भी है कि इसमें परिवहन-व्यय शून्य माना गया है। लागतों के अनुपात ज्ञात करने हेतु परिवहन-व्यय को भी अन्य (उत्पादन सम्बन्धी) लागतों के साथ जोड़ना आवश्यक है।

(7) **दो वस्तुओं एवं दो देशों के मॉडल पर आधारित**—इस सिद्धान्त का एक बड़ा दोष यह भी है कि इसमें दो वस्तुओं व दो देशों का ही मॉडल लिया गया है। सरलता की दृष्टि से यह उचित भी है परन्तु यदि वस्तुओं एवं व्यापार करने वाले देशों की संख्या में वृद्धि की जाय तो इस सिद्धान्त से प्राप्त निष्कर्ष अर्थहीन हो जायेंगे। अस्तु तुलनात्मक लाभ का सिद्धान्त व्यावहारिक समस्याओं की उपेक्षा करता है।

(8) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की यन्त्र रचना का अभाव**—इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त लाभों का मूल्यांकन करता है, परन्तु यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की यन्त्र-रचना (international trade mechanism) के विषय में कुछ भी प्रकाश नहीं डालता।

(9) **तुलनात्मक लागत की माप में कठिनाई**—रिकार्डो ने अपने तुलनात्मक लागत-अन्तर सिद्धान्त की व्याख्या करते समय यह मान लिया था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में संलग्न देशों में उत्पादन-फलन परिवर्तित नहीं होते। वर्तमान में तेजी से बदलती हुई तकनीक के सन्दर्भ में यह मान्यता उचित प्रतीत नहीं होती। आधुनिक परिवर्तनशील व्यवस्था (dynamic setting) के अन्तर्गत तुलनात्मक लागतों का अनुमान (calculation) एक बहुत कठिन कार्य है।

(10) **समान स्तर की गलत मान्यता**—*यदि दो व्यापारिक देशों में से एक देश बहुत बड़ा* हो तथा दूसरा देश बहुत छोटा हो तो प्रत्येक का विशिष्टीकरण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ में सहायक नहीं होगा। *क्योंकि एक छोटा देश बड़े देश की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता* तथा न ही एक छोटा देश बड़े देश के समस्त अतिरेक (surplus) को खपा सकता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि तुलनात्मक लागत-लाभ प्रमेय उसी समय लागू हो सकता है, जबकि दोनों देश समान स्तर के हों तथा उनमें जनसंख्या का स्तर भी लगभग समान हो।

(11) **भुगतान असन्तुलन की उपेक्षा**—*अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त इस* मान्यता पर भी आधारित है कि दो देशों के आयात-निर्यात हमेशा सन्तुलित बने रहेंगे, तथा उनके

भुगतान सन्तुलन मे वेशी अथवा घाटे की स्थिति नही रहेगी। अतः यह सिद्धान्त उन महत्वपूर्ण मसलो (issues) की अवहेलना करता है जिन्होंने विश्व के सभी देशो—बड़े तथा छोटे—का ध्यान आकर्षित कर रखा है।

(12) सामरिक एवं बुनियादी कारण—तुलनात्मक लागत लाभ सिद्धान्त के अनुसार व्यापार के लाभ सम्पूर्ण देश को प्राप्त होते हैं। परन्तु सोडर्सटन का कहना है कि एक देश के व्यापार से प्राप्त लाभ का तात्पर्य यह नही होता कि उस देश मे रहने वाले सभी व्यक्तियो को उसका हिस्सा प्राप्त हो। यह प्राय सम्भव है कि कुछ व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से अधिक लाभान्वित हो, जबकि अन्य व्यक्तियो को उनका कोई लाभ प्राप्त न हो।[1]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रतिष्ठित तुलनात्मक लाभ का सिद्धान्त (Classical Theory of Comparative Advantage) अनेक अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है। यह तो इस सिद्धान्त से स्पष्ट हो जाता है कि लागतो के सापेक्ष (अथवा स्मिथ के मतानुसार, निरपेक्ष) अन्तर के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रारम्भ होता है, परन्तु इससे यह स्पष्ट नही होता कि लागतों मे अन्तर क्यो होते हैं। जे एस मिल (J. S Mill) तथा सीमान्तवादी अर्थशास्त्रियो (Marginal Economists) ने इस प्रश्न का उत्तर दिया और हम उन्ही के विचारों का अध्ययन करेंगे।

प्रतिष्ठित सिद्धान्त का संशोधित स्वरूप
[REFINEMENT OF THE CLASSICAL DOCTRINE]

रिकार्डो के पश्चात् अर्थशास्त्रियो ने अपने-अपने ढंग से प्रतिष्ठित प्रमेय (थ्योरम) मे संशोधन किये हैं। जे. एस. मिल ने अन्तर्राष्ट्रीय कीमतो और वस्तुओं के विनिमय-अनुपातो का विश्लेषण किया। जहाँ स्मिथ एवं रिकार्डो ने उत्पादन की निर्दिष्ट इकाई हेतु प्रयुक्त श्रम की मात्राओं को विश्लेषण मे सम्मिलित किया, जे एस मिल ने श्रम की निर्दिष्ट इकाई से प्राप्त विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन को विश्लेषण का आधार बनाया। मिल का मॉडल तालिका 4·3 के माध्यम से समझा जा सकता है :

तालिका 4 3

श्रम की मात्रा (मानव-वर्ष)	देश	इस्पात का उत्पादन (इकाइयाँ)	कपड़े का उत्पादन (इकाइयाँ)
10	जापान	20	20
10	भारत	25	24

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि श्रम की समान मात्रा से जापान व भारत मे इस्पात व कपड़े की भिन्न-भिन्न इकाइयाँ निर्मित की जाती हैं। जापान को दोनो वस्तुओं के उत्पादन मे निरपेक्ष लाभ है क्योंकि वहाँ इस्पात की 20 इकाइयो एवं वस्त्रो की 20 इकाइयो का उत्पादन किया जाता है, जबकि भारत मे ये मात्राएँ (उसी श्रम-मात्रा से) क्रमश 15 एवं 14 इकाइयाँ है। इसके उपरान्त भी जापान को तुलनात्मक दृष्टि से वस्त्रो मे 2 : 1 5 के विरुद्ध 2 . 1 4 एवं भारत को तुलनात्मक दृष्टि से इस्पात के उत्पादन मे अधिक लाभ है।

वास्तविक अनुपात (अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तो) के निर्धारण हेतु जे एस मिल ने "पारस्परिक मांग" (reciprocal demand) की धारणा का प्रतिपादन किया। इस धारणा के अनुसार दो वस्तुओं के विनिमय का वास्तविक अनुपात प्रत्येक देश की दूसरे देश मे निर्मित वस्तु की माँग के परिमाण एवं माँग की लोच पर निर्भर करता है। प्रतिष्ठित प्रमेय (Classical Theorem) मे एक और संशोधन नव-प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो (Neo-classical Economists) द्वारा किया गया। प्रोफेसर टॉसिग (Prof. Taussig) ने बताया कि भारत जैसे विकासशील देशो मे श्रम का बाहुल्य होने के कारण मजदूरी की दरें बहुत कम है जिससे अन्य (विकसित) देशो की तुलना मे यहाँ उत्पादन की श्रम-लागत कम है। प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार श्रम की इकाइयाँ सभी देशो मे

1 Bo Sodersten, *International Economics*, London, Macmillan & Co. Ltd., (1971), p. 18.

समरूप होने पर भी इसकी उत्पादकता मे अन्तर है। इसके विपरीत, टॉसिग के मतानुसार किसी देश की श्रम शक्ति मे विशिष्ट श्रमिक, दक्ष श्रमिक, अर्द्ध-दक्ष श्रमिक, अ-दक्ष श्रमिक आदि अनेक समूह समावेशित किये जाते हैं। श्रम की इन विशिष्ट श्रेणियो को अप्रतियोगी समूहों (non-competing groups) की संज्ञा दी जाती है तथा इनमे परस्पर मजदूरी की दरें भी भिन्न रहती हैं। उदाहरण के-लिए एक ही मरीज के लिए दो डॉक्टरो की सेवाएँ इसी कारण एक-सी नही होगी कि मरीज अधिक योग्य एव अनुभवी डॉक्टर से उपचार कराना चाहता है। फलस्वरूप उसे ऊँची फीस भी देनी होगी।

टॉसिग ने मुद्रा एव मूल्यो का उपयोग लागत के निर्धारण हेतु किया और यह बताने का प्रयास किया कि उत्पादन के साधन (श्रम) का मूल्य इसकी सापेक्ष मात्रा पर निर्भर करता है तथा वस्तु की उत्पादन-लागत साधनो पर किये गये व्यय द्वारा निर्धारित होती है। इसके बावजूद टॉसिग द्वारा प्रस्तुत सशोधन का प्रतिष्ठित प्रमेय के मौलिक स्वरूप पर कोई प्रभाव नही होता जैसा कि आगे बताया गया है।

तालिका 4 4

उत्पादन की मौद्रिक लागत

देश	श्रम की इकाइयाँ	कुल उत्पादन (इकाइयाँ)		दैनिक मजदूरी दर (रुपयो मे)	कुल उत्पादन लागत (रुपयो मे)		प्रति इकाई वस्तु का मूल्य (रुपयो म)	
		कपडा	इस्पात		कपडा	इस्पात	कपडा	इस्पात
भारत	*10*	*20*	*20*	*1 50*	*15 00*	*15 00*	*0 75*	*0 75*
जापान	10	14	15	1 00	10 00	10 00	0 71	0 67

तालिका 4 4 से यह स्पष्ट है कि जापान को मौद्रिक लागत की दृष्टि स वस्त्रो एव इस्पात दोनो ही के उत्पादन मे निरपेक्ष लाभ है, क्योकि जापान मे दोनो ही वस्तुओ के मूल्य भारत की अपेक्षा कम हैं (अन्तिम कॉलम देखिए)। किन्तु सापेक्ष दृष्टि से जापान को इस्पात के उत्पादन म कपडे की अपेक्षा अधिक लाभ है क्योकि वस्त्र की प्रति इकाई कीमत 0 71 रुपया है जबकि इस्पात की प्रति इकाई कीमत 0 67 रुपया है। इसीलिए जापान के लिए इस्पात के उत्पादन पर जोर देना अधिक उपयुक्त होगा। साथ ही जापान इस स्थिति मे भी होगा कि वह अतिरिक्त इस्पात का निर्यात करके भारत से वस्त्रो का आयात कर सके। दूसरी ओर सापेक्ष दृष्टि से भारत क लिए वस्त्रों के *उत्पादन मे विशिष्टता प्राप्त करना श्रेयस्कर होगा और वह वस्त्रो की अतिरिक्त मात्रा का निर्यात* करके बदले म जापान से इस्पात प्राप्त कर सकेगा।

इस सब के उपरान्त भी टॉसिग की मौद्रिक लागत व्याख्या (Taussig's Money Cost-Interpretation) से यह स्पष्ट नही होता कि दोनो देशो के मध्य वस्त्र एव इस्पात का वास्तविक विनिमय-अनुपात क्या होगा। प्रोफेसर हैबरलर ने अपने सिद्धान्त मे यह बताने का प्रयास किया है कि एक देश किसी वस्तु की निर्दिष्ट मात्रा आयात करने हेतु अपने पास विद्यमान वस्तु की कितनी इकाइयाँ देगा। हम नीचे प्रोफेसर हैबरलर द्वारा प्रस्तुत अवसर लागत सिद्धान्त (Theorem of Opportunity Cost) का विश्लेषण करेंगे।

अनेक देश एवं अनेक वस्तुओं का मॉडल
(A Case of Multiple Commodities and Multiple Countries)

यदि हमारे मॉडल मे अनेक देशो व अनेक वस्तुओ का समावेश कर लिया जाय तो यह वास्तविकता के काफी समीप हो जायगा। परन्तु इसके साथ ही मॉडल म अनेक जटिलताओ का भी प्रवेश हो जायगा। इसके लिए हम मीट्रिक्स विधि (Matrex Technique) का उपयोग करना होगा। हम चार देशो व चार वस्तुओं का एक उदाहरण लेते हैं और मौद्रिक मूल्यो के आधार पर 4×4 की एक मीट्रिक्स निम्न रूप मे प्रस्तुत कर सकते हैं :

तालिका 4·5
चार देशों एवं चार वस्तुओं की उत्पादन लागत मैट्रिक्स

वस्तु	देश			
	I	II	III	IV
A	200	240	280	180
B	200	350	220	250
C	200	120	300	150
D	200	150	100	170

उपर्युक्त मैट्रिक्स इस मान्यता को लेकर प्रस्तुत की गयी है कि चारों देशों में मौद्रिक मजदूरी की दरें समान हैं।

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक देश एक वस्तु के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करके इसकी अतिरिक्त मात्रा अन्य देशों को निर्यात करके अपनी जरूरत की शेष वस्तुओं का आयात कर सकता है। अस्तु, I देश *B* के उत्पादन में, II देश *C* में, III देश *D* में तथा IV देश *A* में विशिष्टता प्राप्त कर सकता है।

परिवहन लागतें
[TRANSPORT COSTS]

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि प्रतिष्ठित तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त (Classical Theory of Comparative Cost) में परिवहन लागतों को कोई स्थान नहीं दिया गया था। अब हम अपने मौलिक मॉडल (इंगलैण्ड व पुर्तगाल से सम्बद्ध) में परिवहन लागतें भी सम्मिलित करेंगे। पहले की भाँति हम दो देशों व दो वस्तुओं (इस्पात व कपड़ा) को ही वर्तमान विश्लेषण में शामिल करेंगे। दोनों देशों, इंगलैण्ड व पुर्तगाल को सुविधा के लिए I व II के रूप में व्यक्त किया गया है।

मान लीजिए (i) I देश में इस्पात व कपड़े की उत्पादन लागतें (श्रम की इकाइयों के रूप में) क्रमशः S_1 व C_1 हैं। इसी प्रकार II देश में ये लागतें क्रमशः S_2 व C_2 हैं। (ii) I देश में इस्पात व कपड़े के मूल्य Ps_1 व Pc_1 तथा II देश में ये क्रमशः Ps_2 व Pc_2 हैं। (iii) यह भी मान लीजिए कि दोनों देशों में मजदूरी की दरें क्रमशः W_1 एवं W_2 हैं। (iv) अन्त में, यह मान लीजिए कि विनिमय-दर *R* है जो I देश की मुद्रा एवं II देश की मुद्रा के बीच सम्बन्ध की प्रतीक है। अब गणितीय दृष्टि से यह सम्भव है कि

$$S_1W_1 \times R < S_2R_2 \qquad (4—1)$$

इसका यह अर्थ है कि I देश में II देश की अपेक्षा इस्पात की उत्पादन (पूर्ति) लागत (कीमत) कम है। जैसा कि स्पष्ट है, प्रथम देश में इस्पात की उत्पादन लागत को विनिमय-दर के माध्यम से दूसरे देश की मुद्रा में परिणत करके ही यह तुलना सम्भव है। चूँकि I देश में इस्पात की उत्पादन लागत कम है, यह देश II देश को इस्पात का निर्यात करेगा। इसी प्रकार,

$$C_1W_1 \times R > C_2W_2 \qquad (4—2)$$

की स्थिति होने पर I देश II देश के कपड़े का आयात करेगा क्योंकि वहाँ कपड़े की उत्पादन-लागत II देश की अपेक्षा अधिक है। समीकरण (4-1) से स्पष्ट है कि

$$\frac{S_1}{S_2} < \frac{W_2}{W_1 \times R} \qquad (4—3)$$

इसी प्रकार, समीकरण (4-2) के अनुसार

$$\frac{C_1}{C_2} > \frac{W_2}{W_1 \times R} \text{ अथवा } \frac{W_2}{W_1 \times R} < \frac{C_1}{C_2} \qquad (4—4)$$

समीकरण (4-3) व (4-4) को सम्मिलित करने पर

$$\frac{S_1}{S_2} < \frac{C_1}{C_2} < 1 \qquad (4-5)$$

(यहाँ यह मान लिया गया है कि दोनो देशो मे मौद्रिक मजदूरी समान है अर्थात्

$$\frac{W_2}{W_1 \times R} = 1.)$$

समीकरण (4-5) से स्पष्ट है कि I देश अर्थात् इगलैण्ड को S अर्थात् इस्पात के उत्पादन मे तुलनात्मक लाभ प्राप्त है तथा C (कपडे) के उत्पादन मे अपेक्षाकृत कम लाभ है। इसीलिए इगलैण्ड इस्पात मे विशिष्टता प्राप्त करेगा तथा अतिरिक्त इस्पात का निर्यात करके बदले मे II देश अर्थात् पुर्तगाल से कपडा मँगायेगा।

अब अपने मॉडल मे हम परिवहन-लागत का समावेश करेंगे। मान लीजिए कि
T^s_{12} = I देश से II देश को इस्पात भेजने का परिवहन-व्यय
T^s_{21} = II देश से I देश को इस्पात भेजने का परिवहन-व्यय
वस्तु S (इस्पात) का निर्यात इगलैण्ड (I देश) से केवल उस स्थिति मे होगा जब—

$$\frac{S_1 + T^s_{12}}{S_2} < \frac{W_2}{W_1 \times R} \qquad (4-6)$$

इसके विपरीत, पुर्तगाल अर्थात् II देश इस्पात का इगलैण्ड यानी I देश से उसी स्थिति मे आयात करेगा जब—

$$\frac{W_2}{W_1 \times R} < \frac{S_1}{S_2 + T^s_{21}} \qquad (4-7)$$

समीकरणो (4-6) व (4-7) को सम्मिलित करने पर—

$$\frac{S_1 + T^s_{12}}{S_2} < \frac{W_2}{W_1 \times R} < \frac{S_1}{S_2 + T^s_{21}} \qquad (4-8)$$

समीकरण (4–8) के अनुसार I देश से II देश को इस्पात का निर्यात $\frac{W_2}{W_2 \times R}$ के मूल्य एव इसकी तुलना मे $\frac{S_1}{S_2 + T^s_{21}}$ एव $\frac{S_1 + T^s_{12}}{S_2}$ के मूल्यो पर निर्भर होगा। सामान्य रूप मे यह कहा जा सकता है किसी भी वस्तु का आयात एव निर्यात तभी सम्भव होगा जब दोनो दशो मे इसकी उत्पादन-लागतो का अन्तर परिवहन-लागत से अधिक हो। यदि दोनो देशो मे इस्पात की उत्पादन लागत (श्रम के रूप मे) समान हो $\left(\text{यानी } \frac{S_1}{S_2} = 1\right)$ तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नही होगा।

सक्षेप मे, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार केवल उस दशा मे होगा जब—

$$\frac{S_1}{S_2} < \frac{C_1}{C_2} < 1 \qquad (4-9)$$

उपर्युक्त मॉडल मे हमने सुविधा के लिए दो ही वस्तुओ को शामिल किया था। यदि दोनो देशो मे उत्पन्न की जाने वाली सभी (n) वस्तुओ को सम्मिलित किया जाय तब भी मॉडल से प्राप्त

निष्कर्षों पर अधिक प्रभाव नहीं होता। यदि ये n वस्तुएँ $A, B, C, \ldots N$ हों, तो उनकी उत्पादन लागतों के अनुपात निम्न प्रकार व्यक्त किये जायेंगे :

$$\frac{A_1}{A_2} < \frac{B_1}{B_2} < \frac{C_1}{C_2} < \ \ldots \ < \frac{N_1}{N_2}$$

तालिका 4·6 में हम सात वस्तुओं की लागतों के सम्बन्ध में विवरण प्रस्तुत करेंगे। यहाँ सुविधा के लिए यह मान लिया गया है कि दोनों देशों में मजदूरी-दरें एवं विनिमय-दरें वही हैं, अर्थात् $\frac{W_1 \times R}{W_2} = 1$.

तालिका 4·6
उत्पादन-लागत

देश	वस्तुओं की प्रकृति						
	A	*B*	*C*	*D*	*E*	*F*	*G*
I	100	100	100	100	100	100	100
II	240	200	160	100	80	60	50

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि *A*, *B* व *C* वस्तुओं के उत्पादन में I देश को II देश की तुलना में तुलनात्मक लाभ है और इसी कारण इनका I देश II देश को निर्यात करेगा। इसके विपरीत, *E*, *F* एवं *G* के उत्पादन में I देश की तुलना में II देश को तुलनात्मक लाभ है और इस कारण II देश में ये वस्तुएँ I देश को निर्यात की जायेंगी। वस्तु *D* की उत्पादन-लागतें दोनों देशों में समान हैं और इस कारण इनका दोनों देशों के बीच व्यापार नहीं होगा।

यदि दोनों देशों में मजदूरी की दरें भिन्न हों तो इनका समावेश भी हमारे मॉडल में किया जाना चाहिए। मान लीजिए I देश में मौद्रिक मजदूरी में 20 प्रतिशत कमी हो जाती है। ऐसी स्थिति में I देश में प्रत्येक वस्तु की लागत 100 रुपये से घटकर 80 रुपये रह जाती है। अब पहले वाला आयात व निर्यात का पैटर्न बदल जायगा तथा I देश में अब *A*, *B*, *C* व *D* वस्तुएँ निर्यात की जा सकेंगी। I देश अब *F* एवं *G* का II देश से आयात करेगा। परन्तु चूंकि *E* की उत्पादन-लागत दोनों देशों में समान है, इसका कोई व्यापार नहीं होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अवसर लागत सिद्धान्त
[OPPORTUNITY COST DOCTRINE OF INTERNATIONAL TRADE]

रिकार्डो द्वारा प्रतिपादित तुलनात्मक लागत सिद्धान्त मूल्य के श्रम सिद्धान्त पर आधारित है। इस सिद्धान्त की कटु आलोचना की गयी है। श्रम लागत सिद्धान्त अपर्याप्त है एवं यह अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है। वस्तुओं का उत्पादन केवल श्रमिकों द्वारा ही नहीं किया जाता वरन् उत्पत्ति के और भी साधन होते हैं, जैसे भूमि, पूँजी, संगठन आदि तथा ये साधन श्रम के साथ एक निश्चित अनुपात में नहीं मिलाए जाते, वरन् इनका अनुपात भी परिवर्तनशील होता है। ऐसी स्थिति में दो वस्तुओं के सापेक्षित मूल्य की तुलना केवल एक साधन-श्रम के आधार पर नहीं की जा सकती। प्रो. हैबरलर ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अवसर लागत सिद्धान्त के रूप में एक वैकल्पिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसमें इन दोषों को दूर किया गया है।

प्रोफेसर हैबरलर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त (Theorem) यह बताता है कि निर्दिष्ट मात्रा में एक वस्तु का आयात करने हेतु कोई देश अपनी वस्तु की कितनी मात्रा का निर्यात करेगा। ऊपर हमने यह देखा कि दो देशों के बीच दो वस्तुओं का विनिमय-अनुपात उनकी उत्पादन लागत द्वारा

निर्धारित होता है। पहले हम यह स्पष्ट करें कि विशिष्टता न होने की स्थिति में प्रत्येक देश दोनों वस्तुओं की कितनी इकाइयों का उत्पादन करेगा। मूल्य-सिद्धान्त (Theory of Value) के अनुसार दो वस्तुओं का इष्टतम संयोग (optimum combination) उस स्तर पर होता है जहाँ कि उत्पादनकर्ता की उत्पादन सम्भावना वक्र (producer's production possibility curve) का ढाल सम-लागत वक्र (iso-cost curve) के ढाल के बराबर हो।

उत्पादन सम्भावना वक्र वस्तुतः दो वस्तुओं की अधिकतम मात्राओं को प्रदर्शित करता है जिन्हें एक देश अपने दिये हुए साधनों की मात्रा तथा तकनीक की सहायता से पैदा कर सकता है। "साधन देन" (factor endowment) से हमारा तात्पर्य उत्पादन के साधनों की उस मात्रा से है जो कि एक देश में उपस्थित है। स्पष्ट है, कोई भी देश साधनों की निर्दिष्ट मात्राओं के अनुरूप यदि एक वस्तु का उत्पादन बढ़ाना चाहे तो उसे दूसरी वस्तु के उत्पादन में कमी करनी होगी। प्रतिष्ठित मत के अनुसार, "साधन देन" का अर्थ एक देश में प्राप्य श्रम की कुल मात्रा से है। इस सन्दर्भ में तकनीक से आशय उन दो वस्तुओं के इनपुट-आउटपुट के अनुपात से है जिनका वर्णन नीचे किया जा रहा है

चूँकि दो वस्तुओं के उत्पादन का मुख्य सम्बन्ध "साधन देन" (factor endowment) तथा स्थिर तकनीक (constant technology) से है, अतः उत्पादन सम्भावना वक्र का समीकरण इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है

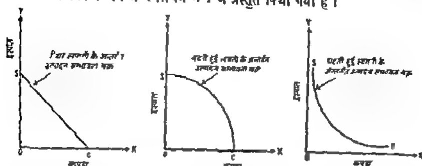
$$dC=\frac{\partial C}{\partial X}dX+\frac{\partial C}{\partial Y}dY=O \qquad (4\text{—}10)$$

अथवा
$$-\frac{dY}{dX}=\frac{\partial C}{\partial X}\Big/\frac{\partial C}{\partial Y} \qquad (4\text{—}11)$$

समीकरण (4–10) में dC कुल लागत (Total Cost) में अन्तर को बताता है, जबकि $\frac{\partial C}{\partial X}$ तथा $\frac{\partial C}{\partial Y}$ क्रमशः दो वस्तुओं X तथा Y की सीमान्त लागतों (Marginal Costs) को बताते हैं। समीकरण में dX, X-वस्तु में परिवर्तन तथा dY, Y-वस्तु में परिवर्तन को बताते हैं। चूँकि उत्पादन-साधनों की मात्रा स्थिर मानी गयी है, अतः X-वस्तु के उत्पादन में वृद्धि तब ही सम्भव है जबकि Y-वस्तु की उत्पादित मात्रा में कमी करना देश अथवा समाज को स्वीकार्य हो। इसी प्रकार Y-वस्तु के उत्पादन में तब ही वृद्धि हो सकती है जबकि X-वस्तु की कम मात्रा का उत्पादन किया जावे। X वस्तु की दी हुई वृद्धि के लिए Y-वस्तु की छोड़े जाने वाली मात्रा (foregone quantity) का अनुपात (i e., $-dY/dX$) ही उत्पादन रूपान्तर की सीमान्त दर (Marginal Rate of Product Transformation or MRPT) कहलाती है। अतः समीकरण (4 11) के अनुसार, MRPT दो वस्तुओं की सीमान्त लागतों के अनुपात के बराबर है।

एक देश की उत्पादन सम्भावना वक्र एक सरल रेखा (straight line) या केन्द्र बिन्दु के नतोदर (concave) अथवा उसके उन्नतोदर हो सकती है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि एक देश स्थिर लागत (constant cost), बढ़ती हुई लागत (increasing cost) अथवा घटती हुई

लागत (decreasing cost) की स्थिति में उत्पादन कर रहा है। इन तीनों स्थितियों को इस्पात तथा कपड़े के उत्पादन के रूप में रेखाचित्र 4·1 में प्रस्तुत किया गया है।



पैनल (अ) : स्थिर लागतों की स्थिति | पैनल (ब) : बढ़ती हुई लागतों की स्थिति | पैनल (स) : घटती हुई लागतों की स्थिति

रेखाचित्र 4·1—अवसर लागतें अथवा उत्पादन सम्भावना रेखाएँ

इन तीनों स्थितियों में $\text{MRPT} = -\dfrac{\Delta \text{ इस्पात}}{\Delta \text{ कपड़ा}}$ है। पैनल (अ) के अनुसार एक देश को कपड़े के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए इस्पात के उत्पादन को स्थिर दर (constant rate) से कम करना होगा। पैनल (ब) के अनुसार एक देश को कपड़े के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए इस्पात के उत्पादन को बढ़ती हुई दर (increasing rate) से कम करना होगा। पैनल (स) के अनुसार एक देश को कपड़े के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए इस्पात के उत्पादन को घटती हुई दर (decreasing rate) से कम करना होगा।

हम इन तीनों प्रकार की लागत स्थितियों की विवेचना अलग से करेंगे। वर्तमान सन्दर्भ में यह समझ लेना उचित होगा कि साधारणतया MRPT अथवा अवसर लागत ऋणात्मक होती है क्योंकि उत्पादन साधनों को परिवर्तित तभी किया जा सकता है, जबकि इस्पात-क्षेत्र (steel-sector) से साधनों को हटाकर कपड़ा-क्षेत्र (cloth-sector) में स्थानान्तरित किया जावे। यहाँ पर कपड़े की उत्पादित एक अतिरिक्त इकाई की अवसर लागत इस्पात की कम की गयी उत्पादित इकाइयों की मात्रा के बराबर होगी। अतः उत्पादन सम्भावना वक्र का ढाल ऋणात्मक होगा। अब एक देश वास्तव में दो वस्तुओं इस्पात तथा कपड़े की कितनी-कितनी मात्रा का उत्पादन करे, यह उन वस्तुओं की (स्थिर) कीमतों अथवा समाज (देश) की तटस्थता वक्रों पर निर्भर करेगा।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अनुपस्थिति में एक देश द्वारा उपभोग तथा उत्पादन का निर्णय

[CONSUMPTION AND PRODUCTION DECISION BY A COUNTRY WHEN NO INTERNATIONAL TRADE IS ALLOWED]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अनुपस्थिति में एक देश अथवा समाज दो वस्तुओं के उस सम्बन्ध का उत्पादन तथा उपभोग करेगा जिससे समाज का कल्याण (सन्तुष्टि) अधिकतम हो। यहाँ यह जान लेना उचित होगा कि एक उपभोक्ता दो वस्तुओं के उपभोग से अधिकतम सन्तुष्टि उस समय प्राप्त करता है जबकि उसकी तटस्थता वक्र अर्थात् दो वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताओं का अनुपात उनकी कीमतों के अनुपात के बराबर हो। वस्तु,

---

1 Mishan, Heller and many others have used this concept in explaining the theory of international trade and define the community's indifference curve as a locus of two (or more) commodities between which a community is indifferent. Like any other indifference curve, the community's indifference curve is also negatively sloped and is convex to the origin. (For detailed discussion, see Bo Sodersten, *op. cit.*, pp. 34-37.)

$$-\frac{dY}{dX}=\frac{\partial U}{\partial Y}\Big|\frac{\partial U}{\partial Y}=\frac{P_x}{P_y} \qquad .(4\text{—}12)$$

जिसमे

U = कुल उपयोगिता

$-\frac{dY}{dX}$ = सामाजिक तटस्थता वक्र का ढाल

$\frac{\partial U}{\partial X}$ = X-वस्तु (कपड़ा) की सीमान्त उपयोगिता

$\frac{\partial U}{\partial Y}$ = Y-वस्तु (इस्पात) की सीमान्त उपयोगिता

$\frac{P_x}{P_y}=\frac{X\text{-वस्तु की कीमत}}{Y\text{-वस्तु की कीमत}}$ = कीमत अनुपात

इसी प्रकार, एक उपभोक्ता अपने कुल लाभ को अधिकतम करता है, जबकि उत्पादन कीमतो का अनुपात (प्रतियोगी स्थितियो के अन्तर्गत) उनकी सीमान्त लागतो के अनुपात के बराबर हो। अस्तु,

$$\frac{\partial C}{\partial X}\Big|\frac{\partial C}{\partial Y}=\frac{P_x}{P_y}$$

जिसमे

C = कुल लागत

$\frac{\partial C}{\partial X}$ = X-वस्तु (कपड़े) की सीमान्त लागत

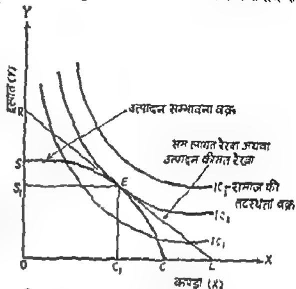
$\frac{\partial C}{\partial Y}$ = Y-वस्तु (इस्पात) की सीमान्त लागत

अब यह मानते हुए कि एक समाज (community) तथा एक उपभोक्ता अथवा उत्पादन-कर्ता के *अनुकूलतम व्यवहार (optimising behaviour)* मे कोई अन्तर नही होता, यह सरलता के साथ कहा जा सकता है कि समाज (देश) का कुल लाभ (total welfare) अधिकतम उस समय होगा जबकि उत्पादन कीमतो का अनुपात, सीमान्त उपयोगिताओ का अनुपात तथा सीमान्त लागतो का अनुपात बराबर हो। दूसरे शब्दो मे, एक समाज की कुल सन्तुष्टि उस बिन्दु पर अधिकतम होगी जबकि उपभोक्ता मे प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS) तथा उत्पादन मे उत्पादन रूपान्तर की सीमान्त दर (MRPT) एव उत्पादन कीमतो का अनुपात बराबर हो। सक्षेप मे, इस साधारण साम्य की स्थिति (general equilibrium condition) को निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

$$\frac{\partial C}{\partial X}\Big|\frac{\partial U}{\partial Y}=\frac{Px}{Py}=\frac{\partial C}{\partial Y}\Big|\frac{\partial C}{\partial Y} \qquad (4\text{—}13)$$

पुनः रेखाचित्र 4·2 से स्पष्ट है कि एक दिये हुए उत्पादन साधनों की स्थिति में समाज की अधिकतम सन्तुष्टि E बिन्दु पर प्राप्त होगी जोकि समाज की तटस्थता वक्र IC_2 पर है। इससे ऊँचा समाज का तटस्थता वक्र समाज या देश की पहुँच के बाहर है जब कि उसकी "साधन-देन" (factor endowment) तथा तकनीक स्थिर होते हैं।

E बिन्दु पर एक देश OC_1 कपड़े की इकाइयाँ तथा OS_1 इस्पात की इकाइयों का उत्पादन तथा उपभोग करता है। यहाँ पर हमें यह याद रखना आवश्यक है कि कपड़े तथा इस्पात का यह साम्य बिन्दु केवल उन्हीं स्थितियों में प्राप्त होगा जबकि देश अपने आन्तरिक उपयोग के लिए ही उत्पादन करता है तथा वस्तुओं का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अनुपस्थित होता है।



रेखाचित्र 4·2—समाज (या देश) की इष्टतम स्थिति

अब हम अपनी तीनों लागतों की स्थितियों के विश्लेषण को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त के सन्दर्भ में अध्ययन करेंगे। सबसे पहले हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त की समीक्षा स्थिर अवसर लागतों की स्थिति में करेंगे जिसमें कि MRPT स्थिर होती है। बाद में हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समीक्षा बढ़ती हुई लागतों की स्थिति में करेंगे जबकि उत्पादन सम्भावना वक्र केन्द्र बिन्दु के नतोदर होता है परन्तु हमने घटती हुई अवसर लागतों की स्थिति (जबकि उत्पादन सम्भावना वक्र मूल बिन्दु के उन्नतोदर होता है) को अपने विश्लेषण में शामिल नहीं किया है क्योंकि यह व्यावहारिक स्थिति नहीं है।

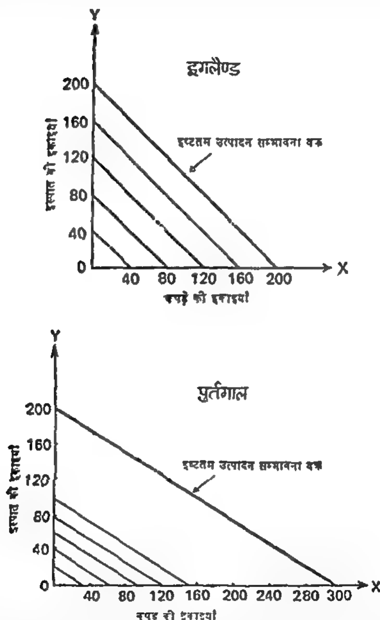
स्थिर अवसर लागतें तथा उत्पादन सम्भावना वक्र
[CONSTANT OPPORTUNITY COSTS AND THE PRODUCTION POSSIBILITY CURVE]

यदि यह मान लिया जाय कि उत्पादन लागतें स्थिर हैं, अथवा उत्पादन की प्राप्ति समता प्रतिफल के अन्तर्गत हो रही है, तो उत्पादन सम्भावना वक्र एक सरल रेखा के रूप में होगा। यदि हम दो देशों—इंगलैण्ड व पुर्तगाल—तथा दो वस्तुओं—इस्पात एवं वस्त्र—का उदाहरण लें तो इस तथ्य को भली-भाँति समझा जा सकता है। तालिका 4·7 में प्रत्येक देश के लिए उत्पादन के साधन एवं उत्पादन के बीच स्थिर अनुपात इसी तथ्य का द्योतक है कि दोनों वस्तुओं का उत्पादन दोनों ही देशों में समता प्रतिफल के अन्तर्गत हो रहा है।

तालिका 4·7

साधन की इकाइयाँ	उत्पादन की इकाइयाँ			
	इंगलैण्ड		पुर्तगाल	
	इस्पात	कपड़ा	इस्पात	कपड़ा
200	—	—	200	300
100	200	200	100	150
80	160	160	80	120
60	120	120	60	90
40	80	80	40	60
20	40	40	20	30

इन्हीं तथ्यों को रेखाचित्र 4·3 में प्रस्तुत किया गया है। इस रेखाचित्र में प्रस्तुत विभिन्न उत्पादन सम्भावना वक्र साधन के भिन्न-भिन्न स्तरों पर प्राप्त उत्पादन के विभिन्न स्तरों को दर्शाते हैं। इस रेखाचित्र में श्रम की इकाइयों को प्रदर्शित नहीं किया गया है, परन्तु श्रम एवं उत्पादन की मात्राओं के बीच एक निश्चित अनुपात (fixed ratio) लिया गया है।



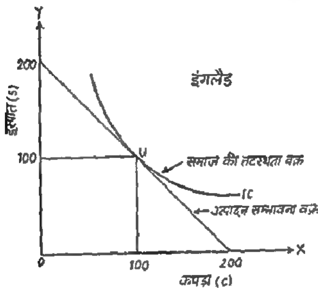
रेखाचित्र 4·3—स्थिर श्रम के साथ उत्पादन सम्भावना वक्र—स्थिर लागतों के अन्तर्गत

रेखाचित्र 4·3 में इंगलैण्ड तथा पुर्तगाल दोनों देशों के इष्टतम उत्पादन सम्भावना वक्र (optimum production possibility curves) इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि श्रम की उपलब्ध मात्रा से कपड़े व इस्पात की कितनी इकाइयाँ प्राप्त हैं।

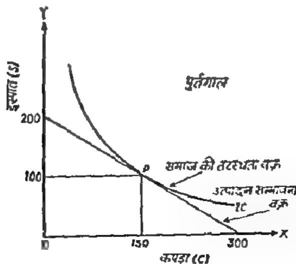
अब यह मान लें कि इंगलैण्ड में श्रम की 100 इकाइयाँ उपलब्ध हैं जबकि पुर्तगाल में श्रम की 200 इकाइयाँ हैं। यदि इंगलैण्ड की श्रम शक्ति का पूर्ण उपयोग होता हो तो वहाँ 200 इकाइयाँ इस्पात, या 200 इकाइयाँ कपड़ा अथवा दोनों का कोई संयोग (combination) प्राप्त करना सम्भव है। इसके विपरीत, यदि पुर्तगाल में उपलब्ध श्रम का पूर्ण उपयोग किया जाय तो वहाँ 200

इकाइयाँ इस्पात, या 300 इकाइयाँ कपड़ा, अथवा दोनों का कोई संयोग (combination) प्राप्त किया जा सकता है। बहुधा हमारी मान्यता यह रहती है कि प्रत्येक देश उपलब्ध साधन का पूर्ण उपयोग करता है, और इसी कारण यह मान लिया जाता है कि वह इष्टतम उत्पादन सम्भावना वक्र पर कहीं भी स्थित हो सकता है।

इंगलैण्ड के लिए उत्पादन रूपान्तर की सीमान्त दर, MRPT $\left(\frac{-\Delta \text{इस्पात}}{\Delta \text{कपड़ा}}\right)$ इस स्थिति में $\left(\frac{-1}{1}\right)$ होगी, जबकि पुर्तगाल के लिए यह $\left(\frac{-2}{3}\right)$ के बराबर होगी। चूंकि



पैनल (अ) इंगलैण्ड में कपड़े व इस्पात का इष्टतम संयोग



पैनल (ब) पुर्तगाल में कपड़े व इस्पात का इष्टतम संयोग

रेखाचित्र 4·4—स्थिर लागतों पर उत्पादन का आन्तरिक साम्य

इस स्थिति मे MRPT स्थिर है, अतः दोनो उत्पादन सम्भावना वक्र एक सरल रेखा के रूप मे होंगे जो केवल स्थिर लागतो को ही प्रदर्शित नही करते बल्कि इन वक्रो का ढाल (slope) कीमत अनुपात (price ratio) को भी बताता है।

आन्तरिक दृष्टि से दोनो देश इस्पात व कपड़े के उन सयोगो को चुनेंगे जिनका निर्धारण उत्पादन सम्भावना वक्रो एव समाज की तटस्थता वक्रो के स्पर्श-बिन्दुओ (tangential points) द्वारा होता है। यह स्मरणीय है कि समाज के तटस्थता वक्र (community indifference curves) देश की जनता द्वारा व्यक्त दोनो वस्तुओं की माँग अथवा जनता की रुचि को प्रदर्शित करते हैं, जबकि उत्पादन सम्भावना वक्र देश की उत्पादन या पूर्ति क्षमता को दर्शाते हैं।

$$\text{सन्तुलन की स्थिति मे,}\quad \frac{\partial \dot{C}}{\partial \text{कपडा}} \Bigg/ \frac{\partial C}{\partial \text{कपडा}} = \frac{\partial U}{\partial \text{इस्पात}} \Bigg/ \frac{\partial U}{\partial \text{इस्पात}}$$

मान लीजिए [जैसा कि रेखाचित्र 4·4 के पैनल (अ) एव (ब) मे बताया गया है] इगलैण्ड व पुर्तगाल के लिए उत्पादन सम्भावना वक्रो एव समाज की तटस्थता वक्रो का स्पर्श क्रमश *U* एव *P* बिन्दुओं पर होता है। श्रम-शक्ति के पूर्ण रोजगार की स्थिति मे इगलैण्ड वस्त्र व इस्पात मे प्रत्येक की 100 इकाइयो का उत्पादन करेगा जबकि पुर्तगाल वस्त्र की 150 इकाइयो व इस्पात की 100 इकाइयो का उत्पादन करेगा। अब यदि इगलैण्ड मे कपडे की माँग बढ जाय (अर्थात् इगलैण्ड की सामाजिक तटस्थता वक्र उसके उत्पादन सम्भावना वक्र के किसी अन्य बिन्दु को स्पर्श करता है) तो वहाँ स्थिर प्रतिस्थापन की दर से कपडे का उत्पादन अधिक एव इस्पात का उत्पादन कम कर दिया जायगा। इसी प्रकार की स्थिति पुर्तगाल के लिए भी उत्पन्न हो सकती है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि प्रतिस्थापन की निर्दिष्ट दर (2 : 3) पर माँग मे परिवर्तन के अनुरूप एक वस्तु का अधिक उत्पादन तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि दूसरी वस्तु के उत्पादन मे कमी की जाय।

अब तक हमने यह मान्यता ली थी कि श्रम ही उत्पादन का एकमात्र साधन है। अब हम इस मान्यता को छोडकर पैमाने के समता प्रतिफल (constant returns to scale) का उदाहरण लेंगे। यह सर्वविदित है कि पैमाने मे परिवर्तन का अर्थ भूमि, श्रम, पूँजी आदि साधनो मे एक ही अनुपात मे वृद्धि या कमी होने से है। पैमाने के समता प्रतिफल एव स्थिर लागतो की स्थिति वस्तुत. पर्यायवाची है। ऐसी स्थिति मे दोनो वस्तुओ के रूपान्तर की सीमान्त-दर (*Marginal Rate of* **Product Transformation** या MRPT) भी स्थिर रहेगी। यदि इगलैण्ड मे कपडे का उत्पादन बढाया जाय तो इस्पात के उत्पादन मे हुई कमी कपड़े के अतिरिक्त उत्पादन की अवसर लागत (opportunity cost) होगी। इगलैण्ड मे प्रति इकाई कपड़े की अवसर लागत या MRPT एक इकाई इस्पात है। इसी प्रकार पुर्तगाल मे यह इकाई कपडे के विरुद्ध $\frac{2}{3}$ इकाई इस्पात या प्रति इकाई इस्पात के बदले 1·5 इकाई कपडा है। पैमाने के समता प्रतिफल अथवा स्थिर लागत की स्थिति (situation of fixed cost) मे अवसर लागत या रूपान्तर दरें (MRPT) स्थिर रहती हैं। इन रूपान्तर दरो (MRPT) को दो वस्तुओ के बीच आन्तरिक विनिमय अनुपात (Domestic Exchange Ratio) की सज्ञा दी जा सकती है।

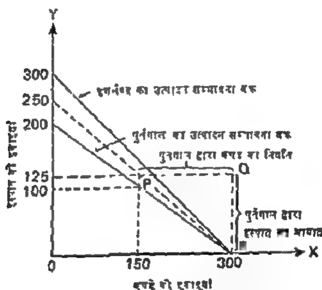
स्थिर लागतों की दशा में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार
(International Trade Under Conditions of Constant Costs)

ऊपर हम देख चुके हैं कि आन्तरिक मूल्यो के अनुपात (domestic price ratios) या दो वस्तुओं के आन्तरिक विनिमय-अनुपात (domestic exchange ratios) की अभिव्यक्ति उत्पादन सम्भावना वक्र के ढलाव (slope) द्वारा की जाती है। इगलैण्ड के लिए यह अनुपात $1S : 1C$ (एक इकाई इस्पात = एक इकाई कपडा) है जबकि पुर्तगाल मे यह $1S = 1{\cdot}5C$ है। हम यह भी देख चुके हैं कि इगलैण्ड को इस्पात के उत्पादन मे एव पुर्तगाल को कपडे के उत्पादन मे तुलनात्मक लाभ है। अत जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रारम्भ होता है तो इगलैण्ड सभी साधनो को इस्पात हेतु प्रयुक्त करेगा जबकि पुर्तगाल केवल कपडे का उत्पादन करेगा।

परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए यह आवश्यक है कि इससे दोनो देशो को लाभ मिलता

हो। यह तभी सम्भव है जबकि इंगलैण्ड के लिए व्यापार की शर्तें (terms of trade) $1S = 1{\cdot}5C$ से बेहतर हो, अर्थात् आन्तरिक विनिमय-दर से अधिक हो। इसी प्रकार, पुर्तगाल के लिए यही व्यापार की शर्तें या विनिमय का अनुपात $1S = 1{\cdot}5C$ से बेहतर नहीं होगा। उसके लिए यही श्रेयस्कर है कि वह विदेशी व्यापार न करे। अस्तु, **विदेशी व्यापार केवल उसी स्थिति में होगा जब प्रत्येक देश को वस्तु की अवसर लागत से अधिक इकाइयाँ व्यापार के माध्यम से प्राप्त हो जायें।** यदि इंगलैण्ड को इस्पात में विशिष्टता प्राप्त करने के बाद भी इस्पात की इकाई के बदले 1 इकाई से ज्यादा कपड़ा पुर्तगाल से न मिले तो बेहतर यही है कि इस्पात व कपड़ा दोनों ही का उत्पादन करे। इसी प्रकार पुर्तगाल कपड़े में विशिष्टता प्राप्त करके अतिरिक्त कपड़े के बदले इंगलैण्ड से इस्पात इसी शर्त पर मँगायेगा कि उसे देश में कपड़े के बदले प्राप्त मात्रा से अधिक इंगलैण्ड से मिल जाय। दूसरे शब्दों में, पुर्तगाल को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से तभी लाभ होगा जबकि एक इकाई कपड़े के बदले 2/3 इकाई से अधिक इस्पात मिले।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वास्तविक स्थिति देखने हेतु हम दोनों देशों के उत्पादन सम्भावना वक्रों को एक ही रेखाचित्र में प्रस्तुत करेंगे। रेखाचित्र 4 5 में दोनों देशों के उत्पादन सम्भावना वक्र प्रस्तुत किये गये हैं। इंगलैण्ड के लिए सबसे अधिक लाभप्रद स्थिति वह होगी जबकि व्यापार की शर्तें पुर्तगाल के आन्तरिक विनिमय-अनुपात के समान हों। इसी प्रकार पुर्तगाल को सबसे अधिक लाभ तब होगा जब व्यापार की शर्तें इंगलैण्ड के आन्तरिक विनिमय-अनुपात के बराबर हों। अस्तु, सरल रेखाओं **200 : 300** एवं **300 : 300** को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तों की सीमाओं के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य, विनिमय-अनुपात या व्यापार की शर्तें इन दोनों रेखाओं के बीच कहीं भी वस्तुओं की परस्पर (reciprocal) माँग के अनुसार निर्धारित होगी।



रेखाचित्र 4 5—स्थिर लागतों के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

अब मान लीजिए कि व्यापार की शर्तें $25S = 30C$ (5 : 6 या 1 : 1·2 यानी एक इकाई इस्पात 1·2 इकाई वस्त्रों के समान है) तय हुईं। यह भी मान लीजिए कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रारम्भ होने से पूर्व पुर्तगाल 100 इकाइयाँ इस्पात और 150 इकाइयाँ कपड़े का उत्पादन कर रहा था (आन्तरिक विनिमय अनुपात के अनुरूप)। व्यापार आरम्भ होने के बाद तुलनात्मक लाभ के कारण पुर्तगाल केवल कपड़े का उत्पादन करता है और अतिरिक्त कपड़े का निर्यात करके आवश्यकतानुसार इंगलैण्ड से इस्पात का आयात करता है। अस्तु, पुर्तगाल 300 इकाइयाँ कपड़े का उत्पादन करता है। इसमें से वहाँ 150 इकाइयों का आन्तरिक उपयोग होने के बाद शेष 150 इकाइयाँ निर्यात हेतु रहती हैं। उपर्युक्त व्यापार की शर्तों के अनुसार कपड़े की 150 इकाइयों के बदले पुर्तगाल को इंगलैण्ड से 125 इकाइयाँ इस्पात की प्राप्त होंगी। इस प्रकार, पुर्तगाल *PQ*

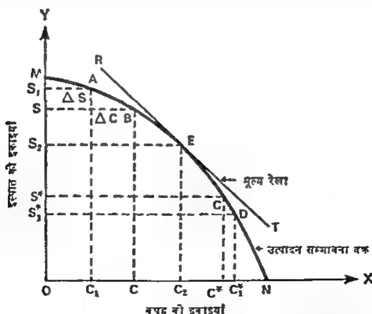
मात्रा में (150 इकाइयाँ) कपडे का निर्यात करके *QR* (125 इकाइयाँ) इस्पात का आयात करता है। रेखाचित्र 4 5 से यह स्पष्ट हो जाता है कि विशिष्टीकरण एव विदेशी व्यापार से पुर्तगाल को पूर्वापेक्षा लाभ हीं होता है क्योंकि जहाँ विशिष्टीकरण से पूर्व पुर्तगाल को 150 इकाइयाँ कपडा तथा 100 इकाइयाँ इस्पात की उपलब्ध होती थी, विशिष्टीकरण एव विदेशी व्यापार के कारण उसे 150 इकाइयाँ कपडा एव 125 इकाइयाँ इस्पात की प्राप्त होती हैं।

इसी प्रकार का विश्लेषण इगलैण्ड के लिए भी किया जा सकता है तथा यह प्रमाणित किया जा सकता है कि केवल इस्पात के उत्पादन मे विशिष्टीकरण करके तथा अतिरिक्त इस्पात के बदले पुर्तगाल से कपडे का आयात करने पर इगलैण्ड को उतनी मात्रा मे इस्पात प्राप्त करने पर भी पूर्वापेक्षा अधिक मात्रा म कपडा उपलब्ध होता है। अत इगलैण्ड को भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ प्राप्त होता है।

बढ़ती हुई अवसर लागतें अथवा घटता हुआ प्रतिफल तथा उत्पादन सम्भावना वक्र [INCREASING OPPORTUNITY COSTS OR DECREASING RETURNS AND PRODUCTION POSSIBILITY CURVE]

अब तक हमने स्थिर लागतो के अन्तर्गत उत्पादन एव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दशाओ का विश्लेषण किया था जिनम साधनो की कार्यक्षमता एव दक्षता यथावत् रहती है। परन्तु यह भी सम्भव है कि कुछ वस्तुओ के उत्पादन म भूमि का योगदान अन्य साधनो की अपेक्षा अधिक हो। विशेष रूप से फलो व सब्जियो के उत्पादन हेतु श्रम, उर्वरक व पूंजी की अपेक्षा भूमि के योगदान का एक विशिष्ट महत्व है। ऐसी स्थिति मे उत्पादन में साधनो के साथ आनुपातिक वृद्धि नही होती अपितु कृषि-कला के यथावत् रहते हुए उत्पादन पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल के अन्तगत प्राप्त होता है। इसका एक कारण यह भी है कि अलग-अलग उत्पादन क्षेत्रो मे साधनो के मध्य प्रतिस्थापनशीलता (substitutability) पूर्ण नही होती।

जब वस्तुओ का उत्पादन बढती हुई लागतो के अन्तर्गत होता है तब उत्पादन सम्भावना वक्र रेखाचित्र 4 6 के अनुरूप मूल बिन्दु से नतोदर (concave from the origin) हो जाता है। पहले की भाँति हम *X* अक्ष पर कपडे की और *Y* अक्ष पर इस्पात की इकाइयो को लेते हैं। यदि देश के



रेखाचित्र 4 6—बढ़ती हुई लागतों के अन्तर्गत उत्पादन सम्भावना वक्र

सभी साधनो का उपयोग इस्पात के उत्पादन हेतु किया जाय तो *OM* मात्रा इस्पात की प्राप्त होगी। इसी प्रकार सभी साधनो का उपयोग कपडे के हेतु करने पर *ON* इकाइयाँ प्राप्त होंगी। स्वाभाविक

है MN उत्पादन सम्भावना वक्र है और देश या तो केवल इस्पात, या केवल कपड़ा, अथवा इन दोनों का कोई संयोग (combination) प्राप्त करने का प्रयास करेगा।

उपर्युक्त उत्पादन सम्भावना वक्र (MN) रेखीय न होकर नतोदर है। इसका मुख्य कारण यह है कि कपड़े की अतिरिक्त इकाइयों के उत्पादन हेतु देश को उत्तरोत्तर अधिक लागत वहन करनी पड़ती है। दूसरे शब्दों में, कपड़े की (इस्पात के रूप में) अवसर लागत बढ़ती जाती है।

यही कारण है कि उत्पादन सम्भावना वक्र का ढलान $\left(\frac{-\Delta S}{\Delta C}=\frac{MC_c}{MC_s}\right)$ बढ़ता जाता है।

हम इससे पूर्व यह देख चुके हैं कि स्थिर लागतो के सन्दर्भ में यह ढलान (दोनों वस्तुओं की सीमान्त लागतो का अनुपात अथवा कपड़े की इस्पात के रूप में अवसर लागत) स्थिर रहता है।

मान लीजिए रेखाचित्र 4 6 में देश की मूल स्थिति A बिन्दु पर है जहाँ OS_1 इकाइयाँ इस्पात तथा OC_1 इकाइयाँ कपड़े की निर्मित होती हैं। यदि कपड़े का उत्पादन OC तक बढ़ता है तो इस्पात का उत्पादन OS तक घटाना होगा। इस प्रकार कपड़े की अतिरिक्त इकाइयों की अवसर लागत इस्पात की मात्रा में होने वाली कटौती के समान है। दूसरे शब्दों में, A व B बिन्दुओं के बीच उत्पादन सम्भावना वक्र का ढलान या कपड़े की अवसर लागत— $\frac{\Delta S}{\Delta C}$ होगी। इसी प्रकार कपड़े की अवसर लागत C व D बिन्दुओं के बीच ज्ञात की जा सकती है। विपरीत दिशा में चलने पर भी हमारे इस निष्कर्ष में कोई परिवर्तन नहीं होगा कि एक वस्तु की अतिरिक्त इकाइयाँ प्राप्त करने की (अवसर) लागत दूसरी वस्तु की त्यागी गयी मात्रा के रूप में व्यक्त की जाती है।

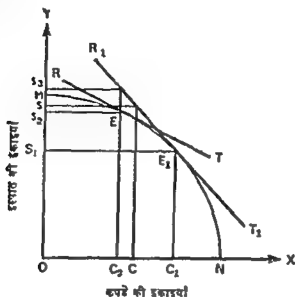
अब प्रश्न यह है कि उपलब्ध साधनों के इष्टतम उपयोग द्वारा देश कितनी मात्रा में कपड़ा एवं इस्पात का उत्पादन करेगा? रेखाचित्र 4 6 में E बिन्दु उस स्तर को व्यक्त करता है जहाँ दोनों ही वस्तुओं का इष्टतम संयोग (घरेलू उपयोग हेतु) निर्मित होगा। इस बिन्दु पर कपड़े व इस्पात के मूल्यों के अनुपात एवं कपड़े की अवसर लागत दोनों वस्तुओं की सीमान्त लागत के अनुपात में समानता है। सरल रेखा RT का ढलान वस्तुओं के मूल्यों का अनुपात $\left(\frac{Pc}{Ps}\right)$ है।

बढ़ती हुई लागतों के अन्तर्गत विदेशी व्यापार
(International Trade under conditions of Increasing Costs)

पूर्व-प्रस्तावित रेखाचित्र 4 6 के माध्यम से हमने बढ़ती हुई लागतो के अन्तर्गत उपलब्ध साधनों से प्राप्त इस्पात एवं कपड़े के इष्टतम संयोग के निर्धारण का वर्णन किया था। अब हम यह देखेंगे कि बढ़ती हुई लागतो के सन्दर्भ में आयात व निर्यात व्यापार की संरचना किस प्रकार की होगी?

कल्पना कीजिए देश को कपड़े के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ है। इसका यह आशय हुआ कि यह देश कपड़े के उत्पादन में अधिकाधिक साधनों का उपयोग करके अतिरिक्त कपड़े का निर्यात करेगा एवं आवश्यकतानुसार इस्पात बाहर से मँगायेगा। कपड़े की माँग विदेशों से आने एवं देश में उत्पादित इस्पात की माँग घट जाने के कारण कपड़े का मूल्य इस्पात की तुलना में बढ़ जायेगा, और इसके फलस्वरूप रेखाचित्र 4 7 में प्रस्तुत मूल्य रेखा RT बदलकर R_1T_1 के रूप में हो जायेगी। यदि उत्पादन प्रविधि यथावत् रहे तथा तदनुरूपी उत्पादन-सम्भावना वक्र की स्थिति भी वही रहे तो नयी मूल्य रेखा R_1T_1 उत्पादन सम्भावना वक्र को E_1 बिन्दु पर स्पर्श करेगी। देश में उत्पादित कपड़े एवं इस्पात का इष्टतम संयोग क्रमशः OC_2 व OS_2 से बदलकर OC_1 तथा OS_1 हो जायगा। अब देश में कपड़े की आन्तरिक माँग को निकाल कर शेष का आवश्यक मात्रा में आयात किये गये इस्पात के बदले निर्यात कर दिया जायेगा। रेखाचित्र 4 7 में बताया गया है कि देश में कपड़े व

इस्पात के इष्टतम उत्पादन (OC_1 एव OS_1) और उपभोग्य मात्राओ (OC एव OS) का अन्तर कपडे के निर्यात तथा इस्पात के आयात द्वारा पाटा (adjust) जा सकता है।



रेखाचित्र 4 7—बढ़ती हुई लागतों के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, मूल्यो मे परिवर्तन होने पर मूल्यरेखा की स्थिति RT से बदलकर R_1T_1 हो जाती है तथा दोनो वस्तुओ के उत्पादन का साम्य-स्तर E से हटकर E_1 पर आ जाता है। देश अब कपडे का उत्पादन OC_2 से बढाकर OC_1 एव इस्पात का उत्पादन OS_2 से घटाकर OS_1 कर देता है। अब मान लीजिए देश की जनता इस्पात तथा कपडे की क्रमश. OS एव OC इकाइयाँ उपभोग करना चाहती है। फलस्वरूप CC_1 इकाइयाँ वस्त्र की निर्यात की जाकर SS_1 इकाइयाँ इस्पात की आयात की जायेंगी। एक बात स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण देश मे कपडे व इस्पात दोनो ही का अधिक उपभोग होने लगेगा ($OC>OC_2$ एव $OS>OS_2$) और देश के लोगो के जीवन-स्तर मे सुधार होगा।

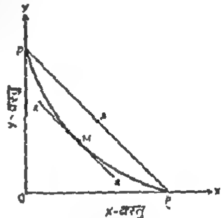
यह भी सम्भव है कि देश वस्त्र के उपभोग की मात्रा पहले जितनी ही (OC_2) रखे तथा नये मूल्यो के अनुरूप C_2C_1 मात्रा कपडे की निर्यात करके S_1S_3 इकाइयाँ इस्पात की बाहर से मँगाये। इसका यह अर्थ हुआ कि व्यापार के फलस्वरूप कपडे का उपभोग यथावत् रहने पर भी इस्पात की पूर्वापेक्षा काफी अधिक मात्रा उपलब्ध हो जाती है—इस्पात का उपभोग OS_2 से बढकार OS_3 हो जाता है।

आंशिक विशिष्टीकरण
[PARTIAL SPECIALISATION]

स्थिर लागतो के अन्तर्गत देश पूर्ण विशिष्टीकरण (complete specialisation) के आधार पर केवल उस वस्तु के उत्पादन मे साधनो का उपयोग करता है जिसमे उसे तुलनात्मक लाभ प्राप्त है। परन्तु बढती हुई लागतो के अन्तर्गत ऐसा नही होता। जैसा कि रेखाचित्र 4 7 के आधार पर बताया गया है, बढती हुई लागतो के सन्दर्भ मे एक देश उस वस्तु का भी कुछ मात्रा मे उत्पादन करता है जिसमे इसे तुलनात्मक लाभ नही है तथा जिसकी पर्याप्त मात्रा का आयात किया जाता है। ऐसी वस्तु के स्वदेशी उत्पादको (domestic producers) को आयातित वस्तुओ की प्रतियोगिता का सामना करना पडता है, हालांकि उन्हे इस वस्तु के उत्पादन लाभ प्राप्त नही होते। यही कारण है कि विदेशी व्यापार प्रारम्भ होने के बाद भी बढती हुई लागतो के अन्तर्गत पूर्ण विशिष्टीकरण (complete specialisation) नही हो पाता। इसे हम आशिक विशिष्टीकरण (partial specialisation) की स्थिति कहते हैं।

घटती हुई लागतों के अन्तर्गत उत्पादन सम्भावना वक्र एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार [PRODUCTION POSSIBILITY CURVES AND INTERNATIONAL TRADE UNDER THE CONDITIONS OF INCREASING RETURNS]

जब दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन ह्रासमान लागत नियम के अन्तर्गत होता है तो उत्पादन सम्भावना वक्र मूल बिन्दु से उन्नतोदर (convex from the origin) होता है जैसाकि रेखाचित्र 4 8 में दिखाया गया है। रेखाचित्र में PAP_1 उत्पादन सम्भावना रेखा है। यह रेखा X-वस्तु के रूप में उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ Y-वस्तु के उत्पादन में घटती लागतें और Y-वस्तु में वृद्धि के साथ-साथ X-वस्तु के रूप में ह्रासमान लागतों का नियम प्रदर्शित करती है। चित्र 4 8 में PR कीमत रेखा है और M बिन्दु पर साम्य की स्थिति है। यदि हम इस मान्यता को मान लें कि आन्तरिक मितव्ययताओं के कारण ह्रासमान लागतें क्रियाशील हैं तो इस स्थिति में यदि किसी कारण से साम्य भंग हो जाता है तो उपयुक्त परिस्थिति के अनुसार या तो वह X-वस्तु के उत्पादन में या Y-वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा। वह राष्ट्र किस वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा यह इस बात पर निर्भर करेगा कि शुरू में किस वस्तु के मूल्य में वृद्धि के कारण साम्य की स्थिति भंग होती है। यदि प्रारम्भ में Y-वस्तु के मूल्य में वृद्धि होती है, तो Y-वस्तु के उत्पादन में वृद्धि की जायगी और उत्पादन में वृद्धि के साथ उत्पादन लागत में कमी होगी और लाभ की मात्रा बढ़ेगी और अन्ततः सन्तुलन P बिन्दु पर स्थापित होगा। इसी प्रकार यदि Y-वस्तु में किसी कारण से वृद्धि हो जाती है तो उसके उत्पादन में वृद्धि की जायगी और उत्पादन वृद्धि के साथ उत्पादन लागत में कमी होगी और अन्ततः P_1 बिन्दु पर साम्य स्थापित होगा।

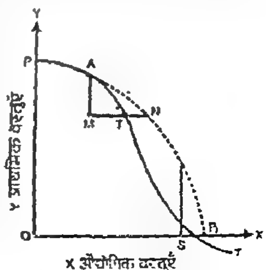


रेखाचित्र 4·8

क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम अथवा ह्रासमान नियम की सम्भावना अल्पकाल में बहुत कम रहती है परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह नियम बढ़ते हुए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्वपूर्ण कारण है।

सी. पी. किंडलबर्गर (C. P. Kindleberger) ने एक विशेष परिस्थिति को बताया है जिसमें एक वस्तु के उत्पादन में उत्पादन ह्रासमान लागत नियम लागू होता है जबकि दूसरी वस्तु के उत्पादन में उत्पादन वृद्धिमान लागत नियम लागू होता है। रेखाचित्र 4 8 में ऐसी ही परिस्थिति का स्पष्टीकरण किया गया है।

रेखाचित्र 4·9 में PP_1 उत्पादन सम्भावना वक्र है। उत्पादन सम्भावना वक्र PP_1 प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादन एवं औद्योगिक वस्तुओं को दर्शाता है। यह वक्र शुरू में P से T बिन्दु तक प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादन को बताता है जो मूल बिन्दु से नतोदर (concave to the origin) है जो कि उत्पत्ति वृद्धिमान लागत नियम को दर्शाता है। T बिन्दु के पश्चात् यह वक्र मूल बिन्दु से उन्नतोदर हो जाता है जो औद्योगिक वस्तुओं के लिए उत्पादन ह्रासमान लागत नियम को दर्शाता है। क्रियाशील देशों को, जो सामान्यतः प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, इस अवस्था में प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादन में लाभ होता है। यह देश A बिन्दु पर उत्पादन



रेखाचित्र 4 9—उत्पत्ति ह्रासमान लागत नियम—एक वस्तु में

करेगा तथा A प्राथमिक वस्तुओ का निर्यात कर MN औद्योगिक वस्तु के प्राप्त करने मे सफल होगा। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से उसे लाभ होगा परन्तु यदि इस देश का उत्पादन किसी प्रकार T बिन्दु से (Point of Inflection) आगे लाया जा सके तो उत्पत्ति ह्रासमान लागत नियम का क्षेत्र शुरू हो जायगा। इसका अर्थ यह होगा कि अब यह देश अपने सभी साधनों को औद्योगिक वस्तुओं के उत्पादन मे लगाने की स्थिति म है और वह पूर्ण विशिष्टीकरण की अवस्था प्राप्त कर लेगा। अब यह देश P_1S मात्रा मे औद्योगिक वस्तुओ का निर्यात करेगा एव इसके बदले मे SR प्राथमिक वस्तु प्राप्त करेगा तथा इस नयी स्थिति यानी R बिन्दु पर A बिन्दु के मुकाबले मे अच्छी स्थिति मे होगा।

यह स्थिति विकासशील देशो मे सरक्षण के लिए एक उपयुक्त उदाहरण है।

अवसर लागत सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन
(Critical Evaluation of Opportunity Cost Doctrine)

रिकार्डो के श्रम लागत सिद्धान्त की तुलना म अवसर लागत सिद्धान्त निश्चित ही एक सुधार है क्योकि इसमे *अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यो का विश्लेषण अधिक वैज्ञानिक एव वास्तविक आधार पर किया गया है।* अवसर लागत सिद्धान्त यह भी स्पष्ट करता है कि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त उत्पत्ति के किसी भी नियम के अन्तर्गत लागू हो सकता है चाहे वह स्थिर लागत हो या बढती हुई अथवा घटती हुई लागत हो जबकि रिकार्डो का सिद्धान्त स्थिर लागत की मान्यता पर आधारित है।

अवसर लागत सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को श्रम के मूल्य सिद्धान्त की आलोचना से बचा लेता है।

अवसर लागत सिद्धान्त की एक विशेषता यह भी है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की जो सामान्य सन्तुलन की विचारधारा ओहलिन न प्रतिपादित की है। यह उसका एक सरलीकृत रूप है एव ओहलिन की तुलना मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे, साधनो के प्रतिस्थापन की अधिक अच्छी व्याख्या करता है।

अवसर लागत सिद्धान्त का गुण यह भी है कि यह स्पष्ट करता है कि लागतों मे तुलनात्मक अन्तर होने का एक कारण बढती हुई या घटती हुई लागतो का लागू होना है। वर्तमान म यही कारण विकसित देशो म अत्यधिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए जिम्मेदार कारण है।

उपर्युक्त विशेषताओ के बावजूद अवसर लागत सिद्धान्त की आलोचनाएँ भी की गयी है। प्रमुख आलोचनाएँ इस प्रकार हैं

कल्याण के लिए अनुपयुक्त—जेकब वाइनर के अनुसार प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के वास्तविक लागत सिद्धान्त की तुलना मे अवसर लागत सिद्धान्त की व्याख्या कल्याणवादी नीतियो के लिए उपयुक्त नही है। कुछ अर्थशास्त्रियो के अनुसार अवसर लागत सिद्धान्त विश्लेषण एव व्याख्या के लिए उपयुक्त है *जबकि वास्तविक लागत सिद्धान्त कल्याण सम्बन्धी नीतियो के लिए उपयुक्त है।* किन्तु हैबरलर वास्तविक लागत सिद्धान्त को कल्याण सम्बधी उपयुक्तता पर सन्देह करते हुए कहते हैं कि यदि वास्तविक लागत सिद्धान्त विश्लेपणात्मक उद्देश्यो के लिए उपयुक्त नही हैं तो वह कल्याणकारी नीतियो के लिए भी उपयोगी नही हो सकता।

श्रमिकों के अधिमानों की अवहेलना—इस सिद्धान्त की यह आलोचना की जाती है कि यह सिद्धान्त आय के विरुद्ध श्रमिको के आराम के अधिमान (Preference for Leisure) को कोई महत्व नही देता तथा समान मजदूरी प्रदान करने वाले दूसरे व्यवसाय के अधिमान पर भी विचार नही करता तथा यह मानकर चलता है कि श्रमिक विभिन्न व्यवसाय के प्रति तटस्थ हैं।

अवसर लागत सिद्धान्त की यह भी आलोचना की जाती है कि यह साधनो की मात्रा मे परिवर्तन की अवहेलना करता है। एक अन्य आलोचना इस आधार पर की जाती है कि यह सिद्धान्त अवास्तविक मान्यताओ पर आधारित है। इस सिद्धान्त की एक और आलोचना की जाती है कि इसम तकनीकी परिवर्तन की उपेक्षा की गयी है। यही नही, वाह्य मितव्ययताओ एव अमितव्ययताओ के प्रभाव की भी इसमे अवहेलना की गयी है।

तर्क के आधार पर अवसर लागत सिद्धान्त की उपर्युक्त आलोचनाओ को उपयुक्त नही ठहराया जा सकता। यह कहना सही नही हैं कि इस सिद्धान्त की व्याख्याओ से कल्याण सम्बन्धी निष्कर्षो को ज्ञात नहीं किया जा सकता। प्रो सेमुअलसन (Samuelson) ने अवसर लागत की

व्याख्या कर यह स्पष्ट कर दिया है कि कोई भी व्यापार न करने की तुलना में एक देश कोई न कोई व्यवसाय कर अपने कल्याण में वृद्धि अवश्य कर सकता है। केन्स के अनुसार, सेमुअलसन की व्याख्या ने कल्याण और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में वास्तविक लागत और अवसर लागत के बीच में जो खाई थी उसे पाट दिया है।

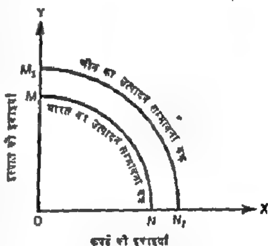
अवसर लागत सिद्धान्त में आराम के अधिमान पर भी विचार किया गया है। वाल्श (Walsh) ने दो पक्ष वाले अवसर लागत वक्र का विस्तार करके उसे तीन अक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है जिसमें आराम को तीसरी वस्तु के रूप में चित्रित किया गया है। अतः उत्पादन लागत का परित्याग किये गये आराम अथवा परित्याग किये गये वैकल्पिक उत्पादन के रूप में माना जा सकता है।

हैबरलर ने साधन के परिवर्तन पर भी ध्यान दिया है तथा केवल विश्लेषण में सरलता रखने के उद्देश्य से एक देश में उपलब्ध साधनों को स्थिर मान लिया है।

उपर्युक्त विवेचन यह स्पष्ट करता है कि अवसर लागत सिद्धान्त ने रिकार्डो के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के दोषों को दूर कर महत्वपूर्ण योगदान दिया है और उत्पत्ति के साधनों के सम्बन्ध में एक गतिशील धारणा प्रस्तुत की है।

आनुपातिक लागतें
[PROPORTIONAL COSTS]

यदि दो देशों की लागतें आनुपातिक हों तो दोनों देशों के बीच विदेशी व्यापार नहीं होगा। उत्पादन लागतें उस स्थिति में आनुपातिक होती हैं जब दोनों वस्तुओं अथवा उत्पादन के सभी क्षेत्रों में देश को श्रेष्ठता प्राप्त हो और इन्हीं लागत अनुपातों पर दूसरा देश भी दोनों वस्तुएँ उत्पादन करने की क्षमता रखता हो। ऐसी स्थिति में दोनों देशों के उत्पादन सम्भावना वक्र (production possibility curves) समान्तर होंगे।



रेखाचित्र 4·10—आनुपातिक लागतें

रेखाचित्र 4·10 में चीन व भारत के उत्पादन सम्भावना वक्र (M_1N_1 एवं MN) प्रस्तुत किये गये हैं। मान लीजिए भारत में इस्पात व कपड़े के उत्पादन हेतु क्रमशः 200 व 180 इकाइयाँ श्रम की आवश्यकता है जबकि चीन में इनके लिए क्रमशः 100 व 90 इकाइयाँ श्रम चाहिए। ऐसी स्थिति में कपड़े व इस्पात की उत्पादन लागतें दोनों ही देशों में आनुपातिक हैं और इस कारण चीन व भारत में दोनों वस्तुओं के (आन्तरिक) विनिमय-अनुपात भी समान हैं। इसी कारण दोनों देशों के उत्पादन सम्भावना वक्र समान्तर होंगे तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की कोई सम्भावना नहीं होगी।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त एवं अल्प-विकसित देश
[THEORY OF COMPARATIVE COST AND UNDER-DEVELOPED COUNTRIES]

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री यह मानते थे कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ अल्प-विकसित देशों को भी प्राप्त होता है। उनके अनुसार सभी देशों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रवृत्ति तुलनात्मक लागत के अन्तर के फलस्वरूप ही उत्पन्न होती है। तुलनात्मक लागत लाभ (Comparative Cost Advantage) के कारण विश्व की वास्तविक आय में वृद्धि होती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से अल्प-विकसित देश भी उन्नति करते हैं। जिन देशों को आज हम अधिक विकसित श्रेणी में रखते हैं वे भी कभी अल्प-विकसित ही थे तथा उनके उच्च विकास का कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ही रहा है। तुलनात्मक लागत सिद्धान्त श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण पर आधारित है जिससे अधिक से

(8) **छिपी हुई बेरोजगारी तथा गतिशीलता का अभाव**—तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में साधनों के पूर्ण रोजगार की मान्यता महत्वपूर्ण होती है, किन्तु अल्प-विकसित देशों में बेरोजगारी तथा छिपी हुई बेरोजगारी की समस्या प्रमुख होती है। यहाँ उत्पादन की लागतों को कम करने का प्रश्न उतना महत्वपूर्ण नहीं होता जितना कि बेरोजगार व्यक्तियों को रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना। अतः तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को लागू करने से बेरोजगारी की समस्या हल नहीं हो सकती। स्वतन्त्र व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाकर तथा आयात प्रतिस्थापन करके ही बेरोजगारी की समस्या को हल किया जा सकता है तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि की जा सकती है।

प्रश्न एवं उनके संकेत

1. **"तुलनात्मक लागतों के अन्तर के कारण ही विदेशी व्यापार का अस्तित्व है तथा इन्हीं के द्वारा विदेशी व्यापार के परिमाण एवं संरचना का निर्धारण होता है।"**

   "Difference in comparative costs account for the existence of foreign trade and determine its composition and magnitude." Discuss.

   [संकेत—इस प्रश्न के उत्तर में यह बताइए कि लागतों के सापेक्ष अन्तर के कारण क्योंकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रारम्भ होता है। तुलनात्मक लागतों के आधार पर आधारित रिकार्डो के सिद्धान्त की उपयुक्त उदाहरणों के आधार पर व्याख्या कीजिए। यह भी बतायें कि आयात व निर्यात की प्रकृति, दिशा एवं इनकी मात्राओं का निर्धारण भी किस सीमा तक तुलनात्मक लागतों के अन्तर द्वारा होता है।]

2. **"प्रतिष्ठित सिद्धान्त में तुलनात्मक लागतों का सिद्धान्त अपेक्षाकृत बेहतर सिद्ध हुआ है।" स्पष्ट कीजिए।**

   "The theory of comparative costs has stood up much better than other parts of the old theory." Discuss.

   [संकेत—प्रतिष्ठित तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए इसमें निहित मान्यताओं का विवरण दें। उत्तर के द्वितीय भाग में यह बताइए कि इन मान्यताओं का आज के सन्दर्भ में कितना औचित्य है, तथा तदनुसार तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को किस सीमा तक उपयोगी माना जा सकता है।]

3. **प्रतिष्ठित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त की रूप-रेखा प्रस्तुत कीजिए तथा बताइए कि आप इसे आधुनिक जगत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की व्याख्या हेतु कहाँ तक पर्याप्त मानते हैं?**

   Give an outline of the classical theory of international trade and discuss how far do you consider it adequate to explain international trade in modern world?

   [संकेत—प्रतिष्ठित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त की रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए तथा बताइए कि आप इसे आधुनिक जगत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की व्याख्या हेतु कहाँ तक पर्याप्त मानते हैं?]

4. **"तुलनात्मक लागतों के अन्तर विभिन्न क्षेत्रों में आर्थिक व सामाजिक विकास के अन्तर को प्रतिबिम्बित करते हैं न कि अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण में निहित लाभों को।" स्पष्ट कीजिए।**

   Difference in comparative costs, in international trade, reflect differences in the social and economic development in different areas other than the innate advantages of international specialization." Discuss.

   [संकेत—इस प्रश्न के उत्तर में सर्वप्रथम बतायें कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के मतानुसार किस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता था। फिर यह बतायें कि आज के सन्दर्भ में लागतों के तुलनात्मक अन्तर किस सीमा तक विभिन्न देशों की आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न होते हैं। इसमें विकसित व अविकसित देशों का उदाहरण लेना अधिक उपयुक्त रहेगा।]

5. **यह बताइए कि किस सीमा तक एक अल्पविकसित देश का विदेशी व्यापार तुलनात्मक लागतों के सिद्धान्त के अनुरूप है।**

Consider how far the theory of comparative costs conforms to the conditions of foreign trade of an under-developed country

[संकेत—पहले तुलनात्मक लागतों के सिद्धान्त की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए फिर यह बतायें कि आज अल्पविकसित देश आमतौर पर किन वस्तुओं का आयात व निर्यात करते हैं और क्या ये आयात व निर्यात तुलनात्मक लागतों के अन्तर पर आधारित हैं ? वस्तुतः एक अल्पविकसित देश आज उन वस्तुओं का भी आयात करता है जो तुलनात्मक दृष्टि से देश में कम लागत पर निर्मित की जा सकती हैं क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के कारण ऐसी वस्तुओं का भुगतान तत्काल करने की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार निर्यात की दृष्टि से भी ऐसी वस्तुओं को सम्मिलित कर लिया जाता है जिनकी तुलनात्मक उत्पादन-लागत अधिक हो। वस्तुतः इन देशों को आर्थिक विकास की दीर्घकालीन नीति के कार्यान्वयन हेतु मशीनों व औद्योगिक कच्चे माल का भी आयात करना पड़ता है। इसके लिए अध्याय में दी गयी विषय-सामग्री का अध्ययन कीजिए।]

6 क्या यह कथन सही है कि नियोजित आर्थिक विकास के सन्दर्भ में तुलनात्मक लाभ का सिद्धान्त अव्यावहारिक है ?

Is it correct to argue that the theory of comparative advantage is inapplicable under conditions of growth or planned development ?

[संकेत—इस प्रश्न का उत्तर प्रश्न 5 के अनुरूप ही होगा।]

7 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। आज के अल्पविकसित देशों के सन्दर्भ में यह कहाँ तक व्यावहारिक है ?

Critically examine the classical theory of international trade How far is it applicable to the under-developed countries of today ?

8 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। इसके विपक्ष में आप क्या कहना चाहेंगे ?

State the classical theory of the international trade What are the main criticisms advanced against it ?

9 रिकार्डो के सिद्धान्त की वैधता कहाँ तक इन मान्यताओं पर आधारित है कि (अ) श्रम ही उत्पादन का एकमात्र साधन है तथा (ब) प्रत्येक देश में उत्पादन लागत स्थिर है ?

To what extent is the validity of the Ricardian theory of comparative costs dependent upon the assumptions that (a) labour is the only factor of production, and (b) costs of production within each country are constant ?

[संकेत—रिकार्डो का तुलनात्मक लागत सिद्धान्त श्रम को मूल्य का आधार मान कर प्रतिपादित किया गया था। इसी प्रकार रिकार्डो ने यह मान्यता ली थी कि दो वस्तुओं के उत्पादन में श्रम की प्रयुक्त मात्राएँ भिन्न हो सकती हैं परन्तु श्रम का प्रतिफल स्थिर रहता है। अस्तु रिकार्डो का सिद्धान्त इन दो प्रमुख मान्यताओं पर आधारित है। साथ ही इस सिद्धान्त की अन्य मान्यताएँ भी लिखिए। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या में श्रम के अतिरिक्त अन्य साधनों (पूँजी) को भी सम्मिलित करते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्री एजवर्थ बाउली आयताकार चित्रों की सहायता से समोत्पत्ति वक्रों अथवा उत्पादन सम्भावना वक्रों के आधार पर उत्पादन लागत एवं व्यापार की दिशा आदि की विवेचना करते हैं।]

10 उदासीनता वक्रों की सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए। यह विधि अन्य विधियों से कहाँ तक श्रेष्ठ है ?

Explain the theory of international trade in terms of indifference curves To what extent is this method of presentation superior to other methods ?

[संकेत—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों विशेष रूप से रिकार्डो ने केवल श्रम को उत्पादन का साधन मानकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। परन्तु हैबरर, ओहलिन व अन्य वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने पूँजी को भी उत्पादन का साधन मानते हुए

समोत्पत्ति वक्रों (उदासीनता वक्रों) के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (निर्यात व आयात) के सिद्धान्तों की व्याख्या की है। विद्यार्थियों से यह अपेक्षित है कि वे दोनों ही विधियों की तुलना करते हुए समोत्पत्ति वक्र के उपयोग की श्रेष्ठता बतायें। इसके लिए उपयुक्त रेखाचित्रों का प्रयोग आवश्यक है।]

11. तुलनात्मक लागतों के सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
Examine critically the theory of comparative costs.

12. बताइए कि तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त में निम्न स्थितियों में किस प्रकार संशोधन होंगे : (अ) जब परिवहन-लागतों का समावेश किया जाय, तथा (ब) जब इस सिद्धान्त का उपयोग दो से अधिक वस्तुओं के लिए किया जाय।
Explain how the theory of comparative costs modified (a) when transport costs are included, and (b) when it is applied to more than two goods.
[संकेत—मौलिक रूप में प्रस्तुत तुलनात्मक लागतों के सिद्धान्त में केवल उत्पादन की (श्रम रूप में) लागत का समावेश किया जाकर दो वस्तुओं की सापेक्ष लागतों के अन्तर को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार माना गया था। यदि अपने विश्लेषण में परिवहन लागतों को शामिल कर दिया जाय तब भी हम तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के मौलिक स्वरूप में कोई विशेष परिवर्तन नहीं पायेंगे। परन्तु यदि दो से अधिक वस्तुओं को विश्लेषण में शामिल किया जाय तो हमारे उक्त सिद्धान्त का स्वरूप बदल जाता है। इसी तथ्य का विश्लेषण प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर में करना है।]

13. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बद्ध एडम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का वर्णन कीजिए। इस सिद्धान्त में आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने क्या संशोधन किये हैं ?
Discuss the classical theory of international trade as propounded by Adam Smith. What modifications have been made in this theory by the modern writers ?
[संकेत—उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में एडम स्मिथ के द्वारा प्रस्तुत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त का वर्णन करने के साथ ही रिकार्डो द्वारा प्रस्तुत तुलनात्मक लागतों के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। आधुनिक अर्थशास्त्रियों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त की आलोचना के बाद अगले अध्याय में प्रस्तुत हैबलर, ओहलिन व हैबरलर द्वारा दिये गये सिद्धान्तों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए। अच्छे अंकों की प्राप्ति हेतु रेखाचित्रों व समीकरणों का प्रयोग वांछनीय होगा।]

14. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अवसर लागत सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए।
Fully discuss the Opportunity Cost Theory of International Trade.

5

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त

[HECKSCHER OHLIN THEORY OF INTERNATIONAL TRADE]

परिचय—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री रिकार्डो और मिल के अनुसार दो देशो के व्यापार तुलनात्मक लागतो के अन्तर के कारण होता है। तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के अनुसार यदि दो देशो मे *आन्तरिक लागत अनुपातो मे अन्तर है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने तथा यह दोनो देशो का लाभदायक होने का पर्याप्त आधार है।* परन्तु यहाँ प्रश्न यह उठता है कि दो देशो के लागत अनुपातो मे अन्तर क्यो होता है ? इस प्रश्न का उत्तर प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री नही दे सके। परन्तु स्वीडन के अर्थशास्त्रियो, प्रो एली हैक्सर (Eli Hecksher) एव उनके शिष्य प्रो बर्टिल ओहलिन (Bertil Ohlin), ने इस प्रश्न का उत्तर दिया। सबसे पहले 1919 मे हैक्सर ने बताया कि 'दो देशों मे व्यापार तुलनात्मक लाभ म अन्तर के कारण होता है तथा तुलनात्मक लाभ मे अन्तर दोना देशो मे उत्पत्ति के साधनो की सापेक्षित कीमतो मे भिन्नता तथा विभिन्न वस्तुओ के उत्पादन म साधनो के विभिन्न अनुपातो के प्रयोग के कारण होता है।" ओहलिन ने अपनी पुस्तक 'Inter-regional and International Trade" मे *अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या की है।* इन दोनो अर्थशास्त्रियो ने जिस सिद्धान्त का विकास किया उसे हैक्सर-ओहलिन का सिद्धान्त अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त कहते हैं। इसे साधन अनुपातो (factor proportions) का सिद्धान्त भी कहते हैं।

हैक्शर-ओहलिन प्रमेय उन तत्वो की पूर्ण रूप से व्याख्या करती है जो तुलनात्मक लागतों से अन्तरो को उत्पन्न करती हैं तथा जिनकी वजह से दो देशो के बीच व्यापार किया जाता है। जैसा कि हम अध्याय 2 मे अध्ययन कर चुके है प्रोफेसर बर्टिल ओहलिन के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का एक विशिष्ट रूप है। अत अन्तर्राष्ट्रीय एव अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का उदय लगभग एक जैसे कारणो से होता है। *किन्ही भी दो क्षेत्रो या दो देशो के बीच व्यापार का आधार सामान्यतया उनकी विशिष्ट उत्पादन-क्षमताओ मे निहित होता है।* ये उत्पादन-क्षमताएँ बहुधा प्राकृतिक होती है और इन्ही के कारण अन्तर्क्षेत्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन एव विशिष्टीकरण की उत्पत्ति होती है। अत. उनका कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार या अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार के विषय से अलग विश्लेषण करने की अपेक्षा हमे दो वस्तुओं की उत्पादन लागतों के अन्तरों की जाँच करनी चाहिए जो साधन आय (factoral income) को निश्चित करते हैं तथा इनके द्वारा दो व्यापारिक क्षेत्रा मे उन वस्तुओ की माँग के स्तर को निश्चित किया जाता है। वास्तव मे प्रो ओहलिन यहाँ पर वस्तुओं की कीमतें (जो कि उत्पादन लागतो पर निर्भर करती हैं), *उत्पत्ति के साधनों की कीमतें, उत्पादन साधनो की आय, वस्तुओ की माँग तथा साधनो की कुल माँग एव पूर्ति की पारस्परिक निर्भरता को प्रस्तुत करते हैं।*

ओहलिन के अनुसार सामान्य मूल्य-सिद्धान्त, एक बाजार सिद्धान्त है तथा समय तत्व पर बल देता है। इसके विपरीत, अन्तर्क्षेत्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के इस परम्परागत सिद्धान्त के द्वारा स्थान तत्व की अवहेलना की गयी है। ओहलिन के मत मे स्थान व्यापार मे एक विशेष महत्वपूर्ण तत्व है, क्योकि वस्तुओ तथा साधनो की गतिशीलता स्थान तत्व द्वारा सीमित होती है। अत विभिन्न बाजारो म मूल्य का निर्धारण एक साथ माना जाना चाहिए। सक्षेप म लौकिक (conventional) 'एक बाजार सिद्धान्त' की जगह ओहलिन का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त एक 'बहु-बाजार मूल्य सिद्धान्त' को महत्व देता है।

एली हैक्शर का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विचार[1]
(Eli Heckscher's Approach to International Trade)

ओहलिन की पुस्तक के प्रकाशन के पहले एली हैक्शर ने 1919 में एक लेख लिखा था, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रभाव, विशेष रूप से भूमि, पूँजी तथा श्रम के बीच आय के वितरण का उल्लेख था। हैक्शर ने सबसे पहले विभिन्न देशों में तुलनात्मक लागतों के अन्तर के कारण की विवेचना करने का प्रयास किया। यदि दो देशों में उत्पादन के साधनों की सापेक्ष दुर्लभता समान है तो उन दोनों देशों में साधनों की सापेक्ष कीमतें भी समान होंगी तथा "उनके बीच विदेशी व्यापार असम्भव होगा।" हैक्शर ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यक शर्तों को इस प्रकार वर्णित किया है : (i) भिन्न-भिन्न सापेक्ष दुर्लभता, अर्थात् विनिमय की स्थितियों में उत्पादन के साधनों की सापेक्ष कीमतों में भिन्नता, तथा (ii) विभिन्न वस्तुओं में प्रयुक्त उत्पादन के साधनों के बीच अनुपातों में भिन्नता। हैक्शर ने यह भी मान लिया था कि यह अनुपात (सामान्यतः आगत निर्गत गुणक के रूप में) अपरिवर्तनीय रहते हैं।

हैक्शर का मत है कि एक ओर विदेशी व्यापार उत्पादन के उन साधनों की बढ़ती हुई दुर्लभता को उत्पन्न करता है जो कि अन्यथा आयातित वस्तुओं के उत्पादन में प्रयोग किये जा सकते थे। अस्तु, यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या साधनों की दुर्लभता में होने वाली वृद्धि अथवा कमी एक साथ साम्य उत्पन्न करती है? तथापि उन्होंने (हैक्शर ने) एक उदाहरण से यह बताया कि विदेशी व्यापार से एक नया साम्य तथा आय का पुनर्वितरण उत्पन्न हो जाता है।

हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त
[HECKSCHER-OHLIN THEORY]

जैसा कि हम वर्णन कर चुके हैं, बर्टिल ओहलिन एक बहु-बाजार मूल्य सिद्धान्त पर बल देते हैं जब कि एली हैक्शर उत्पादन के साधनों की सापेक्ष दुर्लभता का महत्व देते हैं जिससे कि साधनों की सापेक्ष कीमतों में अन्तर उत्पन्न होते हैं तथा जो तुलनात्मक लागतों के अन्तरों को उत्पन्न करते हैं जो कि विदेशी व्यापार का मुख्य कारण है। हैक्शर-ओहलिन प्रमेय इन विचारों को एक साथ प्रदर्शित करती है। यह प्रमेय इस बात पर आधारित है कि विदेशी व्यापार उस स्थिति में उत्पन्न होता है जबकि विभिन्न देशों में साधन-दत्तें (factor endowments) अलग-अलग हैं। कुछ देशों में पूँजी अधिक है तो अन्य देशों में श्रम अधिक है। अब हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त (Heckscher-Ohlin Theory) यह बताता है कि वे देश जहाँ पूँजी की बहुतायत है प्रायः पूँजी-प्रधान वस्तुओं का निर्यात करेंगे तथा वे देश, जो अधिक श्रम रखते हैं, श्रम-प्रधान वस्तुओं का निर्यात करेंगे।

हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त की मान्यताएँ
(Assumptions of the Heckscher-Ohlin Theory)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारणों तथा प्रभावों का विश्लेषण करने के लिए हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त एक दो-वस्तु, दो-साधन तथा दो-देश का मॉडल प्रस्तुत करता है। हैक्शर-ओहलिन साधन-मूल्य समानीकरण सिद्धान्त निम्न मान्यताओं पर आधारित है :[2]

(1) सभी साधनों एवं वस्तुओं के बाजारों में पूर्ण प्रतियोगिता (perfect competition) विद्यमान है। इसका तात्पर्य यह है कि साधन तथा वस्तु कीमतों को इस प्रकार निश्चित किया जाता है कि दोनों देशों में साधनों के पूर्ण रोजगार की स्थिति कायम रहे।

(2) हमारे दो देशों, दो वस्तुओं व दो साधनों के मॉडल में उत्पादन-फलन इस प्रकार निर्धारित है कि एक वस्तु सदैव श्रम-प्रधान है, जबकि दूसरी पूँजी-प्रधान है, परन्तु श्रम अथवा पूँजी की प्रधानता साधनों के मूल्य-अनुपात (price-ratio) पर नहीं, अपितु वस्तु की प्रकृति पर निर्भर है।

---

1 Eli Heckscher, "*The Effect of Foreign Trade on the Distribution of Income*" reprinted in American Economic Association's *Readings in the Theory of International Trade* (1950).

2 अधिक विस्तृत जानकारी के लिए देखिए, Bo Sodersten, *International Economics*, (1970), pp 64-66.

(3) दो देशों में दोनों वस्तुओं की केवल उत्पादन-लागत को जाँचा जाता है। दूसरे शब्दों में, वस्तुओं की परिवहन-लागतें शून्य हैं।

(4) तुलनात्मक लाभ के बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण अपूर्ण रहता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक देश में दोनों वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है, यद्यपि अधिक उत्पादन उस वस्तु का किया जाता है जिसमें प्रचुर एवं सस्ते साधन का अपेक्षाकृत अधिक उपयोग होता हो। अतिरिक्त मात्रा में उपलब्ध वस्तु का निर्यात करके वह वस्तु आयात की जाती है जिसके उत्पादन हेतु दुर्लभ एवं महँगे साधन की अपेक्षाकृत अधिक आवश्यकता हो।

(5) दोनों पक्षों में दोनों ही वस्तुओं के उत्पादन-फलन एक डिग्री के समरूप हैं (homogeneous production function of degree one)। अर्थात् दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन पैमाने के समता प्रतिफल के अनुरूप प्राप्य है। ऐसी स्थिति में साधनों में परस्पर प्रतिस्थापनता सीमित हो जाती है। परन्तु दोनों देशों में विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन फलन भिन्न-भिन्न होते हैं।

(6) प्रत्येक साधन की सभी इकाइयाँ समरूप (homogeneous) हैं परन्तु साधन की उपलब्ध मात्रा विभिन्न देशों में भिन्न है।

(7) साधनों की संख्या अर्थ-व्यवस्था में उत्पन्न की जाने वाली वस्तुओं की संख्या के समान है।

(8) उत्पादन के साधन एक देश में पूर्ण रूप से गतिशील होते हैं परन्तु दो देशों के बीच वे गतिशील नहीं होते।

(9) व्यापार में अनेक प्रकार की बाधाएँ (impediments) तथा यातायात लागतें अनुपस्थित होती हैं। अतः उत्पत्ति कीमतों का निर्धारण पूर्ण रूप से साधन-लागतों द्वारा होता है।

(10) दो देशों में विभिन्न वस्तुओं के लिए उपभोक्ता की इच्छाएँ (consumer preferences) तथा माँग फलन (demand functions) समान (identical) होते हैं।

(11) साधनों की सापेक्ष पूर्ति दो देशों में भिन्न होनी चाहिए। यह इस सिद्धान्त की एक आवश्यक शर्त है। मान लीजिए कि देश A और B हैं तथा इनके पास स्थित साधन पूँजी (K) व श्रम (L) के रूप में हैं। ऐसी स्थिति में,

$$\frac{K}{L} \text{ in } A \neq \frac{K}{L} \text{ in } B$$

या

$$\frac{K}{L} \text{ in } A \gtrless \frac{K}{L} \text{ in } B$$

(12) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रारम्भ होने की पर्याप्त शर्त यह है कि विभिन्न वस्तुओं की उत्पादन प्रक्रिया में उपयुक्त साधनों का अनुपात भिन्न होना चाहिए परन्तु एक ही वस्तु के उत्पादन हेतु दोनों देशों में साधनों का अनुपात वही रखना चाहिए। यदि दो देश A व B हों, तथा दो वस्तुएँ X तथा Y हों तो

$$\frac{K}{L}(X) \text{ in } A = \frac{K}{L}(X) \text{ in } B$$

या

$$\frac{K}{L}(Y) \text{ in } A = \frac{K}{L}(Y) \text{ in } B$$

लेकिन

$$\frac{K}{L}(X) \neq \frac{K}{L}(Y)$$

(13) उत्पादन के एक साधन के सन्दर्भ में तो सीमान्त उत्पादकता घटती है परन्तु सभी साधनों में आनुपातिक परिवर्तन करने पर पैमाने का समान प्रतिफल प्राप्त होता है।

(14) उत्पादन के साधनों की मात्राएँ दोनों देशों में स्थिर हैं। भूमि के अतिरिक्त श्रम व पूँजी की मात्रा स्थिर होने का अर्थ यह है कि जनसंख्या एवं पूँजी-स्टाक की शुद्ध वृद्धि-दर शून्य मानी

जाती है। नवीन पूँजी निर्माण की इस कारण इस सिद्धान्त मे उपेक्षा कर दी जाती है। यही नही, यह भी माना जाता है कि उत्पादन साधनों का पूर्ण उपयोग हो रहा है।

उपर्युक्त हैक्शर-ओह्लिन सिद्धान्त की मान्यताओं मे से सबसे महत्वपूर्ण मान्यता यह है कि दो देशो मे साधन-देनें (factor endowments) अलग-अलग हैं। यदि देश A मे पूंजी की बहुतायत है तो यह पूँजी-प्रधान वस्तुओं के उत्पादन मे विशिष्टता प्राप्त कर उसका निर्माण करेगा। इसके विपरीत श्रम-प्रधान देश श्रम-प्रधान वस्तुओं का निर्यात करेगा। अतः यहाँ पर यह उचित होगा कि पहले हम साधन-प्रचुरता (factor abundance) को परिभाषित करें तथा बाद मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त का विस्तृत विश्लेषण करें।[1]

हैक्शर-ओह्लिन सिद्धान्त की गणितीय व्याख्या

मान लीजिए A के उत्पादन मे a_1 इकाई श्रम की तथा b_1 इकाई पूंजी की प्रयुक्त की जाती है। इसी प्रकार, B के उत्पादन में a_2 तथा b_2 इकाइयों का क्रमशः श्रम व पूंजी के रूप मे प्रयोग होता है। अस्तु, A व B के उत्पादन मे श्रम व पूँजी का प्रयोग इस प्रकार होगा :

$$L_1 = a_1 A \text{ तथा } K_1 = b_1 A$$

तथा,

$$L_2 = a_2 B \text{ तथा } K_2 = b_2 A$$

कुल श्रम व पूँजी की उपलब्धि इस प्रकार है :

$$\overline{L} = L_1 + L_2 = a_1 A + a_2 B$$

एवं

$$\overline{K} = K_1 + K_2 = b_1 A + b_2 B$$

इन समीकरणों को हल करने पर निम्न हल प्राप्त होंगे :

$$B = \frac{\overline{L}}{a_2} - \left(\frac{a_1}{a_2}\right)^A$$

तथा

$$B = \frac{\overline{K}}{b_2} - \left(\frac{b_1}{b_2}\right)^A$$

जब $\frac{a_1}{a_2} > \frac{b_1}{b_2}$ हो, तब यह मानना होगा कि श्रम की सीमा रेखा का ढलान अधिक होगा। इसी स्थिति को निम्न रूप मे भी लिखा जा सकता है :

$\frac{b_2}{a_2} > \frac{b_1}{a_1}$ जो वस्तुतः A व B की प्रत्येक इकाई प्रयुक्त पूँजी/श्रम के अनुपात हैं।

इन्हे हम K_1 व K_2 की संज्ञा भी दे सकते है।

जब श्रम की सीमा रेखा का ढलान अधिक है क्योंकि $K_2 > K_1$ (B वस्तु मे) तो यह कहा जा सकता है कि B वस्तु A वस्तु की तुलना मे अधिक पूँजी प्रधान तकनीक पर आधारित है।

यदि उपलब्ध $\overline{L}$ व $\overline{K}$ का पूरा उपयोग करना हो तो क्रमशः A व B की मात्राओं को निम्न प्रकार ज्ञात किया जा सकता है :

$$A = \frac{b_2\overline{L} - a_2\overline{K}}{a_1 b_2 - a_2 b_1}$$

तथा

$$B = \frac{a_1\overline{K} - b_1\overline{L}}{a_1 b_2 - a_2 b_1}$$

---

1 *Ibid.*, pp. 66-70.

परन्तु जब $b_2/a_2 > b_1/a_1$ हैं तो

$a_1b_2 > a_2b_1$ होगा। ऐसी दशा में पूंजी (K) में वृद्धि होने पर B का उत्पादन बढ़ेगा जबकि A का उत्पादन कम होगा।

भौतिक रूप में साधन-प्रचुरता
[FACTOR-ABUNDANCE DEFINED IN PHYSICAL TERMS]

यदि साधन की सापेक्ष प्रचुरता को दो साधनों जैसे पूंजी (K) तथा श्रम (L) के अनुपात के रूप में परिभाषित किया जाता है तो एक देश A उस स्थिति में पूंजी-प्रधान होगा जबकि

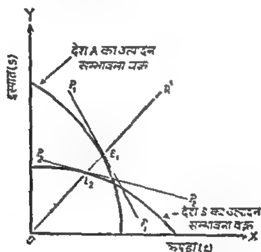
$$\frac{K_A}{L_A} > \frac{K_B}{L_B} \qquad (5\text{—}1)$$

जिसमें K तथा L क्रमशः पूंजी तथा श्रम की उपस्थित कुल मात्रा को प्रदर्शित करते हैं, जबकि नीचे के लेख (subscripts) A तथा B क्रमशः दो देशों को प्रदर्शित करते हैं।

इसी प्रकार देश A में श्रम की सापेक्ष दुर्लभता को निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :

$$\frac{L_A}{K_A} < \frac{L_B}{K_B} \qquad (5\text{—}2)$$

देश A की श्रम की सापेक्ष दुर्लभता (अर्थात् समीकरण 5-2) को दूसरे शब्दों में देश B की श्रम की सापेक्ष-प्रचुरता भी कहा जा सकता है।



रेखाचित्र 5 1—भौतिक रूप में साधन-प्रचुरता

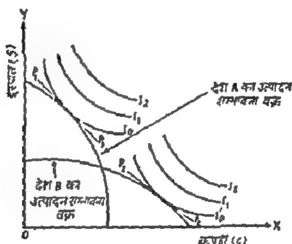
एक साधन की सापेक्ष प्रचुरता अथवा सापेक्ष दुर्लभता की दी हुई उपर्युक्त स्थिति में यह आसानी से कहा जा सकता है कि देश A पूंजी-प्रधान वस्तु के उत्पादन की ओर अग्रसर होगा जबकि देश B श्रम प्रधान वस्तु के उत्पादन को महत्व देगा।

रेखाचित्र 5 1 में यह माना गया है कि इस्पात एक पूंजी-प्रधान वस्तु है तथा कपड़ा एक श्रम प्रधान वस्तु है। यदि दोनों देशों को इस्पात तथा कपड़े का समान अनुपात में OR' उत्पादन रेखा पर उत्पादन करना पड़ता है तो देश A का उत्पादन बिन्दु E_1 होगा जबकि देश B का उत्पादन बिन्दु E_2 होगा। क्योंकि E_1 तथा E_2 बिन्दुएं क्रमशः देश A तथा देश B के उत्पादन सम्भावना वक्रों पर हैं। E_1 बिन्दु पर देश A की उत्पादन सम्भावना वक्र का ढाल E_2 बिन्दु पर देश B की उत्पादन सम्भावना वक्र के ढाल से अधिक है। इससे यह तात्पर्य होता है कि A देश के लिए कपड़े के उत्पादन की सापेक्ष सीमान्त लागत B देश के लिए कपड़े के उत्पादन की सीमान्त लागत से अधिक है। संक्षेप में, यदि दो देशों में उत्पादन क्रमशः E_1 तथा E_2 बिन्दुओं पर किया जाता है

तो देश A में इस्पात अधिक सस्ता उत्पादित किया जायेगा जबकि देश B में कपड़ा अधिक सस्ता उत्पन्न होगा।

इसी प्रकार के परिणाम सम-आगम वक्रों (P_1P_1 देश A के लिए तथा P_2P_2 देश B के लिए) के ढाल को देखकर बनाये जा सकते हैं। P_1P_1 का ढाल P_2P_2 के ढाल से अधिक है, जो यह स्पष्ट करता है कि देश A में इस्पात के उत्पादन से विस्तार की अवसर लागत देश B की तुलना में कम है, तथा इसके विपरीत स्थिति कपड़े के उत्पादन की है। इससे स्पष्ट होता है कि देश A (पूंजी प्रधान) इस्पात का अधिक उत्पादन करेगा क्योंकि इस्पात एक पूंजी-प्रधान वस्तु है। इसके विपरीत, देश B (श्रम-प्रधान) कपड़े का अधिक उत्पादन करेगा क्योंकि कपड़ा एक श्रम-प्रधान वस्तु है।

इस बात को बताने के लिए पूंजी-प्रधान देश A श्रम-प्रधान वस्तु, कपड़े का निर्यात करेगा तथा श्रम-प्रधान देश B पूंजी-प्रधान वस्तु इस्पात का निर्यात करेगा, हम रेखाचित्र 5 2 में समाज के तटस्थता वक्रों के दो समूह, I_0, I_1, I_2 आदि देश A के लिए तथा I'_0, I_1', I_2', आदि देश B के



रेखाचित्र 5·2—उत्पादन झुकाव (Bias) पर माँग-तत्वों का प्रभाव

लिए लेते हैं। जबकि देश A में उत्पादन का झुकाव (bias) इस्पात के लिए तथा देश B में उत्पादन का झुकाव कपड़े के लिए है, उनके माँग फलनो (demand functions) का झुकाव भी उन्हीं वस्तुओं के लिए है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अनुपस्थिति में यदि दो देशों में उपभोग और उत्पादन को देखा जाता है तो देश A में इस्पात देश B की तुलना में अधिक महँगा होगा। इस बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि देश B में सम-आगम रेखा (iso-revenue curve) देश A की तुलना में अधिक ढाल लिये होगी, अर्थात्,

$$\frac{C}{S} \text{ in } A < \frac{C}{S} \text{ in } B \qquad (5-3)$$

जिसमें C तथा S क्रमश: कपड़े तथा इस्पात की मात्राएँ हैं।

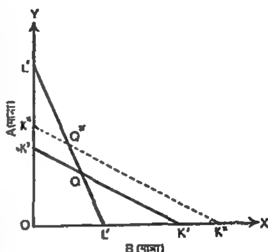
दो देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्थिति में, देश A कपड़े का तथा देश B इस्पात का निर्यात करेगा। संक्षेप में, विदेशी व्यापार के कारण एक पूंजी-प्रधान देश श्रम-प्रधान वस्तु का निर्यात करता है जबकि एक श्रम-प्रधान देश पूंजी-प्रधान वस्तु का निर्यात करता है। अब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का हैक्शर-ओह्लिन सिद्धान्त इस बात की पुष्टि करता है कि उत्पादन का झुकाव (bias) माँग के तत्वों (demand factors) द्वारा प्रभावित (offset) किया जा सकता है तथापि हैक्शर-ओह्लिन व्यापार मॉडल का सामान्य रूप (generalised form) सिर्फ यह बताता है कि एक पूंजी-प्रधान देश पूंजी-प्रधान वस्तु का निर्यात करेगा जबकि एक श्रम-प्रधान देश श्रम-प्रधान वस्तु का निर्यात करेगा। इसकी विवेचना हम आगे करेंगे।

रिबजिस्की प्रमेय (The Rybcznski Theorem)

यदि पूंजी की पूर्ति बढ जाय तो रूपान्तरण वक्र का विवर्तन हो जायगा। इसके फलस्वरूप पूर्ण रोजगार वाला बिन्दु भी परिवर्तित हो जायेगा। इस परिवर्तन को रिबजिस्की प्रमेय की संज्ञा दी जाती है। इस प्रमेय के अनुसार :

जब उपलब्ध साधनों का पूर्ण उपयोग हो रहा हो तथा आदा-प्रदा गुणांक स्थिर हो तो उत्पादन के एक साधन की पूर्ति में वृद्धि होने पर उस वस्तु का उत्पादन बढता है जिसमे उस साधन का अधिक गहनता से प्रयोग किया जाता है, जबकि दूसरी वस्तु के उत्पादन मे कम हो जाती है।

उपर्युक्त चित्र मे श्रम व पूंजी की प्रारम्भिक मात्राऐं क्रमश $L'L'$ व $K'K'$ थी तथा आदा-प्रदा गुणांको के अनुरूप A व B का उत्पादन-सम्भावना वक्र $OKQL'$ था। जैसा कि चित्र मे बतलाया गया है, पूंजी की मात्रा बढने पर नया उत्पादन-सम्भावना वक्र $OKQL'$ हो जाता है जिसमे पूर्ण रोजगार वाले उत्पादन सयोग मे A का उत्पादन अधिक होगा तथा B का कम क्योकि A पूंजी-प्रधान तकनीक पर आधारित है।



रेखाचित्र 5·3—रिबजिस्की प्रमेय

यही रिबजिस्की प्रमेय वस्तुतः हैक्शर-ओहलिन मॉडल का आधार है।

साधन-कीमतों के रूप में साधन-प्रचुरता
[FACTOR-ABUNDANCE DEFINED BY FACTOR PRICES]

यहाँ यह मान लिया गया है कि साधन प्रचुरता से तात्पर्य उस साधन की तुलनात्मक कम कीमत से है। यदि देश A देश B की तुलना मे अधिक पूंजी-प्रधान है तो इसका यह अर्थ होगा कि देश A मे पूंजी सस्ती है तथा देश B मे पूंजी कीमती (costlier) है। इसके विपरीत, देश B मे श्रम देश A की तुलना मे सस्ता होगा। हमने अपने पिछले विश्लेषण मे साधन प्रचुरता को पूंजी-श्रम (अथवा श्रम-पूंजी) अनुपात के आधार पर परिभाषित किया था।

ओहलिन ने साधन-प्रचुरता को साधन-कीमतो के आधार पर परिभाषित किया है। उसके अनुसार, देश A मे पूंजी की प्रचुरता होगी यदि

$$\frac{P_{AK}}{P_{AL}} < \frac{P_{BK}}{P_{BL}} \qquad (5—4)$$

जिसमे P_{AK} = देश A मे पूंजी की कीमत
P_{AL} = देश A मे श्रम की कीमत
P_{BK} = देश B मे पूंजी की कीमत
P_{BL} B = देश B मे श्रम की कीमत

दूसरे शब्दो मे, देश A मे पूंजी की प्रचुरता उस समय होगी जबकि उस देश A मे ब्याज-मजदूरी अनुपात देश B की तुलना के कम हो। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि P_L = श्रम की कीमत अथवा मजदूरी है तथा P_K = पूंजी की कीमत अथवा ब्याज है। नीचे के लेख (subscripts) A तथा (B) क्रमशः दो देशों का वर्णन करते हैं।

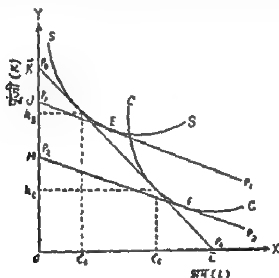
यह बताने के लिए कि पूंजी-प्रधान देश (A) पूंजी-प्रधान वस्तु का निर्यात करेगा तथा श्रम-प्रधान देश (B) श्रम-प्रधान वस्तु का निर्यात करेगा, रेखाचित्र 5 4 मे हमने दो सम-उत्पाद

रेखाओं SS तथा CC को लिया है। जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त की यह मान्यता है कि दोनों देशों में उत्पादन फलन समान है। अतः रेखाचित्र 5·4 में दोनों सम-उत्पाद रेखाएँ (isoquants) SS तथा CC दोनों देशों में समान हैं तथा इनको इस प्रकार बनाया गया है कि कपड़ा (जैसे CC वक्र से दिखाया गया है) एक श्रम-प्रधान वस्तु है जबकि इस्पात (जिसे SS वक्र से दिखाया गया है) एक पूंजी-प्रधान वस्तु है। पूंजी-प्रधान देश A की तुलनात्मक साधन-कीमतों (relative factor prices) को P_0P_0 वक्र पर दिखाया गया है।

अब हम यह मान लेते हैं कि प्रत्येक सम उत्पाद वक्र कपड़े की 1 इकाई CC के अन्तर्गत तथा इस्पात की 1 इकाई SS के अन्तर्गत प्रदर्शित करते हैं। तब, दिये हुए साधन-कीमत अनुपात की स्थिति में इस्पात की इकाई का उत्पादन करने के लिए श्रम की Ol_s इकाइयों तथा पूंजी की Ok_s इकाइयों की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार कपड़े की एक इकाई के उत्पादन के लिए दिये हुए साधन-कीमत अनुपात पर श्रम की Ol_c तथा पूंजी की Ok_c इकाइयों की आवश्यकता होगी।

किन्तु, पूंजी तथा श्रम को एक अनुपात द्वारा स्थानापन्न किया जा सकता है जिसे रेखाचित्र में P_0P_0 वक्र द्वारा दिखाया गया है। अतः श्रम की Ol_s इकाई पूंजी की k_s K इकाइयों के बराबर हैं तथा पूंजी की Ok_s इकाइयां श्रम की l_s L इकाइयों के बराबर है।

रेखाचित्र 5·4 में KL रेखा को लागत रेखा (cost line) भी कहा जा सकता है। लागत रेखा $\overline{K}$ $\overline{L}$ यह बताती है कि इस्पात अथवा कपड़े की एक इकाई का उत्पादन या तो पूंजी की $\overline{OK}$ इकाइयों के द्वारा किया जा सकता है, अथवा श्रम की $\overline{O}$ $\overline{L}$ इकाइयों द्वारा किया जा सकता है, अथवा $\overline{K}$ $\overline{L}$ रेखा पर श्रम एवं पूंजी के किसी भी सम्बद्ध अनुपात की सहायता से किया जा सकता है। पुनः यह स्थिति दोनों देशों में लागू हो सकती है, क्योंकि सिद्धान्त की मान्यता के अनुसार दोनों देशों में उत्पादन फलन समान हैं।



रेखाचित्र 5·4—साधन-कीमतों के रूप में साधन प्रचुरता

हम यह मान चुके हैं कि देश A पूंजी-प्रधान है, जबकि देश B में सापेक्ष रूप से श्रम की प्रचुरता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि देश B में देश A से प्रचलित कीमतों की तुलना में पूंजी तुलनात्मक दृष्टि से महँगी है तथा श्रम तुलनात्मक दृष्टि से सस्ता है। अब देश B की साधन-कीमत अनुपात रेखा का ढाल P_0 P_0 रेखा के ढाल से कम होगा।

एक सम्भावित साधन-कीमत रेखा P_1 P_1 हो सकती है। यह रेखा सम उत्पाद वक्र SS को E बिन्दु पर स्पर्श करती है। इसके (P_1P_1) समानान्तर एक दूसरी साधन-कीमत रेखा P_2P_2 है जो सम-उत्पाद रेखा CC को F बिन्दु पर स्पर्श करती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि देश

B मे इस्पात की एक इकाई का उत्पादन करने की लागत OJ पूंजी के बराबर है, जबकि एक इकाई कपडे का उत्पादन करने की लागत OM पूंजी के बराबर है। इस प्रकार, देश B म एक दी हुई स्पात की इकाई का उत्पादन करना उसके बराबर कपडे की मात्रा का उत्पादन करने की तुलना मे अधिक महँगा (expensive) होगा।

यदि दो देशो मे उत्पादन लागतो की तुलना की जाय तो हम यह पाते हैं कि देश मे इस्पात का उत्पादन करना सापेक्ष रूप मे सस्ता होगा तथा देश B मे कपडे का उत्पादन करना सापेक्ष रूप मे सस्ता होगा। इसमे यह पता लगता है कि पूंजी-प्रधान देश पूंजी-प्रधान वस्तु अर्थात् स्पात के उत्पादन मे विशिष्टता अपनावेगा तथा श्रम-प्रधान देश श्रम-प्रधान वस्तु अर्थात् कपडे के उत्पादन मे विशिष्टता अपनायेगा। अस्तु देश A इस्पात का अधिक उत्पादन करेगा तथा उसका निर्यात करगा, जबकि देश B (श्रम-प्रधान दश) कपडे का निर्यात करेगा। यह निष्कर्ष हैक्शर-ओहलिन प्रमेय की व्याख्या करता है जिसके अनुसार, एक देश जिसमे पूंजी की प्रचुरता हो पूंजी-प्रधान वस्तु का निर्यात करेगा तथा श्रम-बाहुल्य वाला देश श्रम-प्रधान वस्तु का निर्यात करेगा।

हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त की व्याख्या

प्रतिष्ठित एव नव-प्रतिष्ठित सिद्धान्त की तुलना मे हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त उत्पादन के साधनो की उपलब्ध मात्राओ के अन्तर पर बल देता है। इसी तथ्य को इस रूप म भी व्यक्त किया जा सकता है कि साधनो के मूल्य भी इनकी पूर्ति के अनुरूप भिन्न होगे। जो साधन किसी देश मे प्रचुर मात्रा म है उसका मूल्य अथवा लागत दुर्लभ साधन के मूल्य की तुलना मे कम होना चाहिए। इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि यथासम्भव प्रत्येक देश उत्पादन की विधि को भी इस प्रकार से समायोजित करेगा कि प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध परन्तु कम मूल्य वाले साधन का अपेक्षाकृत अधिक उपयोग किया जाय। उदाहरण के लिए, भारत मे श्रम का बाहुल्य होने के कारण पूंजी की अपेक्षा श्रम सस्ता है और इस कारण इस सिद्धान्त के अनुसार यहाँ श्रम-उद्योग टैक्नोलॉजी का उपयोग किया जाना चाहिए।

विभिन्न वस्तुओ के उत्पादन हेतु उत्पादन के साधनो के अनेक सयोग (combination) लिये जा सकते है, परन्तु इष्टतम सयोग का निर्धारण साधनो के सापेक्ष मूल्यो (साधनो के मूल्यो का अनुपात) द्वारा ही होगा। अब हम उत्पादन-फलन के माध्यम मे इस सिद्धान्त की व्याख्या करेंगे।

चूँकि हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त मे दो वस्तुएँ तथा दो ही साधन लिये गये हैं, अत. दोनो वस्तुओ के उत्पादन फलन का फलनिक रूप (functional form) इस प्रकार होगा .

$$Q_x = f(K, L)$$
$$Q_y = F(K, L)$$

इनमे Q_x व Q_y दोनो वस्तुओ की मात्रा K L क्रमश पूंजी व श्रम हैं। परन्तु जैसा कि ऊपर बताया गया है, X व Y के उत्पादन मे साधनो के अनुपात भिन्न हैं, अर्थात्

$$\frac{L}{K_x} \neq \frac{L}{K_y}$$

यदि X श्रम-प्रधान एव Y पूंजी-प्रधान वस्तु है, तो

$$\frac{L}{K_x} > \frac{L}{K_y}$$

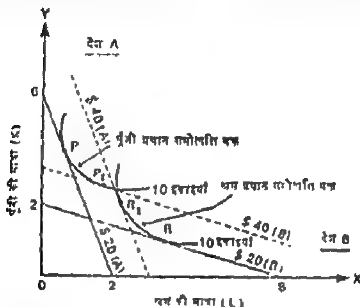
परन्तु X के उत्पादन मे दोनो देशो का साधनो का अनुपात वही है, अत

$$\frac{L}{K}(Y) \text{ in } A = \frac{L}{K}(X) \text{ in } B$$

एव

$$\frac{L}{K}(Y) \text{ in } A = \frac{L}{K}(Y) \text{ in } B$$

यह मानते हुए कि A में पूँजी प्रचुर मात्रा में विद्यमान है तथा B में श्रम का बाहुल्य है, हम यह कह सकते हैं कि पूँजी सस्ती होने के कारण A में पूँजी-प्रधान (capital-intensive) उत्पादन-विधि प्रयुक्त होगी जबकि श्रम सस्ता होने के कारण B में श्रम-प्रधान (labour-intensive) उत्पादन-विधि का उपयोग होगा। रेखाचित्र 5·5 इसी मान्यता को लेकर प्रस्तुत किया गया है।



रेखाचित्र 5·5—साधनों की भिन्नता एवं उत्पादन प्राविधियाँ

रेखाचित्र 5·5 के अनुसार—

(i) A देश में श्रम की इकाई का मूल्य पूँजी की तीन इकाइयों के समान है क्योंकि यहाँ पूँजी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है; अस्तु,

$$P_l : P_k = 1 : 3 \; ; \; 1L = 3K$$

(ii) इसके विपरीत B देश में पूँजी की एक इकाई का मूल्य श्रम की चार इकाइयों के समान है क्योंकि यहाँ श्रम प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है; अस्तु, B देश के लिए—

$$P_l : P_k = 4 : 1 \; ; \; 4L = 1K$$

हैक्सर-ओहलिन सिद्धान्त के अनुसार A देश को पूँजी-प्रधान तथा B देश को श्रम-प्रधान उत्पादन-विधियों का उपयोग करना होगा। इस दृष्टि से वस्तु की 10 इकाइयों का उत्पादन करने हेतु A एवं B का साम्य-स्तर क्रमशः P एवं R बिन्दुओं पर होगा। ऐसी स्थिति में दोनों देश साधनों के न्यूनतम लागतयुक्त संयोग (least-cost combination of inputs) के अनुरूप उत्पादन का यह स्तर प्राप्त करेंगे। रेखाचित्र 5·5 में साम्य बिन्दुओं पर उत्पादन करने पर A व B को 10 इकाइयों के उत्पादन में 20 डालर की कुल लागत वहन करनी पड़ती है। परन्तु जैसा कि स्पष्ट है, P एवं R बिन्दुओं पर न्यूनतम लागतयुक्त उत्पादन सम्भव उस स्थिति में होता है जबकि A में पूँजी-प्रधान व B में श्रम-प्रधान उत्पादन-विधि प्रयुक्त की जाय।

अब मान लीजिए A में श्रम-प्रधान प्राविधि का उपयोग होने लगता है। उसका साम्य बिन्दु P से P_1 हो जायगा परन्तु ऐसी स्थिति में उत्पादन की मात्रा यही रहने पर भी लागत 20 डालर से बढ़कर 40 डालर हो जायगी। इसी प्रकार, यदि B में पूँजी-प्रधान प्राविधि का उपयोग करना चाहिए तो उसका साम्य-स्तर R से R_1 हो जायगा, परन्तु उत्पादन की मात्रा यही रहने पर भी लागत 20 डालर से बढ़कर 40 डालर हो जायगी। दूसरे शब्दों में हमारा निष्कर्ष यही होगा कि प्रकृति ने देश को जो साधन प्रचुर मात्रा में दिया है, वह सस्ता होगा तथा इस साधन का अधिक उपयोग किया जाकर ही न्यूनतम लागत पर उत्पादन किया जा सकता है। हैक्सर-ओहलिन

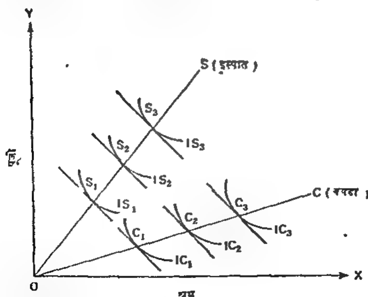
सिद्धान्त की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसके अनुसार प्रत्येक देश उस वस्तु का निर्यात करेगा जिसके उत्पादन में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध साधन का उपयोग होता हो। इसके विपरीत देश को वे वस्तुएँ आयात करनी चाहिए जिनके घरेलू उत्पादन हेतु अपेक्षाकृत दुर्लभ एवं महँगे साधनों का अधिक उपयोग किया जाता हो।

✓अस्तु, साधनों के उपयोग सम्बन्धी निर्णय साधनों की मात्रा एवं इनके सापेक्ष मूल्यों के आधार पर लिये जाते हैं। विभिन्न देशों में विशिष्टीकरण की प्रवृत्ति भी साधनों के मूल्यों पर निर्भर करती है, *और यही कारण है कि अलग-अलग वस्तुओं की उत्पादन-लागत भी अलग अलग* होगी। हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रारम्भ भी इसी आधार पर होगा कि किसी वस्तु को कोई देश उपलब्ध साधनों से न्यूनतम लागत पर क्याकर तैयार कर सकता है। जैसा कि ऊपर बताया गया है न्यूनतम लागत उस स्तर पर होगी जहाँ साधनों के सापेक्ष मूल्यों के आधार पर ही उत्पादन प्राविधि का चुनाव किया जाय।

उत्पादन सम्भावना तथा उत्पादन-फलन
[PRODUCTION POSSIBILITY AND PRODUCTION FUNCTION]

किण्डलबर्गर (Kindleberger) के मतानुसार उत्पादन-फलन साधनों की भौतिक इकाइयों तथा किसी वस्तु के भौतिक उत्पादन के बीच सम्बन्ध दर्शाने वाला विवरण है। यह सम्भव है कि *किसी वस्तु की निर्दिष्ट मात्रा का उत्पादन दोनों साधनों (श्रम व पूंजी अर्थात् L एवं K) की अलग-अलग* मात्राओं (संयोगों) के उपयोग से किया जा सके। मूल्य सिद्धान्त के अनुसार श्रम व पूँजी का न्यूनतम लागत वाला संयोग वह होगा जहाँ समोत्पत्ति वक्र का ढलाव (अर्थात् श्रम व पूंजी की सीमान्त उत्पादकता) साधन-मूल्यों के अनुपात के समान हो। हम यह भी जानते है कि साधनों में वृद्धि हो जाने पर फर्म अथवा देश वस्तु की अधिक इकाइयों का उत्पादन कर सकता है अर्थात् ऊँचे समोत्पत्ति वक्र पर साम्य स्थिति में पहुँच सकता है। यदि विभिन्न साम्य बिन्दुओं को मिला दिया जाय तो हमें जो वक्र प्राप्त होता है उसे विस्तार-मार्ग (expansion path) कहा जाता है। *उत्पादन-फलन की प्रकृति वही रहते हुए, अर्थात् श्रम व पूंजी के अनुपात को उत्पादन के विभिन्न* स्तरों पर स्थिर रखते हुए, जो विस्तार-मार्ग प्राप्त होता है वह मूल बिन्दु से एक सरल रेखा के रूप में होगा। दूसरे शब्दों में, पैमाने के प्रतिफल (returns to scale) के सन्दर्भ में विस्तार-माग मूल बिन्दु से एक सीधी रेखा के रूप में प्रस्तुत किया जायगा।

अब मान लीजिए किसी देश में कपड़ा एवं इस्पात, इन दो वस्तुओं के उत्पादन हेतु प्रयुक्त



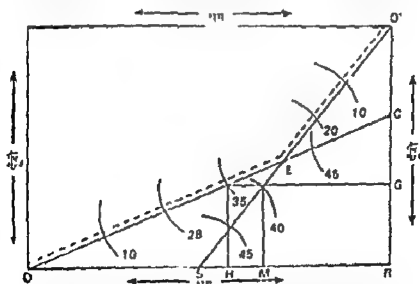
रेखाचित्र 5 6—कपड़े एवं इस्पात के उत्पादन का विस्तार-मार्ग

श्रम व पूँजी के अनुपातों में काफी अन्तर है। तदनुसार कपड़े के उत्पादन में श्रम-प्रधान प्राविधि की आवश्यकता होगी जबकि इस्पात के उत्पादन में पूँजी-प्रधान प्राविधि का उपयोग होगा। इसी कारण उत्तरोत्तर अधिक उत्पादन हेतु अनुकूलतम विस्तार-मार्ग भी भिन्न होंगे। रेखाचित्र 5·6 में OS इस्पात हेतु खींचा गया विस्तार-मार्ग है जबकि OC कपड़े के लिए प्रस्तुत विस्तार-मार्ग है। जैसा कि रेखाचित्र में OS तथा OC की दिशा को देखकर अनुमान लगाया जा सकता है, कपड़े की प्राविधि श्रम प्रधान होने के कारण इसके विस्तार-मार्ग का ढलाव इस्पात के विस्तार मार्ग की अपेक्षा बहुत कम है। चूँकि OS एवं OC दोनों सरल रेखाएँ हैं, इन दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन श्रम व पूँजी के स्थिर अनुपातों के आधार पर किया जायगा।

कपड़े के उत्पादन के विभिन्न स्तरों पर पूँजी व श्रम के इष्टतम संयोग वहीं होंगे जहाँ इनके समोत्पत्ति वक्र (IC_1, IC_2, IC_3 तथा IS_1, IS_2, IS_3) श्रम की मजदूरी एवं पूँजी के ब्याज (अर्थात् साधन-मूल्यों) के अनुपात के बराबर हों। रेखाचित्र 5·6 से स्पष्ट है कि ऊँचे समोत्पत्ति वक्र पर जाने अथवा अधिक उत्पादन करने पर भी श्रम व पूँजी के अनुपात स्थिर रहते हैं।

प्रश्न है, देश को यदि पूर्ण रूप से विशिष्टीकरण करना हो तो किस वस्तु में करे? इसके उत्तर में हमें यह देखना होगा कि देश के पास कौन-सा साधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। हैक्सर-ओहलिन सिद्धान्त के अनुसार यदि श्रम का बाहुल्य है तो यह देश कपड़े में पूर्ण विशिष्टता प्राप्त करेगा, और यदि पूँजी की उपलब्धि प्रचुर मात्रा में है तो विशिष्टीकरण इस्पात में होगा। प्रत्येक स्थिति में उसी साधन का अधिक उपयोग करके ही उत्पादन-लागत न्यूनतम की जा सकेगी।

रेखाचित्र 5·7 में हमने एजवर्थ-बाउली आयताकार चित्र (Edgeworth Bowley Box-diagram) में दोनों ही वस्तुओं के उत्पादन-फलनों (विस्तार-मार्गों) को एक साथ प्रस्तुत किया है। इस रेखाचित्र में OC कपड़े के उत्पादन का विस्तार-मार्ग है जबकि $O'S$ इस्पात के उत्पादन के विभिन्न स्तरों को प्रदर्शित करता है। हमारी मान्यता यह है कि देश के पास उपलब्ध श्रम की कुल मात्रा OR तथा पूँजी की कुल मात्रा RO' है। यदि देश में उपलब्ध समस्त श्रम का उपयोग कपड़े के उत्पादन हेतु कर लिया जाय तो RC इकाई पूँजी का उपयोग हो सकेगा तथा शेष पूँजी (CO')



रेखाचित्र 5·7—साधनों के स्थिर अनुपात एवं एजवर्थ बाउली आयताकार चित्र

बेकार पड़ी रहेगी। इसके विपरीत, यदि पूँजी-प्रधान वस्तु अर्थात् इस्पात के उत्पादन हेतु सारी पूँजी प्रयुक्त कर दें तो पूँजी का पूर्ण (RO') उपयोग होने पर भी RS इकाई श्रम का उपयोग हो सकेगा तथा शेष श्रम ($OR—RS = OS$) बेकार पड़ा रहेगा।[1] इस प्रकार पूर्ण विशिष्टीकरण की

[1] C बिन्दु पर पूँजी की तथा S बिन्दु पर इस्पात की सीमान्त उत्पादकता शून्य है क्योंकि ये बिन्दु क्रमशः कपड़े व इस्पात की प्राप्य अधिकतम मात्राओं को दर्शाते हैं।

स्थिति को साधनों के स्थिर अनुपातों के सन्दर्भ मे एक इष्टतम स्थिति नही माना जा सकता क्योकि ऐसी स्थिति मे एक साधन का पूर्ण उपयोग होने पर भी दूसरे साधन का एक अंश बेकार रहता है।

रेखाचित्र 5·7 मे वक्र *OEO* को रूपान्तरण वक्र (transformation curve) कहा जाता है जो श्रम व पूंजी दोनो के उपयोग द्वारा कपडे व इस्पात के विभिन्न सयोगो को प्रदर्शित करता है। परन्तु *OEO'* के सभी विन्दुओ पर उत्पादन के दोनो साधनों का पूर्ण उपयोग नही होता। वह आदर्श स्थिति (जबकि श्रम व पूंजी का पूर्ण उपयोग होता हो) *E* विन्दु पर प्राप्त होता है जहाँ *O'C* एव *O'S* परस्पर काटते हो। इस विन्दु पर न केवल श्रम व पूंजी का पूर्ण उपयोग होता है, अपितु दोनो साधनो की सीमान्त उत्पादकता भी धनात्मक है। *OEO'* पर *B* के अतिरिक्त सभी बिन्दुओ पर इष्टतम से नीचे की स्थिति होगी।

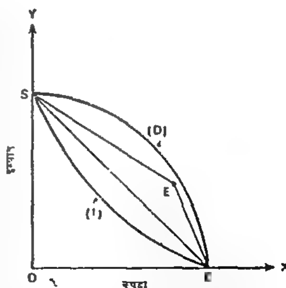
उदाहरण के लिए, *F* विन्दु पर 35 इकाइयां कपडे की तैयार होगी तथा इनके लिए *OH* इकाइयां श्रम की तथा *GR* इकाइयां पूंजी की प्रयुक्त की जायेंगी। इस स्तर पर 40 इकाइयां इस्पात की तैयारी करने हेतु *RM* इकाइयां श्रम की तथा *GO'* इकाइयां पूंजी की उपयोग मे ली जायेंगी। दोनो का योग करने पर उपलब्ध मात्राओ मे से श्रम व पूंजी का कुल उपयोग इस प्रकार होगा :

$$\text{श्रम} \quad OH+RN<OR$$
$$\text{पूंजी} \quad GR+GO'=RO'$$

अस्तु, *OEO'* पर *E* से पूर्व रहने पर पूंजी का पूर्ण उपयोग होने पर भी श्रम की कुछ मात्रा (*HM*) बेकार रहती है। दूसरे शब्दो मे, रूपान्तरण वक्र के केवल उसी विन्दु पर, जहाँ दोनो वस्तुओ के उत्पादन-फलन परस्पर काटते हो (अर्थात् रेखाचित्र 5·7 मे *E* विन्दु पर), श्रम व पूंजी का इष्टतम उपयोग होता है।

रेखाचित्र 5·7 मे रूपान्तरण वक्र श्रम एवं पूंजी की भौतिक इकाइयो को व्यक्त करता है। अब हम इन साधनो के उपयोग द्वारा प्राप्य इस्पात एव कपडे की भौतिक इकाइयों को रेखाचित्र 5·8 के माध्यम से प्रस्तुत करेंगे।

रेखाचित्र 5·8 मे एक सामान्य उत्पादन सम्भावना वक्र (normal production possibility curve) प्रस्तुत किया गया है जिसमे *E* बिन्दु पर किंक (kink) है। यदि उत्पादन सम्भावना वक्र को सरल रेखा *SC* के रूप में प्रस्तुत किया जाय तो यह इस बात का प्रतीक होगा कि कपडे की इस्पात में प्रतिस्थापन दर (rate of substitution) अथवा कपडे की इस्पात रूप मे अवसर लागत स्थिर है। दूसरे शब्दो मे, सीधी (सरल) रेखा के रूप मे प्रस्तुत उत्पादन सम्भावना वक्र दोनो ही वस्तुओ के लिए पैमाने का समता प्रतिफल (constant returns to scale) प्रदर्शित करता है। यदि इसके विपरीत उत्पादन सम्भावना वक्र मूल विन्दु से उन्नतोदर (convex to origin) हो (*I*), तो इसका यह आशय होगा कि कपडे की (इस्पात के रूप मे) अवसर लागत घटती जा रही है। ऐसा उस स्थिति मे होगा जब उत्पादन पैमाने मे वृद्धि प्रतिफल (increasing returns to scale) के आधार पर प्राप्त होता हो। यदि उत्पादन सम्भावना वक्र मूल विन्दु से नतोदर हो, (*D*) तो कपडे की (इस्पात के रूप मे) अवसर लागत बढ रही है। यह स्थिति पैमाने के ह्रास-प्रतिफल (diminishing returns to scale) की प्रतीक है।



रेखाचित्र 5·8—उत्पादन सम्भावना वक्र

साधन-मूल्य समानीकरण
[FACTOR-PRICE EQUALIZATION]

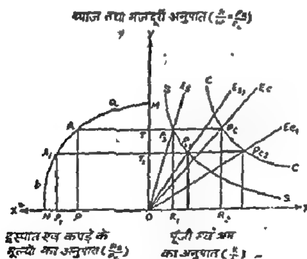
प्रोफेसर हैक्शर के प्रारम्भिक लेखों का उद्धरण देते हुए ओहलिन ने दो निष्कर्ष दिये :

(i) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वस्तुओं की मुक्त गतिशीलता (free mobility) तथा साधनों की पूर्ण गतिशीलता के परिणाम अन्ततः एक से होते हैं; तथा

(ii) वस्तुओं के मुक्त व्यापार (free trade) (आयात व निर्यात) के फलस्वरूप दोनों देशों में साधनों के मूल्यों में समानता हो जायेगी।

हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार केवल उस स्थिति में होता है जब उत्पादन के साधनों के सापेक्ष मूल्य दोनों देशों में भिन्न हों। दोनों देशों के मध्य व्यापार उस समय तक होगा जब तक साधनों के सापेक्ष मूल्यों का यह अन्तर विद्यमान रहे। दूसरे शब्दों में, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण सापेक्ष मूल्यों का यह अन्तर अन्ततः समाप्त हो जाता है। इसे हैक्शर-ओहलिन का साधन-मूल्य समानीकरण सिद्धान्त (H-O Factor Price Equalization Theorem) कहते हैं। इस प्रमेय का ज्यॉमितीय प्रमाण (geometrical proof) रेखाचित्र 5 9 में प्रस्तुत किया गया है।

रेखाचित्र 5·9 में *OY* अक्ष पर हम श्रम व पूंजी के मूल्यों के अनुपात अर्थात् मजदूरी व ब्याज की दरों के अनुपात को लेते हैं जबकि इन मूल्य-अनुपातों के अनुरूपी साधनों के अनुपातों को *OX* अक्ष पर लिया गया है। दूसरे शब्दों में, *OX* अक्ष पर साधनों के सापेक्ष मूल्यों की अनुरूपी सापेक्ष मात्राएँ ली गयी हैं। *OX** अक्ष पर इस्पात एवं कपड़े के मूल्यों के अनुपात $\left(\frac{P_s}{P_c}\right)$ लिये गये हैं।



पैनल (अ) पैनल (ब)

रेखाचित्र 5·9—साधनों के मूल्यों का समीकरण

उपर्युक्त रेखाचित्र 5·9 का पैनल (ब) देखें। इसमें वक्र *SS* एवं *CC* क्रमशः इस्पात तथा कपड़े के समोत्पत्ति वक्र (isoproduct curves) हैं। ये वक्र इस्पात अथवा कपड़े की निर्दिष्ट मात्रा को दर्शाते हैं जिन्हें साधनों के सापेक्ष मूल्यों तथा उनकी मात्राओं के अनुपात के विभिन्न संयोगों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जैसा कि *OX* अक्ष से स्पष्ट है, प्रस्तुत विश्लेषण में इस्पात व कपड़े के उत्पादन हेतु पूंजी व श्रम के अनुपात $\left(\frac{K}{L}\right)$ को स्थिर (fixed factor proportions)

मान लिया जाता है। पैनल (अ) मे नतोदर (concave) वक्र MN कीमत अनुपात $\left(\frac{P_s}{P_c}\right)$ को प्रदर्शित करता है। इस वक्र की नतोदर शक्ल इस बात का द्योतक है कि उत्पादन की प्राप्ति ह्रासमान प्रतिफल (diminishing returns) के अन्तर्गत रही है जिसे इस तरह से भी व्यक्त किया जा सकता है कि a बिन्दु के दायीं ओर तथा b बिन्दु के बायीं ओर किसी वस्तु की बढती हुई पूर्ति को केवल उसकी कम कीमत पर ही बेचा (dispose) जा सकता है।

यदि हम यह मान लें कि बाजार मे इस्पात व कपडे के मूल्यो का अनुपात OP है तो इसके अनुरूप साधनो का मूल्य अनुपात A होगा। यदि A बिन्दु से एक रेखा OX अक्ष के समानान्तर खींची जाय तो यह रेखा इस्पात व कपडे के समोत्पत्ति वक्रो को क्रमश P_s व P_c पर काटेगी। यदि P_s व P_c बिन्दुओ को मूल बिन्दु O से मिला दिया जाय तो हमें दोनो के विस्तार मार्ग अथवा OE_s तथा OE_c ये दो उत्पादन किरण-रेखाएँ (production rays) प्राप्त होंगी। OE_s एव OE_c पर स्थिर विभिन्न बिन्दु क्रमश इस्पात एव कपडे की उन मात्राओ को दर्शाते हैं जो विभिन्न मूल्य-अनुपातो $\left(\frac{P_s}{P_c}\right)$ पर मांगी एव उत्पन्न की जायेंगी। OX अक्ष पर लम्ब डालकर मांग की इन मात्राओ के उत्पादन हेतु आवश्यक श्रम व पूंजी विभिन्न मात्राओ (स्थिर अनुपातो में) का पता लगाया जा सकता है। अस्तु इस्पात व कपडे के मूल्यो का अनुपात P होने पर जब साधनो के मूल्यो का अनुपात A के अनुरूप एव इस्पात तथा कपडे के उत्पादन का स्तर SS एव CC पर क्रमश P_s व P_c पर निर्धारित हो तो श्रम व पूंजी का अनुपात इस्पात व कपडे के उत्पादन हेतु क्रमश OR_1 एव OR_2 होगा। हमारी मान्यता यह है कि इस्पात व कपडे के इन उत्पादन-स्तरो पर उपलब्ध श्रम व पूंजी का पूर्ण उपयोग हो सकता, अर्थात्

$$OR_1 + OR_2 = R$$

उपर्युक्त स्थिति तभी लागू होगी जब यह मान लिया जाय कि कीमत अनुपात स्थिर रहता है। यह आवश्यक भी है क्योकि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत अत्यधिक क्षमता (excess capacity) उपस्थित नही रह सकती। अब प्रश्न है, कुल उत्पादन मे श्रम व पूंजी का योगदान कितना है? अथवा श्रम एव पूंजी का कितना-कितना पारितोषिक होगा? इसके लिए OY अक्ष देखिए जो कि ब्याज तथा मजदूरी अनुपात को प्रदर्शित करता है। OPc रेखा OY अक्ष को T बिन्दु पर काटती है जो कि पूंजी तथा श्रम के अश अथवा योगदान को प्रदर्शित करता है। T बिन्दु की केन्द्र बिन्दु O से ऊँचाई इस बात को अंकित करती है कि ब्याज-मजदूरी अनुपात $\left(\frac{r}{w}\right)$ इकाई से अधिक है अथवा इकाई से कम है। यदि इस बिन्दु पर ब्याज-मजदूरी का अनुपात इकाई से ज्यादा हो, अर्थात् $\frac{r}{w} > 1$ तो इसका यह अर्थ हुआ कि पूंजी का ब्याज श्रम की मजदूरी-दर की अपेक्षा अधिक है। यदि इसके विपरीत $\frac{r}{w} < 1$ हो, तो पूंजी के ब्याज की दर अपेक्षाकृत कम है। यहाँ यह मान लिया गया है कि OT की दूरी पर ब्याज मजदूरी अनुपात इकाई के बराबर है अर्थात् $\frac{r}{w} = 1$

मान लीजिए, अब हम मूल साम्य बिन्दु A मे परिवर्तन कर देते है। कल्पना कीजिए, कपडे की तुलना मे इस्पात की मांग बढ जाती है। इसके फलस्वरूप इस्पात की कीमत मे वृद्धि हो

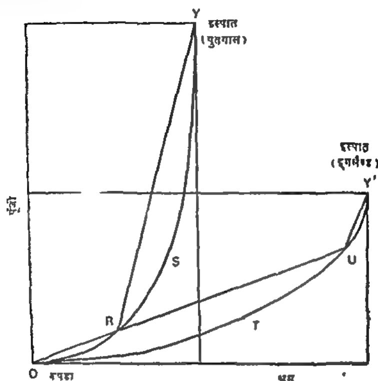
जायगी और फलस्वरूप चमड़े व इस्पात का मूल्य-अनुपात $\left(\frac{P_s}{P_c}\right)$ एक नया साम्य बिन्दु A_1 पर प्रदान करेगा। इस स्तर पर कपड़े व इस्पात का मूल्य-अनुपात OP_1 होगा। यदि A_1 से OX-अक्ष के समानान्तर एक रेखा खींची जाय तो इस्पात व कपड़े के समोत्पत्ति-वक्रों (SS व CC) को यह रेखा क्रमश: Ps_2 एवं Pc_2 पर काटेगी। इन बिन्दुओं को यदि मूल बिन्दु O से जोड़ दिया जाय तो हम दोनों के विस्तार-मार्ग OEs_1 एवं OE_{c_1} प्राप्त होंगे जो उत्पादन किरण रेखाएँ हैं। OPs_2 एवं OPc_2 की लम्बाई क्रमश: इस्पात व कपड़े के उत्पादन-स्तरों को व्यक्त करती है। यह स्पष्ट है कि बढ़े हुए मूल्य पर भी इस्पात का उत्पादन कम है जबकि कपड़े का उत्पादन अब पूर्वापेक्षा अधिक है। ($OPs_2 < OPs$ एवं $OPc_2 > OPc$)। इस्पात के उत्पादन में कमी का कारण यह है कि इस्पात का उत्पादन करने वाले देश में श्रम की लागत अपेक्षाकृत अधिक है। अथवा, अधिक स्पष्ट रूप से इसका इस तरह भी अर्थ लगाया जा सकता है कि उत्पादन की विधि (the process of production) पूंजी-प्रधान (capital intensive) हो गयी है। पूंजी के सस्ते हो जाने के फलस्वरूप इसका प्रयोग श्रम की अपेक्षा अधिक होगा। इसका परिणाम यह होगा कि वे सस्ती वस्तुएँ, जिनके उत्पादन में पूंजी का अधिक प्रयोग किया जाता है, सस्ती हो जायेंगी। अत: उन देशों को अधिक लाभ होगा जहाँ पूंजी अधिक है और पूंजी-प्रधान वस्तुओं का उत्पादन अधिक होता है। अन्य शब्दों में, पूंजी प्रधान देशों को तुलनात्मक लागत लाभ (comparative cost advantage) प्राप्त होगा। रेखाचित्र 5·9 में पूंजी के इस सस्तेपन को ब्याज मजदूरी अनुपात $\left(\frac{r}{w}\right)$ की गिरावट से दिखाया गया है जो कि OT से कम होकर OT_1 हो जाता है, अर्थात् इस स्थिति में $\frac{r}{w} < 1$.

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि साम्य कहाँ स्थापित होगा? इस साम्य की स्थिति को रेखाचित्र 5·9 में नहीं दिखाया जा सकता है। अत: इस स्थिति को बताने के लिए हम रेखाचित्र 5·10 की सहायता लेते हैं। रेखाचित्र 5·10 में हम दो देश—पुर्तगाल एवं इंगलैण्ड तथा दो वस्तुओं—इस्पात एवं कपड़ा—का मॉडल लेते हैं। प्रत्येक देश के लिए दो वस्तुओं के दो उत्पादन सम्भावना पथ (production possibility paths) दिखाये गये हैं। यहाँ यह भी मान लिया गया है कि सभी बाजारों में पूर्ण प्रतियोगिता है तथा परिवहन लागतें अनुपस्थित रहती हैं। दोनों देशों में व्यापार के बाद भी दोनों वस्तुओं का उत्पादन चालू रहता है, अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण अपूर्ण रहता है। यहाँ यह भी मान लिया गया है कि दोनों देशों में उत्पादन-फलन (production function) समरूप है।[1] फलस्वरूप सभी उत्पादन साधनों में समान रूप से होने वाला प्रतिशत परिवर्तन वस्तु के उत्पादन में होने वाले प्रतिशत परिवर्तन के समान होता है। पुन: इस मॉडल की यह भी मान्यता है कि उत्पादन-फलन इस प्रकार का होता है कि दोनों वस्तुओं में से एक वस्तु हमेशा श्रम-प्रधान होती है जबकि दूसरी वस्तु हमेशा पूंजी-प्रधान होती है। चाहे साधनों की सापेक्षिक पूर्ति एवं साधन कीमत अनुपात कैसा ही क्यों न हो। इसकी अगली मान्यता यह भी है कि उत्पादन के सभी साधन समरूप हैं, यद्यपि उनकी उपस्थित मात्रा भिन्न-भिन्न हो सकती है। पुन: उत्पादन साधनों की संख्या वस्तुओं की संख्या से अधिक नहीं होती।

रेखाचित्र 5·10 में हमने एजवर्थ-बाउली आयताकार चित्र (box diagram) में यही बताने का प्रयास किया है कि श्रम व पूंजी की मात्राओं में पर्याप्त अन्तर होने पर दो देशों—इंगलैण्ड व पुर्तगाल—में इस्पात व कपड़े के उत्पादन का स्वरूप क्या होगा। दोनों के उत्पादन-फलन का उद्गम कपड़े के लिए O पर है परन्तु दोनों वस्तुओं के लिए आवश्यक साधनों की मात्रा में अन्तर होने

1 It assumes that the production function is homogeneous of first degree.

के कारण इस्पात के लिए दोनो देशो के लिए उद्गम विन्दु पृथक्-पृथक् हैं—पुर्तगाल के लिए Y तथा इगलैण्ड के लिए Y' ।



रेखाचित्र 5 10—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पश्चात् साधनों का (प्रतिफल) समानीकरण

इन भिन्न भिन्न उद्गमो के अन्तर्गत अधिकतम दक्षता के बिन्दु-पथ (the maximum loci) क्रमश OY (पुर्तगाल के लिए) और OY' (इगलैण्ड के लिए) होगे। विदेशी व्यापार के पूर्व दोना देश अधिकतम दक्षता पथ के क्रमश S एव T बिन्दुआ पर उपलब्ध पूंजी व श्रम का उपयोग कर रहे थे (दी हुई मांग स्थितियो के आधार पर)।

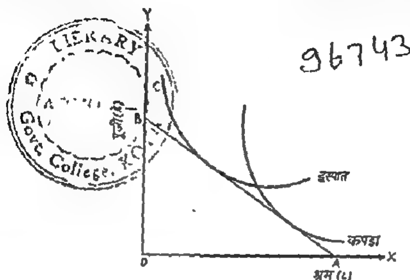
जब व्यापार सम्भव हो जाता है तो समरूप उत्पादन फलन की मान्यता के कारण तथा उत्पादित वस्तुआ की कीमतों के समान होने पर, उत्पादन-साधना का पारितोषिक भी आवश्यक रूप से समान होना चाहिए। यह तब ही सम्भव है जबकि व्यापार के फलस्वरूप उत्पादन या तो R बिन्दु पर होता है या U बिन्दु पर। साधन-कीमतो की समानता (equality of factor price) उपर्युक्त दो बिन्दुआ R अथवा U मे से किसी पर भी देखी जा सकती है। यह स्पष्ट है कि R बिन्दु सरल रेखा OU पर अंकित है तथा U बिन्दु सरल रेखा (straight line) OY' पर अंकित है जो कि सरल रेखा RY के समान्तर है, अर्थात् RY तथा UY' का ढाल समान है।

किण्डलबर्जर[1] के मत मे बहुत सी बातो के आधार पर यह बताया जा सकता है कि इस प्रकार के दो बिन्दु R तथा U उत्पन्न नही हो सकते। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बाद एक अथवा दोना देश पूर्णरूपेण विशिष्टता अपना सकते हैं, इगलैण्ड कपडे का उत्पादन OY तक, अथवा पुर्तगाल इस्पात का उत्पादन OY' तक कर सकता है। पुर्तगाल तथा इगलैण्ड मे मांग की स्थितियां इस प्रकार अलग-अलग हैं कि पुर्तगाल का उत्पादन बिन्दु S से हटकर O की अपेक्षा Y की ओर जाता है, ताकि इसमे (पुर्तगाल) पूंजी की प्रचुरता होते हुए भी यह श्रम प्रधान वस्तुओ का निर्यात करता है।

साधन-मूल्य समानीकरण की विवेचना का दूसरा तरीका प्रो ए पी. लर्नर ने प्रस्तुत किया है। उन्होने दो वस्तुओ के सम-उत्पाद वक्रो को लिया है जो उन सापेक्ष कीमतो को अथवा मात्राओं

1 Kindleberger, *op cit*, pp 547-548

को प्रदर्शित करते हैं जिसमें कि उनका विनिमय इंग्लैण्ड तथा पुर्तगाल के बीच होने वाले व्यापार के बाद किया जाता है। रेखाचित्र 5·11 में इस्पात तथा कपड़े के सम-उत्पाद वक्रों को दिखाया गया है। हम इन सम-उत्पाद वक्रों द्वारा किसी भी मात्राओं को (या मूल्यों को) दिखा सकते हैं; जैसे 30 मीटर कपड़ा तथा 2 टन इस्पात, अथवा 300 मीटर कपड़ा तथा 20 टन इस्पात आदि।



रेखाचित्र 5·11—उत्पादन-फलन की सहायता से साधन-मूल्य समानीकरण का स्पष्टीकरण

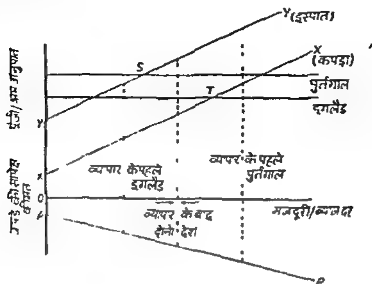
चूंकि उत्पादन फलन एक डिग्री के समरूप हैं, अधिकाधिक मात्राओं को प्रदर्शित करने वाले उत्तरोत्तर समउत्पाद वक्रों की रचना या आकार (shape) हमेशा समान होगा। अतः उनसे हमें एक सरल रेखीय विस्तार मार्ग (straight line expansion path) प्राप्त होगा, जैसा कि चित्र 5·6 में दिखाया गया है। चूंकि अपनायी गयी इकाइयाँ उत्पत्ति कीमतों को दर्शाती हैं जो कि दो देशों में व्यापार के बाद (यह मानते हुए कि यातायात लागत अनुपस्थित होती है तथा पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति प्रचलित है) समान होती है, रेखाचित्र 5·11 दोनों देशों, इंग्लैण्ड तथा पुर्तगाल में समान होगा। किन्तु प्रो. किण्डलबर्जर यह अनुभव करते हैं कि यह मॉडल उस स्थिति में गलत हो जाता है जबकि समउत्पाद वक्र एक से अधिक बार क्रॉस कर जाते हैं, क्योंकि इसका यह तात्पर्य होगा कि उन वस्तुओं में से कम से कम एक के लिए साधन-प्रतिस्थापनता की लम्बी सीमा की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है।

साधन-मूल्य समानीकरण की विवेचना का तीसरा तरीका उसी रेखाचित्र में साधन अनुपातों, साधन-कीमतों तथा उत्पत्ति-कीमतों पर आधारित है। रेखाचित्र 5·12 का ऊपर का आधा भाग पूंजी-श्रम (capital labour ratios) तथा मजदूरी की दरों (wage rates) के बीच सम्बन्धों को बताता है, जबकि नीचे के आधे भाग में मजदूरी तथा उत्पत्ति-कीमतों के सम्बन्ध को बताया गया है। बीच की समान्तर रेखा मजदूरी/ब्याज दरों (wage/interest rates) को बताती है। ज्यों-ज्यों यह रेखा दायीं ओर जाती है, मजदूरी/ब्याज दर बढ़ती जाती है।

रेखाचित्र 5·12 के ऊपर के आधे भाग में जैसे-जैसे मजदूरी ब्याज अनुपात बढ़ते हैं वैसे-वैसे कपड़े तथा इस्पात के पूंजी-श्रम अनुपातों को बढ़ते हुए दिखाया गया है। ज्यों-ज्यों मजदूरी अधिक होती है उत्पादकों को श्रम के बदले पूंजी का प्रतिस्थापन करने का प्रोत्साहन मिलता है। यह देखा जा सकता है कि कपड़ा अधिक श्रम-प्रधान है अर्थात प्रत्येक मजदूरी-ब्याज अनुपात पर इस्पात की अपेक्षा यह (कपड़ा) कम पूंजी-प्रधान है। क्योंकि कपड़े के लिए XX वक्र इस्पात के लिए YY वक्र के प्रत्येक स्थान से नीचे होता है।

रेखाचित्र 5·12 के निचले भाग में उत्पत्ति-कीमतों तथा साधन-कीमतों के सम्बन्ध को प्रदर्शित किया गया है, यहाँ सापेक्ष उत्पत्ति-कीमतों की माप उलटे क्रम में की गयी है अर्थात् नीचे

की ओर। जितना अधिक मजदूरी-ब्याज अनुपात होता है उतना ही अधिक कपड़े (श्रम-प्रधान वस्तु) का सापेक्ष मूल्य होगा।



रेखाचित्र 5·12—साधन-अनुपातों उत्पत्ति-कीमतों तथा साधन-कीमतों के साथ साधन-मूल्य समानीकरण

रेखाचित्र 5·12 के ऊपर के भाग में यह स्पष्ट है कि पुर्तगाल तुलनात्मक दृष्टि से पूँजी-प्रधान है, जबकि इंगलैण्ड सापेक्ष रूप में श्रम-प्रधान है। व्यापार के पहले दो देशों ने उत्पादन उनकी माँग की दशाओं द्वारा निश्चित किया जाता है। किन्तु, व्यापार के पहले भी, जैसा कि रेखाचित्र *5 12 में दिखाया गया है, कपड़े (श्रम प्रधान वस्तु) की कीमत इंगलैण्ड में पुर्तगाल की अपेक्षा कम* है तथा मजदूरी दर (सापेक्ष रूप में) भी कम है। इसके विपरीत, इंगलैण्ड में पुर्तगाल की तुलना में इस्पात की कीमत तथा ब्याज दर अधिक है। जब व्यापार शुरू हो जाता है तो उत्पत्ति कीमतें एक साथ तथा दी हुई स्थितियों में (under the conditions drawn) बदलती हैं, सापेक्ष मजदूरी समान हो जाती है जोकि वास्तव में साधन-कीमत समानीकरण है।

रिकार्डो के तुलनात्मक-लाभ सिद्धान्त तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त की तुलना (A Comparison of Ricardian Theory of Comparative Advantage and the Heckscher Ohlin Theory of International Trade)

जैसा कि अध्याय 4 में बताया गया है, रिकार्डो के सिद्धान्त के अनुसार, एक देश उस वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण अपनाता है तथा निर्यात करता है जिसमें उसको तुलनात्मक लाभ प्राप्त होते हैं। किन्तु हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त साधन की सापेक्ष प्रचुरता को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार मानता है। जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त एक दो साधन, दो वस्तु तथा दो देश का मॉडल लेता है जबकि रिकार्डो का सिद्धान्त केवल श्रम को ही उत्पादन का साधन मानता है। हम ऊपर देख चुके हैं कि हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त के अनुसार, एक श्रम-प्रधान देश एक श्रम-प्रधान वस्तु का निर्यात करता है जबकि एक पूँजी-प्रधान देश पूँजी-प्रधान वस्तु का निर्यात करता है।

हैक्शर-ओहलिन प्रमेय तुलनात्मक-लाभ की विवेचना नहीं करता है, किन्तु यह मानता है कि दो वस्तुओं के लिए दोनों देशों में उत्पादन-फलन समान हैं। जबकि रिकार्डो के मॉडल में दो देशों में उत्पादित वस्तुओं को प्रत्येक देश में उनकी एक इकाई में प्रयुक्त श्रम की मात्रा के अनुसार क्रम में रखा जाता है हैक्शर-ओहलिन के दो साधन मॉडल में वस्तुओं के क्रम को उनकी साधन-प्रधानता के अनुसार रखा जाता है। इस प्रकार, यदि देश *A* में पूँजी की प्रचुरता है तथा देश *B* में श्रम की प्रचुरता है तो यह बताने के लिए कि उनके उत्पादन में तुलनात्मक लाभ होता है देश *A*

में सब वस्तुओं को उनके उत्पादन में प्रयुक्त पूँजी-प्रधानता के अनुसार क्रम में रखा जाता है। हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त के अनुसार, देश A पहले सबसे अधिक पूँजी-प्रधान वस्तु का निर्यात करेगा और उसके बाद दूसरी अधिक पूँजी-प्रधान वस्तु का निर्यात करेगा। इसी प्रकार, देश B में भी उत्पादन तथा निर्यात के क्रम को श्रम-प्रधान वस्तुओं के रूप में रखा जा सकता है। इस रूप में, रिकार्डो का व्यापार सिद्धान्त हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त की तुलना में पूर्ण रूप से स्थिर-सिद्धान्त (Static-Theory) मालूम पड़ता है।

हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त की आलोचनाएं
[CRITICISMS OF HECKSCHER-OHLIN THEORY]

(1) यद्यपि हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त रिकार्डो के तुलनात्मक लाभ सिद्धान्त का सुधरा हुआ रूप है, किन्तु यह भी उस समय उत्पादन तथा व्यापार के विषय की विवेचना नहीं कर सकता, जबकि देशों की संख्या, साधनों की संख्या तथा वस्तुओं की संख्या में वृद्धि हो जाती है।

(2) यह कहना अवास्तविक है कि साधन की सापेक्ष प्रचुरता उसकी सापेक्ष कीमत निश्चित करती है, क्योंकि इसमें दिये हुए साधन के माँग पक्ष को वंचित रखा जाता है। साधन का माँग पक्ष अधिक महत्वपूर्ण है। यही कारण है कि एक पूँजी-प्रधान देश एक श्रम-प्रधान वस्तु का निर्यात करके लाभ प्राप्त कर सकता है। यह सम्भव है कि पूँजी की अधिक माँग होने पर एक पूँजी-प्रधान देश में भी एक श्रम-प्रधान देश की तुलना में Px/P_L अधिक हो सकता है। सामान्यतया इसे "लियोन्तीफ का विरोधाभास" (Leontief Paradox) कहा जाता है। इसके अनुसार अमरीका श्रम-प्रधान वस्तुओं का अधिक निर्यात करता है तथा पूँजी-प्रधान वस्तुओं का आयात करता है।[1]

(3) हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त दो देशों में वस्तुओं की माँग तथा उपभोक्ताओं की इच्छाओं (consumer preferences) के अन्तरों को बहुत कम महत्व देता है। केवल मात्र साधन-कीमत अनुपात व्यापार का आधार नहीं कहा जा सकता है क्योंकि माँग-फलन अथवा उसमें कोई भी परिवर्तन उत्पत्ति-कीमतों पर प्रभाव डालेगा।

(4) जिस मान्यता पर व्यापार का हैक्शर-ओहलिन प्रमेय आधारित है वह वास्तविक नहीं है। अतः वर्तमान सन्दर्भ में ओहलिन प्रमेय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विषय का सही ज्ञान प्रस्तुत नहीं करता। इस मॉडल में गत्यात्मकता का भी अभाव है।

(5) इस मॉडल में सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था (साधनों एवं वस्तु बाजार) में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति को आवश्यक रूप से मान लिया जाता है। परन्तु आधुनिक सन्दर्भ में यह मान्यता पूर्णतया असंगत लगती है।

(6) इस मॉडल में परिवहन लागतों को शून्य माना जाता है, जबकि व्यवहार में ये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को काफी प्रभावित करती हैं।

(7) इस मॉडल की यह मान्यता भी अनुपयुक्त मानी जाती है कि दोनों देशों में प्रत्येक वस्तु की उत्पादन प्रविधि नहीं है तथा केवल साधनों की उपलब्ध निधि (Factor endowments) एवं साधन मूल्यों के सापेक्ष अन्तर के कारण ही विशिष्टीकरण एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का जन्म होता है। उत्पादन प्रविधियों का अन्तर तो किसी देश के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भी पाया जाता है। साधन-विपर्ययता (factor-reversal) के कारण भी हैक्शर-ओहलिन मॉडल की आलोचना की गयी है। साधन-विपर्ययता की धारणा के अनुसार वस्तुओं का विनिमय उत्पादन हेतु भी किया जाता है। फिर, यदि किसी एक देश में कम लागत पर दोनों वस्तुओं का उत्पादन करना सम्भव हो तो यह मॉडल अनुपयोगी हो जायगा।

(8) इस मॉडल के विशुद्ध स्वरूप में एक सरल, सुगम, अविरल, समरूप एवं उन्नतोदर (Convex) उत्पादन फलन को लिया जाता है जिसका अर्थ यह है कि एक साधन की मात्रा में वृद्धि करने मात्र से उत्पादन में आनुपातिक वृद्धि नहीं होगी (ह्रासमान प्रतिफल के कारण), परन्तु सभी साधनों में आनुपातिक वृद्धि के द्वारा उत्पादन में भी उतनी ही वृद्धि करना सम्भव है। यह

---

1 W. W. Leontief, "Factor Proportion and the Structure of American Trade" *Review of Economic and Statistics*, 1956.

भी माना जाता है कि उत्पादन के साधन विभाजनशील हैं। परन्तु व्यावहारिक जीवन मे इस प्रकार के उत्पादन-फलन कही भी नही दिखायी देते, ऐसी आलोचको की मान्यता है।

हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त का आनुभविक प्रमाणीकरण [EMPIRICAL VERIFICATION OF HECKSCHFR-OHLIN THEORY]

सबसे पहले नोबुल पुरस्कार विजेता प्रोफेसर लियोन्तीफ ने 1954 मे हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त का आनुभविक परीक्षण किया। लियोन्तीफ ने एक ओर अमरीकी अर्थ-व्यवस्था से सम्बद्ध निर्याती के व दूसरी ओर आयात-प्रतिस्थापन से सम्बद्ध उद्योगो के आँकडे लिये। उन्होंने इनके आधार पर निर्यात एव आयात उद्योगो से सम्बद्ध उद्योगो का उत्पादन बढाने हेतु पूंजी की आवश्यकता का अनुमान किया। उनके निष्कर्ष हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त से प्राप्त निष्कर्षो के सर्वथा विपरीत हैं। सामान्यतया हम यह मानते हैं कि अमरीका मे श्रम की तुलना मे पूंजी प्रचुर मात्रा मे प्रचलित होने के कारण वहाँ ब्याज की दर कम है, तथा पूंजी-प्रधान तकनीकी का अधिक प्रयोग किया जाता है। हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त के अनुसार अमरीका से पूंजी-प्रधान वस्तुओ का निर्यात किया जाना चाहिए, तथा श्रम के अपेक्षाकृत मँहगे होने के कारण वहाँ श्रम-प्रधान उद्योगो मे निर्मित वस्तुओ का आयात होना चाहिए।

परन्तु लियोन्तीफ ने यह पाया कि अमरीका मे निर्यात-उद्योगो मे उत्पादन बढाने हेतु आयात-उद्योगो की तुलना मे कम मात्रा मे पूंजी चाहिए। उनके मतानुसार अमरीका के निर्यात-उद्योगो मे पूंजी का उपयोग आयात-उद्योग की अपेक्षा कम होता है। वस्तुत यह निष्कर्ष हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत है जिसके अनुसार प्रत्येक देश को वे वस्तुएँ निर्यात करनी चाहिए जिनके उत्पादन प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध एव अपेक्षाकृत सस्ते साधन का उपयोग होता हो तथा उन वस्तुओ का आयात करना चाहिए जिनके लिए दुर्लभ एव अपेक्षाकृत मँहगे साधन की अधिक आवश्यकता है। यही कारण है कि लियोन्तीफ द्वारा प्रस्तुत स्थिति को **लियोन्तीफ-विरोधाभास** (Leontief Paradox) के नाम से पुकारा जाता है। इस विरोधाभास के अन्तर्गत यह आवश्यक नही है कि साधनो की उपलब्धि (प्रचुर मात्रा मे या न्यूनतम मात्रा मे) का आयात-निर्यात व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव होता है।

लियोन्तीफ (Leontief) के उपर्युक्त निष्कर्ष के बावजूद हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त सामान्य एव तार्किक दृष्टियो से सही प्रतीत होता है। विदेशी व्यापार की सरचना एव आयात व निर्यात की सम्भावनाओ पर साधन विशेष की प्रचुरता एव लागत-मूल्य का काफी प्रभाव पडता है। प्रत्येक देश सामान्यतया उस वस्तु की अधिक मात्रा बनाने का प्रयास करता है जिसका उत्पादन यह अधिकाशतः कम लागत पर कर सके, और बहुधा लागत कम तभी होती है जब देश प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध एव सस्ते साधन का अधिक उपयोग करे।

परन्तु हाल ही मे कुछ अर्थशास्त्रियो ने *"लियोन्तीफ-विरोधाभास"* (Leontief Paradox) की चर्चा पुन आरम्भ कर दी है। इनके मतानुसार पूंजी की गणना कई प्रकार से की जानी चाहिए। भूमि एव श्रम मे भी पूंजी का अश विद्यमान है, अत केवल कार्यशील पूंजी या यन्त्रो को ही नही अपितु मानवीय योग्यताओ आदि को भी पूंजी म शामिल किया जा सकता है।

वस्तुत मानवीय योग्यता भी श्रम मे निहित प्रकार की पूंजी है। किसी व्यक्ति के प्रशिक्षण मे भी पूंजी का उपयोग होता है, और इसीलिए व्यक्तिगत दक्षता को भी पूंजी का एक भाग मानना चाहिए। स्वय लियोन्तीफ ने यह स्वीकार किया कि प्रशिक्षित व्यक्ति का श्रम वास्तविक रूप मे श्रम के रूप में न लेकर पूंजी के एक अश के रूप मे लिया जाना चाहिए। तथापि लियोन्तीफ ने बताया कि मानवीय योग्यता को पूंजी के रूप मे परिणत करना एक कठिन कार्य है।

लियोन्तीफ ने एक अन्य स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि अमरीकी श्रमिक अन्य देशो के श्रम की अपेक्षा अधिक निपुण हैं। इस कारण यदि श्रम की केवल सामान्य दक्षता को लिया जाय, तो भारत के सामान्य श्रमिको व अमरीका के सामान्य श्रमिको मे कोई अन्तर नही होगा, तथा हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त वैध माना जा सकेगा।

कुछ लोग यह तर्क भी देते है कि यदि साधनो की निधि (factor endowments) की परिभाषा एव उत्पादन-फलन की सही रूप मे व्याख्या की जाय तो हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त को सही

सिद्ध करना सम्भव होगा। कुछ अर्थशास्त्रियों ने यह भी कहा कि श्रम की निपुणता पूँजी के विनियोग द्वारा ही नहीं अपितु अन्य घटकों द्वारा भी प्रभावित होती है। परन्तु सही रूप में दक्ष श्रमिक को श्रम के रूप में लिया जाय अथवा पूँजी के रूप में यह प्रश्न अब तक अनिर्णीत है।

अब हम कुछ अन्य आनुभविक अध्ययनों की संक्षेप में समीक्षा करेंगे जो हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त पर आधारित हैं।

प्रथम अध्ययन—भारत के विषय में बम्बई विश्वविद्यालय के प्रोफेसर भारद्वाज ने दो अध्ययन किये :

(i) **भारत तथा शेष विश्व**—इस सन्दर्भ में प्रोफेसर भारद्वाज ने बताया कि भारत के निर्यात सामान्यतया श्रम-प्रधान हैं जबकि आयात उन वस्तुओं के हैं जो देश में पूँजी प्रधान उद्योगों द्वारा निर्मित होती हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भारत का शेष विश्व के साथ होने वाला व्यापार हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त के ही अनुरूप है।

(ii) **भारत एवं संयुक्त राज्य अमरीका**—डॉ. भारद्वाज ने बताया कि भारत अमरीका को पूँजी-प्रधान उद्योगों में निर्मित वस्तुएँ निर्यात करता है जबकि अनाज, कपास आदि ऐसे पदार्थों का आयात करता है जो वहाँ श्रम-प्रधान उद्योगों में निर्मित होते हैं। इस प्रकार भारत व अमरीका का व्यापार हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त को गलत साबित करता है।[1]

दूसरा अध्ययन—जर्मनी में स्टोपू (Stolpu) एवं रोस्पर (Rostper) ने जर्मनी के विदेशी व्यापार का विश्लेषण करके बताया कि उस सन्दर्भ में हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त सही है।

तीसरा अध्ययन—कनाडा में किये गये एक अध्ययन के अनुसार हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त के अनुरूप कनाडा का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं होता। परन्तु यह निष्कर्ष इसलिए अन्तिम नहीं माना जा सकता क्योंकि कनाडा का अधिकांश व्यापार अमरीका से होता है जहाँ पूँजी-प्रधान उद्योगों का अधिक महत्व है।

चौथा अध्ययन—जापान के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विषय में एक अध्ययन तो हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त की पुष्टि करता है जबकि दूसरे के अनुसार यह सिद्धान्त सही नहीं है।

निष्कर्ष—यदि द्विपक्षीय व्यापार की समीक्षा की जाय तो अधिकांश देशों का विदेशी व्यापार हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त के अनुरूप पाया जायेगा। इसके विपरीत, यदि बहुत से देशों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अध्ययन किया जाय तो हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त गलत साबित हो जायेगा। कुल मिलाकर हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त के विषय में यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि अर्थशास्त्रियों के पास कोई प्रमाण इसे सही या गलत साबित करने हेतु नहीं है। हैक्शर-ओहलिन सिद्धान्त के औचित्य के लिए यही कहना उचित प्रतीत होता है कि पर्याप्त एवं विश्वसनीय आँकड़ों के आधार पर ही कोई निष्कर्ष दिया जाना चाहिए। साथ ही यह भी महत्वपूर्ण बात है कि एक देश या क्षेत्र के विषय में प्राप्त निष्कर्ष अन्य देशों के सन्दर्भ में काफी सावधानीपूर्वक लेना चाहिए।

हाल ही में दो और सिद्धान्त प्रकाश में आये हैं। प्रथम, क्रेविस सिद्धान्त (Kravis Theory) है, जिसके अनुसार साधनों की निधि की अपेक्षा निम्न तीन बातें विदेशी व्यापार को सम्भव बनाती हैं—(i) प्राकृतिक साधन (Natural Resources), (ii) टेक्नोलॉजी (Technology), एवं (iii) वस्तु विशेष की माँग तथा पूर्ति की लोच (Elasticity of Demand and Supply)। दूसरा सिद्धान्त स्वीडन में लिण्डर सिद्धान्त (Linder Theory) के नाम से प्रतिपादित किया गया है। लिण्डर सिद्धान्त के अनुसार किसी भी देश के निर्यात वस्तु की माँग के पैटर्न पर निर्भर करते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त अत्यन्त क्लिष्ट है तथा सामान्य लोगों की समझ से बाहर है।

प्रश्न एवं उनके संकेत

1. उन स्थितियों का वर्णन कीजिए एवं समझाइए जिनमें ओहलिन का साधन-मूल्य समानीकरण सिद्धान्त वैध होता है।

---

1 परन्तु भारत-अमरीका व्यापार के विषय में यह निष्कर्ष इस कारण ठीक नहीं माना जा सकता कि खाद्यान्न, कच्चे माल व अनेक दूसरी वस्तुओं के आयात एवं निर्यात लागतों की भिन्नता पर आधारित होने की अपेक्षा PL-480 एवं दोनों के मध्य हुए अन्य समझौतों के परिणाम थे।

State and explain the conditions under which Ohlin's factor price equalization theorem is valid.

[संकेत—ओहलिन के साधन-मूल्य समानीकरण सिद्धान्त की समीक्षा करते हुए यह बताइए कि यह सिद्धान्त किन मान्यताओं पर आधारित है। यह भी बताइए कि इनमें से किन मान्यताओं को छोड़ देने पर इस सिद्धान्त की वैधता समाप्त हो जाती है।]

2. "वस्तुओं का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उत्पादन के साधनों की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता का ही एक प्रतिस्थापन है।" इस दृष्टिकोण की व्याख्या विकासशील एवं विकसित देशों के मध्य होने वाले व्यापार के सन्दर्भ में कीजिए।

"International trade in commodities is a substitute for international mobility of factors of production." Explain this view in the light of trade between advanced and under-developed countries.

[संकेत—व्यवहार में उत्पादन के साधन देश की सीमा के बाहर गतिशील नहीं होते, परन्तु दो देशों में उपलब्ध साधनों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का निश्चय ही दोनों के बीच आदान-प्रदान किया जा सकता है। वस्तुओं का यही आदान-प्रदान अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कहलाता है। प्रश्न के द्वितीय भाग का उत्तर देने हेतु यह बताइए कि विकसित एवं विकासशील देशों के बीच व्यापार का आधार क्या है—आर्थिक विकास की स्थितियों का अन्तर, तुलनात्मक लागतों का अन्तर, उत्पादन के साधनों का असमान वितरण या और कुछ ?]

3. इस धारणा को स्पष्ट कीजिए कि किसी देश के निर्यात हेतु प्रचुर मात्रा में उपलब्ध साधन का गहन उपयोग किया जाता है तथा इस धारणा की वैधता हेतु आप कौन-सी शर्तें प्रस्तुत करेंगे।

Elucidate the proposition that a country's exports use intensively its abundant factor and lay down the conditions for its validity.

[संकेत—तुलनात्मक लागतों के अन्तर हेतु आधुनिक अर्थशास्त्रियों की ऐसी मान्यता है कि प्रत्येक देश उस साधन का अपेक्षाकृत अधिक उपयोग करता है जो प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है जबकि दुर्लभ साधन का अपेक्षाकृत कम उपयोग किया जाता है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि प्रचुर मात्रा में उपलब्ध साधन का मूल्य दुर्लभ साधन की अपेक्षा कम होने के कारण उत्पादन की लागत न्यूनतम रखी जा सकती है। अस्तु, प्रत्येक देश उस उत्पादन-प्राविधि का उपयोग करेगा जिसके द्वारा बहुल मात्रा में उपलब्ध साधन का अधिक उपयोग किया जा सके। अपने उत्तर में यह भी बताइए कि इस धारणा की वैधता किन शर्तों पर निर्भर करती है।]

4. हैक्सर व ओहलिन के इस सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए कि प्रत्येक देश उन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करता है जिनके उत्पादन हेतु प्रचुर मात्रा में उपलब्ध साधनों की आवश्यकता है। अपने उत्तर में उन महत्वपूर्ण मान्यताओं का भी उल्लेख कीजिए जिन पर यह सिद्धान्त आधारित है।

Explain and comment on Heckscher Ohlin theory that a country specializes in the production of goods which are intensive in its relatively abundant factors. In your answer bring out the important assumptions on which the theory is based

5. दो देशों को उपलब्ध साधनों के आधार पर उनके द्वारा किये जाने वाले व्यापार का पूर्वानुमान किस प्रकार किया जा सकता है, उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।

Can the composition of trade be predicted by comparisons of the national factor endowments ?

[संकेत—आधुनिक विचारधारा के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की संरचना एवं दिशा का निर्धारण काफी सीमा तक विभिन्न देशों को उपलब्ध साधनों की प्रकृति एवं मात्रा द्वारा हो सकता है। यह भी उल्लेखनीय है कि विभिन्न वस्तुओं में प्रयुक्त साधनों की इकाइयों (तकनीकी अनुपातों), वस्तुओं के मूल्यों एवं अन्य घटकों पर भी व्यापार की संरचना निर्भर करती है।

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर से रेखाचित्रों तथा उपयुक्त उदाहरणों के आधार पर यह बताना होगा कि उपलब्ध साधनों एवं तकनीकी अनुपातों के आधार पर क्योंकर उत्पादित वस्तुओं की मात्रा एवं तदनुसार आयातों व निर्यातों की संरचना का निर्धारण हो सकता है।]

6. साधन-मूल्य समानीकरण सिद्धान्त को दो साधनों व दो वस्तुओं के सन्दर्भ में प्रमाणित कीजिए।

Prove the factor-price equalization theorem in the case of two factors and two commodities

[संकेत—एजवर्थ-बाउली आयताकार चित्रों की मदद से दो साधनों व दो वस्तुओं का उदाहरण लेते हुए साधन-मूल्य समानीकरण सिद्धान्त को प्रमाणित कीजिए। इस प्रश्न के उत्तर हेतु उपर्युक्त अध्याय में प्रस्तुत रेखाचित्रों का उपयोग अत्यन्त उपयोगी होगा।]

7 रिब्जिंस्की प्रमेय की सचित्र व्याख्या कीजिए।

Explain with the help of diagram the Rybczinki theorem.

6

व्यापार की शर्तों के सिद्धान्त

[THEORIES OF TERMS OF TRADE]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में जिस मूल्य पर वस्तुओं का आदान प्रदान होता है उसे अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात (International exchange ratio) अथवा व्यापार की शर्तों (terms of trade) के नाम से जाना जाता है। यह मूल्य देश में निर्धारित बाजार-मूल्य से भिन्न होता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा आन्तरिक (अन्तर्क्षेत्रीय) व्यापार के अन्तर पर अध्याय 2 में प्रकाश डाला जा चुका है। वस्तुत: व्यापार की शर्तों की समस्या माँग एवं पूर्ति सारणियों का अवलोकन करना है।

पिछले अध्यायों में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात क्योंकर निर्धारित होता है। परन्तु हमने यह नहीं देखा था कि वास्तविक साम्य स्थिति (equilibrium position) कहाँ होगी? प्रस्तुत अध्याय में इसी प्रश्न का समाधान खोजा जायगा।

जिस भौतिक विनिमय अनुपात पर वस्तुओं का विनिमय किया जाता है उसे प्राय: 'व्यापार शर्त' के नाम से पुकारा जाता है।[1] अन्य शब्दों में व्यापार शर्त किसी देश का विश्व-मूल्यों के मध्य सम्बन्ध होता है। यह वह मूल्य है जिस पर निर्यात सम्भव होता है तथा जिस पर आयात किया जाता है। कुछ अर्थशास्त्री व्यापार शर्त का सम्बन्ध दो देशों (क्षेत्रों) की तुलनात्मक उत्पादन लागतों से स्थापित करके उस अनुपात के मापने का तरीका बतलाते हैं जिसकी सहायता से दो व्यापारिक देशों के मध्य व्यापारिक लाभ को विभाजित किया जाता है। एक देश के लिए अनुकूल व्यापार शर्त रहने का तात्पर्य उसके अन्तर्राष्ट्रीय लाभ के अंश में वृद्धि होने से है जबकि प्रतिकूल व्यापार शर्त उस देश के अन्तर्राष्ट्रीय लाभ के अंश में कमी को व्यक्त करती है। अत: यह स्पष्ट है कि व्यापार शर्तों से किसी देश के निरपेक्ष लाभ की माप नहीं की जा सकती बल्कि इनकी सहायता से एक देश को होने वाले लाभ की गति की दिशाओं का ही अनुमान लगाया जा सकता है। सरल शब्दों में व्यापार शर्तें व्यापार से प्राप्त लाभ की प्रवृत्ति को जानने का एक तरीका है। व्यापार की शर्तों के आधार पर एक देश द्वारा निर्यात से प्राप्त कीमतों (export prices) तथा उसके द्वारा आयातों के लिए दी गयी कीमतों (import prices) के मध्य सम्बन्ध का मापन किया जाता है। यदि किसी समय में देश की निर्यात कीमतें बढ़ जाती हैं तथा आयात कीमतें कम हो जाती हैं तो उसकी व्यापार शर्तों में सुधार हो जाता है। इसके विपरीत यदि निर्यात-कीमतों में कमी हो जाती है तथा आयात कीमतें बढ़ जाती हैं तो उस देश की व्यापार शर्तें प्रतिकूल हो जाती हैं अर्थात् इस स्थिति में देश को हानि उठानी पड़ेगी।

जिन व्यापार शर्तों पर विश्व के विभिन्न देश आपस में व्यापार करते हैं उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन देश की सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री रिकार्डो के समय से ही वस्तु व्यापार शर्त को व्यापार से होने वाले लाभों की प्रवृत्ति का सूचक माना गया। कोई भी देश किसी वस्तु का कितना आयात अथवा निर्यात करे यह उसकी व्यापार शर्तों पर ही निर्भर करता था। जैसा कि हम कह चुके हैं किसी देश के निर्यात मूल्य में

1 डॉ॰ मार्शल ने अपनी पुस्तक *Money, Credit and Commerce* में व्यापार शर्त के लिए विनिमय दर के प्रयोग का सुझाव दिया जबकि अमरीका के अर्थशास्त्री टाजिग ने अपनी पुस्तक *International Trade* में शुद्ध अदल-बदल व्यापार शर्त के नाम से परिभाषित किया। इसी प्रकार प्रो॰ पीगू इसे विनिमय की वास्तविक दर का नाम देते हैं।

कमी हो जाने पर, तथा उसकी लागतें स्थिर रहने पर, उस देश को प्राप्त होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ में कमी हो जायेगी। इसके फलस्वरूप उस देश की राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय में भी कमी हो जायेगी एवं जीवन-स्तर निम्न हो जायेगा। इसके विपरीत, निर्यात कीमतों में वृद्धि हो जाने पर अथवा आयात कीमतों में कमी हो जाने पर (जबकि उत्पादन की वास्तविक लागतें स्थिर रहें) तो उस देश को प्राप्त होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों में वृद्धि हो जायेगी। इसके फलस्वरूप उस देश की राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय में भी वृद्धि होगी एवं जीवन-स्तर उच्च हो जायेगा। अतः किसी देश की व्यापार शर्तों में होने वाले परिवर्तन का उस देश के सम्पूर्ण जीवन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

व्यापार की शर्तों का उल्लेख सर्वप्रथम जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) के लेखों एवं पुस्तक में मिलता है। मिल ने अन्तर्राष्ट्रीय माँग समीकरण (equation of international demand) के रूप में व्यापार की शर्तों का विवरण दिया तथा इनके लिए "पारस्परिक माँग का सिद्धान्त" (Doctrine of Reciprocal Demand) प्रदान किया। कालान्तर में पारस्परिक माँग के सिद्धान्त में मार्शल (Marshall) एवं जेकब वाइनर (Jacob Viner) आदि अनेक विद्वानों ने संशोधन प्रस्तुत किये। व्यापार की शर्तों के सन्दर्भ में आधुनिक अर्थशास्त्री विदेशी व्यापार गुणक सिद्धान्त (Foreign Trade Multiplier Theory) का आश्रय लेते हैं तथा विदेशी व्यापार का मूल्यों एवं आय पर होने वाले प्रभावों का विश्लेषण करते हैं।

व्यापार की शर्तों की श्रेणियाँ
[VARIOUS TYPES OF TERMS OF TRADE]

1. **मिल का व्यापार की शर्तों का सिद्धान्त (Mill's Doctrine of Terms of Trade)**—जैसा कि ऊपर बताया गया है, जे. एस. मिल ने "पारस्परिक माँग के सिद्धान्त" के आधार पर व्यापार की शर्तों का विवरण प्रस्तुत किया। उनके इस सिद्धान्त को "अन्तर्राष्ट्रीय माँग अथवा मूल्य-मात्रा समीकरण" (Equation of International Demand or Price-Quantity Equation) के रूप में भी जाना जाता है। वस्तुतः मिल का यह सिद्धान्त वस्तु-विनिमय की शर्तों पर आधारित है। मिल के मतानुसार वस्तु-विनिमय की शर्तों से हमारा अभिप्राय उस स्थिति से है जिसमें आयातित वस्तुओं की मात्रा में समानता होती है। वे यह भी बताते हैं कि वस्तु-विनिमय की शर्तें केवल मूल्य एवं मात्रा के सम्बन्ध का विलोम (reciprocal) हैं। उदाहरण के लिए, यदि

P_1 = वस्तु I का मूल्य
P_2 = वस्तु II का मूल्य
Q_1 = वस्तु I की मात्रा
Q_2 = वस्तु II की मात्रा

मान लें तो अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य का समीकरण (equation of international value) निम्नलिखित होगा :

$$P_1Q_1 = P_2Q_2$$

अथवा

$$\frac{P_1}{P_2} = \frac{Q_2}{Q_1}$$

इसका यह अर्थ हुआ कि दो वस्तुओं के बीच विनिमय के उस अनुपात पर साम्य स्थिति होगी जहाँ प्रत्येक देश द्वारा आयातित वस्तु की माँग तथा उसके द्वारा निर्यात की जाने वाली दूसरी वस्तु की मात्रा में पूर्णता हो। इस प्रकार निर्यात द्वारा आयात का भुगतान करना सम्भव होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, जितनी एक देश अन्य दूसरे देश में निर्मित वस्तु की माँग करता है उतनी ही उस देश द्वारा इस देश में निर्मित वस्तु की माँग होनी चाहिए। इसलिए इसे पारस्परिक माँग का सिद्धान्त (Theory of Reciprocal Demand) कहते हैं। मिल के शब्दों में, "साम्य व्यापार शर्तें राष्ट्रों के लागत के अनुपात के आधार पर उच्चतम एवं निम्नतम सीमाओं के मध्य होंगी जिन पर दोनों वस्तुओं को स्वदेश में उत्पन्न किया जा सकता है, परन्तु व्यापार शर्तों का

वास्तविक निर्धारण दोनो राष्ट्रो मे उत्पादित वस्तुओ की मांग या प्रतिपूरक मांग के आधार पर होगा ।"[1]

किसी देश के लिए वस्तु-विनिमय की शर्तें उस समय अधिक अनुकूल होगी जबकि उसके द्वारा निर्यात की जाने वाली प्रत्येक इकाई का मूल्य आयातित वस्तु की प्रत्यय इकाई की तुलना मे बढ जाय । दूसरे शब्दो मे, ऐसी स्थिति होने पर यह देश उतनी ही मात्रा मे वस्तुओ का निर्यात करके पूर्वापेक्षा अधिक मात्रा मे वस्तुएं आयात कर सकेगा । गणितीय रूप मे—

$$\frac{Q_2}{Q_1}=\frac{P_1}{P_2}>1$$

यदि *A* देश वस्तु I को आयात करता है तथा वस्तु II को निर्यात करता है तो उपर्युक्त असमानता (Inequality) की स्थिति होगी । अत प्रो बेस्टेबिल का कथन है कि ' मिल का सिद्धान्त केवल क्षतिपूरक मांग के समीकरण का ही वर्णन नही करता बल्कि उन तत्वो को भी अंकित करता है जो कि उस समीकरण को बनाने मे क्रियाशील होते हैं ।"[2] अत मिल के अनुसार व्यापार शर्तें प्रतिपूरक मांगो द्वारा निर्धारित होती हैं जिससे आयात एव निर्यात मूल्य मे साम्य बना रहता है । मिल के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य का नियम केवल सामान्य मूल्य नियम का ही विस्तार मात्र है जिसे हम मांग एव पूर्ति के समीकरण के नाम से जानते हैं ।"[3]

जे एस मिल का उपर्युक्त विश्लेषण मौद्रिक मूल्यो के रूप मे न होकर वस्तु-मूल्यो (Commodity prices) के रूप मे था । अर्थात एक वस्तु का मूल्य दूसरी वस्तु का वस्तुओ के रूप मे व्यक्त करके ही मिल का पारस्परिक मांग का सिद्धान्त समझा जा सकता है ।

परन्तु मिल ने केवल मौद्रिक मूल्यो (money prices) की ही उपेक्षा नही की, वरन् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के भुगतान एव आय-मूल्य सम्बन्धो को भी अपने विश्लेषण मे भुला दिया जो कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं ।

2 व्यापार की शर्तों के विषय में मार्शल का सिद्धान्त अथवा मार्शल के अर्पण वक्र एवं विशुद्ध वस्तु-विनिमय सिद्धान्त (Marshallian Doctrine of Terms of Trade or Marshall's Offer Curves and Net Barter Terms of Trade)—*मार्शल के मतानुसार व्यापार की शर्तों का निर्धारण अन्तर्राष्ट्रीय मांग एव पूर्ति द्वारा होता है ।*[4] मिल द्वारा प्रतिपादित व्यापार शर्तों के सिद्धान्त मे मार्शल ने संशोधन करते हुए बताया कि व्यापार की शर्तों का निर्धारण करते समय दो देशो मे विद्यमान मजदूरी की दरों को भी दृष्टिगत रखना चाहिए । इसीलिए मार्शल ने व्यापार की शर्तों के निर्धारण हेतु मौद्रिक लागतो को अपने विश्लेषण मे शामिल किया । मार्शल द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त मे निम्नलिखित दो बातें महत्वपूर्ण हैं

(1) दी हुई व्यापार शर्तों (अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य) पर किसी वस्तु की मांग व पूर्ति इस बात पर निर्भर करेगी कि उस देश मे उत्पादन एव (आन्तरिक) उपभोग की क्षमता कितनी है, तथा

---

1 "*Equilibrium terms of trade must be within the upper and lower limits set* by the ratios in the respective countries of the costs at which the two commodities could be produced at home, but that the exact location of the terms of trade would be determined by the demands of the two countries for each other's products in terms of their own products of the reciprocal demands "
—J S Mill, quoted by Jacob Viner, *op cit.*, p 536

2 "Mill's theory does not consist merely in the statement of the equation of reciprocal demand but also *in the indication of the factors which are in operation to produce that equation* "
—Bastable, *Theory of International Trade*, p 180.

3 "This law of International Values is but an *extension of the more general* law of value which we call the equation of supply and demand "
—J S Mill

4 Alfred Marshall, *Money, Credit and Commerce*, Chapters VI-VIII and Appendices H and J.

(ii) व्यापार की शर्तें स्वयं प्रत्येक वस्तु की मांग व पूर्ति की लोच पर निर्भर करती हैं।

परन्तु मार्शल ने यह स्वीकार किया कि प्रत्येक देश में वस्तुओं की मांग व पूर्ति का सही अनुमान लगाना कठिन है, क्योंकि इन वस्तुओं की मात्रा एवं इनका गठन (composition) परिवर्तनशील है वस्तुतः इनमें मजदूरी के स्तर के साथ-साथ परिवर्तन होते रहते हैं। इसी कारण मार्शल ने किसी देश के आयात व निर्यात में सम्मिलित वस्तुओं का मूल्य जानने हेतु एक सामान्य (मौद्रिक) माप लेना श्रेष्ठ समझा। उन्होंने यह मान्यता ली कि किसी देश में यह माप श्रम की स्थिर इकाई का परिमाण मात्र है। अनेक वैकल्पिक अनुपातों के बीच साम्य स्थिति उस विनिमय अनुपात पर होगी जहाँ वस्तु की निर्यात (पूर्ति) एवं आयात (मांग) मात्राएँ समान हैं। इसी विनिमय-अनुपात को व्यापार की शर्तों की संज्ञा दी जा सकती है।

मार्शल ने इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए तालिका 6 1 की सहायता ली। तालिका 6 1 में प्रत्येक देश की अन्य देश की वस्तु के लिए की जाने वाली मांग (आयात) को दिखाया गया है तथा उस देश विशेष द्वारा प्रत्येक विनिमय अनुपात पर की जाने वाली अपनी वस्तु की पूर्ति (निर्यात) को भी दिखाया गया है। उदाहरण के लिए, यदि विनिमय-अनुपात (व्यापार की शर्तें) प्रत्येक 100 इकाई इस्पात के लिए 40 इकाई कपड़ा है (देखिए कॉलम नं. 1), तो भारत द्वारा की जाने वाली कपड़े की पूर्ति (निर्यात) 54,000 इकाइयाँ (देखिए कॉलम 5) होगी। किन्तु इस विनिमय अनुपात पर अमरीका द्वारा किया जाने वाला कपड़े का उपभोग (मांग) केवल 20,000 इकाइयों के बराबर ही होगा (देखिए कॉलम 2)। अतः इस विनिमय अनुपात पर भारत के पास कपड़े की अतिरिक्त मात्रा बची रहती है। भारत अपनी इस अतिरिक्त कपड़े की मात्रा को बेचने के लिए उसकी कीमत कम कर देता है, अतः तालिका 6 1 में विनिमय अनुपात बढ़कर मान लीजिए 55 इकाई कपड़ा (प्रति 100 इकाई इस्पात में) हो जाता है (देखिए कॉलम 1)। इस विनिमय अनुपात पर भारत द्वारा की जाने वाली कपड़े की पूर्ति (निर्यात) 60,000 इकाई के बराबर

तालिका 6·1

अनुमानित व्यापारिक सूची[1] . (इकाइयों में)

व्यापार की शर्तें (अमरीका की प्रत्येक 100 इकाई इस्पात के लिए भारत के कपड़े की इकाइयाँ)	भारत के कपड़े के लिए अमरीका की मांग (भारत के कपड़े की अमरीका में वास्तविक बिक्री)	अमरीका द्वारा इस्पात की पूर्ति	भारत में अमरीका इस्पात की बिक्री कीमत (प्रत्येक 100 इकाई इस्पात के लिए कपड़े की इकाइयाँ)	भारत द्वारा अमरीकी इस्पात के बदले की जाने वाली कपड़े की पूर्ति
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)
10	1,000	10,000	230	23 000
20	4,000	20 000	175	35,000
30	9,000	30,000	143	42,900
40	20,000	50,000	108	54 000
55	38,500	70,000	86	60,200
78	70,200	90,000	78	70,000
83	83 000	1,00 000	76	76,000

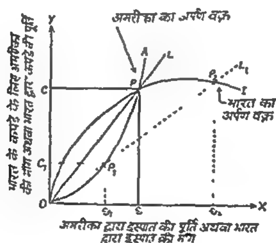
नोट—कॉलम 1, 2 तथा 4 अनुमानित हैं।

कॉलम $3 = \frac{\text{कॉलम } 2}{\text{कॉलम } 3} \times 100$ कॉलम $5 = \frac{\text{कॉलम } 4 \times \text{कॉलम } 3}{100}$

1 Based on A Marshall, *Money, Credit and Commerce*, p 162.

है (देखिए कॉलम 5) जबकि अमरीका का कपडे का उपयोग केवल 38,500 इकाइयो का है (देखिए कॉलम 2)। अत साम्य की स्थिति मे विनिमय अनुपात 78 100 होगा (देखिए कॉलम 1)। इस स्थिति मे भारत द्वारा किया जाने वाला कपडे का निर्यात 70,200 इकाई का होगा (देखिए कॉलम 5) जो कि अमरीका द्वारा की जाने वाली कपडे की मांग के बराबर है।

रेखाचित्र 6 1 मे मार्शल द्वारा प्रस्तुत अर्पण वक्रो (offer curves) की सहायता से उपर्युक्त बात को सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। अर्पण वक्र (offer curve) किसी भी देश की प्रत्येक वस्तु की मांग व पूर्ति के लिए विभिन्न सयोगों को दर्शाता है। इसी कारण अर्पण वक्र को मांग पूर्ति वक्र (demand supply curve) भी कहा जाता है। सरलता के लिए हम दो वस्तुओं व दो देशो का पूर्व-वर्णित मॉडल ही यहाँ लेते हैं। मान लीजिए य दो देश अमरीका व भारत हैं तथा ये दो वस्तुएँ इस्पात एव कपडा है। अमरीका इस्पात का निर्यात (पूर्ति) करता है तथा कपडे का आयात (मांग) करता है। इसके विपरीत भारत कपडे का निर्यात (पूर्ति) करता है एव इस्पात का आयात (मांग) करता है। रेखाचित्र 6·1 मे *OY* अक्ष पर हम कपडे की पूर्ति (अर्थात् भारत द्वारा कपडे का निर्यात एव अमरीका द्वारा कपडे का आयात) को लेते हैं (यहाँ तालिका 6 1 के कॉलम 2 को प्रदर्शित किया गया है) जबकि *OX*-अक्ष अमरीका द्वारा इस्पात की पूर्ति (अर्थात् भारत द्वारा इस्पात का आयात एवं अमरीका द्वारा इस्पात का निर्यात) ली गयी है (यहाँ तालिका 6 1 के कॉलम 3 को प्रदर्शित किया गया है।)



रेखाचित्र 6 1—मार्शल-एजवर्थ की व्यापार-शर्तों की सामान्य साम्य-स्थिति

रेखाचित्र 6 1 मे दोना देशो के अर्पण वक्रो को *OI* एव *OA* के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इनमे *OI* भारत का मांग-पूर्ति वक्र है तथा *OA* अमरीका का मांग-पूर्ति वक्र है (ये वक्र तालिका 6 1 के कॉलम 3 तथा 5 का रेखांकित वर्णन करते हैं)। *OA* वक्र *OX* अक्ष पर उन्नतोदर है क्योंकि भारत में कपडे की अधिक मात्रा केवल कम कीमता (इस्पात के रूप म) पर ही बेची जा सकती है। इसी प्रकार, *OI* वक्र *OY*-अक्ष पर उन्नतोदर है क्योंकि अमरीका इस्पात की अधिक इकाइयां केवल उसी स्थिति मे बेच सकता है जब इसके मूल्य मे कमी होती जाय।

रेखाचित्र 6 1 मे *OI* तथा *OA* परस्पर *P* बिन्दु पर काटते हैं। यही व्यापार की शर्तों का साम्य-बिन्दु है। इस (साम्य) स्तर पर कपडे तथा इस्पात की मांग एव पूर्ति की मात्रा क्रमशः *OC* तथा *OS* है।

मान लीजिए साम्य स्थिति *P* न होकर P_1 (जो कही *OA* अर्पण वक्र पर स्थित है) इस नवीन स्तर पर P_1S_1 अथवा OC_1 कपडे की इकाइयो का OS_1 इस्पात की इकाइयो के बदले

विनिमय किया जायगा । कपड़े व इस्पात का विनिमय-अनुपात अब $\frac{S_1P_1}{OS_1}$ होगा जो कि OL_1 वक्र के ढाल को प्रदर्शित करता है । परन्तु इस विनिमय-अनुपात पर भारत में OS_2 इस्पात की इकाइयाँ बेची जा सकती हैं । जबकि भारत द्वारा की जाने वाली कपड़े की पूर्ति P_2S के स्थान पर केवल P_1S_1 ही है । इसका यह तात्पर्य हुआ कि भारत द्वारा की जाने वाली इस्पात की माँग अमरीका द्वारा की जाने वाली इस्पात की पूर्ति से अधिक है । भारत का भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल हो जावेगा क्योंकि भारत अमरीका द्वारा बेची जा रही इस्पात से कहीं अधिक खरीद करेगा । यदि बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता तथा स्वर्णमान मौजूद हो तो प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन होने पर भारत से काफी सोना बाहर चला जायगा और इस स्थिति में मौद्रिक व्यवस्था के स्वचालित तन्त्र के कारण भारत में मूल्य एवं मजदूरी की दरें गिर जायेंगी । दूसरी ओर अमरीका के भुगतान-सन्तुलन अनुकूल होने के कारण स्वर्ण-कोषों तथा चलन में मुद्रा की राशि में वृद्धि हो जायगी तथा वहाँ मूल्य-स्तर तथा मजदूरी की दरों में भी आनुपातिक वृद्धि होगी । अस्तु, भारत व अमरीका दोनों देशों में उत्पादन-लागतों की संरचना बदल जायगी । भारत में कपड़े की उत्पादन-लागत घटेगी जबकि अमरीका में इस्पात की लागत में वृद्धि होगी । परिणामस्वरूप, अमरीकी जनता को भारत से अधिक कपड़ा मंगाने की प्रेरणा मिलेगी जबकि भारतीय उपभोक्ता इस्पात की ऊँची लागत के कारण अमरीका से इसकी आयातित मात्रा में कमी कर देंगे । अमरीकी उत्पादक अब भारतीय कपड़े के बदले अधिक इस्पात देने को सहमत होंगे । परिणामस्वरूप P_1S_1 की दूरी (ऊँचाई) में वृद्धि होगी जबकि OS_2 की चौड़ाई में कमी होगी अर्थात् दोनों देशों की व्यापार शर्तों के साम्य हेतु हम P_1 से दायीं ओर (OA पर) एवं P_2 से बायीं ओर (OI पर) तब तक चलते जायेंगे जब तक कि P बिन्दु पर OI एवं OA परस्पर काट न दें । यही बिन्दु व्यापार की शर्तों का साम्य स्तर है, तथा इस पर भारत व अमरीका के बीच साम्य $\frac{PS}{OS}$ पर निश्चित हो जायगा । यह विनिमय-अनुपात OL रेखा पर स्थिर रहेगा ।

इस मॉडल की दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि व्यापार की शर्तें प्रत्येक वस्तु की माँग व पूर्ति की लोच पर भी निर्भर करती है । यही तथ्य अर्पण वक्रों के बदलते हुए दबाव अथवा उनकी आकृति के रूप में भी प्रतिबिम्बित होता है । परन्तु पारस्परिक माँग के सिद्धान्त की यह मान्यता कि अन्ततः निर्यात एवं आयात समान हो जाते हैं, पूर्ति व माँग की धारणा को गौण बना देती है ।

इस प्रकार व्यापार की शर्तों को मूल्य या मात्राओं के अनुपात के रूप में व्यक्त किया जा सकता है । परन्तु व्यावहारिक जीवन में यह सब व्यर्थ है । दो या विभिन्न देशों के आयात व निर्यात सदैव समान नहीं होते और न ही वस्तुओं के मूल्य स्थिर रहते हैं । इसी कारण बहुधा दो देशों के बीच होने वाले व्यापार को हम व्यापार की आर्थिक शर्तों के सन्दर्भ में देखते हैं ।

दो अवधियों के बीच निर्यात व आयात मूल्यों के अनुपात को **विशुद्ध वस्तु-विनिमय व्यापार** *(Net Barter Terms of Trade) की संज्ञा दी जाती है । इसे* **वस्तु व्यापार की शर्तें** *(Commodity Terms of Trade) भी कहा जाता है । गणितीय रूप में,*

$$\frac{Px_1/Pm_1}{Px_o/Pm_o} = \frac{Px_1}{Pm_1} \times \frac{Pm_o}{Px_o} \qquad (6-1)$$

समीकरण (6-1) के अन्तर्गत

Px_1 = वर्तमान वर्ष के निर्यात-मूल्य हैं,
Px_o = आधार वर्ष के निर्यात-मूल्य हैं,
Pm_1 = वर्तमान वर्ष के आयात-मूल्य हैं, तथा
Pm_o = आधार वर्ष के आयात-मूल्य हैं,

मान लीजिए, निर्यात-मूल्य का वर्तमान सूचकांक बढ़कर 303 हो जाता है जबकि आयात-

मूल्य का वर्तमान सूचनाक बढ़कर 150 ही हो पाता है। ऐसी स्थिति मे व्यापार की नयी शर्तें इस प्रकार होगी

$$\frac{300}{150} \times \frac{100}{100} = \frac{2}{1} \text{ या } 2 \quad 1$$

[यह स्मरणीय है कि आधार वर्ष मे आयात व निर्यात दोनो मूल्यो का सूचनाक 100 माना जाता है (अर्थात् $Pm_o = Px_o = 100$)]

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि देश की व्यापार-शर्तो मे दोनो अवधियो के बीच 200 प्रतिशत का आधार हुआ। दूसरे शब्दो मे आयात-मूल्यो की तुलना म यदि निर्यात-मूल्यो की वृद्धि अधिक हो तो देश की व्यापार-शर्तों के लिए एक अनुकूल परिवर्तन माना जायगा। इसके विपरीत, यदि आयात-मूल्यो की वृद्धि निर्यात मूल्यो म हुई वृद्धि की अपेक्षा अधिक हो, तो यह देश की व्यापार शर्तों के लिए प्रतिकूल परिवर्तन होगा।

3 टॉसिग की व्यापार-शर्त सम्बन्धी धारणा (Taussig's Views on Terms of Trade)—मार्शल द्वारा प्रतिपादित विशुद्ध वस्तु-विनिमय व्यापार की धारणा के आधार पर हम किसी देश के भुगतान-सन्तुलन की प्रवृत्ति का आभास होता है। परन्तु मार्शल द्वारा प्रस्तुत विवरण मे निर्यात एव आयात मे सम्मिलित वस्तुओ की मात्रा को सम्मिलित नही किया जाता। चूंकि इसमे केवल आयात व निर्यात-मूल्यो पर ही विचार किया जाता है मार्शलीय सिद्धान्त व्यापार के परिमाण (volume) के विषय मे कुछ भी नही बता पाता। इस कमी को प्रोफेसर टॉसिग ने **'सकल-वस्तु-विनिमय व्यापार की शर्तो** की धारणा (the concept of the gross barter of trade) द्वारा दूर करने का प्रयास किया।[1] टॉसिग ने उन स्थितियो का विवरण दिया जिनके अन्तर्गत वस्तुओं के आधार पर निरूपित व्यापार की शर्तें भ्रामक निष्कर्ष दे सकती हैं। उन्होंने सकल वस्तु-विनिमय व्यापार-शर्तों को दो अवधियो के बीच आयात व निर्यात की वास्तविक मात्राओ (real quantities) के तुलनात्मक अनुपात के रूप मे परिभाषित किया। गणितीय रूप मे इसे निम्न रूप मे व्यक्त किया जा सकता है

$$\frac{Qm_1/Px_1}{Qm_1/Pm_1} \Bigg/ \frac{Qm_o/Pm_o}{Qx_o/Px_0} \qquad (6\text{—}2)$$

अथवा

$$\frac{Qx_1}{Qm_1} \cdot \frac{Pm_1}{Px_1} \Bigg/ \frac{Qm_o}{Qx_o} \cdot \frac{Px_o}{Pm_o} \qquad (6\text{—}3)$$

उपर्युक्त समीकरणो मे Px_1, Px_0 Pm_1 एव Pm_0 का अर्थ समीकरण (6-1) के सन्दर्भ मे स्पष्ट किया जा चुका है। शेष के अर्थ इस प्रकार हैं :

Qx_1 = वर्तमान वर्ष मे निर्यात की मात्रा,

Qm_1 = वर्तमान वर्ष मे आयात की मात्रा,

Qx_0 = आधार वर्ष मे निर्यात की मात्रा, तथा

Qm_0 = आधार वर्ष म आयात की मात्रा,

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यहाँ मार्शल ने व्यापार की शर्तों के विषय मे केवल आयात व निर्यात मूल्यो (Px_0 Pm_0 Px_1 एव Pm_1) का विश्लेषण किया, वही टॉसिग ने मूल्यो के साथ निर्यात एव आयात की मात्राओ को भी व्यापार की शर्तों के निर्धारण मे शामिल किया। यदि समीकरण (6-3) का मूल्य इकाई (एक) से अधिक हो, तो यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि देश की व्यापार की शर्तें पूर्वापेक्षा अनुकूल हुई है। इसके विपरीत, यदि समीकरण (6-3) का मूल्य इकाई से कम हो, तो यह कहा जायगा कि व्यापार की शर्तें देश के लिए प्रतिकूल हो गयी है।

1 F Taussig, *International Trade* (1927), pp 113 118

4. जेकब वाइनर एवं व्यापार-शर्तों का निर्धारण (*Jacob Viner's Terms of Trade*)— जेकब वाइनर के मतानुसार, "यदि निर्यात योग्य वस्तुओं के उत्पादन से सम्बद्ध औसत तकनीकी गुणांकों (technical coefficients) के रूप में उत्पादन-लागत का एक संकेतक (index) बनाना सम्भव हो, तथा यदि इन गुणांकों से वस्तु-रूपी व्यापार-संकेतक (commodity terms of trade index) का गुणा किया जाय तो इससे प्राप्त निर्देशांक केवल विशुद्ध वस्तु विनिमय पर आधारित व्यापार की शर्तों या वस्तु-रूपी व्यापार संकेतक की अपेक्षा व्यापार से प्राप्त लाभ की प्रवृत्ति का श्रेष्ठतर सूचक होगा।" उन्होंने इसे **सिंगल या एकाकी फैक्टोरल व्यापार शर्त** (single factoral terms of trade) की संज्ञा दी। गणितीय रूप से इसे निम्न रूप में व्यक्त किया जा सकता है :

$$\frac{Px_1/Px_0}{Pm_1/Pm_0} \cdot \frac{Fx_0}{Fx_1}$$

$$= \frac{Px_1}{Pm_1} \cdot \frac{Pm_0}{Px_0} \cdot \frac{Fx_0}{Fx_1} \qquad (6-4)$$

वाइनर ने $\frac{Fx_0}{Fm_1}$ को निर्यातित वस्तुओं के उत्पादन में प्रयुक्त साधनों के अनुपात के रूप में लेते हुए इसे लागत के एक संकेतक के रूप में व्यक्त किया। इसके अतिरिक्त, समीकरण (6-4) में $\frac{Px_1}{Pm_1} \cdot \frac{Pm_0}{Px_0}$ निर्यातित एवं आयातित वस्तुओं के मूल्यों का अनुपात है और इसलिए इसे वस्तु-रूपी व्यापार की संज्ञा दी जा सकती है।

5. दोहरी साधनगत व्यापार की शर्तें (*Double Factoral Terms of Trade*)—उत्पादकता का तकनीकी गुणांक (technical multiplier) किसी देश के निर्यात एवं आयात दोनों ही को समान रूप से प्रभावित करता है। यदि व्यापार की शर्तों के निर्धारण हेतु आयात को भी दृष्टिगत रखा जाय तो हमें दोहरी फैक्टोरल व्यापार की शर्तें प्राप्त होंगी। गणितीय रूप में इसे समीकरण (6-5) में व्यक्त किया गया है :

$$\frac{Px_1/Px_0}{Pm_1/Pm_0} \cdot \frac{Fm_1/Fm_0}{Fx_1/Fx_0}$$

$$\frac{Px_1}{Pm_1} \cdot \frac{Pm_0}{Px_0} \cdot \frac{Fm_1}{Fx_1} \cdot \frac{Fx_0}{Fm_0} \qquad (6-5)$$

समीकरण (6-5) में $\frac{Fm_1}{Fm_0}$ प्रत्येक आयातित इकाई के उत्पादन में प्रयुक्त साधनों के अनुपात को व्यक्त करता है और इस कारण इसके आधार पर आयातित वस्तु की लागत ज्ञात की जा सकती है। दूसरे शब्दों में, उक्त समीकरण से हम निर्यात व आयात दोनों ही के तकनीकी गुणांकों का मूल्य ज्ञात कर सकते हैं। दोहरी फैक्टोरल व्यापार की शर्तों के विषय में रॉबर्टसन ने अपने विचार प्रस्तुत किये थे। परन्तु व्यापार की शर्तों का इस रूप में निर्धारण केवल सिद्धान्त रूप में ही ठीक लगता है। *व्यवहार में यह विधि उपयुक्त नहीं होगी क्योंकि निर्यात एवं आयात में प्रयुक्त साधनों* की उत्पादकता के गुणांक ज्ञात करना एक कठिन कार्य है।

6. आय पर आधारित व्यापार की शर्तें (Income Terms of Trade)—ए. एच. इम्ला (A. H. Imlah) एवं जी. एस. डोरेंस (G. S. Dorrance) ने कुछ समय पूर्व आय के आधार पर व्यापार की शर्तों का निर्धारण करने हेतु एक विधि प्रस्तुत की। उनके मतानुसार किसी देश के लोगों में आयात करने की क्षमता का निर्धारण मुख्य रूप से उनकी आय द्वारा होता है। मान लीजिए, किसी देश का भुगतान साम्य स्थिति में है, अर्थात्

$$Px.Qx = Pm.Qm$$

$$Qm = \frac{PxQx}{Pm}$$

इसी बात को इस रूप में कहा जा सकता है कि देश की आयात क्षमता निर्यातित वस्तुओं के मूल्य, इनकी मात्रा एवं आयातित वस्तुओं के मूल्यों पर निर्भर करती है, अर्थात्

$$Qm = f(Px, Qx, Pm) \quad ....(6—6)$$

उक्त समीकरण $\overline{Qm}$ देश की आयात-क्षमता का प्रतीक है। इस समीकरण में विद्यमान स्वतन्त्र चरों में से किसी एक में भी होने वाला परिवर्तन Qm में परिवर्तन ला देगा। देश की आयात-क्षमता में निम्न परिस्थितियों में वृद्धि होगी :

(i) जब निर्यात-मूल्य बढ़ जायें ($Px \uparrow$), तथा/अथवा
(ii) जब निर्यात की मात्रा बढ़ जाय ($Qx \uparrow$), तथा/अथवा
(iii) जब आयात-मूल्य कम हो जायें ($Pm \downarrow$)।

यदि दो अवधियों में आयातित वस्तुओं की मात्रा ज्ञात हो, तो हम निम्न विधि से आय-व्यापार-शर्तें ज्ञात कर सकते हैं :

$$Px_1Qx_1 = Pm_1Qm_1 \quad . (1)$$

या $$Qm_1 = \frac{Px_1Qx_1}{Px_1} \quad ....(2)$$

(जो देश की वर्तमान आयात क्षमता को व्यक्त करता है।)

इसी प्रकार, $$Px_0Qx_0 = Pm_0\,Qm_0 \quad ....(3)$$

या $$Qm_0 = \frac{Px_0Qx_0}{Px_0} \quad ... (4)$$

(जो देश की आधारवर्षीय आयात क्षमता का प्रतीक है।)

अस्तु, आय व्यापार शर्तें $$= \frac{Qm_1}{Qm_0}$$

$$= \frac{Px_1.Qx/Px_0.Qx_0}{Pm_1 \quad Pm_0}$$

$$= \frac{Qm_1}{Qm_0} \quad ..(6—7)$$

7. **बाजार व्यापार की शर्तें** (Market Terms of Trade)—प्रोफेसर केर्सी दूधा (Prof. Kerssy Doodha) कुल एवं विशुद्ध वस्तु-विनिमय व्यापार की शर्तों के संयोग को बाजार-व्यापार-शर्तें के रूप में परिभाषित करते हैं। आगे वे इसे दो अवधियों (two consecutive periods) में निर्यात की मात्रा एवं मूल्य तथा आयात की मात्रा एवं मूल्य के अनुपात के रूप में व्यक्त करते हैं। गणितीय दृष्टि से बाजार-व्यापार शर्तें

$$= \frac{Px_1}{Pm_1} \cdot \frac{Qx_1}{Qm_1} \Big/ \frac{Px_0}{Pm_0} \cdot \frac{Qx_0}{Qm_0} \quad ...(6—8)$$

इस प्रकार व्यापार की शर्तों का निर्धारण दो विधियों में आयात व निर्यात मूल्यों एवं मात्राओं के आधार पर भी किया जा सकता है।

व्यापार की शर्तों के निर्धारक घटक
[FACTORS DETERMINING TERMS OF TRADE]

व्यापार की शर्तों का निर्धारण अनेक घटकों द्वारा होता है, परन्तु इनमें से प्रमुख घटक अग्र प्रकार हैं :

(1) प्रशुल्क-नीति का प्रभाव,
(2) अवमूल्यन का प्रभाव,
(3) पूँजी की गतिशीलता,
(4) आर्थिक विकास तथा भुगतान-सन्तुलन स्थिति,
(5) विदेशी वस्तुओं की माँग लोच या सीमान्त आयात प्रवृत्ति ।

(1) प्रशुल्क-नीति का प्रभाव (Effect of Tariff Policy)—प्रशुल्क (tariff) के फलस्वरूप देश कम मूल्य पर वस्तुओं का आयात कर सकता है । वस्तुतः प्रशुल्क का एक बड़ा अनुपात विदेशी निर्यातकर्ता द्वारा वहन किया जाता है । प्रशुल्क-नीति के प्रभाव को आंशिक साम्य-विश्लेषण (partial equilibrium analysis) अथवा मार्शलीय अर्पण वक्रों (offer curves) की सहायता से अधिक सरलतापूर्वक समझा जा सकता है ।

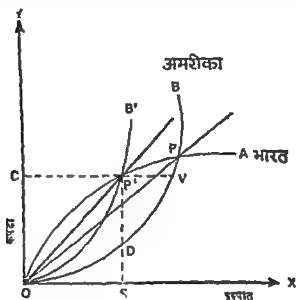
आंशिक साम्य की दशा—रेखाचित्र 6.2 में परिवहन-व्यय न होने की स्थिति का प्रशुल्क-पूर्व का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य है । प्रशुल्क लागू होने के बाद प्रत्येक बाजार में मूल्य-स्तर P_1 हो जाता है । यदि दोनों देशों में माँग तथा पूर्ति की लोच लगभग सही हो तो प्रशुल्क के फलस्वरूप आयातकर्ता व निर्यातकर्ता दोनों देशों में मूल्य आंशिक रूप में बढ़ेगा, अर्थात् प्रशुल्क का भार आयातकर्ता व निर्यातकर्ता समान रूप से वहन करेंगे ।

रेखाचित्र 6.2—प्रशुल्क का प्रभाव

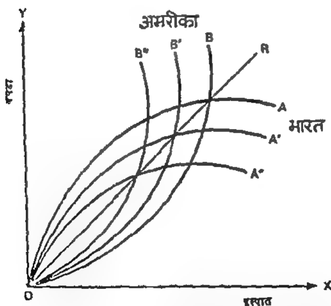
रेखाचित्र 6.2 हमारे इस तर्क की पुष्टि करता है कि माँग और पूर्ति की लोच के अनुरूप प्रशुल्क-भार का निर्यात व आयात करने वाले देशों के बीच आवंटन (allocation) होगा । उपर्युक्त रेखाचित्र में प्रशुल्क का एक भाग आयात करने वाले उपभोक्ता ऊँचे मूल्य के रूप में वहन करेंगे जबकि प्रशुल्क का शेष भाग निर्यात वस्तुओं के नीचे मूल्य के रूप में निर्यात करने वाले देश को वहन करना होगा । परन्तु यदि निर्यात करने वाले देश द्वारा निर्यात वस्तुओं का मूल्य घटा दिया जाय तो आयात करने वाले देश को प्रशुल्क के बावजूद कम मूल्य पर वस्तु प्राप्त हो जायगी तथा इसके लिए व्यापार की शर्तें अनुकूल हो जायेंगी ।

अर्पण वक्र (offer curves) के आधार पर स्पष्टीकरण—रेखाचित्र 6.3 में भारत तथा अमरीका के इस्पात और कपड़े के अर्पण वक्र (क्रमशः OA एवं OB) प्रस्तुत किये गये हैं । ये अर्पण वक्र P बिन्दु पर परस्पर काटते हैं । इसी के आधार पर हम यह ज्ञात कर सकते हैं कि भारत व अमरीका इस्पात व कपड़े का विनिमय किस अनुपात के आधार पर करेंगे । जैसा कि स्पष्ट है, भारत इस्पात का आयात तथा कपड़े का निर्यात करता है, जब कि अमरीका इस्पात का निर्यात एवं कपड़े का आयात करता है ।

अब मान लीजिए अमरीका द्वारा इस्पात पर निर्यात-कर (प्रशुल्क) लगा दिया जाता है। इसके फलस्वरूप इसका अर्पण वक्र OB से स्थानान्तरित होकर OB' हो जाता है वस्तुत अमरीका द्वारा कपड़े के आयात पर प्रशुल्क लगाने पर भी उस देश का अर्पण वक्र OB से OB' की स्थिति



रेखाचित्र 6 3—अर्पण वक्र एव प्रशुल्क का प्रभाव



रेखाचित्र 6 4—अर्पण वक्र एवं प्रतिशोधात्मक प्रशुल्क नीतियाँ

में आ सकता है। चाहे कपड़े के आयात पर कर लगाया जाय अथवा इस्पात के निर्यात पर, प्रशुल्क का प्रयोजन यह होगा कि अमरीका इस्पात की निर्दिष्ट मात्रा के बदले अब पूर्वापेक्षा अधिक मात्रा मे कपड़ा चाहता है। उदाहरण के लिए अमरीका पहले OC मात्रा कपड़े के बदले CV इकाइयाँ इस्पात की विनिमय करता था परन्तु प्रशुल्क के बाद अब SP' इकाइयों का ही विनिमय करना पसन्द करता है—शेष अर्थात् P'V इकाइयाँ प्रशुल्क के रूप में प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत, यह भी कहा जा सकता है कि जहाँ पहले अमरीका OS मात्रा इस्पात के बदले DS इकाइयाँ कपड़े

का विनिमय करने को तैयार था अब (निर्यात-कर लगाने के बाद) *OS* इकाइयाँ इस्पात के बदले कपड़े की *P'S* इकाइयाँ विनिमय करने को तत्पर है। कुछ भी हो, अर्पण वक्र का *OB* से *OB'* के रूप में स्थानान्तरण होने पर दोनों वस्तुओं का विनिमय-अनुपात *OP* से बदलकर *OP'* हो जाता है, तथा व्यापार की शर्तें अमरीका के अनुकूल हो जाती हैं।

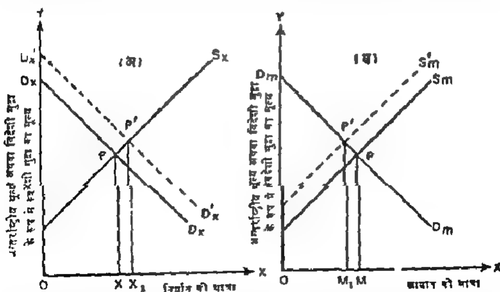
यदि अमरीका द्वारा कपड़े के आयात पर प्रशुल्क लगाने की प्रतिक्रियास्वरूप भारत भी इस्पात के आयात पर प्रशुल्क लागू कर दे तो अमरीका को प्रशुल्क-नीति के कारण लाभ नहीं होगा तथा भारत को प्रतिशोधात्मक (retaliatory) नीति के कारण अमरीका की व्यापार शर्तें उसके लिए अनुकूल नहीं हो पायेंगी।

यदि भारत व अमरीका दोनों ही प्रशुल्क की आड़ में व्यापार करना प्रारम्भ कर दें तो इससे दोनों ही देशों को व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभ कम हो जायेंगे। रेखाचित्र 6·4 में प्रतिशोध की नीति के प्रभाव व्यक्त किये गये हैं।

वस्तुतः यदि अमरीकी प्रशुल्क-नीति द्वारा व्यापार शर्तों को अधिक अनुकूल बना सकता है तो भारत के लिए भी स्वयं के लाभ हेतु (अथवा प्रतिरक्षा हेतु) ऐसा करना पूर्ण सम्भव है। अमरीका को प्रशुल्क के फलस्वरूप उसी स्थिति में लाभ हो सकता है जब भारत कोई प्रतिशोधात्मक नीति न अपनाये। एडम स्मिथ ने इन्हीं कारणों से प्रशुल्क-नीति का विरोध किया था।

रेखाचित्र 6·4 में भारत व अमरीका द्वारा प्रतिशोधात्मक प्रशुल्क नीतियाँ अपनाने के फलस्वरूप व्यापार की शर्तें तो अपरिवर्तित रहती हैं परन्तु इनके कारण व्यापार का परिमाण काफी कम हो जाता है। व्यापार के परिमाण में हुई इस कमी के कारण विदेशी व्यापार से दोनों देशों को होने वाले लाभ भी कम हो जाते हैं।

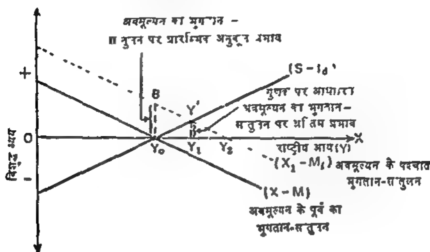
(2) अवमूल्यन का व्यापार-शर्तों पर प्रभाव (Effect of Devaluation on Terms of Trade)—जब कोई देश अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करता है तो उस देश की निर्यात वस्तुओं का माँग वक्र ऊपर की ओर विवर्तित हो जाता है। दूसरी ओर देश में विद्यमान आयातकर्ताओं को उसी मात्रा में आयात की गयी वस्तुओं के बदले अधिक स्वदेशी मुद्रा का भुगतान करना पड़ता है और इस कारण आयातित वस्तुओं का माँग वक्र नीचे की ओर विवर्तित हो जाता है। रेखाचित्र 6·5 में आयात व निर्यात माँग पर अवमूल्यन के प्रभाव प्रदर्शित किये गये हैं।



रेखाचित्र 6·5—अवमूल्यन का आयात व निर्यात की माँग पर प्रभाव

अवमूल्यन के फलस्वरूप देश की मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा के रूप में कम हो जाता है। इसके फलस्वरूप देश की वस्तुओं की विदेशों में माँग अर्थात् देश की निर्यात माँग में वृद्धि होगी। इसके विपरीत, अवमूल्यन के कारण विदेशी वस्तुओं का देश की मुद्रा के रूप में अधिक भुगतान करना

पडता है, इस कारण विदेशी वस्तुओ की माँग अर्थात् देश मे विदेशी वस्तुओ की पूर्ति मे कमी हो जायगी । रेखाचित्र 6 5 का भाग (अ) अवमूल्यन का निर्यात माँग पर प्रभाव व्यक्त करता है जबकि भाग (ब) म अवमूल्यन के कारण आयातित वस्तुओं की पूर्ति म हुई कमी प्रदर्शित की गयी है। कुल मिलाकर अवमूल्यन के कारण देश की विदेशी व्यापार की शर्तें अनुकूल हो जाती हैं । इसके साथ ही अवमूल्यन आयात म कटौती एव निर्यात म वृद्धि के माध्यम से देश के भुगतान-सन्तुलन पर भी अनुकूल प्रभाव डालता है । रेखाचित्र 6 6 से यह स्पष्ट हो सकती है ।



रेखाचित्र 6 6—अवमूल्यन का भुगतान-सन्तुलन पर प्रभाव

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि भुगतान-सन्तुलन मे (वर्तमान सन्दर्भ मे) केवल आयात व निर्यात का अन्तर ($X—M$) ही लिया जा रहा है । व्यापक सन्दर्भ मे भुगतान-सन्तुलन मे पूंजी की गतिशीलता, जहाजी व अन्य सेवाएँ तथा यात्रियो द्वारा किया गया व्यय भी शामिल किये जाते हैं ।

अन्तु अवमूल्यन के परिणामस्वरूप जब निर्यात मे वृद्धि एव आयात मे कटौती हो जाती है तो देश का भुगतान-सन्तुलन पूर्वापेक्षा अनुकूल हो जाता है । रेखाचित्र 6 6 मे अर्थ-व्यवस्था की प्रारम्भिक आय Y_0 पर लीजिए जहाँ आयात व निर्यात समान हैं । अवमूल्यन के बाद भुगतान सन्तुलन अनुकूल होने के कारण भुगतान-सन्तुलन वक्र ($X—M$) ऊपर की ओर विवर्तित हो जाता है, तथा $Y_0 B$ राशि का (विशुद्ध) भुगतान देश को अन्य देशो से प्राप्त होगा । परन्तु कालान्तर मे निर्यात के आयात से आधिक्य मे कमी होती जायगी और अन्तत Y_2 आय पर आयात व निर्यात पुन समान हो जायेंगे । वस्तुत अवमूल्यन के फलस्वरूप भुगतान-सन्तुलन एव देश की राष्ट्रीय आय पर कितना अनुकूल प्रभाव होगा यह इस बात पर निर्भर करेगा कि ($S—I_d$) वक्र का ढलाव अर्थात् गुणक का मूल्य कितना है । अगले अध्याय मे हम विदेशी व्यापार गुणक की ओर अधिक विस्तार से चर्चा करेंगे ।

(3) पूंजी की गतिशीलता (Capital Movements)—हम यह जानते हैं कि देश मे पूंजी की प्राप्ति होने पर भुगतान-सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव होता है जबकि पूंजी बाहर जाने पर भुगतान सन्तुलन पर प्रतिकूल प्रभाव होगा । इस प्रकार के पूंजी स्थानान्तरण देश के निवासियो या विदेशी-नागरिको के स्वत्व अधिकारो (claims of residents) को प्रभावित करते हैं । पूंजी की प्राप्ति का अर्थ यह होगा कि देश के लोगो को विदेशी लोग भुगतान कर रहे हैं जबकि पूंजी के भुगतान का आशय यह होगा कि देश के लोग विदेशियो को भुगतान कर रहे हैं । इस प्रकार पूंजी की पर्याप्त प्राप्ति देश की व्यापार शर्तों को अनुकूल बनाती है जबकि पूंजी की प्राप्ति म कमी अथवा विदेशियो के देश क नागरिको पर बढते हुए दावे से व्यापार की शर्तें देश के लिए प्रतिकूल हो जाती हैं ।

(4) आर्थिक विकास तथा भुगतान-सन्तुलन स्थिति (Economic Development and

Balance of Payment Situation)—जैसा कि ऊपर बताया गया है, निर्यात के आयात से अधिक होने, अर्थात् भुगतान-सन्तुलन विपक्ष में होने पर व्यापार की शर्तों पर प्रतिकूल प्रभाव होगा। परन्तु भुगतान-सन्तुलन स्वयं देश के आर्थिक विकास के स्तर पर निर्भर करता है। साधारण तौर पर यह देखा गया है कि विकसित देश अधिक से अधिक वस्तुओं को कम लागत पर निर्मित करने एवं इनका अधिक निर्यात करने की स्थिति में रहते हैं जबकि अधिकांश उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन देश में ही करने के कारण इनके आयात बहुत थोड़े से होते हैं। इसके फलस्वरूप ही विकसित देशों का भुगतान-सन्तुलन साधारणतया पक्ष में रहता है। इसके विपरीत, विकासशील देश आयात अधिक करते हैं और ऊँची लागतों तथा औद्योगिक पिछड़ेपन के कारण अधिक मात्रा में निर्यात करने की स्थिति में नहीं होते। यही कारण है कि विकासशील देशों का भुगतान-सन्तुलन विपक्ष में रहता है तथा इनके लिए व्यापार की शर्तें भी प्रतिकूल रहती हैं। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि देश में आर्थिक विकास का स्तर भुगतान-सन्तुलन को प्रभावित करने वाला एक महत्वपूर्ण घटक है और इसी कारण यह व्यापार की शर्तों को भी प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है।

(5) विदेशी वस्तुओं की माँग-लोच या सीमान्त आयात प्रवृत्ति (Elasticity of Demand for Foreign Goods or The Marginal Propensity to Import)—व्यापार की शर्तों को सीमान्त आयात प्रवृत्ति अथवा विदेशी वस्तुओं की माँग की लोच भी प्रभावित करती है। इस दृष्टि से विदेशी वस्तुओं के माँग वक्र का स्वरूप काफी महत्वपूर्ण है। यदि सीमान्त आयात प्रवृत्ति इकाई के समान है ($MPM = 1$), तो इसका यह अर्थ होगा कि देश की आय बढ़ने के साथ-साथ आयात में आनुपातिक वृद्धि होगी। ऐसी स्थिति में अवमूल्यन का प्रभाव आयात व निर्यात पर समान रूप से होगा तथा व्यापार-शर्तें यथावत् रहेंगी। यदि सीमान्त आयात प्रवृत्ति इकाई से कम है तो अवमूल्यन के फलस्वरूप व्यापार की शर्तों पर अनुकूल प्रभाव होगा और यदि सीमान्त आयात प्रवृत्ति इकाई से अधिक है ($MPM > 1$), तो अवमूल्यन होने पर आयात में अनुपात से अधिक वृद्धि होगी एवं व्यापार की शर्तें प्रतिकूल रूप से प्रभावित होंगी।



व्यापार की शर्तें तथा आर्थिक विकास
[TERMS OF TRADE AND ECONOMIC DEVELOPMENT]

(क्या प्रतिकूल व्यापार-शर्तों का आवश्यक रूप से यह अर्थ है कि विदेशी व्यापार से प्राप्त लाभों में कमी हुई है ?)

व्यापार की शर्तों का विश्लेषण इस कारण भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है कि व्यापार-शर्तें आर्थिक विकास के सिद्धान्तों से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध हैं। यदि किसी विकासशील देश की व्यापार-शर्तें उसके अनुकूल हैं तो उसमें द्रुत आर्थिक विकास की सम्भावना काफी बढ़ जाती है। अनुकूल व्यापार-शर्तों के कारण इस विकासशील देश को आर्थिक विकास की गति बढ़ाने हेतु आवश्यक मशीनों व कच्चे माल के आयात में सुविधा होगी। सैद्धान्तिक दृष्टि से इस प्रकार अनुकूल व्यापार-शर्तें देश में आर्थिक विकास की गति को बढ़ाने में सहायक हो सकती हैं।

परन्तु जेवन्स (Jevons) व्यापार की शर्तों को विदेशी व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभ का प्रतीक नहीं मानते। उनका यह तर्क है कि व्यापार की शर्तों द्वारा आयात की सीमान्त इकाई से प्राप्त उपयोगिता एवं निर्यात की सीमान्त इकाई की अनुपयोगिता का सम्बन्ध व्यक्त किया जाता है जबकि व्यापार से होने वाले लाभों में आयात से प्राप्त कुल उपयोगिता एवं निर्यात की कुल उपयोगिता का अन्तर लिया जाता है। यह भी सम्भव है कि किन्हीं परिस्थितियों में व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होने पर भी विदेशी व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभ बढ़ते रहें। व्यापार से प्राप्त लाभ उस स्थिति में अधिकतम होंगे जब आयातों की सीमान्त उपयोगिता एवं निर्यातों की सीमान्त अनुपयोगिता समान हो ($MU_m = MU_x$)। इसका अर्थ यह है कि व्यापार की अन्तिम या सीमान्त इकाई कोई लाभ प्रदान नहीं करती।

अस्तु, व्यापार की शर्तों एवं आर्थिक विकास में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, तथा जैसा कि जेवन्स ने कहा है, व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होने पर भी देश को विदेशी व्यापार से प्राप्त होने वाला लाभ उत्तरोत्तर बढ़ सकता है। कच्चा माल एवं आवश्यक यन्त्र की पर्याप्त उपलब्धि देश के आर्थिक विकास में अधिक योगदान दे सकती है, भले ही अल्पकाल में व्यापार की शर्तें देश के लिए अनुकूल न हों।

विकासशील देशों की व्यापार-शर्तें प्रतिकूल होने के कारण [CAUSES OF DETERIORATION IN THE TERMS OF TRADE OF UNDER-DEVELOPED COUNTRIES]

(1) प्राविधि का पिछड़ापन—भारत जैसे देशो मे पिछडी हुई प्राविधि के कारण उत्पादकता का स्तर नीचा है तथा प्रति इकाई उत्पादन-लागत विकसित देशो की तुलना म काफी ऊँची है। चूँकि प्राविधि का गुणाक व्यापार की शर्तों का एक महत्वपूर्ण निर्धारक घटक है, पिछडी हुई प्राविधि के कारण विकासशील देशो की व्यापार शर्तें भी प्रतिकूल रहती है। इसके विपरीत उन्नत प्राविधि के कारण विकसित देशो की व्यापार की शर्तें अनुकूल रहती हैं।

(2) जनसंख्या की वृद्धि—विकसित देशो की अपेक्षा विकासशील देशो मे जनसख्या की वृद्धि दर काफी अधिक है। इसके फलस्वरूप देश म विभिन्न वस्तुओ की माँग का दबाव बढता जाता है एव योग्य अतिरेक मे कमी हो जाती है। यही कारण है कि इन देशो मे व्यापार की शर्तें प्रतिकूल रहती है।

(3) ह्रासमान प्रतिफल—विकासशील देशो मे मुख्य व्यवसाय कृषि है जिसमे उत्पादन ह्रासमान प्रतिफल के अन्तगत होता है। इसके परिणामस्वरूप भी कृषि-क्षेत्र म उत्पादन-लागत अधिक होती है। इसके विपरीत विकसित देशो मे न केवल उद्योगो मे अपितु कृषि मे भी उन्नत प्राविधि के कारण वहाँ उत्पादन-लागत काफी नीची है। पिछडे हुए देशो की व्यापार-शर्तें प्रतिकूल होने का यह भी एक मुख्य कारण है।

(4) उत्पादन के साधनों की गतिशीलता—साधारणतया विकसित देशो मे उत्पादन के साधनो का आवटन वस्तुओ के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यो के अनुरूप हो जाता है। यदि किसी वस्तु विशेष का मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो मे कम हो जाय तो विकसित देश उसका उत्पादन कम करके साधनो को उन उद्योगो मे प्रवृत्त करेंगे जहाँ मूल्य बढ रहे हैं अथवा जहाँ मूल्यो मे ह्रास नही हो रहा है। इसका कारण यह है कि इन देशो मे उत्पादन के साधन अर्थात श्रम व पूँजी अत्यधिक गतिशील हैं। परन्तु विकासशील देशो की अर्थ-व्यवस्था प्राथमिक व्यवसायो पर आधारित होती है तथा इन व्यवसायो मे प्रयुक्त उत्पादन के साधनो मे साधारणतया गतिशीलता का अभाव होता है। सामाजिक रूढियो एव मान्यताओ के कारण श्रम की गतिशीलता विकासशील देशो मे विकसित देशो की अपेक्षा कम होती है। यही नही अर्थव्यवस्था पिछडे होने के कारण साधनो के लिए वैकल्पिक उपयोग भी सीमित रहते है। इन देशो के अधिकाश निर्यात कृषि या खनिज से सम्बद्ध रहते हैं और यदि इन वस्तुओ के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य कम हो जायें तब भी उत्पादन के साधनो को अन्य व्यवसायो मे प्रवृत्त करना सम्भव नही हो पाता। फलस्वरूप कम मूल्य पर भी अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे ये देश काफी (प्राथमिक) वस्तुएँ बेचने को तैयार रहते हैं। इसी प्रकार, साधनो मे पर्याप्त गतिशीलता न होने के कारण भी पिछडे हुए देशो की व्यापार-शर्तें प्रतिकूल बनी रहती हैं।

(5) प्रतिस्थानापन्न वस्तुओं का अभाव—पिछडे हुए देश अनेक अनिवार्य वस्तुओ की पूर्ति हेतु विकसित देशो पर निर्भर रहते है, जबकि विकसित देशो की निर्भरता इन पर नही होती। न केवल विकसित देशो मे उन वस्तुओ का पर्याप्त उत्पादन होता है, जो पिछडे हुए देश निर्यात करने मे समर्थ है, अपितु वे (विकसित देश) वैज्ञानिक साधनो के उपयोग द्वारा उन वस्तुओ का विकल्प भी खोज लेते है। कपास के स्थान पर नाइलोन का धागा तथा जूट के स्थान पर विशेष विधि द्वारा निर्मित कृत्रिम टाट इस बात के द्योतक है कि विकसित देश उत्तरोत्तर पिछडे हुए देशो पर अपनी निर्भरता मे कमी करते जा रहे हैं। इसके विपरीत, पिछडे हुए देश ऐसा कोई विकल्प नही ढूंढ पा रहे है—अपितु बढती हुई जरूरतो के कारण उनकी विकसित देशो पर निर्भरता बढी है जिसके कारण उनकी व्यापार शर्तें प्रतिकूल होती जा रही है।

राउल प्रेबिश के शब्दो मे, "अल्प-विकसित देश की व्यापार-शर्तें लगातार प्रतिकूल होती जा रही है।"[1] उन्होने अपनी पुस्तक *Towards New Trade Policy for Development* मे *यह स्पष्ट किया कि दीर्घकाल म निर्मित वस्तुओ के मूल्यो मे कमी होने की प्रवृत्ति रही है चूंकि*

---

1 Raul Prebish, "Commercial Policy in Underdeveloped Countries" *American Economic Review*, Papers and Proceedings, May 1959, pp 291-294

अल्प-विकसित देशों में मुख्य रूप से प्राथमिक वस्तुओं जैसे—चाय, चीनी, कॉफी, तांबा आदि का ही अधिक उत्पादन होता है। इसके साथ-साथ इन वस्तुओं में कोई गुणात्मक परिवर्तन भी नहीं हुआ है। जबकि विकसित देश मुख्यत. निर्मित वस्तुओं का ही अधिक उत्पादन करते हैं तथा उन वस्तुओं में बहुत अधिक सीमा तक गुणात्मक सुधार भी हुआ है। अतः प्राथमिक वस्तुओं के मूल्यों की अपेक्षा निर्मित वस्तुओं के मूल्यों में अधिक वृद्धि हो रही है। फलस्वरूप विकसित देशों की व्यापार-शर्तें अधिक अनुकूल होती जा रही हैं।

(6) विकासशील देशों में संगठन का अभाव—विकासशील देश चाय, शक्कर, कोको (कहवा), कॉफी, चीड़ का तेल आदि अनेक वस्तुओं तथा खनिज-पदार्थों का उत्पादन करते हैं, जिनका विकसित देशों में उत्पादन नहीं होता। यदि विकासशील देशों में संगठन हो (यूरोपियन साझा बाजार की भाँति) तो वे इन वस्तुओं के निर्यात हेतु विकसित देशों में अनुकूल शर्तों पर सहमति प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु इन देशों में प्रतिस्पर्धा होने तथा साथ ही साथ अनिवार्यताओं की पूर्ति हेतु दबाव होने के कारण ये प्रतिकूल व्यापार-शर्तों पर भी उपर्युक्त वस्तुओं का निर्यात करते हैं।

प्रो. सिंगर ने अल्प-विकसित देशों की व्यापार-शर्तें प्रतिकूल होने का एक अन्य कारण बताया है। उनके मत में तकनीकी उत्पत्ति (Production Technique) से लाभ या तो उत्पादनकर्ता ऊँची आय के रूप में प्राप्त करते हैं या उपभोक्ता को कम मूल्यों के रूप में प्राप्त होता है। अल्प-विकसित देशों में तकनीकी विकास के लाभ उपभोक्ता को प्राथमिक वस्तुओं के कम मूल्यों के रूप में प्राप्त होते हैं, जबकि विकसित देशों में इसका लाभ उत्पादकों को ऊँची आय के रूप में मिलता है। प्रो. ए. एम. मक्लेड के अनुसार, अल्प-विकसित देश लगभग समान वस्तुओं का ही उत्पादन करते हैं। वे अपनी वस्तुओं के लिए बाहर बाजार नहीं ढूँढते हैं। इनमें आवश्यक संगठन का अभाव होने के कारण ये देश अपनी वस्तुओं के बाजारों की प्राप्ति हेतु आपस में प्रतियोगिता करते रहते हैं। फलस्वरूप इनका लाभ का अंश कम होता चला जाता है। विकसित देश इस प्रतियोगिता का लाभ उठा लेते हैं।

जब तक उपर्युक्त परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन नहीं होगा, पिछड़े हुए देशों के लिए व्यापार की शर्तें अनुकूल नहीं हो सकेंगी।

प्रश्न एवं उनके संकेत

1. व्यापार की शर्तों से आप क्या समझते हैं? उन घटकों का विवरण दीजिए जो इसके निर्धारण को प्रभावित करते हैं।
   What is meant by terms of trade? Explain the factors that influence its determination.
   [संकेत—प्रश्न के प्रथम भाग में व्यापार की शर्तों का अर्थ बताइए तथा द्वितीय भाग के उत्तर में व्यापार की शर्तों के निर्धारण की प्रक्रिया समझाइए। इस प्रश्न के उत्तर में उपयुक्त रेखाचित्र तथा उदाहरणों का उपयोग लाभप्रद होगा।]
2. वस्तुओं तथा आय से सम्बद्ध व्यापार-शर्तों में क्या अन्तर है? इन धारणाओं का व्यावहारिक महत्व बताइए।
   What do you understand by commodity terms of trade and income terms of trade? What is the practical significance of these concepts?
3. व्यापार की शर्तों से सम्बद्ध विभिन्न धारणाओं को स्पष्ट रूप से समझाइए।
   Explain clearly the different concepts of terms of trade.
   [संकेत—प्रश्न 2 व 3 के उत्तर एक जैसे होंगे। इनमें व्यापार की शर्तों का अर्थ बताने के बाद इनमें स... विभिन्न धारणाओं का उल्लेख कीजिए तथा यथासम्भव इनका तुलनात्मक विवेचन कीजि... प्रश्न के द्वितीय भाग के उत्तर हेतु वस्तुओं तथा आय से सम्बद्ध व्यापार-शर्तों के व्याव...रिक महत्व का भी उल्लेख कीजिए।]
4. यह बताइए कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ क्यों प्राप्त होते हैं? इन लाभों को किस प्रकार मापा जा... है?
   Explai... how gains of international trade accrue? How are ... measured?

[संकेत—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्रेता व विक्रेता, दोनों ही पक्षों का लाभ होता है यह स्पष्ट कीजिए। उदाहरणों सहित बताइए कि व्यापार के कारण इन लाभों की उत्पत्ति किस प्रकार होती है तथा इन लाभों को किस प्रकार मापा जा सकता है।]

5 अन्तर्राष्ट्रीय रूप से खरीदी या बेची जाने वाली वस्तुओं का मूल्य निर्धारण किस प्रकार किया जाता है? विस्तार से समझाइए।
How are the prices of internationally traded goods determined? Explain fully.

6 आप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त लाभों से क्या समझते हैं? क्या आपकी सम्मति में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ किसी देश के आकार पर निर्भर करते हैं? अपने उत्तर की पुष्टि हेतु पर्याप्त कारण दें।
How would you define gains from international trade? Do you think that distribution of gains depends upon the size of the country? Give reasons for your answer

[संकेत—इस प्रश्न के प्रथम भाग का उत्तर प्रश्न 4 के अनुरूप होना चाहिए। अपने उत्तर के द्वितीय भाग में यह बताएँ कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त लाभ किस सीमा तक देश के आकार अर्थात् देश को उपलब्ध प्राकृतिक साधनों की मात्रा पर निर्भर करते हैं। अपने उत्तर को अधिक प्रभावशाली बनाने हेतु उदाहरण एवं उपयुक्त तर्क प्रस्तुत करें। यह भी स्पष्ट करें कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ किस सीमा तक राजनीतिक, तकनीकी एवं सामाजिक स्थिति पर निर्भर करते हैं।]

7 रेखाचित्र की सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों के सिद्धान्त में पूर्ति व माँग की लोच की धारणाओं का महत्व बताइए।
Explain with the help of diagrams the significance of the concept of elasticity of supply and demand in the theory of international values.

[संकेत—साधारण तौर पर माँग व पूर्ति की लोच का वस्तु के मूल्य पर पर्याप्त प्रभाव होता है। ठीक इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में भी वस्तु का मूल्य निर्धारण काफी सीमा तक इसकी पूर्ति व माँग की लोच द्वारा निर्धारित होता है। यही स्पष्ट करने हेतु रेखाचित्रों की सहायता से इस प्रश्न का उत्तर दें।]

8 व्यापार के लाभ किस प्रकार उत्पन्न होते हैं? ये किस रूप में व्यापार की शर्तों पर निर्भर करते हैं तथा उनके परिवर्तन द्वारा कैसे मापे जा सकते हैं?
How do gains from trade arise? In what sense do these depend on terms of trade and can be measured by changes therein?

[संकेत—उत्तर का प्रथम भाग प्रश्न 4 के अनुरूप होगा। उत्तर के द्वितीय भाग में व्यापार की शर्तों तथा व्यापार से प्राप्त लाभों का सम्बन्ध बताना चाहिए। रेखाचित्र व उदाहरणों की सहायता से यह भी बताना चाहिए कि व्यापार की शर्तों में परिवर्तन होने पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभों पर क्या प्रभाव होता है।]

9 व्यापार की शर्तों के निर्धारण में पूर्ति एवं माँग की लोचों का क्या महत्व है विस्तार से समझाइए।
Analyse the significance of supply and demand elasticities influencing the terms of trade

[संकेत—इस प्रश्न के उत्तर में विद्यार्थियों को पूर्ति व माँग की लोचों का व्यापार-शर्तों के निर्धारण में योगदान बताना है अतएव उन्हें चाहिए कि पहले पूर्ति व माँग की लोचों तथा व्यापार की शर्तों का अर्थ समझाएँ और तत्पश्चात् इनके परस्पर सम्बन्ध की व्याख्या करें।]

10 टॉसिग द्वारा निरूपित विशुद्ध एवं सकल व्यापार-शर्तों का अन्तर बताइए। किसी देश की सकल व्यापार शर्तों में परिवर्तन का आपकी दृष्टि में क्या प्रभाव होगा?
Explain Taussig's distinction between net and gross terms of trade What significance would you attach to changes in a nation's gross terms of trade?

11. व्यापार की शर्तों से सम्बद्ध विभिन्न धारणाओं का उल्लेख कीजिए। क्या आपकी दृष्टि में व्यापार की शर्तों में गिरावट का परिणाम आवश्यक रूप से आर्थिक कल्याण की क्षति के रूप में होता है ?

Discuss various concepts of terms of trade Do you think that deterioration in terms of trade necessarily means loss of economic welfare ?

[संकेत—उपर्युक्त प्रश्न का प्रथम भाग प्रश्न 3 के अनुरूप है। द्वितीय भाग मे यह बताना चाहिए कि व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होने पर आर्थिक कल्याण पर क्या प्रभाव होता है। यह स्मरणीय है कि किन्ही परिस्थितियो में व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होने पर भी आर्थिक कल्याण पर प्रतिकूल प्रभाव नही होता।]

12. निम्न धारणाओं के बीच अन्तर बताइए (अ) वस्तुगत व्यापार की शर्तें तथा साधनगत व्यापार की शर्तें, एवं (ब) सकल व्यापार की शर्तें तथा विशुद्ध व्यापार की शर्तें। इनमें से व्यापार के लाभों का ज्ञान किनके माध्यम से सम्भव है ?

Distinguish between (a) commodity terms of trade and factoral terms of trade, and (b) gross barter terms of trade and net barter terms of trade. Which of these would you rely upon as an indicator of gains from trade ?

7

व्यापार गुणक की अवधारणा
[THE CONCEPT OF TRADE MULTIPLIER]

गुणक की धारणा का सबसे पहले कैम्ब्रिज अर्थशास्त्री आर. एफ. कॉहन[1] ने आर्थिक सिद्धान्त में प्रयोग किया। बाद में कीन्स ने गुणक के सिद्धान्त का विकास किया। कीन्स का विनियोग गुणक *एक मनोवैज्ञानिक नियम (Psychological law) पर आधारित है। कीन्स के विनियोग गुणक* सिद्धान्त का प्रतिपादन अर्थशास्त्रियों ने विनियोग के परिवर्तनों का उपभोग-व्यय के प्रभावों के माध्यम से आय पर पड़ने वाले लगातार प्रभावों (cumulative effects) को बताने के लिए किया। इस सिद्धान्त के अनुसार विनियोग में होने वाले परिवर्तन आय के माध्यम से उपभोग में होने वाले परिवर्तनों को उत्पन्न करते हैं जो पुनः आय में परिवर्तन करते हैं। अतः गुणक का सिद्धान्त, विनियोग में दिये हुए परिवर्तन का आय पर पड़ने वाले अन्तिम प्रभाव को मापने के लिए प्रयोग किया जाता है।

दूसरे शब्दों में, गुणक (multiplier) एक ऐसी विधि प्रस्तुत करता है जिसके आधार पर किसी स्वतन्त्र चर (independent variable) अर्थात् विनियोग, सरकारी खर्च या निर्यात में परिवर्तन होने पर आश्रित चर (independent variable) अर्थात् राष्ट्रीय आय में होने वाला परिवर्तन ज्ञात किया जा सकता है। समष्टि अर्थशास्त्र (macro economics) के विद्यार्थी यह जानते हैं कि विनियोग (investment) में वृद्धि होने पर राष्ट्रीय आय में विनियोग की वृद्धि एवं गुणक के गुणनफल के समान वृद्धि होगी। गणितीय या सूत्र रूप में—

$$\triangle Y = \triangle I k \qquad (7\text{—}1)$$

समीकरण (7-1) में $\triangle Y$ आय के परिवर्तन को, $\triangle I$ विनियोग में हुई वृद्धि को तथा k गुणक के मूल्य को व्यक्त करते हैं।

गुणक का आकार जानने के लिए हम दो महत्वपूर्ण धारणाओं—सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (marginal propensity to consume या MPC) तथा सीमान्त बचत प्रवृत्ति (marginal propensity to save या MPS)—के बारे में जानना होगा। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय का एक भाग उपभोग में प्रयुक्त करता है तथा शेष को बचाकर रखता है ($Y = C + S$)। आय में वृद्धि होने पर बढ़ी हुई सारी आय उपभोग में प्रयुक्त नहीं की जाती अपितु इसका एक अंश बचत के रूप में चला जाता है जिसका उपभोग विनियोग हेतु किया जाता है। हम यह भी जानते हैं कि प्रत्येक उपभोक्ता द्वारा उपभोग किया गया व्यय अन्य दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों की आय बन जाता है और इस प्रकार उपभोग अथवा इसमें होने वाली वृद्धि का आय पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है।

यदि यह मान लिया जाय कि देश की जनता अपनी बढ़ी हुई आय का 20 प्रतिशत बचत में लगाती है (तथा इसका विनियोग कर देती है), तो यह भी कहा जा सकता है कि वे अपनी

---

1 रिचार्ड एफ. कॉहन ने रोजगार गुणक (Employment Multiplier) को विकसित किया जबकि कीन्स ने विनियोग गुणक की धारणा का विकास किया। रोजगार गुणक एक दिये हुए विनियोग के परिवर्तन तथा कुल रोजगार में परिवर्तन के अनुपात की माप करता है जबकि विनियोग गुणक एक दिये हुए विनियोग में परिवर्तन तथा कुल आय के परिवर्तन के अनुपात की माप करता है।

अतिरिक्त आय का 80 प्रतिशत उपभोग में प्रयुक्त करेंगे। इस प्रकार, सीमान्त बचत प्रवृत्ति 0.20 एवं सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति 0.80 हुई। इस बात को निम्न रूप में भी कहा जा सकता है :

$$\Delta Y = \Delta C + \Delta S$$

तथा

$$\text{MPC—MPS} = 1 \qquad (7—2)$$

विनियोग गुणक का सम्बन्ध उपभोग व्यय पर किये गये विनियोग के परिवर्तन तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति अथवा इसके विपरीत सीमान्त बचत प्रवृत्ति से है। गुणक का मूल्य वास्तव में सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति द्वारा निश्चित किया जाता है।

मान लीजिए, विनियोग में 100 रुपये की वृद्धि हो जाती है (ΔI = Rs 100)। अब यदि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति 0.8 के रूप में ली जाय तो अतिरिक्त विनियोग का कुल आय पर प्रभाव निम्न रूप में होगा।

अतिरिक्त आय : प्रथम अवधि : 100 रु. → बचत 20 रु. एवं उपभोग 80 रु.
" " *द्वितीय अवधि* . *80 रु. → बचत 16 रु.* एवं उपभोग 64 रु.
" " तृतीय अवधि : 64 रु. → बचत 12.80 रु. एवं उपभोग 51.20 रु.

और इस प्रकार उत्तरोत्तर आय में होने वाली वृद्धि कम होती जायगी। अन्ततः आय की कुल वृद्धि (ΔY) 500 रुपये होगी। इस प्रकार 100 रुपये के प्रारम्भिक अतिरिक्त विनियोग के कारण आय में 500 रुपये की वृद्धि हो जायगी। इस उदाहरण में गुणक 5 हुआ, अर्थात् विनियोग में जितनी वृद्धि होगी आय में उसके फलस्वरूप 5 गुनी वृद्धि हो जायगी। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि गुणक का मूल्य सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति पर निर्भर करेगा। सूत्र रूप में—

$$k = \frac{1}{1—\text{MPC}} \qquad (7—3)$$

परन्तु MPS = 1 - MPC, अतः उक्त समीकरण को इस रूप में भी व्यक्त किया जा सकता है :

$$k = \frac{1}{\text{MPS}} \qquad (7—3a)$$

यह स्पष्ट है कि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति जितनी अधिक या कम होगी गुणक का मूल्य भी उतना ही अधिक या कम होगा। उदाहरण के लिए, यदि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) 0.9 हो जाय तो गुणक $\frac{1}{1-0.9}$ अर्थात् 10 हो जायगा। इसके विपरीत, MPC = 0.6 हो, तो गुणक 2.5 रह जायगा। इस प्रकार हम निम्न निष्कर्ष दे सकते हैं

(i) MPS का मूल्य जितना अधिक (कम) होगा, गुणक का मूल्य उतना ही कम (अधिक) होगा,

(ii) MPC का जितना अधिक (कम) होगा, गुणक का मूल्य उतना ही अधिक (कम) होगा;

(iii) जब MPS = 0 एवं MPC = 1 की स्थिति हो, तो गुणक का प्रभाव अधिकतम रूप में एवं शत-प्रतिशत होगा तथा प्रत्येक अवधि में अतिरिक्त विनियोग के समान आय बढ़ती जायगी, तथा

(iv) जब MPS = 1 हो, तो MPC शून्य होगा एवं समस्त आय बचत के रूप में चले जाने के कारण गुणक का मूल्य भी इकाई के बराबर ($k = 1$) होगा।

गुणक के प्रकार
[TYPES OF MULTIPLIER]

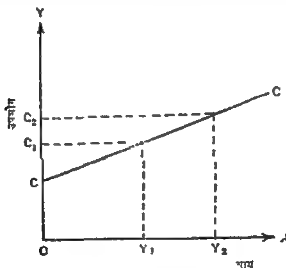
ऊपर हमने विनियोग गुणक का उदाहरण लिया था, जिसके अन्तर्गत आय पर अतिरिक्त विनियोग का प्रभाव दर्शाया गया था। मोटे तौर पर गुणक को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा

सकता है। एक श्रेणी में हम एक बन्द अर्थ-व्यवस्था (closed economy) को लेते हैं जिसमे विदेशों से कोई आर्थिक सम्बन्ध नहीं होता। इसके विपरीत एक अन्य प्रकार की अर्थ-व्यवस्था हो सकती है जिनमें विदेशों म पूंजी एवं वस्तुओं का आदान-प्रदान किया जाता है। प्रथम श्रेणी के सम्बद्ध गुणकों को पुन तीन उप-श्रेणियों म बाँटा जाता है—(i) विनियोग गुणक (Investment Multiplier) जिसका ऊपर वर्णन किया गया है, (ii) रोजगार गुणक (Employment Multiplier), एव (iii) स्वचालित गुणक (*Autonomous Multiplier*)। इसके विपरीत, दूसरी श्रेणी के गुणक को विदेशी व्यापार गुणक या निर्यात गुणक (Foreign Trade Multiplier or Export Multiplier) भी कहा जाता है।

हम इसके पूर्व विनियोग के स्तर म हुई वृद्धि के गुणक प्रभाव की व्याख्या कर चुके हैं। ऊपर यह भी बताया जा चुका है कि किस प्रकार विनियोग गुणक का मूल्य सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) एव सीमान्त बचत प्रवृत्ति (MPS) पर निर्भर करता है। विदेशी व्यापार गुणक का अध्ययन करने से पूर्व यह बता देना उपयुक्त होगा कि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति एव सीमान्त बचत प्रवृत्ति स्वयं आय से सम्बद्ध हैं।

$$\text{सीमान्त बचत प्रवृत्ति या MPC} = \frac{\Delta C}{\Delta Y} \qquad (7\text{—}4)$$

यहाँ ΔY आय म हुए परिवर्तन को एव ΔC उसके अनुरूप उपभोग व्यय में हुए परिवर्तन को व्यक्त करते हैं। सामान्यतया यह मान लिया जाता है कि आय में वृद्धि के साथ-साथ उपभोग व्यय में वृद्धि होगी, लेकिन यह वृद्धि अनुपात से कम होगी ($MPC<1$)। रेखाचित्र 7 1 में वक्र *CC* इसी तथ्य को स्पष्ट करता है कि आय एव उपभोग मे आनुपातिक सम्बन्ध नहीं है। इसी बात को इस रूप म भी कहा जा सकता है कि उपभोग वक्र (*CC*) का ढलाव इकाई से कम है। दूसरे शब्दों म उपभोग वक्र का ढलाव एव MPC पर्यायवाची धारणाएँ हैं।



रेखाचित्र 7 1—उपभोग-फलक

उपर्युक्त रेखाचित्र *7 1* मे आय OY_1 से बढ़कर OY_2 हो जाती है तो उपभोग व्यय OC_1 से बढ़कर OC_2 हो जाता है। अस्तु, सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति $\frac{\Delta C}{\Delta Y} = \frac{C_1C_2}{Y_1Y_2}$ हुई। चूंकि उपभोग फलन *CC* एक सरल रेखा के रूप म है प्रस्तुत उदाहरण म MPC अथवा उपभोग फलन का ढलाव एक-सा (constant) रहेगा। यदि आय 800 रुपये से बढ़कर 900 रुपये हो जाय तथा

उपभोग-व्यय 600 रुपये से बढ़कर 670 रुपये हो जाय, तो $MPC = \frac{670-600}{900-800} = 0.7$ होगी।

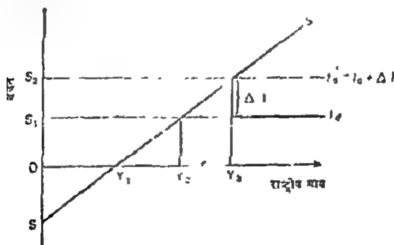
परन्तु सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति से भिन्न एक धारणा और है वह औसत उपभोग प्रवृत्ति (average propensity to consume या APC) जो उपभोग व्यय एवं आय का अनुपात बताती है। दूसरे शब्दों में,

$$APC = \frac{C}{Y}$$

चूंकि उपभोग व्यय एवं आय में आनुपातिक सम्बन्ध नहीं होता, APC भी आय के भिन्न-भिन्न स्तरों पर भिन्न होगी। उदाहरण के लिए, उपर्युक्त उदाहरण में आय 800 रुपये परन्तु जब उपभोग व्यय 600 रुपये था तो $APC = \frac{600}{800}$ या 0·75 थी। आय 900 रुपये होने पर जब उपभोग व्यय 670 हो गया तो $APC = \frac{670}{900}$ या 0·74 रह गयी। इस प्रकार यदि MPC इकाई से कम हो तो APC आय में वृद्धि के साथ-साथ कम होती जायेगी। कीन्स (Keynes) ने बताया था कि सदैव धनात्मक परन्तु इकाई से कम होती है।

इससे पूर्व विनियोग गुणक तथा MPC के बीच सम्बन्धों की व्याख्या की जा चुकी है। यहाँ इतना बता देना पर्याप्त होगा कि MPC जितनी अधिक होगी गुणक का मूल्य भी उतना ही अधिक होगा। चूंकि MPC=1—MPC होती है, MPC का मूल्य जितना कम होगा, गुणक का आकार उतना ही अधिक बड़ा होगा।

MPS अथवा सीमान्त बचत प्रवृत्ति बचत फलन का ढलाव है, और यह स्पष्ट करती है कि आय की वृद्धि का बचत के परिणाम पर क्या प्रभाव होता है। रेखाचित्र 7·2 में बचत फलन SS आरम्भ में ऋणात्मक बचत दर्शाता है जो इस बात का प्रतीक है कि उपभोक्ता आय के निचले स्तर पर अपव्यय करते हैं, अर्थात् प्रारम्भ में उपभोग व्यय आय से अधिक होता है। परन्तु जब आय OY_1 होती है तो अपव्यय रुक जाता है। इससे आय होने पर बचत धनात्मक



रेखाचित्र 7·2—बचत-फलन एवं विनियोग गुणक

होती जाती है क्योंकि OY_1 से आगे बचत फलन का ढलाव धनात्मक है। संक्षेप में, $MPS = \frac{\Delta S}{\Delta Y}$ है तथा स्पष्ट करती है कि अतिरिक्त आय का कितना भाग अतिरिक्त बचत में प्रयुक्त होगा।

रेखाचित्र 7 2 मे SS वचत फलन है। यदि अर्थ-व्यवस्था मे स्वायत्त विनियोग Id हो तो आय का साम्य स्तर OY_1 होगा। मान लीजिए, अब विनिमय मे वृद्धि होकर इसका स्तर Id' हो जाता है। साम्य आय का स्तर अब OY_3 हो जायगा। अस्तु, आय पर विनियोग का प्रभाव $\Delta Y = k\ \Delta I$ के समान होगा। यदि वचत फलन का ढलाव बढ जाय अर्थात MPS बढ जाय तो आय का नया साम्य स्तर OY_3 न होकर इससे कम होगा।

साम्य आय क्यो प्राप्त हुई इसके लिए हमे मान्यता लेनी होगी कि कुल आय का एक भाग उपभोग मे प्रवृत्त होता है जबकि शेष को बचत के रूप मे रखकर उसका विनियोग कर दिया जाता है। इस प्रकार एक सरलीकृत मॉडल मे बचत एव विनियोग को हमेशा समान मान लिया जाता है। गणितीय रूप मे—

$$Y = C = S$$

अथवा $\quad Y = C + I$

इसलिए $\quad S \quad I \qquad (7—5)$

यहाँ Y राष्ट्रीय आय का, C उपभोग का S वचत का एव I विनियोग का प्रतीक है।

समीकरण (7-3) के अन्तगत गुणक की परिभाषा $k = \frac{1}{MPS}$ रूप मे दी गयी थी।

परन्तु $MPS = \frac{\Delta S}{\Delta Y}$ है जिसे $S = I$ के कारण $MPS = \frac{\Delta I}{\Delta Y}$ के रूप मे भी व्यक्त किया जा सकता है। अस्तु समीकरण (7-3) को निम्न रूप मे व्यक्त करना भी असम्भव है :

$$k = \frac{1}{MPS} = \frac{1}{\frac{\Delta I}{\Delta Y}} = \frac{\Delta Y}{\Delta I}$$

चूंकि $\quad k = \frac{\Delta Y}{\Delta I}$ है, $k\ \Delta\ I = \Delta Y \qquad (7—6)$

दूसरे शब्दो मे, विनियोग मे होने वाले परिवर्तन के फलस्वरूप अतिरिक्त विनियोग एव गुणक के गुणनफल के समान आय मे परिवर्तन होगा। यह एक बन्द अर्थ व्यवस्था मे प्रयुक्त विनियोग गुणक का एक उदाहरण है।

रोजगार गुणक
(Employment Multiplier)

जैसा कि ऊपर बताया गया है, रोजगार गुणक की धारणा कीन्स (Keynes) से भी काफी समय पूर्व कॉहन (Cohen) ने दी थी। उनके मतानुसार प्राथमिक रोजगार मे वृद्धि होने पर इससे कई गुनी वृद्धि अन्य क्षेत्रो के रोजगार मे होती है। इसके पीछे मूल मान्यता यह थी कि रोजगार मिलने पर जो श्रमिक अब तक वेकार था वह आय प्राप्त होते ही उपभोग हेतु व्यय करने की स्थिति मे आ जाता है। फलस्वरूप जिन मदो पर उपभोग मे वृद्धि होगी वहाँ उत्पादन एव रोजगार के स्तर मे भी वृद्धि हो जायगी।

अस्तु प्राथमिक रोजगार के फलस्वरूप कुल रोजगार के स्तर मे कई गुनी वृद्धि होती है। प्राथमिक रोजगार वह रोजगार है जिसका सृजन नये उद्योगो के कारण होता है। कुल रोजगार की वृद्धि प्राथमिक रोजगार एव गुणक के गुणनफल के समान होगी। वस्तुत रोजगार गुणक भी सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) के मूल्य पर निर्भर करता है, क्योकि अतिरिक्त आय का जितना अधिक उपभोग व्यय मे प्रयुक्त किया जायगा, उतनी ही वस्तुओ की मांग एव रोजगार के स्तर मे वृद्धि होगी।

यह मानते हुए कि प्रति श्रमिक विनियोग का अनुपात $\left(\frac{K}{L}\right)$ सभी उद्योगों में समान है, रोजगार गुणक के लिए निम्न सूत्र दिया जा सकता है :

$$k_n = \frac{\Delta N}{\Delta N_p} \qquad (7-7)$$

यहाँ k_n रोजगार गुणक, ΔN कुल रोजगार की वृद्धि एवं ΔN_p प्राथमिक रोजगार के स्तर में वृद्धि को प्रदर्शित करते हैं। मान लीजिए, $\Delta N = 10{,}000$ श्रमिक हैं, एवं $\Delta N_0 =$ 1,000 श्रमिक हैं तो रोजगार गुणक $\frac{10{,}000}{1{,}000} = 10$ हुआ। दूसरे शब्दों में, 1 व्यक्ति को प्राथमिक रोजगार मिलने पर अन्तत: कुल रोजगार में 10 नये व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त होगा।

रोजगार गुणक तथा विनियोग गुणक के बीच कई महत्वपूर्ण सम्बन्ध पाये जाते हैं जिनको हम निम्न प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :

(i) यदि उत्पादन तथा रोजगार के बीच अनुपात अर्थात् श्रम की औसत उत्पादकता (AP_l) सभी प्रकार के उत्पादन के लिए समान है तो रोजगार गुणक (k_n) विनियोग गुणक (k) के बराबर होगा अथवा $(k_n = k)$।

(ii) लेकिन जैसे-जैसे उत्पादन पूर्ण रोजगार स्तर की ओर बढ़ता है, श्रम की औसत उत्पादकता (AP_l) गिरने लगती है, रोजगार गुणक (k_n) विनियोग गुणक (k) की तुलना में अधिक होगा अथवा $(k_n > k)$।

(iii) यदि उत्पादन पूर्ण रोजगार स्तर से कम हो रहा है तो रोजगार गुणक (k_n) विनियोग गुणक (k) से कम होगा अथवा $(k_n < k)$।

विदेशी व्यापार गुणक
(Foreign Trade Multiplier)

एक खुली अर्थ-व्यवस्था में, अथवा ऐसी अर्थ-व्यवस्था में जहाँ आयात एवं निर्यात की छूट हो, वस्तुओं का कुल उत्पादन (Y) एवं आयात (M) का कुल उपभोग एवं विनियोग $(C+I)$ तथा निर्यात (X) के समान होना चाहिए। यदि देश में बचत एवं विनियोग की राशि शून्य मान ली जाय तो देश का समस्त उत्पादन उपभोग के एवं आयात-निर्यात के समान होना चाहिए। इस प्रकार,

$$Y + M = C + I + X$$

परन्तु $$I = S = O, \text{ अत. } Y = C \qquad ....(7-8)$$

$$\text{एवं } M = X$$

अर्थात् निर्यात तथा आयात आय के सभी साम्य स्तरों पर समान होने चाहिए।

यह मानते हुए कि निर्यात देश की राष्ट्रीय आय के स्तर पर निर्भर न होकर स्वायत्त (autonomous) है, यदि आयात व निर्यात की सारणियाँ दी हुई हों तो सरलतापूर्वक यह ज्ञात किया जा सकता है कि आयात व निर्यात के विभिन्न स्तरों पर आय का साम्य स्तर कितना है। परन्तु इससे पूर्व हम यह भी स्पष्ट कर देना उचित मानते हैं कि आयात एवं राष्ट्रीय आय के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। सीमान्त एवं औसत उपभोग प्रवृत्तियों की भाँति सीमान्त एवं औसत आयात प्रवृत्तियाँ भी होती हैं जो आय के विभिन्न स्तरों तथा आयात के बीच सम्बन्ध प्रदर्शित करती हैं। अस्तु,

$$\text{MPM} = \frac{\Delta P}{\Delta Y} \qquad (7-9)$$

$$\text{APM} = \frac{M}{\cdot\cdot} \qquad (7-10)$$

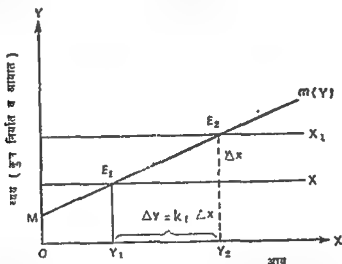
यहाँ MPM सीमान्त आयात प्रवृत्ति, APM औसत प्रवृत्ति, $\triangle M$ आयात की मात्रा मे परिवर्तन, $\triangle Y$ आय मे परिवर्तन, M आयात का स्तर एव Y आय का स्तर व्यक्त करते हैं। बहुधा यह मान लिया जाता है कि राष्ट्रीय आय मे वृद्धि के साथ-साथ कुल आयात में भी वृद्धि होती है, भले ही आयात की यह वृद्धि आय की वृद्धि के साथ आनुपातिक न हो। अस्तु, MPM एवं APM दोनो ही धनात्मक होती हैं।

आयात की लोच—आयात की लोच (elasticity to import) आय मे वृद्धि की प्रतिक्रियास्वरूप आयात मे हुई प्रतिक्रिया को दर्शाता है। इसे सूत्र रूप मे निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है :

$$\eta_m = \frac{\Delta M}{\Delta Y}\frac{Y}{M} \qquad (7-11)$$

जैसा कि स्पष्ट है आयात-लोच के सूत्र का प्रथम अश समीकरण (7-9) के अनुरूप अर्थात् सीमान्त आयात प्रवृत्ति है जबकि इस सूत्र का द्वितीय अश समीकरण (7-10) का विलोम अर्थात् 1/APM है। अस्तु, आयात लोच को η_m = MPM/APM के रूप में भी व्यक्त किया जा सकता है।

बचत को शून्य एव आयात को आय का फलन (function) मानते हुए रेखाचित्र 7·3 मे आयात तथा निर्यात की समानता के आधार पर साम्य आय स्तर OY_1 बताया गया है। यदि निर्यात का स्तर X से बढकर X_1 हो जाय तो आयात-फलन $[m(Y)]$ को यह अब E_2 पर काटेगा और फलस्वरूप साम्य आय OY_1 से बढकर OY_2 हो जायगी। जैसा कि रेखाचित्र 7 3 से स्पष्ट है, आय की वृद्धि निर्यात की वृद्धि की अपेक्षा काफी अधिक है और यह सब निर्यात का गुणन-प्रभाव (multiplier effect) ही है।



रेखाचित्र 7·3—शून्य बचत की स्थिति में विदेशी व्यापार गुणक

रेखाचित्र 7·3 मे आयात फलन $[m(Y)]$ यह स्पष्ट करता है कि आय शून्य होने पर भी देश के लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु OM राशि का आयात करते हैं। इस फलन का धनात्मक ढलाव इस बात को बताता है कि आय मे वृद्धि के साथ-साथ आयात अनुपात से कम वृद्धि होती है। E_1 पर स्वायत्त निर्यात एव आयात समान है, अतः साम्य आय OY_1 होगी। यदि निर्यात का स्तर बढकर X_1 हो जाय तो साम्य आय का स्तर बढकर OY_2 हो जायगा क्योंकि इसी स्तर पर निर्यात एव आयात समान हैं। रेखाचित्र 7·3 से यह स्पष्ट है कि निर्यात-फलन आय के स्तर पर आश्रित नही है।

रेखाचित्र 7·3 एवं विवरण के आधार पर विदेशी व्यापार गुणक (Foreign Trade Multiplier) ज्ञात किया जा सकता है।

चूँकि $X = M$

अत: $\Delta X = \Delta M$ ...(7—12)

यदि समीकरण (7-12) को दोनों तरफ ΔY से भाग दिया जाय, तो

$$\frac{\Delta X}{\Delta Y} = \frac{\Delta M}{\Delta Y}$$

इसी समीकरण को इस रूप में भी रखा जा सकता है :

$$\frac{\Delta Y}{\Delta X} = \frac{\Delta Y}{\Delta M} = \frac{1}{\frac{\Delta M}{\Delta Y}}$$

$$= \frac{1}{\text{MPM}}$$ (MPM = सीमान्त आयात प्रवृत्ति)

$$\frac{\Delta Y}{\Delta X} = k_f$$ (k_f = विदेशी व्यापार गुणक)

$$\Delta X = \Delta X\ k_f$$ (7—13)

समीकरण (7-13) बताता है कि निर्यात वृद्धि (ΔX) होने पर कुल आय में होने वाली वृद्धि (ΔY) निर्यात-वृद्धि तथा विदेशी व्यापार गुणक के गुणनफल के समान होगी। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि बचत या विनियोग के शून्य होने पर एक खुली अर्थ-व्यवस्था में निर्यात की निर्दिष्ट वृद्धि आय में उस समय तक वृद्धि करेगी जहाँ आयात की वृद्धि और निर्यात की वृद्धि में समानता है।[1] राष्ट्रीय आय में कुल वृद्धि साधारणतया निर्यात में होने वाली वृद्धि से बहुत अधिक होती है और यह विदेशी व्यापार गुणक का ही एक प्रभाव है।

आयात में परिवर्तन का प्रभाव—बचत तथा विनियोग शून्य रहने की स्थिति में राष्ट्रीय आय के स्तर में परिवर्तन केवल निर्यात में परिवर्तन के कारण ही नहीं होता। बहुधा निर्यात का स्तर वही रहने पर भी आयात-फलन में विवर्तन होने के कारण राष्ट्रीय आय का साम्य स्तर बदल जाता है।

रेखाचित्र 7·4 में निर्यात तथा आयात में समानता होने की स्थिति में मूल साम्य आय OY_1 थी। यदि आयात में स्वायत्त परिवर्तन होने के कारण आयात फलन दायीं ओर विवर्तित हो जाय (अर्थात् आय के प्रत्येक स्तर पर पूर्वापेक्षा आयात कम हो जाये) तो निर्यात और आयात का साम्य E_1 से हटकर E_2 पर होगा तथा साम्य आय का स्तर बढ़कर OY_2 हो जायेगा। इसके विपरीत, यदि आयात फलन का बायीं ओर विवर्तन हो तो इसका यह आशय होगा कि आय के प्रत्येक स्तर पर पूर्वापेक्षा अधिक आयात होगा तथा आय का साम्य स्तर कम हो जायगा। अस्तु, आयात में कमी से राष्ट्रीय आय में वृद्धि एवं आयात में वृद्धि से राष्ट्रीय आय के स्तर में कमी होती है।

रेखाचित्र 7·4 के अनुसार आयात में ΔM की कमी से राष्ट्रीय आय में ΔY के समान वृद्धि हो जाती है। ऐसी स्थिति में विदेशी व्यापार का गुणक इस प्रकार व्यक्त किया जायगा :

$$k_f = \frac{\Delta Y}{\Delta M}$$

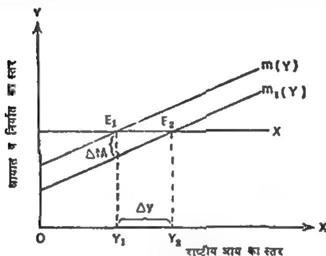
तथा आयात में परिवर्तन (ΔM) से उत्पन्न राष्ट्रीय आय का परिवर्तन इस प्रकार होगा :

$$\Delta Y = k_f . \Delta M$$ (7—14)

---

1 Kindleberger, *International Economics*, 4th edition, 1969, p. 279.

परन्तु आयात एवं निर्यात मे होने वाले परिवर्तनो के फलस्वरूप आय मे होने वाले परिवर्तनो की उपर्युक्त व्याख्या इस मान्यता पर आधारित थी कि आयात एव निर्यात मे सदैव समानता है तथा बचत एव विनियोग शून्य है। डेविड ह्यूम (David Hume) ने काफी समय पूर्व यह स्पष्ट कर दिया था कि निर्यात मे वृद्धि का लाभ अधिक समय तक नही मिल सकता क्योकि अन्तत आयात मे भी इतनी ही वृद्धि हो जायगी ($\triangle X = \triangle M$)। ह्यूम की यह मान्यता जे बी से (J B Say) के बाजार के इस नियम की भाँति ही थी कि माँग एव पूर्ति मे अन्तत समानता होती है।



रेखाचित्र 7 4—शून्य बचत या विनियोग की स्थिति मे आयात-फलन मे परिवर्तन एव विदेशी व्यापार गुणक

वस्तुत बचत एव विनियोग शून्य नही होते, और इसी कारण विदेशी व्यापार का उपर्युक्त गुणक व्यावहारिक जीवन मे उपयुक्त सिद्ध नही हो पाता। इसी कारण अब हम बचत तथा विनियोग की राशि को धनात्मक मानते हुए विदेशी व्यापार गुणक के विषय मे अध्ययन करेंगे।

धनात्मक विनियोग एव बचत के सन्दर्भ मे विदेशी व्यापार गुणक—हम यह जानते हैं कि आयात एव बचत दोनो ही राष्ट्रीय आय के फलन हैं और इसलिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय आय मे होने वाले परिवर्तनो का विश्लेषण करते समय दोनो का परिवर्तन एक साथ देखा जाय। प्रस्तुत विश्लेषण म समीकरणो (7-5) व (7-12) मे प्रस्तुत इन शर्तों को आधार माना गया है कि आय साम्य स्तर हेतु बचत एव विनियोग मे तथा आयात व निर्यात मे समानता होनी आवश्यक है ($S = I$, $M = X$)।

परन्तु जब आन्तरिक चरो को विदेशी व्यापार से सम्बद्ध चरो मे मिला दिया जाता है तो हमे यह भी स्वीकार करना होता है कि विनियोग स्वदेशी एव विदेशी दोनो ही नागरिको द्वारा किया जा सकता है। अस्तु, समीकरण (7-5) मे बचत व विनियोग की समानता इस रूप मे व्यक्त की जा सकेगी

$$S = I_d + I_f \qquad (7—15)$$

यहाँ I_d देश के नागरिको द्वारा किया गया विनियोग है जबकि I_f विदेशी नागरिको द्वारा किया गया विनियोग है। अब यह भी मान लीजिए कि विदेशी विनियोग वस्तुओ व सेवाओ के निर्यात एव आयात का अन्तर है, अर्थात्

$$I_f = X - M \qquad (7—16)$$

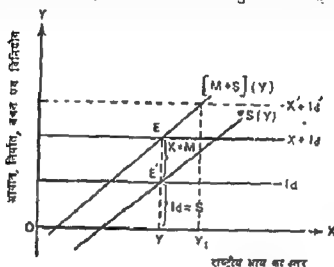
उपर्युक्त आधार पर समीकरण (7-15) को पुन लिया जा सकता है :

$$S = I_d + X - M$$

अथवा

$$S + M = I_d = X \qquad (7—17)$$

समीकरण (7-17) एक खुली अर्थ-व्यवस्था में साम्य आय हेतु एक आधारभूत शर्त प्रस्तुत करता है। इस साम्य स्थिति का निरूपण एक रेखाचित्र की सहायता से भी किया जा सकता है। रेखाचित्र 7 5 में पूर्व के दो रेखाचित्रों—एक आन्तरिक (domestic) गुणक से सम्बद्ध एवं दूसरा विदेशी व्यापार गुणक से सम्बद्ध है, को सम्मिलित रूप में प्रस्तुत किया गया है।



रेखाचित्र 7 5—बचत एव विनियोग के सन्दर्भ में विदेशी व्यापार गुणक

रेखाचित्र 7·5 में यह मान्यता निहित है कि निर्यात एव विनियोग का आय से कोई सम्बन्ध नहीं है परन्तु आयात एवं बचत दोनों आय के स्तर पर आश्रित हैं [देखिए वक्र $[M+S]$ (Y)। समीकरण (7-17) के अनुसार साम्य आय की शर्त तभी पूरी होती है जब बचत एव आयात का योग विनियोग एव निर्यात के योग के समान हो। रेखाचित्र 7·5 में यह शर्त आय OY स्तर पर पूरी होती है जहाँ आयात व निर्यात में ही समानता नहीं है अपितु बचत एव विनियोग में भी समानता है। रेखाचित्र 7 5 में E बिन्दु पर समीकरण (7-17) में प्रस्तुत साम्य आय की शर्त पूरी होती है जबकि E' पर समीकरण (7 5) में प्रस्तुत शर्त पूरी होती दर्शायी गयी है। E' एव E के बीच साम्य राष्ट्रीय आय यही रहने का कारण यह है कि E' पर $I_d = S$ की शर्त पूरी होती थी, परन्तु यदि विनियोग के साथ निर्यात को मिला दिया जाय और साथ ही निर्यात के समान राशि ही आयात की लेते हुए इसे बचत के साथ जोड़ दिया जाय तो साम्य बिन्दु E पर स्थानान्तरित होने पर भी साम्य आय स्तर वही रहेगा।

अब मान लीजिए, विनियोग अथवा निर्यात अथवा दोनों में वृद्धि हो जाती है जिसके फलस्वरूप विनियोग व निर्यात का संयुक्त फलन विवर्तित होकर $X+I_d$ से $X'+I_d'$ की स्थिति में आ जाता है। इसके फलस्वरूप साम्य आय का स्तर OY से बढ़कर OY_1 हो जायगा। यह ध्यान देने की बात है कि $X+I_d$ में हुई वृद्धि की अपेक्षा आय की वृद्धि अधिक है। इस प्रकार गुणक प्रभाव के कारण निर्यात और/अथवा विनियोग के स्तर में परिवर्तन की अपेक्षा आय में अधिक परिवर्तन होता है। आय में परिवर्तन का सूत्र इस प्रकार होगा :

$$\Delta Y k_f \Delta (X+I_d) \qquad (7—18)$$

विदेशी व्यापार गुणक (k_f) की व्युत्पत्ति जानने हेतु निम्न विधि प्रयुक्त की जाती है :

चूँकि $S+M=I_d+X$

और $\Delta S+\Delta M=\Delta X$ (यह मानते हुए कि Id स्थिर है)

दोनों ओर ΔY का भाग देने पर

$$\frac{\Delta S+\Delta M}{\Delta Y}=\frac{\Delta X}{\Delta Y} \qquad (7—19)$$

चूंकि विदेशी व्यापार गुणक $k_f = \frac{\Delta X}{\Delta Y}$ है, समीकरण (7-19) को निम्न रूप में भी लिखा जा सकता है

$$\frac{\Delta S + \Delta M}{\Delta Y} = \frac{1}{k_f}$$

अथवा

$$K_f = \frac{\Delta Y}{\Delta S + \Delta M} \qquad (7—20)$$

समीकरण (7-20) को निम्न रूप मे भी रखा जा सकता है।

$$k_f = \frac{1}{\frac{\Delta S}{\Delta Y} + \frac{\Delta M}{\Delta Y}}$$

परन्तु $\frac{\Delta S}{\Delta Y}$ = MPS (सीमान्त बचत प्रवृत्ति) तथा $\frac{\Delta M}{\Delta Y}$ (सीमान्त आयात प्रवृत्ति) है, अत

$$k_f = \frac{1}{MPS + MPM} \qquad (7—21)$$

इस प्रकार विनियोग एवं बचत के धनात्मक होने पर विदेशी व्यापार गुणक सीमान्त बचत प्रवृत्ति एव सीमान्त आयात प्रवृत्ति के योग का विलोम है।

रेखाचित्र 7 6 म $X + Id$ म विवर्तन होने पर आय मे हुई वृद्धि निर्यात की वृद्धि एव विदेशी व्यापार गुणक के गुणनफल के समान है। वस्तुत विदेशी व्यापार गुणक का सिद्धान्त उन देशो के लिए अधिक उपयोगी है जँहाँ विदेशी व्यापार का अर्थ-व्यवस्था मे अपेक्षाकृत अधिक महत्व है। इन देशो म जापान इंगलैण्ड आदि प्रमुख हैं। इन देशो म विदेशी व्यापार-शर्तों के आधार पर भुगतान सन्तुलन की स्थिति, एव देश की (राष्ट्रीय) आय पर व्यापार के प्रभावो की सहज ही समीक्षा की जा सकती है। इस आधार पर व्यापार नीति निर्धारण मे भी सहायता मिलती है।

इतने पर भी विदेशी व्यापार गुणक का उन देशो के व्यापार का विश्लेषण करने हेतु कोई महत्व नही है जहाँ अर्थ-व्यवस्था व्यापार पर अधिक निर्भर नही है एव जिनके विदेशी व्यापार का राष्ट्रीय आय म अनुपात बहुत कम है।

आयात व निर्यात व्यापार मे परिवर्तन के अन्य देशों पर प्रभाव—किसी देश के आयात अथवा/तथा निर्यात मे परिवर्तन होने पर न केवल उस देश की राष्ट्रीय आय ही प्रभावित होती है, अपितु इन परिवर्तनो का उन सभी देशो की राष्ट्रीय आय पर भी प्रभाव होता है जिनसे इस देश के व्यापारिक सम्बन्ध है। इन्हे **बैकवाश प्रभाव** (*Backwash Effect*) भी कहते हैं। इसका यह आशय है कि किसी भी देश का अनुकूल अथवा प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन अधिक समय तक बना नही रह सकता क्योकि इस देश का अनुकूल अथवा प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन अन्य देशो म ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकता है जिनसे भुगतान का असन्तुलन सन्तुलन के रूप म परिणत हो जाय।

हम बैंकवाश प्रभाव देखने हेतु निम्न मान्यता लेते है :

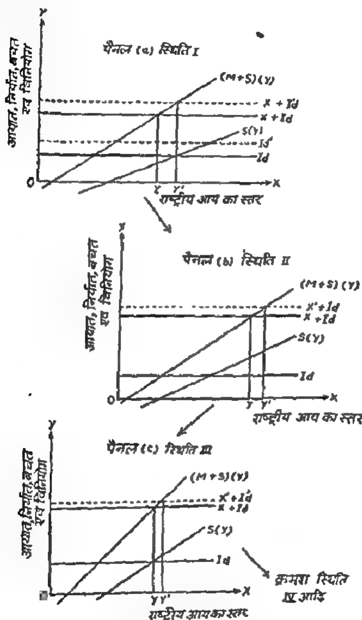
$$Y_a = f(Y_b)$$

तथा

$$Y_b = f(Y_a)$$

यहाँ Y_a एव Y_b क्रमश A और B दोनो देशो की राष्ट्रीय आय है। उपर्युक्त शर्त यह है कि A की राष्ट्रीय आय B की आय पर एव B की राष्ट्रीय आय A की आय पर निर्भर करती है।

किसी एक देश की आर्थिक, विशेष रूप से विदेशी व्यापार नीति में कोई भी परिवर्तन करते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि इस प्रकार के परिवर्तन का क्या प्रभाव दूसरे देश की राष्ट्रीय आय पर होगा।



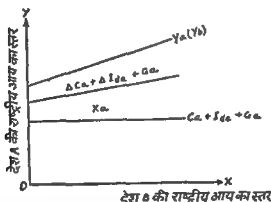
रेखाचित्र 7.6—राष्ट्रीय आय गुणांक की विभिन्न स्थितियाँ

उदाहरण के लिए, यदि विकसित देश विकासशील देशों को अपने निर्यात बढ़ाना चाहें तो उन्हें विकासशील देशों में विद्यमान प्रति व्यक्ति आय को भी दृष्टिगत रखना होगा। यदि विकासशील देशों पर ये निर्यात वस्तुएँ थोप दी जायें तो उन देशों की राष्ट्रीय आय के स्तर पर होने वाले प्रतिकूल प्रभाव धीरे-धीरे विकसित देशों की राष्ट्रीय आय के स्तर पर भी प्रतिकूल प्रभाव डालेंगे।

कोई देश जितना बड़ा होगा उसके विदेशी व्यापार का उतना ही अधिक बंधवाला प्रभाव होगा। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमरीका को विश्व की मौद्रिक आय का एक बड़ा भाग (लगभग 40%) प्राप्त होता है। यदि अमरीका की राष्ट्रीय आय बढ़ जाय तो अन्य देशों से इसके

आयात बढ जायेंगे। फलस्वरूप अन्य देशो की मौद्रिक आय बढेगी और उनके अमरीका से होने वाले आयात भी बढ जायेंगे। यह प्रक्रिया कहाँ बन्द होगी, यह इस बात पर निर्भर करता है कि अमरीका एव अन्य देशो मे सीमान्त आयात प्रवृत्तियो (MPS एव MPM) का मूल्य कितना-कितना है।

इसे समझने के लिए हम रेखाचित्र 7 6 की सहायता लेंगे। रेखाचित्र 7 6 मे परिवर्तन की तीन स्थितियाँ क्रमश पैनल 7 6 (a), 7 6 (b) तथा 7·6 (c) मे दिखायी गयी हैं। पहली स्थिति मे अमरीका अपना आन्तरिक विनियोग I_d से बढाकर I_d' कर देता है। जिसके फलस्वरूप इसकी राष्ट्रीय आय का स्तर OY से बढकर OY' हो जाता है। इससे विश्व के अन्य देशो पर पडने वाले प्रभाव को रेखाचित्र 7·6 के पैनल (b) मे दूसरी स्थिति के अन्तर्गत दिखाया गया है। इस दूसरी स्थिति मे अन्य देशो के निर्यात X से बढकर X' हो जाते है। अन्य देशो के निर्यातों मे वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप उनकी आय तथा आयातो मे भी वृद्धि हो जावेगी, जिसकी मात्रा गुणक के मूल्यो पर निर्भर करती है। पैनल (b) मे इसे YY' की दूरी से दिखाया गया है। पुन: दूसरी स्थिति से हम तीसरी स्थिति मे पहुँच जाते है जिसे रेखाचित्र 7 6 (c) मे दिखाया गया है। अन्य देशो की आय तथा आयातो मे वृद्धि होने पर अमरीका के निर्यातो मे भी वृद्धि होती है। इसके फलस्वरूप अमरीका द्वारा किये गये प्रारम्भिक आयातो का आधिक्य समाप्त हो जाता है किन्तु अमरीका की आय मे पुन. वृद्धि हो जाने से उसके आयातो मे पुन वृद्धि हो जायगी। इस प्रकार इसका प्रभाव विश्व के अन्य देशो के निर्यात, आय तथा आयात पर क्रमशः देखा जा सकता है। विभिन्न आगामी स्थितियो के अन्तर्गत परिवर्तन का परिमाण कम होता चला जाता है। इन विभिन्न स्थितियो का सामूहिक रेखीय प्रदर्शन (geometric representation) रेखाचित्र 7 7 मे देखा जा सकता है। रेखाचित्र 7 7 मे प्रत्येक दो देशो की राष्ट्रीय आय को अन्य देश की राष्ट्रीय आय का फल माना जाता है। उदाहरण के लिए, देश A की राष्ट्रीय आय देश B की राष्ट्रीय आय का फलन है। यदि देश B की



रेखाचित्र 7·7

राष्ट्रीय आय शून्य हो तो भी देश A की राष्ट्रीय आय का अनुमान इसके उपभोग विनियोग-व्यय तथा सरकारी व्यय मे लगाया जा सकता है। यह सब स्वतन्त्र चर हैं जिनका देश B मे होने वाले परिवर्तनों से कोई सम्बन्ध नही होता। इस प्रवृत्ति को रेखाचित्र 7·7 मे एक समानान्तर रेखा द्वारा प्रदर्शित किया गया है जो कि देश A के उपभोग, विनियोग तथा सरकारी व्यय के योग $(C_a+I_{da}+G_a)$ को अंकित करती है। यह इस बात को व्यक्त करती है कि इस सीमा तक देश A की राष्ट्रीय आय देश B की राष्ट्रीय आय के सभी स्तरो पर स्थिर रहती है।

अब देश A के निर्यात उसकी आय मे वृद्धि करते हैं जिसका आकार देश B की आय-स्तर से स्वतन्त्र नही होता। रेखाचित्र 7 7 मे यह मान लिया गया है कि देश B अपनी आय शून्य होते हुए भी देश A से आयात करता है। इसके फलस्वरूप देश A मे प्रत्यक्ष रूप से आय मे वृद्धि होती है जिसे लम्बवत् अक्ष पर X_a द्वारा दिखाया गया है। इसके साथ-साथ देश A मे विदेशी व्यापार गुणक के द्वारा उपभोग मे पुन: वृद्धि को प्रोत्साहित करती है ($\triangle Ca$)। जिस तरह देश B की आय मे भी वृद्धि होती है उसी तरह A के निर्यातो मे भी वृद्धि होती है तथा उसके साथ-साथ

सरकारी व्यय में भी वृद्धि होती है। इस प्रकार इन तीनों तरह से होने वाली कुल वृद्धि देश B की आय के विभिन्न स्तरों पर देश A की आय को व्यक्त करती है। इसे रेखाचित्र 7·7 में फलन Y_a (Y_b) से दिखाया गया है। इसी प्रकार का प्रदर्शन देश B की आय को देश A की आय के फलन के रूप में भी व्यक्त किया जा सकता है।

निम्न सूत्र द्वारा दो देशों की आय के परस्पर सम्बन्धों को समझा जा सकता है :[1]

$$k_f \frac{\triangle Y}{\triangle X} = \frac{1}{MPS_a + MPM_a + MPM_b\left(\frac{MPS_a}{MPS_b}\right)}$$

यहाँ MPS_a = A देश में सीमान्त बचत प्रवृत्ति है,

MPS_b = B देश में सीमान्त बचत प्रवृत्ति है,

MPM_a = A देश में सीमान्त आयात प्रवृत्ति है, तथा

MPM_b = B देश में सीमान्त आयात प्रवृत्ति है।

A देश में विदेशी व्यापार गुणक अधिक होगा यदि,

(i) A में सीमान्त आयात प्रवृत्ति (MPM_a) कम है अथवा इसकी सीमान्त आयात प्रवृत्ति B की अपेक्षा कम है ($MPM_a < MPM_b$),

(ii) A में सीमान्त बचत प्रवृत्ति (MPS_a) कम है अथवा इसकी सीमान्त बचत प्रवृत्ति B की अपेक्षा कम है ($MPS_a < MPM_b$);

(iii) B में सीमान्त आयात प्रवृत्ति A से अधिक है ($MPM_b > MPS_a$),

(iv) B में सीमान्त बचत प्रवृत्ति A की सीमान्त बचत प्रवृत्ति से अधिक है ($MPS_b > MPS_a$)।

इसके विपरीत मूल्य रखने पर B के लिए गुणक का आकार बड़ा होगा। परन्तु साधारणतया हम एक ही देश के लिए विदेशी व्यापार गुणक का विश्लेषण करते हैं। अन्त में, हम यह भी देखना चाहेंगे कि A देश के घरेलू विनियोग में स्वायत्त परिवर्तन होने पर B देश की सीमान्त बचत एवं आयात प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में इस देश का विदेशी व्यापार गुणक किस प्रकार ज्ञात किया जायगा।

$$k_f = \frac{2 + (MPM_b/MPS_a)}{MPS_a + MPM_a + MPM_b(MPS_a/MPS_b)}$$

A का विदेशी व्यापार गुणक किन परिस्थितियों में अधिक होगा, यह ऊपर बताया जा चुका है।

अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था में गुणक का प्रभाव
[MULTIPLIER EFFECTS IN UNDER-DEVELOPED ECONOMIES]

विनियोग से तात्पर्य पूँजी के स्टॉक में वृद्धि तथा वर्तमान उत्पादन की अधिकता से है। अवस्फीति के समय में जब कुछ बाहरी विनियोग (exogenous investment) उत्पन्न होता है तो अर्थव्यवस्था में दो बातें स्थान लेती हैं :

(i) इस बाहरी विनियोग द्वारा प्रेरित अतिरिक्त उपभोग तथा यह विनियोग मिलकर अर्थव्यवस्था को पूर्ण रोजगार गुणक की दिशा में ले जाते हैं, तथा

(ii) इस बाहरी विनियोग से श्रमिकों की उसी (पूर्ण) संख्या के साथ भविष्य में अधिक वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन किया जाना सम्भव होगा।

अब यदि दूसरा प्रभाव पहले प्रभाव से अधिक शक्तिशाली होगा तो ज्यों ही विनियोग पूरा होता है (अर्थात् नया उद्योग स्थापित हो जाता है) अर्थव्यवस्था में प्रारम्भिक बेरोजगारी के स्तर

---

1 For the derivation of these formulas (multipliers) the readers are advised to see C. P. Kindleberger, *International Economics*, Appendix G to Chapter 16.

से अधिक बेरोजगार उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार के प्रमाण उन देशो मे देखे जा सकते हैं जहाँ त्वरक (accelerator) तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) दोनो कम हैं। ऐसी अर्थव्यवस्थाओ मे पूर्ण रोजगार की व्यवस्था कमजोर होगी तथा प्रारम्भिक बाहरी विनियोग (initial exogenous investment) से राष्ट्रीय आय की सापेक्ष वृद्धि कम होगी।

यदि दूसरी ओर, MPC तथा त्वरक काफी अधिक है तो पूर्ण रोजगार की व्यवस्था तीव्र होगी तथा अर्थव्यवस्था मे उससे उत्पन्न स्थिति स्फीति की होगी। यह विनियोग गुणक के कारण उत्पन्न होती है।

किन्तु आर्थिक उन्नति के लिए विनियोग आवश्यक है। हम एक अर्थव्यवस्था मे विकास की उस दर का पता लगा सकते हैं जो पूर्ण रोजगार को बनाये रखने के लिए सिर्फ काफी है। विकास की इस दर को लाने के लिए उस अर्थ-व्यवस्था को विनियोग की सीमान्त सम्भावित आगम (marginal potential revenue of investment) को विकसित करना पड़ेगा। सम्भावित आय मे परिवर्तन (change in potential income) तथा प्रारम्भिक विनियोग मे परिवर्तन जो इसे उत्पन्न करता है, के बीच सख्यात्मक सम्बन्ध है। यदि त्वरक गुणाक (accelerator coefficient) कम है तो सीमान्त सम्भावित आगम अधिक होगा क्योकि दोनो के लिए पूंजी-उत्पाद (K/Y) अनुपात समान है। सरल शब्दो मे हम यह कह सकते हैं कि यदि बिक्री मे बहुत अधिक परिवर्तन विनियोग की बहुत कम मात्रा को प्रेरित करता है तो एक थोडा-सा विनियोग ही उस अर्थव्यवस्था को वस्तुओ तथा सेवाओ का अधिक उत्पादन करने योग्य बना देता है।[1] कम विकसित देशो (LDCs) मे अधिक विकसित देशो (MDCs) की तुलना म MPC अधिक होती है। कम विकसित देशो मे तुलनात्मक दृष्टि से सीमान्त सम्भावित आगम अधिक होती है अर्थात् त्वरक गुणाक कम होते हैं। अत अल्पकाल म बाहरी विनियोग अथवा कुल उपयोग मे वृद्धि अपने आप ही अर्थव्यवस्था मे स्फीति का असर उत्पन्न करेंगे। किन्तु यदि उत्पादन के बेरोजगार साधन उपस्थित हैं तो यह विनियोग म परिवर्तन ($\triangle I$) अतिरिक्त उत्पादन ($\triangle Y$) उत्पन्न करेगा, अन्यथा यह ($\triangle I$) वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतो मे वृद्धि करेगा।

परन्तु एक विकसित अर्थ व्यवस्था मे, अधिक या ऊँचा त्वरक-गुणाक स्फीति तथा अवस्फीति की बदलती हुई स्थितियो को उत्पन्न करेगा। दूसरी ओर, अल्पविकसित देशो म विनियोग के साथ कीमतें बढेंगी, किन्तु स्फीति के अधिक प्रभावशाली तत्व अधिक त्वरक के साथ ऊँची सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति है।

अत यह देखना अधिक महत्वपूर्ण है कि कम विकसित देशो मे सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति अधिक होती है जबकि विकसित अर्थ-व्यवस्था मे यह कम होती है। एक गरीब तथा पिछडी हुई अर्थ-व्यवस्था म अधिकाश व्यक्तियो के रहन-सहन का स्तर बहुत नीचा होता है, अत. अतिरिक्त आय का प्रयोग उपभोग के लिए होता है तथा ऐसी अर्थ-व्यवस्थाओ मे सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति इकाई के बराबर हो जाती है। दूसरी तरफ, एक विकसित अर्थ-व्यवस्था मे आय की प्रत्येक वृद्धि के साथ, समुदाय अपनी मूलभूत आवश्यकताओ को पूरा करके अधिक से अधिक बचत करता है। इसलिए, एक धनवान तथा विकसित अर्थ-व्यवस्था मे सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति कम होती है जबकि सीमान्त बचत प्रवृत्ति बढती है।

भारत जैसे देश मे, अधिकाश जनसख्या (70%) देहाती क्षेत्रो मे रहती है तथा अपने जीवन-निर्वाह के स्तर के बराबर कमाती है। यद्यपि यहाँ काफी छिपी हुई बेरोजगारी (disguised unemployment) है, तथापि पूंजी (विनियोग) के अभाव मे यह अनुत्पादक रहती है। इस छिपे हुए बेरोजगार श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता शून्य होती है। चूँकि आय तथा धन का वितरण असमान होता है, कुछ धनी व्यक्तियो का ही उत्पादन के अधिकाश साधनो पर स्वामित्व होता है तथा वे ही अर्थव्यवस्था मे अधिकाश निजी बचतो को उत्पन्न करते हैं। इसके साथ-साथ, इन देशो की

---

1 The relationship between marginal potential revenue and the accelerator is not so rigid and mechanical The accelerator refers only to the induced portion of investment whereas the marginal revenue relates to exogenous or autonomous investment as well

सरकारें भी कमजोर होती हैं तथा अर्थव्यवस्था को मजबूत करने के लिए अधिक विनियोग करने में असमर्थ होती हैं। इससे स्पष्ट होता है कि क्यों एक विकसित देश में आर्थिक विकास अल्प-विकसित देश की तुलना में अधिक तीव्र गति से होता है। एक विकसित देश के लिए यह स्फीति तथा अवस्फीति को रोकने के लिए अनुकूल गुणक प्रभाव के कारण अधिक प्रभावशाली प्रतीत होता है, किन्तु साधारणतया कम विकसित देश के लिए यह प्रभावशाली नहीं होता।

प्रश्न एवं उनके संकेत

1. व्यापार गुणक की धारणा की परिभाषा दीजिए। राष्ट्रीय आय के निर्धारण में यह किस प्रकार उपयोगी हो सकता है?

   Define the concept of trade multiplier. How is it useful in the determination of national income?

   [*संकेत—सर्वप्रथम गुणक क्या है यह बताइए, तथा इसके बाद व्यापार गुणक की धारणा* का अर्थ बताइए। यदि निर्यात व आयात अन्तर बढ़ जाय तो इसका राष्ट्रीय आय पर क्या प्रभाव होगा, यह भी रेखाचित्रों एवं उदाहरण सहित बताइए।]

2. विदेशी व्यापार गुणक पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

   Write a short note on the foreign trade multiplier.

   [संकेत—प्रश्न 1 ही की भाँति इस प्रश्न का भी उत्तर दें।]

3. घरेलू गुणक तथा विदेशी व्यापार गुणक का अन्तर बताइए।

   Distinguish between domestic multiplier and foreign trade multiplier.

4. रोजगार गुणक की परिभाषा दीजिए। इसका क्या महत्व है?

   Define employment multiplier. How is it useful?

   [संकेत—गुणक की सामान्य परिभाषा देने के बाद रोजगार गुणक की परिभाषा दीजिए। *किसी देश की अर्थव्यवस्था में रोजगार गुणक के महत्व पर भी प्रकाश डालिए।*]

5. उपभोग औसत प्रवृत्ति तथा उपभोग सीमान्त प्रवृत्ति का अन्तर बताइए। इनके मूल्यों का गुणक के मूल्यों पर क्या प्रभाव होता है?

   Define the terms 'average propensity to consume' (APC) and 'marginal propensity to consume' (MPC). How do these concepts affect the value of *multiplier*?

8

विनिमय-दर निर्धारण के सिद्धान्त

[THEORIES OF EXCHANGE RATE DETERMINATION]

विनिमय-दर के निर्धारण की समस्या इसलिए उत्पन्न होती है कि अलग-अलग देशो मे अलग-अलग मुद्रा-प्रणालियाँ तथा अलग-अलग लेखा-जोखा की इकाइयाँ विद्यमान हैं। इसलिए विदेशी भुगतानो के लिए एक मुद्रा को दूसरी मुद्रा मे बदलने की समस्या उत्पन्न होती है। एक देश की मुद्रा दूसरे देश की मुद्रा म परिवर्तन करने का कार्य विदेशी विनिमय बाजारो द्वारा सम्पन्न किया जाता है। किण्डलबर्गर (Kindleberger) के अनुसार, "विदेशी विनिमय का बाजार वह स्थान है जहाँ विदेशी मुद्राएँ बेची तथा खरीदी जाती है।"[1] इस बाजार मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारी अपनी-अपनी विदेशी प्राप्तियो को स्वदेशी मुद्राओ मे परिवर्तित करते हैं, अथवा स्वदेशी मुद्रा को विदेशी मुद्राओ मे परिणत करके विदेशो को भुगतान करते है। इसका यह अर्थ है कि विदेशी विनिमय वह व्यवस्था है जिसके माध्यम से ऐसे दो क्षेत्रो या देशो के बीच भुगतान सम्पादित होता है जिनम अलग-अलग चलन-प्रणालियाँ विद्यमान हैं।

दूसरे शब्दो मे जिस बाजार मे घरेलू मुद्रा के सन्दर्भ मे विदेशी मुद्रा के दायित्वो का क्रय-विक्रय किया जाता है उसे विदेशी विनिमय बाजार कहते हैं। इस बाजार मे विदेशी विनिमय की व्यवस्था इस प्रकार की जाती है कि आयात करने वाला देश अपने देश की मुद्रा मे भुगतान कर देता है तथा निर्यात करने वाला देश अपने देश की मुद्रा मे भुगतान प्राप्त कर लेता है। विदेशी विनिमय बाजार म विदेशी विनिमय बैंक, वाणिज्यिक बैंक, केन्द्रीय बैंक तथा ट्रेजरी आदि वित्तीय सस्थाओं का समावेश होता है जो इस कार्य मे सलग्न रहती हैं। भुगतान के लिए विदेशी-विनिमय का उपयोग किया जाता है। भुगतान के कुछ महत्वपूर्ण तरीके निम्न बताये जा सकते हैं:

1 **विदेशी विनिमय बिल (Bill of Foreign Exchange)**—जिस प्रकार एक विनिमय बिल (Bill of Exchange) से आन्तरिक भुगतान किया जाता है उसी प्रकार जब विनिमय बिल का प्रयोग विदेशी भुगतान हेतु किया जाय तो उसे विदेशी विनिमय बिल कहते है। इसके अन्तगत वस्तु बेचने वाला क्रय करने वाले को विनिमय पत्र लिखता है, जिसमे यह आदेश होता है कि वह एक निश्चित अवधि (90 दिन) के अन्दर उसमे अकित राशि का भुगतान लेनदार को अथवा उसके द्वारा नियुक्त व्यक्ति को कर देगा। इस बिल के स्वीकार हो जाने पर यह विनिमय पत्र अपने ही देश मे उन व्यक्तियो को बेच दिया जाता है, जिन्हे आयात करने वाले देश को भुगतान करना है तथा यह विनिमय पत्र विदेशो मे उन व्यक्तियो को भेज दिये जाते हैं, जिन्हे वे भुगतान करना चाहते हैं। इन लेनदारो के द्वारा यह विनिमय पत्रो की राशि उन व्यक्तियो से वसूल करली जाती है जिन्होंने प्रारम्भ मे इसे वस्तु का आयात करने के कारण स्वीकार किया था।

2 **ड्राफ्ट (Draft)**—ड्राफ्ट एक बैंक द्वारा अपनी शाखा (branch) अथवा अन्य बैंक (जिसके साथ उसका लेन-देन रहता है) को लिखा गया आदेश है जिसमे ड्राफ्ट मे अकित राशि का भुगतान (जो ड्राफ्ट जारी करने वाले बैंक ने प्राप्त कर ली है) वाहक द्वारा माँग करने पर कर दिया जाय। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो मे भी अन्तर्राष्ट्रीय बैंको अथवा विदेशी विनिमय बैंको द्वारा ड्राफ्ट का प्रयोग किया जाता है।

3 **तार द्वारा स्थानान्तरण (Telegraphic Transfer)**—इसमे एक देश के बैंक द्वारा विदेश मे अपनी शाखा को तार द्वारा सूचना दी जाती है कि एक निश्चित राशि का भुगतान व्यक्ति विशेष को कर दिया जाय।

---

1 C P. Kindleberger, *International Economics*, 4th edition, (1968), p 44.

4. साख-पत्र (Letter of Credit)—साख-पत्र जारी करने वाला बैंक किसी व्यक्ति को एक निश्चित राशि चैक या बिल द्वारा एक निश्चित अवधि में निकालने का अधिकार देता है। इस साख-पत्र के आधार पर जो राशि आयातकर्ता बैंक से प्राप्त करता है, निर्यातकर्ता उतनी ही राशि का निर्यात कर देता है। इसमें भुगतान की गारण्टी साख-पत्र जारी करने वाले बैंक की होती है।

उपर्युक्त माध्यमों के अतिरिक्त विदेशी विनिमय का भुगतान यात्री चैक (Traveller's cheques), अन्तर्राष्ट्रीय मनीऑर्डर (international moneyorder) आदि के द्वारा भी किया जाता है।

विनिमय-दर का अर्थ
[MEANING OF EXCHANGE RATE]

जिस दर पर दो देशों की मुद्राओं के बीच विनिमय होता है उसे विदेशी विनिमय-दर कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, विदेशी विनिमय बाजारों में खरीदी व बेची जाने वाली वस्तु को विदेशी विनिमय कहा जाता है। इसमें उन समस्त साधनों को शामिल किया जाता है जिनसे एक देश के नागरिकों को दूसरे देश की मुद्रा या क्रय-शक्ति पर अधिकार प्राप्त हो जाता है।[1] **डेलबर्ट स्नाइडर** के अनुसार *'ऐसे साधन, जिनका उपयोग अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में किया जाता है, विदेशी विनिमय कहलाते हैं।'*[2] जब विदेशी विनिमय बैंक विदेशी विनिमय का क्रय विक्रय करते हैं तो उससे हमारा तात्पर्य '**विदेशी-विनिमय बिल**' (**Bill of Foreign Exchange**) से होता है। वास्तव में, विदेशी विनिमय वह कार्य-प्रणाली है जिससे व्यापारी राष्ट्र अपने पारस्परिक ऋणों का भुगतान लेने-देते हैं,[3] तथा इस प्रणाली के अन्तर्गत ही अन्तर्राष्ट्रीय ऋण लिये-दिये जाते हैं तथा ऋण चुकाये जाते हैं।

क्राउथर (**Crowther**) के अनुसार, "यह (विनिमय-दर) विदेशी विनिमय बाजार में *एक देश की मुद्रा की एक इकाई के बदले किसी अन्य देश की मुद्रा की इकाइयों की संख्या की माप* करती है।"[4]

हेन्स (**Haynes**) के अनुसार, "विनिमय-दर एक मुद्रा की दूसरी मुद्रा के रूप में व्यक्त की गयी कीमत है।"[5]

सेयर्स (**Sayers**) के अनुसार, "चलन मुद्राओं के परस्पर मूल्यों को ही विदेशी विनिमय-दर कहा जाता है।"[6]

क्रम्प (**Crump**) के शब्दों में, "मुद्रा की वह मात्रा जो विदेशी विनिमय बाजार में दूसरी मुद्रा की निश्चित मात्रा के विनिमय में देनी होती है, वह दोनों मुद्राओं के बीच विनिमय-दर होती है।"[7]

एल्सवर्थ (**Ellsworth**) के अनुसार, "विदेशी मुद्रा की एक इकाई का देशी मुद्रा में व्यक्त

---

1 Walter Krause, *The International Economy*, p 66
2 Delbert A Snider, *Introduction to International Economy*, p. 125
3 "The system by which commercial nations discharge their debts to each other is called foreign exchange."—*Encyclopaedia Britanica.*
4 "It (rate of exchange) measures the number of units of one currency which exchange in foreign exchange market for one unit of another" —Crowther.
5 "Exchange rate is the price of one currency stated in terms of another currency"
6 "The prices of currencies in terms of each other are called foreign exchange rates" —R S Sayers
7 "The Rate of Exchange between two currencies is the amount of the one currency which in foreign exchange market, will exchange for a given amount of the other."
—Norman Crump, *The A B C of Foreign Exchange*, p. 6.

मूल्य विनिमय की दर कहलाता है। दूसरे शब्दों में, देशी मुद्रा की एक इकाई का विदेशी मुद्रा में व्यक्त मूल्य विनिमय की दर होता है।"[1]

इस प्रकार विदेशी विनिमय-दर वह मूल्य है जो स्थानीय मुद्रा के रूप में विदेशी मुद्रा की एक इकाई के बदले चुकाया जाय। उदाहरण के लिए $ 1 = Rs 7 35 का अर्थ यह होगा कि भारतीय मुद्रा (Indian Currency) के रूप में एक डालर की विनिमय दर सात रुपये और पैंतीस पैसे है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि विदेशी विनिमय दर किसी देश की मुद्रा के आन्तरिक मूल्य के बदले इसके वाह्य मूल्य को व्यक्त करती है। किसी देश की मुद्रा का आन्तरिक मूल्य उस देश में प्रचलित सामान्य मूल्य-स्तर द्वारा निर्धारित होता है। साधारणतया (राष्ट्रीय सम्मान की दृष्टि से) विदेशी विनिमय-दर को स्वदेशी मुद्रा के रूप में ही व्यक्त किया जाता है। उदाहरण के लिए भारत में एक डालर का मूल्य यदि 7 रुपये और 35 पैसे है तो अमरीका में एक रुपये का मूल्य 1/7 35 डालर अर्थात् 13 61 सैंट होगा (एक डालर में 100 सैंट होते हैं)। अस्तु जिस रूप में विदेशी मुद्रा का मूल्य व्यक्त किया जाता है वह केवल सुविधा की एक बात है, वस्तुत दोनों मुद्राओं का आधारभूत सम्बन्ध अपरिवर्तित रहता है।

विनिमय-दरों के विभिन्न प्रकार
[VARIOUS TYPES OF EXCHANGE RATES]

विदेशी विनिमय दर के निर्धारण से सम्बद्ध विभिन्न सिद्धान्तों का विश्लेषण करने से पूर्व हम निम्न प्रकार की विनिमय दरों को स्पष्ट करना चाहेंगे

(1) **तात्कालिक दर** (Spot Rate)—इस दर को **केबिल** (Cable Rate) या **तार से स्थानान्तरण वाली दर** ' (Telegraphic transfer rate) भी कहा जाता है। यह विदेशी मुद्रा की बाजार में प्रचलित तात्कालिक दर है। परन्तु बेचने एव खरीदने वाले व्यक्तियों के लिए यह दर अलग-अलग रूप में व्यक्त की जायगी। उदाहरण के लिए, क्रेता के लिए एक डालर का मूल्य सात रुपये पचास पैसे हो सकता है जबकि विक्रेता के लिए यह मूल्य सात रुपये तीस पैसे होना सम्भव है। दोनों के बीच अन्तर कितना होगा, यह सोने के गिरिंग व्यय (परिवहन-व्यय), बीमाखर्च एव कमीशन की दर पर निर्भर करता है। बहुधा ये व्यय क्रेता को वहन करने होते हैं और इसीलिए आधारभूत या साम्य विनिमय-दर की अपेक्षा डालर का अधिक मूल्य देना होता है। यदि विक्रेता को भी बैंक-कमीशन आदि व्यय करने पड़ें तो डालर की साम्य दर से उसे कुछ राशि कम प्राप्त होगी।

तात्कालिक विनिमय-दर वह दर है जिस पर बैंक विदेशी भुगतान की व्यवस्था करती है और इसी कारण इसे केबिल रेट या तार से स्थानान्तरण वाली दर (T T Rate) भी कहा जाता है। इसका कारण यही है कि विदेशी विनिमय का अविलम्ब हस्तान्तरण अथवा स्थानान्तरण केबिल या तार द्वारा क्रेता से विक्रेता को इसी दर पर किया जाता है। इस दर को चैक-दर या मेल ट्रान्सफर (Mail Transfer) दर भी कहा जाता है। बहुधा बैंक तात्कालिक दर के आधार पर ही विदेशी विनिमय बेचने व खरीदने का कार्य करते हैं।

(2) **अवधि दर** (Time Rate or Long Rate of Exchange)—विदेशी विनिमय की यह वह दर है जिस पर बैंक विदेशी मुद्रा से सम्बद्ध ऐसे प्रपत्रों (bills) को बेचते या खरीदते हैं जिनका एक निर्दिष्ट अवधि (fixed period) के बाद भुगतान होगा। इनमें भी **दृश्य-दर** (sight rate) पर बैंक विदेशी मुद्रा से सम्बद्ध प्रपत्रों को तुरन्त ही खरीद या बेच सकते हैं। दूसरे शब्दों में, इस दर पर हुण्डी या विनिमय प्रपत्र (Bill of Exchange) के बदले बैंक में प्रस्तुतीकरण (presentation) के साथ ही भुगतान प्राप्त किया जा सकता है। कालान्तर में इस हुण्डी या विनिमय प्रपत्र का भुगतान इसके प्रेषक (drawer) से प्राप्त करने का दायित्व बैंक का होगा।

(3) **अग्रिम (Forward) विनिमय दर**—जिस दर पर भविष्य में विदेशी विनिमय प्राप्ति

---

1 "An Exchange rate is frequently defined as the price in domestic currency, of a unit of foreign currency It might equally well be defined as the price, in a foreign currency, of a unit of domestic currency"

—P T Ellsworth, *The International Economy*, p 263

हेतु सौदे किये जायें उसे अग्रिम विनिमय-दर के नाम से पुकारा जाता है। अग्रिम दर से सम्बद्ध एक महत्वपूर्ण धारणा विदेशी विनिमय के **व्यवसायी की आड़** (Dealer's Cover) है। यदि कोई व्यापारी विदेशी विनिमय की दर में भविष्य में होने वाले उतार-चढ़ाव की जोखिम को विदेशी विनिमय के व्यवसायी पर हस्तान्तरित करने में सफल हो जाय तो प्रश्न है कि उस व्यवसायी को अपनी प्रतिरक्षा हेतु क्या करना चाहिए? विदेशी विनिमय का यह व्यवसायी अग्रिम दर पर विदेशी विनिमय खरीदने (बेचने) का सौदा करने के साथ ही इससे उल्टा अर्थात् विदेशी विनिमय बेचने (खरीदने) का सौदा भी कर लेता है। परन्तु यहाँ ध्यान देने की बात है कि आड़ हेतु यह प्रतिलोमी सौदा हाजिर के (at spot) बाजार में होगा जबकि अग्रिम सौदे भावी या सम्भावित विनिमय-दर पर हुए हैं। इसके विपरीत, यदि हाजिर के भाव पर (spot rate) विदेशी विनिमय (डालर) खरीदने का सौदा हुआ है तो इसका प्रतिलोमी सौदा अग्रिम दर (forward rate) पर होगा। इस प्रकार की प्रतिरक्षात्मक कार्यवाहियों को हैजिंग (Hedging) कहा जाता है।

एक उदाहरण द्वारा हैजिंग की प्रक्रिया को समझा जा सकता है। मान लीजिए, विदेशी विनिमय का कोई व्यवसायी आज 7.30 रुपये डालर के हिसाब से 1 मई को एक हजार डालर बेचने का सौदा कर लेता है। डालर की वर्तमान या हाजिर दर भी इतनी ही है। यदि 1 मई को डालर का मूल्य 7.50 रुपये हो जाय तो प्रति डालर उसे 20 पैसे की हानि होगी। परन्तु यदि अग्रिम सौदे के साथ ही वह 7.30 रुपये की दर से हाजिर का सौदा कर ले तो अग्रिम सौदे पर हुई क्षति एवं हाजिर में खरीदे गये डालरों की मूल्य-वृद्धि समान हो जायेंगे। इस प्रकार विदेशी विनिमय के व्यवसायी हैजिंग की आड़ (cover) द्वारा विदेशी विनिमय के सौदों में होने वाली जोखिम से अपनी रक्षा करते हैं।

(4) **अनुकूल तथा प्रतिकूल विनिमय-दर** (Favourable and Unfavourable Rate of Exchange)—जब विनिमय-दर अपने देश की मुद्रा में व्यक्त की जाती है तो कम होती हुई विनिमय-दर देश के लिए अनुकूल विनिमय-दर कहलाती है। इसके विपरीत, बढ़ती हुई विनिमय-दर देश के लिए प्रतिकूल होती है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए विनिमय-दर भारत तथा अमरीका के मध्य \$ 1 = Rs. 7.50 है। यदि यह कम होकर \$ 1 = Rs. 5.50 हो जाती है तो इसे भारत के अनुकूल कहा जाता है। इसके विपरीत, यदि यह बढ़कर \$1 = Rs. 9.50 हो जाती है तो इसे भारत के प्रतिकूल विनिमय-दर कहा जायगा। किन्तु जब विनिमय-दर को विदेशी मुद्रा में व्यक्त किया जाता है तो इसके विपरीत स्थिति होती है।

(5) **स्थिर एवं अस्थिर अथवा लोचदार विनिमय-दर** (Fixed and Flexible Rate of Exchange)—स्थिर विनिमय-दर से तात्पर्य उस विनिमय-दर से है जिसमें परिवर्तन एक निश्चित सीमा तक ही हो सकते हैं। स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय-दर स्थिर होती थी क्योंकि उसमें परिवर्तन निश्चित स्वर्ण बिन्दुओं के अन्तर्गत ही हो सकता था। इस सीमा के बाद अधिक परिवर्तन होने की स्थिति में स्वर्ण का ही आयात-निर्यात किया जाता था। 1944 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund or I. M. F.) की स्थापना के साथ ही इसके सदस्य देशों ने एक निश्चित विनिमय-दर अपनायी थी। मुद्रा कोष भी इस दर को बनाये रखने में सहायता करता है।

इसके विपरीत, लोचदार विनिमय-दर वह दर है जिसमें माँग एवं पूर्ति की शक्तियों के फलस्वरूप परिवर्तन होता रहता है तथा सरकार का इस पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता। प्रो. सैमुअलसन (Samuelson) ने लोचदार विनिमय-दर को निम्न प्रकार परिभाषित किया है "लोच-पूर्ण विनिमय-दरों को वस्तुओं की माँग तथा पूर्ति अथवा पूंजी के प्रवाह के द्वारा लोचपूर्ण तरीके से ऊपर अथवा नीचे रखा जाता है।"[1] इससे स्पष्ट है कि लोचपूर्ण विनिमय-दरों में परिवर्तन होते रहते हैं।

विदेशी विनिमय-दर का निर्धारण

[DETERMINATION OF EXCHANGE RATE]

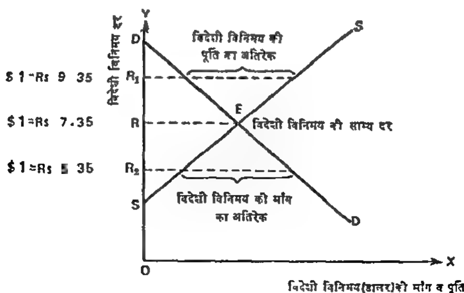
विदेशी विनिमय के बाजार में विनिमय का निर्धारण ठीक उसी रूप में होता है जिस प्रकार कि

1 "Floating or flexible exchange rates are forced flexibly up or down by supply and demand for goods or capital movements."—Samuelson, *op. cit.*, p. 648.

आन्तरिक बाजार मे वस्तु की माँग व पूर्ति फलनो के आधार पर इसका मूल्य-निर्धारण हुआ करता है। विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति स्वय भी वस्तु की भाँति अनेक बातो से प्रभावित होती है। विनिमय-दर के निर्धारण से सम्बन्धित सैद्धान्तिक व्याख्या स्वतन्त्र विनिमय-बाजार के सन्दर्भ मे ही प्राय की जाती है परन्तु वर्तमान समय मे प्रत्येक देश म विनिमय-बाजार सरकार के पूर्ण अथवा आंशिक नियन्त्रण म रहता है। अत वास्तविक रूप म, विनिमय-दर का निर्धारण सरकारी नीति पर आधारित होता है। फिर भी विदेशी-विनिमय बाजार म विनिमय की माँग एव पूर्ति विनिमय-दर के निर्धारण मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। जिस प्रकार वस्तु के सन्दर्भ मे बाजार मूल्य तथा दीर्घकालीन या साम्य मूल्य होते हैं उसी प्रकार विदेशी विनिमय बाजार मे भी तात्कालिक एव दीर्घकालीन (साम्य) दरें हो सकती हैं। इनको क्रमश बाजार विनिमय-दर (Market Rate of Exchange) तथा सामान्य विनिमय-दर (Normal Rate of Exchange) भी कहते हैं। बाजार विनिमय-दर म समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं परन्तु यह परिवर्तन प्राय कुछ सीमाओ के अन्तर्गत ही होते है तथा सामान्य विनिमय-दर पर पहुँचने की प्रवृत्ति रखते हैं। विनिमय-दरो मे समय-समय पर परिवर्तन होते रहने का एक मुख्य कारण यह है कि विभिन्न देशो की मुद्राओ (विदेशी विनिमय)की माँग व पूर्ति हमेशा एक सी नही रहती, बल्कि उनमे परिवर्तन होता रहता है।

अल्पकाल मे विदेशी विनिमय की प्रचलित दर पर विदेशी विनिमय की माँग व पूर्ति मे समानता होना आवश्यक नही है। सम्भव है प्रचलित दर पर विदेशी विनिमय की पूर्ति इसकी माँग से कम हो (अर्थात् पूर्ति का अतिरेक हो) अथवा किसी समय प्रचलित विनिमय दर पर विदेशी विनिमय की माँग का पूर्ति से आधिक्य (surplus) हो (अर्थात् माँग का अतिरेक हो)। दोनो ही स्थितियाँ दीर्घकाल मे कायम नही रह सकती क्योकि दोनो ही स्थितियो म विदेशी विनिमय की माँग एव पूर्ति म सन्तुलन नही है। यदि पूर्ति के अतिरेक की स्थिति है तो विदेशी विनिमय के विक्रेताओ मे परस्पर स्पर्धा होने के कारण वे विदेशी विनिमय की दर को कम कर देंगे। इसके एक साथ दो प्रभाव होगे। एक तो विदेशी विनिमय की माँग बढेगी और साथ ही विदेशी विनिमय के विक्रेता पूर्ति मे कुछ कटौती कर देंगे। विदेशी विनिमय-दर मे कमी का क्रम तब तक चलता रहेगा जब तक कि माँग व पूर्ति मे पूर्ण साम्य नही हो जाता। इसके विपरीत, यदि किसी समय विदेशी विनिमय की प्रचलित दर पर माँग का पूर्ति से आधिक्य हो तो विदेशी विनिमय की दर बढना प्रारम्भ होगा और यह क्रम माँग व पूर्ति मे समानता होने तक जारी रहेगा। माँग तथा पूर्ति का समायोजन केवल दीर्घकाल मे ही सम्भव है। इसी कारण विदेशी विनिमय की साम्य दर को दीर्घकालीन दर की सज्ञा दी जाती है।

चित्र 8 1 मे विदेशी विनिमय-दर के निर्धारण की प्रक्रिया स्पष्ट की गयी है। शीर्ष अक्ष



रेखाचित्र 8 1—विदेशी विनिमय-दर का निर्धारण

पर डालर का रुपयों में मूल्य व्यक्त किया गया है जबकि क्षितिजीय अक्ष पर डालर की माँग व पूर्ति की मात्राएँ ली गयी हैं। जब डालर का मूल्य 9 35 रुपये था तो पूर्ति का माँग से आधिक्य था। उसके विपरीत, जब डालर का मूल्य 5 35 रुपये था तो माँग से आधिक्य की स्थिति थी। जैसा कि रेखाचित्र में स्पष्ट है, पूर्ति अथवा माँग की विमगति में विदेशी विनिमय की साम्य-दर स्थापित नहीं हो सकती। साम्य स्थिति तभी प्राप्त होगी जब माँग व पूर्ति वक्र परस्पर काटते हों। यह *स्थिति F पर दिखायी देती है। यही कारण है कि 7·35 रुपये की विनिमय-दर साम्य दर मानी* जायगी, क्योंकि इसी पर विदेशी विनिमय की माँग व पूर्ति में समानता है।

अस्तु, विदेशी विनिमय की दीर्घकालीन दर वही होगी जिस पर माँग व पूर्ति में समानता हो। इसे सामान्य दर भी कहा जाता है। साम्य अथवा सामान्य दर का अलग-अलग परिस्थितियों *में अलग-अलग ढंग से निर्धारण होता है। यदि दो देशों की मुद्राएँ स्वर्ण या रजतमान पर आधा*रित हों तो विदेशी विनिमय-दर का निर्धारण दोनों मुद्राओं की समानता अथवा टंकण अनुपातों (parity or mint ratios) द्वारा होगा। यही कारण है कि स्वर्ण या रजतमान के अन्तर्गत विदेशी विनिमय निर्धारण के सिद्धान्त को विनिमय-दर का **टंकण मूल्य समता सिद्धान्त (Mint-par Parity Theory)** कहा जाता है।

परन्तु जब दो देशों की मात्राएँ अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रामान पर आधारित हों तो टंकण समता के आधार पर विनिमय-दर का निर्धारण नहीं हो सकता क्योंकि इस प्रकार की समता का पत्र-मुद्रामान के अन्तर्गत कोई अस्तित्व ही नहीं होता। ऐसी स्थिति में विनिमय-दर के निर्धारण हेतु दोनों मुद्राओं की *क्रय-शक्ति समता* (purchasing power parity) को आधार बनाया जाता है। यही कारण है कि इस सिद्धान्त को विनिमय-दर का **क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त (Purchasing Power Parity Theory of Exchange Rate)** के नाम से जाना जाता है। इस सिद्धान्त को ***स्फीति सिद्धान्त (Inflation Theory)*** *की भी संज्ञा दी जाती है क्योंकि विनिमय दर के निर्धारण* में स्फीति की सीमा को भी दृष्टिगत रखा जाता है।

विनिमय-दर के निर्धारण हेतु मुख्यतः निम्नलिखित चार सिद्धान्त प्रस्तुत किये जाते हैं :

(1) टंकण मूल्य समता सिद्धान्त (Mint Par Parity Theory),
(2) क्रय-शक्ति समता अथवा स्फीति सिद्धान्त (Purchasing Power Parity Theory);
(3) भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त (*Balance of Payment Theory*); तथा
(4) नियन्त्रित (Pegged) अथवा लेखांकन दर (Accounting Rate) सिद्धान्त।

टंकण मूल्य समता सिद्धान्त (Mint Par Parity Theory)

जब दो देशों में समान धात्विक मान पर आधारित मुद्रा-व्यवस्था विद्यमान हो तो दोनों के बीच जिस आधार पर विनिमय-दर का निर्धारण होता है, उसे टंकण-समता सिद्धान्त कहा जाता है। टंकण समता का अर्थ यह है कि दोनों देशों की मुद्रा में स्थित धात्विक भार का अनुपात ही *दोनों के बीच विनिमय-दर के रूप में लिया जाय। उदाहरण के लिए बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ* में डालर तथा पौण्ड के बीच इनके धात्विक भार के आधार पर निम्न अनुपात विद्यमान था

£ 1 = 123·2/4 ग्रेन स्टैण्डर्ड

चूँकि 12 ग्रेन स्टैण्डर्ड = 11 ग्रेन विशुद्ध धातु एवं

232·2 ग्रेन विशुद्ध = $ 10 विशुद्ध

अस्तु, डालर व पौण्ड की विशुद्ध धातु की मात्रा के आधार पर विनिमय-दर =

$$1 = \frac{123\ 274 \times 11 \times 10}{12 \times 232\ 2}$$

$$= \$\ 4\ 866$$

यह अनुपात (£ 1 = $ 4 866) पौण्ड स्टर्लिंग एवं डालर के बीच विनिमय की टंकण समता कहलाता है, तथा दीर्घकाल में इसी आधार पर दोनों मुद्राओं के बीच विनिमय-दर कायम होगी। अल्पकाल में बाजार विनिमय-दर या दैनिक विनिमय-दर साम्य (दीर्घकालीन) विनिमय-दर से भिन्न होगी तथा निर्दिष्ट सीमाओं के बीच बदलती रहेगी परन्तु दीर्घकाल में टंकण-समता द्वारा

निर्धारित साम्य-दर ही विद्यमान होनी चाहिए। ये सीमाएँ जिनके मध्य बाजार विनिमय-दर में उतार-चढ़ाव होता रहता है स्वर्ण की वास्तविक लागत (बीमा, पैकिंग खर्च एवं परिवहन-व्यय सहित) पर निर्भर करेंगी।

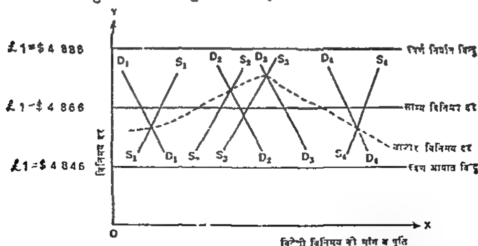
हम यह जानते हैं कि कोई व्यक्ति काफी मात्रा में डालर को पौण्ड में निम्नवत् दो प्रकार से परिवर्तित कर सकता है

(i) वह सामान्य रूप में डालर बेचकर स्टर्लिंग खरीद ले, अथवा

(ii) वह उतने मूल्य का सोना अमरीका से इगलैण्ड को प्रेषित कर दे।

यदि स्वर्ण के परिवहन आदि में कोई खर्च न आता हो तो डालर व पौण्ड की प्रभावी विनिमय-दर £ 1 = $ 4 866 रहेगा। परन्तु यदि स्वर्ण के स्थानान्तरण से सम्बद्ध परिवहन, बीमा, पैकिंग व्यय को भी दृष्टिगत रखें तो विनिमय-दर £ 1 = $ 4 866 नहीं रह सकती। मान लें कि प्रति पौण्ड स्टर्लिंग यह व्यय 2 सेंट आता है। ऐसी स्थिति में जब तक किसी बैंक से £ 3 = $ 4 886 की दर पर या इससे कम मूल्य पर डालर उपलब्ध होते हैं, अमरीका से स्वर्ण का निर्यात नहीं होगा। इसी प्रकार इगलैण्ड का व्यापारी तब तक स्वर्ण का अमरीका से आयात करना पसन्द नहीं करेगा जब तक कि विनिमय-दर £ 1 = $ 4 846 से अधिक है। डालर तथा पौण्ड स्टर्लिंग के बीच बाजार विनिमय-दर इन्हीं दो सीमाओं के बीच बदलती रहने पर बिना स्वर्ण का हस्तान्तरण किये डालर एवं पौण्ड का विनिमय होता रहेगा। ये सीमाएँ ऊपरी व निचली स्वर्ण सिक्का बिन्दुओं (upper and lower gold specie points) के नाम से भी जानी जाती हैं। ऊपरी सीमा के निर्धारण हेतु टकण-क्षमता विनिमय-दर में स्वर्ण के हस्तान्तरण की लागत को जोड़ दिया जाता है जबकि निचली सीमा के लिए टकण-क्षमता विनिमय-दर से स्वर्ण की हस्तान्तरण सम्बन्धी लागत (परिवहन, बीमा आदि से सम्बद्ध) को घटा दिया जाता है।

इन सीमाओं को स्वर्ण निर्यात बिन्दु एवं स्वर्ण आयात बिन्दु के नामों से भी जाना जाता है। रेखाचित्र 8 2 में ये दोनों सीमाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। डालर एवं पौण्ड स्टर्लिंग के बीच जब तक विनिमय-दर इन सीमाओं के मध्य विद्यमान रहती है, तब तक स्वर्ण का कोई हस्तान्तरण (अमरीका से इगलैण्ड को) नहीं होगा। यदि विनिमय-दर इन सीमाओं से कम या अधिक हो तो *स्वर्ण का हस्तान्तरण श्रेयस्कर माना जायगा।* वस्तुतः *कोई भी अमरीकी व्यापारी एक स्टर्लिंग पौण्ड* के बदले 4 846 डालर से अधिक डालर चुकाने की अपेक्षा यह अधिक उपयुक्त समझेगा कि स्वर्ण खरीदकर उसे इगलैण्ड भिजवा दे। इसके विपरीत, इगलैण्ड का व्यापारी पौण्ड स्टर्लिंग की विनिमय-दर 4 846 डालर से कम होने पर अमरीका से सोना मँगवाना अधिक उपयुक्त समझेगा। यही कारण है कि £ 1 = $ 4 846 की सीमा को स्वर्ण निर्यात बिन्दु एवं £ 1 = $ 4 846 की सीमा को स्वर्ण आयात बिन्दु के नामों से भी पुकारा जाता है।



रेखाचित्र 8 2—स्वर्ण निर्यात एवं आयात बिन्दु तथा विदेशी विनिमय दर का निर्धारण

रेखाचित्र 8 2 स्वर्ण निर्यात एवं आयात बिन्दुओं को प्रस्तुत करने के साथ ही यह स्पष्ट

करता है कि इन दोनों सीमाओं के बीच बाजार विनिमय-दर का निर्धारण अमरीका में पौण्ड स्टर्लिंग की माँग व पूर्ति पर निर्भर करेगा।

सीमाएँ (Limitations)—यद्यपि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक टकण मूल्य समता सिद्धान्त (Mint Par Parity Theory) का विनिमय-दरों के निर्धारण में काफी महत्त्व माना जाता था, आज यह सिद्धान्त उतना महत्वपूर्ण नहीं रह गया है। वर्तमान सन्दर्भ में इस सिद्धान्त की वैधता को निम्नांकित कारणों से चुनौती दी जाती है :

(i) आज विश्व में कोई भी देश ऐसा नहीं है जहाँ स्वर्णमान विद्यमान हो। सन् 1934 में ही विश्व के सभी देशों में स्वर्णमान का परित्याग कर दिया गया था।

(ii) अनेक देशों में सरकार की पूर्व अनुमति के बिना स्वर्ण का निर्यात अथवा आयात करना अथवा स्वर्ण की धातु के सिक्कों को गलाना अवैधानिक माना जाता है।

(iii) चूँकि विश्व के लगभग सभी देशों में पत्र-मुद्रा चलन में है तथा अधिकांश देशों में यह पत्र-मुद्रा अपरिवर्तनीय है, स्वर्ण या धात्विक भार के अनुपातों को लेकर विभिन्न मुद्राओं के बीच विनिमय-दर का निर्धारण सम्भव भी नहीं है।

क्रयशक्ति समता सिद्धान्त अथवा विनिमय-दर का स्फीति सिद्धान्त
(Purchasing Power Parity Theory or Inflation Theory of Exchange Rate)

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सन् 1920 में स्वीडन के अर्थशास्त्री गुस्टाव कैसल (G. Cassel) ने किया था। प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ होने के पश्चात् जब स्वर्णमान की वैधता समाप्त हो गयी तो प्रो. कैसल ने बताया कि विभिन्न देशों की मुद्राओं में विद्यमान धात्विक अंश की अपेक्षा इनकी क्रय-शक्ति के आधार पर विनिमय-दरों का निर्धारण होना चाहिए। कैसल ने क्रयशक्ति समता सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए कहा कि इसके अन्तर्गत प्रचलित क्रयशक्ति-समता को विभिन्न मुद्राओं की आन्तरिक क्रय-शक्ति में हुए परिवर्तनों के अनुपात में गुणा करना चाहिए।[1] उदाहरण के लिए, यदि प्रारम्भ में दो मुद्राओं की आन्तरिक क्रय-शक्ति समान थी परन्तु अब एक देश 'क' की मुद्रा की क्रय-शक्ति में 50 प्रतिशत की कमी हो जाय और दूसरे देश 'ख' की मुद्रा की क्रय-शक्ति में 25 प्रतिशत की कमी हो तो दोनों देशों की मुद्राओं की विनिमय-दर 2 : 1 हो जायगी अर्थात् अब देश 'क' की दो मुद्राएँ 'ख' देश की एक मुद्रा के समान होंगी जबकि प्रारम्भ में क्रय-शक्ति के आधार पर दोनों की विनिमय-दर 1 : 1 थी।

कैसल ने इस सिद्धान्त को पत्र-मुद्राओं के, विशेष रूप से मुद्रा-स्फीति के परिणामों के सन्दर्भ में प्रस्तुत करते हुए, यह स्पष्ट करना चाहा कि मुद्रा-स्फीति का विनिमय-दर पर क्या प्रभाव हो सकता है। उनके मतानुसार, "यदि दो देशों 'अ' एवं 'ब' के बीच मुक्त व्यापार (free trade) हो तो उनके बीच विनिमय की एक दर स्वयमेव स्थापित हो जायगी। यह दर छोटे-मोटे उतार-चढ़ावों को छोड़कर तब तक अपरिवर्तित रहेगी जब तक कि दोनों में से किसी एक देश की मुद्रा की क्रय-शक्ति में परिवर्तन नहीं किये जाते तथा/अथवा व्यापार पर कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं लगाये जाते। परन्तु जैसे ही 'अ' देश की मुद्रा में स्फीति प्रारम्भ होती है इसकी क्रय शक्ति कम हो जायगी तथा उसी अनुपात में 'ब' देश की मुद्रा की तुलना में इसका अर्घ कम हो जायगा। इस प्रकार यह नियम दिया जा सकता है कि जब दो मुद्राओं पर स्फीति का प्रभाव होता है तो पुरानी विनिमय-दर को दोनों देशों में स्फीति के अनुपात से गुणा करके नयी विनिमय-दर प्राप्त की जा सकती है। इस समता को क्रय शक्ति-समता कहा जाता है क्योंकि इसका निर्धारण विभिन्न मुद्राओं की क्रय शक्ति के अंशों (quotients) या अनुपात के आधार पर किया जाता है।" इस सिद्धान्त की विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने निम्न प्रकार व्याख्या की है :

प्रो. गुस्टाव कैसल के अनुसार, "दो मुद्राओं के मध्य विनिमय-दर आवश्यक रूप से इन मुद्राओं की आन्तरिक क्रय-शक्तियों के भजनफल पर निर्भर होनी चाहिए। यदि हम इस तथ्य पर ध्यान दें तो यह आसानी से देखा जा सकता है कि जो कीमत हम मूलतः विदेशी मुद्रा में चुकाते

1 Cassel, *The Theory of Social Economy* (1932), p. 660.

हैं वह ऐसी कीमत है जिसका स्वदेशी बाजार मे वस्तुओ की कीमतो से एक निश्चित सम्बन्ध होता है।"[1]

प्रो. जी डी एच कोल के अनुसार, 'राष्ट्रीय मुद्राओ का पारस्परिक मूल्य, जो विशिष्ट रूप से स्वर्णमान को अपनाये हुए नही होती, दीर्घकाल म विशेषत उनकी वस्तुओ और सवाओ म क्रय-शक्ति द्वारा निर्धारित होता है।"[2]

प्रो एस ई टॉमस के अनुसार 'एक देश की मुद्रा का मूल्य दूसरे देश की मुद्रा के रूप मे किसी समय विशेष पर बाजार की माँग एव पूर्ति की स्थितिया द्वारा निर्धारित होता है। दीर्घकाल मे यह मूल्य उन दोनो देशो की मुद्राओ के सापेक्षिक मूल्यो पर निर्धारित होता है जबकि उन देशो की मुद्रा की क्रय-शक्ति अपने-अपन देश की वस्तुओ एव सवाओं के रूप मे होती है। अन्य शब्दो मे, विनिमय-दर म उस बिन्दु पर स्थिर होने की प्रवृत्ति रहती है जहाँ दोनो देशो की मुद्राओ की क्रय-शक्ति समान होती है। इस बिन्दु को ही क्रय-शक्ति समता कहा जाता है।"[3]

इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषाओ से स्पष्ट है कि अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रामान वाले देशो की पत्र मुद्राओ का सम्बन्ध किसी धातु से न होने के कारण उनकी विनिमय-दर स्वर्णमान वाले देशो की भाँति निर्धारित नही की जा सकती बल्कि उनकी मुद्राओ की क्रय-शक्ति को मालूम करके उनकी क्रय-शक्ति के अनुपात के द्वारा निर्धारित की जाती है। इसे हम निम्न उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं

उदाहरण—उपर्युक्त कथन को समझने के लिए हम एक उदाहरण ले सकते हैं। मान लीजिए, डालर व रुपये की प्रचलित विनिमय-दर \$ 1 = Rs 5 थी। अब मान लीजिए गत अवधि मे भारत मे सामान्य मूल्यो का निर्देशांक 300 तक बढ गया है जबकि अमरीका मे उसी अवधि मे सामान्य मूल्यो का निर्देशांक बढकर 150 हुआ है। मुद्रा-स्फीति की भिन्नता का प्रभाव विनिमय-दर पर भी होगा तथा नयी विनिमय-दर इस प्रकार ज्ञात की जायगी :

$$\text{एक डालर का मूल्य} = \text{रुपयो मे अंकित एक डालर का आधार मूल्य} \times \frac{\text{भारत मे सामान्य मूल्यो का निर्देशांक}}{\text{अमरीका म सामान्य मूल्यो का निर्देशांक}}$$

$$= \text{Rs } 5.00 \times \frac{300}{150}$$

अथवा \$ 1 = Rs 10 (जो डालर व रुपये के बीच नयी विनिमय-दर होगी)

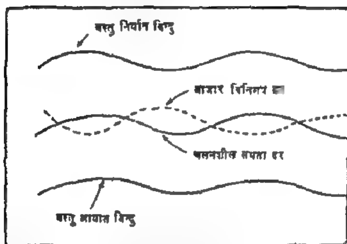
टकण-मूल्य समता-दर की भाँति मुद्रा की क्रय-शक्ति-समता पर आधारित विनिमय-दर केवल दीर्घकालीन साम्य स्थिति का ही बोध कराती है। यहाँ भी बाजार या अल्पकालीन विनिमय-

1 "The rate of exchange between two currencies must stand essentially on the quotient of the internal purchasing power of those currencies This is easily seen if we reflect on the fact that the price paid in foreign currency is ultimately a price which must stand in a certain relation to the prices of commodities in the home market"—Gustav Cassel, "*Foreign Exchange*," an article in the *Encyclopeadia Britanica*

2 "The relative value of national currencies especially when they are not of the gold standard in the long-run are determined by their relative purchasing powers in terms of goods and services"
—G D H Cole, *What Everybody Wants to Know about Money.*

3 "While the value of the unit of one currency in terms of another currency is determined at any particular time by the market conditions of demand and supply, in the long run that value is determined by the relative values of the two currencies as indicated by their relative purchasing power over goods and services in their respective countries In other words, the rate of exchange tends to rest at that point which expresses equality between the respective purchasing power of the two currencies This point is called the purchasing power parity"
—S E Thomas, *The Principles and Arithmetic of Foreign Exchange*

दर साम्य विनिमय-दर से बहुधा भिन्न होती है। यह अन्तर मुख्य रूप से मुद्रा विशेष की माँग व पूर्ति की विषमता का एक परिणाम होता है। जिस सीमा तक बाजार विनिमय-दर साम्य दर से भिन्न होगा, यह निम्न बातों पर निर्भर करता है : (i) वस्तुओं का परिवहन-व्यय (प्रशुल्क सहित), (ii) ब्याज की दरें, (iii) बीमा आदि का व्यय, (iv) विदेशी बाजारों में वस्तुओं का विज्ञापन व प्रचार-व्यय आदि। परन्तु इन मदों द्वारा निर्धारित सीमाएँ स्वर्ण निष्कास बिन्दुओं या स्वर्ण आयात व निर्यात बिन्दुओं की भाँति निश्चित नहीं होती। टकण मूल्य समता सिद्धान्त एवं क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त में यही मूल अन्तर है कि जहाँ टकण मूल्य समता सिद्धान्त में बाजार विनिमय-दर दो निश्चित सीमाओं के बीच बदलती रहती है, क्रयशक्ति समता सिद्धान्त ऐसी कोई सीमाएँ निर्धारित नहीं करता। रेखाचित्र 8 3 इतना अवश्य स्पष्ट करता है कि साम्य विनिमय-दर से ऊपर व नीचे



रेखाचित्र 8·3—चलनशील समता दर एवं बाजार विनिमय-दर

क्रमशः वस्तु-निर्यात बिन्दु एवं वस्तु-आयात बिन्दु है जो यह स्पष्ट करते हैं कि विनिमय-दर इनसे *अधिक या कम होने पर वस्तुओं का निर्यात या आयात प्रारम्भ हो जायेगा।* परन्तु दोनों मुद्राओं के बीच विनिमय-दर स्फीति की दर के अनुरूप बदलती रहती है जिसे चलनशील समता (Moving Par) के नाम से पुकारते हैं। वास्तविक या बाजार विनिमय-दर वस्तुतः इस चलनशील समता दर के इर्द-गिर्द ही चलायमान रहती है।

सीमाएँ (Limitations)—(1) इस सिद्धान्त के अनुसार केवल मुद्राओं की क्रय-शक्ति के ही आधार पर इनकी विनिमय-दर का निर्धारण होता है। वास्तव में यह उपयुक्त विधि नहीं हो सकती क्योंकि प्रशुल्क-नीति, विनिमय नियन्त्रण, निर्यात-प्रोत्साहन, आयात प्रतिस्थापन आदि अनेक नीतियाँ ऐसी हो सकती हैं जो प्रत्यक्षतः दो देशों के मध्य विनिमय-दर को प्रभावित करती हों। उदाहरण के लिए, मूल्य-स्तर एवं अर्थात् मुद्रा की क्रय-शक्ति वही रहने पर भी यदि एक देश आयात पर कर लगा दे और दूसरा देश ऐसा न करे तो कर लगाने वाले देश की मुद्रा का अर्घ अपेक्षाकृत अधिक हो जायेगा।

(2) यह *सिद्धान्त क्रय-शक्ति को मापने हेतु सामान्य मूल्य-निर्देशांकों* को आधार मानता है। हम यह जानते हैं कि मूल्य-निर्देशांक के निर्माण में अनेक समस्याएँ आती हैं और बहुधा सामान्य मूल्य निर्देशांकों को मूल्य-स्तर (अथवा मुद्रा की क्रय-शक्ति) के परिवर्तनों का सही परिचायक नहीं माना जाता। यही कारण है कि इन पर आधारित सिद्धान्त को दो मुद्राओं के बीच उपयुक्त विनिमय-दर के निर्धारण का आधार मानना भी उचित नहीं होगा। उदाहरण के लिए, आधार वर्ष किसे लें, अथवा भारयुक्त निर्देशांक लिये जायें या सामान्य निर्देशांक, और यदि भारयुक्त निर्देशांक लिये जायें तो भार कितने दिये जायें आदि ऐसे प्रश्न हैं जिनका सही उत्तर न मिलने के कारण सामान्य मूल्य-निर्देशांक ठीक रूप में नहीं बनाये जाते।

(3) *यह सिद्धान्त* घरेलू वस्तुओं एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रयुक्त वस्तुओं के मूल्यों में कोई अन्तर नहीं मानता एवं दो देशों के केवल सामान्य मूल्य-स्तरों को आधार मानकर विनिमय-

दर का निर्धारण करता है। वस्तुत विनिमय-दर के निर्धारण मे केवल उन वस्तुओ के मूल्य लिये जाने चाहिए जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे प्रयुक्त होती हो। इसी कारण हैक्शर आदि अर्थशास्त्री क्रयशक्ति समता सिद्धान्त को मान्यता नही देते। हैक्शर के अनुसार क्रय शक्ति समता सिद्धान्त केवल उन वस्तुओ के मूल्य-स्तरो की विवेचना करता है जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार म सम्मिलित की जाती है तथा इसम परिवहन लागतो एव प्रशुल्को मे सापेक्षिक परिवर्तनो की उपेक्षा की जाती है। सामान्य मूल्यो स्तरो (general price levels) के समावेश के बाद यह सिद्धान्त अर्थहीन हो जाता है। इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए प्रो हैक्शर ने स्पष्ट किया कि यह धारणा कि विनिमय सापेक्षिक मूल्य स्तरो को प्रदर्शित करते हैं या यह कहना कि एक देश की मौद्रिक इकाई की क्रय शक्ति देश के अन्दर तथा बाहर एकसी रहती है केवल उसी समय ठीक हो सकता है जबकि यह मान लिया जाय कि वस्तुओ तथा सेवाओ को एक देश से दूसरे देश को बिना किसी स्थानान्तरण लागत के स्थानान्तरित किया जा सकता है। ऐसी स्थिति मे विभिन्न देशो के मूल्यो के बीच समझौते की सीमा मौद्रिक इकाई की समान क्रय-शक्ति की धारणा के आधार पर निर्धारित सीमा से अधिक होती है। क्योकि न केवल औसत मूल्य-स्तर (average price level) बल्कि प्रत्येक विशिष्ट वस्तु या सेवा के मूल्य भी उसी समय दानो देशो म समान होंगे जबकि विनिमय के आधार पर गणना की गयी हो।"

सक्षेप म हम कह सकते है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार म सलग्न वस्तुओ के मूल्यो को ही क्रय शक्ति निर्धारण म शामिल किया जाये तो यह सिद्धान्त अनावश्यक पुनर्व्याख्या हो जाता है। यदि इसके विपरीत सभी वस्तुओ के मूल्यो को शामिल किया जाय तो यद्यपि क्रय शक्ति की धारणा सही हो जाती है तथापि विनिमय निर्धारण मे इसे विश्वसनीय नही कहा जाता। अत यह सिद्धान्त विदेशी विनिमय दर के निर्धारण के लिए उपयुक्त नही कहा जा सकता।

(4) हॉट्रे (Hawtrey) का कहना है कि क्रयशक्ति समता सिद्धान्त मुद्राओ की क्रय शक्ति के निर्धारण हेतु केवल वस्तुओ के मूल्यो को आधार मानता है। उनकी दृष्टि म यदि सेवाओ के मूल्य भी लिय जायें तो क्रय शक्ति मे हुए परिवर्तनो का सुचारु रूप से पता चल सकता है।

(5) केसल के मतानुसार दो मुद्राओ की विनिमय-दर पर देश म मुद्रा-स्फीति का प्रत्यक्ष प्रभाव होता है। परन्तु वास्तव मे मुद्रा-स्फीति केवल दीर्घकालीन घटना (phenomenon) है। इसका अर्थ हुआ कि क्रयशक्ति समता सिद्धान्त केवल दीर्घकाल मे ही लागू हो सकता है। परन्तु व्यावहारिक जीवन की समस्याएँ तो अल्प काल मे ही अनुभव की जाती हैं। कीन्स (Keynes) ने कहा था, 'दीर्घकाल म तो हम सब मृत होंगे तथा मृत्योपरान्त तो कोई आर्थिक समस्या नही होगी। आवश्यकता इस बात की है कि अल्प आयु मे मुद्रा की क्रय शक्ति तथा विनिमय दर मे होने वाले परिवर्तनो का सही अनुमान किया जाय।'

(6) प्रो जे एम कीन्स के अनुसार, "विनिमय-दर पर केवल अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओ के मूल्यो मे हुए परिवर्तनों का विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति मे परिवर्तनों के द्वारा प्रभाव पड़ता है। उन वस्तुओ का जिसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नही होता है विदेशी विनिमय-दर पर कोई प्रभाव नहीं पडता है तथा इस प्रकार ऐसी वस्तुओ के मूल्यो मे परिवर्तन होने पर विदेशी विनिमय-दर स्थिर रह सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओ तक सीमित रहने के कारण विदेशी विनिमय-दर निर्धारण का क्रयशक्ति समता नियम केवल स्वय सिद्ध सत्य है।"[1]

(7) यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि मूल्य स्तर मे परिवर्तन होने पर विनिमय-दर मे भी परिवर्तन होंगे। परन्तु विनिमय-दर मे परिवर्तन का क्या प्रभाव मूल्य स्तर पर होगा ऐसा यह सिद्धान्त नही बताता। इस प्रकार यह सिद्धान्त एकपक्षीय दृष्टिकोण ही प्रस्तुत कर पाता है।

(8) प्रशुल्क-दरो की भिन्नता के कारण बहुधा क्रयशक्ति समता अर्थहीन हो जाती है। यही नही अनेक बार आयात पर लगायी गयी पाबन्दियो के कारण भी क्रयशक्ति समता का कोई अर्थ नही रह जाता। इस प्रकार की कठिनाई निर्यात एव आयात पर स्थित किराये-भाडे की भिन्न दरो से भी उत्पन्न होती है।

1 J M Keynes, *A Tract on Monetary Reform*, p 101.

उपर्युक्त कमियों के कारण अधिकांश अर्थशास्त्री क्रयशक्ति समता सिद्धान्त को आज मान्यता नहीं देते। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि यह सिद्धान्त पूर्णतया अर्थहीन है। उपर्युक्त सीमाओं के बावजूद चलन-नीति की दृष्टि से इस सिद्धान्त का पर्याप्त व्यावहारिक महत्व है क्योंकि यह मुद्रा की क्रय-शक्ति में हुए सापेक्ष (relative) परिवर्तनों के विषय में महत्वपूर्ण सूचना प्रदान करता है।

भुगतान-सन्तुलन सिद्धान्त अथवा माँग-पूर्ति सिद्धान्त
(Balance of Payments Theory or Demand and Supply Theory)

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार विदेशी विनिमय के बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति होने पर देश के नागरिक अपनी बचत को देश में अथवा विदेश में कहीं भी विनियोग करने अथवा विदेशी मुद्रा की खरीद व बिक्री कहीं भी करने को स्वतन्त्र रहते हैं। इस मान्यता के रहते हुए देश *की मुद्रा की विनिमय-दर विदेशी विनिमय की माँग व पूर्ति पर निर्भर करेगी। साम्य विनिमय-दर* वह होगी जिस पर विदेशी मुद्रा की माँग व पूर्ति समान हो।

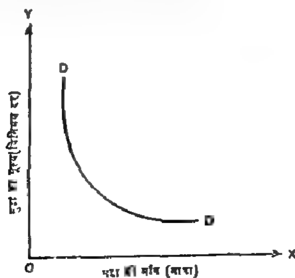
किसी भी देश की मुद्रा की माँग (विदेश में) निम्नलिखित प्रयोजनों पर निर्भर करती है :

(i) वस्तुओं तथा सेवाओं के निर्यात से प्राप्त आय—*सेवाओं से प्राप्त आय में बीमा, जहाज-भाड़ा, बैंकिंग आदि सुविधाओं के बदले प्राप्त आय को भुगतान-सन्तुलन में शामिल किया* जाता है।

(ii) पूँजी-खाते की प्राप्तियाँ—*अन्य देशों के नागरिक और वहाँ की व्यावसायिक संस्थाएँ* हमारे देश में हिस्सा-पूँजी या प्रतिभूतियाँ खरीदते हैं और फलस्वरूप हमारी मुद्रा की माँग बढ़ जाती है। यह माँग हमारे देश के भुगतान सन्तुलन के पूँजी खाते में प्रविष्ट की जाती है। इसी प्रकार विदेशी नागरिकों या संस्थाओं द्वारा हमारे ऋणों का भुगतान भी हमारे देश की मुद्रा की माँग को बढ़ाता है।

(iii) लाभांश तथा ब्याज का भुगतान—हमारे देश के नागरिकों को विदेशों में विनियोजित पूँजी पर प्राप्त लाभांश व ब्याज भी हमारी मुद्रा की माँग को बढ़ाते हैं।

(iv) विदेशी विनिमय-दर—स्वदेशी मुद्रा की विनिमय-दर भी स्वदेशी मुद्रा की माँग को प्रभावित करती है। वस्तु के मूल्य की भाँति मुद्रा की विनिमय-दर (अर्थ) एवं इसकी माँग में विपरीत सम्बन्ध (reverse relationship) पाया जाता है। हमारी मुद्रा की विदेशों में माँग विभिन्न विनिमय-दरों पर क्या होगी, यह रेखाचित्र 8·4 में दर्शाया गया है।



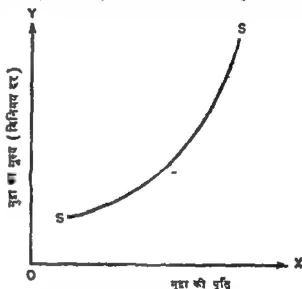
रेखाचित्र 8·4—स्वदेशी मुद्रा की माँग व विनिमय-दर के मध्य सम्बन्ध

रेखाचित्र 8·4 से स्पष्ट है कि स्वदेशी मुद्रा की विनिमय-दर (इसका विदेशों में मूल्य)

जितनी कम होगी, इसकी माँग अन्य देशों मे उतनी ही अधिक होगी। इसके विपरीत, ऊँची विनिमय-दर पर माँग का सकुचन हो जायगा।

स्वदेशी मुद्रा की विदेशों से होने वाली पूर्ति हमारे आयातों (वस्तुओं से सेवाओं की मात्रा व मूल्य) एव लाभाश व ब्याज के देय भुगतानों पर निर्भर करेगी। अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों मे स्वदेशी मुद्रा की पूर्ति वस्तुत इसी बात पर निर्भर करती है कि हमें विदेशी नागरिकों व सस्थाओं को उनके द्वारा हमे भेजी गयी वस्तुओं, उनके द्वारा अर्जित सेवाओं व हमारे देश में उनके द्वारा नियोजित पूँजी के बदले कितना भुगतान करना है। यही नहीं, हमारे देश के नागरिक जब अन्य देशों म पूँजी विनिमय करना चाहते हे तब हमारी मुद्रा की पूर्ति अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में बढ जाती है।

इसके अतिरिक्त स्वदेशी मुद्रा की अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे पूर्ति विनिमय-दर पर भी निर्भर करती है। वस्तु की मात्रा व मूल्य की भाँति विनिमय-दर एव स्वदेशी मुद्रा की पूर्ति के मध्य भी धनात्मक (positive) सह-सम्बन्ध है। रेखाचित्र 8 5 स्पष्ट करता है कि हमारी मुद्रा की पूर्ति ऊँची विनिमय-दरों पर अधिक व नीची विनिमय-दरों पर कम है।

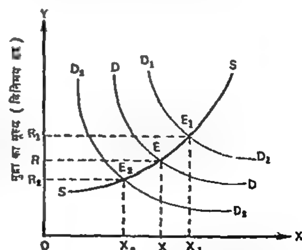


रेखाचित्र 8 5—स्वदेशी मुद्रा की पूर्ति एवं विनिमय दर का सम्बन्ध

इस प्रकार विनिमय-दर मे परिवर्तन होने पर हमारी मुद्रा की पूर्ति मे तदनुरूपी परिवर्तन होग जबकि माँग मे प्रतिकूल परिवर्तन दिखायी देंगे। यदि माँग में वृद्धि हो जाय तो स्वदेशी मुद्रा की माँग का वक्र दायी ओर विवर्तित हो जायगा जिसका यह अर्थ होगा कि उसी विनिमय दर पर भी विदेशी लोग अधिक मुद्रा खरीदना चाहते हैं। ठीक इसी प्रकार पूर्ति मे वृद्धि होने पर स्वदेशी मुद्रा के पूर्ति-वक्र का विवर्तन हो जायगा।

रेखाचित्र 8 6 मे अनेक माँग-वक्रों तथा एक पूर्ति-वक्र के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया गया है कि माँग व पूर्ति वक्रों के परस्पर प्रतिच्छेदन (intersections) की स्थिति साम्य विनिमय-दर का निर्धारण करती है।

रेखाचित्र 8 6 मे OX अक्ष पर हमारी मुद्रा की माँग व पूर्ति की तथा OY अक्ष पर मुद्रा की विनिमय-दर को मापा गया है। मुद्रा की माँग को तीन वक्रों (DD, D_1D_1 एव D_2D_2) द्वारा व्यक्त किया गया है जबकि मुद्रा की पूर्ति का वक्र SS लिया गया है। मान लीजिए, मूल माँग-वक्र DD था। यह वक्र पूर्ति-वक्र को L बिन्दु पर काटता है, अत. साम्य विनिमय-दर OR होगी तथा साम्य माँग व पूर्ति OX होगी। यह स्मरणीय है कि हमारी मुद्रा की



रेखाचित्र 8·6—भुगतान-सन्तुलन सिद्धान्त के अन्तर्गत विनिमय-दर का निर्धारण

विनिमय-दर विदेशी मुद्रा के रूप में व्यक्त हमारी मुद्रा का मूल्य बताती है। रेखाचित्र 8 6 में हमारी मुद्रा की पूर्ति को व्यक्त करने वाला एक ही वक्र *SS* लिया गया है क्योंकि हम अपनी मुद्रा की पूर्ति पर तो नियन्त्रण रख सकते हैं जबकि हमारी मुद्रा की माँग पर हमारा कोई प्रत्यक्ष प्रभाव न होने के कारण माँग-वक्र अनेक हो सकते हैं।

यदि किन्हीं कारणों से हमारी मुद्रा की माँग की विदेशों में वृद्धि हो जाती है तो माँग-वक्र विवर्तित होकर D_1D_1 की स्थिति में आ जायगा। परिणाम यह होगा कि हमारी मुद्रा का विदेशी मुद्रा के रूप में मूल्य (विनिमय-दर) बढ़कर OR_1 हो जायगा। इसके विपरीत, यदि हमारी मुद्रा की विदेशों में माँग कम हो जाय (अर्थात् माँग-वक्र D_2D_2 हो जाय) तो विनिमय-दर घटकर OR_2 रह जायगी अर्थात् हमारी मुद्रा का विदेशों में मूल्य कम हो जायगा। यहाँ यह बता देना उपयुक्त होगा कि यदि परस्पर माँग का नियम लागू हो तो अन्ततः माँग-वक्र *DD* की स्थिति में आ जायगा एवं विनिमय-दर भी *OR* ही स्थापित हो जायगी।

अतएव कहा जा सकता है कि भुगतान-सन्तुलन सिद्धान्त के अनुसार प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन होने पर हमारी मुद्रा की माँग में कमी होगी तथा विनिमय-दर भी कम हो जायगी जबकि भुगतान-सन्तुलन अनुकूल (पक्ष में) होने पर हमारी मुद्रा की माँग का वक्र दायीं ओर विवर्तित होगा जिसके फलस्वरूप इसकी विनिमय-दर अर्थात् विदेशी मुद्रा के रूप में इसका मूल्य भी बढ़ने की सम्भावना रहेगी। प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन का यह भी अर्थ होगा कि विनिमय की आन्तरिक माँग विदेशी विनिमय की पूर्ति की तुलना में बहुत अधिक है और इसके फलस्वरूप हमारी मुद्रा की तुलना में विदेशी मुद्रा का मूल्य बढ़ जायगा (अर्थात् हमारी मुद्रा की विनिमय-दर कम हो जायगी)। इसके विपरीत, अनुकूल भुगतान-सन्तुलन होने पर विदेशी विनिमय की पूर्ति इसकी माँग की तुलना में बहुत अधिक होगी और फलस्वरूप विदेशी मुद्रा के मूल्य (अर्थात् हमारी मुद्रा की विनिमय-दर) में वृद्धि होगी।

सीमाएँ (Limitations)—प्रतिष्ठित भुगतान-सन्तुलन सिद्धान्त अथवा माँग-पूर्ति सिद्धान्त में निम्नलिखित कमियाँ देखी जा सकती हैं

(1) इस सिद्धान्त की मान्यता है कि विदेशी विनिमय के बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान है तथा सरकार इस बाजार में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करती। यह मान्यता आधुनिक सन्दर्भ में अर्थहीन है।

(2) इस सिद्धान्त के अन्तर्गत विनिमय-दर तथा देश के भीतर प्रचलित मूल्यों में कोई सम्बन्ध नहीं बताया जाता। परिणाम यह होता है कि यह सिद्धान्त विभिन्न मुद्राओं में निहित आधारभूत अर्थ (basic values) की पूर्ण उपेक्षा कर देता है। अन्य शब्दों में यह सिद्धान्त भुगतान सन्तुलन को एक निश्चित मात्रा में मान लेता है। व्यापार सन्तुलन देश एवं विदेश के मूल्य स्तरों के आपसी सम्बन्ध पर निर्भर रहता है। एक देश के मूल्य स्तर दूसरे देश के मूल्य स्तर से तुलना करने के लिए दोनों देशों की मुद्राओं के बीच विनिमय-दर का ज्ञात होना आवश्यक है। विनिमय-दर में वृद्धि यह बताती है कि विदेशों में मूल्य-स्तरों में देश के मूल्य-स्तरों की तुलना में वृद्धि हुई है, परन्तु विनिमय-दर में कमी होने से यह स्पष्ट होता है कि विदेशों के मूल्य-स्तरों में कमी हुई है, जबकि इस सिद्धान्त के अन्तर्गत यह मान लिया गया है कि विदेशों में मूल्यों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। अतः यह सिद्धान्त उचित प्रतीत नहीं होता।

(3) यह सिद्धान्त भुगतान-सन्तुलन को एक स्थिर मात्रा के रूप में प्रस्तुत करता है, परन्तु वास्तव में भुगतान-सन्तुलन या इसकी बाकी में उतार-चढ़ाव एक साधारण बात है।

(4) इस सिद्धान्त का एक दोष यह भी है कि यह सिद्धान्त आयात किये गये वस्तु मात्र की माँग को बेलोचदार मान लेता है और इस प्रकार यह भी मान लेता है कि इसकी माँग पर विनिमय-दर में परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वास्तव में इस सिद्धान्त की भाँति व्यवहार में किसी वस्तु की माँग पूर्णतः बेलोचदार नहीं होती। कोई वस्तु कितनी भी आवश्यक क्यों न हो उसमें प्रतिस्थापन की लोच का कुछ अंश अवश्य देखा जा सकता है अतः व्यावहारिक जीवन में एक वस्तु के मूल्य में होने वाले परिवर्तन का उस वस्तु की माँग एवं पूर्ति के साथ-साथ दूसरी वस्तु की माँग एवं पूर्ति पर भी प्रभाव पड़ता है। अन्ततः मूल्य विनिमय-दर से प्रभावित होते हैं। इस

प्रकार भुगतान-सन्तुलन विनिमय से बिल्कुल अलग नही किया जा सकता, जैसा कि इस सिद्धान्त मे माना गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त सिद्धान्त की आधुनिक सन्दर्भ मे वैधता इसी कारण स्वीकार नही की जाती कि यह अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है।



नियन्त्रित विनिमय-दर
[PEGGED EXCHANGE RATES]

यदि किसी देश की मुद्रा का मूल्य अन्य देश अथवा अन्य देशो की मुद्रा के रूप मे माँग व पूर्ति के आधार पर निर्भर न होकर सरकार द्वारा निर्धारित नीति पर निभर करता हो तो ऐसी विनिमय दर को हम नियन्त्रित विनिमय-दर के नाम से पुकारते है। इस व्यवस्था के अन्तगत विनिमय-दर निर्दिष्ट समता-मूल्य (parity) आधार पर तय की जाती है। इसके अनुरूपी एक टकण मूल्य रहता है जिससे ऊपर या नीचे के स्तरो पर देश का केन्द्रीय बैंक विदेशी विनिमय बेचने या खरीदने को तत्पर रहता है। इस अवस्था के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक विदेशी विनिमय-दर मे एक सीमा तक उतार-चढाव की छूट देता है। यदि विनिमय-दर एक सीमा से अधिक हो जाती है तो केन्द्रीय बैंक विदेशी विनिमय की पूर्ति बढाकर (अर्थात् विदेशी विनिमय की बिक्री द्वारा) विनिमय-दर को कम करने का प्रयास करता है। इसके विपरीत, विनिमय दर एक सीमा से नीचे आने की स्थिति मे केन्द्रीय बैंक विदेशी विनिमय की खरीद प्रारम्भ कर देता है ताकि विनिमय दर बढ सके। इस प्रकार नियन्त्रित विनिमय-दरो को इन सीमाओ के बीच रखने हेतु केन्द्रीय बैंक सतत् रूप से प्रयत्नशील रहता है। कभी-कभी इन सीमाओ म भी अवमूल्यन या अधिमूल्यन के द्वारा सशोधन किया जाता है। परन्तु इस प्रकार के कदम कब और किस रूप मे उठाये जायेंगे इसे गोपनीय रखा जाता है क्योकि ऐसी नीतियो का पूर्वाभास होने पर विदेशी विनिमय का सट्टा करने वाले लाभ उठा सकते है। भारत मे सन् 1966 म किया गया रुपये का अवमूल्यन इस प्रकार की नीति का एक ज्वलन्त उदाहरण है। इसी प्रकार दिसम्बर 1971 तथा पुन फरवरी 1973 मे अमरीकी डालर के अवमूल्यन भी उदाहरण स्वरूप बताये जा सकते हैं।

कुल मिलाकर नियन्त्रित विनिमय-स्तर व्यवस्था का उद्देश्य विदेशी विनिमय-दरो मे एक सीमा तक उतार-चढावों की छूट देना है। परन्तु यदि इन सीमाओ से ऊपर या नीचे विनिमय-दरें पहुँचती हैं तो देश का केन्द्रीय बैंक प्रत्यक्षत हस्तक्षेप करके विनिमय-दरो को वाछित दिशा मे प्रवृत्त करने का प्रयास करता है क्योकि उस स्थिति मे विदेशी विनिमय दर मे अस्थिरता आ जाएगी जिसका न केवल देश के व्यापार पर बल्कि सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पर गम्भीर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। परिवर्तनशील विदेशी विनिमय-दरें घरेलू अर्थ-व्यवस्था की स्थिरता के लिए उचित नहीं हैं। विदेशी विनिमय-दरो, अनियन्त्रित उच्चावचना के फलस्वरूप आयातो तथा निर्यातो के मूल्यो मे भी उच्चावचन होते हैं। परिणामस्वरूप, कुछ वस्तुएँ जिनका पहले अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नही होता था, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे शामिल हो जाती है जबकि कुछ अन्य वस्तुएँ जो पहले अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्तर्गत आती थी, अब उसमे बहिष्कृत हो जाती है। ऐसी स्थिति मे सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था मे अस्थिरता उत्पन्न हो जाएगी क्योकि उद्योगो मे उत्पादन के साधनो का आवटन विदीर्ण हो जाता है। सक्षेप मे, हम कह सकते हैं कि सबसे अच्छी स्थिति न तो लगातार परिवर्तनशील विनिमय-दर मे ही निहित है और न ही बिल्कुल कठोर विदेशी विनिमय-दर मे। परन्तु निर्धारित सीमाओ के अन्तर्गत विदेशी विनिमय दर मे परिवर्तन ही देश के आर्थिक विकास मे सहायक हो सकते हैं।

प्रश्न एवं उनके संकेत

1 **विदेशी विनिमय-दर का निर्धारण कैसे होता है ? मुक्त विदेशी व्यापार के सन्दर्भ मे विदेशी विनिमय दर के निर्धारण की प्रक्रिया समझाइए।**

How is the rate of foreign exchange determined under conditions of free international trade ?

[संकेत—साधारणत विदेशी विनिमय-दर के निर्धारण की प्रक्रिया जानने हेतु कुछ मान्यताएँ ली जाती हैं और उनमें से एक यह भी है कि विदेशी विनिमय की माँग व पूर्ति को प्रत्यक्ष

या परोक्ष रूप से बाहरी शक्तियाँ प्रभावित नही करती । दूसरे शब्दों में, विदेशी व्यापार पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है । इस प्रश्न के उत्तर हेतु यह ध्यान रखना चाहिए कि विदेशी विनिमय-दर भी वस्तु के मूल्य की ही भाँति है तथा माँग व पूर्ति की शक्तियों द्वारा ही मुक्त व्यापार की दशा में विदेशी विनिमय-मूल्य का निर्धारण होता है । उत्तर को उपयोगी बनाने हेतु उपयुक्त रेखाचित्र देना चाहिए ।]

2 विनिमय-दर के निर्धारण हेतु प्रस्तुत विभिन्न सिद्धान्तों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
Critically examine the various theories for the determination of the rate of exchange.

3 स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय-दर के टंकण समता सिद्धान्त को स्पष्टतः समझाइए । विनिमय-दर के निर्धारण में स्वर्ण बिन्दुओं का क्या महत्व है ?
Explain clearly the mint par theory of exchange rate under gold standard What is the importance of specie points in the determination of the rate of exchange ?

4 दो अपरिवर्तनीय पत्र मुद्राओं के बीच विनिमय-दर का निर्धारण कैसे होता है, उदाहरण सहित समझाइए ।
How is the rate of exchange between two inconvertible paper currencies determined ?
[संकेत—इस प्रश्न के उत्तर में विनिमय-दर का अर्थ बताते हुए संक्षेप में यह बतायें कि स्वर्णमान के अन्तर्गत इसका निर्धारण कैसे होता है । फिर उदाहरण सहित यह बतायें कि स्वर्णमान की अपेक्षा यदि अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्राओं का प्रचलन हो तो देशों के बीच विनिमय-दर का निर्धारण किस सिद्धान्त (क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त भुगतान-सन्तुलन सिद्धान्त) के आधार पर होगा ।]

5. क्रय शक्ति समता सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए ।
Critically examine the purchasing power parity theory.

6. यदि एक देश में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा व दूसरे देश में परिवर्तनीय पत्र-मुद्रा हो तो दोनों के बीच विनिमय-दर का निर्धारण किस प्रकार होगा ?
How is the rate of exchange between an inconvertible paper currency and a convertible paper currency determined ?

7. क्रयशक्ति समता सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए तथा बताइए कि इसकी आधुनिक सन्दर्भ में क्या वैधता है ?
Explain the purchasing power parity theory and examine its validity in the light of modern experience

8 क्रयशक्ति समता सिद्धान्त तथा भुगतान-सन्तुलन सिद्धान्त का अन्तर बताइए । इस अन्तर का व्यवहार में क्या महत्व है ?
Distinguish between the theory of purchasing power parity and the theory *of balance of payments What is the significance of this distinction ?*

9 उन घटकों का विवरण दीजिए जिनके कारण विनिमय-दर में परिवर्तन होते हैं ।
Discuss the various factors that bring about fluctuation in the rate of foreign exchange

10. निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :
(i) विनिमय की तत्काल दर, (ii) विनिमय की अवधि दर, (iii) विनिमय की अग्रिम दर, (iv) व्यवसायी की आड़, (v) नियन्त्रित विनिमय-दर, तथा (vi) स्थिर एवं लोचपूर्ण विनिमय-दर ।
Write short notes on the following :
(i) Spot Rate of Exchange, (ii) Time Rate of Exchange, (iii) Forward Rate of Exchange, (iv) Dealer's Cover, (v) Pegged Exchange Rates, and (vi) Fixed and Floating Exchange Rates.

9

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ एवं हानियाँ
[GAINS AND LOSSES FROM INTERNATIONAL TRADE]

अब तक हमारा विश्लेषण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उद्गम एवं तत्सम्बन्धी कारणों तक ही सीमित था। इस अध्याय में हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों का वर्णन करेंगे।[1]

हम पिछले अध्याय में पढ़ चुके हैं कि विभिन्न देशों में उत्पादन का विशिष्टीकरण तथा उनके मध्य विदेशी व्यापार की सीमा का निर्धारण उत्पादन के साधनों (उपादानों) की उपलब्धि तथा उत्पादन विधियों द्वारा होता है। एक देश उस वस्तु या उन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण अर्जित करेगा जिनके लिए देश में सर्वश्रेष्ठ प्राकृतिक परिस्थितियाँ विद्यमान हैं। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में इस देश को अपने निर्यात हेतु उन देशों से स्पर्द्धा करनी होगी जिनके पास तत्सम्बन्धी साधन अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल परिमाण में उपलब्ध हैं तथा/अथवा जिनकी उत्पादन विधियाँ इस देश से भिन्न हैं। इसलिए यह देश उस वस्तु के उत्पादन में विशेषता अर्जित करेगा जिसकी उत्पादन लागत अपेक्षाकृत न्यूनतम है तथा इस वस्तु का निर्यात करके उन सभी वस्तुओं का आयात उन देशों से करेगा जिनकी उत्पादन लागतें अपेक्षाकृत अधिक हैं। वस्तुतः इस विशिष्टीकरण के आधार पर उत्पादन एवं व्यापार करने पर ही देश को अधिकतम आर्थिक लाभ होगा। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ न होने की स्थिति में कोई भी देश विशिष्टीकरण की नीति नहीं अपनायगा।

वणिकवादियों के मतानुसार कोई देश तभी धनवान बन सकता है जबकि अन्य देशों की तुलना में इसके निर्यात अविरल रूप से अधिक हों। विभिन्न देश परस्पर व्यापार इसलिए करते हैं कि इसमें उन सभी को लाभ होता है। जैसा कि पूर्व के अध्यायों में भी बताया गया है अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार देश के भीतर होने वाले व्यापार का एक विस्तृत रूप है। अतएव इससे भी वे ही लाभ मिलने चाहिए जो देश में होने वाले व्यापार से मिलते हैं। जिस प्रकार स्थानीय व्यापार के अन्तर्गत विभिन्न व्यक्तियों के विशिष्ट कौशल का लाभ समाज को प्राप्त होता है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के माध्यम से प्रत्येक देश अन्य देशों के विशिष्ट कौशल का लाभ प्राप्त कर सकता है और इसके साथ ही स्वयं अपने साधनों का अधिक दक्षतापूर्वक उपयोग कर सकता है। हॉर्न एवं गोमेज के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में संलग्न सभी पक्षों को लाभ होता है तथा किसी का अनिष्ट नहीं होता है।"[2] अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में होने वाले लाभ की मात्रा इस बात पर निर्भर करती है कि विभिन्न राष्ट्रों के लागत व्यय अनुपात में कितना अन्तर है? इस अनुपात में जितना अधिक अन्तर होगा उतना ही विदेशी व्यापार से प्राप्त होने वाला लाभ अधिक होगा।

प्रतिष्ठित या संस्थापक अर्थशास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों का विश्लेषण करने हेतु अनेक विधियों का प्रयोग किया: (i) तुलनात्मक लागत विधि जिसमें निर्दिष्ट वास्तविक आय का अर्जित करने हेतु आवश्यक कुल वास्तविक लागत को प्रमुख कसौटी माना जाता है, (ii) द्वितीय

---

1 इस विषय पर उपलब्ध पाठ्य सामग्री में निम्नांकित पुस्तकें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं:
(i) L A Metzler, *The Theory of International Trade*,
(ii) T C Schelling *International Economics*, तथा
(iii) C P Kindleberger, *International Economics*

2 "International trade results benefit to all participating nations and injury to none"—Paul V Horn and Henery Gomez, *International Trade—Principles and Practice*, p 97

विधि के अन्तर्गत आय में होने वाली वृद्धि के आधार पर लाभ का माप किया जाता है; तथा (iii) तृतीय विधि के अन्तर्गत व्यापार की शर्तों (terms of trade) को इसके लाभों का संकेतक माना जाता है।

एडम स्मिथ ने लिखा है कि "विदेशी व्यापार किन्हीं भी स्थानों के मध्य हो, इससे दो लाभ अवश्य प्राप्त होते हैं। प्रथम तो जिस वस्तु की एक स्थान पर माँग नहीं है उसके स्थानान्तरण के बदले में विदेशी व्यापार के माध्यम से वह वस्तु प्राप्त होती है जिसकी वहाँ माँग है। एक स्थान पर लोगों के पास जो वस्तुएँ आवश्यकता से अधिक हैं, विदेशी व्यापार से उनका भी मूल्य प्राप्त हो जाता है तथा बदले में प्राप्त वस्तुओं के उपभोग से लोगों की आवश्यकताओं के एक अंश की पूर्ति होने के फलस्वरूप उनकी कुल सन्तुष्टि में वृद्धि होती है। विदेशी व्यापार के माध्यम से घरेलू बाजार की सीमितता किसी वस्तु विशेष के क्षेत्र में श्रम-विभाजन को अवरुद्ध नहीं कर पाती। लोग अपने श्रम द्वारा जिन वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, घरेलू उपभोग के पश्चात् शेष माल के लिए अधिक विस्तृत बाजार की उपलब्धि द्वारा विदेशी व्यापार देश की उत्पादक शक्तियों में वृद्धि करने की प्रेरणा देता है, तथा उत्पादन में अधिकतम सीमा तक वृद्धि करने की प्रेरणा प्रदान करके देश की वास्तविक आय में वृद्धि करता है।"[1]

इस प्रकार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के माध्यम से दो देशों के उपभोक्ताओं को प्राप्त कुल सन्तुष्टि में वृद्धि होती है क्योंकि वे न्यूनतम लागत पर अपेक्षाकृत अधिक वस्तुओं का उपभोग कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त जिन साधनों को घरेलू उपयोग में दक्षतापूर्वक प्रयुक्त नहीं किया जा सकता, विदेशी व्यापार प्रारम्भ होने पर उन्हें उन क्षेत्रों में प्रयुक्त किया जाने लगता है जिन स्थानों पर उनकी दक्षता अधिक है, अर्थात् जिन स्थानों पर उनके सीमान्त प्रतिफल अधिक हैं।

माल्थस ने लिखा है, "व्यापार के लाभ में वह मूल्य निहित है जो कम आवश्यकता वाली वस्तु के बदले अधिक आवश्यकता वाली वस्तु को प्राप्त करने से मिलता है, तथा हमारी रुचियों एवं आवश्यकताओं के लिए अधिक उपयुक्त वस्तुओं को उपलब्ध करा कर तथा कम उपयुक्त होने वाली वस्तुओं के निर्यात द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार निश्चय ही हमारी अधिकृत वस्तुओं तथा सन्तुष्टि के साधनों के मूल्य में वृद्धि करता है।"[2]

प्रो हैरोड के अनुसार, "एक देश को विदेशी व्यापार से उस समय लाभ प्राप्त होता है जबकि उस देश के व्यापारियों को यह मालूम होता है कि विदेशों में मूल्य अनुपात उनके देश में प्रचलित मूल्य-अनुपात की तुलना में बहुत अधिक मिलता है। ऐसे समय में जो वस्तुएँ उन्हें सस्ती प्रतीत होती है उन्हें खरीदते है तथा जो महँगी मालूम होती है उन्हें बेचते हैं। इस प्रकार उनको ज्ञात हुए निम्नतम एवं उच्चतम बिन्दुओं में जितना अधिक अन्तर होता है तथा उन वस्तुओं का महत्व जितना अधिक होगा उतना ही अधिक व्यापार में प्राप्त लाभ होगा।"[3]

परन्तु प्रोफेसर जेकब वाइनर का यह मत है कि व्यापार से होने वाले लाभों को इस सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए कि श्रम को किन शर्तों के आधार पर अधिकृत किया जाता है, और इस दृष्टि से अधिकृत श्रम की मात्रा में वृद्धि को लाभ का आधार मानना भ्रामक है।[4] रिकार्डो की धारणा है कि व्यापार के फलस्वरूप तत्काल ही मूल्य में वृद्धि नहीं होती, अपितु इससे दो महत्वपूर्ण बातें

1 Adam Smith, *An Inquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations*, Vol I, p. 413.
2 T. R Malthus, *Principles of Political Economy*, pp 461-462
3 "A country gains by foreign trade if and when the traders find that there exists abroad, a ratio of prices very different from that to which they are accustomed at home They buy what to them seem cheap and sell at what to them seem good prices The bigger the gap between what to them seems low points and high points, and the more important the articles affected, the greater will the gain from trade be"

—R F. Harrod, *International Economics*, p 29.

4 Jacob Viner, *Studies in the Theory of International Trade*.

होती हैं (अ) वस्तुओं के परिमाण में वृद्धि, तथा (ब) इसके फलस्वरूप कुल सन्तुष्टि में वृद्धि ।[1] परन्तु वाइनर के मतानुसार इन दोनों बातों के परीक्षण में गम्भीर व्यावहारिक अथवा तार्किक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। इनमें से कुछ कठिनाइयाँ इस प्रकार की हो सकती हैं (i) प्राप्य सन्तुष्टि को प्रत्यक्षतः मापना सम्भव नहीं है तथा (ii) विभिन्न वस्तुओं की मात्रा या उनमें हुई वृद्धि को मापने हेतु सूचकांकों का प्रयोग किया जाता है और यह प्रक्रिया स्वयं दुरूह एवं जटिल है। इन कठिनाइयों के विद्यमान रहते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से समाज को अनेक लाभ होते हैं।

प्रो. टॉसिग के शब्दों में, "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से उस देश को सबसे अधिक लाभ होगा जिसके निर्यातों की माँग अधिक हो और उन वस्तुओं की माँग जिनका वह आयात करता है बहुत कम हो या उस देश में दूसरे देशों के निर्यातों की माँग कम हो। जिस देश में दूसरे देशों की उत्पादित वस्तुओं की माँग बहुत अधिक होती है उसे सबसे कम लाभ होता है।"[2] इस प्रकार प्रत्येक वस्तु की माँग की लोच (elasticity of demand) भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ की मात्रा का निर्धारण करती है। माँग की लोच के अनुसार ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तें निश्चित की जाती हैं। यदि माँग अधिक लोचदार है तो लाभ अधिक होगा और यदि माँग बेलोचदार है तो लाभ बहुत कम होगा। संक्षेप में प्रोफेसर टॉसिग के कथनानुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त लाभ दो बातों पर निर्भर करते हैं (i) व्यापार की स्थिति अथवा शर्तें (terms of trade), तथा (ii) उस श्रम की दक्षता जो निर्यात योग्य वस्तुओं का उत्पादन करता है।

व्यापार की शर्तों में हमारा अभिप्राय उस दर से है जिस पर दो देशों में उत्पादित वस्तुओं का विनिमय किया जाता है। जैसा कि पहले बताया गया है, दो देशों के मध्य विनिमय की दर *प्रत्येक देश की दूसरे देश की वस्तुओं के प्रति माँग की पारस्परिक तीव्रता या गहनता पर निर्भर* करती है। माँग की इस तीव्रता के आधार पर ही व्यापार की शर्तों में भी परिवर्तन होता रहता है। विदेशी व्यापार से उस देश को सर्वाधिक लाभ होता है जिसकी वस्तुओं की माँग सर्वाधिक है परन्तु अन्य देशों में निर्मित वस्तुओं की माँग अपेक्षाकृत बहुत कम है। इसके विपरीत, जिस देश में अन्य देशों में निर्मित वस्तुओं की माँग अत्यधिक होती है उसे विदेशी व्यापार से न्यूनतम लाभ होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त लाभ को प्रभावित करने वाला दूसरा घटक श्रम की वह दक्षता है जिसके द्वारा निर्यात योग्य वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है। वास्तव में दो देशों की उत्पादन लागतों में अन्तर का कारण श्रम की दक्षता में विद्यमान अन्तर ही है। किसी देश में श्रम की दक्षता में वृद्धि हो जाने पर (*जबकि अन्य देशों में श्रम की दक्षता यथावत रहती है*) तुलनात्मक लागतों के अन्तर में भी वृद्धि हो जाती है और इस अन्तर पर ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सीमा निर्भर करती है। देश के निर्यातों की माँग उस दशा में अधिक होगी जबकि वहाँ श्रम की दक्षता का स्तर भी अत्यधिक ऊँचा हो। ऐसा देश अपने निर्यातों में वृद्धि करके अन्य देशों से अधिक मात्रा में वस्तुएँ एवं सेवाएँ प्राप्त कर सकता है और इस प्रकार उस देश को विदेशी व्यापार से अधिक लाभ होता है।

अतः विदेशी व्यापार से प्राप्त लाभ निश्चय ही उस देश की मौद्रिक आय को प्रभावित करते हैं। देश की वस्तुओं की विदेशी माँग ऊँची होने पर उसकी मौद्रिक आय में भी वृद्धि हो जाती है। यह कहना अनुचित न होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभ देश की राष्ट्रीय आय को अत्यधिक प्रभावित करते हैं।

जॉन स्टुअर्ट मिल ने इन लाभों को व्यापार के "प्रत्यक्ष लाभ" की संज्ञा दी है, जबकि वर्तमान अर्थशास्त्री इन्हें व्यापार के "स्थैतिक लाभ" के नाम से पुकारते हैं।

प्रोफेसर ला मिन्ट भी एडम स्मिथ के इसी विचार का समर्थन करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से बाजार का विस्तार होता है जिसके फलस्वरूप श्रम-विभाजन की प्रक्रिया में सुधार होता

---

1 David Ricardo, *Principles of Political Economy*, pp 82 84

2 "The country gains most from international trade whose exports are most in demand and which itself has little demand for the things it imports, *i e*, for the exports of other countries That country gains least which has the most insistent demand for the products of other countries "

—F. W. Taussig, *International Trade*

है। इसके फलस्वरूप देश में उत्पादकता का सामान्य स्तर ऊँचा उठता है और साथ ही राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि होती है। ये सभी "परोक्ष लाभ" हैं, तथा इन्हें व्यापार के "गत्यात्मक लाभ" की भी संज्ञा दी जा सकती है।

लाभ की मात्रा को निर्धारित करने वाले तत्व [FACTORS DETERMINING THE SIZE OF GAINS]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों को निर्धारित करने वाले महत्वपूर्ण तत्व निम्नलिखित हैं :

(1) **लागत अनुपातों में अन्तर (Differences in Cost-Ratios)**—जैसा कि प्रो. हैरोड का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाला लाभ इस बात पर निर्भर करता है कि दो राष्ट्रों में उत्पादन लागत के अनुपातों में किस प्रकार का सम्बन्ध है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ इस बात पर निर्भर नहीं रहता कि दो देशों में *X* अथवा *Y* वस्तु को सापेक्षिक रूप से कम लागत पर उत्पन्न किया जा सकता है वरन् इस बात पर निर्भर करता है कि एक देश में *X* तथा *Y* की उत्पादन लागतों का अनुपात क्या है तथा दूसरे देश में क्या यही लागत अनुपात है? वास्तव में लाभ उसी समय उत्पन्न होगा जबकि दोनों देशों में लागत अनुपात अलग-अलग हो। दो देशों के लागत-अनुपात में जितना अधिक अन्तर होगा, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से उतना ही अधिक लाभ प्राप्त होगा।

प्रो. हैरोड के शब्दों में, "लाभ के फलस्वरूप जब व्यापार का विस्तार किया जाता है तो एक ऐसी स्थिति आ जायेगी जबकि एक देश की उत्पादन लागत दूसरे देश की उत्पादन लागत के बराबर हो जायेगी। एक देश को विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन के विस्तार तथा संकुचन उस समय तक करना चाहिए जब तक कि उस देश के लागत-अनुपात अन्य देश के लागत अनुपात के बराबर नहीं हो जाते।"

(2) **देश की उत्पादन क्षमता (Production capacity of the country)**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभ की मात्रा का दूसरा महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व एक देश की उत्पादन-क्षमता है। यदि एक देश की उत्पादन-क्षमता में वृद्धि होती है तो इससे दूसरे देश को लाभ प्राप्त होगा क्योंकि इसके फलस्वरूप दूसरे देश के लिए व्यापार की शर्तें अधिक अनुकूल हो जायेंगी। इसके विपरीत, यदि एक देश की उत्पादन-क्षमता घटती है तो प्रतिकूल व्यापार की शर्तों के माध्यम से दूसरे देश को हानि उठानी पड़ती है।

किसी भी देश की उत्पादन-क्षमता उस देश की तकनीकी प्रगति, श्रम शक्ति तथा नव-प्रवर्तन आदि तत्वों पर निर्भर करती है।

(3) **व्यापार की शर्तें—माँग एवं पूर्ति की सापेक्षिक लोच (Terms of Trade—Relative Elasticities of Demand and Supply)**—*जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है, व्यापार की शर्तें भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ को निर्धारित करने में सहायक होती हैं। प्रायः व्यापार की शर्तें निर्यात कीमतों तथा आयात कीमतों के बीच सम्बन्ध को व्यक्त करती हैं।* व्यापार की शर्तें वस्तु की विदेशी माँग की लोच तथा पूर्ति की लोच पर निर्भर करती हैं। एक देश में दूसरे देश की वस्तु की माँग की लोच जितनी अधिक बेलोचदार होगी, पहले देश के लिए व्यापार की शर्तें उतनी ही प्रतिकूल होंगी तथा माँग की लोच अधिक होने पर उसके लिए व्यापार की शर्तें अनुकूल होंगी।

इसी प्रकार, यदि एक देश की निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की पूर्ति लोचदार है तो व्यापार की शर्तें उसके अनुकूल होंगी अन्यथा प्रतिकूल।

व्यापार की शर्तों में सुधार होने (अथवा अनुकूल होने) का तात्पर्य यह है कि व्यापार से उस देश को लाभ प्राप्त हो रहा है। इसके विपरीत प्रतिकूल व्यापार की शर्तें उस देश को व्यापार से होने वाली सीमान्त हानि को व्यक्त करती हैं।

(4) **देश का आकार (Size of Country)**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ उस देश के आकार पर भी निर्भर करते हैं। एक छोटा देश अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में अपने विनिमय अनुपात में परिवर्तन किये बिना किसी एक वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण कर सकता है तथा उससे लाभ प्राप्त कर सकता है जबकि एक बड़े देश को विशिष्टीकरण का उतना अधिक लाभ प्राप्त नहीं हो

पाता क्योंकि इसके फलस्वरूप वस्तु की पूर्ति मे बहुत अधिक वृद्धि हो जाने से विदेशी बाजार मे उसकी कीमत कम हो जाती है तथा व्यापार से उसका लाभ भी कम हो जाता है।

(5) परिवहन लागत (Transport Cost)—परिवहन लागत भी व्यापार के लाभ को प्रभावित करती है। यदि परिवहन लागत मे कमी हो जाती है तो उससे विदेशी व्यापार का क्षेत्र विस्तृत हो सकता है तथा व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभों मे भी विस्तार हो जाता है। इसके विपरीत, परिवहन लागत अधिक हो जाने पर व्यापार का क्षेत्र सीमित हो जाता है तथा उसके लाभ भी कम हो जाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रमुख लाभ
[IMPORTANT GAINS FROM INTERNATIONAL TRADE]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रमुख लाभो की व्याख्या निम्न प्रकार की जा सकती है

(1) **अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन एव विशिष्टीकरण** (International Division of Labour and Specialisation)—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का कारण श्रम-विभाजन एव विशिष्टीकरण है। वर्तमान मे कोई भी देश आत्म-निर्भर नहीं है। संयुक्त राज्य अमरीका जैसे समृद्धशाली देश भी अनेक वस्तुओं के लिए दूसरे देशो पर निर्भर रहते हैं। इस निर्भरता का कारण अधिकाधिक अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण एव श्रम-विभाजन की क्रियाएँ हैं। विशिष्टीकरण के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक देश उन्ही वस्तुओ के उत्पादन पर अधिक ध्यान देता है जिनके लिए उसे तुलनात्मक लाभ अधिक प्राप्त होता है अथवा जिनकी उत्पादन-लागत न्यूनतम होती है। ऐसा करने से कम लागत पर उत्तम क्वालिटी की वस्तुओं का उत्पादन उस देश म हो सकता है। अच्छा एव सस्ता उत्पादन होने के फलस्वरूप उन वस्तुओ के बाजार मे अधिक विस्तार होता है। बाजार का विस्तार बढने पर वस्तु का उत्पादन भी बड़े पैमाने पर किया जाता है जिससे उस देश को बड़े पैमाने के लाभ या पैमाने की मितव्ययताएँ भी प्राप्त हो जाती हैं।

(2) **प्राकृतिक साधनों का इष्टतम उपयोग** (Optimum Utilisation of Natural Resources)—जैसा कि हम बता चुके हैं, प्रत्येक देश केवल उन्ही वस्तुओ का उत्पादन करता है जिनके उत्पादन म उसे तुलनात्मक लाभ अधिक प्राप्त होते हैं। अत प्रत्यक देश उपलब्ध प्राकृतिक साधनो का पूरा-पूरा प्रयोग करता है। चूंकि किसी भी वस्तु के उत्पादन मे उत्पादन के विभिन्न साधनो की आवश्यकता होती है, अत. वह देश आवश्यक दुर्लभ साधनो का आयात करके अपने प्रचुर साधन को प्रयोग उत्पादन क्रिया मे कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अभाव मे दुर्लभ साधनो को प्राप्त नही किया जा सकता, फलस्वरूप अपने प्रचुर साधन का उपभोग भी असम्भव बना रहता है। अत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक मुख्य लाभ प्राकृतिक साधनो का अनुकूलतम उपयोग भी है।

(3) **दोनों देशों के उपभोक्ताओं को सस्ती वस्तुओं की प्राप्ति** (Availability of Cheap Goods to Consumers)—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण बाजार प्रतियोगिता मे वृद्धि हो जाती है। पुन विशिष्टीकरण एव देश के प्राकृतिक साधनो का पूर्ण उपयोग होने से उत्पादन लागत भी कम हो जाती है। अत. दोनों देशो के उपभोक्ताओ को इच्छी वस्तुएँ कम कीमत मे प्राप्त हो जाती हैं। बाजार के विस्तार के फलस्वरूप उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जाता है। जिन वस्तुओ का उत्पादन उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत हो रहा हो उनकी उत्पादन लागत कम हो जाती है। अत सम्पूर्ण विश्व मे उत्पादित की जा रही सभी वस्तुओ की कीमतें कम होती हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण वस्तुओ की कीमतो मे समानता की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। परिणामस्वरूप सभी देशो की वस्तुएँ सस्ते मूल्य पर उपलब्ध हो जाती हैं। इससे उपभोक्ताओ को लाभ प्राप्त होता है।

(4) **उच्च जीवन-स्तर** (High Standard of Living)—जब उपभोक्ताओं को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप वस्तुएँ अच्छी एव सस्ती उपलब्ध हो जाती हैं तो वे अपनी सीमित आय से अधिक मात्रा में वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं। इसके साथ-साथ उन वस्तुओं का भी उपयोग कर सकते हैं जो इस देश मे उत्पन्न नही की जाती। इस प्रकार उनका जीवन-स्तर ऊँचा हो जाता है।

(5) **आर्थिक विकास की तीव्र गति** (Rapid Rate of Economic Development)—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप विश्व के गरीब देश भी अपने आर्थिक विकास की गति को तीव्र

कर सकते है। उनको विदेशी पूंजी प्राप्त हो सकती है जिसकी सहायता से अपने देश मे भावी उद्योगो की स्थापना कर सकते हैं। इनके परिणामस्वरूप देश की राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय में भी वृद्धि होती है तथा देश का आर्थिक विकास तीव्र गति से होता है। अब विश्व मे जितने भी विकसित देश हैं उनके विकास के पीछे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ही एक प्रमुख कारण रहा है।

(6) **अकाल अथवा संकटकाल में सहायता (Relief during Famine or Crisis)**—जब देश मे अकाल, भूचाल, महामारी, युद्ध अथवा अन्य सकट उत्पन्न हो जाता है तो उसमे सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। देश मे आवश्यक वस्तुओ का अभाव उत्पन्न हो जाता है तथा वस्तुओं की कीमतें आसमान छूने लगती हैं। ऐसे सकटकालीन समय में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उस देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए वरदान सिद्ध होता है। अन्य देशो से आवश्यक वस्तुओ का आयात करके समस्या का समाधान किया जा सकता है।

(7) **कच्चे माल की उपलब्धि (Availability of Raw Materials)**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से उन देशो को भी औद्योगीकरण और आर्थिक विकास का अवसर मिल जाता है जिनके पास कच्चे माल के अतिरिक्त अन्य साधन उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन का सूती वस्त्र उद्योग एव ऊनी वस्त्र उद्योग, विदेशी रुई एव ऊन के बलबूते पर चलते हैं। इसी प्रकार भारत का जूट उद्योग भी पाकिस्तान एव बगला देश के कच्चे जूट पर निर्भर है, अत विदेशी व्यापार देश के *औद्योगीकरण को प्रोत्साहित करता है।*

(8) **विदेशी विनिमय की उपलब्धि (Availability of Foreign Exchange)**—वर्तमान समय में विदेशी विनिमय किसी भी देश के आर्थिक विकास मे महत्वपूर्ण स्थान रखता है। विशेष रूप से अर्द्ध-विकसित देशो के लिए विदेशी विनिमय की अति आवश्यकता है। विदेशी विनिमय के द्वारा वे विदेशों से आवश्यक मात्रा मे औद्योगिक सामग्री एवं तकनीकी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। *विदेशी विनिमय अर्जित करने के लिए उस देश को अपने निर्यातो मे वृद्धि करनी पड़ती है।* जापान, जर्मनी, फ्रान्स आदि देशो ने अपने निर्यातो में वृद्धि करके भारी मात्रा मे विदेशी विनिमय इकट्ठा कर रखा है।

(9) **सांस्कृतिक सम्बन्ध (Cultural Relations)**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विभिन्न देशो के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करता है जिसके फलस्वरूप एक देश के व्यक्ति अन्य देशो मे व्यापारिक जानकारी हेतु भ्रमण करते हैं। भिन्न-भिन्न सस्कृतियो के लोग जब आपस मे मिलते हैं तो उनको एक-दूसरे के रीति-रिवाज, राजनीतिक आचार-विचार, रहन-सहन आदि के बारे मे जान-कारी मिलती है। वे एक-दूसरे को समझने लगते हैं एव आपस मे सामजस्य स्थापित होता है तथा विश्व-एकता को बढ़ावा मिलता है।

(10) **अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग (International Co-operation)**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप एक-दूसरे पर निर्भरता बढ़ती जाती है। अत. दोनों पक्षो के आपसी सहयोग से ही दोनों की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता है। इसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु विश्व में अनेक अन्त-र्राष्ट्रीय सस्थाओं का निर्माण किया गया है जिनमे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, अन्त-र्राष्ट्रीय विकास परिषद्, एशियन विकास बैंक, आदि अनेक सस्थाएँ मुख्य हैं। इन सबका मुख्य उद्देश्य *अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना को प्रोत्साहित करना है।*

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों का माप एवं वितरण
[MEASUREMENT AND DISTRIBUTION OF GAINS FROM INTERNATIONAL TRADE]

किसी समय विशेष पर व्यापार के लाभों को मापने की अपेक्षा अर्थशास्त्री व्यापार के लाभों की दिशा या प्रवृत्ति को मापना अधिक उपयुक्त समझते हैं। *इसके लिए जिस विधि का प्रयोग किया* जाता है उसके अन्तर्गत वस्तु या पण्य के रूप मे व्यापार की शर्तों (commodity terms of trade) मे होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है। इस विधि के अनुसार किसी देश द्वारा निर्यात हेतु प्राप्त मूल्यों तथा आयात के लिए चुकाये गए मूल्यो के सम्बन्ध का विश्लेषण किया जाता है। यदि निर्दिष्ट आधार वर्ष की तुलना मे निर्यात-मूल्यों में वृद्धि हो जाय तथा/अथवा आयात मूल्यो मे कमी हो जाये तो व्यापार की पण्य-शर्तों मे सुधार माना जायेगा। इस प्रकार व्यापार की शर्तों मे सुधार इस बात का संकेत करता है कि व्यापार से प्राप्त लाभों का वितरण किस प्रकार का

है तथा इनकी प्रवृत्ति किस प्रकार की है। इसके विपरीत, यदि निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के मूल्यों में कमी हो जाय, तथा/अथवा आयात की वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो जाय तो इनके फलस्वरूप निर्दिष्ट आधार वर्ष की तुलना में व्यापार की शर्तें प्रतिकूल मानी जाएँगी।

व्यापार की पण्य-शर्तों के इस तुलनात्मक विश्लेषण हेतु सूचकांक का प्रयोग किया जाता है। आधार वर्ष के लिए देश के निर्यात मूल्यों का औसत निकाला जाता है तथा इस प्रक्रिया में प्रत्येक वस्तु को निर्यात व्यापार में इसके महत्व के आधार पर भार प्रदान किया जाता है। संक्षेप में, यह निर्यात-मूल्यों का एक भारित औसत (weighted average) होता है। इसी प्रक्रिया के आधार पर आयात-मूल्यों का भी भारित-औसत ज्ञात किया जाता है। आधार वर्ष के इस भारित औसत की तुलना आगे के किसी वर्ष में विद्यमान निर्यात तथा आयात के भारित औसत से की जाती है। सूचकांक विधि के अनुसार आधार वर्ष में औसत को 100 माना जाता है। देश की व्यापार शर्तों में होने वाले परिवर्तन को जानने हेतु आधार वर्ष के भारित मूल्यों के अनुपात को इकाई के समान मानते हुए आगे के निर्दिष्ट वर्ष (वर्तमान वर्ष) में विद्यमान भारित औसत के अनुपात से इसकी तुलना की जाती है। इसके लिए निम्न सूत्र उपयोगी होता है

$$T_e = \frac{Px_1}{Px_o} \div \frac{Pm_1}{Pm_o}$$

उपर्युक्त सूत्र में

T_e = व्यापार की पण्य-शर्तों को व्यक्त करता है,
P_{x1} = वर्तमान वर्ष में निर्यात के मूल्यों का भारित औसत है,
P_{m1} = वर्तमान वर्ष के आयात मूल्यों का भारित औसत है;
Px_o = आधार वर्ष के निर्यात मूल्यों का भारित औसत है, तथा
P_{mo} = आधार वर्ष के आयात मूल्यों का भारित औसत है।

मान लीजिए हमें आयात व निर्यात के मूल्यों के निम्नांकित सूचकांक उपलब्ध हैं :

वर्ष	निर्यात-मूल्य	आयात-मूल्य
1970	100	100
1986	339	385

ऐसी स्थिति में व्यापार की वर्तमान पण्य शर्त निम्न प्रकार ज्ञात की जायगी

$$T_e = \frac{339}{100} \div \frac{385}{100} = 0.88$$

अर्थात् व्यापार की पण्य शर्तें 12% प्रतिकूल हो गयी हैं। यदि व्यापार की पण्य-शर्तों का परिवर्तन व्यापार के लाभों में होने वाले परिवर्तन का स्पष्ट संकेत दे सकता है, तथापि कुछ अन्य विधियों द्वारा इनसे प्राप्त परिणामों में समुचित संशोधन किये जा सकते हैं। इस सन्दर्भ में तीन बातें महत्वपूर्ण हैं

(1) **आँकड़ों की प्रकृति में ही परिवर्तन हो जाएँ**—चूँकि निर्यात की क्वालिटी एवं संरचना में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं अतएव यह अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि व्यापार की पण्य-शर्तों के सूचकांक से प्राप्त निष्कर्ष अल्प-अवधियों तक ही सीमित रखे जाएँ।

(2) **व्यापार के परिमाण में परिवर्तन**—निर्यात मूल्य कम होने पर यदि अधिक मात्रा में वस्तुएँ निर्यात की जाएँ तब या तो देश की कुल आयात क्षमता अपरिवर्तित रह सकती है अथवा इसमें वृद्धि हो सकती है। इन परिवर्तनों की जानकारी हेतु हम व्यापार की आय शर्तों (income terms of trade) के सूचकांक (T_y) तैयार करते हैं, जो व्यापार की पण्य शर्तों (T) के संकेतक को निर्यात के परिमाण में होने वाले परिवर्तन के सूचकांक $\left(\frac{Q_{x1}}{Q_{xo}}\right)$ से गुणा करने पर प्राप्त होता है। अर्थात्

$$T_y = T_e\left(\frac{Q_{x1}}{Q_{xo}}\right)$$

यहाँ T_y व्यापार की आय-शर्तों का प्रतीक है।

(3) **उत्पादकता में परिवर्तन**—यदि उत्पादकता या दक्षता में वृद्धि के फलस्वरूप वस्तुओं का 10 प्रतिशत कम (औसत) मूल्य पर निर्यात करना सम्भव हो जाय तो व्यापार की शर्तों में 10 प्रतिशत की प्रतिकूलता आ जाएगी। परन्तु निर्यात के रूप में आयात की वास्तविक लागतें अपरिवर्तित रहती हैं। उत्पादकता में होने वाले परिवर्तनों को व्यापार की शर्तों में समायोजित करने हेतु हमें T_t को निर्यात उद्योगों की भौतिक उत्पादकता में हुए परिवर्तन के सूचकांक से गुणा करना चाहिए।

सैमुअल्सन द्वारा व्यापार के लाभों का माप

1939 में प्रोफेसर पॉल सैमुअल्सन का प्रसिद्ध लेख "दी गेन्स फ्रॉम इण्टरनेशनल ट्रेड"[1] प्रकाशित हुआ, जिसमें यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया कि अपने आप तक सीमित रहने की अपेक्षा कोई भी देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से कितना लाभ प्राप्त कर सकता है। सैम्युअल्सन ने यह स्वीकार किया कि स्वतन्त्र व्यापार कुछ लोगों को हानि पहुँचा सकता है, परन्तु इससे अन्य लोगों को प्राप्त होने वाले लाभों की तुलना में यह हानि काफी कम होगी। अन्य शब्दों में, यह सर्वथा सम्भव है कि हानि उठाने वाले घटकों को रिश्वत, अनुदान या अन्य किसी पुनर्वितरण वाली विधि से सन्तुष्ट किया जा सकता है और इसके बाद भी सभी घटकों को व्यापार से प्राप्त होने वाला निवल लाभ धनात्मक रह सकता है। सैमुअल्सन ने अपने लेख में आगे लिखा, "यदि व्यापार प्रारम्भ करने हेतु एक सर्वसम्मत निर्णय की आवश्यकता हो तो यह सदैव सम्भव होगा कि व्यापार के समर्थक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विरोधियों को अपनी ओर मिला लें, और इस प्रकार अन्ततः सभी की स्थिति अच्छी हो जाय।" ऐसा इस कारण होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप कम (या समान) मात्रा में उत्पादन इकाई के बदले अधिक (या समान) मात्रा में प्रत्येक वस्तु प्राप्त की जा सकती है।

सैमुअल्सन का व्यापार से प्राप्त लाभ सम्बन्धी प्रमेय निम्न मान्यताओं पर आधारित है :

(i) अर्थव्यवस्था में सर्वत्र पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान है।

(ii) प्रत्येक उत्पादन फलन अपरिवर्तित रहता है।

(iii) अर्थव्यवस्था में पैमाने का समता प्रतिफल विद्यमान है।

(iv) उपादानों (inputs) की पूर्ति मूल्यों पर निर्भर करती है।

(v) व्यक्ति के क्रमसूचक अधिमान, मूल्यों तथा वस्तुओं के इष्टतम उत्पादन स्तर अपरिवर्तित रहते हैं।

(vi) जिस देश के व्यापार से प्राप्त लाभों का विश्लेषण किया जा रहा है वह काफी छोटा देश है तथा विश्व के बाजारों में प्रचलित मूल्यों को प्रभावित करने की स्थिति में नहीं है।

प्रो. सैमुअल्सन द्वारा प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीय लाभ सम्बन्धी सिद्धान्त के सन्दर्भ में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि ऐसे आदर्श पुनर्वितरण का वास्तविक जीवन में अभाव होता है तो व्यापार से क्या होगा? क्या इस स्थिति में भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से देश के कल्याण में वृद्धि होगी? इस प्रश्न का उत्तर प्रो. सैमुअल्सन ने अपने 1962 के लेख में प्रस्तुत किया है।[2] सैमुअल्सन ने अपने 1962 के लेख में छोटे राष्ट्र की मान्यता का त्याग करके एक बड़े देश की स्थिति पर विचार किया है। जब एक बड़ा देश अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में प्रवेश करता है तो उसकी व्यापारिक गतिविधियों से उसके आयातों के मूल्यों में वृद्धि तथा निर्यातों के मूल्यों में कमी होगी।

कैल्डोर, हिक्स तथा सिटोवस्की के प्रसिद्ध क्षतिपूर्ति कसौटी (compensation criteria) के अनुसार किसी स्थिति में सुधार तभी माना जायेगा जब लाभ प्राप्त करने वालों को हानि उठाने

---

1 यह लेख The Canadian Journal of Economics and Political Science, May 1939, में प्रकाशित हुआ था।

2 P. Samuelson, Article "The Gains from International Trade Once Again," published in *Economic Journal*, 1962.

वालो के लिए आवश्यक क्षतिपूर्ति की तुलना मे अधिक लाभ प्राप्त हो। परन्तु इस सरल कसौटी के प्रति दो आपत्तियाँ उठाई जाती हैं

(i) इसके अन्तर्गत केवल दक्षता (स्थिति) पर ही विचार किया जाता है जबकि वितरण से सम्बद्ध समस्या की उपेक्षा कर दी जाती है। परन्तु चूँकि सभी आर्थिक परिवर्तन अर्थव्यवस्था की दक्षता के साथ-साथ आर्थिक कल्याण के वितरण को भी प्रभावित करते हैं, कुछ अर्थशास्त्रियो की राय मे इन परिवर्तनो का मूल्यांकन दक्षता एव न्याय, दोनो ही के आधार पर होना आवश्यक है।

(ii) उपर्युक्त कसौटी के अन्तर्गत यह आवश्यक नही है कि किसी आर्थिक परिवर्तन से जिन व्यक्तियो को हानि हुई हो, वास्तव मे वे लोग उनकी क्षतिपूर्ति करें जिन्हे आर्थिक परिवर्तन से वस्तुत लाभ हुआ है। यह सम्भव है कि वास्तविक क्षतिपूर्ति के अभाव म उक्त परिवर्तन के बाद धनी व्यक्ति और धनी हो जाएँ तथा निर्धन और भी अधिक निर्धन।

सक्षेप मे, सैमुअल्सन का यह प्रमेय कि **व्यापार-रहित स्थिति की अपेक्षा व्यापार की स्थिति श्रेष्ठ है** तभी तक वैध है जब तक कि हमारी क्षतिपूर्ति कसौटी मे आस्था है। यदि व्यापार उपरान्त की स्थिति मे आय का वितरण व्यापार पूर्व की स्थिति की अपेक्षा अधिक प्रतिकूल हो जाए तो क्या होगा? वस्तुत पुनर्वितरण की समुचित नीतियो के अभाव मे विदेशी व्यापार आय के वितरण की स्थिति को और भी विकृत कर सकता है।

इस प्रमेय को कुछ वर्षो से यह सिद्ध करने हेतु प्रयुक्त किया जाने लगा है कि यदि किसी देश के लिए इसकी व्यापार शर्तों को प्रभावित करना सम्भव हो तब भी व्यापार के पश्चात् इनकी स्थिति मे सुधार हो सकता है, क्योकि अब देश को उपलब्ध वस्तुओं की मात्रा का पुनर्आवंटन करके प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति मे सुधार किया जा सकता है।

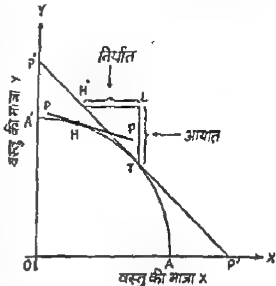
व्यापार के बाद यह पुनर्आवंटन आदर्श **एक मुश्त अन्तरण** (lump-sum transfers) के द्वारा इस प्रकार किया जा सकता है कि सीमान्त मूल्यो की समानताएँ यथावत् रहे। यदि ऐसा किया जाता है तो व्यापार निस्सन्देह उत्कर्ष की ओर ले जाने वाला होता है। परन्तु यह आदर्श 'एक मुश्त पुनर्वितरण' वस्तुत उपलब्ध हो, यह आवश्यक नही है। जो भी पुनर्वितरण उपलब्ध हैं, उनके प्रतिस्थापन एव अन्य प्रकार के प्रभाव हानिकारक हो सकते हैं। सैमुअल्सन यह स्वीकार करते हैं कि यदि पुनर्वितरण इस प्रकार के हैं तो स्वावलम्बन की स्थिति की अपेक्षा स्वतन्त्र व्यापार से प्राप्त अधिकतम सामाजिक लाभ कम हो सकता है। अन्य शब्दो मे, यदि आदर्श अन्तरण सम्भव हो तो स्वावलम्बन के अन्तर्गत इष्टतम स्थिति प्राप्त करना सम्भव नही है। चूँकि व्यापार के फलस्वरूप उपभोग-सम्भावना सीमा (Consumption Possibility Frontier) तथा उपयोगिता सम्भावना सीमा ऊपर की ओर खिसक जाते हैं, व्यापार न करने की अपेक्षा कुछ भी व्यापार करना देश के लिए हितकारी ही होगा।

व्यापार के लाभों पर हैबरलर के विचार

1939 मे प्रोफेसर सैमुअल्सन द्वारा प्रस्तुत प्रमाण के आधार पर प्रोफेसर हैबरलर ने हाल ही मे रेखागणितीय विधि द्वारा यह बताने का यत्न किया है कि मुक्त व्यापार किस प्रकार राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण में अभिवृद्धि करता है।

चित्र 9 1 मे $A'A$ देश की उत्पादन सम्भावना सीमा है। H व्यापार के पूर्व की उत्पादन एव उपभोग की स्थिति का प्रतीक है, तथा इससे सम्बद्ध मूल्य अनुपात PP रेखा द्वारा व्यक्त किया गया है। अब यदि विदेशी व्यापार प्रारम्भ कर दिया जाय तथा X व Y वस्तुओ का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य अनुपात $P'P$ है। जैसा कि चित्र से स्पष्ट है व्यापार के फलस्वरूप देश का सन्तुलन उत्पादन विन्दु T हो जाता है जबकि उपभोग की साम्य स्थिति H' विन्दु पर है। H' पर देश X वस्तु $H'L$ इकाइयो का निर्यात करता है तथा Y वस्तु की LT इकाइयो का आयात करता है। यह स्पष्ट है कि H की अपेक्षा देश की आर्थिक स्थिति H' विन्दु पर अच्छी है। H' पर स्थिति अच्छी है, इसे समाज के उदासीनता वक्र की सहायता से स्पष्ट किया जाता है, परन्तु हैबरलर इस तर्क का उपयोग करने के पक्ष मे नही हैं क्योकि उत्पादन की स्थिति के H से T तक विवर्तन होने के साथ ही आय का पुनर्वितरण भी होता है जहाँ उदासीनता वक्र का निर्दोष प्रयोग सम्भव नही हो पाता।

अन्य विधियों से भी H' की श्रेष्ठता को स्पष्ट किया जा सकता है। यदि H' की स्थिति H से ऊपर तथा दायीं ओर हो यह इस बात का प्रतीक होगा कि H' पर H की तुलना में X तथा Y दोनों ही की अधिक मात्राएँ उपलब्ध हैं और यह सब विदेशी व्यापार का ही परिणाम है। परन्तु यदि H' की स्थिति H के ऊपर तथा बायीं ओर हो तो Y की अधिक तथा X की कम मात्राएँ उपलब्ध होंगी। परन्तु ऐसी स्थिति में H' अपेक्षाकृत अच्छा होगा क्योंकि यदि आय का समुचित रूप में पुनर्वितरण किया जाये तो पूर्वापेक्षा प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति अच्छी बनायी जा सकती है। क्योंकि मुक्त व्यापार में वस्तुओं के समूह का पुनर्वितरण इस रूप में करना सम्भव नहीं है कि पूर्वापेक्षा एक व्यक्ति की स्थिति अच्छी हो जाये जबकि अन्य लोगों की स्थिति प्रतिकूल हो जाये। यही पर्याप्त है कि H की अपेक्षा H' पर प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति अच्छी हो। अन्य शब्दों में, स्वावलम्बन वाली स्थिति की अपेक्षा मुक्त व्यापार की स्थिति में समाज का उपयोगिता सम्भावना वक्र सर्वत्र ऊपर की ओर स्थित होगा।



रेखाचित्र 9.1

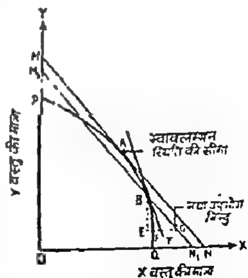
व्यापार के लाभों पर केम्प का विश्लेषण

प्रोफेसर मरे सी. केम्प ने सैमुअल्सन के मौलिक प्रमेय को अधिक सामान्यीकृत तथा संशोधित रूप में प्रस्तुत किया है। उनके मतानुसार किसी भी आकार के देश के लिए न केवल क्षतिपूर्ति युक्त मुक्त व्यापार सर्वथा व्यापार रहित स्थिति से अच्छा है, अपितु क्षतिपूर्ति युक्त बन्धित व्यापार (compensated restricted trade) भी व्यापार रहित स्थिति से अच्छा है, परन्तु शर्त यह है कि बन्धन या सीमा निषेधात्मक न हो।

इस विश्लेषण में प्रोफेसर केम्प सैमुअल्सन की उस मान्यता को छोड़ देते हैं जिसके अनुसार देश के आकार को इतना छोटा मान लिया गया है कि वह अपनी व्यापार की शर्तों को प्रभावित करने में असमर्थ है। परन्तु प्रोफेसर केम्प प्रोफेसर सैमुअल्सन द्वारा ली गयी अन्य मान्यताओं को स्वीकार करते हैं।

व्यापार से लाभ : एक सरल रेखाचित्रीय विश्लेषण

प्रोफेसर सैमुअल्सन तथा केम्प के विचारों को एक सरल रेखाचित्र में प्रस्तुत करके व्यापार से प्राप्त लाभों का विश्लेषण किया जा सकता है। चित्र 9.2 में यह मान्यता ली गयी है कि अर्थ-व्यवस्था में केवल दो ही वस्तुओं X तथा Y का उत्पादन किया जाता है। PQ अर्थ-व्यवस्था का उत्पादन सम्भावना वक्र या रूपान्तरण वक्र है। यह मूल बिन्दु से नतोदर (concave) है। व्यापार रहित अवस्था में उपभोग एवं उत्पादन पूर्णतः एक जैसे हैं, अर्थात् स्वावलम्बन की दशा में दिये हुए घरेलू मूल्यों के अनुपात पर देश के



रेखाचित्र 9.2

सन्तुलन उत्पादन एवं सन्तुलन उपभोग, दोनों ही की अभिव्यक्ति PQ पर A बिन्दु द्वारा होगी। यहाँ PQ स्वावलम्बन की स्थिति की सीमा है।

मुक्त व्यापार की दशा में, X तथा Y के मूल्यों का अनुपात प्रचलित अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों द्वारा निर्धारित किया जायेगा। चित्र 9 2 में यह MN रेखा द्वारा व्यक्त किया गया है। व्यापारोपरान्त का सन्तुलन A बिन्दु पर होगा जहाँ से देश MN रेखा के सहारे उपभोग हेतु प्रगति करता है। वस्तुतः MN सैमुअल्सन के मतानुसार, बजट सीमा या उपभोग सम्भावना रेखा है।

चूँकि MN प्रत्येक स्तर पर स्वावलम्बन की सीमा PQ से बाहर स्थित है (A बिन्दु के अतिरिक्त जहाँ यह PQ को स्पर्श करती है) इसके सभी बिन्दुओं पर उपभोक्ता PQ की अपेक्षा अधिक मात्रा में X व Y प्राप्त कर सकते हैं। यदि स्वावलम्बन की स्थिति में देश A पर स्थित हो तथा व्यापारोपरान्त भी स्थिति यह रहे तो व्यापार से न तो देश का लाभ होगा और न हानि।

परन्तु अब मान लीजिए देश व्यापार प्रारम्भ करता है परन्तु साथ ही Y पर मूल्यानुसार प्रशुल्क (tariff) भी रोपित करता है जिसके फलस्वरूप X व Y के मूल्यों का अनुपात बदल जाता है। मान लीजिए यह नया अनुपात TT के ढलाव से व्यक्त होता है। देश का उत्पादन सन्तुलन अब B पर होगा जहाँ पूर्वापेक्षा X का अधिक परन्तु Y का कम उत्पादन होगा। यह मानते हुए कि प्रशुल्क रोपण के बाद भी अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों का अनुपात यथावत् (MN का ढलाव) रहता है, देश X का विदेशों से आयात करके Y का निर्यात करेगा। यह उल्लेखनीय है कि व्यापार के लिए मूल्यों का अनुपात M_1N_1 के अनुरूप होगा जबकि MN एवं M_1N_1 समानान्तर होने के कारण समान अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों के अनुपात को दर्शाती हैं। इस प्रकार देश की उपभोग सम्भावना सीमा M_1N_1 हो जाती है और नया उपभोग बिन्दु G पर स्थित होता है। ऐसी स्थिति में देश Y की BE मात्रा का निर्यात करके EG मात्रा में X का आयात करता है। यहाँ EF इकाइयाँ (X की) तो उपभोक्ताओं को प्रत्यक्षतः प्राप्त होती हैं जबकि FG सरकार को राजस्व के रूप में प्राप्त होती हैं। नयी सीमा M_1N_1 अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों के उसी अनुपात (MN द्वारा व्यक्त) को दर्शाते हुए भी प्रत्येक स्थिति में MN के भीतर स्थित है जो मुक्त व्यापार की सीमा रेखा है। सरल शब्दों में M_1N की तुलना में MN पर (अर्थात् प्रतिबन्धित व्यापार की तुलना में मुक्त व्यापार की स्थिति में) X व Y दोनों ही वस्तुओं की अधिक मात्रा का उपभोग किया जा सकता है। यह मानते हुए कि आवटन सम्बन्धी दक्षता की अप्रतिभूत हानि (dead weight loss of allocative efficiency) रहित आदर्श अन्तरण सम्भव हैं, हम यहीं निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि **प्रतिबन्धित या व्यापार की तुलना में मुक्त व्यापार से कल्याण का उच्चतर स्तर प्राप्त किया जा सकता है।**

पीटर केनन द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों की विवेचना[1]

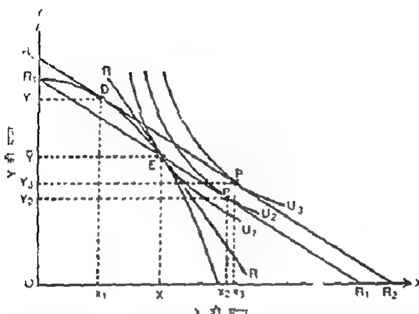
प्रोफेसर केनन ने सैमुअल्सन द्वारा प्रस्तुत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ की व्याख्या को एक संशोधित रूप में प्रस्तुत किया है। चित्र 9 3 में इस संशोधित मॉडल को प्रस्तुत किया गया है।

चित्र 9 3 में जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं होता था तब RR आगम रेखा उत्पादन सम्भावना वक्र को E बिन्दु पर स्पर्श करता था जहाँ OX इकाइयाँ X की तथा OY इकाइयाँ Y की उत्पादित की जाती थीं। बिना अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण के यही साधनों की निर्दिष्ट मात्राओं तथा X व Y की निर्दिष्ट आन्तरिक कीमतों के अनुरूप इष्टतम स्थिति थी। यहाँ उपभोक्ताओं का सन्तुष्टि-स्तर U_1 था।

यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रारम्भ हो तथा X व Y की सापेक्ष कीमतों का स्तर R_2R_2 आगम रेखा के अनुरूप हो जाए तो साम्य स्थिति D बिन्दु पर स्थित होगा जहाँ X व Y की क्रमशः X_1 व Y_1 इकाइयों का उत्पादन देश में किया जायगा। परन्तु इन कीमतों की उपभोक्ताओं के उदासीनता वक्र के साथ साम्य स्थिति P पर होगी जहाँ सन्तुष्टि-स्तर U_3 है। ऐसी दशा में उपभोक्ता X की OX_3 इकाइयों, व Y की OY_3 इकाइयों का उपभोग करना चाहेंगे। अस्तु इस देश को Y की Y_1Y_3 इकाइयों का निर्यात करके बदले में X_1X_3 इकाइयाँ X की आयात करनी होंगी। आप यह स्पष्ट देख सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप उपभोक्ताओं का सन्तुष्टि-स्तर U_1 से बढ़कर U_3 हो जाता है।

1 Peter Kenen, *The International Economy*, pp 23-25

अब मान लीजिए कि व्यापार की छूट के बावजूद उत्पादन का स्तर E के अनुरूप ही रखा जाता है। कीमतों का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर अब R_1R_1 (जो R_2R_2 के ही समानान्तर है) के अनुरूप होगा। ऐसी स्थिति में उपभोक्ताओं की साम्य स्थिति P' पर होगी जो उदासीनता वक्र U_2 पर स्थित है। आप यह देख सकते हैं कि उत्पादन यथावत् रखने पर भी उपभोक्ता ऊँचे उदासीनता वक्र पर जा सकते हैं हालाँकि अब निर्यात $\overline{YY_2}$ ($<Y_1Y_3$) तथा आयात $\overline{XX_2}$ ($<X_1X_3$) पूर्वापेक्षा कम हैं।



चित्र 9·3—अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण एवं व्यापार के लाभ

परन्तु जैसा कि आप देख चुके हैं, यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के साथ-साथ विशिष्टीकरण की भी छूट दी जाए तो न केवल व्यापार में वृद्धि होगी, अपितु उपभोक्ताओं का सन्तुष्टि-स्तर भी काफी बढ़ जायगा।

व्यापार से प्रावैगिक लाभ
(Dynamic Gains from Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उपर्युक्त लाभों की प्रकृति विशुद्ध रूप से स्थैतिक कही जा सकती है। उपभोक्ताओं को उनकी उत्पादित वस्तुओं को कम कीमत पर क्रय करने की सुविधा दी हुई थी जो व्यापार के पहले अपेक्षाकृत महँगी थी। किन्तु उपभोक्ताओं में कोई नयी उत्पादित वस्तु का उपभोग करना सुलभ नहीं हो पाता था। इसी प्रकार उत्पादनकर्ताओं को नवीन कीमतों के अनुसार उत्पादन के साधनों का पुनः आवंटन करने का अवसर प्राप्त होता था। उपर्युक्त अन्तर्राष्ट्रीय लाभ के विवेचन के उत्पादन की किसी नयी तकनीक का प्रयोग नहीं बताया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के वास्तविक लाभों में कुछ ऐसे भी लाभ प्राप्त होते हैं जिनका मापन नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से उपभोग तथा उत्पादन के क्षेत्र में आधारभूत परिवर्तन उत्पन्न हो जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उपभोक्ता की नवीन आवश्यकताओं को भी जन्म देता है। इसके फलस्वरूप देश में औद्योगिक क्रान्ति का आविर्भाव उत्पन्न हो जाता है। पिछड़े क्षेत्रों में नवीन वस्तुओं की उपलब्धता स्थानीय व्यक्तियों को आकर्षित करती है। इन वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए वे अपने उत्पादन (आय) का एक अंश विनिमय के लिए बचा कर रख लेते हैं। जब नवीन वस्तुओं की कम मात्रा उनकी नवीन आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने में असफल हो जाती है तो उन्हें अपने उत्पादन में वृद्धि करने की प्रेरणा मिलती है तथा अन्त में वे कृषि का व्यवसायीकरण करते हैं। व्यावसायिक कृषि को नवीन बाजार केन्द्रों तथा विकसित बाजारों की

सुविधाओ की आवश्यकता होती है । इसके परिणामस्वरूप देश मे रेल तथा सडको का निर्माण किया जाता है । अर्थव्यवस्था म रेल तथा सडको की सुविधाओ से पूंजीपति तथा साहसी अपने साधनो का विनियोग करने के लिए तत्पर हो जाते है। इसके फलस्वरूप अनेक उद्योग स्थापित हो जात हैं जिनकी बाजार म मांग होती है । इससे अर्थव्यवस्था म अतिरिक्त रोजगार तथा आय का सृजन होता है। अतिरिक्त रोजगार बहुत से उद्योगो की स्थापना (जैसे भवन निर्माण, खाद्यान्न, कच्चे माल आदि का उत्पादन तथा *विकास) म सहायक होता है। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध तथा श्रम के प्रशिक्षण के लिए* बाहरी अर्थव्यवस्था का आगमन प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार एक प्रक्रिया दूसरी प्रक्रिया को जन्म देती चली जाती है तथा देश के विकास की गति तीव्र होती जाती है ।

एल्सवर्थ के शब्दो मे व्यापार से स्थैतिक लाभ के अतिरिक्त उससे बहुत से वास्तविक गत्यात्मक लाभ भी प्राप्त होते हैं । उनका पूर्णरूपण मापन करना असम्भव हो सकता है । किन्तु वे वहाँ उपस्थित रहते है । भूतकाल म उन्हे एक महत्वपूर्ण विकास का इंजन कहा गया था जो कि वर्तमान समय म बहुत महत्वपूर्ण समझा जाता है ।'[1]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की हानियाँ
[LOSSES FROM INTERNATIONAL TRADE]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभो की विवेचना करने के बाद हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने *वाली हानियो का उल्लेख भी करेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की हानियो का अध्ययन भी बहुत* आवश्यक है क्योकि इसके ज्ञान के बिना हमारा अध्ययन अधूरा ही रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की हानियो का पता लग जाने पर उनको आवश्यक नियन्त्रण द्वारा दूर किया जा सकता है ।

(1) **स्वावलम्बन का अभाव** (Lack of Self sufficiency)—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उपस्थिति म प्रत्यक देश श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण को अपना लेता है । फलस्वरूप वह अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुओ का उत्पादन न करके केवल उन्ही वस्तुओ क उत्पादन म विशिष्टता प्राप्त करता है जिनम उसको तुलनात्मक लाभ अधिक मिलते है । परिणामस्वरूप अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुओ के लिए वह विदेशो पर निर्भर रहता है । कभी-कभी आर्थिक सकट के समय विदेशो से आशान्वित सहायता न मिलने पर उस देश की अर्थ-व्यवस्था पूर्णत अस्त व्यस्त हो जाती है तथा आर्थिक विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। यही कारण है कि युद्धकाल म देश को अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है ।

(2) **विदेशी प्रतियोगिता की समस्या** (Problem of Foreign Competition)—जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वार खुले होते हैं तो देश के विभिन्न उद्योगो को केवल स्वदेशी प्रतियोगिता का सामना ही नही करना पडता बल्कि विदेशी प्रतियोगिता का भी सामना करना पडता है । केवल वही उद्योग पनप पाते हैं जो विदेशी प्रतियोगिता का सामना कर सकने मे समर्थ हों । अल्प विकसित देशो की अर्थ-व्यवस्था का निम्न स्तर होने का एक मुख्य कारण विदेशी प्रतियोगिता है । भारत म कुटीर उद्योग धन्धो के पतन का मुख्य कारण भी विदेशी प्रतियोगिता ही रही है। जब व्यक्तियो को विदेशो की बनी हुई वस्तुएँ सस्ती कीमत पर मिल सकती हैं तो वे देशी वस्तुओ को नही खरीदते, फलत वे उद्योग समाप्त हो जाते हैं।

(3) **खनिज पदार्थों तथा कच्चे माल की समाप्ति** (Exhaustion of Minerals and Raw Materials)—प्रत्यक देश मे खनिज पदार्थ तथा अन्य कच्चे माल का भण्डार सीमित मात्रा मे ही होता है । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण अल्प विकसित देश अपने कच्चे माल का स्वय उपयोग नहीं कर पाते तथा उनका निर्यात करके अपनी आवश्यक वस्तुओ का आयात करते हैं । एक समय बाद उनके खनिज पदार्थो का भण्डार समाप्त हो जाता है, तथा उनके स्वय आर्थिक विकास करने के मार्ग भी बन्द हो जाते हैं ।

(4) **राशिपातन की समस्या** (Problem of Dumping)—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण हर समय राशिपातन की सम्भावना रहती है । एक (विकसित) देश अपनी वस्तुओ को दूसरे (अल्प) विकसित देश म वस्तुओ के लागत-मूल्य से भी कम मूल्य पर बेचकर उस देश के नये या पुराने

1 P T Ellsworth, *International Economy*, p 198

उद्योगों को समाप्त करने का प्रयास करता है। यदि यह देश अपने प्रयास में सफलता प्राप्त कर लेता है तो फिर वह उन उद्योगों के समाप्त हो जाने पर अपनी वस्तुओं की बिक्री में एकाधिकार कायम कर लेता है। इस प्रकार आयातकर्ता देश को हानि उठानी पड़ती है।

दूसरी ओर अल्प-विकसित देशों को अपने आयात बिल चुकाने के लिए अपनी वस्तु (कच्चा माल) को कम मूल्य पर बेचना पड़ता है (जबकि वह अपने ही देश में उसे अधिक कीमत पर बेच सकता है) अतः राशिपातन से एक देश को दोहरी हानि उठानी पड़ सकती है।

(5) आर्थिक शोषण (Economic Exploitation)—विदेशी व्यापार के कारण विश्व के देश प्राय: दो भागों में विभाजित हो गये हैं, प्रथम श्रेणी में वे अल्प-विकसित देश आते हैं जो कच्चे माल का उत्पादन करते हैं तथा दूसरी श्रेणी में वे देश आते हैं, जो निर्मित माल का उत्पादन करते हैं। अधिक-विकसित देश हमेशा अल्प-विकसित देशों के शोषण करने में लगे रहते हैं। कमजोर होने के कारण इनको विकसित देशों की व्यापार-शर्तें स्वीकार करनी पड़ती हैं। कभी-कभी तो इनको अपनी आन्तरिक नीतियों में की गयी दखल को भी स्वीकार करना पड़ता है। भारत द्वारा अपनी मुद्रा का 1966 में किया गया अवमूल्यन इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ के साथ-साथ अनेक हानियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। इसमें होने वाले लाभ इसकी हानियों से अधिक महत्वपूर्ण हैं, अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्वीकारोक्ति में सन्देह नहीं है। फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर आवश्यक प्रतिबन्ध लगाकर इससे होने वाली हानियों को कम किया जा सकता है।

प्रश्न एवं उनके संकेत

1. व्यापार से क्या लाभ हैं ? हम उन्हें किस प्रकार माप सकते हैं ?

   What are the gains from trade ? How can we measure them ?

   [संकेत—प्रश्न के प्रथम भाग का उत्तर अध्याय के प्रारम्भ में दिया गया है। एक अलग शीर्षक के अन्तर्गत प्रश्न के द्वितीय भाग का उत्तर देखिए।]

2. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का (अ) राष्ट्रीय आय के वितरण तथा (ब) किसी देश के आर्थिक विकास पर प्रभाव बताइए।

   Discuss the effects of International Trade on (a) distribution of national income, and *(b) the economic growth of a country*

3. सैमुअलसन के व्यापार लाभ से सम्बन्धित प्रमेय पर प्रकाश डालिए।

   Define Samuelson's theorem of "gains from trade".

   [संकेत—इस प्रमेय का प्रमाण गणितीय समीकरणों की सहायता से अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। इन समीकरणों का प्रयोग अच्छे अंकों की प्राप्ति हेतु किया जा सकता है।]

4. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :

   (i) 'व्यापार से लाभ' के सन्दर्भ में हैबरलर के विचार,
   (ii) "व्यापार के लाभ" से सम्बद्ध केम्प का विश्लेषण, तथा
   (iii) पीटर केनन द्वारा व्यापार के लाभों का विश्लेषण।

   Write short notes on :

   (i) Haberler's views on gains from trade,
   (ii) Kemp's analysis of the gains from trade, and
   (iii) Analysis of "Gains from Trade" by Peter Kenen.

5. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मुख्य-मुख्य लाभों [redacted] विवेचना कीजिए। क्या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से देश को हानियाँ भी उठानी पड़ती हैं ?

   Explain the important gains from International trade. Whether a country has to bear losses from international trade ?

   [संकेत—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ तथा हानियों की व्याख्या कीजिए।]

10

विनिमय-नियन्त्रण

[EXCHANGE CONTROL]

विनिमय-प्रबन्ध एव विनिमय-नियन्त्रण के मध्य अन्तर

[DIFFERENCE BETWEEN EXCHANGE MANAGEMENT AND EXCHANGE CONTROL]

विनिमय-प्रबन्ध (exchange management) एव विनिमय-नियन्त्रण (exchange contorl) को प्राय एक ही समझा जाता है। किन्तु इनके मध्य एक आधारभूत अन्तर भी पाया जाता है। जहाँ विनिमय-प्रबन्ध के अन्तर्गत सरकार विदेशी विनिमय के बाजारो मे कोई हस्तक्षेप नही करती तथा विदेशी विनिमय-दर का निर्धारण माँग व पूर्ति की शक्तियो द्वारा होने देती है, वही विनिमय-नियन्त्रण के अन्तर्गत विदेशी विनिमय बाजार पर सरकार का नियन्त्रण रहता है, तथा उसी के द्वारा निर्दिष्ट विनिमय-दर को बनाये रखने हेतु विदेशी विनिमय की बिक्री व खरीद की जाती है। विनिमय-दर मे सामान्यत विदेशी विनिमय की माँग व पूर्ति मे परिवर्तनो के अनुरूप उतार-चढाव होते हैं। परन्तु जिन देशो मे विनिमय बाजार नियन्त्रित हैं वहाँ सरकार निर्धारित विनिमय-दर को बनाये रखने के लिए विदेशी विनिमय की बिक्री या खरीद एक व्यापारी की भाँति करती है। सरकार द्वारा विदेशी विनिमय की बिक्री व खरीद को विनिमय-प्रबन्ध कहा जाता है। इसके विपरीत, विनिमय-नियन्त्रण के सन्दर्भ मे सरकार प्रत्यक्ष हस्तक्षेप द्वारा विदेशी विनिमय की माँग व पूर्ति की शक्तियो पर अकुश लगाती है।

विनिमय-नियन्त्रण की परिभाषा

[DEFINITION OF EXCHANGE CONTROL]

जब किसी देश के नागरिको को किसी भी मात्रा मे विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय करने का पूर्ण अधिकार होता है तो ऐसी व्यवस्था को स्वतन्त्र या अनियन्त्रित विदेशी विनिमय की व्यवस्था कहते हैं। इसके विपरीत, जब किसी देश की सरकार विदेशी विनिमय बाजार को नियन्त्रित करके विनिमय-दर को प्रभावित करने के उद्देश्य से विदेशी मुद्राओ के क्रय-विक्रय एव वितरण मे हस्तक्षेप करती है, तब इसे विनिमय नियन्त्रण कहते हैं।

हैबरलर (Haberler) के अनुसार, "विनिमय-नियन्त्रण वह राजकीय नीति है जिसके द्वारा विदेशी विनिमय बाजार से आर्थिक शक्तियो (माँग व पूर्ति) के स्वतन्त्र आचरण को निष्कासित कर दिया जाता है।"[1] इसी प्रकार विदेशी विनिमय-नियन्त्रण की एक सरल परिभाषा हेलपेरिन (Heilperin) ने भी प्रस्तुत की है। उनके मतानुसार, विनिमय-नियन्त्रण वह व्यवस्था है जिसमें विदेशी विनिमय से सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक वस्तु का आदान-प्रदान सरकार द्वारा नियन्त्रित होता है।[2] प्रो पॉल एन्जिग के अनुसार, विदेशी विनिमय नियन्त्रण मौद्रिक सस्था की उन सभी नीतियों को बताना है जो देश मे विनिमय-दरो को तथा उससे सम्बन्धित बाजारो को प्रभावित करने के लिए बनायी जाती हैं।[3] मुख्यत यह कहा जा सकता है कि विनिमय-नियन्त्रण सरकारी

1 "By State Regulation excluding the free play of economic forces from the foreign exchange market"—G Haberler, *Theory of International Trade*, p 83

2 Heilperin, *International Monetary Economics*

3 Paul Einzig, *Exchange Control*, p 10

हस्तक्षेप की वह नीति है जिसके द्वारा विनिमय-दरों को प्रत्यक्षतः प्रभावित किया जाता है। इसके विपरीत, विनिमय-प्रबन्ध के अन्तर्गत विदेशी विनिमय की माँग व पूर्ति में परिवर्तन के द्वारा (परोक्ष रूप से) विनिमय-दर को प्रभावित किया जाता है। वाल्टर क्रौस के शब्दों में, "विनिमय-नियन्त्रण वह तकनीक है जिसकी सहायता से विदेशी विनिमय की सीमित पूर्ति को एकत्रित करके पुनः वितरित किया जाता है। इसका उद्देश्य विदेशी विनिमय की माँग को किसी प्रकार उसकी उपलब्ध पूर्ति तक सीमित रखना है। इस प्रकार विनिमय-दर को स्थिर रखा जाता है भले ही यह दर अधि-मूल्यित स्तर पर क्यों न हो।"[1] स्नाइडर के अनुसार, "विनिमय-नियन्त्रण एक पद्धति है जिसमें स्वतन्त्र बाजार की शक्तियों के स्थान पर सरकारी नियम (regulations) स्थानापन्न किये जाते हैं।"[2]

इस सन्दर्भ में एल्सवर्थ (Ellsworth) का निम्नलिखित कथन विनिमय-नियन्त्रण को परिभाषित करने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है: "विनिमय-नियन्त्रण … का तात्पर्य भुगतान सन्तुलन की समस्याओं से सम्बद्ध बाजार-शक्ति पर अंकुश तथा उनके प्रतिस्थापन हेतु सरकारी अधिकारियों के निर्णयों से है। अब और अधिक आयात तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान अन्तर्राष्ट्रीय कीमत की तुलनाओं से निश्चित नहीं किये जाते हैं, अपितु राष्ट्रीय आवश्यकता द्वारा निश्चित किये जाते हैं।"[3]

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि विनिमय-नियन्त्रण के अन्तर्गत विदेशी विनिमय के स्वतन्त्र लेन-देन को प्रतिबन्धित कर दिया जाता है।

विनिमय-नियन्त्रण के अनेक स्वरूप हो सकते हैं, जैसे—आयात-नियन्त्रण, पूँजी के आवागमन पर रोक, केन्द्रीय बैंक द्वारा घरेलू मुद्रा का नियमन, विनिमय बाजार में अनौपचारिक भूमिका आदि। परन्तु पूर्ण रूप से अपनायी गयी विनिमय-नियन्त्रण की नीति के अन्तर्गत विदेशी विनिमय बाजार पर सरकार का पूर्ण नियन्त्रण रखने का प्रयास किया जाता है। ऐसी स्थिति में निर्यातकर्ताओं एवं अन्य व्यक्तियों को इच्छानुसार विदेशी विनिमय को बेचने की स्वतन्त्रता नहीं होती। उन्हें विदेशों से प्राप्त सम्पूर्ण विदेशी विनिमय को विनिमय-नियन्त्रण अधिकारियों को समर्पित करना होता है। इसके विपरीत, विभिन्न आयातकर्ताओं को विदेशी विनिमय की प्राप्ति भी सरकारी नीति के अनुसार ही हो सकती है।

विनिमय-नियन्त्रण की विशेषताएँ
[CHARACTERISTICS OF EXCHANGE CONTROL]

विनिमय-नियन्त्रण की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर इसकी कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ निम्न प्रकार बतायी जा सकती हैं :

(1) विनिमय-नियन्त्रण द्वारा समस्त विदेशी विनिमय व्यवहारों का केन्द्रीयकरण हो जाता है और उनका सञ्चालन केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है।

(2) देश के निर्यातकर्ता जितनी भी विदेशी मुद्रा अर्जित करते हैं, वह पूरी की पूरी ही केन्द्रीय बैंक को दे दी जाती है। केन्द्रीय बैंक उस विदेशी मुद्रा के बदले में निर्यातकर्ताओं को स्वदेशी मुद्रा में भुगतान कर देता है।

(3) देश के आयातकर्ताओं को विदेशी निर्यातकर्ताओं के माल का भुगतान करने के लिए केन्द्रीय बैंक स्वदेशी मुद्रा के बदले में विदेशी मुद्रा उन व्यक्तियों को बेच देता है।

---

1 "Exchange Control is a technique for the mobilisation and subsequent allocation of relatively scarce supplies of foreign exchange, its usual objective is that of forcibly confining the demand for foreign exchange within limits of the available supply of foreign exchange thereby allowing the rate of exchange to remain stable, even though this rate may be at an over-valued level"—Walter Krause, *The International Economy*, p. 80.

2 "Exchange Control is a system in which governmental regulations are substituted for free market forces"
—Delbert A. Snider, *Introduction to International Economics*, p. 252.

3 P. T. Ellsworth, *International Economics*, p. 532.

(4) विदेशी मुद्रा के दुर्लभ होने पर केवल अत्यावश्यक वस्तुओं के आयात के लिए ही केन्द्रीय बैंक विदेशी मुद्रा देने को तैयार होता है।

(5) विनिमय-नियन्त्रण के फलस्वरूप देश के आयात स्वतः ही सीमित हो जाते हैं तथा व्यापार-सन्तुलन अनुकूल किया जा सकता है।

(6) विनिमय-नियन्त्रण द्वारा सम्पूर्ण विदेशी विनिमय व्यवसाय पर सरकार का एकाधिकार स्थापित हो जाता है।

विनिमय-नियन्त्रण की कार्य-प्रणाली
[MECHANISM OF EXCHANGE CONTROL]

संक्षेप में, विनिमय-नियन्त्रण की नीति के अन्तर्गत माँग व पूर्ति की अपेक्षा सरकारी अधिकारियों के निर्णयानुसार विनिमय-दर का निर्धारण एवं विदेशी विनिमय का आवंटन किया जाता है। आयात तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों का निर्धारण केवल अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों के अन्तर के आधार पर नहीं होता अपितु इनके निर्धारण में राष्ट्रीय आवश्यकताओं का भी योगदान होता है। सरकार का विनिमय बाजार पर न केवल प्रत्यक्ष नियन्त्रण होता है अपितु अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों पर सरकार का हस्तक्षेप होने के कारण देश की मुद्रा की परिवर्तनशीलता भी समाप्त हो जाती है। साधारणतया नियन्त्रण की सीमा भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता पर निर्भर करती है तथा भुगतान सन्तुलन जितना अधिक प्रतिकूल होता है उतने ही अधिक अंकुश विदेशी विनिमय के बाजारों पर लगाये जाते हैं।

सर्वप्रथम प्रथम महायुद्ध-काल में बड़े-बड़े देशों ने विदेशी विनिमय बाजारों में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया था क्योंकि युद्ध-काल में उनकी विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकताओं में अधिक वृद्धि हो गयी थी परन्तु विदेशी विनिमय के कोष एवं इनकी प्राप्तियों में वृद्धि नहीं हो पा रही थी। महायुद्ध-काल में लागू किये गये नियन्त्रण सन् 1926 तक जारी रहे। पश्चात् अधिकांश अंकुश हटा लिये गये। परन्तु विदेशी विनिमय को खरीदने व बेचने की स्वतन्त्रता को पुनर्स्थापित नहीं किया गया। तदुपरान्त विश्वव्यापी मन्दी एवं सन् 1931 के संकट काल में विनिमय-नियन्त्रण की अनेक विधियाँ अपनायी गयीं जिन्हें द्वितीय महायुद्ध-काल *(1939-44)* में और व्यापक बना दिया गया। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अनेक देशों की भुगतान-सन्तुलन स्थिति और भी विकट हो गयी जिसके परिणामस्वरूप विनिमय नियन्त्रण की विधियाँ जारी रहीं। आज लगभग सभी छोटे-बड़े देशों में विनिमय-दरों के उतार-चढ़ावों को नियमित करने हेतु विनिमय नियन्त्रण का एक प्रभावी उपकरण के रूप में प्रयुक्त किया जा रहा है।

पूर्ण एवं आंशिक विनिमय-नियन्त्रण
[FULL FLEDGED AND PARTIAL EXCHANGE CONTROL]

पूर्ण विनिमय-नियन्त्रण (Full Fledged Exchange Control)

विदेशी विनिमय नियन्त्रण या तो पूर्ण रूप से किया जा सकता है अथवा आंशिक रूप से किया जा सकता है। पूर्ण विनिमय-नियन्त्रण की स्थिति में विदेशी विनिमय बाजार पर सरकार का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो जाता है। निर्यात या अन्य किसी स्रोत द्वारा अर्जित विदेशी विनिमय को विदेशी विनिमय नियन्त्रण अधिकारी अथवा सरकार को दे दिया जाता है, फलतः समस्त अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों का केन्द्रण सरकार के हाथों में हो जाता है। विनिमय-नियन्त्रण-व्यवस्थाओं के वंचन को रोकने के लिए वस्तु का निर्यात करने से पूर्व व्यापारियों को कस्टम अधिकारियों के सामने निर्यात लाइसेन्स पेश करना आवश्यक होता है। इस तरह उपलब्ध विदेशी विनिमय का आवटन तुलनात्मक राष्ट्रीय महत्व के दृष्टिकोण से विभिन्न आयातकर्ताओं के मध्य होता है। पूंजी निर्यातों को प्रायः निषिद्ध घोषित कर दिया जाता है जबकि विदेशियों को ब्याज और भविष्य के लिए निर्धारित भुगतान कठोरतापूर्वक सीमित कर दिया जाता है। देश में केवल बहुत ही आवश्यक वस्तुओं जैसे खाद्यान्न, पेट्रोलियम उत्पाद, औद्योगिक कच्चा माल तथा मशीन आदि का आयात होता है। विलासिता एवं कम आवश्यक वस्तुओं का आयात या तो बिल्कुल बन्द कर दिया जाता है या बहुत ही सीमित कर दिया जाता है। विदेशी विनिमय-नियन्त्रण के नियमों का पालन करने वाला को सजा की व्यवस्था होती है।

आंशिक विनिमय-नियन्त्रण (Partial Exchange Control)

जब भुगतान सन्तुलन का दबाव बहुत अधिक नहीं होता तो पूर्ण विनिमय-नियन्त्रण अपनाने की आवश्यकता नहीं होती। विनिमय-नियन्त्रण साधारण पूँजी निर्यात तक ही सीमित रहता है। विदेशी विनिमय के आवेदनों को साधारण जाँच के बाद स्वीकृत कर दिया जाता है। किन्तु इस प्रकार के विनिमय-नियन्त्रण अल्पकालीन होते हैं।

विनिमय-नियन्त्रण के उद्देश्य [OBJECTIVES OF EXCHANGE CONTROL]

विदेशी विनिमय बाजार में सरकार का हस्तक्षेप अथवा विनिमय-नियन्त्रण विनिमय उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु किया जाता है। क्राउथर के अनुसार, "विनिमय-बाजार के नियन्त्रण का सबसे महत्वपूर्ण कारण नियन्त्रण के अभाव में निर्धारित होने वाली विनिमय-दर से भिन्न विनिमय-दर रखना है। यदि सरकार विदेशी विनिमय-बाजार में माँग तथा पूर्ति की शक्तियों के आधार पर निर्धारित होने वाली विनिमय-दर से सन्तुष्ट है तो विनिमय-नियन्त्रण की कोई आवश्यकता नहीं होती।"[1] सामान्य रूप से विनिमय-नियन्त्रण की नीति निम्न उद्देश्यों पर आधारित हो सकती है :

(1) **पूँजी के बहिर्गमन पर रोक लगाना**—यदि राजनीतिक या मनोवैज्ञानिक कारणों से देश के बाहर पूँजी के विनियोग की छूट दी जाय तो यह भी सम्भव है कि शीघ्र ही देश के स्वर्ण एवं विदेशी विनिमय के कोष समाप्त हो जायें। देश से पूँजी के बहिर्गमन पर रोक लगाने हेतु अपनाये गये परोक्ष उपाय बहुधा प्रभावकारी सिद्ध नहीं होते। ऐसी स्थिति में विनिमय-नियन्त्रण द्वारा ही पूँजी के बहिर्गमन पर अंकुश लगाया जा सकता है।

(2) **प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन को ठीक करना**—युद्ध तथा युद्धोत्तर-काल में विदेशी विनिमय का अभाव विनिमय-नियन्त्रण लागू किये जाने हेतु सबसे प्रमुख कारण बताया जाता था। आधुनिक सन्दर्भ में एशिया व अफ्रीका के विकासशील देशों में विनिमय-नियन्त्रण का प्रमुख उद्देश्य सीमित विदेशी विनिमय कोषों को केवल उन वस्तुओं के आयात हेतु प्रयुक्त करना है जो देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है, अथवा जिनका आयात करना देश की जनता की जीवन-रक्षा हेतु आवश्यक है।

(3) **देश के उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना**—विनिमय-नियन्त्रण के माध्यम से विदेशी प्रतियोगी वस्तुओं के आयात को नियन्त्रित कर दिया जाता है और इससे घरेलू उद्योग को संरक्षण मिलता है।

(4) **विनिमय-दरों में स्थिरता लाना**—कुछ देशों ने अपनी व अन्य देशों की मुद्राओं के बीच सम्बन्धों को निश्चित स्तर पर बनाये रखने हेतु अर्थात् विनिमय-दरों को स्थिर रखने हेतु विनिमय-नियन्त्रण का आश्रय लिया है। उदाहरण के लिए, जब ब्रिटेन ने स्वर्णमान का परित्याग किया तो स्टर्लिंग ब्लॉक के देशों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे विनिमय-नियन्त्रण की नीति अपनाकर विनिमय-दरों को स्थिर बनाये रखें।

(5) **विदेशी ऋणों का भुगतान रोकना (Freezing the foreign debt)**—कुछ देश इसलिए विनिमय-नियन्त्रण की नीति अपनाते हैं, जिसके द्वारा वे देश के नागरिकों को उनके विदेशी ऋणों का भुगतान करने से रोक सकें। इस प्रकार बचाये गये विदेशी विनिमय का उपयोग बाहर से वस्तुओं व सेवाओं के आयात हेतु किया जाता है परन्तु बहुधा केवल उन्हीं देशों के ऋणों का भुगतान रोका जाता है जिनसे नियन्त्रण लागू करने वाले देश के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण नहीं होते।

(6) **मुद्रा का अधिमूल्यन करना**—कभी-कभी कोई देश अपनी मुद्रा के अधिमूल्यन द्वारा विदेशों से सस्ते मूल्य पर आयात करने हेतु भी विनिमय-नियन्त्रण की नीति अपना सकता है। ये आयात आवश्यक औद्योगिक कच्चे माल के रूप में हो सकते है, अथवा सैन्य-सामग्री या सिविल उपभोग्य वस्तुओं के रूप में।

(7) **ऋणी देशों से भुगतान लेने हेतु**—साहूकार देश कई बार विनिमय-नियन्त्रण का आश्रय इसलिए लेते है, जिससे कि वे उनके द्वारा दिये जाने वाले ऋणों का उपयोग वस्तुओं व सेवाओं के

1 Crowther, *An Outline of Money*, p. 236.

आयात हेतु करने के लिए ऋणी देश को बाध्य कर सकें। दूसरे शब्दों में, ऋण इसी शर्त पर दिया जाता है कि इसका उपयोग ऋणदाता से वस्तुएँ खरीदने में ही किया जायगा। कभी-कभी वस्तुओं व सेवाओं के साथ-साथ बन्द ऋणों के ब्याज का भुगतान भी इस शर्त में शामिल कर लिया जाता है।

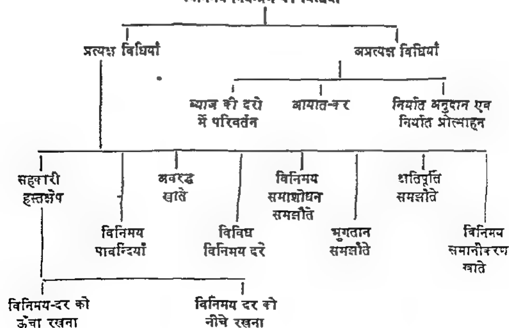
(8) **आर्थिक नियोजन के लिए**—अप्रत्याशित रूप से मूल्यों का आयात/निर्यात की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों का किसी देश की अर्थ-व्यवस्था पर अत्यधिक प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इन परिवर्तनों पर रोक लगाना किसी देश की सरकार की सामर्थ्य की बात नहीं होती। अतएव विनिमय-नियन्त्रण के माध्यम से अस्थायी रूप से विनिमय-दर में होने वाले परिवर्तनों को परिसीमित कर दिया जाता है।

(9) **एक स्वतन्त्र नीति अपनाने हेतु**—कभी-कभी विनिमय-नियन्त्रण अवस्फीति को रोकने की स्वतन्त्र नीति हेतु भी अपनाया जाता है। विनिमय-नियन्त्रण सामान्यतया देश तथा विदेशों की कीमतों के मध्य एक अवरोध उत्पन्न करता है, ताकि मौद्रिक तथा सामान्य आर्थिक नीतियों का चुनाव करके उन्हें बिना किसी भुगतान-सन्तुलन को प्रभावित किये लागू किया जा सकता है।[1]

(10) **अन्य उद्देश्य**—विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग एक शत्रु-देश (unfriendly country) द्वारा हथियारों की खरीद को रोकने के लिए भी किया जा सकता है। इसी प्रकार, एक सरकार अपनी विनिमय-दर को स्थिर रखने के लिए भी विनिमय-नियन्त्रण का आश्रय ले सकती है। एक ऋणी देश अपने ऋण के भार को कम करने के लिए भी विनिमय-नियन्त्रण की विधियाँ को अपना सकता है।

विनिमय-नियन्त्रण की विधियाँ
[METHODS OF EXCHANGE CONTROL]

विनिमय-नियन्त्रण की विधियों को मुख्य रूप से प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष विधियों के रूप में विभाजित किया जा सकता है। प्रत्यक्ष विधियों में साधारणतया सरकार के प्रत्यक्ष हस्तक्षेप, विनिमय पाबन्दियों, विविध विनिमय-दरों, विनिमय समाशोधन समझौतों, क्षतिपूर्ति समझौतों तथा भुगतान समझौतों आदि को सम्मिलित किया जाता है। इसके विपरीत विनिमय-नियन्त्रण की परोक्ष विधियों में आयात-कर, ब्याज की दरों में परिवर्तन तथा निर्यात-प्रोत्साहन की विधियाँ सम्मिलित की जाती हैं। सुविधा के लिए विनिमय-नियन्त्रण की इन विधियों को निम्नांकित चार्ट के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :



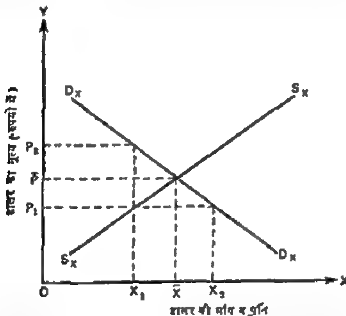
1 R Nurkse, *International Currency Experience*.

अब हम विनिमय-नियन्त्रण की उपर्युक्त विधियों का विस्तार से विश्लेषण करेंगे।

विनिमय-नियन्त्रण की प्रत्यक्ष विधियाँ
(Direct Methods of Exchange Control)

(1) **सरकारी हस्तक्षेप (Government Intervention)**—सरकारी हस्तक्षेप से हमारा तात्पर्य उस नीति से है जिसके द्वारा सरकार या केन्द्रीय बैंक विदेशी विनिमय बाजार में घरेलू मुद्रा की खरीद या बिक्री करती है। *यह हस्तक्षेप कृत्रिम रूप से विनिमय-दर को ऊँचे (pegging up)* या निचले स्तर पर रखने (pegging down) हेतु किया जाता है। जब विनिमय-दर को साम्य स्तर से ऊँचा रखा जाता है तो यह आवश्यक हो जाता है कि सरकार विदेशी मुद्रा बेचने तथा घरेलू मुद्रा खरीदने की स्थिति में हो। इसके लिए विदेशी मुद्रा का पर्याप्त कोष होना चाहिए। यदि विनिमय-दर को साम्य से निचले स्तर पर रखना हो तो सरकार को घरेलू मुद्रा बेचकर विदेशी मुद्रा प्राप्त करने हेतु तत्पर रहना होगा। दोनों ही स्थितियों में यह आवश्यक होगा कि सरकार निर्दिष्ट स्तर पर विनिमय-दर बनाये रखने हेतु कृतसंकल्प हो तथा उसके पास पर्याप्त कोष मौजूद हो। साधारणतया सरकार के पास विदेशी विनिमय के पर्याप्त कोष नहीं होते अतएव यह प्रयत्न किया जाता है कि विनिमय-दर नीची रहे अथवा घरेलू मुद्रा का अर्घ साम्य-स्तर से ऊपर बना रहे। लगभग सभी विकासशील देशों में विनिमय-दर को नीचे रखने हेतु प्रयास किया जाता है।

परन्तु जैसा कि रेखाचित्र 10.1 में बताया गया है, घरेलू मुद्रा का अर्घ ऊँचा रखने या विनिमय-दर नीची रखने के प्रयासों का दुष्परिणाम विदेशी मुद्रा की कालाबाजारी के रूप में प्रतिबिम्बित होता है।



रेखाचित्र 10.1—डालर का मूल्य साम्य स्तर से नीचे रखने का परिणाम

रेखाचित्र 10.1 में D_xD_x डालर की माँग व S_xS_x डालर की पूर्ति को प्रदर्शित करते हैं। *यदि विदेशी विनिमय बाजार पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो तो डालर का साम्य मूल्य* $\overline{OP}$ रुपये होगा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शीर्ष अक्ष पर रुपये के रूप में डालर का मूल्य एवं क्षैतिजीय अक्ष पर डालर की माँग व पूर्ति दर्शाये गये हैं। डालर के OP मूल्य पर साम्य माँग व पूर्ति का स्तर OX होगा।

परन्तु यदि सरकार रुपये का मूल्य कृत्रिम रूप से ऊँचा रखना चाहे, या यह कहा जाय कि डालर का मूल्य कृत्रिम रूप से नीचे रखना चाहे, तो डालर की पूर्ति में संकुचन होगा जबकि विदेशी

विनिमय बाजार की माँग का विस्तार हो जायगा। रेखाचित्र 10.1 में यदि डालर की विनिमय-दर साम्य स्तर अर्थात् $\overline{OP}$ न रखकर इससे नीची अर्थात् $\overline{OP_1}$ रखी जाय तो डालर की पूर्ति केवल OX_1 रह जायगी। वस्तुतः डालर की उपलब्धि OP_1 पर नहीं हो सकेगी क्योंकि विक्रेता डालर की पूर्ति बहुत कम कर देते हैं। अस्तु OP_1 रुपये की विनिमय-दर होने पर डालर के विक्रेता माँग-फलन के अनुरूप डालर का मूल्य OP_2 प्राप्त करना चाहेंगे।

सरल रूप में यह कहा जा सकता है कि डालर का मूल्य साम्य-स्तर से कम रखने पर पूर्ति सिकुड़कर OX_1 रह जायगी। इतनी कम पूर्ति पर विक्रेता डालर की ऊँची कीमत (OP_2) प्राप्त कर सकते हैं। यह स्मरणीय है कि सरकार द्वारा डालर का मूल्य OP_1 निर्धारित किया गया है जबकि बाजार में डालर का मूल्य OP_2 लिया जा रहा है। अस्तु डालर पर P_1P_2 प्रति इकाई की कालाबाजारी की जा रही है। संक्षेप में साम्य स्तर से डालर का मूल्य जितना नीचा रखा जायगा, डालर की पूर्ति में उतना ही संकुचन होगा तथा डालर पर उतना ही अधिक कालाबाजार मूल्य (Black market value) प्राप्त किया जायगा।

(2) विनिमय पाबन्दियाँ (Exchange Restrictions)—विनिमय पाबन्दियों के माध्यम से सरकार विदेशी विनिमय-बाजार में अनिवार्य रूप से घरेलू मुद्रा की पूर्ति को कम कर देती है। व्यक्तियों तथा व्यापारिक प्रतिष्ठानों के लिए यह आवश्यक होता है कि वे पूर्णरूपेण एक केन्द्रीय संस्था (सामान्यतया देश के केन्द्रीय बैंक) द्वारा ही अपने विदेशी मुद्रा के भुगतानों अथवा प्राप्तियों को पूर्ण करें। देश की मुद्रा का किसी अन्य विदेशी मुद्रा में विनिमय केवल इस संस्था की अनुमति से ही करें।

सामान्य रूप से विनिमय पाबन्दियाँ बहु विनिमय दरों (multiple exchange rates) के द्वारा ही लागू की जाती हैं। इस पद्धति में अन्तर्गत आयातों तथा निर्यातों की विभिन्न श्रेणियों के लिए विभिन्न प्रकार की विनिमय-दरें निर्धारित की जाती हैं। 1930 की विश्वव्यापी मन्दी के समय में अनेक लेटिन अमरीकी देशों ने विविध विनिमय-दरों को अपनाया, तदुपरान्त जर्मनी ने विभिन्न प्रकार के भुगतानों के लिए पृथक-पृथक प्रकार के मार्क (जैसे रजिस्टर मार्क, हैन्डल मार्क, ब्लॉक मार्क, ट्रेवल मार्क सोन्डर मार्क, अस्की मार्क, आदि) अपनाये। किण्डलबर्जर के मतानुसार, 'विविध विदेशी विनिमय-दरों की पद्धति को तटकरों तथा आयातों एवं निर्यातों के उपभोग, उत्पादन *भुगतान-सन्तुलन तथा आय पर होने वाले समान प्रभावों के साथ ही निर्धारित किया जा सकता है।*'[1]

(3) अवरुद्ध खाते (Blocked Accounts)—अवरुद्ध खातों के अन्तर्गत देश के लोगों को ये आदेश दिये जाते हैं कि वे उनके द्वारा विदेशियों को चुकाई जाने वाली राशि को विशिष्ट रूप में स्थापित किये गये बैंक में जमा करें। इसका परिणाम यह होता है कि अपने ऋणों का भुगतान करने हेतु देश के नागरिकों को काले बाजार में विदेशी मुद्रा खरीदने की आवश्यकता नहीं होती। इसके विपरीत, उनके द्वारा चुकाई जाने वाली मुद्रा विशिष्ट बैंकों में अवरुद्ध कर दी जाती है और इसको विदेशी मुद्राओं में परिवर्तित करने की छूट समाप्त कर दी जाती है। इस प्रकार अवरुद्ध खातों का प्रतिकूल प्रभाव विदेशी साहूकारों पर होता है क्योंकि वे इन खातों में जमा मुद्राओं का उपयोग कहीं भी नहीं कर सकते।

सन् 1931 में जर्मनी ने साहूकार देशों को क्षति पहुँचाने एवं अपने निर्यातों की अत्यधिक वृद्धि हेतु अवरुद्ध खातों का उपयोग किया। विदेशी आयातकर्ताओं को यह अनुमति दी गयी कि वे उन वस्तुओं के बदले भुगतान दे दें जिनके लिए जर्मनी विश्व बाजारों में प्रतियोगिता करने में असमर्थ था। जर्मनी की सरकार ने अवरुद्ध खातों को इतनी रियायती दर पर विदेशी आयातकर्ताओं को उपलब्ध करा दिया कि जर्मन वस्तुओं का आयात करने की अन्य देशों में प्रेरणा मिलने लगी। इन वस्तुओं के बदले आयातकर्ता आंशिक भुगतान अवरुद्ध खातों में से कर सकते थे। इस प्रकार विदेशी साहूकारों को क्षति पहुँचाते हुए जर्मनी ने अपने निर्यात में अत्यधिक वृद्धि कर ली। विदेशी साहूकारों ने अपनी जमाराशि एवं पावनों को अत्यधिक हानि सहकर भी जर्मनी में बेच दिया। 1940 में इंगलैण्ड ने भी इसी विधि को अपनाया था, परन्तु इसके साथ सरकार ने इन खाताधारियों

1 C. P. Kindleberger, *International Economics*, (Fourth Edition), p. 136

को यह अनुमति दे दी थी कि वे अपने भुगतान-शेषों को अन्य विदेशियों के लिए हस्तान्तरित कर सकते हैं।

सामान्यतया, अवरुद्ध खातों की योजना (Schemes) दुखदायी होती हैं, तथा एक देश की प्रसिद्धि पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है। पुनः एक देश, जो इन योजनाओं को अपनाता है, उसका विदेशी व्यापार घटकर निम्न स्तर पर आ जाता है। साधारणतया, अन्य देशों द्वारा इस देश को किये जाने वाले निर्यात नियन्त्रित हो जाते हैं, जबकि इस देश के निर्यातों का भुगतान करने अन्य देशों द्वारा रोक दिया जाता है। इसके अतिरिक्त, अवरुद्ध खातों की विधियाँ कालाबाजारी (black marketing) उत्पन्न करती हैं।

(4) विविध विनिमय-दरें (Multiple Exchange Rates)—इस विधि के अन्तर्गत विभिन्न वस्तुओं के आयात व निर्यात हेतु पृथक्-पृथक् विनिमय-दरें निर्धारित की जाती हैं। इस विधि को अपनाने का मुख्य प्रयोजन निर्यात को प्रोत्साहन देना तथा आयात को सीमित करना है जिससे कि देश पर्याप्त विदेशी विनिमय का संचय कर सके। इस विधि के अन्तर्गत कभी-कभी सरकार द्वारा घोषित विनिमय-दर कुछ सौदों पर प्रयुक्त की जाती है तथा शेष सौदों के लिए विनिमय-दर का निर्धारण स्वतन्त्र बाजार में (माँग व पूर्ति की शक्तियों द्वारा) किया जाता है। कुछ वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि करने हेतु उनके लिए विनिमय-दर रखी जा सकती है जिनकी घरेलू कीमतें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर से ऊँची हों अथवा जिनकी उत्पादन की सामाजिक लागत निजी मौद्रिक लागत से कम हो। इसी प्रकार, अनुकूल विनिमय-दर निर्यात-उद्योगों (export industries) के लिए आवश्यक कच्चा माल एवं प्राविधिक सुविधाएँ प्राप्त करने हेतु विदेशी विनिमय उपलब्ध किया जा सकता है।

विविध विनिमय-दरें साधारण रूप से प्रतिकूल भुगतान को ठीक करने हेतु अपनाई गयी अवमूल्यन आदि विधियों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली सिद्ध होती हैं। विशिष्ट देशों के साथ विद्यमान भुगतान-असन्तुलन को ठीक करने हेतु यह प्रणाली पर्याप्त उपयोगी हो सकती है। परन्तु कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि इस विधि के अन्तर्गत विभिन्न देशों के साथ भेद-भाव की नीति अपनायी जाती है, अतएव यह विधि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में विकृति उत्पन्न कर सकती है। आयात व निर्यात के लिए विभिन्न विनिमय-दरें किसी देश व अन्य देशों को प्राप्त उपलब्ध साधनों के इष्टतम उपयोग में बाधक हो सकती हैं।

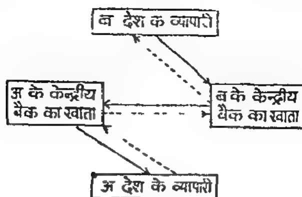
(5) विनिमय समाशोधन समझौते (Exchange Clearing Agreements)—सन् 1930 में अनेक यूरोपियन देशों ने इस विधि के द्वारा अपनी बिगड़ती हुई भुगतान स्थिति को सम्भालने का प्रयास किया था। इस प्रणाली के अन्तर्गत किन्हीं दो देशों के व्यापारियों की अन्तर्राष्ट्रीय लेनदारियों व देनदारियों की बाकी निकालकर दोनों केन्द्रीय बैंकों की विशुद्ध भुगतान-सन्तुलन बाकी देखी जाती है। उदाहरण के लिए, 'अ' देश का केन्द्रीय बैंक 'ब' देश की केन्द्रीय बैंक का खाता खोल लेता है। 'अ' देश के कुछ व्यापारियों को 'ब' देश के व्यापारियों से भुगतान प्राप्त करना है, जबकि अन्य व्यापारियों को 'ब' के व्यापारियों को भुगतान चुकाना है। 'अ' के ऋणी (debtors) व्यापारी 'ब' देश को दी जाने वाली भुगतान की राशि 'ब' के केन्द्रीय बैंक के खाते में जमा करा देंगे। इसी प्रकार 'ब' देश में जिन व्यापारियों ने 'अ' के व्यापारियों को भुगतान करना है वे 'अ' के केन्द्रीय बैंक के खाते में (जो 'ब' देश में खुला है) उतनी राशि जमा करा देंगे। दोनों बैंक अपने-अपने खातों का समाशोधन करके विशुद्ध देय राशि का हस्तान्तरण कर देंगे। फिर सम्बद्ध बैंक घरेलू मुद्रा में यह राशि सम्बद्ध व्यापारियों को चुका देगा।

अग्रांकित चार्ट से समाशोधन की यह विधि स्पष्ट हो जायगी।

इस चार्ट में सरल रेखा 'ब' देश के व्यापारियों द्वारा 'अ' देश के व्यापारियों की देय राशि बताती है जबकि टूटी हुई रेखा उन्हें प्राप्त होने वाली राशि की द्योतक है। स्पष्ट है कि दोनों देशों के व्यापारी सीधे भुगतान प्राप्त करने या भुगतान करने के लिए स्वतन्त्र नहीं हैं, अतः प्राप्त विशुद्ध राशि का ही वास्तव में हस्तान्तरण किया जायगा।

इस विधि से बार-बार विनिमय प्राप्त करने अथवा प्राप्त विदेशी विनिमय को घरेलू मुद्रा में परिवर्तित करने की समस्या समाप्त हो जाती है। फलस्वरूप अल्प मात्रा में विदेशी विनिमय होने

पर भी आयात व निर्यात पर्याप्त मात्रा मे किये जा सकते हैं जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, चतुर्थ दशक मे यूरोप के अनेक देशो ने (जर्मनी सहित) इस विधि का आश्रय लिया था।



रेखाचित्र 10 2

गुण—(1) इस विधि का सबसे बडा गुण यह है कि इसके द्वारा विदेशी विनिमय की कठिनाइयो को न्यूनतम करते हुए भी व्यापार के प्रवाह को सुगम बनाया जा सकता है।

(ii) यह देशो के व्यापार को सन्तुलित बनाने म सहायता करती है।

(iii) विनिमय-नियन्त्रण की अन्य विधियाँ विदेशी व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं, इसके विपरीत विनिमय समाशोधन की विधि विदेशी व्यापार को प्रोत्साहित करती है।

दोष—(1) विदेशी भुगतान की स्वतन्त्रता का इसके अन्तर्गत कोई अस्तित्व नही होता, जिसके फलस्वरूप व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव होने की आशंका रहती है।

(ii) इसी विधि के अन्तर्गत अपेक्षाकृत सबल देश आर्थिक दृष्टि से दुर्बल देश पर इस बात के लिए दबाव डाल सकता है कि वह (दुर्बल देश) उससे अधिक से अधिक मात्रा मे वस्तुएँ आयात करे।

(6) भुगतान समझौते (Payment Agreements)—भुगतान समझौते तथा समाशोधन समझौतो मे पर्याप्त समानता है क्योकि दोनो ही के अन्तर्गत दो देशो की परस्पर सहमति से भुगतान सम्बन्धी कार्यक्रम निर्धारित किये जाते हैं। परन्तु भुगतान समझौते के अन्तर्गत निर्दिष्ट अवधि म दो देशो के बीच होने वाले व्यापार की मात्रा को नियमित किया जाता है जिससे कि दोनो देशो के भुगतान-सन्तुलन मे सन्तुलन रखा जा सके। इस प्रकार समाशोधन समझौतो की अपेक्षा भुगतान समझौतो का क्षेत्र अधिक व्यापक है।

भुगतान समझौतो के अन्तर्गत सम्बद्ध देशो की मुद्राओ के मध्य वह दर निर्धारित की जाती है जिस पर इन मुद्राओ का परिवर्तन किया जाता है। यह समझौता एक निर्दिष्ट अवधि के लिए हो सकता है अथवा अनिश्चित काल के लिए। परन्तु समझौते मे यह प्रावधान अवश्य रहता है कि कोई भी देश उपयुक्त अवधि की पूर्व-सूचना देकर स्वय को समझौते के दायित्व से मुक्त कर सकता है तथा उस दश की प्राप्य राशि स्वर्ण मे अथवा समझौते मे निर्दिष्ट रूप मे चुका दी जाती है।

गुण—(1) भुगतान समझौते के अन्तर्गत आयात व निर्यात करने वालो के मध्य प्रत्यक्ष सम्पर्क बना रहता है।

(ii) इनके द्वारा व्यापार का विस्तार हो सकता है तथा दोनो देशो के व्यापारिक सम्बन्धो मे मधुरता बनी रहती है।

(iii) बहुधा मुक्त विनिमय पसन्द करने वाले देश भुगतान समझौतो को श्रेयस्कर मानते हैं क्योकि इन समझौतो का पालन करने का दायित्व उनका स्वय का न होकर उन देशो का होता है जहाँ विनिमय-नियन्त्रण है।

(iv) समाशोधन समझौतो की अपेक्षा भुगतान समझौतो के विरुद्ध कम शिकायतें होती हैं तथा इनकी कार्यान्विति सरल भी होती है।

(v) भुगतान समझौतों के द्वारा विनिमय-नियन्त्रण वाले देश के भुगतान-सन्तुलन में प्रतिकूल स्थिति आने की सम्भावना न्यूनतम कर दी जाती है क्योंकि उसे विदेशी मुद्रा के रूप में भुगतान करने पर ही आयात की सुविधा मिल सकती है।

दोष—(i) ये समझौते केवल साइफेन्स प्राप्य भुगतानों के सन्दर्भ में ही लागू किये जा सकते हैं। अतएव साइफेन्स रहित भुगतानों की समस्या का इनके द्वारा समाधान नहीं हो सकता।

(ii) खातों की शेष राशि का उपयोग केवल एक देश द्वारा दूसरे देश को किये जाने वाले भुगतान हेतु किया जा सकता है।

(7) क्षतिपूर्ति समझौते (Compensation Agreements)—क्षतिपूर्ति समझौते वस्तुतः वस्तु-विनिमय समझौते हैं जिनके अन्तर्गत विदेशी विनिमय के आदान-प्रदान किये बिना ही वस्तुओं व सेवाओं का आयात व निर्यात किया जाता है। ये समझौते निजी संस्थाओं के बीच बिना सरकारी सहमति के अथवा सरकारी सहमति के अन्तर्गत अथवा अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं के बीच अथवा दो देशों की सरकारों के बीच, किये जा सकते हैं। एक निजी क्षतिपूरक समझौते में चार व्यक्तियों या संस्थाओं का भाग लेना आवश्यक है। उदाहरणार्थ, भारत के सूती कपड़े का विनिमय बंगला देश की जूट से करने किया गया है। इस समझौते को औपचारिक रूप देने हेतु चार दलों की आवश्यकता होगी : प्रथम, भारत में जूट का आयातकर्ता; द्वितीय, बंगला देश में जूट का निर्यातकर्ता, तृतीय, भारत में सूती कपड़े का निर्यातकर्ता, तथा चतुर्थ, बंगला देश में सूती कपड़े के रूप में भारतीय सूती वस्त्र के निर्यातकर्ता को चुका देगा। दूसरी ओर बंगला देश में सूती वस्त्र का आयातकर्ता सूती कपड़े का मूल्य वहाँ की घरेलू मुद्रा अर्थात् कपड़े के रूप में बंगला देश के ही जूट-व्यापारी अर्थात् जूट के निर्यातकर्ता को चुका देगा। इस प्रकार भारतीय तथा बंगलादेशीय दोनों ही व्यापारी आयात के बदले विदेशी विनिमय प्राप्त करने सम्बन्धी कठिनाइयों से बच जायेंगे। परन्तु इन समझौतों की सफलता एवं इनकी कार्यान्विति में सुगमता के लिए यह आवश्यक है कि भारत में बंगला देश से जूट का आयात उतने ही मूल्य का किया जाय जितने मूल्य का वहाँ से सूती वस्त्र निर्यात किया जाता है। दूसरे शब्दों में, बंगला देश भारत से उतना ही सूती कपड़ा आयात करे जितने मूल्य का जूट वह भारत को निर्यात कर रहा है। इसे समीकरण के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :

$$X_j = M_j$$
$$X_c = M_c$$

परन्तु चूँकि $\quad X_j = M_c$

अतः $\quad X_c = M_j$

[जहाँ X_j = जूट का निर्यात, M_j = जूट का आयात, X_c = सूती कपड़े का निर्यात तथा M_c = सूती कपड़े के आयात हैं।]

उपर्युक्त समीकरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यापार-सन्तुलन की स्थिति क्षतिपूर्ति समझौतों के लिए आवश्यक शर्त है।

गुण—(i) इन समझौतों के द्वारा सरकारी विनिमय-दर पर उन वस्तुओं का आयात व निर्यात भी सम्भव हो जाता है जिनका इन समझौतों के अभाव में आयात-निर्यात करना सम्भव नहीं होता।

(ii) क्षतिपूर्ति समझौतों के कारण व्यापार का विस्तार होता है।

(iii) इन समझौतों के कारण दुर्लभ विदेशी विनिमय जुटाने की समस्या से बचा जा सकता है।

(iv) इन समझौतों के माध्यम से उन वस्तुओं का आयात करना भी सम्भव हो जाता है जिन्हें विदेशी विनिमय के अभाव में नहीं मँगाया जा सकता।

(v) विकासशील देशों के लिए ये समझौते विशेष रूप से लाभप्रद हैं क्योंकि इन देशों के सामने विदेशी विनिमय की समस्या अधिक विकट है।

(vi) समाशोधन समझौतों से सम्बद्ध समय की बरबादी एवं विलम्ब आदि कठिनाइयों से क्षतिपूर्ति समझौते द्वारा बचा जा सकता है।

दोष—(i) इन समझौतों के लिए प्रत्येक सौदे हेतु चार दलों की आवश्यकता होती है फिर यह भी आवश्यक है कि आयात व निर्यात के मूल्य दोनों वस्तुओं के सन्दर्भ में समान हों। यदि ये शर्तें पूरी नहीं होती तो क्षतिपूर्ति समझौते नहीं हो सकते।

(ii) अन्य प्रकार के समझौतों में दो दलों के बीच मूल्य, क्वालिटी एवं मात्रा के विषय में सहमति होनी आवश्यक है, परन्तु क्षतिपूर्ति समझौते के लिए चार दलों के बीच यह सहमति होना आवश्यक है। यदि इन विषयों पर चारों दलों के बीच मतैक्य न हो सके तो क्षतिपूर्ति समझौते सम्भव नहीं हैं।

(iii) मौसमी वस्तुओं के विषय में एक ही समय पर आयातों व निर्यातों के बीच सन्तुलन स्थापित करना कठिन है, विशेष रूप से उस स्थिति में जबकि आयात व निर्यात की पूर्ति पृथक्-पृथक् समय पर होती हो।

(8) **विनिमय समानीकरण खाते** (Exchange Equalization Accounts, EEA)—सितम्बर 1931 में इंगलैण्ड द्वारा स्वर्णमान के परित्याग के बाद, ब्रिटिश सरकार ने प्रथम 'विनिमय समानीकरण खाते' की स्थापना की। ब्रिटिश सरकार विनिमय-दर में होने वाले परिवर्तनों में अवरोध उत्पन्न नहीं करना चाहती थी। तदुपरान्त इस प्रकार के खाते फ्रान्स, अमरीका, हॉलैण्ड, बेलजियम तथा स्विट्जरलैण्ड में भी स्थापित किये गये। इसके अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक एक फण्ड (Fund) उत्पन्न करता है जिसमें स्वर्ण विदेशी मुद्राएँ तथा देशी मुद्रा सम्मिलित होती हैं। समय-समय पर यह कोष (Fund) विदेशी विनिमय की खरीद तथा बिक्री को प्रभावित करने के लिए प्रयोग किया जाता है, विदेशी विनिमय-दर में अल्पकालीन परिवर्तनों को अवरुद्ध करने के लिए इनकी आवश्यकता होती है। इनकी प्रारम्भिक प्रक्रिया की स्थिति में सरकार अल्पकालीन बिलों को भी जारी कर सकती है। इनकी प्रक्रिया की विधि बहुत सरल है। जब एक विदेशी हमारी (देशी) मुद्रा खरीदना चाहता है, तो सरकार उस सीमा तक रुपये बेच देगी तथा विनिमय समानीकरण खाते (EEA) के अन्तर्गत स्वर्ण अथवा विदेशी मुद्रा खरीद लेगी। अब वह विदेशी हमारी मुद्रा प्राप्त कर लेगा तथा केन्द्रीय बैंक (इसके EEA के माध्यम से) के पास स्वर्ण अथवा विदेशी मुद्रा होगी जो कि यह बैंकिंग पद्धति से बाहर रख रहा होगा।

सर्वप्रथम 1932 में इंगलैण्ड में विनिमय-समानीकरण खाते अथवा विनिमय स्थिरीकरण कोष (Exchange Stabilisation Fund) की स्थापना की गयी। इसके बाद 1934 में अमरीका में तथा 1936 में फ्रान्स में भी विनिमय समानीकरण खातों की स्थापना की गयी। विभिन्न कोषों (खातों) में पारस्परिक सहयोग की भावना से इंगलैण्ड, अमरीका तथा फ्रान्स के कोषों के बीच 25 सितम्बर, 1936 को एक समझौता हुआ जो त्रिपक्षीय समझौता (Tripartite Agreement) के नाम से जाना जाता है। इस समझौते के अनुसार कोई भी देश अन्य दो देशों की अनुमति के बिना विनिमय-दर में परिवर्तन नहीं कर सकता था। तीन देशों ने आवश्यकता पड़ने पर एक दूसरे को निश्चित दर पर यह स्वर्णमान बेचना भी तय किया था। संक्षेप में, इस समझौते के अनुसार तीनों देश अपने आपसी लेन-देन इस प्रकार करते थे कि अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय में अधिक से अधिक साम्य बना रहे। बाद में 1936 में बेल्जियम, नीदरलैण्ड्स (हॉलैण्ड) एवं स्विट्जरलैण्ड भी इस समझौते में शामिल हो गये। इन देशों की सरकारों ने भी अपने-अपने देशों में इस प्रकार के विनिमय समानीकरण खाते स्थापित कर लिये। किन्तु द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होते ही (1939 में) इन कोषों तथा त्रिपक्षीय समझौतों का अन्त हो गया।

गुण—(i) विनिमय समानीकरण कोषों की कार्य-प्रणाली बहुत सरल थी।

(ii) यह प्रणाली स्वर्णमान के पतन के बाद अपनायी गयी प्रणाली थी जिसे "स्वर्ण-निधिमान" (Gold Reserver Standard) के नाम से भी पुकारा जाता है। इसके द्वारा विनिमय-दरों में अल्पकालीन तथा अस्थायी परिवर्तनों को रोकने का प्रयास किया गया।

दोष—(i) विनिमय समानीकरण कोष की सफलता बहुत अंश तक उसके साधनों पर निर्भर करती है। यदि साधन सीमित है तो कोष विनिमय-दर को एक सीमा तक ही प्रभावित कर सकता है। अतः इसकी प्रभावशीलता के लिए इसमें (खातों में) अधिक मात्रा में विदेशी तथा देशी मुद्रा की आवश्यकता है।

(ii) चूँकि कोष का कार्य एक देश के नियन्त्रण में ही रहता है तथा वही देश विनिमय-दर निर्धारित करता है, अतः यह सम्भावना रहती है कि निर्धारित दर किसी अन्य देश के हित में न हो। ऐसी स्थिति में अन्य देश मौद्रिक संघर्ष उत्पन्न कर सकते हैं जिसके फलस्वरूप उन देशों की अर्थव्यवस्था में अधिक अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है।

(iii) इस प्रकार के कोषों की उपस्थिति में सटोरियों की गतिविधियाँ धीमी पड़ जाती हैं। क्योंकि सटोरियों की आशा के विपरीत कोष कार्य करना शुरू कर देता है। यदि सटोरिये मूल्य में वृद्धि की सम्भावना के कारण मुद्रा स्वर्ण देना चाहते हैं तो कोष अपने पास से मुद्रा बेचना शुरू कर देता है ताकि मुद्रा का मूल्य न बढ़ने पाए। इसके विपरीत, जब सटोरिये मुद्रा के मूल्य में कमी की सम्भावना के साथ मुद्रा बेचना शुरू कर देते हैं तो कोष मुद्रा को खरीदना आरम्भ कर देते है जिसके फलस्वरूप मुद्रा का मूल्य कम नहीं हो पाता।

(iv) इस प्रकार के कोष किसी विशेष मुद्रा की माँग एवं पूर्ति के सामयिक परिवर्तनों के कारण होने वाले अल्पकालीन उच्चावचनों को दूर कर सकते हैं। विनिमय-दर की स्थायी एवं दीर्घकालीन प्रवृत्तियों में हस्तक्षेप करना इसका उद्देश्य नहीं होता।

विनिमय-नियन्त्रण की परोक्ष विधियाँ
(Indirect Methods of Exchange Control)

विनिमय-नियन्त्रण हेतु कुछ ऐसी भी विधियाँ प्रयुक्त की जा सकती हैं जो विदेशी विनिमय की दर अथवा विदेशी विनिमय की माँग व पूर्ति को परोक्ष रूप से प्रभावित कर सकती है। परन्तु ये विधियाँ प्रत्यक्ष विधियों की तुलना में कम प्रभावी होती है। इन परोक्ष विधियों का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :

(1) ब्याज की दर में परिवर्तन (Changes in Interest Rates)—यदि किसी देश में ब्याज की दर में वृद्धि कर दी जाय तो वहाँ अन्य देशों से विनियोग की जाने वाली पूँजी के आगमन में वृद्धि होगी तथा इसके साथ ही देश की जनता को भी अधिक बचत द्वारा अपनी पूँजी का विनियोग देश में ही करने की प्रेरणा मिलेगी। इन प्रवृत्तियों के कारण घरेलू मुद्रा की माँग में वृद्धि होगी तथा इनकी विनिमय-दर में अनुकूल परिवर्तन होंगे। द्वितीय शब्दों में, ब्याज की दर में वृद्धि के फलस्वरूप देश की मुद्रा की माँग में वृद्धि होगी और इससे मुद्रा की विनिमय-दर में (विदेशी मुद्रा के रूप में) वृद्धि हो जायेगी। इस विधि का उपयोग जर्मनी ने 1924 व 1930 के मध्य किया था।

(2) आयात-कर (Import Duties)—विनिमय-नियन्त्रण की यह विधि अत्यधिक प्रचलित है। आयात-करों के अन्तर्गत आयात की जाने वाली वस्तुओं में अनिवार्य एवं गैर-अनिवार्य वस्तुओं के मध्य अन्तर स्पष्ट किया जाता है। आयात-करों का उपयोग या तो घरेलू उद्योगों को संरक्षण देने हेतु किया जाता है अथवा विनिमय-दरों को नियन्त्रित करने हेतु। साधारणतया अनिवार्य वस्तुओं पर आयात-करों की दरें नीची तथा गैर-अनिवार्य वस्तुओं पर आयात-करों की दरें ऊँची रखी जाती हैं।

(3) निर्यात-अनुदान एवं निर्यात-प्रोत्साहन (Export Bounties and Subsidies)—बहुधा निर्यातों को प्रोत्साहन देने हेतु सरकार विशिष्ट वस्तुओं पर विद्यमान निर्यात-करों में छूट दे सकती है। अनेक बार निर्यातों पर अनुदान द्वारा भी निर्यात में वृद्धि करने का प्रयास किया जाता है। निर्यात में वृद्धि होने पर देश की मुद्रा की माँग में भी अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में वृद्धि हो जाती है तथा विदेशी विनिमय-दर में भी अनुकूल परिवर्तन हो जाते हैं। यह विधि हाल ही के वर्षों में विकासशील देशों में अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुई है।

विनिमय-नियन्त्रण के लाभों का मूल्यांकन
[APPRAISAL OF THE MERITS OF EXCHANGE CONTROL]

जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि एक देश, सामान्यतया अनिवार्य परिस्थितियों में ही विनिमय-नियन्त्रण को अपनाता है। विनिमय-नियन्त्रण, एक तुलनात्मक निर्धन राष्ट्र की विश्व-अर्थव्यवस्था में होने वाले प्रबल उतार-चढ़ाव से रक्षा करता है। विशेष रूप से यह उन देशों की सहायता करता है जिनके पास स्वर्ण तथा विदेशी मुद्राओं का सुरक्षित कोष (Reserve fund)

अपर्याप्त मात्रा न है। तथापि विनिमय-नियन्त्रण इन देशों को प्राथमिकता के आधार पर विदेशों में निर्मित वस्तुओं के आयात करने की क्षमता उत्पन्न करता है तथा उनके भुगतान-सन्तुलन की स्थिति को सुधारने में उनकी सहायता करता है। इन सब कारणों से विनिमय-नियन्त्रण विश्व के अनेक देशों की राष्ट्रीय आर्थिक नीति का मुख्य भाग बन गया है।

किन्तु विनिमय-नियन्त्रण के ये लाभ इस मान्यता पर आधारित हैं कि एक देश इन सब विधियों (devices) का प्रयोग बिना किसी अन्य देशों के बदले की भावना के रूप में करेगा। यदि अनेक देश विनिमय नियन्त्रण की नीति को अपनाते हैं तो इसके बृहत से व्यष्टि स्तर के लाभ (micro-level benefits) *समाप्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त एक साथ विनिमय नियन्त्रण* विधियों को अपनाने म निम्नलिखित कुप्रभाव उत्पन्न हो सकते हैं

(1) आर्थिक राष्ट्रीयता का विकास (Development of Economic Nationalism)—अधिक-विकसित देशों द्वारा इस नीति के अपनाये जाने पर आर्थिक दृष्टि से पिछड़े राष्ट्रों की लागतों *पर लाभकारी प्रभाव होता है। सामान्यतया, विनिमय-नियन्त्रण की विधियाँ एक प्रभावी राष्ट्री*यता की भावना से युक्त होती हैं, परन्तु विभिन्न देशों के मध्य आर्थिक सहयोग तथा पारस्परिक सहायता की भावना के विपरीत होती हैं।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे कटौती (Contraction of International Trade)—*विभिन्न देशों द्वारा विनिमय-नियन्त्रण को एक साथ अपनाये जाने तथा उन सब के द्वारा अपने* आयातों को कम करने के प्रयास से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा म कमी हो जाती है। अत निर्यातों की आय म वृद्धि का उद्देश्य इन विभिन्न देशों के मध्य आपसी मतभेद की नीतियों द्वारा विफल हो जाता है।

(3) विनिमय-नियन्त्रण द्विपक्षी-समझौतों मे वृद्धि करता है (Exchange Control Encourages Bilateral Agreements)—अत वे लाभ समाप्त हो जाते हैं जिनको विभिन्न देश अन्यत्र बहुपक्षीय व्यापार तथा विभिन्न मुद्राओं के विनिमय द्वारा प्राप्त कर सकते थे।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे चुनाव के स्थान पर आवश्यक नियन्त्रण (Compulsion Replaces Choice in International Trade)—*एक स्वतन्त्र तथा प्रतियोगी विश्व बाजार में, प्रत्येक* देश वस्तुओं की प्रतियोगी कीमतों पर खरीदने एवं बेचने के योग्य होता है। विनिमय-नियन्त्रण इस स्वतन्त्र निर्णय करने की विधियों को समाप्त कर देता है तथा केवल दो समझौते वाले देशों के मध्य व्यापार को सम्भव बनाता है। पारस्परिक कीमत सहमति के फलस्वरूप उन देशों को प्रतियोगी कीमतों पर विभिन्न वस्तुओं का व्यापार नहीं करना पड़ता है। सामान्यतया इस प्रकार के समझौते इन देशों को प्रतियोगी (निम्नतम) कीमतों पर वस्तुएँ प्राप्त करने की अनुमति नहीं देते। इसके विपरीत, कीमतें समझौते पक्षों की लाभ प्राप्त करने की सापेक्ष शक्ति पर निर्भर करती हैं।

(5) विनिमय-नियन्त्रण सरकारी अधिकारियों को विस्तृत शक्ति प्रदान करते हैं (Exchange Control gives extensive powers to the government authorities)—विनिमय-नियन्त्रण की विधियों का सफल कार्यान्वयन अधिकांशत इन अधिकारियों की कुशलता पर निर्भर करता है। सामान्यतया ये विधियाँ इच्छित उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर पातीं क्योंकि सरकारी अधिकारी जो कि इन विभिन्न विनिमय-नियन्त्रण की विधियों को लागू करने के लिए उत्तरदायी होते हैं, नौकरशाही की तरह व्यवहार करते हैं। असावधान तथा अकुशल निर्णयों के कारण ही सदैव देश की अर्थव्यवस्था को हानि होने का डर बना रहता है।

(6) चूँकि विनिमय-नियन्त्रण की विधियाँ दुर्लभ विदेशी विनिमय को बचाने का प्रयास करती हैं तथा उसी समय देशी या आन्तरिक मुद्रा (Domestic currency) के मूल्य में वृद्धि रखने का प्रयास भी किया जाता है अत इस प्रकार की विधियाँ विदेशी विनिमय बाजार में भ्रष्टाचार तथा कालाबाजारी (black marketing) को प्रोत्साहित करती हैं। *ये विदेशी मुद्राओं की तस्करी* (unlawfully import or export) भी उत्पन्न करती हैं।

(7) विनिमय नियन्त्रण भुगतान-सन्तुलन के घाटे की समस्या का एक तुरन्त हल प्रस्तुत करता है। किन्तु इसका विदेशी व्यापार की मात्रा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने के कारण दीर्घकाल में यह एक *अधिक बड़ा सन्तुलन उत्पन्न करता है। विनिमय-नियन्त्रण* अपने इच्छित प्रभाव उन्हीं

देशों में उत्पन्न कर सकता है जिसके निर्यातों की माँग बेलोचदार हो तथा उसी समय वह एक अधिक माँग की लोच वाली वस्तुओं का आयात करता हो।

इन सीमाओं के होते हुए भी विनिमय-नियन्त्रण राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों का एक महत्वपूर्ण अंग बना हुआ है। वास्तव में, केवल एक देश द्वारा लागू की गयी विनिमय-नियन्त्रण की विधियों से उसके उद्देश्य की प्राप्ति में सफलता मिल सकेगी, यदि अन्य देश उसमें परिवर्तन नहीं अपनायें। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष अपने सदस्य देशों की विनिमय-नियन्त्रण विधियों का क्षेत्र कम करने का प्रयास करता है, परन्तु वर्तमान में विभिन्न देशों के मध्य मतभेद की स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष बहुत अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

भारत में विनिमय-नियन्त्रण
[EXCHANGE CONTROL IN INDIA]

द्वितीय विश्व-युद्ध के समय भारत में विनिमय-नियन्त्रण अपनाया गया। सितम्बर 1939 में, भारत के रिजर्व बैंक ने विदेशी मुद्राओं की खरीद तथा बिक्री पर लगाये गये नियन्त्रणों से सम्बन्धित एक सूचना जारी की। इसके अन्तर्गत विदेशी विनिमय का प्रयोग रिजर्व बैंक के विनिमय-नियन्त्रण विभाग (Exchange Control Department) की अनुमति पर ही किया जा सकता था। केवल कुछ विशेष उद्देश्यों तक ही विदेशी विनिमय का प्रयोग सीमित था। तत्पश्चात् सम्पूर्ण ब्रिटिश साम्राज्य एवं स्टर्लिंग-क्षेत्र में संगठित किया गया। स्टर्लिंग-क्षेत्र की विभिन्न मुद्राओं की खरीद तथा बिक्री एवं ब्रिटिश-कॉलोनियों के मध्य फण्ड के स्थानान्तरण को विनिमय-नियन्त्रण की विधियों के क्षेत्र से पृथक् रखा गया। पुन., पूँजी की काल्पनिक गति (*speculative flow*) अवरुद्ध करने हेतु स्टर्लिंग क्षेत्र से सम्बन्धित मुद्राओं की बिक्री तथा खरीद केवल अधिकार प्राप्त बैंकों द्वारा की जा सकती थी।

द्वितीय विश्व युद्ध के समय विदेशी विनिमय की वस्तुओं पर लगाये गये कठोर नियन्त्रण के परिणामस्वरूप 1945 तक भारत ने बड़ी मात्रा में स्टर्लिंग शेष जमा कर लिये थे। युद्ध के समय भारत के निर्यातों में आयातों की तुलना में अधिक तीव्र गति से वृद्धि हुई। परन्तु आयातों की लगातार माँग के कारण तथा युद्ध के पश्चात् निर्यात की निरन्तर कमी के भय के फलस्वरूप सरकार ने 1945 के पश्चात् भी अपनी विनिमय-नियन्त्रण की नीति को चालू रखा।

मार्च 1947 में, विदेशी विनिमय-नियन्त्रण कानून (Foreign Exchange Regulation Act) के अन्तर्गत, भारत के रिजर्व बैंक को विदेशी विनिमय के वितरण का पूर्ण तथा स्थायी अधिकार दे दिया गया। विनिमय-नियन्त्रण के क्षेत्र को व्यापक बनाया गया तथा जुलाई 1947 तक स्टर्लिंग-क्षेत्र की मुद्राओं को भी इसके अधिकार में ले लिया गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकार अपने आयातों पर कठोर नियन्त्रण बनाये हुए है, जबकि भारतीय निर्यात की वृद्धि के प्रत्येक सम्भव प्रयास किये गये हैं।

1947 के विदेशी विनिमय-नियन्त्रण कानून के अन्तर्गत भारत में विदेशी मुद्राओं की खरीद तथा बिक्री केवल अधिकार प्राप्त संस्थाओं तथा व्यापारिक बैंकों द्वारा ही की जा सकती है। किन्तु ये संस्थाएँ बैंक केवल उन भारतीय फर्मों तथा व्यक्तियों को विदेशी मुद्राएँ बेच सकती हैं जिन्होंने R. B. I. से इस प्रभाव के पश्चात् अनुमति-पत्र प्राप्त कर लिये हों, सामान्यतया, विदेशी विनिमय अनुमतियाँ (Permits) केवल विशेष उद्देश्यों तथा उन आयातकर्ताओं को जिनको आयात-लाइसेन्स प्राप्त हैं, के लिए ही जारी की जा सकती हैं।

समय-समय पर सरकार अपने गजट (Gazette) में भी विदेशी विनिमय-नियन्त्रणों में परिवर्तन को प्रकाशित करती रहती है। इसके साथ-साथ विदेशी विनिमय के वितरण की आधार नीति विदेशी विनिमय कानून, 1947 द्वारा लागू की जाती है।

भारत में विनिमय-नियन्त्रण के उद्देश्य
[OBJECTIVES OF EXCHANGE CONTROL IN INDIA]

भारत में विनिमय-नियन्त्रण के कुछ महत्वपूर्ण उद्देश्यों को निम्न प्रकार बताया जा सकता है :

(1) विकास योजनाओं के कार्यान्वयन के लिए आयातों में वृद्धि।

(2) विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय पर नियन्त्रण।
(3) पूँजी के बहिर्गमन पर रोक।
(4) विनिमय-दर में स्थिरता।
(5) विदेशी प्रतियोगिता की क्षमता में वृद्धि।

सन् 1949 के पश्चात् भारत की विनिमय-नियन्त्रण की नीति में पंचवर्षीय योजनाओं के उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए कुछ मूलभूत परिवर्तन किये गये। वर्तमान समय में पंचवर्षीय योजनाएँ देश के आर्थिक विकास का प्रमुख यन्त्र बन गयी है। योजनाओं की सफलता के लिए आवश्यक कच्चा माल, मशीनें एवं पूँजी पदार्थ आदि का आयात अनिवार्य हो गया। बढ़ते हुए आयातों को रोकने के लिए देश का तीव्र गति से आर्थिक विकास करना ही योजनाओं का प्रमुख उद्देश्य हो गया है। वास्तव में वर्तमान में व्यापार नीति विनिमय नियन्त्रण के पूरक के रूप में कार्य करती है। उदाहरण के लिए, यदि व्यापार नियन्त्रण अधिनियम के अन्तर्गत किसी वस्तु के आयात पर रोक नहीं है अथवा आयातकर्ता को आयात अनुज्ञापत्र प्रदान करके उस वस्तु को आयात करने की आज्ञा दे दी गयी है तो उस स्थिति में उस वस्तु के आयात के लिए आवश्यक विदेशी मुद्रा स्वयं प्राप्त हो जायेगी अर्थात् इस पर विनिमय-नियन्त्रण प्रतिबन्ध लागू नहीं होगा।

योजनाओं में अधिक व्यय के कारण हमारा भुगतान शेष का घाटा प्रति वर्ष बढ़ता ही जा रहा है अतः देश की आर्थिक उन्नति के लिए विनिमय-नियन्त्रण आवश्यक हो गया है।

भारतीय रुपये की आधार विनिमय-दरें अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा निश्चित की जाती हैं, परन्तु बाजार दरों में कुछ विशेष सीमाओं तक ही कमी अथवा वृद्धि की जा सकती है। दीर्घकाल तक भारतीय रुपये का सम्बन्ध पौण्ड स्टर्लिंग से बना रहा। किन्तु 1971 से पौण्ड की जर्मनी के मार्क तथा अमरीका के डालर से 29 प्रतिशत वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप भारतीय सरकार ने सितम्बर 1975 में रुपये का ब्रिटिश पौण्ड से सम्बन्ध विच्छेद कर दिया। रुपये-पौण्ड की विनिमय-दर एक पौण्ड = 18.60 रुपये से परिवर्तित होकर 18.3084 रुपये हो गयी जो 1.575 प्रतिशत वृद्धि को प्रदर्शित करती है। इसी समय सरकार ने अपने भारतीय रुपये की विनिमय दर को भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राओं के रूप में व्यक्त करने का निश्चय किया।[1]

निष्कर्ष—हम यह जानते हैं कि तटकर (tariff) एवं कोटा (quota) के माध्यम से प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन की समस्या को काफी प्रभावपूर्ण ढंग से हल किया जा सकता है। इतने पर भी बहुधा विनिमय-नियन्त्रण की विधि का आश्रय लिया जाता है क्योंकि तटकरों के लिए तो संसद की स्वीकृति लेनी आवश्यक होती है, जबकि विनिमय-नियन्त्रण हेतु इस औपचारिकता को निभाना आवश्यक नहीं होता। फिर, परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार विनिमय-नियन्त्रण के स्वरूप में भी परिवर्तन किया जा सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि विभेदात्मक नीति (discriminatory policy) के एक उपकरण के रूप में तटकर की अपेक्षा विनिमय-नियन्त्रण अधिक प्रभावी होता है। तट-करों के माध्यम से विभिन्न प्रकार की वस्तुओं एवं उनके उद्गम स्थलों (देशों) के मध्य ही विभेदात्मक नीति लागू की जा सकती है। विनिमय-नियन्त्रण का क्षेत्र तट-करों व कोटा-व्यवस्था की अपेक्षा अधिक व्यापक होता है।

यद्यपि विनिमय-नियन्त्रण प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन से देश को बचाने का एक साधन है, तथापि विश्व के बाजारों पर प्रतिकूल प्रभाव डालने के कारण विनिमय नियन्त्रण से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सकुचन होने की आशंका हमेशा बनी रहती है। विश्व के साधनों (विशेष रूप से विनियोग योग्य पूंजी) के उपयोग द्वारा विकासशील देशों का नियोजित आर्थिक विकास तभी हो सकता है जब इन साधनों के आवागमन पर कोई हस्तक्षेप न हो। परन्तु विनिमय नियन्त्रण पूंजी के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह में बाधा उपस्थित करता है और फलस्वरूप विकासशील देशों को उपलब्ध होने वाली पूंजी की मात्रा पर भी प्रतिकूल प्रभाव होता है।

---

1 These currencies belong to India's trade partners and contain mainly the pounds and dollars, D mark, Yen, etc.

प्रश्न एवं उनके संकेत

1. विनिमय-नियन्त्रण के प्रमुख उद्देश्य क्या हैं ? विनिमय-नियन्त्रण की विधियों का वर्णन कीजिए।

   What are the principal objects of exchange control ? Describe the methods of exchange control

   [संकेत—इस प्रश्न के उत्तर हेतु सर्वप्रथम विनिमय-नियन्त्रण की संक्षिप्त परिभाषा देनी चाहिए। इसके बाद विद्यार्थियों से यह अपेक्षा की गयी है कि वे अपने उत्तर को दो भागों में विभक्त करेंगे। प्रथम भाग में विनिमय-नियन्त्रण के प्रमुख उद्देश्यों की व्याख्या करनी चाहिए। उत्तर के द्वितीय भाग में विनिमय-नियन्त्रण की प्रत्यक्ष एवं परोक्ष विधियों का वर्णन किया जाना चाहिए। अच्छे अंकों की प्राप्ति हेतु उपर्युक्त अध्याय में प्रस्तुत चार्ट एवं रेखाचित्र भी दिये जा सकते हैं।]

2. विनिमय-नियन्त्रण से आप क्या समझते हैं ? विनिमय-नियन्त्रण हेतु कौन-कौन सी विधियाँ अपनायी जा सकती हैं ?

   What do you mean by exchange control ? Describe the measures which can be adopted for achieving control ?

   [संकेत—प्रथम प्रश्न की भाँति इस प्रश्न के उत्तर हेतु भी विनिमय-नियन्त्रण का अर्थ बताया जाना चाहिए। परन्तु प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर में विनिमय-नियन्त्रण का अर्थ कुछ अधिक विस्तार से स्पष्ट करना होगा। उत्तर के द्वितीय भाग में विनिमय-नियन्त्रण की प्रत्यक्ष एवं परोक्ष विधियों की आलोचनात्मक समीक्षा उपयुक्त रेखाचित्र व चार्ट की सहायता से की जानी चाहिए।]

3. विनिमय-प्रबन्ध एवं विनिमय-नियन्त्रण का अन्तर बताइए। विश्व-युद्ध के दौरान तथा युद्धोपरान्त-काल में विश्व के अधिकांश देशों ने विनिमय-नियन्त्रण की विधियों का उपयोग क्यों किया था ?

   Distinguish between exchange management and exchange control Why did most countries of the world adopt exchange control methods during and after the world war ?

   [संकेत—पहले संक्षेप में विनिमय-प्रबन्ध एवं विनिमय-नियन्त्रण का अर्थ बताते हुए इनका अन्तर बताइए। फिर विनिमय-नियन्त्रण के उद्देश्यों का विवरण देते हुए बताइए कि विनिमय-नियन्त्रण की विधियों द्वारा विश्व के देश विश्व-युद्ध तथा उसके बाद की अवधि में किन उद्देश्यों की सिद्धि चाहते थे। उपर्युक्त अध्याय में उन सब विधियों का उल्लेख संक्षेप में किया गया है जिनका उपयोग यूरोप के देशों ने वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु समय-समय पर किया।]

4. विनिमय-नियन्त्रण की परोक्ष विधियों का विवरण देते हुए बताइए कि ये किस सीमा तक प्रभावकारी हो सकती हैं ?

   Describe the indirect methods of exchange control and show how far are they effective ?

   [संकेत—सर्वप्रथम विनिमय-नियन्त्रण की प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों विधियों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए। फिर कुछ विस्तारपूर्वक बताइए कि विनिमय-नियन्त्रण की परोक्ष विधियाँ कौन-सी हैं। यह बताना भी उपयुक्त होगा कि विनिमय-नियन्त्रण की परोक्ष विधियाँ विदेशी विनिमय की माँग तथा/अथवा पूर्ति को तथा तदनुसार विनिमय-दर को भी परोक्ष रूप से ही प्रभावित करती हैं तथा इस कारण से प्रत्यक्ष विधियों की भाँति भुगतान-सन्तुलन एवं विनिमय-दर को तत्काल प्रभावित नहीं कर सकतीं।]

5. विनिमय-नियन्त्रण के प्रमुख उद्देश्य क्या हैं ? भारत में पंचवर्षीय योजना की कार्यान्विति हेतु किस प्रकार का विनिमय-नियन्त्रण लागू किया गया है आलोचनात्मक समीक्षा के साथ बताइए।

What are the main objectives of exchange control ? Discuss the nature of exchange control instituted in India for the implementation of her five year plans. Examine it critically

[संकेत—विनिमय-नियन्त्रण के उद्देश्य संक्षेप में बताने के पश्चात् बताइए कि भारत में विनिमय-नियन्त्रण की प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों ही विधियाँ प्रयुक्त की गयी हैं। परन्तु युद्धकाल व उसके पश्चात यूरोप में जिन प्रत्यक्ष विधियों का उपयोग किया गया था, आज उनकी अपेक्षा केवल सरकारी हस्तक्षेप और वह भी विनिमय-दर को ऊँचा रखने का औचित्य स्वीकार किया जाता है। परोक्ष विधियों में भी आयात-कर तथा निर्यात-अनुदान व प्रोत्साहन का अपेक्षाकृत अधिक प्रचलन है। परन्तु जैसा कि प्रस्तुत अध्याय में रेखाचित्र की सहायता से स्पष्ट किया गया है विनिमय-दर को आवश्यक रूप से ऊँचा रखने के फलस्वरूप डालर की खरीद काले बाजार में करना अनिवार्य-सा हो गया है। निर्यात अनुदान व प्रोत्साहन की नीति से देश को अधिक लाभ इन कारणों से नहीं हो पा रहा है—(i) अनुदान के बावजूद हमारी वस्तुओं के मूल्य विश्व के बाजारों में स्पर्धाशील नहीं हैं, (ii) विकसित देशों ने विकासशील देशों के आयात पर भारी तट कर लगाये हुए हैं तथा (iii) विकासशील देशों में उन्हीं वस्तुओं का निर्यात करने हेतु आवश्यक होड़ लगी हुई है। यह भी बतायें कि विनिमय-नियन्त्रण का अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी-प्रवाह पर किस प्रकार का प्रभाव होता है तथा उससे भारत कहाँ तक प्रभावित हुआ है।]

6 संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :

(i) अवरुद्ध खाते, (ii) विनिमय समाशोधन समझौते, (iii) विविध विनिमय-दरें, तथा (iv) विनिमय-समानीकरण खाते।

Write short notes on—(i) Blocked Accounts, (ii) Exchange Clearing Agreements, (iii) Multiple Exchange Rates, and (iv) Exchange Equalisation Accounts (EEA).

11

भुगतान-सन्तुलन
[THE BALANCE OF PAYMENTS]

किसी भी देश के लोगों के अन्य दूसरे देश के नागरिकों के साथ निर्दिष्ट अवधि में हुए सभी आर्थिक सौदों के लेखे-जोखे को भुगतान-सन्तुलन (Balance of Payments) कहा जाता है। इनमें वस्तुओं के आयात व निर्यात के अतिरिक्त निम्न अन्य मदें भी सम्मिलित की जाती हैं : पूँजी का आदान-प्रदान, ब्याज का भुगतान या प्राप्ति, जहाजरानी सेवाएँ, पर्यटक सेवाएँ तथा विशेषज्ञों का आवागमन, आदि। किसी भी देश की आर्थिक नीतियों के निर्धारण में इस लेखे-जोखे की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

भुगतान-सन्तुलन का अर्थ
[MEANING OF BALANCE OF PAYMENTS]

प्रो. बेन्हम के *अनुसार, "एक देश का व्यापार-सन्तुलन वह सम्बन्ध है जो एक निश्चित* अवधि के अन्तर्गत उसके आयातों तथा निर्यातों के मूल्य के बीच होता है, जबकि एक देश का भुगतान-सन्तुलन एक निश्चित अवधि के अन्तर्गत उसके बाकी विश्व के साथ मौद्रिक सौदों का लेखा होता है।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) के अनुसार "एक दी गयी समयावधि के भुगतान-सन्तुलन को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है   यह उस निश्चित अवधि में सम्बन्धित देशों के नागरिकों के बीच समस्त आर्थिक लेन-देन का क्रमबद्ध विवरण (लेखा) है।"[2]

अमरीका के वाणिज्य विभाग (Commercial Department of America) के अनुसार, "किसी देश का भुगतान-सन्तुलन उस देश तथा अन्य देशों के नागरिकों के बीच एक निश्चित समयावधि में किये गये भुगतानों का क्रमबद्ध विवरण है। साम्यिकीय रूप में यह एक तरफ विदेशियों से प्राप्तियों (receipts) तथा दूसरी तरफ विदेशियों को भुगतानों (payments) का मदों (items) के अनुसार लेखा-जोखा है।"[3]

किण्डलबर्जर के अनुसार, "किसी देश का भुगतान-सन्तुलन उस देश के नागरिकों तथा *विदेशी देश के निवासियों के मध्य समयावधि में होने वाले समस्त आर्थिक लेन-देन का क्रमबद्ध* ब्यौरा है।"[4]

प्रो. वाल्टर क्रौस (Walter Krause) के अनुसार, "किसी देश का भुगतान-सन्तुलन उस देश के निवासियों एवं शेष विश्व के निवासियों के मध्य एक दी हुई अवधि (सामान्यतया एक वर्ष)

---

1 "Balance of Trade of a country is the relation, over a period, between the value of her exports and the value of her imports, while Balance of Payment of a country is a record of its monetary transactions over a period, with the rest of the world." —Benham, *Economics*, pp. 494-495.

2 International Monetary Fund, *Balance of Payments Manual*, January 1950, p. 1.

3 U S Department of Commerce, *The Balance of Payments of United States*, 1937, p. 1.

4 C. P. Kindleberger, *International Economics*, p 17.

में पूर्ण किये गये समस्त आर्थिक लेन-देन का एक व्यवस्थित विवरण अथवा लेखा है।"[1] इस परिभाषा से स्पष्ट है कि भुगतान-सन्तुलन में किसी देश के आयात-निर्यात एवं अन्य सभी आदान-प्रदान सम्मिलित किये जाते हैं जो उस देश के व्यक्तियों, संस्थाओं निगमों अथवा सरकार के द्वारा अन्य देश के व्यक्तियों, संस्थाओं या सरकारों के साथ सम्पन्न किये जाते हैं।

प्रो जेम्स इंग्राम (James Ingram) के अनुसार, "भुगतान शेष एक देश के उन सभी आर्थिक लेन-देनों का संक्षिप्त विवरण है जो उसके तथा शेष विश्व के निवासियों के मध्य एक दिये हुए समय में किये जाते हैं।"

प्रो. स्नाइडर (Snyder) के अनुसार "किसी एक देश के एवं शेष विश्व के निवासियों, व्यापारियों, सरकार एवं अन्य संस्थाओं के बीच दिये हुए समय की अवधि में किये गये समस्त विनियोग, वस्तुओं के हस्तान्तरण एवं सेवाओं के मौद्रिक मूल्य और ऋण या स्वामित्व के उचित वर्गीकरण के विवरण को भुगतान सन्तुलन कहकर परिभाषित किया जा सकता है।"

प्रो. हैबरलर (Haberler) के अनुसार "'भुगतान-सन्तुलन' शब्द का प्रयोग (विदेशी चलन) की सम्पूर्ण माँग एवं पूर्ति की परिस्थितियों से है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विवेचन में इसी अर्थ में भुगतान-सन्तुलन का प्राय प्रयोग किया जाता है।"

यह ध्यान देने की बात है कि भुगतान-सन्तुलन में केवल आर्थिक सौदे (economic transactions) ही सम्मिलित किये जाते हैं जिनके अन्तर्गत एक देश को दूसरे देश से या तो भुगतान प्राप्त करना होता है अथवा दूसरे देश को भुगतान चुकाने की बात होती है। साधारणतया वस्तुओं व सेवाओं के आदान-प्रदान से ही इन भुगतानों का सम्बन्ध होता है, परन्तु कभी-कभी वस्तुओं का स्थानान्तरण भुगतान की अपेक्षा किये बिना भी (उपहार के रूप में) एक देश से दूसरे देश को दिया जाता है। इसके मूल्य को भी भुगतान-सन्तुलन के लेखे-जोखे में सम्मिलित किया जाता है। जिस देश में भुगतान किया जा रहा है उसके लिए सम्पूर्ण मदें देय रूप में (liabilities) सम्मिलित की जाती हैं, जबकि प्राप्य भुगतान, चाहे वह निर्यात के बदले प्राप्त होते हैं अथवा उधार ली जाने वाली पूँजी के रूप में या सहायता के रूप में, अथवा प्राप्तियों के रूप में स्वीकृत किये जाते हैं। यह सब विस्तार से समझने के लिए हमें भुगतान-सन्तुलन लेखाविधि (Balance of Payment Accounting) का ज्ञान होना चाहिए।

भुगतान-सन्तुलन लेखाविधि स्टैण्डर्ड बहीखाता प्रणाली पर आधारित है जिसके अनुसार प्रत्येक सौदे की दुहरी प्रविष्टि (double entry) की जाती है एवं अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान से सम्बद्ध प्रत्येक सौदे को जमा (credit) एवं देय (debit) दोनों ओर लिखा जाता है। देय एवं जमा की प्रत्येक राशि समान होनी चाहिए। उदाहरण के लिए, एक भारतीय 1,000 डालर का सामान किसी अमरीकी फर्म को बेचता है तो दोनों ही देशों के भुगतान-सन्तुलन लेखों में इस सौदे की प्रविष्टि लिखी जायगी। वस्तुओं के निर्यात की इस राशि को भारत में जमा के रूप में तथा अमरीका में देय के रूप में लिखा जायगा। इसका कारण यह है कि भारत को निर्यात के बदले जितनी राशि प्राप्त करनी है, अमरीका को आयात के बदले उतनी ही राशि चुकानी है।

इसके साथ ही दोनों देशों में इस सौदे की दो प्रविष्टियाँ और भी होंगी। वस्तु का निर्यात भारत में पूँजी का बहिर्गमन माना जायगा और इसलिए यहाँ इसे देय-प्रविष्टि के रूप में भी लिखा जायगा। इसके विपरीत, चूँकि इसका भुगतान अमरीका से प्राप्त होना है उस सीमा तक भारत की जमा राशि में भी वृद्धि हो जायगी। दूसरी ओर, अमरीका भारत से 1,000 डालर के मूल्य का सामान प्राप्त कर रहा है, अत वह इतनी राशि को देय के रूप में लिखेगा। परन्तु यह सौदा अमरीका के लिए पूँजी की प्राप्ति के रूप में भी है, उस सीमा तक पूँजी के रूप में इसे जमा भी किया जायगा।

परन्तु सुविधा के लिए हम आयात व निर्यात को केवल प्रत्यक्ष रूप में ही भुगतान-सन्तुलन

---

1 "The balance of payment of a country is a systematic record of all economic transactions and completed balance of its residents and residents of the rest of the world during a given period of time, usually a year."

Krause, *The International Economy*, p. 43

लेखा में प्रविष्टि करते हैं। इस दृष्टि से वस्तुओं के निर्यात को जमा के रूप में स्वीकार किया जाता है तथा इसकी दुहरी प्रविष्टि हेतु इसे पूँजी के बहिर्गमन के रूप में मान लेते हैं। दूसरी ओर वस्तुओं के आयात को देय के रूप में तथा पूँजी की प्राप्ति के रूप में प्रविष्ट कर लिया जाता है। नीचे दिये गये उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा कि भारत द्वारा 1,000 डालर के मूल्य की वस्तुएँ निर्यात करने पर भारत व अमरीका में इस सौदे की भुगतान-सन्तुलन लेखे में प्रविष्टियाँ किस प्रकार होंगी :

भारत का भुगतान-सन्तुलन लेखा-जोखा

	जमा	देय
निर्यात	$ 1,000	—
पूँजी का बहिर्गमन	—	$ 1,000

अमरीका का भुगतान-सन्तुलन लेखा-जोखा

	जमा	देय
आयात	—	$ 1,000
पूँजी की प्राप्ति	$ 1,000	—

इस प्रकार प्रत्येक सौदे से उत्पन्न जमा व देय की राशियाँ समान होनी आवश्यक हैं। इसका कारण यह है कि *आयात व निर्यात से सम्बद्ध प्रत्येक सौदे की दोनों ही देशों में दुहरी प्रविष्टियाँ की जाती हैं।* व्यापार में यह भी सम्भव है कि हम केवल सौदों के भौतिक पक्ष (निर्यात व आयात) को देखकर ही किसी देश के भुगतान-सन्तुलन की स्थिति को जान लें।

परन्तु, कुछ सौदे उपर्युक्त रूप में नहीं किये जाते। उदाहरणार्थ, भारत का एक नागरिक विदेश में रहने वाले किसी सम्बन्धी को उपहार में कुछ राशि (डालर) भेजना चाहता है। ऐसी स्थिति में यह राशि प्राप्तकर्ता देश के लिए एक जमा (credit) की मद होगी। चूँकि उस देश को इस राशि का पुनः भुगतान करने की आवश्यकता नहीं है, अतएव यहाँ इसे जमा के रूप में न लिखकर केवल पूँजी के बहिर्गमन के रूप में लिखा जायगा। फिर भी दुहरी प्रविष्टि की औपचारिकता को पूर्ण करने हेतु ऐसे सौदों की प्रतिरूपी राशि "भेंट" (donation) के रूप में लिखी जाती है, *जिससे जमा व देय की राशि में सन्तुलन हो जाय।*

भुगतान-सन्तुलन तथा व्यापार-सन्तुलन में अन्तर
[DIFFERENCE BETWEEN BALANCE OF PAYMENTS AND BALANCE OF TRADE]

प्रायः भुगतान-सन्तुलन एवं व्यापार-सन्तुलन को एक ही अर्थ में प्रयोग किया जाता है, किन्तु वास्तव में इनका अलग-अलग अर्थ होता है। व्यापार-शेष, भुगतान-शेष का ही एक अंग होता है। व्यापार-शेष में हम एक देश के अन्य देशों के साथ आयातों एवं निर्यातों को ही सम्मिलित करते हैं, जबकि भुगतान-शेष के अन्तर्गत आयात-निर्यात के अतिरिक्त अदृश्य मदों के आदान-प्रदान को भी सम्मिलित किया जाता है। जब हम अनुकूल या प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन की बात करते हैं तो हमारा आशय व्यापार-शेष से होता है न कि भुगतान-शेष से। जब एक देश के आयातों की तुलना में *निर्यात अधिक होते हैं तो उसे अनुकूल व्यापार-सन्तुलन कहा जाता है।* इसके विपरीत, जब निर्यातों की तुलना में आयात अधिक होते हैं तो उसे प्रतिकूल व्यापार-सन्तुलन कहा जाता है।

किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि एक देश के अन्य देशों के साथ वस्तुओं के ही आयात-निर्यात नहीं किये जाते बल्कि वस्तुओं के अतिरिक्त सेवाओं, पूँजी, स्वर्ण आदि का आयात-निर्यात भी किया जाता है। जब केवल वस्तुओं का ही आयात-निर्यात हो तो उसे दृश्य (visible) आयात-निर्यात कहते हैं तथा जब सेवाओं का आयात-निर्यात हो तो उसे अदृश्य (invisible) आयात-निर्यात कहते हैं। अदृश्य मदों का अर्थ उन सेवाओं से है जिनके लिए यद्यपि देशों द्वारा आपस में भुगतान लिया एवं दिया जाता है किन्तु बन्दरगाहों पर उनका कोई लेखा नहीं होता। यही कारण है कि इन्हें अदृश्य मदों में सम्मिलित किया जाता है। दृश्य मदों के अन्तर्गत वस्तुओं के आयात-निर्यात के मूल्यों को ही सम्मिलित किया जाता है। व्यापार-सन्तुलन का सम्बन्ध दृश्य मदों से होता है जबकि भुगतान-सन्तुलन में दृश्य मदों के साथ-साथ अदृश्य मदों को भी सम्मिलित किया जाता

है। चूंकि भुगतान-सन्तुलन में समस्त दृश्य एवं अदृश्य मदों को सम्मिलित किया जाता है, इसीलिए यह सदैव सन्तुलित होता है जबकि व्यापार-सन्तुलन का सदैव सन्तुलित होना आवश्यक नहीं होता।

क्या भुगतान सन्तुलन सदैव सन्तुलित होता है ?—उपर्युक्त दुहरी प्रविष्टियों पर आधारित भुगतान-सन्तुलन लेखे को देखकर यह धारणा होना स्वाभाविक है कि भुगतान-सन्तुलन लेखे में जमा व देय दोनों में पूर्ण सन्तुलन रहने के कारण भुगतान-सन्तुलन सदैव सन्तुलित रहता है। परन्तु यदि विदेशी व्यापार या पूंजी के स्थानान्तरण से सम्बद्ध सौदों को एकल प्रविष्टियों (single entry) के आधार पर लेखाबद्ध किया जाय तो देय व जमा की राशियों में अन्तर हो सकता है। निर्यात की राशि आयातों की राशि से अधिक हो तो जमा (credit) का पक्ष अधिक होगा जबकि आयात का मूल्य निर्यात से अधिक होने पर देय (debit) पक्ष अधिक हो जायगा। इसी प्रकार, प्राप्त पूंजी (receipts) की राशि देय राशि (payments) से अधिक या कम हो तो भुगतान सन्तुलन पर भी अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव हो जायगा। परन्तु ऐसा तभी किया जा सकता है जबकि भुगतान-सन्तुलन के लेखे में एकल प्रविष्टि विधि अपनायी जाय।

दुहरी प्रविष्टि प्रणाली का उपयोग करने पर भी यह समझ लेना एक भूल होगी कि किसी देश के समक्ष भुगतान-सन्तुलन की कठिनाइयाँ उपस्थित ही नहीं होगी क्योंकि भुगतान-सन्तुलन लेखे में देय एवं जमा के पक्ष समान हैं। इसे स्पष्ट समझने के लिए हमें देश के भुगतान-सन्तुलन से सम्बद्ध चालू तथा पूंजी खातों का विस्तृत विश्लेषण करना होगा। भुगतान-सन्तुलन का चालू खाता सन्तुलित हो इसके लिए यह आवश्यक होगा कि जितनी राशि का असन्तुलन इसमें है उतनी ही राशि की प्रतिलोमी (offsetting) प्रविष्टि पूंजी खाते में रखी जाय। परन्तु आधारभूत या सकल भुगतान-सन्तुलन (चालू खाता एवं पूंजी खाता का योग) सदैव सन्तुलित रहता है। यहाँ इतना बता देना उपयुक्त होगा कि चालू खाते में वस्तुओं एवं सेवाओं के आदान प्रदान से सम्बद्ध जमा व देय राशियाँ लिखी जाती हैं जबकि पूंजी खाते में पूंजी का स्थानान्तरण एवं ब्याज सम्बन्धी प्रविष्टियाँ की जाती हैं।

जब हम किसी देश के अनुकूल या प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन की बात करते हैं तो हमारा प्रयोजन चालू खाते या पूंजी खाते में किसी एक के असन्तुलन से होता है, न कि सभी खातों से। कुछ भी हो, दीर्घकाल में प्रत्येक खाता भी सन्तुलित होना चाहिए अन्यथा वह देश आर्थिक कठिनाइयों का शिकार हो सकता है।

भुगतान-सन्तुलन की संरचना
[COMPOSITION OF BALANCE OF PAYMENTS]

चालू खाता (Current Account)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I M F) द्वारा प्रकाशित सूची के अनुसार चालू खाते में देय पक्ष में वस्तुओं के आयात, विदेशी यात्रा व्यय परिवहन व बीमा सम्बन्धी देय भुगतान, विदेशी कम्पनियों की नियोजित पूंजी पर अर्जित लाभ, विशेषज्ञों को देय राशि आदि को सम्मिलित किया जाता है। इसके विपरीत, चालू खाते में जमा पक्ष के अन्तर्गत निर्यात, विदेशी पर्यटकों द्वारा देश में किया गया व्यय, परिवहन व बीमा के प्राप्य भुगतान, विदेशों में लगी पूंजी पर प्राप्य लाभ तथा विशेषज्ञों की प्राप्य राशि सम्मिलित करते हैं। मुख्य रूप से चालू खातों में प्रविष्ट मदें तीन प्रकार की होती हैं

(1) वस्तुएँ (आयात व निर्यात),

(2) सेवाएँ, तथा

(3) उपहार या भेंट।

वस्तुओं के खाते में हमारे द्वारा आयातित और निर्यातित सामान जैसे निर्मित या अर्द्ध-निर्मित वस्तुएँ, कच्चा माल खाद्यान्न आदि को सम्मिलित किया जाता है। सेवाओं के खाते में हमारे विशेषज्ञों द्वारा देशों को अर्पित सेवाएँ (जमा) अथवा विदेशी विशेषज्ञों द्वारा हमारे देश को अर्पित सेवाएँ (देय) तथा परिवहन, बीमा, बैंकिंग, पर्यटन, यात्रा, रॉयल्टी टेलीफोन आदि से सम्बद्ध प्राप्य या देय भुगतानों का समावेश किया जाता है। उपहार खाते में अन्य देशों से प्राप्त अथवा उन्हें दिये गये अनुदान तथा उपहारों को सम्मिलित किया जाता है।

चालू खाते की तीनों मदों में वस्तुओं का आयात व निर्यात अथवा दृश्य-व्यापार (visible trade) सदैव सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है। इसमें जमा व देय का अन्तर *व्यापार-सन्तुलन* (Balance of Trade) के नाम से जाना जाता है। गणितीय रूप में—

$$\text{व्यापार-सन्तुलन} = X - M$$

इसमें X निर्यात तथा M आयात की राशि का बोध कराते हैं। यदि $X > M$ की स्थिति हो तो इसका अर्थ यह होगा कि व्यापार-सन्तुलन अनुकूल है। इसके विपरीत, व्यापार-सन्तुलन प्रतिकूल या विपक्ष में होने पर आयात निर्यात से अधिक ($M > X$) होंगे।

यह ध्यान रहना चाहिए कि आयात एवं निर्यात का मूल्यांकन सदैव एक ही आधार पर किया जाय। कुछ समय पूर्व तक निर्यात का मूल्यांकन बन्दरगाह पर स्थित (f. o b) मूल्य के आधार पर किया जाता था जबकि आयात के मूल्यांकन हेतु वस्तुओं के मूल्य के अतिरिक्त बीमा व जहाज-भाड़ा (c i. f) भी सम्मिलित किये जाते थे। इस प्रकार आयात व निर्यात के मूल्यांकन के आधार पृथक्-पृथक् होने के कारण निर्यातों का मूल्य कम व आयात का मूल्य अधिक लिया जाता था।

परन्तु अब अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा स्वीकृत प्रणाली के आधार पर निर्यात व आयात दोनों ही का मूल्यांकन बन्दरगाहों पर (f. o B) ही कर लिया जाता है। परिवहन सम्बन्धी व्यय को पृथक् से सेवाओं के खाते में लिखा जाता है। परन्तु इस सब के होते हुए चालू खाता देश की भुगतान-सन्तुलन की स्थिति को स्पष्ट नहीं कर पाता। इसके लिए यह आवश्यक है कि पूंजी खाते का सन्तुलन भी देखा जाय।

पूंजी-खाता (*Capital Account*)

पूंजी खाते में उन मदों को सम्मिलित किया जाता है जिनके द्वारा चालू खाते में प्रविष्ट भुगतान सम्भव होते हैं। दूसरे शब्दों में, आयात-निर्यात व सेवाओं के बदले प्राप्य एवं देय भुगतानों को सम्भव बनाने वाली मदें यहाँ लिखी जाती हैं। पूंजी खाते में चार प्रकार की प्रविष्टियाँ की जाती हैं :

(i) प्राइवेट खातों का शेष-भुगतान,

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से सम्बद्ध भुगतान एवं प्राप्तियाँ,

(iii) स्वर्ण का हस्तान्तरण, एवं

(iv) सरकारी खातों का शेष-भुगतान।

निजी (private) पूंजीगत भुगतान व्यक्तियों, संस्थाओं या व्यापारी बैंकों से सम्बद्ध हो सकते हैं। निजी खातों को फिर दो भागों में विभाजित किया जाता है : (i) अल्पकालीन निजी पूंजीगत भुगतान, तथा (ii) दीर्घकालीन निजी पूंजीगत भुगतान। अल्पकालीन पूंजी हस्तान्तरण तब होते हैं जब अल्पकालीन देय (short-term liabilities) में परिवर्तन हों। दूसरी ओर प्रत्यक्ष विनियोग (उद्योग व व्यापार में) या वित्तीय पावनों में (परोक्ष) विनियोग अथवा स्थगित भुगतानों (deferred payments) के कारण दीर्घकालीन पूंजीगत हस्तान्तरण होते हैं।

इसी प्रकार, *अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष* (I.M.F), अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (I F C.), अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (I D A), विश्व बैंक (I B R D.) तथा एशिया विकास बैंक (A D B) आदि भी अल्पकालीन व दीर्घकालीन पूंजी देकर विभिन्न देशों की सहायता करती हैं। इन्हें भी पूंजी खाते में जमा के पक्ष में लिखा जाता है। इसके विपरीत, इन्हें भुगतान की गयी राशि देय पक्ष में लिखी जायगी। जैसा कि ऊपर बताया गया है, स्वर्ण का स्थानान्तरण भी पूंजी खाते में ही सम्मिलित किया जाता है। *सरकारी खातों में शेष-भुगतानों में सरकार द्वारा प्राप्य या देय पूंजीगत राशियाँ* (ऋण, ब्याज आदि) तथा अनुदान को सम्मिलित किया जाता है।

इस प्रकार पूंजी खाते द्वारा देश के नागरिकों की अन्य देशों के नागरिकों से प्राप्त राशि में अथवा अन्य देशों के नागरिकों को देय राशि में होने वाले परिवर्तनों का बोध होता है। विदेशी खाते में 20 करोड़ डालर की वृद्धि का अर्थ यह होगा कि "अ" देश के विदेशी (तरल) पावने में इतनी राशि की वृद्धि हो गयी है। इसके विपरीत, विदेशों को देयराशि में 10 करोड़ डालर

की कमी का अर्थ यह होगा कि विदेशियों को देय अल्पकालीन राशि में कमी हो गयी है। ये सभी देश की पूँजीगत स्थिति में परिवर्तन के प्रतीक है तथा पूंजी खाते का एक अंग है।

इनके अतिरिक्त पूंजी-खाते में देश के प्रवासी नागरिको द्वारा प्रदत्त अल्पकालीन जमाओ को भी शामिल किया जाता है। उदाहरण के तौर पर, यदि प्रवासी भारतीय यहाँ कुछ समय के लिए अपनी बचत को जमा करते हैं तो भारत का पूँजी खाते में अनुकूल परिवर्तन होगा। इसके विपरीत जब इन जमाओ पर ब्याज दिया जाता है या इन्हे प्रवासी भारतीय वापस लेते हैं तो उतनी राशि से भुगतान-सन्तुलन विपक्ष में हो जाएगा।

किस देश के निर्यात एवं आयात का अन्तर अर्थात् व्यापार-सन्तुलन भी देश के अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग को दर्शाता है। इस प्रकार $S = I_d + I_f$ (कुल बचत = देश के लोगो द्वारा किया गया विनिमय + विदेशियो द्वारा किया गया विनियोग) अथवा $S - I_d = X - M$ जिसका अर्थ यह है कि कुल बचत एवं विनियोग का अन्तर व्यापार-सन्तुलन के समान है। यदि विदेशी व्यापार में देश की स्थिति अनुकूल है ($X > M$) तो निर्यात का आयात से आधिक्य अल्पकालीन विदेशी प्रतिभूतियो अथवा अन्य पावनो को खरीदने में प्रयुक्त किया जायगा। मान लीजिए, देश का व्यापार-सन्तुलन 50 करोड डालर के पक्ष में है। इसमें से 25 करोड डालर का अल्पकालीन पूंजी विनियोग हेतु एवं 5 करोड डालर का दीर्घकालीन विनियोग हेतु उपयोग किया जा सकता है। परन्तु मान लीजिए, दीर्घकालीन विनियोग पर प्रतिफल दर बहुत ऊँची है और देश के विनियोक्ता विदेशो में 30 करोड डालर का कुल विनियोग करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में व्यापार-सन्तुलन के अतिरिक्त (30 करोड डालर) के अतिरिक्त राशि (20 करोड डालर) स्वर्ण के निर्यात अथवा बैंको के माध्यम से स्वदेशी मुद्रा के रूपान्तर द्वारा पूरी की जायगी।

चालू खाते में देश की जितनी अनुकूल बाकी है उतनी सीमा तक ही वह देश अन्य देशो में पूंजी का विनियोग कर सकता है। दूसरी ओर, जिस देश के चालू खाते में प्रतिकूल बाकी है उसे विदेशो में लगी अपनी पूंजी से कमी करनी होगी।

कभी-कभी पूंजी खाते में हुए परिवर्तनो का लेखा-जोखा कठिनाई उत्पन्न कर सकता है। यह ध्यान रखने की बात है कि पूंजी की प्राप्ति एक जमा की मद है जब कि पूँजी का बहिर्गमन देय मद मानी जाती है। परन्तु पूंजी की प्राप्ति का वास्तविक अर्थ यह है कि विदेशी लोग इस देश को भुगतान कर रहे हैं, चाहे वे भुगतान इस देश की पूंजी की वापसी या ब्याज से सम्बद्ध हो अथवा इसका सम्बन्ध विदेशियो द्वारा इस देश में पूंजी के विनियोजन से हो। पूंजी के बहिर्गमन के अन्तर्गत इसके विपरीत स्थिति होती है।

आधारभूत बाकी या सकल बाकी (Basic Balance or Overall Balance)

आधारभूत बाकी में चालू खाते तथा दीर्घकालीन पूंजी स्थानान्तरण दोनो ही का समावेश किया जाता है। इसी सकल बाकी के फलस्वरूप कुल मिलाकर भुगतान-सन्तुलन सदैव सन्तुलित रहता है। परन्तु जब कभी हम भुगतान सन्तुलन में घाटे (deficit) या बचत (surplus) की चर्चा करते है तो हमारा आशय खाते विशेष की बाकी से होता है, न कि सभी खातो की बाकी से। दूसरे शब्दो में, हम ऐसे सन्दर्भ में केवल चालू खाते की बाकी को देखते हैं तथा उन मदो की उपेक्षा कर देते हैं जो भुगतान-सन्तुलन को सन्तुलित बनाती हैं। इस दृष्टि से हमे अल्पकालीन व दीर्घकालीन पूंजी खातो के अन्तर को भी समझना चाहिए। यदि हम दसवर्षीय ऋण लें तो इतनी राशि से वर्तमान अवधि में हमारी बचत या अनुकूल बाकी में वृद्धि हो जायगी। इसके फलस्वरूप भुगतान-सन्तुलन में चालू खाते में इतनी राशि अधिक जमा हो जायगी। इसी प्रकार, यदि दीर्घकाल के लिए ऋण दिया जाय तो चालू खाते में उतनी राशि देय हो जायगी और इसे चालू खाते में घाटे के रूप में लिखा जायगा।

भुगतान-सन्तुलन में असाम्य

[DISEQUILIBRIUM IN BALANCE OF PAYMENTS]

भुगतान-सन्तुलन में साम्य का अभाव तब माना जायगा जब कुल देय एवं कुल जमा की राशियाँ समान न हो अथवा जब भुगतान-सन्तुलन में घाटे या बचत की स्थिति हो। लेखा-विधि के अनुसार तो प्रत्येक देश का भुगतान-सन्तुलन सदैव साम्य स्थिति में होना चाहिए। दूसरे शब्दो में,

खातों की बाकी शून्य होनी चाहिए या सकल भुगतान-सन्तुलन में सदैव साम्य होना चाहिए। परन्तु जब कभी हम असन्तुलन या साम्य के अभाव की चर्चा करते हैं तो हम केवल चालू खाते में बचत या घाटे का अर्थ देश की बाह्य पूँजीगत स्थिति में दृढ़ता आने अथवा इसमें दुर्बलता आने से है, क्योंकि चालू खाते की बाकी देश के बाहरी पावनों व देय राशियों के अन्तर को ही व्यक्त करती है।

भुगतान-असन्तुलन के प्रकार
[KINDS OF DISEQUILIBRIUM]

मुख्य रूप से भुगतान-असन्तुलन को निम्न पाँच श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है :

(1) चक्रीय असन्तुलन (Cyclical Disequilibrium),

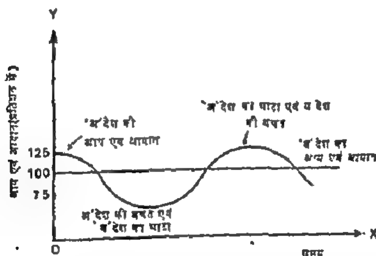
(2) चिरकालिक असन्तुलन (Specular Disequilibrium),

(3) रचना सम्बन्धी असन्तुलन,

(4) अस्थायी असन्तुलन (Temporary Disequilibraum), तथा

(5) स्थायी या आधारभूत असन्तुलन (Permanent Disequilibrium)।

(1) **चक्रीय असन्तुलन**—चक्रीय असन्तुलन की स्थिति व्यापार-चक्रों के कारण उत्पन्न होती है। हम यह जानते हैं कि किसी भी देश में आय एवं उत्पादन की वृद्धि दर एक समान नहीं रहती। दीर्घकालीन दृष्टि से देखा जाय तो आय में अनेक अल्पकालिक स्फीतियाँ एवं मन्दियाँ दिखायी देंगी। भुगतान-सन्तुलन में भी चक्रीय उतार-चढ़ाव इस कारण दिखायी देते हैं कि पृथक्-पृथक् देशों में व्यापार-चक्रों की प्रवृत्ति होती है अथवा पृथक्-पृथक् देशों में वस्तुओं की आयात-माँग-लोच में अन्तर होता है। रेखाचित्र 11·1 में चक्रीय असन्तुलन का एक उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।



रेखाचित्र 11·1—चक्रीय असन्तुलन : आयात की माँग लोच समान रहते हुए आय की विभिन्न प्रवृत्तियों का उदाहरण

रेखाचित्र 11·1 में 'ब' देश में आय स्थिर है, जबकि 'अ' देश की आय में चक्रीय परिवर्तन प्रदर्शित किये गये हैं। आय की स्थिरता के कारण 'ब' देश में आयातों की आय (माँग)-लोच भी स्थिर ही मानी जायगी। चूँकि प्रस्तुत उदाहरण में केवल दो ही देश लिये गये हैं, 'अ' के आयात 'ब' के निर्यात के समान होंगे और 'ब' के आयात 'अ' के निर्यात के समान माने जायेंगे। जब 'अ' में मन्दी होगी तो उसके आयात कम होंगे जबकि वहाँ समृद्धि-काल होने पर आयात में (अर्थात् 'ब' के निर्यात में) वृद्धि हो जायगी। दूसरी ओर, 'ब' में आय का स्तर स्थिर होने के कारण वहाँ आयात (अर्थात् 'अ' के निर्यात) भी स्थिर बने रहेंगे। परिणाम यह होगा कि 'अ' में मन्दी के समय निर्यात का अतिरेक होगा जबकि सम्पन्नता के समय आयात का अतिरेक हो जायगा। इसके

विपरीत, 'ब' में 'अ' की मन्दी के काल में प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन एवं 'अ' की समृद्धि के समय अनुकूल भुगतान-सन्तुलन होगा।[1] इसी को निम्न रूप में भी व्यक्त किया जा सकता है :

(i) 'अ' में मन्दी : $X_a > M_a = M_b > X_b$
(ii) 'अ' में समृद्धि : $X_a < M_a = X_b > M_b$

जिसमें X_a से तात्पर्य 'अ' देश के निर्यात से है तथा M_a से तात्पर्य 'अ' देश के आयात से है। इसी प्रकार X_b से तात्पर्य 'ब' देश के निर्यात से है तथा M_b से तात्पर्य 'ब' देश के आयात से है।

दोनों देशों के आयातों की आय-लोच (Income Elasticities of Demand for Imports) को देखकर भी भुगतानों के चक्रीय असन्तुलन का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

यदि $\eta_m^a > \eta_m^b$ (अर्थात् यदि आयातों की आय लोच 'अ' में 'ब' की अपेक्षा अधिक हो) तो समृद्धि-काल में 'अ' देश में भुगतान-सन्तुलन प्रतिकूल हो जायगा।

परन्तु यदि $\eta_m^a < \eta_m^b$ की स्थिति हो तो 'अ' के समृद्धि-काल में 'ब' के भुगतान-सन्तुलन के प्रतिकूल होने की सम्भावना होगी।

मूल्य-लोच की दृष्टि से—हम यह जानते हैं कि समृद्धि-काल में मूल्य बढ़ते हैं जबकि मन्दी के समय मूल्य-स्तर में गिरावट आती है। यदि 'अ' में आयातों की मूल्य-लोच 'ब' की अपेक्षा अधिक हो ($\eta_{pm}^a > \eta_{pm}^b$) तो 'अ' में समृद्धि होने पर उसका भुगतान-सन्तुलन प्रतिकूल (घाटायुक्त) हो जायगा जबकि 'अ' में मन्दी होने की स्थिति में उसका भुगतान-सन्तुलन अनुकूल होगा।

व्यवहार में यह सम्भव है कि 'अ' व 'ब' दोनों ही देशों में आय की प्रवृत्तियों में समानता हो। परन्तु उनकी आयातों की आय-लोच में अन्तर होने के कारण भुगतान-असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। आयातों की आय-लोच जितनी अधिक (तुलनात्मक दृष्टि से) होगी देश के आयातों में उतनी ही तीव्रता से परिवर्तन होंगे तथा मन्दी के समय निर्यातों का अतिरेक (समृद्धि के समय आयातों का अतिरेक) उतना ही अधिक होने की सम्भावना हो जायगी।

(2) **चिरकालिक असन्तुलन**—भुगतान-असन्तुलन की यह स्थिति तब उत्पन्न होती है जब कि अर्थ-व्यवस्था विकास के एक चरण से दूसरे चरण में प्रविष्ट हो रही हो। ऐसा होने के कई कारण हो सकते हैं, जैसे पूंजी-निर्माण, औद्योगिक परिवर्तन, जनसंख्या की वृद्धि, बाजारों का विस्तार, साधनों की उपलब्ध मात्रा में परिवर्तन आदि।

यदि भारत जैसा देश अपने विकास के प्रथम चरण में ही विकास की दर में वृद्धि करना चाहे तो उसे अपनी पूंजी की मात्रा में वृद्धि करनी होगी जिसकी पूर्ति आन्तरिक बचत से होना सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में जब विनियोग-माँग आन्तरिक बचत के परिमाण से अधिक हो तो देश अन्य देशों से मशीनें व अन्य साधन प्राप्त करके इस कमी को पूर्ण कर सकता है। इसका यह अर्थ हुआ कि ऐसी स्थिति में देश के आयात निर्यात से अधिक होंगे। यदि पर्याप्त मात्रा में ये साधन ऋण के रूप में उपलब्ध न हो, अर्थात् पर्याप्त विदेशी पूंजी उपलब्ध न हो तो देश में चिरकालिक भुगतान-असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जायगी।

इसके विपरीत, यदि एक देश परिपक्व आर्थिक स्थिति प्राप्त कर चुका है तो उसे पर्याप्त मात्रा में आन्तरिक बचत उपलब्ध हो सकती है जिसका देश में विनियोग किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में देश में माँग की अपेक्षा उत्पादन का परिमाण अधिक होगा और आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक हो जायेंगे। ऐसी स्थिति में यदि ऋण के रूप में पूंजी का बहिर्गमन न हो (अर्थात् निर्यात का एक भाग उधार न दिया जाय) तो देश का भुगतान-सन्तुलन चिरकालिक असन्तुलन की स्थिति में पहुँच जायगा। इस प्रकार चिरकालिक भुगतान-असन्तुलन की उत्पत्ति देश में बचत एवं विनियोग में अन्तर के कारण होती है।

चिरकालिक भुगतान-असन्तुलन, अन्य बातों के यथावत् रहते हुए, जनसंख्या में वृद्धि के कारण भी उत्पन्न हो सकता है। जनसंख्या में वृद्धि होने पर आन्तरिक उपभोग-माँग में वृद्धि होगी और फलस्वरूप निर्यात की तुलना में आयात में वृद्धि हो जायगी। इसका परिणाम यह होगा कि इस देश में चिरकालिक प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जायगी।

1 C. P. Kindleberger, *International Economics*, (1971), pp 480-81.

करने हेतु इसका अधिक मात्रा मे आयात करना पडे तो भारत के आयात-भुगतान मे पर्याप्त वृद्धि हो जायगी। यदि निर्यात की मात्रा व मूल्य वही रहे तो भुगतान-असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न होना स्वाभाविक है। एक अन्य उदाहरण लीजिए, भारत आज पर्याप्त मात्रा मे जूट की वस्तुओं का निर्यात करता है। मान लीजिए, युद्ध के कारण जूट के निर्यात रुक जायँ तो जूट मिलो के पास काफी मात्रा में बिना बिका हुआ स्टॉक जमा हो जायगा। यदि वे निर्यात-मूल्य मे थोडी-सी कमी कर दें तो युद्ध के तुरन्त पश्चात् हमारे जूट-निर्यात मे पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हो जायगी। अन्य बातों के यथावत् रहते हुए इसके परिणामस्वरूप भारत का भुगतान-सन्तुलन अधिक अनुकूल हो जायगा। उपर्युक्त दोनो ही परिस्थितियाँ अल्पकालिक हैं तथा सामान्यतया सूखे, बाढ या युद्ध की स्थिति लगातार रहने की अपेक्षा नही की जाती। यही कारण है कि इस प्रकार की स्थिति से उत्पन्न भुगतान-असन्तुलन को भी अल्पकालीन या अस्थायी असन्तुलन की संज्ञा दी जाती है।

(5) **आधारभूत या स्थायी असन्तुलन**—जब किसी देश का भुगतान-सन्तुलन दीर्घकाल तक चलता रहे और इस बात की आशा भी न हो कि असन्तुलन के कारक घटकों मे कोई मूलभूत परिवर्तन भविष्य मे हो जायगा तो इसे हम स्थायी या आधारभूत असन्तुलन के नाम से पुकारते हैं। माँग की खिचाव या लागतो की वृद्धि के फलस्वरूप देश मे वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होने के पश्चात् उनमे कमी होने की साधारणतया कोई सम्भावना नही होती और इसके कारण देश के निर्यात व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव होना रहता है। इस स्थिति में सुधार का सुझाव दिया जाता है। परन्तु वस्तुत न तो अधिमूल्यन और न ही अवमूल्यन मे वह स्थिति सुधर जायगी तब तक कि हमारी निर्यात योग्य वस्तुओं की विदेशो मे माँग-लोच अनुकूल न हो। यह स्मरणीय है कि हमारी वस्तुओं की माँग अत्यधिक लोचदार न होने पर अवमूल्यन (devaluation) लाभप्रद होता है जबकि माँग बेलोच होने पर अधिमूल्यन (over-valuation) से वांछित परिणाम प्राप्त होते हैं।

असन्तुलन के कारण
[CAUSES OF DISEQUILIBRIUM]

भुगतान-असन्तुलन के कारण भिन्न-भिन्न देशो में भिन्न-भिन्न होते हैं। एक ही देश मे भी अलग-अलग समय पर ये कारण भिन्न हो सकते हैं। कुल मिलाकर भुगतान-असन्तुलन के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं :

(1) **विकास कार्यक्रम**—आज विकासशील देशो में अनेक विकास कार्यक्रम चल रहे हैं। इन कार्यक्रमो के अन्तर्गत अधिक मात्रा मे पूँजीगत वस्तुओ, तकनीकी जानकारी तथा आवश्यक कच्चे माल का आयात करना आवश्यक हो गया है। इसके विपरीत, इन देशो के निर्यात मे अधिक वृद्धि नही हो सकी है। परिणामस्वरूप आयात का निर्यात से आधिक्य बना रहता है और भुगतान-असन्तुलन बना रहता है।

(2) **आय एवं मूल्य प्रभाव (सीमान्त आयात प्रवृत्ति)**—आर्थिक विकास के फलस्वरूप प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय म वृद्धि होती है और इसके परिणामस्वरूप आयात मे वृद्धि होती है। परन्तु आय की वृद्धि के फलस्वरूप आयातो में कितनी वृद्धि होगी यह सीमान्त आयात प्रवृत्ति (marginal propensity to import) पर निर्भर करेगा। सीमान्त आयात प्रवृत्ति जितनी अधिक (कम) होगी, अन्य बातें समान रहने पर आय की तुलना मे आयात में अपेक्षाकृत उतने ही अधिक (कम) अनुपात मे वृद्धि होगी तथा देश का भुगतान-सन्तुलन उतना ही अधिक (कम) प्रतिकूल होने की सम्भावना होगी।

(3) **आयात व निर्यात की माँग-लोच**—विकासशील देशो मे सीमान्त आयात प्रवृत्ति विकसित देशो की अपेक्षा अधिक पायी जाती है। इसके अतिरिक्त, इन देशो मे निर्धारित वस्तुओ की माँग-लोच विदेशो मे कम है जिसके फलस्वरूप मूल्यो मे कमी के होते हुए भी विकासशील देशो के निर्यात मे पर्याप्त मात्रा मे वृद्धि नही हो पाती। यह भी देखा गया है कि विकासशील देशो मे आयातित वस्तुओ की मूल्य-माँग-लोच भी कम रहती है और विकसित देश इनके मूल्यो मे वृद्धि कर दें तब भी आयात की मात्रा मे आनुपातिक कमी नही हो पाती। इन्ही सब कारणो से विकासशील देशो को भुगतान-असन्तुलन का सामना करना पडता है।

अधिकांश विकासशील देश कृषि वस्तुओं का निर्यात करते हैं जिनकी आय व मूल्य दोनों ही प्रकार की माँग-लोच बहुत कम होती है। इसके विपरीत, विकसित देश बहुधा औद्योगिक वस्तुओं में विशिष्टीकरण प्राप्त करते हैं, जिनकी आय-लोच विकासशील देशों में पर्याप्त अधिक होती है। विश्व के देशों में जब भी आय में वृद्धि होती है; विकासशील देशों के आयातों में निर्यातों की अपेक्षा अधिक वृद्धि होती है, जबकि विकसित देशों के निर्यात में अपेक्षाकृत अनुपात में अधिक वृद्धि होती है। विभिन्न देशों के भुगतान-असन्तुलन का यह भी एक कारण हो सकता है।

(4) **जनसंख्या में वृद्धि**—विकासशील देशों में विकसित देशों की अपेक्षा जनसंख्या वृद्धि दर भी अधिक पायी जाती है। इसके परिणामस्वरूप वस्तुओं की आन्तरिक माँग में इन (विकासशील) देशों में तीव्र गति से वृद्धि होती है जिससे निर्यात करने की क्षमता में कमी एवं आयात माँग में वृद्धि होती है। यह भी देखा गया है कि विकासशील देशों में श्रम की उत्पादकता शून्य या इसके समान रहती है और उसके फलस्वरूप जनसंख्या की आशातीत वृद्धि में सहायक नहीं हो पाती। फलस्वरूप, विकासशील देशों में भुगतान-असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और काफी समय तक बनी रहती है।

(5) **पुराने ऋणों का भुगतान**—विगत तीन-चार दशकों में अधिकांश विकासशील देशों ने द्विपक्षीय समझौतों के अन्तर्गत बड़े देशों से भारी मात्रा में ऋण लिये हैं। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं (जैसे मुद्रा कोष, विश्व बैंक व उसकी सहयोगी एजेन्सियों, *अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम*, एशियाई विकास बैंक) ने भी इन देशों की पर्याप्त सहायता की है। इन ऋणों की किश्तों तथा ब्याज की भुगतान-राशि निरन्तर बढ़ने के कारण विकासशील देशों के समक्ष भुगतान-असन्तुलन की गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गयी है।

भुगतान-असन्तुलन को ठीक करने के उपाय
[MEASURES TO CORRECT DISEQUILIBRIUM]

यदि भुगतान-असन्तुलन एक अविरल क्रम बन जाय तो चाहे यह बचत की स्थिति हो चाहे घाटे की, यह *अवांछनीय होगी। यदि लगातार भुगतान-सन्तुलन पक्ष में रहे (बचत हो) तो देश के* साधनों का निरन्तर अधिक उपयोग होगा। साधनों के मूल्यों व मजदूरी की दरों में वृद्धि होती जायगी और यदि कृत्रिम रोक न लगायी जाय तो देश में वस्तुओं की लागतों में अधिक वृद्धि हो जाने के कारण आयातों में वृद्धि व निर्यातों में कमी प्रारम्भ हो जायगी तथा भुगतान-सन्तुलन की स्थिति आ जायगी। परन्तु स्वचालन की यह स्थिति स्वर्णमान के अन्तर्गत ही आ सकती है। अब, चूँकि स्वर्णमान का सर्वत्र परित्याग कर दिया गया है और सभी देशों में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का प्रचलन है, भुगतान-असन्तुलन की स्थिति स्वयं ठीक नहीं हो सकती। आज की स्थिति में निम्नलिखित विधियों द्वारा भुगतान-असन्तुलन को ठीक करने का प्रयास किया जाता है :

(1) विनिमय-दरों में संशोधन द्वारा। ये संशोधन दो प्रकार के हो सकते हैं :
   (अ) लचीली (flexible) विनिमय-दरें, तथा
   (ब) नियन्त्रित (pegged) विनिमय-दरें, जिनके अनुसार अधिमूल्यन अथवा अवमूल्यन द्वारा विनिमय-दरों में स्वेच्छापूर्वक परिवर्तन कर दिया जाता है।

(2) अवमूल्यन लोच-विधि, जिसे मार्शल-लर्नर शर्त भी कहा जाता है।

(3) आय में संशोधन द्वारा। इसे अवशोषण (absorption)-विधि भी कहा जाता है।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष द्वारा किये गये उपाय।

(1) **विनिमय-दरों में संशोधन (Exchange Rate Mechanism of Adjustment)**—अर्थशास्त्रियों के मतानुसार लचीली विनिमय-दरों के लिए यह आवश्यक है कि विदेशी विनिमय का बाजार सभी प्रकार के प्रतिबन्धों से मुक्त हो। विदेशी विनिमय की माँग व पूर्ति में परिवर्तनों के अनुसार विदेशी विनिमय-दर में भी परिवर्तन होते रहने पर आयातों व निर्यातों में भी तदनुरूपी परिवर्तन होंगे तथा भुगतान-असन्तुलन शीघ्र ही सन्तुलन की स्थिति में बदल जायगा।

सुविधा के लिए दो, वस्तुओं व देशों का पूर्व-उद्धृत उदाहरण लीजिए जिसमें प्रत्येक देश

केवल एक ही वस्तु के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करता है और दूसरी वस्तु का आयात करता है। मान लीजिए कि वस्तुओं के आन्तरिक मूल्य दोनों ही देशों में स्थिर हैं। यदि किसी समय एक देश में आयात या निर्यात से आधिक्य होने पर विदेशी विनिमय की माँग इसकी पूर्ति से अधिक (कम) हो जाय तो उस देश की मुद्रा का अर्घ (value) कम (अधिक) हो जायगा। मुद्रा का अर्घ कम होने पर विदेशी मुद्रा के रूप में हमारी निर्यातित वस्तुओं के मूल्य कम हो जायेंगे जबकि आयातित वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो जायगी। उसका परिणाम यह होगा कि देश के लोग आयात कम करें जबकि विदेशों में हमारी वस्तुओं का निर्यात अधिक होगा। यह स्थिति भुगतान-सन्तुलन की स्थिति आने तक चलती रहेगी और पूर्ण सन्तुलन होने के बाद विनिमय-दर भी स्थिर हो जायगी।

इसके विपरीत यदि पूँजी अथवा स्वर्ण के स्वायत्त आगमन (autonomous flow) के कारण विदेशी विनिमय की पूर्ति माँग से अधिक हो जाय तो देश की मुद्रा का अर्घ विदेशी मुद्रा की तुलना में अधिक हो जायगा। विदेशी विनिमय-बाजार पूर्णतः स्वतन्त्र होने की स्थिति में भी स्वर्ण या विदेशी विनिमय की पूर्ति में वृद्धि हो जाने पर भी स्वयं ही व्यापारी बैंकों के वैधानिक सुरक्षित कोष (Reserve) में वृद्धि नहीं हो पायगी तथा मुद्रा की मात्रा एवं मूल्य स्तर पूर्ववत् रहेंगे। ऐसी स्थिति में पूँजी की अतिरिक्त मात्रा विदेशी विनिमय बाजार में ही विद्यमान रहेगी जिससे आयातों के मूल्य कम होंगे। इस प्रकार इस पूँजी का उपयोग अधिक आयात हेतु किया जायगा। आयातों में वृद्धि का यह क्रम तब तक चलेगा जब तक कि भुगतान-सन्तुलन की स्थिति स्थापित न हो जाय।

अनेक बार पत्र-मुद्रामान के अन्तर्गत लचीली विनिमय-दरों के स्थान पर नियन्त्रित विनिमय-दरों के माध्यम से भुगतान-सन्तुलन को ठीक करने का प्रयास किया जाता है। विदेशी विनिमय की माँग व पूर्ति में परिवर्तनों के अनुरूप विनिमय दर में भी परिवर्तन होते रहने के कारण विदेशी विनिमय बाजार को मुक्त रखना आधुनिक सन्दर्भ में उचित नहीं माना जाता। जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है स्वतन्त्र विदेशी विनिमय-दरों में बार-बार परिवर्तन होने के कारण निर्यात उद्योगों एवं आयातित वस्तुओं के स्पर्धाशील स्वदेशी उद्योगों में साधनों का आवंटन भी प्रभावित होता रहता है। इसके फलस्वरूप साधनों की बर्बादी की सम्भावना अधिक रहती है। यही कारण है कि नियन्त्रित विनिमय-दरों को आज अधिक उपयुक्त माना जाता है जिनके अन्तर्गत भुगतान-सन्तुलन के साधारण उतार-चढ़ावों को तो मौद्रिक सुरक्षित कोषों के उपयोग द्वारा ही ठीक किया जा सकता है। पिछला अनुभव बताता है कि लचीली विनिमय-दरों के माध्यम से भुगतान-सन्तुलन में सदैव साम्य बनाये रखना सम्भव नहीं होता।[1] आज अधिकांश देश विनिमय नियन्त्रण द्वारा अपनी मुद्राओं की विनिमय-दरें उन स्तरों से पर्याप्त ऊँची रखते हैं जो मुक्त बाजार में हो सकती थी। यदि भुगतान असन्तुलन अल्पकालिक (temporary) हो तो अधिकांश देश व्यापार के ढाँचे में (अर्थात् आयात व निर्यात के स्वरूप में) संशोधन करके इसे ठीक करने का प्रयास करते हैं। इसके विपरीत, यदि भुगतान-असन्तुलन के स्थायी होने की आशंका हो तो अवमूल्यन या अधिमूल्यन की विधियों द्वारा इसे ठीक करने का प्रयास किया जाता है।

परन्तु भुगतान-सन्तुलन को ठीक करने की यह विधि विनिमय-दरों के पूर्ण लचीलेपन की स्थिति में ही प्रभावकारी सिद्ध हो सकती है। इसके आलोचक, जिनमें मार्शल तथा ए. पी. लर्नर भी सम्मिलित हैं, यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि अनेक बार अवमूल्यन करने पर भी माँग की लोच अपर्याप्त होने के कारण भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता (deficit) पूर्णतया समाप्त नहीं हो पाती अथवा इसमें कमी करना सम्भव नहीं हो पाता।

(2) अवमूल्यन लोच विधि : मार्शल-लर्नर शर्त (Devaluation Elasticity Approach : Marshall Lerner Condition)—अवमूल्यन भुगतान-असन्तुलन को ठीक कर सकता है या नहीं यह इस बात पर निर्भर करता है कि विदेशी विनिमय की माँग व पूर्ति के वक्र का स्वरूप (ढलाव) किस प्रकार का है। विदेशी विनिमय की माँग व पूर्ति का स्वरूप स्वयं वस्तुओं व सेवाओं के सौदा (आयात व निर्यात) की प्रकृति पर निर्भर करता है।

मार्शल व लर्नर की शर्त के अनुसार, 'विदेशी विनिमय-दर का अवमूल्यन (अर्थात् देश की

1 League of Nations, *International Currency Experience*, (Princeton, N. J.), pp. 210-11.

मुद्रा का अवमूल्यन) देश के भुगतान-सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव डालता है, जबकि विनिमय-दर के अधिमूल्यन का भुगतान-सन्तुलन पर प्रतिकूल प्रभाव होगा, यदि देश के निर्यातों व आयातों की माँग-लोच का योग इकाई से अधिक हो।"[1]

गणितीय रूप में इस शर्त को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

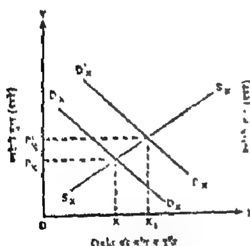
यदि $$[\eta_x + \eta_m] > 1$$

तो अवमूल्यन का भुगतान-सन्तुलन पर अनुकूल व अधिमूल्यन का प्रतिकूल प्रभाव होगा। उपर्युक्त सूत्र में η_x देश के निर्यातों की माँग-लोच है जबकि η_m आयातों की माँग-लोच का प्रतीक है।

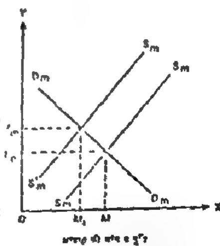
अवमूल्यन का आयात व निर्यात से सम्बद्ध वस्तुओं के मूल्यों पर क्या प्रभाव होगा, यह जानने से पूर्व हमें यह निश्चित करना होता है कि किस के सन्दर्भ में इन प्रभावों का विश्लेषण किया जाय। अवमूल्यन का स्थानीय मुद्रा तथा विदेशी मुद्रा, दोनों पर ही प्रभाव होता है। अवमूल्यन के फलस्वरूप निर्यात में संलग्न वस्तुओं के मूल्यों में स्थानीय मुद्रा के रूप में वृद्धि हो जाती है, जबकि विदेशी मुद्रा के रूप में इनमें कमी हो जाती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अवमूल्यन के फलस्वरूप एक देश से हमारा भुगतान-सन्तुलन अनुकूल हो जाय जबकि दूसरे देश से हमारे भुगतान-सन्तुलन पर प्रतिकूल प्रभाव हो। ऐसा बहुधा पृथक्-पृथक् देशों से हमारे आयात व निर्यात की लोच के अन्तर के कारण होता है।

यदि हमें अवमूल्यन का देश की आय व रोजगार पर होने वाले प्रभावों का विश्लेषण करना हो तो इसे केवल स्थानीय मुद्रा के सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, हमें आयातित व निर्यातित वस्तुओं के मूल्य एवं देश में इनसे सम्बद्ध उत्पादन के परिमाण पर अवमूल्यन का प्रभाव देखना चाहिए। बाहर से आने वाले कच्चे माल व यन्त्रों के लिए अब उत्पादनकर्ताओं को अधिक (स्थानीय) मुद्रा चुकानी होती है, परन्तु साथ ही निर्यातित वस्तुओं का स्थानीय मुद्रा के रूप में पूर्वापेक्षा अधिक मूल्य प्राप्त होता है। इसके फलस्वरूप देश में उत्पादन की मात्रा तथा रोजगार के स्तर पर प्रभाव पड़ता है। परन्तु यदि रुपये के अवमूल्यन का अमरीका के साथ स्थित भुगतान-सन्तुलन पर होने वाला प्रभाव देखना हो तो अमरीका से आयातित वस्तुओं व वहाँ निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की माँग की लोच को देखना होगा।

रेखाचित्रों 11·2 से 11·5 में स्थानीय मुद्रा व विदेशी मुद्रा दोनों ही के रूप में अवमूल्यन का प्रभाव प्रदर्शित किया गया है। रेखाचित्रों 11·2 एवं 11·3 में स्थानीय मुद्रा के रूप में अव-



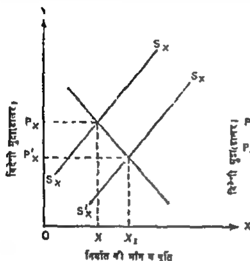
रेखाचित्र 11·2—स्थानीय मुद्रा के सन्दर्भ में अवमूल्यन का निर्यात पर प्रभाव

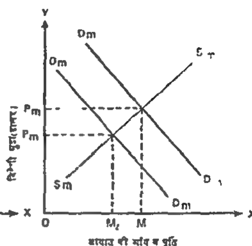


रेखाचित्र 11·3—स्थानीय मुद्रा के सन्दर्भ में अवमूल्यन का आयात पर प्रभाव

1 Appendix J, in Marshall's *Money, Credit and Commerce*. Also see A. P. Lerner, *Economics of Control* (N. Y., 1944).

मूल्यन का प्रभाव प्रदर्शित किया गया है, जबकि रेखाचित्रों 11 4 एवं 11 5 में अवमूल्यन का विदेशी मुद्रा के रूप में प्रभाव प्रस्तुत किया गया है। इन सभी चित्रों में Dx एवं Sx क्रमश निर्यात की माँग व पूर्ति के वक्र है तथा Dm एवं Sm आयात की माँग व पूर्ति के वक्र मान गये हैं। इन चित्रों की रचना करते समय यह माना गया है कि विदेशी मुद्रा के रूप में हमारी विनिमय-दर का अवमूल्यन कर दिया गया है।





रेखाचित्र 11 4—विदेशी मुद्रा के सन्दर्भ में अवमूल्यन का निर्यात पर प्रभाव

रेखाचित्र 11 5—विदेशी मुद्रा के सन्दर्भ मे अवमूल्यन का आयात पर प्रभाव

पहले हम स्थानीय मुद्रा के सन्दर्भ मे अवमूल्यन का प्रभाव देखेंगे। अवमूल्यन के बाद निर्यात-कर्ताओं की स्थानीय मुद्रा (रुपया) के रूप में निर्यातित वस्तुओं का अधिक मूल्य प्राप्त होगा। फलस्वरूप हमारी निर्यात योग्य वस्तुओं का माँग वक्र दायी ओर विवर्तित हो जायगा जबकि निर्यात का पूर्ति-वक्र वही रहेगा (रेखाचित्र 11 2)। इसका परिणाम यह होगा कि निर्यात OX से बढकर OX_1 हो जायेंगे। इसके विपरीत, अवमूल्यन के कारण आयात का पूर्ति वक्र स्थानीय व्यापारियों के लिए Sm से परिवर्तित होकर $S'm$ हो जायगा और आयात की मात्रा OM से घट कर OM_1 हो जायगी (रेखाचित्र 11 3)।

रेखाचित्र 11·2 मे निर्यात की माँग-लोच इकाई से अधिक मानी गयी है ($\eta_{dx} > 1$)। इसके परिणामस्वरूप अवमूल्यन के बाद निर्यातकर्ताओं को पूर्वापेक्षा अधिक आय प्राप्त होगी। अर्थात्

$$OP'_x OX_1 > OP_x OX$$

इसके फलस्वरूप भुगतान-सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव पड़ेगा। मान लीजिए, हमारे निर्यात की माँग पूर्णतया लोचदार है ($\eta_{dx} = \infty$)। ऐसी स्थिति मे निर्यात का माँग-वक्र क्षितिजीय (horizontal) होगा तथा अवमूल्यन के होते हुए भी कुल भुगतान-सन्तुलन मे निर्यात-आय परिवर्तित रहेगी ($OP'_x OX_1 = OP_x OX$)।

आयात की दृष्टि से अवमूल्यन का आयात के माँग-वक्र पर कोई प्रभाव नही होगा परन्तु आयात की उपलब्ध माँग कम हो जायगी, जैसा कि आयात के पूर्ति-वक्र Sm के विवर्तन ($S'm$) के रूप मे रेखाचित्र 11 3 मे प्रदर्शित किया गया है। आयातित वस्तुओं का पूर्वापेक्षा अधिक मूल्य (OP_m की अपेक्षा OP'_m) देना होता है, परन्तु चूँकि आयात की माँग-लोच इकाई मे कम मानी गयी है ($\eta_{dm} < 1$) मूल्य वृद्धि की अपेक्षा आयात की मात्रा म अधिक कटौती होगी और रुपये के रूप में किया जाने वाला भुगतान पूर्वापेक्षा कम होगा। गणितीय दृष्टि से,

$$OP'_m OM_1 < OP_m OM$$

यदि स्थानीय मुद्रा के सन्दर्भ मे आयात व निर्यात पर होने वाले मिले-जुले प्रभाव को देखना

हो तो यह कहा जा सकता है कि भुगतान-सन्तुलन में सुधार होगा यदि अवमूल्यन के बाद व्यापार बाकी $(X - M)$ अवमूल्यन के पूर्व की व्यापार बाकी से अधिक हो, अर्थात्

$$[OP'_x.OX_1 - OP'_m.OM_1] > [OP_x.OX - OP_m.OM]$$

यहाँ OP_x = अवमूल्यन के पूर्व के निर्यात मूल्य,
OP'_x = अवमूल्यन के पश्चात् के निर्यात मूल्य,
OP_m = अवमूल्यन के पूर्व के आयात मूल्य,
OP'_m = अवमूल्यन के पश्चात् के आयात मूल्य,
OX – अवमूल्यन के पूर्व निर्यात की मात्रा,
OX_1 = अवमूल्यन के पश्चात् निर्यात की मात्रा,
OM = अवमूल्यन से पूर्व आयात की मात्रा, एवं
OM_1 = अवमूल्यन के पश्चात् आयात की मात्रा के प्रतीक हैं।

विदेशी मुद्रा के सन्दर्भ में रेखाचित्र 11·4 अवमूल्यन का निर्यात पर प्रभाव प्रदर्शित करता है। *जैसा कि रेखाचित्र 11·4 में प्रदर्शित किया गया है, अवमूल्यन के बाद निर्यात का पूर्ति-वक्र दायीं ओर विवर्तित हो जाता है (रेखाचित्र 11·4)। इसके विपरीत, अवमूल्यन के फलस्वरूप* विदेशी मुद्रा के सन्दर्भ में आयात माँग-वक्र बायीं ओर विवर्तित हो जाता है (रेखाचित्र 11·5)। परन्तु अवमूल्यन का आयात के पूर्ति-वक्र पर एवं निर्यात की माँग-वक्र पर कोई प्रभाव नहीं होता।

इस प्रकार विदेशी मुद्रा के रूप में कुल आयात की राशि कम होती है जबकि निर्यातों से प्राप्त राशि में वृद्धि होती है परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि आयात की माँग-वक्र लोचदार हो और साथ ही निर्यात की माँग-लोच भी इकाई से अधिक हो। इसके परिणामस्वरूप भुगतान-सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव होगा, परन्तु यदि आयात व निर्यात की माँग लोच इकाई से कम है तो भुगतान-सन्तुलन पर अवमूल्यन के विद्यमान रहते हुए भी भुगतान-सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव नहीं हो पायेगा।

मार्शल-लर्नर शर्त की आलोचना—मार्शल एवं ए. पी. लर्नर द्वारा भुगतान-सन्तुलन को सन्तुलित करने हेतु जो शर्त प्रस्तुत की गयी है, सरल होने पर भी उसमें अनेक कमियाँ हैं। अब हम विभिन्न लेखकों द्वारा प्रस्तुत की गयी आलोचनाएँ प्रस्तुत करते हैं

(i) मार्शल एवं लर्नर के अनुसार अवमूल्यन के माध्यम से भुगतान-सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव केवल उस स्थिति में हो सकता है *जबकि निर्यात व आयातों की माँग-लोच इकाई से अधिक हो। परन्तु इस सन्दर्भ में उन्होंने पूर्ति-कथन को स्थिर मान लिया। इसीलिए कहा जाता है कि* मार्शल-लर्नर शर्त एकपक्षीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है।

(ii) पूर्ति की लोच का अवमूल्यन के प्रभावों के निर्धारण में काफी अधिक महत्त्व है। जब आयातों व निर्यातों की पूर्ति-लोच बहुत कम हो तो अवमूल्यन का भुगतान-सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव होगा, भले ही आयातों व निर्यातों की संयुक्त माँग-लोच इकाई से कम हो। परन्तु मार्शल एवं लर्नर ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। वस्तुत अवमूल्यन का भुगतान सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव हो, इसके लिए माँग के सन्दर्भ में निम्न शर्तें पूर्ण होनी चाहिए :

(iv) आयात को मुख्यतया दो श्रेणियों में विभाजित किया जाता है - (a) प्रतियोगी आयात, और (b) गैर-प्रतियोगी (non competing) आयात। प्रतियोगी आयातों की माँग-लोच अधिक होती है जबकि गैर-प्रतियोगी आयात लोचदार नहीं होते। इसी कारण आयात की माँग-लोच का निर्धारण करते समय हमें निम्न तथ्यों को दृष्टिगत रखना चाहिए

(अ) कुल आयात में प्रतियोगी आयातों का अनुपात, (आ) उन वस्तुओं की पूर्ति-लोच जो आयातित वस्तुओं की प्रतियोगी हैं तथा जो देश में ही उपलब्ध हैं, (ई) आयातित वस्तुओं की अन्य देशों में पूर्ति-लोच (इ) आयातित वस्तुओं की देशों में प्रतिस्थापनापन्न अथवा ऐसी वस्तुओं की देश में उत्पादन की सम्भावना तथा (उ) हमारे द्वारा उत्पादित वस्तुओं की विदेशों में माँग-लोच (हमारी निर्यात-लोच)। परन्तु मार्शल एवं लर्नर दोनों ही इन तथ्यों की ओर ध्यान नहीं दिया।

(v) मार्शल एवं लनर की शर्त यह नहीं बताती कि अवमूल्यन का आयात व निर्यात के ढाँचे (structure) पर क्या प्रभाव होता है ?

(vi) इसी प्रकार इस शर्त के अन्तर्गत आय के स्तर का आयात व निर्यात की मात्राओं पर होने वाले प्रभावों की कोई व्यवस्था नहीं की जाती। वस्तुतः आय के स्तर में परिवर्तनों का आयात व निर्यात पर उतना ही प्रभाव हो सकता है जितना कि मार्शल एवं लर्नर अवमूल्यन का मानते थे।

(vii) सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि मार्शल एवं लर्नर की शर्त पूर्ण प्रतियोगिता की आधारभूत मान्यता पर आधारित है जबकि आधुनिक सन्दर्भ में पूर्ण प्रतियोगिता स्वयं एक अवास्तविकता है। आज विदेशी व्यापार में आयात-नियन्त्रण तथा निर्यात-प्रोत्साहन सामान्य रूप में प्रचलित नीतियाँ हैं। इन नीतियों के विद्यमान रहते हुए आयात व निर्यात की लोच का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

उपर्युक्त सीमाओं के कारण आज के अधिकांश अर्थशास्त्रियों की मार्शल व लर्नर की शर्त पर कोई आस्था नहीं है। अब हम आय-संशोधन विधि (Income Mechanism Adjustment) की व्याख्या करेंगे।

(3) आय-संशोधन अथवा अवशोषण विधि (Adjustment in Income or the Absorption Mechanism)—अब तक हमने मार्शल व लनर द्वारा भुगतान-असन्तुलन को सन्तुलित करने हेतु अवमूल्यन-विधि एवं उसके मूल्यों पर होने वाले प्रभावों की व्याख्या की थी। वस्तुतः अवमूल्यन आय को प्रभावित करके भी भुगतान-सन्तुलन को प्रभावित कर सकता है। कीन्स द्वारा सबसे गुणक व त्वरक की धारणाओं को लोकप्रियता प्रदान की गयी है, तभी से आय-प्रभाव को विदेशी व्यापार में अधिकाधिक क्रियाशील माना जाने लगा है। किसी भी देश की राष्ट्रीय आय पर अवमूल्यन के प्रभाव अनुकूल व प्रतिकूल दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। यदि अवमूल्यन के फलस्वरूप व्यापार की शर्तें देश के लिए प्रतिकूल हो जायें तो अवमूल्यन करने वाले देश की राष्ट्रीय आय में कमी हो जायगी, जबकि इसका लाभ अन्य देशों को प्राप्त होगा और वहाँ राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो जायगी। साधारणतया, अवमूल्यन के फलस्वरूप विदेशी मुद्रा के रूप में हमारी वस्तुओं के मूल्य कम होने के कारण हमारे निर्यात में वृद्धि होती है तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है। परन्तु ऐसा तभी सम्भव होगा जबकि हमारे निर्यातों की माँग-लोच अन्य देशों में इकाई से अधिक हो ($\eta_{fx} > 1$)। इसी प्रकार, आयातों के (अवमूल्यन के बाद) स्थानीय मुद्रा में वृद्धि हो जाने के कारण आयातों में पर्याप्त कमी होगी और इससे भी राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी। परन्तु ऐसा भी तभी सम्भव होगा जबकि हमारी आयात माँग-लोच भी इकाई से अधिक हो ($\eta_{fm} > 1$)। प्रोफेसर एलेक्जेण्डर ने इसे अवशोषण (Absorption) दृष्टिकोण की संज्ञा देते हुए सरल गणितीय रूप में निम्न समीकरण द्वारा व्यक्त किया है :

$$Y = C + I + (X - M) \qquad (1)$$

समीकरण (1) में प्रस्तुत चरों की व्याख्या इस प्रकार है Y = राष्ट्रीय आय, C = उपभोग, I = विनियोग, Y = निर्यात एवं M = आयात।

अवशोषण दृष्टिकोण (**Absorption Approach**) *के अन्तर्गत उक्त समीकरण को पुन* निम्न रूप में लिखा जाता है जिससे व्यापार-सन्तुलन की स्पष्ट अभिव्यक्ति सम्भव हो सके

$$(X - M) = Y(C + I) \qquad (2)$$

यदि व्यापार-सन्तुलन को B तथा उपभोग व विनियोग व्यय को A के रूप में लें तो समीकरण (2) को निम्न रूप दिया जा सकता है :

$$B = Y - A \tag{3}$$

समीकरण (3) में A कुल व्यय अथवा राष्ट्रीय आय के कुल अवशोषण (Absorption) का प्रतीक है। इसका यह अर्थ हुआ कि राष्ट्रीय आय के जिस भाग का उपभोग व विनियोग के रूप में अवशोषण नहीं होता, वह संचय (Hoarding या H) में प्रयुक्त किया जायगा। अस्तु, समीकरण (3) को इस प्रकार भी लिखा जा सकता है :

$$B = Y - A = H \tag{4}$$

समीकरण (4) यह स्पष्ट करता है कि A अर्थात् अवशोषण की राशि में जितनी कमी होगी, अन्य बातें समान रहने पर संचय में उतनी ही वृद्धि हो जायगी। अब मान लीजिए व्यापार-सन्तुलन में परिवर्तन हो जाय तो उसे निम्न रूप में व्यक्त किया जायगा :

$$\Delta B = \Delta Y - \Delta A = \Delta H \quad ....(5)$$

उपर्युक्त समीकरण में Δ विभिन्न मदों में परिवर्तन (कमी या वृद्धि) को प्रदर्शित करता है।

समीकरण (5) के आधार पर अवशोषण दृष्टिकोण अवमूल्यन की प्रभावशीलता की शर्त प्रस्तुत करता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार अवमूल्यन के फलस्वरूप व्यापार-सन्तुलन (ΔB) उसी स्थिति में अनुकूल होगा (अर्थात् $\Delta B > O$) जबकि आय में होने वाली वृद्धि कुल अवशोषण में हुई वृद्धि से अधिक हो (अर्थात् $\Delta Y > \Delta A$)।

अवमूल्यन कुल अवशोषण (absorption) को दो रूप में प्रभावित करता है

(i) अवमूल्यन के फलस्वरूप अवशोषण (A) में आय से अनुप्रेरित (income induced) परिवर्तन होगा, तथा

(ii) अवमूल्यन के कारण अवशोषण (A) में प्रत्यक्ष परिवर्तन भी होगा। इस प्रकार,

$$\Delta B = \Delta Y - a\Delta Y - \beta A = \Delta H \tag{6}$$

अथवा

$$\Delta B = \Delta Y\,(1 - a) - \beta A = \Delta H \tag{7}$$

उक्त समीकरणों में सम्मिलित नये चर (variables) इस प्रकार हैं

a = आय में कुल परिवर्तन का वह अनुपात जो अतिरिक्त अवशोषण में प्रयुक्त किया जाता है। इसे सीमान्त अवशोषण प्रवृत्ति (marginal propensity to absorb income) भी कहा जा सकता है।

βA = अवमूल्यन के फलस्वरूप अवशोषण पर हुआ प्रत्यक्ष प्रभाव। (बहुधा a व β इकाई से कम होते हैं।)

अस्तु $(1 - a)$ आय में हुए परिवर्तन का वह अनुपात है जिसका उपयोग, उपभोग व विनियोग (कुल अवशोषण) में न होकर संचय हेतु किया जाता है।

$$\Delta A = a\Delta Y + \beta A$$

यहाँ $a\Delta Y$ अवशोषण में आय से अनुप्रेरित परिवर्तन को तथा βA अवशोषण पर अवमूल्यन के प्रत्यक्ष प्रभाव को व्यक्त करते हैं। इस प्रकार, व्यापार या भुगतान-सन्तुलन पर अवमूल्यन का प्रभाव तीन बातों पर निर्भर करेगा :

(1) ΔY (आय में परिवर्तन),

(2) a (सीमान्त अवशोषण प्रवृत्ति या marginal propensity to absorb income), तथा

(3) βA (प्रत्यक्ष अवशोषण जिसका अवमूल्यन से सीधा सम्बन्ध नहीं है)।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम अवशोषण दृष्टिकोण के सम्बन्ध में तीन निष्कर्ष प्रस्तुत कर सकते हैं :

(i) यदि $\Delta Y > 0$ हो भुगतान-सन्तुलन पर अवमूल्यन का प्रतिकूल प्रभाव माना जायगा,

(ii) यदि $a > 1$ (अर्थात् प्रत्यक्ष अवशोषण प्रवृत्ति इकाई से अधिक हो) तथा साथ ही $\beta A < 0$ (अर्थात् प्रत्यक्ष अवशोषण ऋणात्मक हो), तब भी भुगतान अथवा व्यापार-सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव होगा, तथा

(iii) यदि $\beta A < 0$, परन्तु $\beta A > [(1-\alpha)\Delta Y]$, तब भी भुगतान-सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव होगा।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अवमूल्यन के फलस्वरूप व्यापार या भुगतान-सन्तुलन पर जितना अधिक अनुकूल प्रभाव होगा आय में उतनी अधिक वृद्धि होगी तथा βA (प्रत्यक्ष अवशोषण) की राशि उतनी ही कम होगी।

एलेक्जेण्डर का दावा है कि उनके द्वारा प्रस्तुत दृष्टिकोण मौद्रिक एवं वास्तविक (real) दोनों ही रूप में खरा उतरता है यद्यपि उनके विश्लेषण का आधार वास्तविक आय, वास्तविक अवशोषण एवं वास्तविक-सन्तुलन ही है।[1]

एलेक्जेण्डर द्वारा प्रस्तुत समीकरण (7) के अनुसार अवमूल्यन के प्रभावों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है

$$\Delta B = \underbrace{(I-x)\,\Delta Y}_{\text{अवमूल्यन का आय प्रभाव}} - \underbrace{\beta A}_{\text{अवशोषण पर प्रत्यक्ष प्रभाव}}$$

अब हम इन्हीं प्रभावों की संक्षेप में व्याख्या करेंगे।

(i) **अवमूल्यन का आय-प्रभाव** (Income Effect of Devaluation)—अवमूल्यन के फलस्वरूप साधारणतया निर्यात में वृद्धि एवं आयातों में संकुचन के कारण आय में वृद्धि होती है यह हम पहले ही बता चुके हैं। इसके साथ ही गुणक प्रभाव (Multiplier Effect) के माध्यम से देश में भी उपभोग व्यय तथा तदनुसार आय में वृद्धि होगी। भुगतान-सन्तुलन पर अन्ततः क्या प्रभाव होगा, यह सीमान्त अवशोषण प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। अवशोषण में आय से अनुप्रेरित परिवर्तन भुगतान-सन्तुलन को निर्धारित करने वाली व्यापार शर्तों को पूर्वापेक्षा सशक्त बना सकते हैं अथवा निर्बल कर सकते हैं।

(ii) **अवशोषण पर प्रत्यक्ष प्रभाव** (Direct Effects on Absorption)—अवमूल्यन के फलस्वरूप कुल अवशोषण पर तीन प्रकार के प्रभाव (प्रत्यक्ष रूप से) होते हैं: (a) नकदी-जमा प्रभाव, (b) आय-वितरण प्रभाव, तथा (c) मुद्रा भ्रमजाल।

(a) **नकदी जमा प्रभाव** (Cash Balance Effect)—यह हम बता चुके हैं कि अवमूल्यन के फलस्वरूप स्वदेशी मुद्रा के रूप में आयातित वस्तुएँ महँगी हो जाती हैं। साथ ही देश से निर्यात की गयी वस्तुओं के बदले में अधिक स्वदेशी मुद्रा प्राप्त होने लगती है। फलस्वरूप आयात-प्रतिस्थानापन्न वस्तुओं (import substitutes) तथा उनके उत्पादन में प्रयुक्त (माध्यमिक) वस्तुओं के मूल्यों में भी वृद्धि हो सकती है। इसके फलस्वरूप कुल मिलाकर देश में मूल्य-स्तर बढ़ जायगा तथा देश के लोगों की क्रय-शक्ति का संकुचन होगा। इसका अन्ततः यह परिणाम होगा कि वास्तविक आय की तुलना में वास्तविक उपभोग तथा वास्तविक विनियोग में भी कमी होगी। अस्तु, अवमूल्यन का अवशोषण पर प्रतिकूल प्रभाव ही होने की सम्भावना होती है।

(b) **आय वितरण प्रभाव** (Income Distribution Effect)—अवमूल्यन के कारण सामान्य मूल्य-स्तर में वृद्धि होने पर दी हुई आय के उपभोग का ढाँचा भी बदल जायगा। जिन वस्तुओं में सीमान्त व्यय प्रवृत्ति अधिक है उन पर व्यय में कमी करके अब कम सीमान्त व्यय प्रवृत्ति वाली वस्तुओं पर अधिक व्यय किया जायगा।

---

1 S S. Alexander, "Effect of a Devaluation on Trade Balance", *International Monetary Fund: Staff Papers*, April 1952

(c) मुद्रा भ्रमजाल (Money Illusion)—यदि लोग मौद्रिक आय की अपेक्षा मौद्रिक मूल्यों से अधिक प्रभावित होते हों तो मुद्रा का यह भ्रम-जाल अवमूल्यन को अधिक प्रभावकारी बना सकता है। यदि मूल्य-स्तर तथा मौद्रिक आय में समान अनुपात में वृद्धि होने पर भी लोग ऊँचे मूल्यों पर अपने उपभोग-स्तर में कमी कर दें तो उनके उपभोग-व्यय में कमी होने के कारण आयात में भी कमी होगी तथा व्यापार-सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव होगा। इसका यह भी प्रभाव होगा कि वास्तविक बचतों में कमी होने पर भी मौद्रिक-बचत में वृद्धि होगी और इसके फलस्वरूप भुगतान-सन्तुलन पर प्रतिकूल प्रभाव की सम्भावना हो सकती है।

अवशोषण दृष्टि की आलोचना—प्रोफेसर मैकलप (Prof Machlup) ने अवशोषण दृष्टिकोण की सर्वप्रथम आलोचना की।[1] उनके मतानुसार, "दीर्घकालीन स्थिरता की दृष्टि से यह कहना कठिन है कि व्यापार-सन्तुलन पर अवमूल्यन का प्रभाव प्रदर्शित करने वाले परिमापियों—उपयोग प्रवृत्तियों एवं मूल्य-लोच—में कौन से कम विश्वसनीय हैं। इस प्रक्रिया की परिवर्तनशीलता की दृष्टि से—जिसके परिणामों का निर्धारण इन परिमापियों की सहायता से होता है—व्यय प्रवृत्तियाँ (spending propensities) अपेक्षाकृत कम विश्वस्त हैं। इसके विपरीत, सार्वजनिक नीति की पालनीयता (malleability) दृष्टि से मूल्य-लोच इतनी अधिक प्रभावकारी नहीं होती तथा उस दृष्टि से मौद्रिक व राजस्व नीतियों का प्रभाव व्यय प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में अधिक व्यापक होता है। इसका यह अर्थ हुआ (कि अवमूल्यन का) अंतिम परिणाम "प्रवृत्तियों" की अपेक्षा निर्दिष्ट नीतियों की प्रकृति पर निर्भर होगा।"

मैकलप (Machlup) की यह मान्यता है कि किन्हीं-किन्हीं परिस्थितियों में लोचों का प्रभाव भी परोक्ष रूप में होता है। उदाहरणार्थ, अवमूल्यन का निष्क्रिय साधन-प्रभाव (idle resource effect) होगा या नहीं, यह इस बात पर निर्भर है कि उत्पादन व वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि करना किस सीमा तक सम्भव है, और इस प्रकार स्वदेशी पूर्ति एवं विदेशों में माँग की लोच महत्त्वपूर्ण हो जाती है यद्यपि हम प्रत्यक्षतः ऐसा नहीं कहते। कुछ अन्य परिस्थितियों में लोचों का प्रत्यक्ष रूप में महत्त्व पाया जाता है। उदाहरणार्थ, अवमूल्यन का अवशोषण पर प्रत्यक्ष प्रभाव व्यर्थ साधनों के हस्तान्तरण के रूप में होगा अथवा नहीं, यह इस पर निर्भर करेगा कि मूल्य-वृद्धि की अर्थ-व्यवस्था पर प्रतिक्रिया किस रूप में होती है, अथवा उपभोग हेतु आयातित वस्तुओं का किस सीमा तक प्रतिस्थापन सम्भव है। यह प्रभाव घरेलू उत्पादन तथा निर्यात के मध्य साधनों के आवंटन पर भी निर्भर करेगा। व्यापार की शर्तें कभी-कभी मूल्य लोच से भी प्रत्यक्षतः प्रभावित होती हैं। वस्तुतः माँग व पूर्ति की लोचों को दृष्टिगत रखे बिना अवमूल्यन का व्यापार की शर्तों पर क्या प्रभाव होगा यह कहना असम्भव है'।[2]

एलेक्जेण्डर (Alexander) के मतानुसार $B = Y - A$ होता है जिसका यह अर्थ है कि भुगतान या व्यापार सन्तुलन को जानने हेतु राष्ट्रीय आय (Y) एवं अवशोषण (A) का अन्तर देखना चाहिए। आय व कुल अवशोषण (व्यय) की वास्तविक राशियों को देखने हेतु वे मूल्यों को कोई महत्त्व नहीं देते। परन्तु वस्तुतः यह दृष्टि ठीक नहीं है। हैरी जॉनसन के मतानुसार व्यापार अथवा भुगतान-सन्तुलन की वास्तविक राशि जानने हेतु राष्ट्रीय आय को मूल्य-स्तर से भाग देना चाहिए तथा कुल व्यय को भी।

$$B = \frac{Y}{P} - \frac{A}{P}$$

एलेक्जेण्डर ने भुगतान-सन्तुलन के निर्धारण हेतु वास्तविक निर्यात एवं वास्तविक आयात के रूप में तो लिया परन्तु इन शब्दों का वे अर्थ स्पष्ट नहीं कर पाये। हैरी जॉनसन किसी देश के भुगतान सन्तुलन में प्राप्तियों व भुगतान दोनों ही को सम्मिलित करते हैं। वे बताते हैं कि यह मौद्रिक असन्तुलन से सम्बद्ध एक समस्या है और इसलिए हमें पहले (अवमूल्यन का) मूल्य प्रभाव देखना चाहिए और फिर इससे ऊपर उठकर आय प्रभाव की समीक्षा करनी चाहिए। यही दृष्टि-

1 Fritz Machlup, "Relative Prices and Aggregate Spending in the Analysis of Devaluation", *"American Economic Review"* (June 1955)

2 *Ibid*, p 193.

कोण हैबरलर ने भी प्रस्तुत किया। हैबरलर के मत में आय-प्रभाव एवं मूल्य-प्रभाव का योग कुल प्रभाव होता है तथा केवल आय-प्रभाव एवं अवशोषण प्रभाव का योग देखना उचित नहीं है।

(4) **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा सुझाए गये उपाय (Methods of I M F.)**—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना 1944 में ब्रेटनवुड्स सम्मेलन के समय की गयी थी। इसका उद्देश्य उन देशों को अल्पकालीन वित्त प्रदान करना है जिनके पास पर्याप्त विदेशी मुद्रा-कोष नहीं है। इस कोष की स्थापना केन्द्रीय बैंकों के सुरक्षित (reserve) कोष एवं राष्ट्रीय मुद्राओं के एक पूल (pool) की स्थापना द्वारा की गयी थी। इन मुद्राओं को सदस्य देशों को भुगतान-सन्तुलन के ऐसे घाटे की पूर्ति हेतु उपलब्ध कराया जाता है जिसमें अपने आप सुधार होने की आशा हो अथवा जिसे प्रचलित नीतियों के माध्यम से शीघ्र ही ठीक किये जाने की आशा हो। परन्तु दीर्घकाल तक चलने वाले व रचना सम्बन्धी भुगतान-असन्तुलन को ठीक करने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से कोई सहायता की अपेक्षा नहीं की जा सकती। वस्तुतः असन्तुलन हेतु वित्तीय सहायता की कुछ सीमाएँ हैं और पर्याप्त सीमा तक इन सीमाओं का निर्धारण अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की नीतियों तथा विभिन्न देशों के "कोटा" (quota) पर निर्भर करता है।

प्रत्येक देश को प्रारम्भ में एक कोटा प्रदान किया गया था। समय-समय पर इन अधिकृत राशियों में वृद्धि की गयी है। जनवरी 1975 के पूर्व प्रत्येक देश को अपने कोटे की 25 प्रतिशत राशि निर्दिष्ट मूल्य पर स्वर्ण के रूप में तथा 75 प्रतिशत अपनी मुद्रा के रूप में जमा करानी होती थी, परन्तु जनवरी 1975 से अल्पविकसित देशों को विशेष राहत देने हेतु स्वर्ण के मूल्य निर्दिष्टता को समाप्त कर दिया गया है। परन्तु कोई भी देश अधिक से अधिक उसे दिये गये कोटे की दो गुनी राशि अपनी मुद्रा के रूप में जमा कर सकता है। प्रत्येक देश अपने कोटे का 125 प्रतिशत तक विदेशी विनिमय अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से प्राप्त कर सकता है। जमा सोने के बराबर (कोटे का 25%) विदेशी मुद्रा तो अपने आप प्राप्त की जा सकती है। इसके अतिरिक्त 25% कोटा उस समय विदेशी मुद्रा के रूप में उपलब्ध हो सकता है जब (विशेष रूप से अल्पविकसित देशों की) वस्तुओं के मूल्यों में कमी हो। राष्ट्रीय कोटे के इससे अधिक अंश प्राप्त करने पर ब्याज की दर में वृद्धि कर दी जाती है एवं उन्हें अधिक कठोर शर्तों के साथ उपलब्ध कराया जाता है। इसका कारण यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का उद्देश्य विभिन्न देशों की अल्पकालीन भुगतान कठिनाइयों को ही हल करना है। जैसे-जैसे सदस्य देश अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से अपने कोटे के अन्तर्गत विदेशी मुद्रा प्राप्त करते जाते हैं, इनकी मुद्राएँ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के पास जमा होती जाती हैं, जबकि दुर्लभ विदेशी मुद्राओं का कोष घटता जाता है। इसी कारण एक सीमा के पश्चात् सदस्य देशों को विदेशी मुद्रा की खरीद पर अंकुश लगाना आवश्यक हो जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के समझौता अनुच्छेद (Article of Agreement) के अनुसार, "जब तक किसी देश को आधारभूत भुगतान-असन्तुलन ठीक न करना हो, वह अपनी मुद्रा के समता मूल्य (par value) में परिवर्तन का प्रस्ताव नहीं करेगा।" साधारणतया मुद्रा-कोष को किसी सदस्य देश की मुद्रा के प्रारम्भिक समता-मूल्य में दस प्रतिशत तक परिवर्तन किये जाने पर कोई आपत्ति नहीं होती। परन्तु यदि अवमूल्यन या अधिमूल्यन का अनुपात दस प्रतिशत से अधिक हो तो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की अनुमति आवश्यक है। साधारणतया मुद्रा-कोष उन परिस्थितियों में यह अनुमति दे देता है जबकि ये परिवर्तन सदस्य देश के आधारभूत भुगतान-असन्तुलन को ठीक करने की दृष्टि से किये जा रहे हों। परन्तु उपर्युक्त अनुच्छेद में आधारभूत असन्तुलन की कोई निश्चित परिभाषा नहीं दी गयी है तथा इसका निर्धारण सदस्य देशों की इच्छानुसार किया जा सकता है।

सामान्य रूप से किसी देश का भुगतान-असन्तुलन उस स्थिति में आधारभूत माना जाता है जबकि इसके स्वर्ण एवं विदेशी मुद्रा-कोष निरन्तर घटते जा रहे हों। परन्तु श्रीमती जॉन रॉबिन्सन इस दृष्टिकोण से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए लिखती हैं " 'सन्तुलन' शब्द का कोई एक अर्थ नहीं है और इसलिए 'आधारभूत असन्तुलन' के निर्धारण हेतु भी कोई स्पष्ट मानदण्ड नहीं हो सकता। ऐसा लगता है कि जिस देश को अपनी मुद्रा की विनिमय-दर में परिवर्तन करना होता है उसके पास आधारभूत असन्तुलन की उपस्थिति बताने हेतु अनेक तर्क हो सकते हैं। दूसरी ओर,

अन्य सदस्यों के पास ऐसे बहुत से तर्क हो सकते हैं कि सदस्य विशेष के समक्ष आधारभूत असन्तुलन की कोई समस्या नहीं है।"

भुगतान-सन्तुलन का महत्व
[IMPORTANCE OF BALANCE OF PAYMENTS]

जैसा कि हम जानते हैं भुगतान-सन्तुलन से तात्पर्य किसी देश का अन्य देशों के साथ किये गये लेन-देन के एक व्यवस्थित विवरण से है। इसके माध्यम से किसी भी देश की अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। इससे हम यह पता कर सकते हैं कि क्या देश को अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूर्ण करने के लिए कठिनाई का अनुभव हो रहा है अथवा इस सम्बन्ध में उसकी स्थिति सन्तोषजनक है या नहीं। एक देश को अपनी अनेक नीतियाँ जैसे मौद्रिक नीति, राजकोषीय नीति, विनिमय नीति आदि निर्धारित करते समय अपने भुगतान-सन्तुलन की स्थिति का अध्ययन आवश्यक होता है। भुगतान-सन्तुलन का प्रभाव देश की आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही गतिविधियों पर पड़ता है। इसके महत्व को निम्न प्रकार समझा जा सकता है :

(1) *अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति का ज्ञान*—किसी भी देश की अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हम उस देश के भुगतान-सन्तुलन का अध्ययन करते हैं। भुगतान-सन्तुलन की स्थिति के अनुसार ही हमें अपनी विभिन्न आर्थिक नीतियाँ निर्धारित करनी होती हैं। यदि भुगतान-सन्तुलन में दीर्घकाल तक असन्तुलन बना रहता है तो वह देश के लिए आर्थिक उन्नति का सूचक नहीं कहा जा सकता है। कभी-कभी भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूल बातों को दूर करने के लिए देश को अवमूल्यन की नीति भी अपनानी पड़ती है।

(2) *विदेशी व्यापार की प्रवृत्ति का ज्ञान*—भुगतान-सन्तुलन के माध्यम से हम यह जान सकते हैं कि किसी देश के विदेशी व्यापार की प्रवृत्ति क्या है ? विदेशी व्यापार की मदें अर्थात् आयात-निर्यात की मदें भुगतान-सन्तुलन में सबसे महत्वपूर्ण होती हैं। भुगतान-सन्तुलन के माध्यम से हम व्यापार की शर्तों का पता भी लगा सकते हैं। जब किसी देश के निर्यात का मूल्य उसके आयात के मूल्य से अधिक होता है तो उस देश की व्यापार की शर्तें उसके अनुकूल होती हैं।

(3) *विभिन्न मुद्राओं में देश की भुगतान-शेष की स्थिति का ज्ञान*—किसी भी देश का भुगतान-शेष विभिन्न मुद्राओं वाले देशों के साथ एक समान रहना आवश्यक नहीं होता। डालर क्षेत्र के देशों के साथ हमारी भुगतान-सन्तुलन की स्थिति विपरीत हो सकती है जबकि अन्य देशों के साथ हमारी भुगतान-सन्तुलन की स्थिति अनुकूल हो सकती है। इसकी जानकारी हमें देश के भुगतान-सन्तुलन द्वारा ही हो सकती है।

(4) *राष्ट्रीय आय में उतार-चढ़ाव*—जैसा कि हम जानते हैं विदेशी व्यापार गुणक के माध्यम से विदेशी व्यापार का प्रभाव उस देश की राष्ट्रीय आय पर भी पड़ता है। अतः प्रो. किण्डलबर्गर ने कहा है कि भुगतान-शेष का प्रयोग यह ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी किया जाता है कि उस देश के विदेशी व्यापार का देश की राष्ट्रीय आय पर क्या प्रभाव पड़ा है।

प्रश्न एवं उनके संकेत

1. **भुगतान-सन्तुलन का क्या अर्थ है ? भारत के सन्दर्भ में उदाहरण देते हुए उन विधियों का वर्णन कीजिए जिनका विपरीत भुगतान-सन्तुलन को ठीक करने हेतु प्रयोग किया जाता है।**

   What is meant by balance of payments ? Briefly discuss the measures adopted to correct adverse balance of payments with reference to India

   [संकेत—अपने उत्तर के प्रथम भाग में भुगतान-सन्तुलन का अर्थ समझाइए। संक्षेप में, व्यापार-सन्तुलन व भुगतान-सन्तुलन का अन्तर भी बतायें। उत्तर के द्वितीय भाग में उन सब विधियों का संक्षिप्त विवरण दें जिनका उपयोग प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन को ठीक करने हेतु किया जाता है। इनमें से जो विधियाँ भारत में प्रयुक्त की जा रही हैं उनका भी विवरण दें।]

2. **किसी देश में प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन के क्या कारण हो सकते हैं ? विकासशील देशों में प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन को ठीक करने हेतु कौन से कदम उठाये जाते हैं ?**

What are the causes of disequilibrium in the balance of payments of a country ? Discuss the corrective measures taken for such disequilibrium particularly in the developing countries ?

3 अवमूल्यन द्वारा प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन को ठीक करना कहाँ तक सम्भव है ? क्या आप भारत सरकार को देश का भुगतान-सन्तुलन ठीक करने हेतु रुपये के अवमूल्यन करने का परामर्श देंगे ?

To what extent is it possible for a country to correct its adverse balance of payments by devaluation ? Would you advise Indian government to devalue the rupee for correcting India's balance of payments ?

[संकेत—इस प्रश्न के उत्तर हेतु यह बताना है कि प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन को ठीक करने हेतु अन्य विधियों में से अवमूल्यन भी एक प्रमुख विधि है। परन्तु अवमूल्यन की सफलता सदैव असंदिग्ध नहीं होती अतः उन सभी परिस्थितियों एवं सीमाओं का विवरण दें जिनके अन्तर्गत ही अवमूल्यन सफल हो सकता है। उत्तर के द्वितीय भाग में यह बतायें कि भारतीय सन्दर्भ में प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन का आकार कितना बड़ा है तथा किस सीमा तक अवमूल्यन द्वारा इस समस्या का समाधान या निराकरण किया जा सकता है।]

4 "भुगतान-सन्तुलन सदैव सन्तुलित रहता है." यदि ऐसा है तो फिर हम किसी देश के भुगतान-सन्तुलन में अतिरेक या घाटे की चर्चा क्यों करते हैं ?

"The balance of payment is always balanced." How then do we talk about a surplus or a deficit in the balance of payment of a country ?

[संकेत—तकनीकी दृष्टि से भुगतान-सन्तुलन की बाकी शून्य होती है। परन्तु फिर भी प्रत्येक देश को प्राप्य एवं इसके द्वारा देय राशियों में अन्तर होता है और यही अन्तर प्रतिकूल या अनुकूल भुगतान-सन्तुलन के रूप में प्रतिबिम्बित होता है। उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में बताइए कि अन्ततोगत्वा सन्तुलित भुगतान बाकी तथा किसी अवधि विशेष में प्रतिकूल या अनुकूल भुगतान-सन्तुलन में क्या अन्तर है। यह स्मरणीय है कि लेखा-जोखा की दृष्टि से देय एवं प्राप्य राशियाँ समान होनी आवश्यक हैं परन्तु वास्तविक या व्यावहारिक रूप में प्राप्य राशि देय राशि से भिन्न भी हो सकती है।]

5. किसी देश के प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन से आप क्या समझते हैं ?

What do you understand by a country's balance of payment deficit ?

6 भुगतान सन्तुलन में समायोजन करने पर आय, मूल्य-स्तर एवं रोजगार पर होने वाले प्रभावों की व्याख्या कीजिए।

Analyse the possible income effects, price effects and employment effects associated with adjustment in the balance of payments

7. प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत उस व्यवस्था का विवरण दीजिए जिसके अनुसार भुगतान-सन्तुलन को साम्य स्थिति में बनाये रखा जा सकता है अथवा साम्य स्थिति को फिर से प्राप्त किया जा सकता है।

Discuss the classical theory of mechanism whereby international balance of payment is maintained in, or restored to, equilibrium position.

[संकेत—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की ऐसी मान्यता थी कि प्रत्येक देश का भुगतान-सन्तुलन दीर्घकाल में साम्य स्थिति में रहना चाहिए। यदि देश के आयात व निर्यात तथा सेवाओं व पूँजी के आवागमन में सन्तुलन हो तो देश के भीतर मूल्य-स्तर, उत्पादन एवं अन्य आर्थिक चरों में इस प्रकार के परिवर्तन होंगे कि भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता समाप्त हो जाय। साथ ही यह भी बतायें कि भुगतान सन्तुलन के निर्धारक घटकों में यदि कोई परिवर्तन न हो तो भुगतान-सन्तुलन का साम्य भी बना रहेगा।]

8. यह बताइए कि विदेशी व्यापार गुणक के माध्यम से किस प्रकार भुगतान-संतुलन सिद्धान्त को गत्यात्मकता प्रदान की जा सकती है ?

Show how is it possible to dynamize the theory of payments by means of foreign trade multiplier ?

[संकेत—उक्त प्रश्न के उत्तर में पहले भुगतान-सन्तुलन के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। फिर विदेशी व्यापार गुणक का अर्थ बताइए। अपने उत्तर में यह भी बताइए कि विदेशी व्यापार गुणक का समावेश करने पर भुगतान-सन्तुलन सिद्धान्त को किस प्रकार गत्यात्मक (dynamic) बनाया जा सकता है।]

9. भुगतान-असन्तुलन ठीक करने हेतु अवशोषण विधि पर विस्तृत टिप्पणी लिखिए।
Write a lucid note on the Absorption Approach to correct a disequilibrium in the balance of payments ?

10 मार्शल-लर्नर शर्त की व्याख्या कीजिए। इसकी क्या-क्या आलोचनाएँ हैं ? आप इसे किस सीमा तक व्यावहारिक मानते हैं ?
Define Marshall Lerner condition What are its criticisms ? To what extent *do you think it practicable ?*

[संकेत—मार्शल-लर्नर शर्त की विस्तृत विवेचना अध्याय में प्रस्तुत सामग्री के आधार पर की जानी चाहिए। इसी प्रकार, इसकी आलोचना हेतु भी अध्याय में प्रस्तुत विषय-सामग्री देखें।]

12

अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्यिक नीतियाँ
[INTERNATIONAL COMMERCIAL POLICIES]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का परिमाण तथा विस्तार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक नीतियो पर निर्भर करता है। कुछ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक नीतियाँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर धनात्मक प्रभाव डालती है तो कुछ नीतियो के फलस्वरूप व्यापार पर ऋणात्मक प्रभाव भी पडते हैं। विभिन्न प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक नीतियो का उल्लेख करने से पहले हम उन तत्वो की विवेचना करेंगे जो किसी भी देश की व्यापारिक नीति को समय समय पर प्रभावित करते हैं। इनमे निम्नलिखित चार मुख्य तत्व है

(1) **भौगोलिक स्थिति**—किसी भी देश की व्यापारिक नीति पर उस देश के पडोसी देशो की स्थितिया का महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है। देश की जलवायु भी उसकी व्यापारिक नीति को प्रभावित करने म सहायक होती है।

(2) **आर्थिक स्थिति**—देश की आर्थिक स्थिति का भी उसकी व्यापारिक नीति पर प्रभाव पडता है। किसी देश की आर्थिक स्थिति से तात्पर्य उस देश म उपलब्ध उत्पादन के साधन, तकनीक आदि से होता है। जिस देश की आवश्यकताएँ बहुत कम होती हैं जिनको वह अपने आन्तरिक साधनो से पूरा कर सकता है तो ऐसी स्थिति म उसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत सीमित हो जाता है। दूसरी ओर यदि उस देश मे श्रम-विभाजन एव विशिष्टीकरण का बोलबाला है तो उस देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का परिमाण बहुत अधिक होगा।

(3) **जनसख्या की स्थिति**—देश म जनसख्या की स्थिति भी व्यापारिक नीति को प्रभावित करती है। जनसख्या अधिक होने पर, उनकी आवश्यकताओ म विषमता बढती आती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का परिमाण भी बढता जाता है। यदि जनसख्या कम है तो उनकी आवश्यकताएँ भी कम होगी। परन्तु यह आवश्यक नही, बहुत कुछ उस देश की जनसख्या की महत्वाकाक्षा पर ही यह निर्भर करेगा कि देश किस व्यापारिक नीति को अपनाये।

(4) **सामाजिक स्थिति (Strategic position)**—देश की व्यापारिक नीति इस बात पर भी निर्भर करती है कि वह द्वीप (Insular) है या महाद्वीप (Continental) है। देश की प्राकृतिक सीमाएँ भी उसकी नीति को प्रभावित करती है।

सिमोन्ड एव अमेनी के अनुसार, 'किसी देश की प्राकृतिक परिस्थितियो को जानना ही इसकी राष्ट्रीय नीतियो का समझना है। उसके साधना की सीमा को मालूम करके यह बताया जा सकता है कि वह देश अपनी नीतियो का पालन करने मे कितना समर्थ है? यदि व्यक्तियो से उनकी नीति बदलने को कहा जाता है तो पहले यह आवश्यक है कि हम उन परिस्थितियो को बदलें जिनके कारण वह नीति अपनायी गयी है। यह सब बातें ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक नीति की आधारभूत शिला है।'"[1]

वास्तव म राष्ट्रीय नीतियो का स्थैतिक (Static) अथवा प्रावैगिक (Dynamic) होना किसी देश के लोगा का बुद्धिमान या मूर्ख, पढे-लिखे या अनपढ, अच्छे या बुरे होने पर निर्भर नही होता। न ही यह इस बात पर निर्भर होता है कि ये गोरे हैं या उनकी भाषा हिन्दी है या अंग्रेजी।

---

1 F. H Simonds and Brooks Emeny, *The Great Powers in World Politics*, (1939), pp. 158-159

यदि फ्रांस एवं जर्मन के लोग अपने स्थान (देश) बदल लें तो उनकी नीतियाँ भी बदल जायेंगी। यही बात जापान एवं अमरीका की परिस्थितियों के लिए कही जा सकती है।

प्रो. हैराड के अनुसार, "तेजी एवं मन्दी प्रायः विश्वव्यापी घटनाएँ हैं। इसलिए किसी देश को अपने लिए उचित उपाय का निर्णय करने से पहले अपने आपको विश्व समुदाय का एक सदस्य समझना जरूरी है एवं उसे तदनुसार अपनी नीति बनानी चाहिए।" यदि किसी देश के अन्दर बेरोजगारी होती है परन्तु उसका बाह्य सन्तुलन अनुकूल होता है, तो इस स्थिति में उसके लिए आन्तरिक प्रसार की नीति अपनानी चाहिए। अमरीका ने सन् 1930-1939 में इसी नीति को अपनाया था। यदि किसी देश के अन्दर स्फीति-दबाव होता है तथा बाहरी व्यापार में घाटा हो उसको अवस्फीति की नीति अपनानी चाहिए। यदि सामान्य रूप से सम्पूर्ण विश्व में तेजी का समय हो तो अवस्फीति का सिद्धान्त न केवल सम्बद्ध देश के लिए ही बल्कि सम्पूर्ण विश्व के लिए लाभदायक हो सकता है, क्योंकि उस समय सारे संसार में एक-सी अर्थ-व्यवस्था होगी। पुनः यदि किसी देश में आन्तरिक मन्दी है तथा बाहरी व्यापार में घाटे की स्थिति है, तो ऐसी स्थिति में उस देश को अपने निर्यात बढ़ाने चाहिए। परन्तु जब सम्पूर्ण विश्व में मन्दी फैल रही हो तो किसी भी देश के द्वारा अवमूल्यन की नीति अपनाना उचित नहीं होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक-नीतियों के सम्बन्ध में साधारणतया दो विचारधाराएँ पायी जाती हैं। पहली विचारधारा के लोगों का कहना है कि व्यापार करना व्यक्तियों का प्राकृतिक अधिकार है। कोई भी देश दूसरे देशों के साथ व्यापार करने को मना नहीं कर सकता। इस विचार के अनुसार, विभिन्न देशों को अपने बन्दरगाह व्यापार के लिए खोल देने चाहिए। इस प्राकृतिक विचारधारा के तर्कों का परिणाम स्वतन्त्र व्यापार है।

दूसरी विचारधारा के लोगों की मान्यता है कि प्रत्येक देश को यह पूर्ण अधिकार है कि वह अपने विदेशी व्यापार पर जितने चाहे उतने प्रतिबन्ध लगाये। यदि वह चाहे तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को पूर्ण रूप से बन्द भी कर सकता है।

वास्तव में आधुनिक परिस्थितियों में इन दोनों ही विचारधाराओं के बीच का मार्ग अपनाया जाता है। अर्थात् यह भी सम्भव नहीं है कि एक देश पूर्ण बन्द अर्थ-व्यवस्था कायम रखे या विदेशी व्यापार बिल्कुल न करे, तो दूसरी ओर भी आवश्यक है कि वह अपने उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने हेतु तथा भुगतान-सन्तुलन को व्यवस्थित रखने हेतु अपने आयातों को नियन्त्रित रखें। प्रो. हैबरलर के अनुसार, 'वाणिज्य-नीति या व्यापारिक-नीति से हमारा आशय उन सभी उपायों से है जो किसी देश के बाहरी आर्थिक सम्बन्धों का नियमन करते हैं; अर्थात् वे उपाय जो किसी देश की वस्तुओं एवं सेवाओं के आयात एवं निर्यात को सहायता देने अथवा रोकने के लिए प्राप्त होते हैं। इसमें आयात तथा निर्यात पर लगाये जाने वाले कर, अधिदान तथा प्रतिबन्ध शामिल होते हैं। किन्तु वस्तुओं का अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अन्य तरीकों से भी रोका अथवा बढ़ाया अथवा बाधक बनाया जा सकता है। जैसे माल-भाड़ा दरों का नियमन, कुछ आयातित वस्तुओं के लिए अधिक व्यय वाले पैकिंग का आग्रह तथा अन्य अनेक तरीके (chicaneries) भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रयोग किये जाते हैं जिसमें निर्यात को बढ़ाने के लिए उपादान एवं अधिदान आदि भी छिपे रूप से शामिल रहते हैं।[1]

---

1 "By commercial policy or trad e policy, we understand all measures regulating the external economic relations of a country; that is, measures taken by a territorial government which has the power of assisting or hindering the export or import of goods and services. These consist primarily of duties, bounties and prohibitions upon imports or exports. But the international exchange of goods can be prevented or stimulated by other measures also, such as veterinary regulations, the regulation of freight rates an insistence upon an expensive packing for certain imported goods, and a host of other chicaneries to which International trade may be subjected, together with concealed subsidies and bounties to promote export."

—Haberler, *The Theory of International Trade*, p 212

इस प्रकार वाणिज्य-नीति का अर्थ उन सभी तरीकों की व्याख्या करना है जो किसी देश द्वारा अपने आयातों तथा निर्यातों की वृद्धि करने अथवा उन्हें रोकने (कम करने) के लिए प्रयोग किये जाते हैं।

वाणिज्य-नीति अथवा व्यापारिक-नीति के प्रकार
[TYPES OF COMMERCIAL POLICY OR TRADE POLICY]

साधारणतया विश्व के विभिन्न देशों द्वारा निम्न पाँच प्रकार की व्यापारिक नीतियों को अपनाया गया है

(1) प्रतिबन्धित नीति (Restriction Policy)

(2) व्यापारवादी नीति (Policy of Mercantilism)

(3) स्वतन्त्र व्यापार-नीति (Free Trade Policy)

(4) अधिक स्वतन्त्र व्यापार-नीति (Free Trade Policy)

(5) सरक्षण की नीति (Policy of Protection)।

प्रस्तुत अध्याय में हम उपर्युक्त प्रकार की पाँचों व्यापारिक-नीतियों का सक्षिप्त वर्णन करेंगे। स्वतन्त्र व्यापार एव सरक्षण की नीतियों का विस्तृत वर्णन अगले अध्याय में किया जायेगा।

1 **प्रतिबन्धित नीति (Restriction Policy)**—प्राचीन समय में राष्ट्रीय वाणिज्यिक-नीतियों का अभाव था। व्यापार की सीमा शहरों तथा कस्बों तक ही सीमित थी। शहरों में होने वाला व्यापार अनेक सरकारी प्रतिबन्धों से जुड़ा हुआ था। एक शहर के व्यापारियों को अपनी वस्तुएँ निर्धारित कीमतों पर बेचनी पड़ती थी तथा उनके बदले वहाँ से दूसरी वस्तुएँ खरीदनी अनिवार्य थी। इस प्रकार की कार्य-प्रणाली का मुख्य उद्देश्य यह रहा था कि एक देश की मुद्रा उसी देश में रहे।

उस समय अनेक शहरी बाजारों का निर्माण हो गया था किन्तु उन बाजारों में नाप, तोल, मूल्य आदि से सम्बन्धित क्रियाओं पर पूर्ण नियन्त्रण रखा जाता था। शहर एव कस्बे अपने क्षेत्र के अन्तर्गत सम्पूर्ण आयात एव निर्यात पर नियन्त्रण रखते थे। खाद्य पदार्थों की सीमित पूर्ति के निर्यात पर प्रतिबन्ध रहता था तथा क्षेत्रीय उद्योगों को आयात के फलस्वरूप बाह्य प्रतियोगिता से सरक्षण प्रदान किया जाता था। शहर की सरकारें विभिन्न प्रकार के कर लगाकर आयात तथा निर्यात पर नियन्त्रण रखती थी।

यह स्थिति सामन्तशाही (Feudalism) तक ही रही। इसकी समाप्ति के बाद राजाओं का राज्य स्थापित हुआ, जिसके फलस्वरूप आधुनिक राज्यों का जन्म हुआ।

2 **व्यापारवादी नीति (Policy of Mercantilism)**—सामन्तशाही की समाप्ति के बाद आधुनिक राष्ट्रों का विकास हुआ। राजा महाराजाओं ने अपने अधिकारों का केन्द्रीकरण कर दिया। इस अवधि को सामान्यतया व्यापारिक-अवधि (Mercantilism Period) के नाम से जाना जाता है *तथा इसमें प्रचलित नीति को व्यापारी-नीति कहकर पुकारा जाता है।*

इस अवधि में मुद्रा एव बहुमूल्य धातुएँ व्यक्तियों का मुख्य धन समझी जाती थी। उपनिवेशों (Colonies) *का स्वदेश के लिए शोषण किया गया। इस अवधि में विदेशी व्यापार का प्रभाव बढ़ने* के कारण देशी उद्योगों एव कृषि को हानि उठानी पड़ी।

व्यापारवादियों का यह विचार था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से केवल एक पक्षीय लाभ ही प्राप्त होता है वे यह नही समझ पाये कि व्यापार से वास्तविक लाभ प्राप्त होने वाली मुद्रा में नहीं है वरन् अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन से कम से कम मानवीय प्रयत्नों द्वारा व्यक्ति की अधिक से अधिक आवश्यकता की सन्तुष्टि में है। यही कारण है कि उन्होंने व्यापार को प्रभावित करने वाले अदृश्य तत्वों जैसे अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग, ब्याज का भुगतान, समुद्री किराया, बीमा आदि के प्रभाव पर ध्यान नहीं दिया।

यह सिद्धान्त (व्यापारवादी) स्पेन, पुर्तगाल, नीदरलैण्ड, इगलैण्ड तथा फ्रान्स में सक्रिय रूप से लागू किया गया। इस समय में राज्य के लिए अपनी आय प्राप्त करना एक मुख्य *समस्या थी।* राजा की शक्ति उसकी फौज पर निर्भर करती थी। फौज की आवश्यकता राज्यादेशों के पालन, आन्तरिक शान्ति व्यवस्था एव बाहरी आक्रमणों से रक्षा करने हेतु भी समझी जाती थी। **फौज ही**

उस राज्य का विस्तार कर सकती थी । बहुत लम्बी फौज के व्यय के लिए अधिक धन की आवश्यकता थी । अत वस्तुओं की अपेक्षा स्वर्ण एवं बहुमूल्य धातुओं का अधिक महत्व बढ़ गया । स्वर्ण ही राज्य का मुख्य धन समझा जाने लगा । अत प्रत्येक राज्य में स्वर्ण की वृद्धि करने के प्रयास किये जाते थे । राजाओं ने अपने देशों से स्वर्ण एवं चाँदी का निर्यात बन्द कर दिया तथा देशी व्यापारियों द्वारा विदेशों में बेची गयी वस्तुओं के बदले देश में निश्चित मात्रा में नकद राशि (स्वर्ण के रूप में) लाना तथा विदेशी व्यापारियों को उनके द्वारा बेची गयी वस्तुओं के स्थान पर देशी वस्तुएँ खरीदना आवश्यक कर दिया ।

व्यापारवादी-नीति की एक मुख्य विशेषता 'अनुकूल व्यापार सन्तुलन' भी थी । इसके अनुसार उस देश की प्राप्तियाँ उसके भुगतान से अधिक होनी चाहिए । अनुकूल व्यापार सन्तुलन प्राप्त करने के सभी प्रयास किये जाते थे । अधीनस्थ देशों (Colonies) का व्यापार नियन्त्रित किया जाता था तथा उनका शोषण भी किया जाता था । निर्यात-व्यापार को प्रोत्साहन देना इस नीति का मुख्य उद्देश्य रहा था जबकि आयातों को अत्यधिक करों द्वारा कम किया जाता था ।

3. स्वतन्त्र व्यापार-नीति (Free Trade Policy)—स्वतन्त्र व्यापार-नीति का विकास वाणिज्यवादी-नीति की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ । 18वीं शताब्दी के आरम्भ में व्यापारवादी-नीति के विरोध में एक तीव्र प्रतिक्रिया हुई । इसका प्रभाव फ्रान्स में अधिक था । फ्रान्स में ही इसकी शुरुआत प्रकृतिवादी अर्थशास्त्री (Physiocrate Economists), क्वेस्ने (Quesnay), टरगट (Turgot) तथा कूर्ने (Courney) आदि ने की । व्यापारियों (Mercantilists) ने व्यापारिक उद्योगों को अधिक महत्व दिया था जबकि कृषि के विकास पर कोई ध्यान नहीं दिया । इसके विपरीत, प्रकृतिवादियों ने, जिनमें अधिकतर बड़े भूस्वामी थे, कृषि उद्योगों को अधिक महत्व प्रदान किया । उनके मतानुसार कृषि ही शुद्ध उपज उत्पन्न करने में सक्षम है, क्योंकि किसान कुछ दाने बोकर अनेक प्राप्त करता है जबकि व्यापार (उद्योग) केवल भूमि से प्राप्त उपज का आकार व स्थान परिवर्तन करता है ।

प्रो. हैबरलर के अनुसार, "स्वतन्त्र व्यापार में सामाजिक उत्पादन अधिकतम होना आर्थिक रूप से लाभदायकता की ओर संकेत करता है ।"[1]

एडम स्मिथ के अनुसार, "स्वतन्त्र व्यापार-नीति की धारणा का सम्बन्ध एक ऐसी वाणिज्य-नीति से है जो घरेलू और विदेशी वस्तुओं के मध्य किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करती है तथा जो न तो घरेलू को किसी प्रकार की विशेष छूट देती है और न किसी वस्तु पर कोई अतिरिक्त भार डालती है ।" इस प्रकार स्वतन्त्र व्यापार-नीति किसी कृत्रिम बाधा को उत्पन्न किये बिना वस्तुओं और सेवाओं के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह को स्वीकृति प्रदान करती है ।

4. अधिक स्वतन्त्र व्यापार-नीति (Free Trade Policy)—इस नीति को अमरीका एवं विश्व के अन्य देशों द्वारा द्वितीय महायुद्ध के समय अपनाया गया था । व्यापार एवं प्रशुल्क सम्बन्धी समझौते (GATT), यूरोपियन साझा बाजार (ECM) तथा अन्य क्षेत्रीय संगठन अधिक स्वतन्त्र बाजारों के उदाहरण बताये जा सकते हैं । इनकी विस्तृत जानकारी के लिए अगले अध्यायों में दी गयी सामग्री का अध्ययन करें ।

5 संरक्षण की नीति (Policy of Protection)—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित स्वतन्त्र व्यापार-नीति के अनेक गुण होते हुए भी विश्व के अनेक देशों ने इसका विरोध करते हुए भी संरक्षण की नीति को अपनाया । सन् 1791 में एलेक्जेण्डर हेमिल्टन (Alexander Hamilton) ने स्वतन्त्र व्यापार के विरुद्ध नेतृत्व प्रदान करते हुए राष्ट्रीयवाद की नीति (Policy of Nationalism) को जन्म दिया । उनका सुझाव था कि राष्ट्रीय उत्पादन को संरक्षण द्वारा बढ़ाया जा सकता है । इस नीति को जर्मनी के फ्रेडरिक लिस्ट ने और अधिक विकसित किया । इस प्रकार अमरीका एवं जर्मनी में संरक्षण की नीति को प्रोत्साहन मिला जबकि ब्रिटेन अपना बचाव करते हुए स्वतन्त्र व्यापार-नीति पर चलता रहा ।

---

1 "Free trade is economically advantageous, we look the maximisation of the social product as the criterion by which a situation or measure was to be judged."—G V. Haberler, *Theory of International Trade*, p 321.

संरक्षण की नीति का तात्पर्य एक ऐसी नीति से है जो विश्व सापेक्षिक भूमियो की तुलना घरेलू सापेक्षिक मूल्यो मे वृद्धि करके घरेलू उद्योगो को प्रोत्साहित करती है। सरल शब्दो मे, देश उद्योगो को कुछ सुविधाएँ व आर्थिक सहायता देकर अथवा विदेशी वस्तुओ पर ऊँचे कर लगाकर प्रोत्साहन देने तथा उनके विकास करने की नीति को संरक्षण की नीति कहा जाता है। इसका मुख्य उद्देश्य देश का औद्योगिक विकास करना है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उपर्युक्त विभिन्न नीतियो मे से कौन-सी नीति देश के लिए उपयुक्त होगी ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए आगामी अध्यायो मे दी गयी विषय-सामग्री का अध्ययन करें।

प्रश्न एवं उनके संकेत

1. व्यापारिक-नीति से आप क्या समझते हैं ? एक देश की व्यापारिक-नीति को प्रभावित करने वाले तत्वों की विवेचना कीजिए।

   What do you understand by trade policy ? Explain the factors which influence the commercial policy of a country.

   [संकेत—सर्वप्रथम व्यापारिक-नीति का अर्थ स्पष्ट कीजिए तथा उसके बाद एक देश की *व्यापारिक-नीति को प्रभावित करने वाले तत्व जैसे भौगोलिक स्थिति, आर्थिक स्थिति, जन*-सख्या की स्थिति, सामयिक स्थिति, आदि का सक्षेप मे वर्णन कीजिए।]

2. अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य-नीति क्या है ? वाणिज्य-नीति के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए।

   What is an international commerical policy ? Explain the various types of commercial policy.

   [संकेत—वाणिज्य-नीति का अर्थ बताते हुए उसके विभिन्न प्रकारो का उल्लेख कीजिए। इन नीतियो की विशेषताओ, गुण एव दोषो को भी बताइए। इसके लिए अगले अध्यायो मे दी गयी विषय-सामग्री को देखें।]

3. निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :

   (i) मुक्त व्यापार-नीति।
   (ii) संरक्षण की नीति।

   Write brief notes on the following :

   (i) Free Trade Policy.
   (ii) Policy of Protection.

13

संरक्षण बनाम स्वतन्त्र व्यापार
[PROTECTION vs FREE TRADE]

स्वतन्त्र व्यापार
[FREE TRADE]

स्वतन्त्र व्यापार वह नीति है जिसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में पूर्ण स्वतन्त्रता हो। ऐसी स्थिति में दो देशों के बीच वस्तुओं के स्वाभाविक आदान-प्रदान में किसी भी प्रकार की कृत्रिम पाबन्दी या रोक नहीं होती। एडम स्मिथ के अनुसार "स्वतन्त्र व्यापार की धारणा का उपयोग व्यापारिक-नीति की उस प्रणाली को बन्द करने के लिए किया जाता है जिसमें देशी तथा विदेशी वस्तुओं में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रखा जाता और इसलिए न तो विदेशी वस्तुओं पर अनावश्यक कर लगाये जाते हैं और न ही स्वदेशी उद्योगों को कोई विशेष सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं।"[1] इस परिभाषा का यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि मुक्त व्यापार के अन्तर्गत किसी भी प्रकार का कर नहीं लगाया जाता, बल्कि इस व्यवस्था में जो भी कर लगाये जाते हैं उनका उद्देश्य सरकार की आय प्राप्त करना होता है न कि किसी उद्योग विशेष के लिए संरक्षण देना।

कैयरनेस (Cairness) के अनुसार, "यदि विशेष लाभ के लिए राष्ट्र व्यापार करते हैं, तो उनका स्वतन्त्र व्यापारिक क्रियाओं में हस्तक्षेप करना लाभों से वंचित रहना होगा।"[2] इस परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वतन्त्र व्यापार का सिद्धान्त श्रम-विभाजन के सिद्धान्त का अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विस्तार है। आर्थिक क्रियाओं का उद्देश्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना है जो कि दक्षता एवं विशिष्टीकरण द्वारा ही सम्भव हो सकता है। अतः विशिष्टीकरण के लाभ स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत ही प्राप्त हो सकते हैं।

बेस्टेबल के अनुसार, "स्वतन्त्र व्यापार का व्यावहारिक नियम विदेशी व्यापार सिद्धान्त से लिया हुआ है, जिसमें, किसी उद्योग-विशेष को दिये जाने वाले प्रोत्साहन एवं समस्त प्रतिबन्ध समाप्त कर दिये जाते हैं, कर केवल आय के उद्देश्य को ध्यान में रखकर लगाये जाते हैं, किसी अन्य उद्देश्य से नहीं, जहाँ तटकर अनिवार्य रूप से लगाये गये हों, उनके बराबर उत्पादन कर लगाये जाते हैं।"[3]

---

1 "The term Free Trade has been used to denote that system of commercial policy which draws no distinction between domestic and foreign commodities and, therefore, neither impose additional burdens on the letter, nor grants any special favours to the industries of the former." —Adam Smith, quoted by Pelgrave in *Dictionary of Political Economy*, Vol II, p 153.

2 "If nations only emerge in trade when an advantage arises from doing so, any interference with their free action in trading can only have the effect of declaring them form an advantage" —Cairness, *Leading Principles of Political Economy*, Part III, Chapter 5, Sec. 1.

3 "The practical rule of free trade—that is, the removal of all artificial restriction on, or encouragements to, any particular industry; the leving of duties for the purpose of obtaining revenue, and from no other motive; the leving of equivalent excise duties where customs [duties are requisite—is a deduction from the theory of foreign trade."—Bastable, *The Theory of International Trade*, pp 128-129.

इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषाओ से स्पष्ट है कि स्वतन्त्र व्यापार तुलनात्मक लागतो के सिद्धान्त की एक स्वाभाविक शर्त है। ऐसी परिस्थिति मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एव आन्तरिक व्यापार मे कोई अन्तर नही माना जाता और जितनी अधिक व्यापारिक स्वतन्त्रता होगी व्यापार से दोनो पक्षो को उतने ही अधिक लाभ प्राप्त होगे। जिस प्रकार आन्तरिक व्यापार मे स्वतन्त्रता होने पर कोई भी व्यक्ति सबसे कम मूल्य वाले बाजार मे वस्तु खरीद सकता है अथवा अपनी वस्तु उस बाजार मे बेच सकता है जहाँ उसे अधिकतम मूल्य प्राप्त हो सके। ठीक उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे स्वतन्त्रता होने पर कोई भी देश सबसे सस्ते मूल्य पर वस्तुओ की खरीद तथा सबसे अधिक मूल्य देने वाले देश म वस्तुओ की बिक्री करने को स्वतन्त्र रहता है। मुक्त व्यापार-नीति का औचित्य दो बातो पर निर्भर है (1) सरकारी प्रतिबन्धो के अभाव मे श्रम व पूंजी की इकाइयाँ अपनी पूर्ण गतिशीलता के कारण उन उद्योगो म प्रयुक्त की जायेंगी जहाँ उनसे प्राप्त किया फल सर्वाधिक हो तथा (2) प्रत्यक देश मे (तथा सम्पूर्ण विश्व मे) अधिकतम उत्पादन प्राप्त किया जा सकेगा क्योकि मुक्त व्यापार के अन्तर्गत प्रत्येक साधन की इकाइयो का उपयोग इस प्रकार किया जाता है कि उत्पादन की लागत न्यूनतम हो जाय। इस प्रकार साधनो का उपयोग तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त के अनुसार होने के फलस्वरूप प्रत्यक देश उस वस्तु के उत्पादन मे विशिष्टता प्राप्त करता है जिसकी लागत न्यूनतम हो, तथा उन सभी वस्तुओं का आयात करता है जिनको अन्य देश न्यूनतम लागत पर उत्पादित करते हैं परन्तु जिसके लिए इस देश को अपेक्षाकृत अधिक लागत व्यय करनी पडती है। इस प्रकार दीर्घकाल मे मुक्त व्यापार से प्रत्येक देश को लाभ होता है। जैकब वाइनर के अनुसार 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि निर्यात के बदले अन्य देशों से प्राप्त वस्तुएँ उस लागत से कम पर प्राप्त की जाती हैं जो इन (आयातित) वस्तुओ के देश मे ही उत्पादन करने पर वहन करनी पडती हैं। यदि ऐसा नही हो तो मुक्त व्यापार होने पर भी इन वस्तुओं का आयात नही किया जायगा।'[1]

स्वतन्त्र व्यापार को इसलिए उपयुक्त माना जाता है क्योकि यह **परेटो इष्टतम'** (Pareto-Optimality) की प्राप्ति हेतु प्रत्यक्ष विधि प्रस्तुत करता है। विभिन्न क्रियाओं के मध्य साधनो का आवटन तथा विभिन्न वस्तुओ के उपभोक्ताओ के मध्य आवटन इस प्रकार किया जाता है कि अधिकतम कल्याण (अधिकतम सन्तुष्टि) की प्राप्ति की जा सके। यही नही परेटो इष्टतम की शर्त के अनुसार साधनो व वस्तुओ के पुनर्वितरण द्वारा किसी एक व्यक्ति को श्रेष्ठतम व अन्य दूसरे व्यक्ति को अपेक्षाकृत निम्न सन्तुष्टि-स्तर पर लाना भी सम्भव नही होना चाहिए। इन शर्तों के विद्यमान रहने से स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत वस्तुओ के मूल्य सर्वत्र समान हो जायेंगे। यही नही विनिमय-क्षेत्र मे प्रत्येक वस्तु का मूल्य इसकी सीमान्त लागत के समान होने के कारण वस्तुओ का उत्पादन इष्टतम स्तर पर होगा। स्वतन्त्र व्यापार एव साधनो की पूर्ण गतिशीलता के कारण उत्पादन के साधनो का मूल्य (एव तदनुसार उत्पादन लागत) भी सर्वत्र (सभी उद्योगो मे) समान हो जायगा एव विभिन्न उद्योगो के बीच इसका इष्टतम आवटन होगा। अतएव यह कहा जा सकता है कि यदि सभी क्षेत्रो मे सामाजिक एव प्राइवेट सीमान्त मूल्य (आगम) सामाजिक एव प्राइवेट लागत के समान हो, तो समाज को साधनो के आवटन, वस्तुओ के उत्पादन एव वितरण मे अधिकतम दक्षता हो जाती है। सक्षेप मे, यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्र व्यापार अधिकतम कल्याण की शर्तें प्रस्तुत करता है तथा यह बताता है कि इसमे सम्बद्ध सभी शर्तों के बँधे रहते हुए समाज के सभी उपभोक्ताओ एव साधनो के सभी स्वामियो को अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होगी।

इसके अतिरिक्त कुछ लोग स्वतन्त्र व्यापार की नीति का इसलिए भी अनुमोदन करते हैं कि इसमे वे दोष विद्यमान नहीं हैं जो सरक्षण की नीति से उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु स्वतन्त्र व्यापार-नीति अथवा मूल्य सयन्त्र आज के सन्दर्भ मे इतना अधिक व्यावहारिक नहीं है और अर्थशास्त्री इसमे अनेक दोष बताते हैं।

स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष मे तर्क
(Arguments for Free Trade)

स्वतन्त्र व्यापार के समर्थक अपने पक्ष मे अग्रलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं :

---

1 Jacob Viner, *International Economics*, (1951)

(1) सामाजिक उत्पादन का अधिकतमीकरण (*Maximisation of Social Output*)—जैसा कि हम वर्णन कर चुके है, स्वतन्त्र व्यापार से श्रम-विभाजन एव विशिष्टीकरण के लाभ प्राप्त करना सम्भव हो जाता है। स्वतन्त्र व्यापार मे मूल्य-यन्त्र विनियोग के क्षेत्र मे एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसके अनुसार प्रत्येक देश उन वस्तुओ एव सेवाओ के उत्पादन मे विशिष्टीकरण करे जिनमे उसे सापेक्षिक रूप से लाभ प्राप्त होता है तथा उन वस्तुओ एव सेवाओ का आयात करे जिनको स्वय देश मे उत्पन्न करने की अपेक्षा विदेशो से अपेक्षाकृत कम कीमत पर प्राप्त किया जा सकता है। इसके फलस्वरूप व्यापार मे सलग्न सभी राष्ट्रो की वास्तविक आय मे वृद्धि होती है।

हम यह जानते है कि स्वतन्त्र व्यापार विभिन्न क्षेत्रो के मध्य वस्तु-मूल्यो मे समानता उत्पन्न करता है। इसके फलस्वरूप व्यापार के लाभो मे और अधिक वृद्धि होने की सम्भावना समाप्त हो जाती है। अर्थात् ऐसी स्थिति मे प्रत्येक देश को अधिकतम लाभ प्राप्त होता है। इसी बात को इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है कि स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत वस्तुओ एव सेवाओ के मूल्य उनकी सीमान्त लागतो के बराबर हो जाते है, यह स्थिति अनुकूलतम उत्पादन को प्रदर्शित करती है। किण्डलबर्गर के अनुसार, "यदि सामाजिक तथा व्यक्तिगत सीमान्त मूल्य सब जगह सामाजिक एव व्यक्तिगत लागतों के बराबर होते हैं तो समाज के साधन का आवटन, वस्तुओ का उत्पादन एव उनका वितरण अनुकूलतम होगा।"[1] इस प्रकार प्रत्येक देश की आर्थिक क्रियाओं का उद्देश्य अधिकतम सामाजिक लाभ की प्राप्ति होता है, जिसे केवल स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत ही प्राप्त किया जा सकता है।

(2) आयातित वस्तुओं के मूल्यों मे कमी (Decrease in the Prices of Imported Goods)—हैबरलर के मतानुसार, स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष मे सबसे आकर्षक तर्क यह है कि स्वतन्त्र व्यापार से आयातित वस्तुओ के मूल्यो मे कमी हो जाती है और प्रत्येक उपभोक्ता उन वस्तुओ को सस्ते मूल्यो पर ही प्राप्त कर लेता है। परन्तु यह तर्क एकपक्षीय ही है क्योंकि इसमे स्वतन्त्र व्यापार से उपभोक्ताओ को होने वाले लाभ की ही विवेचना की गयी है। यह तर्क उत्पादको के हितो तथा रोजगार के पहलू की पूर्ण रूप मे अवहेलना करता है। परन्तु इस तर्क के समर्थक यह मानते हैं कि स्वतन्त्र व्यापार मे न केवल वस्तुओ और सेवाओ के मूल्य ही कम होते है बल्कि इसके फलस्वरूप माँग मे वृद्धि होती है तथा रोजगार मे भी वृद्धि होती है। इसके कारण अतिरिक्त अर्थ-व्यवस्था के दूसरे भागो के उत्पत्ति के साधन गतिशील हो जायेंगे। वे वहाँ चले जायेंगे जहाँ वे अधिक आय प्राप्त कर सकते हैं।

(3) प्रतियोगिता (Competition)—स्वतन्त्र व्यापार मे प्रतियोगिता होने की निश्चितता के कारण उपभोक्ता उत्पादको के एकाधिकारात्मक शोषण से सुरक्षित रहता है। परन्तु कभी-कभी यह देखा जा सकता है कि स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत भी अन्तर्राष्ट्रीय तथा स्थानीय एकाधिकार स्थापित हो सकते है, जो उत्पादन मे कमी तथा मूल्यो मे वृद्धि करके उपभोक्ताओ का शोषण कर सकते हैं।

देश मे स्वतन्त्र आयातों के कारण प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो जाती है जिसके फलस्वरूप केवल वे ही व्यवसाय जीवित रह सकेंगे जिनमे उत्पादन लागत न्यूनतम हो। ये उद्योग अनन्त अपना एकाधिकार स्थापित कर लेते है।

(4) स्वर्णमान प्रणाली के अनुकूल (Favourable to the System of Gold Standard)—स्वतन्त्र व्यापार व्यवस्था पूर्ण रूप से स्वर्णमान प्रणाली के अनुकूल है। किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय मान की सफलता विभिन्न मुद्राओ के स्वतन्त्र क्रय-विक्रय पर निर्भर करती है, स्वतन्त्र व्यापार की अनुपस्थिति मे विभिन्न मुद्राओ का क्रय-विक्रय आसानी से नही किया जा सकता। इस प्रकार राष्ट्रीय मुद्राओ की बहुउद्देशीय परिवर्तनशीलता (विनिमेयता) आवश्यक रूप से स्वतन्त्र व्यापार प्रणाली गठबन्धित है।

(5) विश्व के सभी देशों के आर्थिक हितों की सुरक्षा (Protects the Economic Interests of all the Countries of the World)—स्वतन्त्र व्यापार प्रणाली मे विश्व के सभी देशो

---

1 Kindleberger, *International Economics*, 4th Edition, p. 203.

के आर्थिक हितों की रक्षा होती है। युद्धकाल के समय में अनेक देशों में कच्चे माल की समस्या अत्यन्त जटिल हो गयी थी। इटली जापान, तथा जर्मनी में कच्चे माल की अत्यन्त कमी थी। इन देशों को अभावग्रस्त (Have nots) कहा जाता था। इसके विपरीत अन्य देशों को सम्पन्न (Haves) कहा जाता था। इसका मुख्य कारण यह था कि 1930 की आर्थिक मन्दी के समय में स्वतन्त्र व्यापार की प्रणाली समाप्त हो गयी थी जिसकी जगह द्विपक्षीय व्यापार समझौतों की शृंखला ने ले ली थी। इस प्रकार सीमा में सम्पूर्ण विश्व के व्यापार का स्वरूप ही बदल गया। इसके फलस्वरूप जर्मनी इटली जापान आदि अभावग्रस्त (Havenots) देशों ने कच्चे माल व सम्पन्न उपनिवेशों के पुनर्वितरण की मांग की। जापान ने चीन पर आक्रमण करके मंचूरिया को अपने अधिकार क्षेत्र में ले लिया जिसमें कच्चे माल जैसे कोयला लोह धातु सोयाबीन आदि का प्रचुर भण्डार है।

(6) **साधनों का इष्टतम प्रयोग** (Optimum Use of Resources)—जैसा कि हम प्रारम्भ में बता चुके हैं स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत उत्पादन के साधनों का उचित एवं सरल वितरण होता है, फलतः उनका अनुकूलतम प्रयोग करके अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सकता है। स्वतन्त्र प्रतियोगिता (साधनों की स्वतन्त्र गतिशीलता) एवं विस्तृत बाजार इस उपयोग में सहयोग प्रदान करते हैं।

(7) **भौगोलिक स्थानीयकरण** (Geographical Localisation)—कुछ देशों को ऐसे विशिष्ट साधन प्राप्त होते हैं जिनकी सहायता से वस्तुओं का उत्पादन करके वे लाभ प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक देश उन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करता है जिनके उत्पादन के लिए उसके साधन सबसे अधिक उपयुक्त हैं। वह इन वस्तुओं का विनिमय करके अपनी अन्य आवश्यकताओं की वस्तुओं को अन्य देशों से प्राप्त कर सकता है अतः स्वतन्त्र व्यापार भौगोलिक स्थानीयकरण को जन्म देता है जिसके फलस्वरूप श्रम-विभाजन के अनेक लाभ होते हैं।

(8) **हानिकारक एकाधिकारों पर रोक** (Prevents Injurious Monopolies)—स्वतन्त्र व्यापार प्रणाली में प्रत्येक साहसी को उत्पादन क्षेत्र में प्रवेश का अधिकार होता है। इसके फलस्वरूप हानिकारक एकाधिकार पर रोक लग जाती है। हैबरलर के अनुसार, स्वतन्त्र आयात एवं निर्यात के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में संलग्न सभी देशों को लाभ होता है क्योंकि इससे हानिकारक एकाधिकार की स्थापना पर रोक लग जाती है। अर्थव्यवस्था की एकाधिकारों के निर्माण से निम्न प्रकार की हानियाँ हो सकती हैं

(i) स्वतन्त्र व्यापार में प्रत्येक देश कुछ वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करके आदर्श आकार को प्राप्त कर लेता है, जिससे सभी क्षेत्रों में लागत कम हो जायेगी। व्यापार की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाने से अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन के लाभ प्राप्त नहीं होंगे।

(ii) स्वतन्त्र व्यापार पर रोक लगाने के फलस्वरूप स्थापित होने वाले एकाधिकारों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का मूल्य उनकी उत्पादन लागतों से भी अधिक बढ़ जायेगा जो प्रतिबन्धित बाजार होने से सापेक्षिक रूप में कम उत्पादन होने के कारण पहले से ही बढ़े हुए स्तर पर थे।

(iii) स्वतन्त्र प्रतियोगिता में प्रतिबन्ध के परिणामस्वरूप प्रबन्ध-व्यवस्था कम कुशल हो जाती है तथा उत्पादन प्रणाली में सुधार सम्भव नहीं होता।

परन्तु स्वतन्त्र व्यापार एकाधिकारों के निर्माण के विरुद्ध पूर्ण संरक्षण प्रदान नहीं करता। स्वतन्त्र व्यापार में भी अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकारों एवं स्थानीय एकाधिकारों की स्थापना सम्भव है। इन स्थानीय एकाधिकारों का अस्तित्व परिवहन व्ययों पर निर्भर करता है। इनका प्रभाव प्रशुल्क (तट-कर) की भाँति होता है जिनकी उपज अधिक परिवहन व्यय पर निर्भर करती है उससे कम उत्पादन लागत पर एक बड़े क्षेत्र में अधिक उत्पादन के विपणन (Marketing) की बढ़ी हुई लागतों के प्रभाव द्वारा समाप्त हो जाता है।

इन दशाओं में एक समान मूल्य वाला कोई एक बाजार नहीं होता, जैसा कि साधारण मूल्य-सिद्धान्त द्वारा बताया जाता है बल्कि अनेक एकाधिकारी क्षेत्र होंगे जो आंशिक रूप से एक दूसरे की सीमा उल्लंघन करते हुए होंगे और इनमें प्रतियोगी मूल्य प्रचलित होंगे परन्तु प्रत्येक क्षेत्र में एकाधिकारी मूल्य होंगे। अतः प्रतियोगी क्षेत्र में प्रतियोगिता मूल्य तथा प्रत्येक जिले में एकाधिकार मूल्य स्थापित हो जायेंगे।

(9) अल्प-विकसित देशों का आर्थिक विकास (Economic Development of Under-developed Countries)—हैबरलर के अनुसार, "स्वतन्त्र व्यापार अल्प-विकसित राष्ट्रों के आर्थिक विकास की दर में त्वरित गति से वृद्धि करने के लिए उसकी सहायता करता है।"[1] इस सम्बन्ध में हैबरलर ने निम्नलिखित बातों का उल्लेख किया है :

(i) स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत अल्प-विकसित देश अपने नियोजित विकास हेतु पूंजीगत वस्तुओं, मशीनरी तथा आवश्यक कच्चे माल का आयात आसानी से कर सकते हैं।

(ii) स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत अल्प-विकसित देश विश्व के विकसित देशों से आवश्यक तकनीकी जानकारी, प्रबन्धात्मक प्रतिभा तथा उद्यमकर्ता आदि का आयात कर सकते हैं।

(iii) स्वतन्त्र व्यापार से शुद्ध प्रतियोगिता को प्रोत्साहन मिलता है जिससे फलस्वरूप अल्प-विकसित देशों को अपनी आयातित वस्तुएँ सस्ते मूल्य पर मिल सकती हैं।

(10) संरक्षण सम्बन्धी दोषों का निवारण—स्वतन्त्र व्यापार से संरक्षण के अनेक दोषों का निवारण होता है। इनमें मुख्य निम्न प्रकार हैं :

(i) संरक्षण कमजोर एवं दुर्बल उद्योगों को प्रोत्साहन देकर देश के औद्योगिक संगठन को दुर्बल करता है।

(ii) प्रतियोगिता के ह्रास होने से साहसी आलसी हो जाते हैं। वैज्ञानिक प्रबन्ध एवं अन्य सुधार कार्यों को प्रेरणा नहीं मिलती।

(iii) संरक्षण के कारण कुछ वर्ग विशेष को ही लाभ पहुँचाया जाता है। इस प्रकार वर्ग-भेद एवं वर्ग-शोषण बढ़ता है।

(iv) प्रशुल्क के कारण उपभोक्ताओं को आवश्यक करों का भार सहन करना पड़ता है। इससे फलस्वरूप उनका जीवन स्तर निम्न हो जाता है।

(v) संरक्षण के कारण राजनीतिक भ्रष्टाचार को भी बढ़ावा मिलता है।

(vi) प्रशुल्क अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परिमाण को कम कर देते हैं।

(vii) प्रशुल्क नियमों का प्रशासन खर्चीला होता है।

(viii) प्रशुल्क के कारण स्वदेशी वस्तुओं की कीमतें भी बढ़ जाती हैं। फलस्वरूप विदेशी लोग अन्य देशों से वस्तुएँ खरीदने लगते हैं तथा देश के निर्यात कम हो जाते हैं।

स्वतन्त्र व्यापार द्वारा उपर्युक्त दोषों का नियन्त्रण किया जा सकता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सद्भावना एवं सहयोग को बढ़ावा मिलता है।

स्वतन्त्र व्यापार अथवा मूल्य प्रणाली सीमाएँ
(Limitations of Free Trade and Price System)

(1) स्वतन्त्र व्यापार की नीति कुछ अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित होती है। परम्परागत दृष्टि से मुक्त व्यापार तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त पर अवलम्बित था। जैसा कि हम यह पढ़ चुके हैं कि तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त विशेष रूप से विकासशील देशों के लिए अनुपयुक्त है।

(2) स्वतन्त्र व्यापार की नीति उसी समय वैध होती है जब वस्तुओं एवं साधनों के बाजारों में पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान हो। परन्तु यदि किसी भी बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता का अभाव हो तो वस्तुओं का आवंटन एवं साधनों का वितरण पूर्ण दक्षतापूर्ण (इष्टतम) नहीं हो सकता है।

(3) जब बाह्य बचतें अथवा बाह्य अबचतें (external diseconomies) विद्यमान हों तो सामाजिक सीमान्त मूल्य (आगम) एवं निजी (private) सीमान्त मूल्य में भी अन्तर आ जाता है, अर्थात् व्यक्ति विशेष को प्राप्त सीमान्त लाभ समाज को प्राप्त सीमान्त लाभ से कम या अधिक हो सकता है। इसी प्रकार शिशु-उद्योगों आदि के सन्दर्भ में निजी लागतों व दीर्घकालीन सामाजिक लागतों में अन्तर हो सकता है। ऐसी परिस्थिति में आयात कर अथवा घरेलू उत्पादन पर अनुदान देकर ही शिशु-उद्योगों को जीवित रखा जा सकता है।[2] यदि शिशु-उद्योगों को भी मुक्त व्यापार के

1 V. ▢ Haberler, *International Trade and Economic Development*, 1959, p. 4
2 C. P. Kindleberger, *International Economics*, p. 294.

साथ प्रतिस्पर्धा होने दी जाय तो सशक्त विदेशी उद्योगपति कम उत्पादन लागत के कारण इन उद्योगों को शीघ्र ही समाप्त कर देंगे, इसीलिए शिशु-उद्योगों को प्रतियोगिता की आंधी से बचाने हेतु संरक्षण प्रदान किया जाता है।

(4) स्वतन्त्र व्यापार नीति इस मान्यता पर भी आधारित है कि दीर्घकाल में उद्योगों की लागतें स्थिर रहती हैं तथा व्यष्टि स्तर पर वस्तु की मांग व पूर्ति पूर्ण लोचदार (perfectly elastic) होती है। वस्तुतः व्यावहारिक जीवन में मांग व पूर्ति व्यष्टि स्तर पर भी पूर्ण लोचदार नहीं होती और इस कारण इस मुक्त व्यापार की नीति की उपादेयता समाप्त हो जाती है।

कुछ अर्थशास्त्रियों का यह तर्क भी है कि **कोई व्यापार न होने से तो स्वतन्त्र व्यापार श्रेष्ठ है, अथवा कोई व्यापार न होने से कुछ व्यापार होना श्रेष्ठ है, परन्तु वे दृढ़तापूर्वक इस बात को नहीं कह पाते कि प्रतिबन्धित व्यापार की अपेक्षा स्वतन्त्र व्यापार श्रेष्ठ है।** फ्रेडरिक बेनहम के अनुसार "सैद्धान्तिक रूप से संरक्षण के पक्ष में जो भी कहा जाय परन्तु व्यवहार में स्वतन्त्र व्यापार श्रेष्ठ प्रतीत होता है और स्वतन्त्र व्यापार के लिए हमेशा सामान्य दशा रहती है जिसे कुछ व्यक्ति बिना आर्थिक शिक्षण (training) के उसे समझ सकते हैं जैसे कि यह अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण को प्रोत्साहित करता है तथा उससे किसी देश के उत्पादन के साधनों को उनके अधिकतम लाभदायक प्रयोगों में रखा जा सकता है।"[1] इसी प्रकार, प्रो. एल्सवर्थ ने भी स्पष्ट किया है कि "इसके रुई, रेशमी सूती, सिल्क और ऊनी भी—विदेशों से प्राप्त होने चाहिए। बिना मलाया की रबर और मध्यपूर्व एवं पश्चिमी गोलार्द्ध के पैट्रोल के कारों व बसों को गतिहीन होना पड़ेगा। अनेक *विलासितापूर्ण वस्तुएँ जैसे चाय, कॉफी, कोको व तम्बाकू आदि व्यापार के बिना उपलब्ध न हो सकेंगी।*"[2] अतः विश्व में ऐसा कोई भी देश नहीं है जो स्वतन्त्र व्यापार की वांछनीयता को स्वीकार नहीं करता हो। बेस्टबल के अनुसार, फ्रान्स में सीमागृह के कर्मचारियों एवं लुटेरों में काफी समानता है क्योंकि प्रथम लोहे के आयात पर कर लगाते हैं जबकि द्वितीय रास्ते में से लोहे की चोरी करते हैं। दोनों ही अधिकार में हस्तक्षेप करते हैं जिससे संरक्षण को एक प्रकार की चोरी ही माना जा सकता है।"[3]

संरक्षण
[PROTECTION]

संरक्षण की सर्वप्रथम आधुनिक व्याख्या अमरीकी राजनीतिज्ञ एलेक्जेण्डर हेमिल्टन *(Alexander Hamilton) ने 1791 में की थी।* उसके अनुसार यदि देश में उद्योगों का विकास आवश्यक है, तथा अधिक से अधिक व्यक्तियों को रोजगार देना है तो संरक्षण की नीति अपनानी चाहिए। जर्मनी में फ्रेडरिक लिस्ट को हेमिल्टन के विचारों ने बहुत अधिक प्रभावित किया। उन्होंने इस सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण तर्क प्रस्तुत किये। अमरीका और जर्मनी में ही इन विचारों का औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए अन्य देशों में विस्तार हुआ। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हेनरी चार्ल्स कैरी के नेतृत्व में संरक्षणवादियों की एक शक्तिशाली शाखा का प्रादुर्भाव हुआ। हेमिल्टन, लिस्ट एवं कैरी के विचारों ने सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित किया। वैसे यूरोप के अनेक राष्ट्र 19वीं

---

1 "Whatever may be said for protection in theory, free trade seems best in practice and there is always a general case for free trade, which few people without economic training really understand, namely, that it promotes international specialisation and thereby enables the productive resources of a country to be put to their most advantageous uses."—F. Benham, *Economics*, pp. 489-90

2 "Most of its textile fibres—cotton, silk, even wool—it must obtain from overseas without its rubber of Malaya and petroleum of Middle East, and the Western Hemisphere, its cars and buses would be immobilised. Many of its luxuries, if they *really* can be called that tea, coffee, cocoa, tobbaco—would be unobtainable without far reaching trade."—P. T. Ellsworth, *The International Economy*, p. 2

3 "Protection in all its forms is thus only a kind of theft."—C. F. Bastable, *The Theory of International Trade*, p. 130

शताब्दी तक स्वतन्त्र व्यापार के ही पक्ष में थे, परन्तु प्रथम महायुद्ध (1914) के बाद स्वतन्त्र व्यापार-नीति का दृढ़ विश्वास हो गया है। यहाँ तक कि इंगलैण्ड ने भी स्वतन्त्र व्यापार-नीति का परित्याग करके देश के आधारभूत उद्योगों का विकास करने, देशी निर्माण एवं कृषि को सहायता देने, शुल्क सौदाकारी (Tariff Bargaining) में सुविधा, और साम्राज्य अधिमान प्रणाली (Empire Preferential System) को संचालित करने के लिए संरक्षण की नीति को अपना लिया। प्रो. टॉजिग के अनुसार, "आरम्भ में घरेलू उत्पादक कठिनाइयों एवं विदेशी प्रतियोगिता का सामना नहीं कर सकते, परन्तु बाद में जब वे उत्पादन के ढंगों की जानकारी प्राप्त कर लेते हैं तो विदेशी वस्तुओं से अधिक सस्ती वस्तुएँ बेचने में समर्थ हो जाते हैं।"[1]

संरक्षण का सिद्धान्त यह बताता है कि किस प्रकार राजकीय नियमन (Regulation) द्वारा घरेलू उद्योगों को बाहरी प्रतियोगिता से बचाया जाता है। सरकार अनेक विधियों से घरेलू उद्योगों को संरक्षण प्रदान कर सकती है। इनमें दो प्रमुख विधियाँ इस प्रकार हैं : विदेशी वस्तुओं के आयात पर कर लगाना, तथा घरेलू उद्योगों को अनुदान प्रदान करना। अब हम इस बात की उपेक्षा करते हुए कि इन दोनों विधियों में कौन-सी श्रेष्ठ है, संरक्षण के औचित्य अर्थात् इसके पक्ष में दिये जाने वाले तर्कों का विश्लेषण करेंगे। तदुपरान्त इसी अध्याय में हम संरक्षण की नीति की सीमाओं की विवेचना करेंगे। आगामी अध्याय में आयात पर लगाये गये तट-कर के गुण-दोषों का अध्ययन किया जायगा।

संरक्षण के पक्ष में तर्क
(Arguments for Protection)

संरक्षण के पक्ष में प्रस्तुत अधिकांश तर्कों के पीछे आर्थिक कारक निहित न होकर गैर-आर्थिक अथवा व्यक्तिगत दृष्टिकोण निहित है। इसलिए संरक्षण के पक्ष में दिये जाने वाले अधिकांश तर्क विवेकशीलता की कसौटी पर खरे नहीं उतर पाते। हम संरक्षण हेतु दिये जाने वाले तर्कों की आलोचनात्मक समीक्षा निम्न प्रकार करते हैं :

(1) **देश की मुद्रा देश में ही रहने का तर्क (*Keeping Money at Home*)**—संरक्षण के पक्ष में दिये जाने वाला यह एक सामान्य तर्क है। ऐसा कहा जाता है कि देश में वस्तुएँ खरीदने की अपेक्षा यदि इनकी खरीद विदेशों से की जाय तो हमें इनका मूल्य स्वर्ण या अन्य बहुमूल्य धातुओं के रूप में विदेशी व्यापारियों को चुकाना होगा। विशेष रूप से यह तर्क विदेशों में तैयार वस्तुएँ मँगाने के विरोध में दिया जाता है। रॉबर्ट इनग्रसॉल का यह वक्तव्य (जिसे बहुधा गलती से अब्राहम लिंकन का वक्तव्य बताया जाता है) कि "संरक्षण देश की मुद्रा देश में ही रखने के लिए किया जाना चाहिए," संरक्षण के पक्ष में एक लोकप्रिय तर्क है। चूँकि स्वदेशी उद्योगपति की अपेक्षा जब हम विदेशी उद्योगपति से वस्तु खरीदते हैं तब ऐसा समझा जाता है कि हम घरेलू बाजार में ऊँची कीमत पर वस्तु खरीदने की अपेक्षा कम मूल्य पर विदेशों से वही वस्तु खरीदते हैं। विवेकपूर्ण दृष्टि से यदि उपभोक्ता ऐसा करें तो उन्हें अधिकतम उपभोक्ता की बचत प्राप्त होगी। परन्तु स्वदेश-प्रेम तथा ऐसे ही अन्य कारणों से संरक्षण के समर्थक यह तर्क देते हैं कि हमें देश के उद्योगों को प्रोत्साहन देने हेतु ऊँचे मूल्य पर भी वस्तुएँ घरेलू बाजार से ही खरीदनी चाहिए ताकि देश की मुद्रा देश में ही रहे।

(2) **भुगतान-सन्तुलन का तर्क (Balance of Payment Argument)**—सत्रहवीं एवं अठारहवीं शताब्दी में यूरोप के कुछ विद्वानों ने इस प्रकार का तर्क प्रस्तुत किया था। इन विद्वानों को हम वाणिज्यवादियों (Mercantilists) के नाम से पुकारते हैं। इनके मतानुसार विदेशी व्यापार का प्रयोजन देश के कोषागार में अधिकाधिक धातु (Bullion) जमा करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु वणिकवादियों ने निर्यातों को सभी प्रकार से प्रोत्साहन देने तथा आयातों पर कड़ा अंकुश लगाने का सुझाव दिया ताकि विदेशों से तो देश को निर्यात के बदले अधिक से अधिक धातु (सोना

1 "At the outset the domestic producer has difficulties and can not meet foreign competition. In the end, he learns how to produce to the best advantage and then can bring the article to market as cheaply as the foreigners or even more cheaply."—F. W. Taussig, *Free Trade, the Tariff and Reciprocity*.

व चांदी) प्राप्त हो सके। स्वाभाविक है कि यदि समस्त देश इसी नीति के आधार पर कार्य करें तो किसी भी देश को लाभ नहीं होगा। यदि प्रत्येक देश केवल निर्यात करना चाहे तथा कोई भी देश आयात करने के पक्ष में न हो तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किस प्रकार हो सकेगा। मुद्रा अथवा धातु सम्पत्ति का प्रतिरूप नहीं है। किसी भी देश की समृद्धि उसके कोषागार में स्थित स्वर्ण की मात्रा पर नहीं, अपितु न्यूनतम लागत पर वस्तुओं को उपलब्ध करने की क्षमता पर निर्भर करती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक ऐसी विधि है जिसके माध्यम से वस्तुएँ न्यूनतम लागत पर प्राप्त की जा सकती हैं। हमें यह भी ज्ञात होना चाहिए कि दीर्घकाल में निर्यात एवं आयात में सन्तुलन होना आवश्यक है। अस्तु वणिकवादियों की केवल निर्यात करने की नीति अव्यावहारिक है क्योंकि कोई भी देश आयात को समाप्त करके अधिक समय तक केवल निर्यात पर ही निर्भर नहीं रह सकता।

प्रश्न यह है कि क्या भुगतान-असन्तुलन को ठीक करने के लिए आयातों पर नियन्त्रण के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है? नियन्त्रण एवं नियोजन से सम्बद्ध नीतियों के साथ-साथ आज भुगतान-असन्तुलन के स्वयं ही सन्तुलित होने की सम्भावना पूरी तरह धूमिल हो गयी है। यह स्मरणीय है कि मुक्त व्यापार के अन्तर्गत यह मान लिया जाता है कि भुगतान-असन्तुलन से कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनसे कुछ समय बाद स्वयं ही साम्य स्थिति आ जाती है। यदि भुगतान-असन्तुलन को ठीक करने हेतु मूल्यों को कम किया जाता है तो इससे देश की आय एवं आर्थिक विकास की प्रक्रिया पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। भुगतान-असन्तुलन को ठीक करने का एक उपाय अवमूल्यन बताया जाता है परन्तु अवमूल्यन की प्रभावकारिता या सफलता काफी सीमा तक देश के घरेलू बाजारों में हमारी आयात व निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की माँग की लोचों पर निर्भर करती है। विशेष रूप से विकासशील देशों में अवमूल्यन एक प्रभावकारी उपाय इस कारण नहीं हो पाता कि इन देशों के घरेलू बाजारों में आयातित वस्तुओं की तथा विदेशी बाजारों में निर्यातित वस्तुओं की माँग बेलोच है। अतएव बहुधा अवमूल्यन के बाद विकासशील देश की व्यापार की शर्तें इसके प्रतिकूल हो जाती हैं तथा भुगतान-असन्तुलन में कमी होने की अपेक्षा वृद्धि भी हो सकती है। अवमूल्यन की द्वितीय सीमा यह है कि इसके बाद देश की मुद्रा का अर्थ कम हो जाने के फलस्वरूप पूँजी का बहिर्गमन प्रारम्भ हो जाता है। तीसरी बात यह भी है कि घरेलू व विदेशी बाजारों में अवमूल्यन के बाद नये मूल्यों के अनुरूप माँग के समायोजन में कुछ समय लग सकता है। यही कारण है कि भुगतान सन्तुलन को तात्कालिक ठीक करने हेतु अवमूल्यन को एक प्रभावकारी विधि नहीं माना जाता। चौथे अवमूल्यन की सफलता विकासशील देश (जिसने अवमूल्यन किया है) की निर्यात करने की तथा विकसित देश (जो विकासशील देश से आयात करता है) की आयात करने की क्षमताओं पर भी निर्भर करती है।

इस प्रकार देश के भुगतान-असन्तुलन को तत्काल ठीक करने हेतु अवमूल्यन एक प्रभावकारी उपाय नहीं है। यही कारण है कि आयात पर नियन्त्रण आदि के द्वारा भुगतान असन्तुलन को ठीक करने का प्रयास किया जाता है। विकासशील देश आयातों पर नियन्त्रण इसलिए भी लगाते हैं कि उनके पास पर्याप्त स्वर्ण अथवा अतिरेक वाले देशों की स्वीकार्य (दुर्लभ या कठोर) विदेशी मुद्रा के पर्याप्त कोष नहीं हैं। परन्तु आज आयात-नियन्त्रण की विधि उन विकसित देशों में भी लोकप्रिय है जिनके पास पर्याप्त स्वर्ण हो अथवा उनका व्यापार-सन्तुलन अधिक अनुकूल हो। इसका कारण यह बताया जाता है कि विकसित देश अपने घरेलू उद्योगों को अल्पविकसित देशों से आने वाली वस्तुओं की स्पर्धा से संरक्षण प्रदान करना चाहते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I M F) तथा व्यापार व टटकर के अन्तर्राष्ट्रीय समझौते (GATT) के अन्तर्गत भी संक्रमणकालीन परिस्थितियों में भुगतान-असन्तुलन से ग्रस्त देशों को उनके आयातों पर नियन्त्रण लागू करने की छूट दी गयी है। परन्तु पूर्व अनुभव से यह ज्ञात होता है कि अनेक देशों में बहुत लम्बे समय तक आयात नियन्त्रण की नीति चलती रहती है। दूसरे शब्दों में, आयात-नियन्त्रण को जहाँ सिद्धान्त रूप में भुगतान असन्तुलन को ठीक करने की एक अल्पकालीन विधि माना जाता है व्यवहार में यह एक स्थायी विधि हो गया है और आज अधिकांश देश इसी नीति का प्रयोग करते दिखायी दे रहे हैं।

(3) घरेलू बाजार का तर्क (Home Market Argument)—गुन्नार मिर्डल (Gunnar Myrdal) के मत में ' अल्पविकसित देशों के औद्योगिक विकास में एक बड़ी कठिनाई तथा

विकास सम्बन्धी नीति को मूर्त रूप देने में एक बड़ी बाधा यह है कि ये देश पूर्ति में वृद्धि के साथ-साथ घरेलू माँग में वृद्धि नहीं कर पाते। 'प्राकृतिक विकास' की स्वप्रेरित प्रक्रिया (self-engendered process) की अत्यन्त धीमी गति यह स्पष्ट करती है कि इन देशों में स्थायी निश्चलता (sustained stagnation) किस प्रकार से स्वाभाविक साम्य स्थिति का रूप ले लेती है तथा राजकीय हस्तक्षेप की किस प्रकार आवश्यकता होती है। वास्तव में, आर्थिक विकास की मूल धारणा ही इस निचले स्तर की साम्य स्थिति को समाप्त करना है।"[1]

इस प्रकार, एक अल्पविकसित अथवा विकासशील देश में प्रभावी माँग (effective demand) का अभाव आर्थिक विकास में एक बड़ी बाधा है। इसके विपरीत, यदि किसी विकसित देश में प्रभावी माँग का अभाव हो तो उसे कुछ ही समय में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करके दूर किया जा सकता है। कीन्स (Keynes) ने महान् मन्दी (1929-31) की स्थिति का विश्लेषण करने के बाद घाटे के बजट के द्वारा प्रभावी माँग में वृद्धि करने का सुझाव दिया था। परन्तु आज विकासशील देश पहले से ही मुद्रा-स्फीति की समस्या से ग्रस्त हैं और प्रभावी माँग में वृद्धि करने की दृष्टि से यदि वहाँ मुद्रा की मात्रा बढ़ायी जाय तो स्फीति की समस्या एक विस्फोटक रूप ले सकती है। यही कारण है कि भुगतान-असन्तुलन को ठीक करने हेतु इन देशों में आयात-नियन्त्रण को अधिक उपयुक्त माना है।

(4) मजदूरी का तर्क (Wage Argument)—मुक्त व्यापार की स्थिति में जिस देश में मजदूरी की दरें ऊँची हैं, वह अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में नीची मजदूरी-दरों वाले देश से पिछड़ जायगा। इसीलिए यह तर्क दिया जाता है कि ऊँची मजदूरी वाले देश के उद्योगों को संरक्षण मिलना चाहिए। आज विकासशील देशों में भी सशक्त श्रम-संघों के माध्यम से श्रमिकों को इतनी मजदूरी प्राप्त होने लगी है जो उनकी सीमान्त उत्पादकता से कहीं अधिक है। श्रमिक नेताओं का यह तर्क है कि इन देशों में श्रम की सीमान्त उत्पादकता कम होने का कारण शिक्षा व प्रशिक्षण का अभाव, दोषपूर्ण औद्योगिक प्रबन्ध आदि में निहित है तथा इसमें श्रमिकों का अपना कोई दोष नहीं। यही कारण है कि मुक्त व्यापार रहते हुए विकासशील देशों के उद्योग अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में अधिक समय तक नहीं टिक पाते और बाहर से आने वाली (अपेक्षाकृत सस्ती) वस्तुओं पर रोक लगाना आवश्यक हो जाता है। अस्तु, सीमान्त उत्पादकता से अधिक मजदूरी बनाये रखने हेतु भी संरक्षण प्रदान किया जाता है।

(5) लागतों को समान करने का तर्क *(Equalising the Cost of Production)*—अनेक बार संरक्षण इसलिए भी प्रदान किया जाता है कि हम घरेलू व विदेशी बाजारों में वस्तुओं की उत्पादन-लागतों को समान करना चाहते हैं। यदि देश में किसी वस्तु की उत्पादन-लागत अन्य देशों की उत्पादन-लागत से 10 प्रतिशत अधिक है तो वहाँ से आयातित वस्तुओं पर 10 प्रतिशत (मूल्य पर आधारित) आयात-कर लगाने से घरेलू उपभोक्ताओं को दोनों ही वस्तुएँ समान मूल्य पर दी जा सकेंगी। ऊपरी रूप से यह एक न्यायपूर्ण तर्क प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः इसका यह भी प्रभाव हो सकता है कि देश में किसी वस्तु की उत्पादन-लागत जितनी अधिक होगी आयात-कर में भी उतनी ही अधिक वृद्धि हो जायगी। इसका यह अर्थ हो सकता है कि सबसे ऊँची लागत वाले अर्थात् सबसे कम दक्ष उद्योग को सबसे अधिक संरक्षण प्राप्त होगा। इसी सन्दर्भ में एक तर्क यह भी हो सकता है कि ऐसी नीति द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को ही पूरी तरह समाप्त करने की स्थिति आ सकती है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लागतों के तुलनात्मक अन्तर पर ही निर्भर करता है, जबकि आयात-कर द्वारा कोई देश लागतों को समान करना चाहता है।

(6) शिशु-उद्योगों से सम्बन्धित तर्क (Infant Industries Argument)—संरक्षण के पक्ष में सबसे अधिक सशक्त तर्क यह है कि यह देश में स्थापित नये या शिशु-उद्योगों को प्रोत्साहन देने का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है। सर्वप्रथम एलेक्जेण्डर हैमिल्टन (Alexander Hamilton) नामक अमरीकी अर्थशास्त्री ने शिशु-उद्योगों के संरक्षण हेतु प्रतिवेदन प्रस्तुत किया।[2] इसी प्रकार की

---

1 Gunnar Myrdal, *An International Economy*, (1966), p. 276

2 A. Hamilton, Report on the Subject of Manufacturers' (New York, 1921), reprinted in *Papers on Public Credit, Commerce and Finance* (New York, 1934) The more important sections are included in F. Taussig (ed.), *Readings in International Trade and Tariff Problems* (Boston, 1921), pp. 454-479.

विचारधारा जर्मनी के राष्ट्रवादी अर्थशास्त्री फ्रेडरिक लिस्ट (Frederick List) ने प्रस्तुत की थी।[1] परन्तु जेकब वाइनर (Jacob Viner) का ऐसा मत है कि शिशु-उद्योगो को सरक्षण देने हेतु सत्रहवी शताब्दी के मध्य म (1645) ही नीतियां निर्धारित की गयी थी जब व्यापारिक कम्पनियो को एकाधिकार प्रदान किये गये थे। इसी प्रकार नये व जोखिम वाले व्यवसाय करने वाली व्यावसायिक कम्पनियो को *एकाधिकार प्रदान करके उन्हे सरक्षण प्रदान किया गया था।[2] लिस्ट (1885)* जिन्होंने हैमिल्टन (1790) की ही विचारधारा का प्रचार किया था यह मानते थे कि उद्योगो का विकास मुक्त व्यापार के सिद्धान्तो के आधार पर नही हो सकता। लिस्ट का यह तर्क था कि मुक्त व्यापार के पोषक प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री यह विचार नही कर सके थे कि औद्योगिक दृष्टि से अधिक विकसित देश के साथ यदि अपेक्षाकृत कम विकसित देश को प्रतियोगिता करनी पडे तो औद्योगिक विकास की समस्त सुविधाएं उपलब्ध होने पर भी वह सरक्षणात्मक करो के बिना एक पूर्ण रूप से विकसित औद्योगिक शक्ति के रूप मे नही उभर सकता।"[3] परन्तु लिस्ट ने इस बात पर बल दिया कि सरक्षण कुछ ही समय के लिए दिया जाना चाहिए तथा उद्योग विशेष की 'परिपालना' (nursing) का कार्य पूरा होते ही सरक्षण-नीति समाप्त कर दी जानी चाहिए।

जॉन स्टुअर्ट मिल (J S Mill) ने स्वतन्त्र-व्यापार की प्रतिष्ठित विचारधारा एव सरक्षण को एक मिश्रित रूप मे प्रस्तुत किया। उन्होने लिखा 'केवल एक स्थिति म सरक्षणात्मक करो का समर्थन किया जा सकता है और वह तभी जब (विशेष रूप से अल्प-विकसित एव शिशु देश मे) इनका उपयोग देश म अस्थायी रूप मे किसी विदेशी उद्योग के समकक्ष परिस्थितियाँ उपस्थित करने के लिए हो। कोई देश उत्पादन के किसी क्षेत्र मे दूसरे देश से इसलिए भी श्रेष्ठ हो सकता है कि वहाँ उस क्षेत्र मे उत्पादन पहले प्रारम्भ हो गया हो। (परन्तु) किसी देश मे उद्योग विशेष म पहले अवतरित होने वाले देश मे श्रेष्ठ क्षमता होने पर भी आवश्यक ज्ञान तथा अनुभव का अभाव हो सकता है क्योकि वहाँ औद्योगिक विकास विलम्ब से प्रारम्भ हुआ। परन्तु सरक्षण केवल उन परिस्थितियो मे ही प्रदान किया जाय जहाँ हमे विश्वास हो कि जिस उद्योग का इसके माध्यम से विकास किया जा रहा है वह कुछ समय बाद सरक्षण के बिना भी पनप सकेगा, और न ही देश के उद्योगपतियो को यह अपेक्षा करने का अवसर दिया जाना चाहिए कि जो लक्ष्य वे प्राप्त करने म सक्षम हैं उसके लिए उपर्युक्त परीक्षण-काल से अधिक समय तक सरक्षण जारी रहेगा।"[4] मिल द्वारा प्रस्तुत विचारधारा के अनुसार सरक्षण पर्याप्त खोजबीन के पश्चात् एव सावधानीपूर्वक ही प्रदान किया जाना चाहिए। सरकार को केवल उसी दशा म सरक्षण प्रदान करना चाहिए जब सरक्षित उद्योग के पर्याप्त विकास हेतु देश मे पर्याप्त मात्रा म आवश्यक साधन (श्रम सहित) उपलब्ध हो।

परन्तु फ्रेडरिक लिस्ट के मतानुसार सरक्षण का प्रमुख उद्देश्य उत्पादन म निविघ्नता लाना है और इस प्रकार सरक्षण का औचित्य कल्याण के उद्देश्य पर आधारित है। उन्होने सरक्षण के लिए एक अन्य आधार प्रस्तुत किया। उन्होने लिखा, सामान्य रूप स यह माना जा सकता है कि जब किसी टैक्नीकल उद्योग की स्थापना 40 से 60 प्रतिशत मौद्रिक सरक्षण के अभाव म नही हो सकती तथा 20 स 30 प्रतिशत सरक्षण के अभाव मे उसकी पूर्ति सम्भव नहीं हो तो औद्योगिक विकास क्षमता की आधारभूत शर्तों का वहाँ अभाव ही माना जायगा।"[5]

---

1 Frederick List *National System of Political Economy*, translated by S S Lloyd, (1885)

2 Jacob Viner, *op cit*

3 F List *op cit* के मेण्डलबॉम ने कुछ समय पूर्व इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये थे। उनके मत म शिशु-उद्योगो को ये लाभ विकास के पर्याप्त अन्तराल के पश्चात् ही प्राप्त हो सकते हैं और यह सब खुले (स्वतन्त्र) स्पर्धाशील अन्तर्राष्ट्रीय बाजार म राजकीय सरक्षण के बिना सम्भव नही हो सकता। K Mandelbaum, *The Industrialization of Backward Areas* (London 1945) Part A

4 J S Mill *Principles of Political Economy*, p 922

5 F List, *op cit*, p 313

शिशु-उद्योगों को संरक्षण देने के पीछे केन्द्रीय भावना (central idea) इस कहावत में निहित है, "शिशु का पोषण करो, बालक को संरक्षण दो तथा वयस्क को स्वतन्त्र कर दो" (Nurse the baby protect the child and free the adult) किन्हीं विशिष्ट उद्योगों के विकास हेतु किसी देश में पर्याप्त प्राकृतिक साधन विद्यमान हो सकते हैं। परन्तु सुविकसित विदेशी प्रतियोगिता के कारण वे उद्योग पनप नहीं पा रहे हों तो यह आवश्यक हो जाता है कि इन उद्योगों को इनकी प्रारम्भिक या शैशवावस्था में विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से संरक्षण प्रदान किया जाय। केवल संरक्षण के द्वारा ही वे उद्योग कुछ समय में पूर्ण विकास कर सकते हैं तथा दृढ़तापूर्वक विश्व के बाजारों में टिक सकते हैं। यद्यपि संरक्षण के कारण प्रारम्भ में कुछ हानि हो सकती है (उपभोक्ताओं को वस्तुएँ महँगी मिलने के कारण) परन्तु जब अन्ततः ये उद्योग पूर्णरूप से विकसित हो जाते हैं तो यह दीर्घकाल में देश के लिए लाभप्रद ही होता है। सिद्धान्ततः इस तर्क के औचित्य को मुक्त व्यापार के समर्थक भी स्वीकार करते हैं। परन्तु बहुधा समस्या तब प्रारम्भ होती है जब एक बार 'शिशु' को संरक्षण प्रदान किये जाने पर उसे समाप्त करना सम्भव नहीं हो पाता। शिशु-उद्योगों के मालिक यह कभी अनुभव नहीं करते कि कोई उद्योग परिपक्व स्थिति में पहुँच चुका है तथा उसे अब संरक्षण की आवश्यकता नहीं है। व्यवहार में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनके अनुसार अत्यधिक संरक्षण मिलने पर प्राचीन वर्ग का व्यक्ति भी स्वयं को शिशु मानता है। बहुधा शिशु-उद्योगों को संरक्षण देने का विरोध इसलिए किया जाता है कि विकसित हो जाने पर भी उद्योगपति संरक्षण समाप्त करने की अपेक्षा अपनी समस्त शक्ति संरक्षण को जारी रखने या अत्यधिक संरक्षण प्राप्त करने में लगा देते हैं, और इस प्रकार संरक्षण का रूप स्थायी हो जाता है।

(7) उद्योगों में विविधता लाने सम्बन्धी तर्क (*Diversified Industries Argument*)—संरक्षण को इसलिए उपयुक्त माना जाता है कि इसके माध्यम से देश में विविध प्रकार के उद्योगों का विकास होता है। उद्योगों में विविधता हेतु निम्न घटकों का महत्व है : (अ) संरक्षण यदि अधिक रूप में हो तो इसके द्वारा देश में सभी प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन किया जायगा तथा देश आत्म-निर्भरता की दिशा में प्रवृत्त होगा। विशेष रूप से प्रतिरक्षा की दृष्टि से इस आत्मनिर्भरता का अपना महत्व है, (ब) अनेक प्रकार के उद्योगों को प्रारम्भ करने से देश में प्राप्त सभी प्रकार के भौतिक साधनों एवं तकनीकी ज्ञान का उपयोग सम्भव होगा तथा (स) उद्योग में विविधता इस कारण भी महत्वपूर्ण है कि इससे देश की अर्थ-व्यवस्था की एक ही उद्योग अथवा कुछ ही उद्योगों पर निर्भर होने की स्थिति में देश की अर्थ-व्यवस्था सदैव एक जोखिम की स्थिति में रहती है, क्योंकि इन उद्योगों में होने वाले उतार-चढ़ाव समूची अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित करते हैं। इसके विपरीत, अनेक उद्योग होने पर एक या कुछ उद्योग समूची अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित कर सकें इसकी सम्भावना बहुत कम होती है। यही कारण है कि वर्तमान सन्दर्भ में प्रत्येक देश संरक्षण की नीति के माध्यम से अधिक विविधता के आधार पर औद्योगिक विकास का प्रयत्न करता है।

परन्तु व्यावहारिक रूप से औद्योगिक विविधता आर्थिक विकास का एक अत्यन्त खर्चीला माध्यम है। एक या कुछ उद्योगों की अपेक्षा अनेक उद्योगों में साधनों का उपयोग करने मात्र से देश अधिक सम्पन्न होगा, यह समझ लेना उचित नहीं है। वस्तुतः विविधता की नीति से साधनों का इष्टतम सीमा तक उपयोग नहीं हो पाता।

(8) घाटा सहकर बेचना एवं संरक्षण (*Protection Against Dumping*)—यदि हमारे प्रतियोगी देश अपनी वस्तुएँ हमारे बाजारों में घाटा सहकर भी बेचने का प्रयास करें तो इससे देश के उद्योगों के नष्ट होने का भय रहता है। इसीलिए मुक्त व्यापार के समर्थक भी ऐसी दशा में संरक्षण की नीति का समर्थन करते हैं। परन्तु यदि घाटा सहकर भी हमारे बाजार में बेचने की प्रवृत्ति स्थायी हो तो इससे कोई खतरा नहीं है क्योंकि विदेशी उद्योगपति दीर्घकाल तक अपने निर्यात व्यापार का घाटा सहने की स्थिति में नहीं होंगे। इसलिए घाटा सहकर बेचने की प्रवृत्ति (dumping) अस्थायी एवं छुटपुट रूप में ही अपनायी जाती है और ऐसी स्थिति में देश के उद्योगों को आयात-करों के माध्यम से संरक्षण की आवश्यकता हो सकती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि संरक्षण के द्वारा विदेशी उद्योगपतियों को घाटा सहकर हमारे देश के बाजार में वस्तु बेचने की प्रवृत्ति से देश के उद्योगों की रक्षा की जा सकती है। परन्तु इस बात का ध्यान रखने की आवश्यकता है कि विदेशियों की घाटा सहकर बेचने की प्रवृत्ति के समान

ही हमारी संरक्षण की नीति भी अल्पकालिक होनी चाहिए। व्यवहार मे यह देखा गया है कि संरक्षणात्मक आयात-कर एक बार प्रारम्भ होने के पश्चात् स्थायी रूप ही ग्रहण कर लेते है तथा दीर्घकाल मे भी देश की जनता को अदक्ष घरेलू उद्योगपतियो से ऊँचे मूल्य पर वस्तुएँ खरीदनी पड़ती है।

(9) बेरोजगारी एवं संरक्षण (Unemployment and Protection)—संरक्षण का समर्थन अनेक बार इसलिए भी किया जाता है कि यह देश मे विद्यमान बेरोजगारी की समस्या को हल करने मे योगदान करता है। विदेशो से वस्तुओ के आयात पर प्रतिबन्ध लगाने पर देश के उद्योगपतियो को घरेलू मांग का अधिक भाग पूर्ण करने का अवसर प्राप्त होगा और इस प्रकार देश मे रोजगार के नये अवसरो का सृजन होगा।

परन्तु वास्तविक बात यह है कि जब हम आयातों पर प्रतिबन्ध लगाते है तो विदेश मे हमारे निर्यातो पर भी प्रतिबन्ध लगाये जायेंगे। यह सम्भव है कि संरक्षण प्राप्त उद्योगो मे घरेलू बाजार में विस्तार के साथ-साथ उत्पादन व रोजगार में वृद्धि हो, परन्तु जिन उद्योगो को संरक्षण प्रदान नही किया गया है उनके निर्यात उत्पादन एव रोजगार में कमी हो जाय। कुल मिलाकर इसका प्रभाव यह हो सकता है कि देश के रोजगार का स्तर वही बना रहे।

कुछ दशका पूर्व लॉर्ड कीन्स ने बताया कि संरक्षणात्मक करो द्वारा दो विधियो से रोजगार के स्तर मे वृद्धि करना सम्भव है (अ) संरक्षणात्मक कर लगाने वाला देश अन्य देशो को अधिक से अधिक ऋण देना आरम्भ कर दे तो यह देश अपने निर्यात के स्तर को पूर्वस्तर पर बनाये रख सकता है तथा साथ ही साथ घरेलू बाजार में विस्तार के द्वारा अपने रोजगार के स्तर मे वृद्धि कर सकता है। इससे निर्यात उद्योगो मे होने वाली बेकारी पर रोक लग जायगी; (ब) यदि निर्यात करने वालो को अनुदान हेतु आयात-करो से प्राप्त राशि का उपयोग (आंशिक या पूर्ण रूप से) किया जाय तब भी निर्यात तथा उद्योगो मे रोजगार के स्तर को बनाये रखना सम्भव है तथा साथ ही साथ संरक्षण प्राप्त उद्योगो मे रोजगार को बढ़ाया जा सकता है।

जहाँ तक प्रथम विधि का प्रश्न है, किसी सीमा तक यह उचित ही है कि अन्य देशो को ऋण देकर हम अपने निर्यातो एव निर्यात-उद्योगो मे विद्यमान रोजगार के स्तर को बनाये रख सकते है। परन्तु इसके परिणामस्वरूप देश की पूँजी का एक बडा भाग अन्य देशो को हस्तान्तरित हो जाता है तथा देश मे स्थित विनियोग का स्तर कम हो जाता है। एक अन्य दृष्टि से भी यह नीति उपयुक्त नही मानी जायगी। विदेशो से आने वाली वस्तुओ के आयात पर प्रतिबन्ध लगाने का यह अर्थ होगा कि हम उनकी अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो मे वस्तुएँ बेचने की क्षमता एव तदनुरूपी उनकी सम्पन्नता मे कमी कर रहे है। ऐसे देशो को ऋण देना उचित कदम नही माना जा सकता।

अब द्वितीय विधि की समीक्षा कीजिए। यदि हम सभी निर्यातों पर अनुदान प्रारम्भ कर दें तो हमारे प्रतियोगी देश भी ऐसा करना प्रारम्भ कर देंगे और परिणाम यह होगा कि हमारे निर्यात के स्तर को बनाये रखना कठिन हो जायगा। अत. यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बेरोजगारी को दूर करने हेतु सुझायी गयी दोनो उपर्युक्त विधियाँ (अन्य देशो को ऋण देना तथा निर्यातो पर अनुदान देना) व्यावहारिक दृष्टिकोण पर आधारित नही है।

यदि हम बेकारी के कारणो की समीक्षा करें तब भी यह स्पष्ट हो जायगा कि आयात पर तट-कर लगाकर इनमे से किसी भी कारण को हम दूर नही कर सकते। किसी देश मे बेकारी के कारण इस प्रकार हो सकते हैं - (i) व्यापार व उद्योगो मे मौसमी उतार-चढाव, जिन्हे आयात-करो द्वारा परिमित करना सम्भव नही है, (ii) उद्योगो के चक्रीय (cyclical) उतार-चढाव अथवा व्यापार-चक्र, जिनके द्वारा देश में बेकारी उत्पन्न हो सकती है। परन्तु व्यापार-चक्रो को समाप्त करना भी तट-कर नीति के माध्यम से सम्भव नही हो सकता, (iii) बेकारी के पीछे एक कारण नवीन उत्पादन प्रणाली का प्रयोग भी निहित हो सकता है। इसे बहुधा बेकारी का संरचनात्मक (structural) कारण माना जाता है। संरक्षण स्पष्टत आर्थिक विकास की प्रक्रिया को अवरुद्ध करने का एक माध्यम नही बन सकता, तथा (iv) बेकारी का एक कारण श्रम मे गतिशीलता का अभाव भी हो सकता है, अथवा श्रम की मजदूरी दर साम्य स्तर से ऊँची रहने के कारण भी श्रम का उपयोग कम हो सकता है। ऐसी परिस्थिति मे मजदूरी-दरो मे पर्याप्त समायोजन एव लचीलापन होना आवश्यक है। यदि इसके विपरीत, मूल्यो मे वृद्धि का क्रम चलता रहे तो इससे मजदूरी का वास्तविक स्तर

गिरता जायेगा। परन्तु संरक्षण इस समस्या का उन्मूलन नहीं कर सकता। अपितु इसके फलस्वरूप वे सब कठोरताएँ अधिक गहरी हो जाती हैं जिनके कारण समस्या का उदय होता है।

(10) प्रतिकारात्मक संरक्षण (Retaliatory Protection)—यह तर्क इस बात पर आधारित है कि यह मानते हुए भी कि सैद्धान्तिक रूप से स्वतन्त्र व्यापार की नीति श्रेष्ठ है, किन्तु जब एक देश ऐसे पड़ोसियों से घिरा हुआ हो जो संरक्षण-नीति अपनाये हुए हैं तो ऐसी स्थिति में इस देश के द्वारा अनुदान-नीति का पालन नहीं किया जा सकता। उसे आवश्यक रूप से संरक्षण की नीति अपनानी पड़ती है।

संरक्षण की सीमाएँ
(Limitations of Protection)

निकोल्सन (Nicholson) के मतानुसार, "ईमानदारी की भाँति मुक्त व्यापार आज भी सर्वोत्तम नीति है।" एजवर्थ (Edgeworth) का कथन है कि "यदि कोई सरकार उपयुक्त परिस्थितियों को पहचानने की योग्यता रखती हो तथा उन्हीं तक अपनी नीतियाँ सीमित रखने में सक्षम हो तो किन्हीं परिस्थितियों में संरक्षण से आधिक लाभ हो सकते हैं। परन्तु इस शर्त का बहुधा पालन नहीं हो पाता।"[1] उपर्युक्त विश्लेषण में दिया गया गृह-बाजार का तर्क गलत है, क्योंकि यह व्यापार की परस्पर निर्भरता को भुला देता है। संरक्षण के फलस्वरूप अतिरिक्त बाजार का निर्माण नहीं होता बल्कि केवल विदेशी बाजार का प्रतिस्थापन गृह-बाजार से किया जाता है।"[2] यदि संरक्षण के परिणामस्वरूप आयात कम होते हैं तो निकट भविष्य में निर्यातों का कम होना भी अवश्यम्भावी है। कीन्स के शब्दों में, "संरक्षणवादियों का यदि यह तात्पर्य हो कि उनकी नीतियों के द्वारा अधिक श्रम एवं प्रतिफल की उपलब्धि होगी, तो मैं उनकी नीति को मान लेता हूँ; परन्तु आयातों को कम करके हम भले ही अपने कुल कार्य में वृद्धि कर लें, परन्तु इस प्रकार हमें कुल मजदूरी भी कम करनी पड़ेगी। संरक्षणवादी को यह सिद्ध करना होगा कि केवल उसने कार्य ही पूरा नहीं किया है बल्कि उसने राष्ट्रीय आय में वृद्धि की है। आयात हमारी प्राप्तियाँ तथा निर्यात हमारे भुगतान हैं। कोई देश अपनी प्राप्तियों में कमी करके अपनी दशा सुधारने की आशा कैसे कर सकता है। क्या आयात-कर कोई ऐसा भी कार्य कर सकते हैं जिसे भूचाल (earthquake) अच्छी तरह नहीं कर सकते हैं।"[3]

उपभोग्य वस्तुओं के आयात पर आवश्यकता से अधिक प्रतिबन्ध लगाने पर देश में स्फीति को प्रोत्साहन मिलता है और इससे समूची अर्थ-व्यवस्था की स्थिरता का खतरा उत्पन्न हो जाता है। आयात पर प्रतिबन्धों के फलस्वरूप उन उद्योगों का विकास भी अवरुद्ध हो जाता है जिनमें आयातित मशीनों व कच्चे माल का उपयोग होता है जिसके परिणामस्वरूप देश के निर्यातों में भी कमी होना सम्भव हो जाता है।

आयात पर नियन्त्रण के फलस्वरूप बहुधा देश के औद्योगिक क्षेत्रों में एकाधिकार प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है। इसके फलस्वरूप देश की जनता तुलनात्मक लागतों के लाभ से वंचित रह जाती है।

---

1 F Y Edgeworth, *Papers Relating to Political Economy*, London, (1925), II, p 17.

2 "Protection does not create additional market, but simply substitutes a domestic market for a foreign market"—Walter Krause, *The International Economy*, p. 130

3 "If protectionists merely mean that under their system men will have to sweat and labour more, I grant their case. But cutting off exports we might increase the aggregate of work but we shouldbe diminishing the aggregate of wages The protectionist has to prove not merely that he has made work, but that he has increased national income. Imports are receipts and exports are payments How, as a nation, can we expect better ourselves by diminishing our receipts Is there anything that a tariff can do which the earthquake could not do better"—Keynes, *The Nation and Athenaeum*; quoted from Haberler, *The Theory of International Trade*, p. 6.

पुनः यह तर्क दिया जाता है कि संरक्षण के द्वारा व्यापार-सन्तुलन में सुधार किया जा सकता है। यह तर्क प्रायः स्फीति व भौतिक संकटों के समय दिया गया था। तीसा व मन्दीकाल के बाद पूर्वी व मध्य यूरोप के देशों में आयात पर नियन्त्रण लगा दिए थे तथा आयात कर की मात्रा में वृद्धि कर दी थी। इसका उद्देश्य व्यापार-सन्तुलन और भुगतान-सन्तुलन में सुधार करना ही था। वास्तव में यह तर्क मौद्रिक एवं विदेशी विनिमय-यन्त्र, जो कि स्वचालित रूप से भुगतान-सन्तुलन में साम्य को उपस्थित कर देता है, को पूर्ण रूप से न समझने के कारण दिया जाता है। यह मान लेना सबसे बड़ी गलती होगी कि आयातों में कमी होने से आवश्यक रूप से आयात-आधिक्य कम हो जायेंगे। जो व्यक्ति विदेशों से ऋण लेना चाहते हैं उनको आयातों पर कर लगाकर रोका नहीं जा सकता। जब तक अत्यधिक आयात की शक्तियाँ बनी रहती हैं तब तक आयातों में कमी करने के कारण निर्यातों में भी कमी आ जायेगी तथा आयात आधिक्य पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

हम ऊपर यह भी देख चुके हैं कि रोजगार वृद्धि हेतु आयात पर नियन्त्रण की नीति बहुधा सफल नहीं हो पाती। इसी प्रकार शिशु-उद्योगों को संरक्षण देने का तर्क भी उचित प्रतीत नहीं होता है। इस तर्क के विरोध में यह कहा जाता है कि यदि देश में औद्योगिक विकास की पर्याप्त सुविधाएँ वास्तव में उपलब्ध हो तो देश के उद्योगपति निश्चय ही उनका समुचित लाभ उठायेंगे। प्रोफेसर रोबिन्स का मत है कि संरक्षित उद्योगों में पूँजी का विनियोग तभी उचित माना जायगा यदि 'उद्योग विशेष में प्रचलित चक्रवृद्धि ब्याज दर (compound rate of interest) के समान लाभ प्राप्त होता हो।'[1] परन्तु हैबरलर यह अनुभव करते हैं कि उपर्युक्त कसौटी पर संरक्षण की नीति के औचित्य को निर्धारित करना उचित नहीं है, क्योंकि यह दो पीढ़ियों के लाभ एवं भार का मूल्यांकन करती है जो ब्याज की बाजार-दर पर आधारित नहीं हो सकते।" किसी भी उद्योग के लाभ-निर्धारण हेतु यह देखना चाहिए कि उसके लिए कितने विनियोग अवसरों का परित्याग करना पड़ा। परन्तु यदि पहले यही राशि आयातित वस्तुओं पर खर्च की जा रही थी और इसका उद्योगों में विनियोग नहीं होता था तो ब्याज-दर की कसौटी के द्वारा संरक्षण का औचित्य नहीं देखा जा सकता।

टॉसिग (Taussig) ने अमरीका में इस्पात, शक्कर रेयॉन, रेशम एवं कपड़ा उद्योगों पर विभिन्न प्रकार के तटकरों के प्रभावों का विश्लेषण करके उपर्युक्त तर्क का सांख्यिकीय मूल्यांकन किया परन्तु वे एक निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाये।[2] उदाहरणार्थ (i) यदि तट-कर के आधार पर किसी उद्योग की स्थापना हो तथा कुछ समय बाद वह बिना तट-कर के भी जीवित रह जाय तो इसकी बिना संरक्षण जीवित रहने की यह क्षमता इस बात का प्रतीक नहीं है कि ऐसा आयात-करों के कारण ही हुआ है, (ii) एक बार जिस उद्योग को संरक्षण मिल जाता है उसे संरक्षण से मुक्ति दिलाना कठिन हो जाता है। दूसरे शब्दों में, अल्पकाल के लिए दिया गया संरक्षण व्यवहार में स्थायी रूप ले लेता है। तट-करों की छाया में निर्बल एवं अनिपुण औद्योगिक इकाइयाँ पनपती हैं और इसके परिणामस्वरूप किसी संरक्षणात्मक आयात-कर के वास्तविक प्रभाव का ज्ञान प्राप्त करना कठिन हो जाता है।

परन्तु इन सीमाओं के होते हुए भी, मिल के शब्दों में यह कह कहना उपयुक्त प्रतीत होता है कि किन्हीं परिस्थितियों में शिशु-उद्योगों को संरक्षण देना अवश्य लाभकारी होता है। देश में उद्योग विशेष के विकास की सम्भावनाएँ, पर्याप्त तकनीकी ज्ञान का होना तथा दक्ष प्रबन्ध के अन्तर्गत संरक्षण तथा शिशु-उद्योगों के विकास में पूर्ण सहायता मिलती है तथा वे अन्ततः संरक्षण के बिना भी विकास करने लगते हैं।

कस्टम यूनियन अथवा द्वितीय-श्रेष्ठ का सिद्धान्त
[THE THEORY OF THE SECOND BEST OR CUSTOMS UNION]

हम ऊपर अध्ययन कर चुके हैं कि किन्हीं परिस्थितियों में मुक्त व्यापार द्वारा इष्टतम स्थिति

---

1 L Robbins, "Economic Notes on Some Argument for Protection", *Economics*, (February 1931) pp 45-62

2 F Taussig, *Some Aspects of the Tariff Question* (Third Edition, Cambridge 1933), Chapter II

की प्राप्ति अथवा साधनों के इष्टतम आवंटन के लक्ष्य को प्राप्त करना सम्भव है। इसी प्रकार मुक्त व्यापार वस्तुओं के इष्टतम उत्पादन एवं वितरण में सहायक होता है। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि वस्तुओं व साधनों की पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति बाजारों में विद्यमान रहे तथा आय का वितरण भी यथावत् रहे। ऐसा होने पर ही साधन से प्राप्त सीमान्त उत्पादकता के मूल्य (Value of Marginal Product or *VMP*) एवं वस्तु की सीमान्त उत्पादन लागत (Marginal Cost or *MC*) में समानता रह सकती है ($VMP = MC$)।

परन्तु *VMP* व *MC* में जितना अधिक अन्तर होगा, अर्थ-व्यवस्था इष्टतम से उतनी ही दूर रहेगी तथा आर्थिक कल्याण का उतना ही अधिक ह्रास होगा। ऐसी स्थिति में तट-कर में कमी करके स्थिति में तभी सुधार किया जा सकता है जब *VMP* व *MC* के अन्तर में इसके द्वारा कमी हो। यह जानने के लिए कि तट-कर में आंशिक छूट का अच्छा या बुरा प्रभाव होता है, प्रोफेसर जे. ई. मीड (J. E. Meade) ने एक विधि का प्रतिपादन किया है जिसके अनुसार सामाजिक सीमान्त आय (social marginal value) तथा सामाजिक सीमान्त लागत (social marginal cost) के भारयुक्त (weighted) अन्तरों का योग किया जाता है। यदि तट-करों में छूट देने के बाद कुल भारयुक्त अन्तर में कमी हो तो इसे स्थिति में सुधार का प्रतीक माना जायगा। इसके विपरीत, यदि तटकरों में छूट के बाद भारयुक्त अन्तर में वृद्धि हो जाय तो यह पराभव माना जायगा।[1]

मान लीजिए, भारतीय चाय के आयात पर प्रचलित करों में इंगलैण्ड द्वारा कमी कर दी जाती है। इसके फलस्वरूप इंगलैण्ड में चाय की सामाजिक सीमान्त लागत एवं सामाजिक सीमान्त आय का अन्तर कम हो जायेगा तथा चाय के उपयोग में वृद्धि होगी। परन्तु इसके साथ ही अनेक दूसरे प्रभाव दृष्टिगोचर होंगे। इंगलैण्ड में चाय का उपयोग बढ़ने पर चाय की पूरक वस्तुओं के उपभोग में वृद्धि होगी परन्तु चाय की प्रतियोगी वस्तुओं की माँग तथा इनके घरेलू उत्पादन (एवं आयात) में कमी हो सकती है। इसी प्रकार, भारत एवं अन्य देशों में भी इसके प्रभाव होंगे। भारत से चाय का निर्यात बढ़ने पर सम्भव है इसकी घरेलू पूर्ति में कमी एवं घरेलू मूल्य में वृद्धि हो। यही नहीं, चाय उद्योग में साधनों का आवंटन अधिक मात्रा में होगा जबकि अन्य क्षेत्रों में साधनों का उपयोग कम हो सकता है। इसी प्रकार तट-कर में कमी के कुल प्रभावों का अध्ययन करने के बाद ही निश्चित किया जा सकता है कि तट-कर में कमी के फलस्वरूप कुल आर्थिक कल्याण में वृद्धि हुई अथवा कमी। इसके विपरीत, मुक्त व्यापार (जिसे सर्वश्रेष्ठ हल माना जाता है) के अन्तर्गत स्वचालित अर्थतन्त्र के माध्यम से तट-कर की प्रत्येक कमी द्वारा आर्थिक कल्याण में वृद्धि की जा सकती है। परन्तु जिन परिस्थितियों में मुक्त व्यापार सम्भव हो, एक द्वितीय श्रेष्ठ (second best) तरीके के रूप में एक वस्तु पर ही या वस्तुओं के एक छोटे से समूह पर आयात-कर लगाया जा सकता है। इसी प्रकार, तट-कर में कमी का आंशिक तरीका द्वितीय श्रेष्ठ हल हो, यह भी आवश्यक नहीं है। अतएव एक से अधिक हल भी द्वितीय श्रेष्ठ हल हो सकते हैं, अर्थात् मुक्त व्यापार के अन्तर्गत अधिकतम कल्याण हेतु केवल एक हल (unique solution) होता है जिसके द्वारा साधनों का इष्टतम उपयोग होता है तथा उपभोक्ताओं को अधिकतम सन्तुष्टि एवं उत्पादकों को अधिकतम लाभ की गारण्टी होती है, जबकि द्वितीय-श्रेष्ठ हलों की संख्या बहुत अधिक हो सकती है। प्रो. मीड के मतानुसार, ऊपर की ओर उठाया गया प्रत्येक कदम पहाड़ की सबसे ऊँची चोटी तक पहुँचने का माध्यम नहीं है। कभी-कभी, थोड़ा नीचे आना एवं मुख्य ढलाव को पार करना भी आवश्यक होता है।[2]

द्वितीय-श्रेष्ठ के सिद्धान्त के अन्तर्गत बहुधा कस्टम यूनियन की चर्चा की जाती है। कस्टम यूनियन एक प्रकार का आर्थिक एकीकरण है जिसका अर्थ यह है कि विभिन्न देश अपने बीच विद्यमान सभी भेदभाव को समाप्त करने हेतु सहमत हो जाते हैं। इस प्रकार के आर्थिक एकीकरण के अनेक रूप हो सकते हैं जो एकीकरण की सीमाओं पर आधारित होते हैं। इनमें प्रमुख ये हैं: मुक्त व्यापार क्षेत्र, कस्टम यूनियन, साझा बाजार, आर्थिक यूनियन तथा पूर्ण आर्थिक एकीकरण। मुक्त व्यापार क्षेत्र में सदस्य देशों के बीच विद्यमान व्यापार सम्बन्धी सभी बन्धनों को समाप्त कर दिया

1 G. P. Kindleberger, *op. cit.*, p. 213.
2 *Ibid.*, p. 214.

जाता है परन्तु प्रत्येक सदस्य देश बाहर के (गैर-सदस्य) देशों के विरुद्ध किसी प्रकार के नियन्त्रण लगाने को स्वतन्त्र रहता है । **कस्टम यूनियन** के अन्तर्गत न केवल सदस्य देश व्यापार सम्बन्धी बन्धनों को समाप्त कर देते हैं अपितु कुछ अन्य देशों को भी इस प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करते हैं । **साझा बाजार** आर्थिक एकीकरण की दिशा में एक बड़ा कदम है जिसके अन्तर्गत केवल सदस्य देश आपसी व्यापार में प्रचलित प्रतिबन्धों को समाप्त कर देते हैं अपितु साधनों के आवागमन पर भी कोई प्रतिबन्ध नहीं रखते । **आर्थिक यूनियन** के अन्तर्गत वस्तुओं व उत्पादन के साधनों के आवागमन पर स्थित प्रतिबन्धों को समाप्त करने के साथ-साथ राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों में भी सामजस्य स्थापित किया जाता है । **पूर्ण आर्थिक एकीकरण** के अन्तर्गत न केवल व्यापार एवं साधनों के आवागमन पर स्थित प्रतिबन्ध समाप्त कर दिये जाते हैं अपितु एक उच्चस्तरीय संस्था के निर्देशन में मौद्रिक राजकोषीय एवं सामाजिक नीतियों को भी समरूप बना दिया जाता है । इस उच्चस्तरीय संस्था के निर्णय प्रत्येक सदस्य देश को मान्य होते हैं । परन्तु व्यवहार में एकीकरण के विभिन्न स्वरूपों के बीच स्पष्ट अन्तर को व्यक्त करना कठिन होता है ।

यूरोपियन साझा बाजार (ECM) एक प्रकार की कस्टम यूनियन है जिसकी स्थापना *व्यापार तथा तटकर के सामान्य समझौते (GATT) के अन्तर्गत की गयी थी । GATT के अन्तर्गत* विकासशील देशों को वस्तु विशेष के लिए आंशिक कस्टम यूनियन की स्थापना हेतु भी छूट दी जाती है । दो या अधिक देश आपस में वस्तु विशेष पर तटकर की समाप्ति हेतु सहमत हो सकते हैं जबकि बाहरी जगत पर तटकर विद्यमान रखा जाता है । ऐसी स्थिति में वस्तु विशेष पर स्थित तटकर को पूर्ण रूप से समाप्त करना आवश्यक होता है ।

पिछले कुछ वर्षों में कस्टम यूनियनों की व्यापक चर्चा होती रही है । ब्रिटेन को यूरोपियन साझा बाजार में सम्मिलित होने के लिए कई वर्षों तक प्रतीक्षा करनी पड़ी । इस विषय पर साझा बाजार के सदस्यों में आपसी तथा ब्रिटेन के साथ काफी विवाद भी हुआ । परन्तु साझा बाजार का यह अर्थ नहीं है कि हम मुक्त व्यापार की दशा में प्रगति कर रहे हैं । इसके विपरीत साझा बाजार के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अधिक बन्धनों का प्रादुर्भाव हो सकता है तथा साधनों के उपयोग में विद्यमान दक्षता का ह्रास हो सकता है । साझा बाजार या कस्टम यूनियन देश व अन्य देशों के लिए किस सीमा तक उपयोगी हो सकती है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि सदस्य देशों के बीच आर्थिक सम्बन्धों की प्रकृति एवं इनका स्वरूप कैसा है ।

कस्टम यूनियन द्वारा व्यापार का सृजन एवं व्यापार का विचलन
(Trade Creation and Trade Diversion)

कस्टम यूनियन द्वारा किसी देश के कुल उत्पादन, कुल व्यापार तथा आय के वितरण को प्रभावित करके समाज के आर्थिक कल्याण को प्रभावित किया जा सकता है । प्रो जेकब वाइनर के मतानुसार यदि कस्टम यूनियन के कारण व्यापार का ह्रास हो तो कस्टम यूनियन की स्थापना खर्चीली एवं अवांछनीय होगी । इसके परिणामस्वरूप विश्व के कुल उत्पादन में कमी होगी तथा सामान्य जीवन स्तर पर भी थोड़ा-सा प्रतिकूल प्रभाव होगा ।[1] इसके विपरीत, यह भी सम्भव है कि कस्टम यूनियन की स्थापना से व्यापार में वृद्धि हो जाय ।[2] कस्टम यूनियन से व्यापार के सृजन की सम्भावना इसलिए होती है कि सदस्य देशों द्वारा परस्पर तटकरों की समाप्ति के बाद एक सदस्य द्वारा निर्यात बढ़ाने की तथा दूसरे देश के बाजार में विद्यमान उद्योग में ह्रास की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं । इसके फलस्वरूप कस्टम यूनियन के भीतर ही साधनों का आवटन अधिक निपुणता-पूर्वक होगा तथा उत्पादन की लागतें कम हो जायेंगी । मीड ने इस सन्दर्भ में स्पष्ट लिखा है कि

---

1 *Jacob Viner, The Customs Unions Issue* (New York, 1950) pp 41-55 व्यापार के ह्रास के अन्तर्गत सदस्य देशों में तटकर सम्बन्धी समायोजन होने से पूर्व कम लागत पर उत्पादन करने वाले देश से *अधिक लागत वाले देश को उत्पादन का हस्तान्तरण होगा* और इसी कारण इसे एक खर्चीली व्यवस्था कहा जाता है ।

2 *Ibid* व्यापार-सृजन प्रभाव के अन्तर्गत अधिक लागत वाले देश से *कम लागत वाले देश को* उत्पादन का हस्तान्तरण होता है ।

यदि कस्टम यूनियन के सदस्य देश जिन तटकरों को हटाते हैं उनका प्रारम्भिक स्तर बहुत ऊँचा हो तो कस्टम यूनियन की स्थापना से उन्हें उतना ही अधिक लाभ होगा।[1]

वाइनर की व्यापार-सृजन एवं व्यापार-ह्रास की दुहरी धारणाओं को समझने में एक कठिनाई यह है कि इन दो परस्पर प्रभावों से प्राप्त विशुद्ध परिणामों को ज्ञात नहीं किया जा सकता। इसका हल मीड ने प्रस्तुत किया। मीड ने व्यापार-सृजन एवं व्यापार-ह्रास के विशुद्ध परिणाम मापने हेतु यह मान्यता ग्रहण की कि व्यापार में कमी होने पर घटे हुए व्यापार की प्रति इकाई लागत में वृद्धि होती है जबकि व्यापार सृजन के फलस्वरूप बढ़े हुए व्यापार की प्रति इकाई लागत घटती है। उन्होंने कहा कि कस्टम यूनियन का विशुद्ध परिणाम जानने के लिए घटे हुए व्यापार की प्रत्येक इकाई को प्रति इकाई लागत में वृद्धि से गुणा किया जाय तथा बढ़े हुए व्यापार की प्रति इकाई को प्रति इकाई लागत में होने वाली कमी से गुणा करके दोनों का अन्तर देखना चाहिए।[2] परन्तु मीड द्वारा प्रस्तुत इस प्रणाली से सही परिणाम केवल उस स्थिति में प्राप्त होता है जब माँग की लोच शून्य हो, अर्थात् कुल माँग स्थिर रहे तथा साथ ही पूर्ति की लोच अनन्त (infinity) हो, अर्थात् पैमाने के स्थिर प्रतिफल के अनुरूप उत्पादन किया जाता हो। मीड ने इन सीमाओं का प्रतिवाद करने हेतु माँग व पूर्ति को लागतों में होने वाले परिवर्तनों के लिए चयन कलन (calculus) का प्रयोग किया। यह प्रयोग न केवल प्रत्यक्षतः प्रभावित होने वाली वस्तु के सन्दर्भ में था, अपितु व्यापार के उन सभी प्रवाहों पर किया गया जो सदस्यों व गैर-सदस्य देशों के बीच विद्यमान तटकर से सम्बद्ध थी, इन प्रवाहों का मीड ने पुनः प्राथमिक, माध्यमिक एवं अन्य (tertiary) प्रभावों के रूप में विश्लेषण किया। मीड ने कहा कि प्राथमिक प्रभाव सदैव अनुकूल या लाभकारी होंगे।[3] माध्यमिक प्रभाव वे हैं जो बहुधा प्रतिस्थापनता की दिशा में कार्यशील होते हैं। परन्तु इन दोनों घटकों द्वारा भुगतान-सन्तुलन में उत्पन्न होने वाली विकृतियाँ अन्य क्षेत्रों में होने वाले परिवर्तनों से ठीक हो सकती है, यदि इस दिशा में उपयुक्त आर्थिक नीतियाँ लागू की जायें।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि मीड कस्टम यूनियन के पक्ष या विरोध में कोई भी सैद्धान्तिक प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सके। मुख्य रूप से देखने पर उनके विश्लेषण का यह भी आशय निकाला जा सकता है कि कस्टम यूनियन से अनुकूल प्रभाव प्राप्त नहीं किये जा सकते। मीड द्वारा कस्टम यूनियन के विषय में प्रस्तुत विवरण की सीमाएँ निम्न प्रकार हैं :

(i) मीड की यह मान्यता है कि किसी भी देश में सीमान्त लागतों (*MC*) तथा सामाजिक सीमान्त आय (*VMP*) में कोई अन्तर नहीं है। वस्तुतः यह मान्यता अव्यावहारिक है।

(ii) मीड भी यह मानते हैं कि उत्पादन की प्राप्ति पैमाने के स्थिर प्रतिफल के अन्तर्गत होती है। इस प्रकार मीड ने पैमाने के वृद्धि प्रतिफल की पूर्णतः उपेक्षा कर दी जो आज के सन्दर्भ में उचित प्रतीत नहीं होती है।

(iii) मीड द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण इस बात की भी उपेक्षा करता है कि कस्टम यूनियन की स्थापना से सदस्य व गैर-सदस्य देशों में आय के वितरण पर कोई प्रभाव भी हो सकता है।

(iv) मीड ने यह मान लिया था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बाधा केवल आयात-करों द्वारा प्रस्तुत होती है। वस्तुतः आज अनेक अन्य नीतियों द्वारा भी राष्ट्रीय सरकारें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रत्यक्षतः हस्तक्षेप करती हैं।

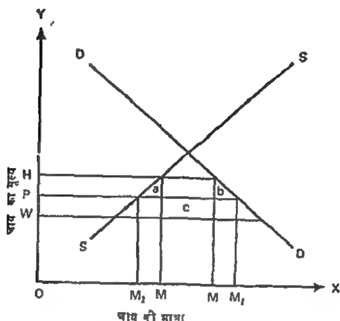
(v) मीड ने यह मान लिया था कि कस्टम यूनियन का अन्तिम लक्ष्य पूर्ण रोजगार को बनाये रखना तथा भुगतान-सन्तुलन की स्थिति को प्राप्त करना है। परन्तु व्यवहार में कस्टम यूनियनों के उद्देश्य ये न होकर सदस्य देशों द्वारा गैर-सदस्य देशों की कमजोर स्थिति से लाभ उठाना है।

इन सभी सीमाओं से इस धारणा की पुष्टि होती है कि कस्टम यूनियन का विभिन्न देशों में साधनों के उपयोग पर व्यापक प्रभाव हो सकता है।

---

1 J. E. Meade, *The Theory of Customs Union*, (1955), pp 32-33.
2 *Ibid.*, p. 36
3 *Ibid.*, p. 67.

रेखाचित्र 13 1 मे आशिक साम्य (partial equilibrium) की दृष्टि से व्यापार-सृजन (trade creation) एव व्यापारिक ह्रास (trade diversion) का विश्लेषण किया गया है। इस रेखाचित्र मे हमने कस्टम यूनियन का एक ही वस्तु के व्यापार पर प्रभाव प्रदर्शित किया है। रेखाचित्र मे *DD* वक्र हमारे देश मे वस्तु की माँग को व्यक्त करता है जबकि पूर्ति की अभिव्यक्ति *SS* वक्र द्वारा होती है।



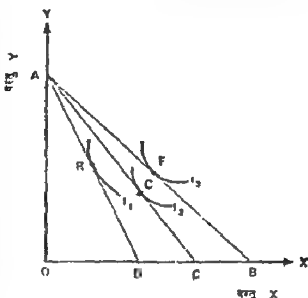
रेखाचित्र 13 1—आशिक साम्य की दृष्टि से व्यापार का सृजन एव व्यापार का ह्रास

रेखाचित्र 13 1 मे *OP* चाय की घरेलू कीमत एव *OW* चाय का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य है। इन मूल्यो के स्थिर रहते हुए इनकी पूर्ति-लोच अनन्त (infinite elastic supply) मानी गयी है। चूंकि चाय के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य की अपेक्षा इसका घरेलू मूल्य अधिक है देश को *MM* मात्रा मे चाय का आयात करना पडता है। ऐसी स्थिति म वहाँ की सरकार *WH* राशि आयात तटकर के रूप मे प्राप्त करती है। कस्टम यूनियन के अभाव म देश मे चाय का आयात मूल्य *OH* रहेगा तथा व्यापार का सृजन *MM* तक ही सीमित रहेगा।

अब मान लीजिए दो देशो के बीच कस्टम यूनियन की स्थापना हो जाती है तो आयात करने वाले देश सदस्य देश से ही चाय मँगायेगा तथा चाय के घरेलू मूल्य *OP* पर इनकी M_1M_1 मात्रा का आयात करेगा जो कि कस्टम यूनियन न होने पर आयात की गयी मात्रा *MM* से अधिक है। इस प्रकार कस्टम यूनियन की स्थापना से व्यापार का सृजन (विशुद्ध रूप मे) हुआ। कुल लाभ त्रिभुज *a* एव *b* का योग होगा। व्यापार म विशुद्ध परिवर्तन आयात की वृद्धि—*MM* से M_1M_1—के समान होगा। परन्तु व्यापार का स्थायी ह्रास (deadweight loss) *C* के समान है जिसके अन्तर्गत कम लागत वाले देश से चाय के आयात म कमी करके अधिक लागत वाले भागीदार देश से आयात प्रारम्भ किया जाता है अर्थात्, हमारे देश को कस्टम यूनियन का सदस्य बनने पर *C* के बराबर हानि होती है। इस समूची क्षति की पूर्ति उपभोक्ताओ को होने वाले लाभ से नही हो पाती। कस्टम यूनियन का विशुद्ध प्रभाव चाय की माँग व पूर्ति की लोचा पर निर्भर करेगा, जैसा कि हम ऊपर बता चुके है।

आधुनिक अर्थशास्त्री तटस्थता-वक्रो के माध्यम से यह विश्लेषण करते हैं। उनका मत है कि यदि तटकर की कमी से उपभोक्ता ऊँचे तटस्थता वक्र पर चले जायें तो निश्चय ही यह कस्टम यूनियन का एक अनुकूल प्रभाव माना जायगा। रेखाचित्र 13 2 म स्थिति का चित्रण किया गया है।

रेखाचित्र 13.2 में तीन तटस्थता-वक्र प्रस्तुत किये गये हैं। मान लीजिए, प्रारम्भ में X पर आयात कर लगा हुआ है। ऐसी स्थिति में मूल्य रेखा AD के रूप में हो सकती है तथा उपभोक्ताओं की साम्यस्थिति R बिन्दु पर होगी। यदि अब कस्टम यूनियन स्थापित करके सदस्य देशों के बीच तटकरों को समाप्त कर दिया जाय तो X का मूल्य उपभोक्ताओं के लिए पूर्वापेक्षा कम हो जायगा तथा मूल्य रेखा का आवर्तन होकर यह AC की स्थिति में आ जाय तो साम्य स्थिति C होगी। अतः स्पष्ट है कि मूल्य में कमी होने पर उपभोक्ताओं का साम्य ऊँचे तटस्थ वक्र (I_2) होगा तथा उनका सन्तुष्टि स्तर पूर्वापेक्षा अधिक हो जायगा। यदि सभी देशों के साथ मुक्त व्यापार की नीति अपनायी जाय तो उपभोक्ता सर्वोच्च तटस्थ वक्र (I_3) पर होंगे तथा उनका सन्तुष्टि स्तर भी सर्वाधिक होगा। ऐसी स्थिति में मूल्य रेखा AB तथा साम्य बिन्दु F होगा।



रेखाचित्र 13.2—एक वस्तु के सन्दर्भ में कस्टम यूनियन के लाभ

सन्तुष्टि के क्रम से देखने से ज्ञात होता है कि

$$F > C > R$$

अर्थात् बन्धनयुक्त व्यापार की अपेक्षा कस्टम यूनियन के अन्तर्गत अधिक सन्तुष्टि प्राप्त होती है। परन्तु कस्टम यूनियन की अपेक्षा भी सन्तुष्टि का स्तर मुक्त व्यापार की दशा में ऊँचा होता है। यही कारण है कि बन्धनयुक्त व्यापार एवं कस्टम यूनियन के मध्य कस्टम यूनियन को अधिक श्रेष्ठ समझा जाता है।

परन्तु प्रोफेसर लिप्से (Prof. Lipsey) इस निष्कर्ष से सहमत नहीं हैं। उन्होंने तीन देशों A, B व C का उदाहरण लेकर मुक्त व्यापार, तटकरों की उपस्थिति एवं कस्टम यूनियन की तीनों स्थितियों का अंकात्मक (तालिका पृष्ठ 206) रूप में विश्लेषण किया है।

नोट : अंकात्मक (तालिका) उदाहरण में यह माना गया है कि तीन देश A, B व C तीन वस्तुओं का व्यापार करते हैं। यह स्वाभाविक है कि घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों से सम्बद्ध तीन मूल्य-अनुपात (price ratios) भी विद्यमान हों। इसलिए d व i को क्रमशः घरेलू एवं अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों की स्थिति के प्रतीक के रूप में लिया गया है। मुक्त व्यापार की स्थिति में दोनों बाजारों में प्रचलित मूल्य समान होते हैं और इसी कारण वस्तुओं के मूल्य-अनुपात भी समान होंगे। यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से अधिकतम लाभ-प्राप्ति की शर्त है।

अंकात्मक (तालिका) विवरण से स्पष्ट है कि कस्टम यूनियन में दो महत्वपूर्ण शर्तों का उल्लंघन होता है। इसी प्रकार तटकर लगाने पर भी उन दो स्थितियों में उक्त शर्त का उल्लंघन होता है जबकि B व C दोनों देशों में तटकर की दरें समान रखी जायें। अतः यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कस्टम यूनियन तटकर की अपेक्षा श्रेष्ठ है। लिप्से (Lipsey) की इसी धारणा ने "द्वितीय श्रेष्ठ" के सिद्धान्त को सामान्य रूप प्रदान किया है। यह सिद्धान्त बताता है कि यदि इष्टतम की समस्त शर्तों को पूर्ण करना सम्भव न हो तो एक ऐसा परिवर्तन (तटकर में कमी) जो इष्टतम की कुछ शर्तों को पूर्ण करता हो, स्थिति को श्रेष्ठ अथवा निकृष्ट बना सकता है। यह सिद्धान्त विशेष रूप से उस स्थिति के लिए उपयुक्त है जिसमें बाजार अपूर्ण हों तथा नियन्त्रण अथवा पूर्ण प्रतियोगिता का अभाव हो।

मुक्त व्यापार	तटकर (सभी देशों से आयात करने पर)	कस्टम यूनियन (यह मान लें कि देश A व B दोनों कस्टम यूनियन के सदस्य हैं अत उनके मध्य कोई तटकर नहीं है, परन्तु C गैर-सदस्य है, अत उससे आयात करने पर तटकर है।)
$\frac{P_{Ad}}{P_{Bd}} = \frac{P_{At}}{P_{Bt}}$	$\frac{P_{Ad}}{P_{Bd}} < \frac{P_{At}}{P_{Bt}}$ क्योंकि $P_{Bd} = P_{Bt} +$ तटकर तथा $P_{Ad} = P_{At} +$ तटकर	$\frac{P_{Ad}}{P_{Bd}} = \frac{P_{At}}{P_{Bt}}$
$\frac{P_{Ad}}{P_{Cd}} = \frac{P_{At}}{P_{Ct}}$	$\frac{P_{Ad}}{P_{Cd}} = \frac{P_{At}}{P_{Ct}}$ $P_{Cd} = P_{Ct} +$ तटकर	$\frac{P_{Ad}}{P_{Cd}} < \frac{P_{At}}{P_{Ct}}$ चूँकि C के आयात पर तटकर है, $P_{Cd} = P_{Ct} +$ तटकर
$\frac{P_{Bd}}{P_{Cd}} = \frac{P_{Bt}}{P_{Ct}}$	$\frac{P_{Bd}}{P_{Cd}} \leq \frac{P_{Bt}}{P_{Ct}}$ यदि तटकर की दर समान हो, तो $\frac{P_{Bd}}{P_{Cd}} = \frac{P_{Bt}}{P_{Ct}}$	$\frac{P_{Bd}}{P_{Cd}} < \frac{P_{Bt}}{P_{Ct}}$ अत $P_{Cd} = P_{Ct} +$ तटकर जबकि $P_{Cd} + P_{Bt}$ है।

प्रश्न एवं उनके संकेत

1 मुक्त व्यापार पर अपनी समीक्षा प्रस्तुत कीजिए। आप किन परिस्थितियों में संरक्षण को न्यायोचित मानते हैं ?

Examine the case for free trade Under what conditions do you justify protection ?

[संकेत—सर्वप्रथम ' मुक्त व्यापार" का अर्थ स्पष्ट कीजिए। फिर यह बताइए कि मुक्त व्यापार की सफलता किन शर्तों पर निर्भर करती है तथा ये शर्तें किस सीमा तक आज के सन्दर्भ में व्यावहारिक है। प्रश्न के द्वितीय भाग के उत्तर हेतु यह लिखें कि मुक्त व्यापार की अव्यावहारिकता के कारण जिस संरक्षण-नीति को आज सर्वत्र कार्यान्वित किया जा रहा है उसकी पृष्ठभूमि में कौन-से कारण निहित है। अन्त में, यह लिखना भी उचित होगा कि संरक्षण की नीति रामबाण औषधि नहीं है तथा इसका सीमा से अधिक उपयोग घातक परिणाम भी ला सकता है।]

2 "सैद्धान्तिक दृष्टि से किसी भी देश के लिए मुक्त व्यापार सबसे उपयुक्त नीति हो सकती है परन्तु व्यापार में कोई भी देश इसे नहीं अपना सकता।" इस कथन पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

"Theoretically free trade is the most suitable policy for any country to adopt, but in practice no country can adopt it" Comment on this statement

[संकेत—इस प्रश्न के उत्तर में मुक्त व्यापार-नीति के गुण लिखें तथा यह स्पष्ट करें कि कतिपय शर्तों के पूरा होते हुए यह एक आदर्श नीति हो सकती है। अपने उत्तर के द्वितीय भाग में लिखें कि मुक्त व्यापार-नीति की सफलता हेतु निर्धारित शर्तें आधुनिक सन्दर्भ में सर्वथा अव्यावहारिक है और इसलिए इन्हें अपनाना सम्भव नहीं रह गया है।]

3 उन मान्यताओं की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए जिन पर मुक्त व्यापार के पक्ष में दिये जाने वाले तर्क आधारित हैं। क्या अपने आर्थिक विकास के लिए अल्पविकसित देश मुक्त व्यापार-नीति अपना सकते हैं ?

Examine critically the assumptions on which the arguments in favour of free trade are based Can the *underdeveloped countries follow* a *policy of* free trade for their economic development ?

[संकेत—मुक्त व्यापार की नीति के पक्ष में दिये जाने वाले तर्क जिन मान्यताओं पर आधारित हैं उनकी आलोचनात्मक समीक्षा करने के पश्चात् लिखें कि समस्त विश्व में यदि आज मुक्त व्यापार की नीति अपना ली जाय तब भी इसका लाभ निर्धन एवं अल्प-विकसित देशों को नहीं मिल सकता। आर्थिक पिछड़ेपन के कारण उत्पादन-लागतों का ऊँचा होना इन देशों की प्रतियोगितात्मक शक्ति को क्षीण कर देता है और ये देश विदेशी व्यापार का लाभ उठाने से वंचित रह जाते हैं। *यदि इसके विपरीत अल्पविकसित देश मुक्त व्यापार की नीति अपनायें* और विकसित देशों में व्यापार-प्रतिबन्ध पूर्ववत् रहें तब भी अल्पविकसित देश आर्थिक विकास हेतु पर्याप्त औद्योगिक कच्चा माल तथा मशीनें न्यूनतम मूल्य पर आयात करने तथा/अथवा अधिकतम स्वदेशी वस्तुओं का निर्यात करने में समर्थ नहीं होंगे।]

4 संरक्षण के पक्ष में दिये गये प्रमुख तर्कों की वैधता स्पष्ट कीजिए।

Explain the validity of the main arguments which are put forward in favour of protection

5 संरक्षण के लिए दिये गये 'शिशु-उद्योग' तर्क के औचित्य का परीक्षण कीजिए। *इस तर्क को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार चार्टर में किस सीमा तक सम्मिलित किया गया है ?*

Examine the "Infant Industry Argument" as a justification *for granting* protection To what extent has it been incorporated in the International Trade Charter ?

6 आप किसी अल्प-विकसित देश की इस दुमुखी नीति को कहाँ तक उचित मानते हैं जिसके अनुसार वह निर्यात के लिए तो मुक्त व्यापार तथा आयात को सीमित करने के लिए संरक्षण नीतियाँ अपनाना चाहता है ?

How can you justify the double standard of an under developed country when it wan's free trade to increase its export and protection to decrease its imports ?

[संकेत—इस प्रश्न के उत्तर में अल्पविकसित देशों की *समस्याओं* का विवरण देते हुए यह बताएँ कि ये अपने *शिशु-उद्योगों* को *बाहरी प्रतिस्पर्धा* से बचाने के लिए संरक्षण की नीति अपनाते हैं तो उसे किस सीमा तक उचित माना जा सकता है। दूसरी ओर, इन देशों को विदेशी विनिमय की आवश्यकता है उसकी उपलब्धि केवल तभी सम्भव है जब इन देशों के निर्यातों पर अन्य, विशेष रूप से विकसित देश कोई रोक न लगावें।]

7. "मुक्त व्यापार विकसित देशों के लिए सर्वाधिक लाभप्रद हो सकता है, परन्तु यह अल्पविकसित देशों के लिए सदैव घातक होता है।" आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं ?

"Free trade may be in the best interests of developed economies, it is always harmful to underdeveloped economies " How far do you agree with this view ?

[संकेत—आधुनिक सन्दर्भ में न तो मुक्त व्यापार सभी विकसित देशों के लिए सदैव लाभप्रद हो सकता है और न ही अल्पविकसित देशों के लिए सदैव घातक। वस्तुतः प्रत्येक देश के लिए वही नीति अनुकूल हो सकती है जिसके आधार पर अनुकूलतम *(most favourable)* भुगतान *(या व्यापार सन्तुलन)* प्राप्त किया जा सके। इसीलिए आज सभी देश परिस्थितियों को देखते मुक्त व्यापार एवं संरक्षण की मिश्रित नीति अपनाते हैं। अत्यधिक संरक्षण या पूर्ण रूप से स्वतन्त्र दोनों ही आज के सन्दर्भ में अनुपयुक्त हैं। विद्यार्थियों को चाहिए कि वे परिस्थिति के अनुरूप ही किसी नीति विशेष का औचित्य बतायें।]

14

संरक्षण की विधियाँ
[METHODS OF PROTECTION]

इससे पूर्व अध्याय में कतिपय परिस्थितियों में संरक्षण के औचित्य पर प्रकाश डाला जा चुका है। संरक्षण के इन्हीं तर्कों को वैध मानते हुए अब हम यह देखेंगे कि संरक्षण किस प्रकार प्रदान किया जा सकता है। मुख्य रूप से संरक्षण हेतु निम्न विधियाँ प्रस्तावित की जाती हैं। इन विधियों का एकाकी रूप में अथवा मिश्रित रूप में विभिन्न देशों में उपयोग किया जा रहा है। ये विधियाँ इस प्रकार हैं

(1) **तटकर** (Tariffs),
(2) **कोटा एवं लाइसेंस** (Quotas and Licences)
(3) **अनुदान** (Subsidies),
(4) **मूल्य-विभेद अथवा राशिपातन** (Price Discrimination or Dumping),
(5) **राजकीय व्यापार** (State Trading), तथा
(6) **अन्तर्राष्ट्रीय संघ** (International Cartels)।

अब हम इनमें से प्रत्येक विधि का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

तटकर
[TARIFFS]

तटकर संरक्षणात्मक विधि का एक रूप है जो एक ओर तो उपभोक्ता के उपभोग की उन वस्तुओं, जिनको वह अधिक प्राथमिकता देता है के उपभोग में कटौती करके उसके चयन की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाता है तथा दूसरी ओर अर्थव्यवस्था के साधनों का एक उपयोग के स्थान पर दूसरे उपयोग में स्थानान्तरण करता है। इस प्रकार तटकर के माध्यम से एक देश वस्तुओं एवं सेवाओं तथा उत्पादन के साधनों के सापेक्षिक मूल्यों में परिवर्तन करने की स्थिति में हो जाता है जिसके कारण तटकर से पूर्व तथा तटकर के बाद व्यापार के ढाँचे में परिवर्तन आ जाता है। तटकर की ऊँची दर से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा में कमी होगी जबकि तटकर की नीची दर से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि होगी। प्रोफेसर एल्सवर्थ (Prof Ellsworth) ने तटकर को किसी बाहरी देश से आयातित वस्तुओं पर लगायी गयी चुंगी की सूची (schedule) के रूप में परिभाषित किया है।[1] *तटकर एक चुंगी या कर है जो किसी वस्तु पर देश की सीमा के बाहर वसूल किया जाता है।*

कोटा (quota) तटकर से भिन्न माना जाता है क्योंकि कोटा प्रणाली के अन्तर्गत सरकार निर्दिष्ट वस्तुओं के आयात की अधिकतम सीमाएँ निर्धारित कर देती है। परन्तु कभी-कभी तटकर व कोटा दोनों विधियों को एक साथ प्रयुक्त किया जाता है। इसे टैरिफ कोटा (Tariff quota) कहा जाता है जिसके अन्तर्गत आयात की एक मात्रा तक तो तटकर की दर कम रहती है परन्तु इस कोटे से अधिक मात्रा का आयात करने पर तटकर की दर में वृद्धि कर दी जाती है। किसी वस्तु के आयात कोटे का निर्धारण पूर्व-वर्ष के घरेलू उत्पादन के एक अनुपात के रूप में अथवा एक निश्चित मात्रा के रूप में किया जा सकता है।

---

1 P T Ellsworth, *International Economics*, p 282 Also see R F Harrod, *International Economics*, London, (1948), pp 179-99.

तटकर देश के निर्यातों तथा आयातों दोनों पर लगाया जाता है। परन्तु सामान्यतः इसे आयातों पर ही लगाया जाता है। यही कारण है कि तटकरों (प्रशुल्कों) तथा आयात करों को एक समान ही माना जाता है। उन वस्तुओं पर लगाया गया कर आयात कर होता है जिनका उद्गम विदेश में तथा निर्दिष्ट कर लगाने वाले देश में होता है। इसके विपरीत निर्यात तटकर उन वस्तुओं पर लगाया गया कर होता है जिसका उद्गम कर लगाने वाले देश में तथा निर्दिष्ट विदेश में होता है। आयात तथा निर्यात कर के अतिरिक्त एक अन्य महत्वपूर्ण कर भी होता है जिसे 'मार्गवृत्ति व्यापार कर' या परिवहन कर (Transit Duty) कहते हैं। इसे अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पार करने वाली उन वस्तुओं पर लगाया जाता है जिनका उद्गम तथा निर्दिष्ट दोनों ही अन्य देशों में होते हैं। उदाहरण के लिए, अमरीका के लिए नेपाल के आयातों तथा निर्यातों पर भारत को मार्गवर्ती व्यापार कर उस समय लगाना चाहिए जब भारत या तो प्रवेश-द्वार हो या निकास-द्वार अर्थात् भारत की सीमा में होकर उन वस्तुओं को गुजरना पड़े।

तटकर का वर्गीकरण (Classification of Tariffs)

तटकर अनेक प्रकार के हो सकते हैं। कुछ महत्वपूर्ण तटकरों को निम्नलिखित तीन वर्गों के अन्तर्गत रखा जा सकता है :

I. वसूली के आधार पर (Levy criterion)—इस वर्ग के अन्तर्गत वे तटकर आते हैं जो तटकर लगाने के विभिन्न मापदण्डों पर आधारित होते हैं। यहाँ हम निम्न चार प्रकार के करों को व्यक्त कर सकते हैं :

(1) विशिष्ट कर (Specific Tax),

(2) मूल्यानुसार कर (Advalorem Tax),

(3) मिश्रित कर (Combined Tax),

(4) शृंखलाबद्ध दरों वाला कर (Sliding Scale Duties)।

II. उद्देश्य पर आधारित—इस वर्ग में वे तटकर आते हैं जिन्हें उद्देश्य विशेष के लिए लगाया जाता है। यहाँ निम्न दो प्रकार के तटकरों का उल्लेख किया जा सकता है :

(1) आय के लिए प्रशुल्क (Revenue Tariff),

(2) संरक्षणात्मक प्रशुल्क (Protective Tariff)।

III प्रयोग पर आधारित—इस वर्ग में वे तटकर आते हैं जो विभिन्न देशों के प्रयोग करने के मापदण्ड पर आधारित हैं। यहाँ निम्न तटकरों का उल्लेख किया जा सकता है :

(1) एकाकी अनुसूची प्रशुल्क या एकाकी स्तम्भ प्रशुल्क (Single Column Tariff),

(2) दोहरे या बहुस्तम्भी प्रशुल्क (Double or Multiple Column Tariff),

(3) पारस्परिक प्रशुल्क (Conventional Tariff)।

अब हम उपर्युक्त प्रशुल्कों का विस्तृत वर्णन निम्न प्रकार कर सकते हैं

विशिष्ट प्रशुल्क (Specific Tariff)

जब सरकार किसी वस्तु पर उसके भार तथा माप को ध्यान में रखते हुए मुद्रा की एक निश्चित मात्रा में तटकर लगाती है तो उसे विशिष्ट प्रशुल्क कहा जाता है। जैसे 20 पैसे प्रति मीटर या 25 पैसे प्रति पौण्ड। दूसरे शब्दों में, विशिष्ट तटकर किसी वस्तु की मात्रा पर प्रयुक्त प्रति इकाई मौद्रिक कर को कहा जाता है। इस प्रकार के आयात तथा निर्यात करों के लगाने से सुविधापूर्वक प्रबन्ध करने में सरलता रहती है क्योंकि इस प्रकार के तटकरों में निर्यातित या आयातित वस्तु के मूल्य को निर्धारित करने की कोई समस्या नहीं होती। वस्तुओं की कीमतों का निर्धारण एक बहुत मुश्किल कार्य है। वस्तुओं के मूल्य प्रायः स्थान विशेष या समय विशेष पर बदलते रहते हैं। फिर मूल्य अनेक प्रकार के हो सकते हैं जैसे माँग एवं पूर्ति द्वारा निर्धारित मूल्य, बीजक का मूल्य, प्रसंविदा मूल्य, बाजार मूल्य, साध्य मूल्य, f o b मूल्य लागत बीमा किराया (c i f) मूल्य आदि। तटकर लगाने के उद्देश्य से वस्तु का मूल्य निर्धारित करने के लिए इन विभिन्न सम्भव मूल्यों में से किसी एक का चुनाव करना आवश्यक होता है। चुनाव की समस्या भी एक जटिल

समस्या है। अत इन सभी कठिनाइयों से बचा जा सकता है, यदि हम विशिष्ट तटकर का उपयोग करें। विशिष्ट तटकर चुनाव की समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है। किन्तु विशिष्ट तटकरों का कुछ वस्तुओं पर लगाया जाना सम्भव नहीं होता जैसे कला के कार्य पर, किसी चित्र पर कर। यह कर इस प्रकार के हैं कि इन्हें उसके भार या क्षेत्र के आधार पर नहीं लगाया जा सकता। मन्दी के समय विशिष्ट कर सरक्षण को प्रोत्साहन देते हैं जबकि तेजी के समय इनका प्रभाव विपरीत होता है।

मूल्यानुसार प्रशुल्क (Advalorem Tariff)

जब तटकर किसी वस्तु के मूल्य के किसी निश्चित प्रतिशत के रूप में लगाया जाता है तो उसे मूल्यानुसार तटकर कहते है। इस प्रकार के तटकर में वस्तु के भार तथा उसकी माप का उपयोग नहीं किया जाता। *यह तटकर न्यायपूर्ण कहा जा सकता है क्योंकि कर का अधिक भार* (incidence of taxation) महँगी वस्तुओ, जिनका उपभोग धनी वर्ग द्वारा किया जाता है पर पडता है। निर्धन वर्ग प्राय सस्ती वस्तुओ का ही उपभोग करते हैं अत उन्हें कर का कम भार सहन करना पडता है। मूल्यानुसार कर उन वस्तुओ पर लगाए जाने चाहिए जिनके मूल्य उनके भार या माप के आधार पर निश्चित न होकर उनके आकर्षण (जैसे दुर्लभ पुस्तकें या चित्र आदि) पर आधारित होते हैं। अत इन तटकरो का सापेक्षिक भार आयात की जाने वाली वस्तु के मूल्य म परिवर्तन होने के साथ परिवर्तित नही होता।

मिश्रित प्रशुल्क (Combined Tariff)

मिश्रित प्रशुल्क के अन्तर्गत आयातित वस्तुओ पर कर या तो विशिष्ट प्रशुल्क या मूल्यानुसार प्रशुल्क की एक सयुक्त सूची बनायी जाती है। सामान्यतया देश की सरकार द्वारा दोनो प्रकार के प्रशुल्कों की एक सयुक्त सूची बनायी जाती है तथा व्यापारियों (आयातकर्ताओ) को उस कर के चयन की स्वतन्त्रता दी जाती है जिसकी दर न्यूनतम हो। घरेलू उद्योगो को सरक्षण देने के लिए यह प्रणाली उत्तम बतायी जा सकती है।

विशिष्ट एवं मूल्य पर आधारित तटकरों के गुण एवं दोषों की तुलना (Comparison of the Merits and Demerits of Specific and Advalorem Tariffs)—(1) यदि तटकर की वसूली वस्तु के मूल्य के एक निर्दिष्ट प्रतिशत के रूप म की जाय तो आयातित वस्तु के मूल्य में परिवर्तन होने पर भी कर का सापेक्ष भार वही बना रहता है। परन्तु यदि तटकर विशिष्ट (specific) हो तो वस्तु के मूल्य में होने वाले परिवर्तन के अनुरूप तटकर का भार कम या अधिक (अत्याचारपूर्ण या oppressive) हो जायगा। उदाहरणार्थ, मन्दी के समय मूल्य पर लगाये गये तटकर की अपेक्षा विशिष्ट तटकर अधिक सरक्षणात्मक सिद्ध होते हैं। इसके विपरीत, स्फीति काल में विशिष्ट तटकर देश के उद्योगो को मूल्य पर आधारित तटकरों की अपेक्षा कम सरक्षण प्रदान कर सकते हैं।

(2) व्यवहार में विशिष्ट तटकर मूल्य पर आधारित तटकरो की अपेक्षा अधिक पश्चगामी (regressive) होते हैं क्योकि घटिया या सस्ती वस्तुओं पर प्रति इकाई तटकर अपेक्षाकृत ऊँची दर पर वसूल किया जाता है, अतएव देश में अच्छी क्वालिटी की वस्तुओ के उत्पादन को घटिया वस्तुओं की अपेक्षा पर्याप्त सरक्षण नही मिल पाता। इसके विपरीत, मूल्य पर लगाये गये तटकर की राशि वस्तुओ की क्वालिटी पर निर्भर करती है और इसीलिए इससे देश म उत्पादित घटिया व ऊँची क्वालिटी दोनो ही प्रकार की वस्तुओ को समान सरक्षण प्रदान किया जा सकता है।

(3) विशिष्ट तटकरो का उन वस्तुओ के सन्दर्भ मे कोई औचित्य नही होता जिनके मूल्य का सही अनुमान सम्भव नही है, क्योकि ये वस्तुएँ भार (तौल) या आकार के आधार पर नहीं खरीदी जाती। ऐसी स्थिति में तटकर की वसूली केवल मूल्य के आधार पर ही की जा सकती है।

(4) कभी-कभी मूल्य पर आधारित तटकर की अपेक्षा विशिष्ट तटकर अधिक उपयुक्त समझे जाते हैं, मूल्य के आधार पर तटकर की वसूली में एक कठिनाई तो इस बात के निर्णय में सम्बद्ध है कि मूल्य फ्री ऑन बार्ड (f o b) लिया जाय अथवा मूल्य, बीमा एव भाडे (c i f) को मिलाकर लिया जाय। इसी प्रकार, सौदे के समय प्रचलित मूल्य पर तटकर लिया जाय अथवा उस मूल्य पर तटकर लिया जाय तो वस्तु के प्रेषण के समय प्रचलित या अथवा उस मूल्य पर तटकर लिया जाय जिस पर वतमान मे वस्तु घरेलू बाजार में बेची जा रही है, ये मूल्य आधारित

तटकर सम्बन्धी प्रश्न हैं जो इस पर आधारित तटकर नीति को जटिल बना देते हैं। बीजक पर अंकित मूल्य को अनेक बार विश्वस्त नहीं माना जाता और इसलिए इसके आधार पर निर्धारित तटकर को अधिक विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

निसन्देह, मूल्य पर आधारित तटकर की वसूली में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं, परन्तु इसका यह आशय नहीं है कि मूल्य पर आधारित तटकर सर्वथा असफल है। ये तटकर प्रगतिशील है और इसी कारण ये देश के उद्योगों को पर्याप्त संरक्षण प्रदान करने में असमर्थ हैं, जो कार्य विशिष्ट तटकरों के माध्यम से सुचारु रूप से करना सम्भव नहीं है। विशिष्ट तटकर केवल उन परिस्थितियों में उपयुक्त माने जाते हैं, जबकि वस्तुओं के सही मूल्य का ज्ञान न हो सके तथा/अथवा जब वस्तुओं के मूल्यों में उतार-चढ़ाव बहुत अधिक होते हों।

परन्तु पिछले कुछ समय से तटकर की वसूली के आधार की अपेक्षा तटकर नीति के उद्देश्य को अधिक महत्व दिया जाने लगा है। इस प्रकार व्यक्तिपरक दृष्टिकोण की अपेक्षा अब वस्तुपरक दृष्टिकोण को प्राथमिकता दी जाने लगी है। उद्योग विशेष पर, किसी देश के क्षेत्र (region) विशेष पर, उत्पादन के साधनों पर, समस्त अर्थ-व्यवस्था पर अथवा सम्पूर्ण विश्व की अर्थ-व्यवस्था पर होने वाले प्रभावों को ध्यान में रखकर तटकर नीति का निर्धारण किया जाता है। साधारणतया सम्पूर्ण देश की अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित करने हेतु जो तटकर नीति अपनायी जाती है उसकी किसी क्षेत्र विशेष के लिए उस समय तक उपादेयता नहीं मानी जाती तब तक कि तटकर-नीति का उद्देश्य कल्याणकारी दृष्टि से साधनों का पुनर्वितरण करना न हो।

शृंखलाबद्ध दरों वाला प्रशुल्क (Sliding Scale Tariff)

उन तटकरों को, जो वस्तुओं की कीमतों के साथ-साथ परिवर्तित होते हैं शृंखलाबद्ध या समजीमान तटकर कहा जाता है। यह तटकर या तो विशिष्ट हो सकता है या मूल्यानुसार। किन्तु व्यावहारिक जीवन में शृंखलाबद्ध प्रशुल्क सदैव विशिष्ट प्रशुल्क ही होता है। इन करों को अधिकांशतः खाद्य-पदार्थों पर ही लगाया जाता है क्योंकि उनके मूल्यों में प्रायः स्थिरता रहती है अथवा सरकार उन मूल्यों में स्थिरता बनाये रखने का प्रयास करती है।

आय-प्रशुल्क (Revenue Tariff)

आय-प्रशुल्कों का मुख्य उद्देश्य सरकारी आय में वृद्धि करना है। यह कर उन वस्तुओं के आयातों पर लगाया जाता है जिनका उत्पादन प्रशुल्क लगाने वाले देश में नहीं होता।[1] आय-प्रशुल्क का उद्देश्य यद्यपि सरकार के लिए आय प्राप्त करना ही होता है तथापि इसमें संरक्षण प्रभाव का अंश भी निहित होता है। सामान्यतया आय में वृद्धि करने के लिए उपभोग वस्तुओं, विशेष रूप से विलासिता की वस्तुओं पर यह प्रशुल्क लगाया जाता है। इस प्रशुल्क की दर भी प्रायः ऊँची होती है।

संरक्षणात्मक प्रशुल्क (Protective Tariff)

जब विदेशी बाजार में किसी देश को गलाकाट जैसी विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पड़े तो उसे अपने घरेलू उद्योगों को संरक्षण देने के लिए उन उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं से प्रतियोगिता करने वाली विदेशी वस्तुओं के आयात पर प्रशुल्क लगाने पड़ते हैं, उन प्रशुल्कों को संरक्षणात्मक प्रशुल्क कहते हैं। संरक्षणात्मक प्रशुल्क की दर ऊँची होने पर संरक्षणात्मक प्रभाव भी अधिक होता है। पूर्णतया संरक्षणात्मक प्रशुल्क से गृह-निर्मित वस्तुओं से प्रतियोगिता करने वाली विदेशी वस्तुओं के आयात पूर्णतया बन्द हो जाते हैं। किन्तु इस प्रकार के प्रशुल्क से सरकार को अधिक आय प्राप्त नहीं होती है। यदि संरक्षणात्मक प्रशुल्क को अधिकतम मात्रा में लगाया जाता है तो सरकार को बहुत अधिक आय की हानि हो सकती है क्योंकि आयात की मात्रा कम हो जाती है, किन्तु इसके साथ ही अतिरिक्त घरेलू उत्पादन में वृद्धि हो जाने से विदेशी विनिमय की बचत भी हो जाती है।

एकाकी स्तम्भ प्रशुल्क (Single Column Tariffs)

एकाकी स्तम्भ प्रशुल्क प्रणाली के अन्तर्गत कानून के अनुसार प्रत्येक वस्तु पर समान दर से

1 P. T. Ellsworth, *The International Economy*, 1969, p. 244.

प्रशुल्क लगाया जाता है चाहे वस्तु का आयात किसी भी देश से क्यों न किया जा रहा हो। अन्य शब्दों में, विभिन्न वस्तुओं अथवा देशों के मध्य बिना किसी प्रकार का भेद किये हुए प्रशुल्क की एक सूची तैयार की जाती है। यह प्रशुल्क सूची समस्त वस्तुओं अथवा देशों पर समान रूप से लागू होती है। यह प्रणाली प्रशासन के दृष्टिकोण से बहुत ही सरल प्रणाली है। किन्तु इन प्रशुल्कों में लोच का अभाव (lack of elasticity) होता है।

दुहरे या बहु-स्तम्भ प्रशुल्क *(Double or Multiple Column Tariffs)*

इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक वस्तु के लिए दो या अधिक दरों से तटकर वसूल किया जाता है जो इस बात पर निर्भर करता है कि उन वस्तुओं को किन देशों से आयात किया जाता है। इसका यह तात्पर्य हुआ कि एक ही वस्तु को दो या विभिन्न देशों से आयात करने पर उस वस्तु पर लगाया जाने वाला प्रशुल्क अलग-अलग होता है। इस प्रकार के प्रशुल्क एक देश की विभिन्न देशों से व्यापारिक सन्धियों पर आधारित होते हैं।

सामान्य तथा परम्परागत प्रशुल्क (General and Conventional Tariffs)

इस प्रणाली के अन्तर्गत सामान्य (general) तथा परम्परागत (conventional) प्रशुल्कों की दो अलग-अलग अनुसूचियाँ बनायी जाती हैं। सामान्य प्रशुल्क अनुसूची का निर्धारण राज्य के प्रशासन द्वारा होता है तथा साथ ही साथ यह घोषणा की जाती है कि इसमें समायोजन उसी समय होगा जबकि व्यापारिक सन्धियों के परिणामस्वरूप इसकी आवश्यकता महसूस की जावे।

परम्परागत प्रशुल्क सूची व्यापारिक सन्धियों का परिणाम है। इसके अन्तर्गत घरेलू परिस्थितियों में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार नियमित एवं क्रमिक आवश्यक परिवर्तन सम्भव नहीं होते। यह परिवर्तन केवल व्यापारिक सन्धि की समाप्ति के पश्चात् ही किये जा सकते हैं। सरल शब्दों में, हम कह सकते हैं कि पारस्परिक प्रशुल्क वह है जब कानूनी रूप से प्रत्येक वर्ग की वस्तुओं के लिए प्रशुल्क इस प्रावधान के अनुसार निर्धारित किया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के फलस्वरूप ऐसे प्रशुल्क को कम (परिवर्तित) किया जा सकता है। जब सामान्य रूप से प्रशुल्क कम हो जाता है तो उसे एकाकी स्तम्भ प्रशुल्क में परिवर्तित कर दिया जाता है।

अधिकतम तथा न्यूनतम प्रशुल्क *(Maximum and Minimum Tariffs)*

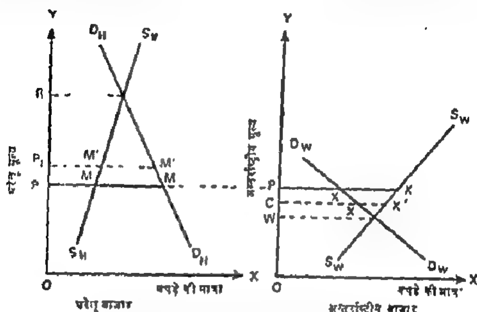
इस प्रणाली के अन्तर्गत किसी देश की सरकार प्रत्येक वस्तु के लिए प्रशुल्क की अधिकतम तथा न्यूनतम दरें निश्चित करती है। सरकार उन देशों के लिए न्यूनतम दर निर्धारित करती है, जिन्हें रियायत (rebate) कर लगाने वाले देश के साथ में भी पूर्ण सम्बन्धों के कारण मिल रही हो। अधिकतम प्रशुल्क प्राय व्यापारिक सौदेबाजी के उद्देश्य से लगाये जाते हैं।

तटकर के प्रभाव (Effects of Tariffs)

तटकरों या टैरिफ के प्रभावों को मूल्य तथा आय-प्रभावों के रूप में विभाजित किया जा सकता है। रेखाचित्र 14.1 में घरेलू व अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में तटकर से पूर्व एवं इनके बाद की स्थितियाँ दर्शायी गयी हैं। मान लीजिए, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं होता; ऐसी स्थिति में कपड़े की घरेलू माँग (*DH*) व (*SH*) के आधार पर साम्य मूल्य एवं मात्रा का निर्धारण होगा। साम्य मूल्य उस स्थिति म *OR* होगा। परन्तु दूसरे देश में वस्तु का साम्य मूल्य *OW* होगा। जैसा कि रेखाचित्र से स्पष्ट है, अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु-विनिमय न होने पर दोनों देशों में कपड़े के साम्य मूल्यों में बहुत अधिक अन्तर पाया जाता है। अब मान लीजिए, पहला देश दूसरे से कपड़ा मँगाना प्रारम्भ कर देता है। कपड़े की विदेशों से प्राप्त अतिरिक्त मात्रा के कारण वहाँ मूल्य घटना प्रारम्भ होता है लेकिन दूसरे देश में कपड़े की मात्रा निर्यात (कम) होने के कारण वहाँ मूल्य बढ़ना प्रारम्भ हो जायगा। दोनों देशों में मूल्यों के परिवर्तन की यह प्रक्रिया उस समय तक रुक जायगी जब कपड़े का मूल्य दोनों ही देशों में समान (*OP*) हो जाता है।

रेखाचित्र 14.1 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप जब कपड़े का मूल्य दोनों ही देशों में समान हो जाता है तो पहले देश द्वारा कपड़े की आयातित मात्रा (*MM*) एवं दूसरे देश द्वारा कपड़े की निर्यातित मात्रा (*XX*) भी समान होगी। अब मान लीजिए, प्रथम देश कपड़े पर आयात तटकर

लगा देता है। तटकर की यह राशि रेखाचित्र 14·1 में P_1P के रूप में व्यक्त की गयी है। तटकर लगाने के बाद कपड़े का मूल्य प्रथम देश में बढ़कर OP_1 हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप इस देश में कपड़े का आयात MM से घटकर $M'M'$ रह जाता है। इसके साथ ही दूसरे देश से कपड़े का निर्यात XX से घटकर $X'X'$ रह जायगा। निर्यात घटने पर दूसरे देश में कपड़े का मूल्य भी OP से घटकर OC रह जायगा।



रेखाचित्र 14·1—तटकर के पूर्व एवं बाद की स्थितियाँ

उपर्युक्त उदाहरण में यह मान्यता ली गयी है कि तटकर की सम्पूर्ण राशि प्रथम देश द्वारा वहन की जाती है तथा यह मूल्य-वृद्धि (PP_1) के रूप में प्रतिबिम्बित होती है। परन्तु यह भी सम्भव है कि इस आयात तटकर का अंश निर्यातकर्ता (द्वितीय) देश को भी वहन करना पड़े। उस स्थिति में तटकर की राशि की अपेक्षा प्रथम देश में कपड़े की मूल्य-वृद्धि कम होगी। इसके फलस्वरूप आयात में कटौती भी अपेक्षाकृत कम होगी। वस्तुतः तटकर का कितना अनुपात आयातकर्ता देश को वहन करना पड़ता है, यह वस्तु विशेष (वर्तमान सन्दर्भ में कपड़े) की माँग व पूर्ति की सापेक्ष लोचों पर निर्भर करेगा।

ऐसी परिस्थितियों में तटकर के प्रभाव अनेक हो सकते हैं। तटकर के प्रभावों को हम संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :

(i) तटकर के फलस्वरूप वस्तु के घरेलू मूल्य में वृद्धि हो जायगी और यह मूल्य-प्रभाव (price effect) उस वस्तु की माँग-लोच पर निर्भर करेगा।

(ii) तटकर के लागू होने पर आयात की मात्रा में कमी हो जायगी और इसके फलस्वरूप वस्तु की कुल उपलब्ध मात्रा में कमी होने के कारण घरेलू मूल्य में पुनः वृद्धि होगी।

(iii) जब वस्तु या वस्तुओं की घरेलू कीमत (कीमतों) में तटकर के कारण वृद्धि होती है तो उपभोक्ताओं की वास्तविक आय कम हो जाती है और इस आय-प्रभाव के कारण देश के लोगों के कल्याण पर प्रतिकूल प्रभाव होता है। बहुधा मँहगाई में वृद्धि के साथ-साथ श्रमिक अधिक मजदूरी की माँग करते हैं और मजदूरी में वृद्धि के फलस्वरूप उत्पादन-लागतों एवं मूल्यों में पुनः वृद्धि हो जाती है।

(iv) अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में मूल्य कम होने के फलस्वरूप द्वितीय देश की स्पर्धाशीलता में वृद्धि होती है। इस प्रकार प्रथम देश में तटकर लगाये जाने पर अन्य देशों की प्रतियोगितात्मक शक्ति में वृद्धि हो जाती है।

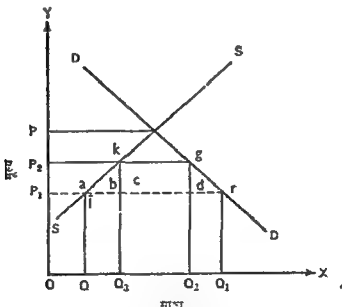
(v) तटकर प्रारम्भ होने के पश्चात् मूल्यों में वृद्धि होने के कारण लगान व ब्याज में भी

वृद्धि हो जायगी जिसके फलस्वरूप आय व सम्पत्ति का वितरण धनी लोगों एव भूमि के स्वामियों के अनुकूल होगा । आय व सम्पत्ति का वह पुनर्वितरण समाज मे आर्थिक कल्याण की दृष्टि से प्रतिकूल है । इसके विपरीत, तटकर न लगाने वाले अन्य देशो म ऐसा नही होता ।

किण्डलबर्गर (Kindleberger) के मतानुसार तटकर के किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था पर निम्नलिखित प्रभाव होते हैं [1]

(1) सरक्षण-प्रभाव (Protective Effects),
(2) उपभोग-प्रभाव (Consumption Effects),
(3) राजस्व-प्रभाव (Revenue Effects),
(4) पुनर्वितरण-प्रभाव (Re-distribution Effects),
(5) व्यापार की शर्तों का प्रभाव (Effects on Terms of Trade),
(6) प्रतिशोधात्मक प्रभाव (Retaliation Effects),
(7) प्रतियोगिता प्रभाव (Competitive Effects),
(8) आय प्रभाव (Income Effects),
(9) भुगतान-सन्तुलन प्रभाव (Balance of Payment Effects) एव
(10) अन्य प्रभाव (Other Effects) ।

तटकर के सरक्षणात्मक उपभोग राजस्व एव पुनर्वितरण प्रभाव (Protective, Consumption, Revenue and Re distribution Effects of Tariff)—तटकर के प्रमुख उद्देश्यों म स एक उद्देश्य शिशु-उद्योगो (infant industries) को विदेशी प्रतियोगिता से सरक्षण प्रदान करना है । इस आशिक एव सामान्य साम्य विश्लेषण के माध्यम से अन्य प्रभावो के साथ-साथ समझा जा सकता है । रेखाचित्र 14 2 मे OP घरेलू साम्य मूल्य है जिस पर वस्तु की मांग व पूर्ति घरेलू बाजार म समान हैं । मान लीजिए, इस वस्तु का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य OP_1 है जो घरेलू बाजार म



रेखाचित्र 14 2—आशिक साम्य के सन्दर्भ मे तटकर के सरक्षणात्मक, उपभोग, राजस्व एव पुनर्वितरण प्रभाव

प्रचलित मूल्य OP से कम है । अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य OP_1 पर देशो मे OQ इकाइयो का उत्पादन होता है परन्तु इस मूल्य पर घरेलू मांग OQ_1 है । यदि देश के (घरेलू) बाजार मे भी मूल्य OP_1 ही हो तो मांग की पूर्ति करने हेतु QQ_1 मात्रा का आयात किया जायगा । मान लीजिए अब विदेशो से आयातित वस्तु पर तटकर लगा दिया जाता है क्योकि देश की सरकार वस्तु के घरेलू

1 See C. P Kindleberger, *International Economics*, (1971), Chapter 7

उत्पादन में वृद्धि करना चाहती है, ताकि आयात पूर्णतः समाप्त किये जा सकें। दूसरे शब्दों में, तटकर का उद्देश्य नये उत्पादकों (शिशु-उद्योगों) को संरक्षण प्रदान करना है। मान लीजिए, तटकर की राशि P_1P_2 है। परिणाम यह होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य OP_1 रहने पर भी वस्तु का घरेलू मूल्य OP_2 हो जायगा। मूल्य में वृद्धि होने पर आयात की मात्रा QQ_1 से घटकर Q_3Q_2 रह जायगी (कमी $= QQ_3 + Q_2Q_1$)। यह ध्यान देने की बात है कि तटकर के फलस्वरूप वस्तु का घरेलू उत्पादन OQ से बढ़कर OQ_3 हो जायगा (वृद्धि $= QQ_3$) और आयात में भी इतनी ही कटौती हुई है ($Q_1Q_1 = QQ_3$) परन्तु चूँकि वस्तु का मूल्य OP_1 से बढ़कर अब OP_2 हो गया है इसका उपभोग (माँग) OQ_1 से घटकर OQ_2 रह जायगा। उपभोग में यह कमी Q_2Q_1 उपभोग-प्रभाव है। राजस्व प्रभाव को सरकार द्वारा प्राप्त तटकर की आय के रूप में देखा जा सकता है। रेखाचित्र 14 2 में आयताकार क्षेत्र C राज्य को तटकर से प्राप्त राजस्व का प्रतिनिधित्व करता है। स्पष्ट है, C प्रति इकाई तटकर एवं कुल आयातित इकाइयों का गुणनफल मात्र है ($C = P_1P_2 \times Q_3Q_2$)। पुनर्वितरण प्रभाव के अन्तर्गत उपभोक्ताओं को मूल्य-वृद्धि से उपभोग की बचत में हुई कमी तथा मूल्य-वृद्धि से ही देश के उत्पादकों को प्राप्त अतिरेक को देखा जाता है। स्पष्ट है, तटकर के कारण वस्तु के घरेलू मूल्य में वृद्धि होने पर आय का पुनर्वितरण उपभोक्ताओं से उत्पादकों के लिए हो जाता है। यदि अतिरिक्त उत्पादन हेतु प्रयुक्त साधनों की पारिश्रमिक दरें भी वही रहें जो अब तक दी जा रही थीं तो अर्थ-व्यवस्था को तटकर के फलस्वरूप हुई क्षति त्रिभुज b के समान होगी। उपभोक्ता की बचत में हुई कुल कमी $= P_1P_2\ gr$, सरकार को प्राप्त राजस्व $= C$, शिशु-उद्योगों को प्राप्त अतिरिक्त आय $= a$ उपभोक्ताओं को हुई वास्तविक क्षति $= d$, तथा वास्तविक व्यावसायिक हानि $= b$। इस प्रकार कुल मिलाकर उपभोक्ताओं व उत्पादनकर्ताओं को हुई क्षति $b + d$ होगी जो तटकर का प्रतिकूल प्रभाव ही माना जा सकता है।

यदि तटकर का उद्देश्य शिशु-उद्योगों को संरक्षण देना न होकर केवल राजस्व प्राप्त करना हो तो ऐसे तटकर के कोई संरक्षणात्मक एवं पुनर्वितरण प्रभाव नहीं होंगे। वस्तुतः तटकर का कितना प्रभाव उपभोक्ताओं व उत्पादकों पर होता है यह प्रधानतया घरेलू माँग व पूर्ति की लोचों एवं तटकर के फलस्वरूप घरेलू मूल्य में होने वाली वृद्धि पर निर्भर करेगा।

रेखाचित्र 14 2 में मूल्य में वृद्धि होने के कारण तटकर का पुनर्वितरण प्रभाव स्पष्टतः दिखायी देता है। जैसा कि स्पष्ट है, माँग व पूर्ति की लोच पर्याप्त होने के कारण तटकर के लगाये जाने पर उत्पादकों के लाभ में वृद्धि हो जाती है। इन बढ़े हुए लाभों की प्राप्ति प्रधान रूप से वर्तमान उत्पादकों को ही होगी जो संरक्षणात्मक प्रभाव से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। उपर्युक्त रेखाचित्र से स्पष्ट है कि तटकर के पुनर्वितरण-प्रभाव के अन्तर्गत उपभोक्ता की बचत के एक बड़े अंश का उत्पादकों को बढ़े हुए लाभ के रूप में हस्तान्तरण हो जाता है। विशेष रूप से विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन हेतु प्रयुक्त साधनों के अनुपातों के अन्तरण के कारण तटकरों का प्रभाव आय के पुनर्वितरण के रूप में व्यक्त होगा।

तटकर का व्यापार की शर्तों पर प्रभाव (Effect of Tariff on Terms of Trade)—उपर्युक्त परिस्थितियों में तटकर के फलस्वरूप कोई देश विदेशों से वस्तुएँ सस्ते मूल्य पर प्राप्त कर सकता है। विशेष रूप से इसके लिए यह आवश्यक है कि विदेशी निर्यातकर्ता तटकर की राशि का अधिकांश भाग वहन करें।

तटकर लागू होने के बाद आयातकर्ता देश में, वस्तु के मूल्य में वृद्धि हो जाती है। साधारणतया ऐसा माना जाता है कि मूल्य की यह वृद्धि तटकर की राशि के बराबर ही होती है। परन्तु व्यवहार में यह मान्यता सही सिद्ध नहीं होती। वस्तुतः तटकर के बाद मूल्य में तटकर की राशि से अधिक, बराबर या इससे कम वृद्धि होना सम्भव है। यह भी सम्भव है कि तटकर लागू होने पर भी वस्तु का मूल्य वही बना रहे। ऐसा होने पर तटकर की सम्पूर्ण राशि वस्तु के (विदेशी) निर्यातकर्ता को वहन करनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में विदेशी निर्यातकर्ता वस्तु के मूल्य में तटकर के समान कटौती करके भी वस्तु के निर्यात की मात्रा वही रखने का प्रयास करते हैं जो तटकर लागू होने से पूर्व थी।

आयातकर्ता देश में वस्तु के मूल्य में तटकर की राशि के समान वृद्धि केवल उसी स्थिति में होगी जबकि वस्तु का उत्पादन स्थिर लागतों के अन्तर्गत हो रहा हो। ऐसी स्थिति में वस्तु का पूर्ति वक्र क्षितिजीय होगा। वस्तुतः, तटकर के बाद आयातकर्ता देश में मूल्य में जितनी वृद्धि होगी

तथा निर्यातकर्ता देश मे मूल्य कितना कम होगा यह मुख्यत निर्यात व आयात करने वाले देशो मे वस्तु की पूर्ति व माँग की मात्राओ व इनकी लोचो पर निर्भर करेगा। इसी बात की अब हम विस्तार से चर्चा करेंगे।

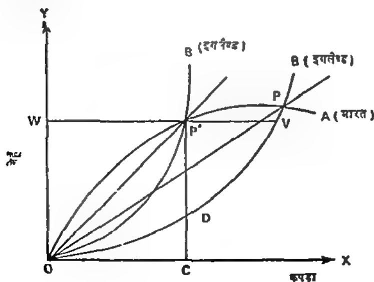
यदि वस्तु की माँग का परिमाण एव माँग की लोच निर्यात करने वाले देश मे बहुत अधिक हो तो अन्य किसी देश मे तटकर लग जाने के बाद भी वहाँ (निर्यात करने वाले देश मे) वस्तु के मूल्य मे अधिक कमी नही होगी। यदि इसके साथ ही आयात करने वाले देश म वस्तु की माँग बेलोच हो तो वहाँ वस्तु के मूल्य मे अधिक वृद्धि होगी। निर्यात देश मे वस्तु की माँग अधिक लोचदार होने पर मूल्य मे थोडी-सी कमी होने पर भी घरेलू माँग का बहुत अधिक विस्तार हो जायगा और इसके फलस्वरूप तटकर-जनित विदेशी माँग मे हुई कटौती के एक बहुत बडे भाग की क्षतिपूर्ति हो सकेगी। अस्तु निर्यातकर्ता दश मे वस्तु की घरेलू माँग पर्याप्त लोचदार होने पर अन्य किसी देश मे तटकर लागू होने पर भी मूल्य म इतनी अधिक कमी नही होगी। परन्तु घरेलू माँग मे पर्याप्त वृद्धि होने के कारण इस देश से वस्तु के निर्यात मे बहुत कमी हो जायगी। दूसरी ओर आयात मे कमी के साथ ही आयातकर्ता देश को वस्तु के घरेलू उत्पादन मे अधिक वृद्धि करनी होगी ताकि तटकर से पूर्व की उपलब्ध मात्रा का अधिकतम अनुपात उपभोक्ताओ को उपलब्ध हो सके। इसका परिणाम यह होगा कि आयातकर्ता देश मे साधनो की माँग एव कीमतो मे वृद्धि होगी तथा वस्तु की उत्पादन-लागत मे भी वृद्धि हो जायगी। इस प्रकार तटकर के साथ-साथ लागत मे वृद्धि के कारण भी वस्तु के घरेलू मूल्य म वृद्धि होगी।

परन्तु यदि आयात करने वाले देश म निर्यातकर्ता देश की अपेक्षा वस्तु की माँग अधिक हो तो तटकर के बाद वहाँ वस्तु के मूल्य म बहुत थोडी वृद्धि होगी जबकि निर्यातकर्ता देश मे वस्तु के मूल्य मे अधिक कमी होगी।

अब पूर्ति की लोच पर विचार किया जाय। यदि निर्यातकर्ता देश म वस्तु की पूर्ति लोच एव पूर्ति का परिमाण बहुत अधिक हो तो वहाँ मूल्य मे कमी अपेक्षाकृत कम होगी जबकि आयातकर्ता देश मे वस्तु की मूल्य वृद्धि अपेक्षाकृत अधिक होगी।

कभी-कभी तटकर लगाने पर आयातकर्ता देश मे वस्तु के मूल्य मे तटकर से भी अधिक वृद्धि हो जाती है। ऐसा बहुधा उन मध्यस्थो के कारण होता है जो वस्तु की माँग के बेलोचदार होने पर अपने मार्जिन मे भी वृद्धि कर देती हैं तथा उपभोक्ताओ से तटकर की राशि से भी अधिक अतिरेक वसूल करने का प्रयास करते हैं।

मार्शल के अर्पण-वक्रो (offer curves) के माध्यम से भी उपर्युक्त तथ्यो को स्पष्ट किया जा सकता है। रेखाचित्र 14 3 मे इगलैण्ड व भारत के अपूर्ण-वक्र क्रमश *OB* एव *OA* प्रस्तुत

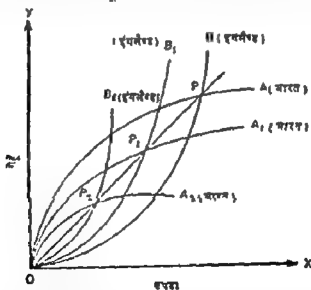


रेखाचित्र 14 3—व्यापार की शर्तें सुधारने हेतु लगाया गया तटकर

किये गये हैं, जो *P* बिन्दु पर परस्पर काटते हैं। इस प्रकार गेहूँ व कपड़े का साम्य मूल्य *OP* निर्धारित होता है जो इंगलैण्ड व भारत दोनों ही को मान्य है।

मान लीजिए, इंगलैण्ड भारत से आयातित गेहूँ पर तटकर लगा देता है। ऐसी स्थिति में इंगलैण्ड का अर्पण-वक्र *OB* से हटकर *OB'* हो जायगा तथा कपड़े व गेहूँ का साम्य मूल्य *OP'* हो जायगा। रेखाचित्र 14·3 से स्पष्ट है कि जहाँ तटकर से पूर्व *OW* मात्रा गेहूँ के बदले केवल इंगलैण्ड *WV* मात्रा कपड़ा देता था तटकर के बाद उतनी मात्रा गेहूँ के बदले *WP* मात्रा कपड़ा देना चाहता है। इस प्रकार इंगलैण्ड की सरकार *OW* मात्रा गेहूँ के आयात पर *Pv* मात्रा में तटकर की वसूली करती है। इसी बात को एक दूसरे रूप से भी प्रस्तुत किया जा सकता है। तटकर से पहले इंगलैण्ड *OC* मात्रा में वस्तु का निर्यात करके *DC* इकाइयाँ गेहूँ प्राप्त करना चाहता था, परन्तु तटकर के बाद उतनी ही मात्रा कपड़े (*OC*) के बदले वह *P'C* मात्रा में गेहूँ चाहता है। दूसरे शब्दों में, इंगलैण्ड की सरकार *P'D* मात्रा में तटकर वसूल करती है। इस प्रकार तटकर के फलस्वरूप इंगलैण्ड की व्यापार शर्तें पूर्वापेक्षा अधिक अनुकूल हो जाती हैं, जैसा कि अर्पण-वक्र *OB* के परिवर्तन से भी स्पष्ट है। तटकर के बाद व्यापार की शर्तों की रेखाचित्र (*OP*) का ढलाव जितना अधिक होगा, व्यापार की शर्तें उसके लिए उतनी ही अनुकूल होंगी। परन्तु यह तभी सम्भव है जबकि भारत सरकार प्रतिशोधात्मक भावना से इंगलैण्ड से आने वाली वस्तु पर कोई तटकर न लगायें। यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि व्यापार की शर्तें अनुकूल हो जाने पर भी तटकर लगाने वाले देश को कुल मिलाकर लाभ प्राप्त हो यह आवश्यक नहीं है। यदि अन्य देशों द्वारा प्रतिशोध की भावना से इस देश के निर्यातों पर तटकर लगा दिया जाय तो यह भी सम्भव है कि प्रथम देश के निर्यात काफी घट जायें तथा कुल लाभ में कमी हो जाय। अस्तु, दोनों देशों द्वारा परस्पर एक दूसरे की वस्तु पर आयात तटकर लगाने पर दोनों ही देशों को क्षति होने की सम्भावना रहती है।

तटकर का प्रतिकारात्मक प्रभाव (Retaliation of Tariff)—रेखाचित्र 14·4 में इंगलैण्ड व भारत के तीन-तीन अर्पण-वक्र इस प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं कि दोनों देशों द्वारा प्रतिशोधात्मक तटकर के कारण व्यापार की शर्तें यथावत् रहने पर भी व्यापार के परिमाण में भारी कमी हो जाती है। प्रत्येक बार इंगलैण्ड द्वारा गेहूँ के आयात पर तटकर लगाने से उसका अर्पण-वक्र बायीं



रेखाचित्र 14·4—प्रतिशोधात्मक तटकर

ओर विचलित हो जाता है। इसी प्रकार भारत द्वारा प्रतिशोधात्मक (Retaliatory) तटकर लगाये जाने पर भारत का अर्पण-वक्र नीचे की ओर विचलित हो जाता है। परन्तु इस प्रकार की प्रतिशोधात्मक तटकर-नीति के कारण गेहूँ व कपड़े की साम्य विनिमय-दर वही रहने पर भी कपड़े व गेहूँ के व्यापार की मात्रा में कमी होती जाती है।

रेखाचित्र 14·4 में मूल अर्पण-वक्र इंगलैण्ड के लिए *OB* एवं भारत के लिए *OA* थे। इंगलैण्ड द्वारा गेहूँ से आयात पर तटकर लगाये जाने पर उसका अर्पण-वक्र OB_1 हो जाता है। भारत द्वारा प्रतिशोध-स्वरूप कपड़े के आयात पर तटकर लगाये जाने पर उसका अर्पण-वक्र OA_1 हो जाता है। इंगलैण्ड जब तटकर में वृद्धि करता है तो उसका अर्पण-वक्र OB_2 होता है और इसके प्रतिशोध-स्वरूप जब भारत भी कपड़े पर तटकर में वृद्धि कर देता है तो उसका अर्पण-वक्र OA_2 हो जाता है। परन्तु जैसा कि रेखाचित्र 14·4 में बताया गया है, प्रतिशोधात्मक तटकर नीतियों के कारण साम्य विनिमय मूल्य वही रहता है क्योंकि दोनों के अर्पण-वक्रों के प्रतिच्छेदन बिन्दु (*P*, P_1 एवं P_2) एक सरल रेखा पर स्थिर हैं। इस प्रकार प्रतिशोधात्मक तटकर नीतियों के कारण व्यापार की शर्तें यथावत् रहती हैं यद्यपि व्यापार के परिमाण (volume) में इनके कारण कमी आ जाती है।

इसके विपरीत यदि दोनों देशों के परस्पर सौहार्द्र में वृद्धि हो जाय तथा वे तटकर में कमी करते जायें तो वस्तुओं के साम्य विनिमय मूल्य (व्यापार की शर्तें) वही रहने पर भी उनके व्यापार का विस्तार होता जायगा और इससे दोनों देशों को लाभ होगा। ऐसी स्थिति में इंगलैण्ड का अर्पण-वक्र दायीं ओर तथा भारत का अर्पण वक्र ऊपर की ओर विवर्तित होता जायगा। व्यापार एवं तटकर के सामान्य समझौते (GATT) की पृष्ठभूमि में यही दर्शन निहित है।

तटकर का प्रतियोगितात्मक प्रभाव (Competitive Effects of Tariff)—तटकर का प्रतियोगितात्मक प्रभाव वस्तुतः प्रतियोगिता पर प्रतिकूल प्रभाव का द्योतक है। तटकर के पश्चात् देश की प्रतियोगितात्मक शक्ति क्षीण हो जाती है जबकि तटकर की समाप्ति से इस शक्ति में वृद्धि होती है। ऐतिहासिक एवं वर्तमान सन्दर्भ में दोनों ही दृष्टियों से तटकर का यह प्रभाव महत्वपूर्ण रहा है।

यूरोपियन साझा बाजार (ECM) की स्थापना के कारण सदस्य देशों के बाजारों का विस्तार तो हुआ ही, उनमें से प्रत्येक को वृहत् स्तर की बचतें (economies of large scale) भी प्राप्त होने लगीं। कुछ लोगों की ऐसी मान्यता है कि यूरोपियन साझा बाजार के कारण फ्रान्स में बड़ी कम्पनियों का एकाधिकार समाप्त हो गया है। ये बड़ी कम्पनियाँ यूरोपियन साझा बाजार की स्थापना से पूर्व मनमाने मूल्य वसूल करती थीं क्योंकि अनेक वस्तुओं के उत्पादन में इन्हें एकाधिकार प्राप्त था। साझा बाजार प्रारम्भ होने पर जब सदस्य देशों ने परस्पर आयातों पर स्थित तटकरों को समाप्त कर दिया तो इन बड़ी कम्पनियों का एकाधिकार समाप्त हो गया। इसके विपरीत, यदि तटकर जारी रहते तो एकाधिकार की स्थिति भी विद्यमान रहती।

आय प्रभाव एवं भुगतान सन्तुलन प्रभाव (Income Effect and Balance of Payments Effect)—तटकर के कारण आयात में एवं तदनुसार विदेशों में व्यय की जाने वाली राशि में कमी हो जाती है। यह सुविधापूर्वक माना जा सकता है कि इस बची हुई राशि का उपयोग देश में ही निर्मित वस्तुओं के लिए किया जायगा जिससे देश में उत्पादन तथा रोजगार के स्तर में वृद्धि होगी। परन्तु यदि देश में पहले से पूर्ण रोजगार (full employment) की स्थिति विद्यमान है तो घरेलू उपभोग-व्यय में वृद्धि के फलस्वरूप मुद्रास्फीति प्रारम्भ हो जायगी। दूसरी ओर, जिस देश में तटकर लगाने वाला देश आयात करता था उस देश के उत्पादन व रोजगार के स्तर में कमी होगी।

बहुधा तटकर में कमी से स्फीति विरोधी प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। तटकर में कमी के फलस्वरूप देश की जनता अपने उपभोग-व्यय का एक भाग विदेशों में व्यय करती है तथा आयात में वृद्धि के फलस्वरूप देश में मूल्य स्तर कम होने लगता है। जर्मनी ने 1956 में तटकर में कमी करके स्फीति को रोकने में सफलता प्राप्त की थी।

परन्तु तटकर का भुगतान-सन्तुलन पर प्रभाव इतना प्रत्यक्ष व स्पष्ट नहीं होता जितना कि यह मौद्रिक आय के सन्दर्भ में हो सकता है। तटकर लागू होने के बाद सम्भव है प्रारम्भ में आयात कम हो तथा इसके फलस्वरूप भुगतान-सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव हो। यदि तटकर के तुरन्त बाद ही अन्य देश भी हमारे निर्यातों पर प्रतिशोधात्मक तटकर लागू कर दें तो निर्यात कम होने के कारण भुगतान-सन्तुलन अन्ततः हमारे प्रतिकूल भी हो सकता है। यह भी उपयुक्त होगा कि हमारे निर्यातकर्ताओं की आय में होने वाली कमी की सार्वजनिक नीति द्वारा क्षतिपूर्ति की जाय तथा अब

तक आयातों पर जो राशि व्यय की जाती थी उसमें हुई कटौती को पूर्ण रूप से बचत के रूप में व्यक्त कर दिया जाय। ऐसा न होने पर तटकर-नीति का आय एवं भुगतान-सन्तुलन पर प्रतिकूल प्रभाव हो सकता है।

तटकर के अन्य प्रभाव (Other Effects of Tariff)—प्रो किण्डलबर्जर के अतिरिक्त अन्य अर्थशास्त्रियों ने तटकर के कुछ अन्य प्रभावों का भी उल्लेख किया है जिनमें प्रमुख निम्न हैं :

(i) **उत्पादन के साधनों पर प्रभाव**—प्रो हैबरलर ने तटकरों का उत्पादन के साधनों पर पड़ने वाले प्रभाव को स्पष्ट किया है। उन्होंने उत्पादन के साधनों में मौलिक तथा उत्पादित दोनों प्रकार के साधनों को सम्मिलित किया है। मौलिक साधनों में कच्चे माल आदि का तथा उत्पादित साधनों में मशीनों को सम्मिलित किया जाता है। किसी भी उत्पत्ति के साधन में पूरकता का गुण पाया जाता है, अर्थात् किसी एक साधन का उपयोग अन्य साधनों की सहायता से ही सम्भव हो सकता है। जब प्रशुल्क के द्वारा एक साधन की कीमत में वृद्धि कर दी जाती है तो देश में उसके पूरक साधनों की माँग कम हो जाती है क्योंकि जिस साधन की कीमत बढ़ती है इसका प्रयोग भी अपेक्षाकृत कम हो जाता है। प्रशुल्क के फलस्वरूप उत्पादन-लागत में भी वृद्धि हो जाती है जिसका प्रभाव देश के निर्यातों पर भी पड़ता है। उदाहरण के लिए, कपास पर प्रशुल्क लगा देने से इन उद्योगों की लागत बढ़ जाती है जहाँ इसका प्रयोग होता है। लागत बढ़ने से कीमतें भी बढ़ जाती हैं तथा निर्यात कम हो जाते हैं।

(ii) **आयातों के घरेलू मूल्य पर प्रभाव**—प्रो. मेट्जलर (Metzler) के अनुसार, तटकर दो प्रकार के प्रभाव उत्पन्न करता है। प्रथम, तटकर लगाने वाले देश के आयातों के घरेलू मूल्य में वृद्धि हो जाती है जो उसके निर्यातों के घरेलू वृद्धि से अधिक होती है तथा द्वितीय, तटकर लगाने वाले देश के निर्यातों के मूल्य की तुलना में उसके आयातों की विश्व कीमत कम हो जाती है। यह दोनों प्रभाव विपरीत दिशाओं में कार्य करते हैं, अतः वास्तविक प्रभाव यह होता है कि आयातों के मूल्य में या तो वृद्धि या कमी हो जाती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रशुल्क वाले देश में सापेक्षिक कीमतों पर क्या प्रभाव होगा यह इन दो प्रभावों की शक्ति पर निर्भर करता है।

(iii) **घरेलू आय के वितरण पर प्रभाव**—इस प्रभाव का वर्णन प्रो हैक्शर-ओहलिन, प्रो. सेमुअलसन, प्रो. स्टाल्पर, प्रो मेट्जलर एवं प्रो लंकास्टर ने किया है।

हैक्शर-ओहलिन के अनुसार, जिस देश में श्रम की कमी है तथा भूमि की बहुतायत है वह प्रशुल्क लगाकर व्यापार की मात्रा को सीमित करके साधन-श्रम से लाभान्वित हो सकता है। अन्य शब्दों में, यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप साधनों का सापेक्षिक प्रतिफल समान हो जाता है तो जिस देश में जो साधन स्वल्प है, वहाँ व्यापार को सीमित करके साधन की स्वल्पता को बनाये रखा जा सकता है।

प्रो स्टाल्पर-सेमुअलसन ने हैक्शर-ओहलिन के उक्त मत को स्वीकार नहीं किया तथा 1941 में अपने एक लेख के माध्यम से यह स्पष्ट किया कि तटकर के फलस्वरूप स्वल्प साधन के सापेक्षिक तथा निरपेक्ष दोनों अंशों में वृद्धि होती है। उनके मतानुसार, दो साधनों वाली अर्थव्यवस्था में प्रशुल्क से स्वल्प साधन की निरपेक्ष मजदूरी में वृद्धि हो जायेगी।

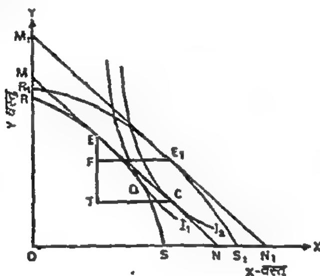
सन् 1949 में प्रो. मेट्जलर ने स्टाल्पर-सेमुअलसन के उपर्युक्त निष्कर्ष में संशोधन करते हुए कहा कि प्रशुल्क के फलस्वरूप व्यापार की शर्तों में होने वाले परिवर्तन से किसी स्वल्प साधन की आय पर प्रभाव पड़ता है।

प्रो. लंकास्टर *ने स्टाल्पर-सेमुअलसन प्रमेय को अधिक गरम बताते हुए कहा है कि दो वस्तु-दो साधन मॉडल के सन्दर्भ में उनका निष्कर्ष उपयुक्त नहीं लगता। स्टाल्पर-सेमुअलसन की मान्यताओं में लंकास्टर ने यह मान्यता भी जोड़ दी कि श्रम की आय एक वस्तु पर तथा पूँजीपति की आय पूर्ण रूप से दूसरी वस्तु पर व्यय की जाती है, इससे उस वस्तु की कुल माँग में परिवर्तन हो जायेगा जिस पर समस्त मजदूरी व्यय की जाती है। यह भी सम्भव है कि पूँजी प्रचुर देश पूँजी-प्रधान वस्तु को श्रम वस्तु के रूप में प्रयुक्त करे। समय रूप से देश की माँग ऐसी हो कि पूँजी-प्रधान वस्तुओं का आयात करना पड़े। यदि देश आयातों पर प्रशुल्क लगाता है तो इससे श्रम को लाभ नहीं होगा वरन् पूँजी को लाभ होगा जिसका आयात प्रतिस्थापित उद्योग में अधिक गहनता से प्रयोग होता है। स्टाल्पर-सेमुअलसन प्रमेय उसी समय लागू होती है जब देश श्रम-प्रधान वस्तुओं का आयात करता है।*

(iv) साधन गतिशीलता पर प्रभाव—साधन गतिशीलता पर प्रशुल्क के प्रभाव को भी मुण्डेल[1] ने स्पष्ट किया है। मुण्डेल ने अपने मॉडल में दो देश एवं दो वस्तुओं का उदाहरण लेकर प्रभाव का वर्णन किया है। इनके मॉडल की निम्नांकित तीन मान्यताएँ हैं :

(a) दोनों देशों मे उत्पादन-फलन समान होता है।
(b) साधन गहनता (Factor Intensity) का सेमुअलसन का विचार विद्यमान होता है।
(c) विशिष्टीकरण पूर्ण नहीं होता।

मुण्डेल के अनुसार स्वतन्त्र व्यापार से वस्तु कीमत समानीकरण (commodity price equalisation) के फलस्वरूप साधन कीमत समानीकरण (factor-price equalisation) भी उत्पन्न हो जाता है चाहे साधनों मे गतिशीलता का अभाव क्यों न हो। मुण्डेल ने स्पष्ट किया है कि आयात-प्रशुल्क से साधन गतिशीलता प्रोत्साहित होती है। मुण्डेल के तर्क को स्पष्ट करने के लिए हम दो देश *A* तथा *B* दो वस्तुएँ *X* तथा *Y* एवं दो साधन *L* (श्रम) तथा *K* (पूँजी) का उदाहरण लेते है। यहाँ यह भी मान लेते हैं कि देश *A* श्रम प्रधान है तथा देश *B* पूँजी-प्रधान है। *X*-वस्तु पूँजी प्रधान तथा *Y*-वस्तु श्रम-प्रधान है। अब हम रेखाचित्र 14 5 की सहायता से प्रशुल्क के प्रभाव को स्पष्ट करेंगे।



रेखाचित्र 14·5

रेखाचित्र 14 5 मे *RS* देश *A* का उत्पादन सम्भावना वक्र है। स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत देश *A* का सन्तुलन बिन्दु उत्पादन क्षेत्र में *E* है जबकि उपभोग क्षेत्र मे *C* है। *MN* अन्तर्राष्ट्रीय कीमत रेखा है। देश *A* श्रम प्रधान वस्तु *Y* का निर्यात (*ET*) तथा देश *B* से पूँजी प्रधान वस्तु *X* का आयात (*TC*) करता है। *Y*-वस्तु के रूप मे देश *A* की आय *OM* है तथा *X*-वस्तु के रूप मे यह *ON* है। व्यापार प्रतिबन्ध का अभाव तथा साधनों की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता न होने पर, दोनों मे वस्तु कीमत और साधन कीमत समानीकरण हो गया है।

यदि यह मान लिया जाय कि पूँजी गतिशील है तथा वह एक देश से दूसरे देश को बिना लागत के जा सकती है, किन्तु चूंकि स्वतन्त्र व्यापार मे पूँजी की सीमान्त उत्पादकता दोनों देशों मे समान हो गयी है अत पूँजी की गतिशीलता प्रोत्साहित नहीं होगी। अब यदि देश *A* अपनी पूँजी प्रधान वस्तु *X* के आयात पर प्रशुल्क लगा देता है तो व्यापार के बाद देश *A* के उत्पादन एवं उपभोग दोनों के सन्तुलन बिन्दु *Q* पर होंगे जहाँ पूँजी की सीमान्त उत्पादकता बढ़ जाती है और श्रम की सीमान्त उत्पादकता कम हो जाती है। प्रो स्टॉल्पर-सेमुअलसन प्रमेय मे भी इसी बात को सिद्ध किया गया है। इसका प्रभाव यह होगा कि देश *B* से देश *A* को पूँजी का प्रवाह प्रोत्साहित होगा, अत देश *A* अब पूँजी प्रधान (प्रचुर) हो जायेगा तथा उसका उत्पादन सम्भावना

---

1 R A Mundell, *American Economic Review*, June 1957.

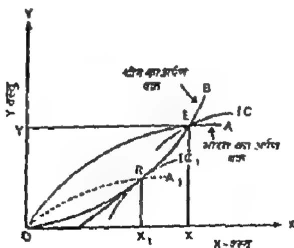
वक्र RS दायी ओर विवर्तित होकर R_1S_1 हो जायेगा तथा किसी भी कीमत अनुपात पर यह पूँजी-प्रधान वस्तु X के पक्ष में होगा जिससे R_1S_1 उसी अन्तर्राष्ट्रीय कीमत रेखा पर (M_1N_1 कीमत रेखा MN के समानान्तर होने का तात्पर्य है कीमत अनुपात का स्थिर रहना) E_1 बिन्दु को स्पर्श करेगी।

देश B पूँजी का प्रवाह देश A मे उस समय तक होता रहेगा जब तक कि दोनों देशों मे पूँजी तथा श्रम की सीमान्त उत्पादकता समान नहीं हो जाती है। प्रो मुण्डेल का निष्कर्ष यह है कि प्रशुल्क के फलस्वरूप उस साधन का प्रतिफल बढ़ जाता है जिसका गहनता से प्रयोग किया जाता है। अत उस साधन का प्रवाह दूसरे देश से प्रशुल्क लगाने वाले देश में होता है। अन्त में, साधनों की कीमतें समान हो जाती है तथा साधनों का प्रवाह रुक जाता है। इसके साथ-साथ वस्तुओं की कीमतें समान हो जाती है। अब इस स्थिति में प्रशुल्क प्रभावहीन हो जाता है तथा नये सन्तुलन को प्रभावित किये बिना प्रशुल्क को हटाया जा सकता है। नये सन्तुलन की स्थिति में व्यापार की शर्तें एवं साधनों की कीमतें प्रशुल्क की पहले की स्थिति की भाँति समान हो जाती हैं।

अनुकूलतम प्रशुल्क (Optimum Tariff)

प्रशुल्क की वह मात्रा जिसमें किसी देश का लाभ अधिकतम हो सकता है तथा व्यापार की शर्तों मे अधिकतम सुधार होता है, उसे अनुकूलतम प्रशुल्क कहते हैं। यदि प्रशुल्क की मात्रा इस अनुकूलतम बिन्दु से अधिक बढ़ायी जाती है तो जो लाभ व्यापार की शर्तों में सुधार होने के फलस्वरूप प्राप्त होगा वह व्यापार की मात्रा में कमी हो जाने के फलस्वरूप कम हो जायेगा। यह भी सम्भव है कि इस स्थिति मे देश को हानि अधिक उठानी पड़े। प्रो सिटोवस्की (Scitovosky) के अनुसार प्रतिशोधात्मक प्रशुल्क (Retaliatory Tariff) की तुलना में अनुकूलतम प्रशुल्क लगाना श्रेष्ठ होता है।

व्यापार तटस्थता वक्र के सन्दर्भ में भी अनुकूलतम प्रशुल्क की परिभाषा दी जा सकती है। यह वह प्रशुल्क है जो विपरीत प्रस्ताव वक्र (opposite offer curve) को उस बिन्दु पर काटता है जो प्रशुल्क लगाने वाले देश के उच्चतम व्यापार तटस्थता वक्र को स्पर्श करता है। इस बिन्दु (अनुकूलतम) के बाद व्यापार की शर्तों मे आगे भी सुधार किया जा सकता है किन्तु यह सुधार लाभप्रद न होगा क्योंकि इसमें कुल व्यापार की मात्रा कम होने का भय उत्पन्न हो जाता है। इस स्थिति को मार्शल ने रेखाचित्र 14 6 की सहायता से स्पष्ट किया है। रेखाचित्र में माना OA भारत का अर्पण-वक्र (offer curve) है तथा OB चीन का अर्पण-वक्र है। स्वतन्त्र व्यापार की स्थिति में सन्तुलन का बिन्दु E है जहाँ दोना अर्पण-वक्र OA तथा OB एक दूसरे को काटते हैं।



रेखाचित्र 14·6

E बिन्दु पर भारत चीन से X-वस्तु की OX मात्रा का आयात करता है तथा इसके बदले Y-वस्तु की OY मात्रा का निर्यात करता है। अन्य शब्दों मे, E बिन्दु पर चीन X-वस्तु की OX मात्रा का निर्यात तथा Y-वस्तु की OY मात्रा का आयात करता है। अब मान लीजिए भारत अपने आयात पर प्रशुल्क लगा देता है जिससे उसके आयात कम हो जाते है तथा प्रभावपूर्ण अर्पण-वक्र भी नीचे की ओर विवर्तित होकर OA_1 की स्थिति मे आ जाता है। अनुकूलतम प्रशुल्क वह होगा जब

भारत का अर्पण-वक्र (OA_1) चीन के अपरिवर्तित अर्पण-वक्र OB को R बिन्दु पर काटे जहां चीन का अपरिवर्तित अर्पण-वक्र भारत के समुदाय तटस्थता वक्र IC_1 को स्पर्श करता है। प्रशुल्क का लाभ भारत का इस प्रकार देखा जा सकता है कि उसकी स्वतन्त्र व्यापार की तटस्थता वक्र IC परिवर्तित होकर IC_1 हो जाती है। तटस्थता वक्र IC_1 उच्चतम तटस्थता वक्र है जो चीन के अपरिवर्तित अर्पण-वक्र (OB) के साथ भारत को प्राप्त हो सकता है। प्रशुल्क को अनुकूलतम प्रशुल्क भी कहा जा सकता है क्योंकि R बिन्दु से विचलन करने पर भारत मे प्रत्येक व्यक्ति अच्छी स्थिति म नही पहुँच सकता। रेखाचित्र 14 6 म SR का ढाल आन्तरिक घरेलू कीमत अनुपात (Domestic Price Ratio) तथा OR का ढाल अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात (International or World Price Ratio) को व्यक्त करता है। इन दोनो कीमत अनुपातो का अन्तर ही प्रशुल्क की अनुकूलतम दर का बताता है। इस प्रकार हम उपर्युक्त विश्लेषण द्वारा एक देश के दृष्टिकोण म स्वतन्त्र व्यापार की तुलना म अनुकूलतम प्रशुल्क की श्रेष्ठता को सिद्ध कर सकते हैं। किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि यह लाभ एक ही देश को प्राप्त होना सम्भव नहीं क्योंकि व्यापार करने वाले अन्य देश निष्क्रिय नही बने रह सकते। यह अनुकूलतम प्रशुल्क की धारणा तब तक ही लागू हो सकती है जब तक कि अन्य देश बदले की भावना से काय नहीं करते। यदि अन्य देश भी बदले की भावना से प्रशुल्क लगा देते है तो कोई भी देश अनुकूलतम प्रशुल्क से लाभान्वित नही हो सकता।

भेदभावपूर्ण तटकर एव प्रभावकारी सरक्षणात्मक दरें[1]

(Discriminating Tariff and the Effective Protective Rates)

पिछले कुछ वर्षो से अर्थशास्त्रियों का ध्यान विकसित देशो की ओर उन तटकर नीतियो की ओर गया है जिनके अन्तगत य देश विकासशील देशो से आयातित कच्चे माल पर तो बहुत ही साधारण दर से तटकर वसूल करते है जबकि तैयार माल पर तटकर की दर अधिक रखी जाती है। वस्तुत तैयार माल के आयात पर प्रभावकारी तटकर इसकी दृश्य-दर से बहुत अधिक होती है। निम्नाकित तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि तटकर की निरपेक्ष दर की अपेक्षा तैयार माल पर तटकर की प्रभावकारी दर बहुत अधिक है

तालिका

वस्तु	मूल्य	तटकर की निरपेक्ष दर	तटकर की राशि	प्रभावकारी तटकर दर
कपास	5 रु	5%	25 पैसे	—
सूत	7 रु	10%	70 पैसे	$22\frac{1}{2}$%
कपडा	10 रु	12%	2 रु	$43\frac{1}{3}$%

उपर्युक्त तालिका म कपास के आयात पर केवल 5 प्रतिशत तटकर है जबकि सूत एव कपडे के मूल्य पर क्रमश 10 व 20 प्रतिशत तटकर की दरें रखी गयी हैं। निरपेक्ष दृष्टि से य दरें इतनी अधिक प्रतीत नही होती परन्तु यदि प्रभावकारी दर की दृष्टि से देखा जाय तो विकसित देशो द्वारा विकासशील देशो के तैयार माल के आयात पर लगाये गये निरोधात्मक तटकर की सहज ही जानकारी हो सकती है। इस प्रभावकारी तटकर की दर जानने हेतु निम्न सूत्र का उपयोग कर सकते हैं

$$Te = \frac{\triangle T_n}{\triangle P} \times 100$$

उपर्युक्त सूत्र में Te = प्रभावकारी तटकर की दर (प्रतिशत म) है,

$\triangle T_n$ = कच्चे माल (कपास) पर लगाये गये तटकर एव अर्धनिर्मित वस्तु (सूत) पर लगाये गये तटकर का अन्तर, अथवा सूत तथा कपडे पर प्राप्त तटकर की राशि का अन्तर है तथा

$\triangle P$ = सूत व कपास के मूल्य का अन्तर अथवा सूत व कपडे के मूल्य का अन्तर है।

---

1 विस्तृत विवेचना के लिए देखें W M Cordon 'The Structure of a Tariff System and the Effective Protective Rate", *The Journal of Political Economy*, *Vol LXXIV, No 3 (June 1966)*

अस्तु, जहाँ सूत पर तटकर की निरपेक्ष दर केवल 10% है, प्रभावकारी दर $22\frac{1}{2}\%$ होगी ($\frac{45}{100} \times \frac{1}{2} \times 100 = 22\frac{1}{2}$)। इसी प्रकार कपड़े पर तटकर की निरपेक्ष दर केवल 20% है, परन्तु प्रभावकारी तटकर की दर $43\frac{1}{3}\%$ ($\frac{130}{100} \times \frac{1}{3} \times 100 = 43\frac{1}{3}$) होगी। इस प्रकार विकसित देश (अथवा कोई भी देश) कच्चे माल पर तटकर की दर तैयार माल की अपेक्षा कम रखते हैं। परन्तु वास्तविक अथवा प्रभावकारी तटकर की दर बहुत अधिक होती है।

डब्ल्यू. एम. कॉर्डन (W. M. Cordon) के मतानुसार तटकरों के साधनों के आवंटन पर होने वाले प्रभाव के परीक्षण हेतु प्रत्येक आर्थिक क्रिया (जैसे कपास का सूत एवं सूत का कपड़े के रूपान्तर) पर प्रभावकारी तटकर की दर ज्ञात करनी चाहिए। उनका विश्वास है कि आधुनिक तटकर विश्लेषण का यही प्रमुख सन्देश है।

कोटा एवं लाइसेंस
[QUOTAS AND LICENCES]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रशुल्क या तटकरों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के प्रतिबन्धों का भी आश्रय लिया जाता है। ये प्रशुल्क-इतर प्रतिबन्ध (NTBs) निम्नलिखित प्रकार के हो सकते हैं :

(i) *व्यवस्थित विपणन व्यवस्था,*
(ii) स्वैच्छिक निर्यात नियन्त्रण,
(iii) आयात कोटा,
(iv) लाइसेंस प्रणाली,
(v) राजकीय एकाधिकार,
(vi) परिवर्तनशील कर।

यद्यपि "गैट" (GATT) के अन्तर्गत प्रशुल्क दरों में भारी कमी करने में सफलता प्राप्त कर ली गयी है, तथापि प्रशुल्क-इतर प्रतिबन्धों, विशेष रूप से कोटा तथा लाइसेंस प्रणालियों के प्रयोग को सीमित करना अब तक सम्भव नहीं हो पाया है। संक्षेप में, हाल के दशकों में "प्रशुल्क-इतर संरक्षणवाद" की प्रवृत्ति बढ़ी है, हालांकि परम्परागत प्रशुल्क दरें कम की गयी हैं।[1]

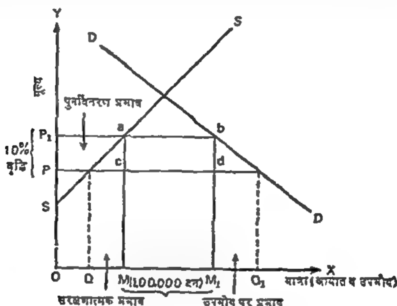
कोटा वह निश्चित मात्रा है जिसका एक निर्दिष्ट अवधि में आयात या निर्यात किया जा सकता है। **प्रो. हैबरलर** के अनुसार, "*आयात कोटा के अन्तर्गत, जिस निश्चित मात्रा का आयात किया जा* सकता है, उसमें वृद्धि नहीं की जा सकती।" व्यवहार में आयात कोटा की या तो भौतिक मात्रा निश्चित करदी जाती है या आयातों का मौद्रिक मूल्य निश्चित कर दिया जाता है। कभी-कभी इन दोनों को मिलाकर भी आयात कोटा निश्चित किया जाता है। जब कोटा की भौतिक मात्रा निश्चित कर दी जाती है तो उसे प्रत्यक्ष कोटा कहते हैं तथा जब उसके मूल्य की राशि निश्चित कर दी जाती है तो उसे अप्रत्यक्ष कोटा कहते हैं। जहाँ तटकर किसी वस्तु के मूल्य पर लगायी गयी एक चुंगी है, कोटा वस्तु के आयात या निर्यात पर लगायी गयी भौतिक पाबन्दी (physical restriction) है। परन्तु तटकर व कोटा दोनों ही विधियों का उपयोग घरेलू शिशु-उद्योगों को संरक्षण देने हेतु किया जाता है। परन्तु कोटा द्वारा वस्तु की मात्रा निश्चित कर देने के कारण अधिक प्रभावकारी ढंग से आयात या निर्यात पर रोक लगायी जा सकती है। बहुधा कोटा का उपयोग आयात को परिमित करने हेतु ही किया जाता है। बहुधा तटकर सम्बन्धी कानून को बनाने व लागू करने में काफी समय लग जाता है और इस बीच की अवधि में देश के अनेक व्यापारी भारी मात्रा में बाहर से वस्तुओं का आयात कर लेते हैं ताकि तटकर-नीति के कार्यान्वित होने पर लिये जाने वाले तटकर से बच सकें। इन सट्टा प्रवृत्तियों के कारण तटकर लागू होने से पहले ही देश का भुगतान-सन्तुलन प्रतिकूल हो जाता है। इस प्रवृत्ति से बचने के लिए आयात पर एक तात्कालिक प्रतिबन्ध की आवश्यकता है जो केवल आयात-कोटे द्वारा ही सम्भव है। आयात-कोटे के बाद यदि तटकर नियमों को लागू किया जाय तो संरक्षण नीति अधिक प्रभावकारी सिद्ध हो सकती है।

---

1 *World Development Report*, 1989, p. 15.

तटकर एवं कोटा प्रणाली की तुलना
(Comparison between Tariff and Quota System)

यदि वस्तु की मांग व पूर्ति वक्रों की प्रकृति की जानकारी हो तथा मांग व पूर्ति अधिक बेलोच न हो तो कोटे व तटकर के प्रभाव एक जैसे होंगे। रेखाचित्र 14 7 में इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है। यह रेखाचित्र बताता है कि वस्तु के आयात पर 10 प्रतिशत तटकर (PP_1) लगाया जाय अथवा 1,00 000 टन का कोटा ($=MM_1$) निर्धारित किया जाय इनका प्रभाव एक समान होगा तथा दोनों ही विधियों के फलस्वरूप वस्तु के मूल्य में उतनी ही वृद्धि होगी।



रेखाचित्र 14 7—तटकर एवं कोटा-प्रणाली की तुलना

रेखाचित्र 14 7 में DD व SS क्रमश वस्तु की मांग व पूर्ति के वक्र हैं। मान लीजिए प्रारम्भ में वस्तु का मूल्य OP था तथा ऐसी स्थिति में देश QQ_1 मात्रा का आयात करता था अब यदि आयात का कोटा MM_1 अर्थात् एक लाख टन निर्धारित कर दिया जाय तो देश में वस्तु की कुल उपलब्ध मात्रा $OM+MM_1$ ($OM=$देश में उत्पादन की मात्रा, तथा $MM_1=$आयात कोटा) रह जायगी। जैसा कि रेखाचित्र से स्पष्ट है, वस्तु की उपलब्ध मात्रा में कमी होने के कारण वस्तु का मूल्य OP से बढ़कर OP_1 हो जायगा। इस प्रकार कोटा प्रणाली के कारण मूल्य में 10 प्रतिशत वृद्धि (PP_1) हो जाती है परन्तु आयात कोटा (1,00 000 टन) के निर्धारण के कारण वस्तु के घरेलू उत्पादन में वृद्धि (OQ से OM) तो होती ही है, साथ ही वस्तु का कुल उपभोग OQ_1 से घटकर OM_1 रह जाता है। इसी कारण उत्पादन की वृद्धि (QM) को संरक्षणात्मक प्रभाव तथा उपभोग की कमी (M_1Q) को उपभोग पर प्रभाव (consumption effect) कहा जाता है।

यदि आयात पर 10 प्रतिशत तटकर लगा दिया जाय तथा यह मान लिया जाय कि समस्त तटकर मूल्य-वृद्धि के रूप में प्रतिबिम्बित हो जाता है तो सरकार को *abcd* के समान तटकर की आय प्राप्त होगी। तटकर के फलस्वरूप मूल्य OP से बढ़कर OP_1 हो जाता है तथा आयात की मात्रा QQ_1 से घटकर MM_1 रह जाती है। वस्तुतः आयात में कमी तथा मूल्य में वृद्धि तटकर के सन्दर्भ में भी उतनी ही है जितनी कि कोटा-प्रणाली के अन्तर्गत अपेक्षित होती है।

इतना करने पर भी आयात में कटौती तथा घरेलू मूल्य में वृद्धि का लाभ किसे प्राप्त होगा, यह कहना सम्भव नहीं है। यदि आयात करने वाले व्यापारियों को एकाधिकार प्राप्त है और निर्यात करने वाले व्यापारियों में संगठन का अभाव है तो मूल्य-वृद्धि का समस्त लाभ आयात करने वाले व्यापारी प्राप्त करेंगे। इसके विपरीत यदि निर्यात करने वाले व्यापारी पूर्णतया संगठित हैं

जबकि आयातकर्ता व्यापारी संगठित नहीं हैं तो व्यापार की शर्तें निर्यात करने वालों के पक्ष में होंगी तथा मूल्य वृद्धि का लाभ देश के उपभोक्ताओं व आयात करने वालों को प्राप्त न होकर उन विदेशी व्यापारियों को होगा जो हमारे देश को वस्तु का निर्यात करते हैं। परन्तु यदि विदेशी निर्यातकर्ता एवं हमारे देश के आयातकर्ता दोनों ही एकाधिकारी हैं, अर्थात् द्विपक्षीय एकाधिकार (bilateral monopoly) विद्यमान है, तो कोटा प्रणाली (या तटकर) का परिणाम सैद्धान्तिक दृष्टि से अनिर्णीत (indeterminate) रहेगा।

परन्तु कोटा-प्रणाली तथा तटकर-नीति के प्रभाव एक जैसे होने के बावजूद तटकर के फलस्वरूप सरकार को आय (राजस्व) प्राप्त होती है जबकि कोटा-प्रणाली में सरकारी कोषागार में कोई राजस्व जमा नहीं होता। इसके अलावा दोनों संरक्षणात्मक नीतियों में एक प्रमुख अन्तर यह भी है कि जहाँ तटकर-नीति के विरोध में दूसरा देश भी प्रतिशोधात्मक (retaliatory) तटकर लागू कर सकता है, साधारणतया कोटा-प्रणाली में इस प्रकार के कोटे की सम्भावना नहीं होती। इसीलिए बहुधा कोटा लागू करने वाले देश की व्यापार शर्तें अनुकूल हो जाती हैं।

कोटा-समूह (Quota groups)

कोटा-प्रणाली के अन्तर्गत निम्न प्रकार के कोटे प्रचलित किये जा सकते हैं :

(1) **तटकर अथवा या कोटा** (Tariff Quotas),

(2) *एकपक्षीय आयात कोटा* (*Unilateral Import Quotas*),

(3) *आयात लाइसेंसिंग* (*Import Licensing*), तथा

(4) **द्विपक्षीय कोटा** (Bilateral Quotas)।

(1) **तटकर कोटा**—निर्दिष्ट साधारण आयात तटकर (low tariff rate) के अन्तर्गत किसी वस्तु की कितनी अधिकतम मात्रा का आयात किया जा सकता है, उसे हम टैरिफ कोटा या तटकर कोटा कहते हैं। इस अधिकतम सीमा या कोटे से अधिक मात्रा में वस्तु का आयात करने पर दण्ड-शुल्क (Penalty) सहित अधिक ऊँची दर पर तटकर चुकाना होता है। टैरिफ कोटा का प्रमुख उद्देश्य समीपवर्ती देशों से केवल आवश्यक वस्तुओं के आयात की अनुमति देना है।

(2) **एकपक्षीय आयात कोटा अथवा स्वायत्त (Autonomous) कोटा**—इसके अन्तर्गत निर्दिष्ट अवधि में किसी वस्तु की अधिकतम आयात की जाने वाली मात्रा निर्धारित की जाती है परन्तु इसके लिए अन्य देशों की सरकारों से सहमति लेना आवश्यक नहीं समझा जाता है। कानून या अध्यादेश द्वारा इस कोटे की घोषणा कर दी जाती है। ऐसे कोटे को सर्वव्यापी या ग्लोबल कोटा भी कहा जाता है जिसके अन्तर्गत किसी भी देश से निर्धारित सीमा से अधिक वस्तु का आयात करना सम्भव नहीं होता। कभी-कभी सरकार पृथक्-पृथक् देशों से आयात की जाने वाली वस्तु के लिए कोटा निर्धारित कर देती है और इसके लिए कुल कोटे का विभिन्न देशों के मध्य आवंटन किया जाता है।

परन्तु इस प्रकार की कोटा-व्यवस्था अनुपयुक्त सिद्ध हुई है क्योंकि आयात करने वाले व्यापारियों में कोटा पूरा करने की अनावश्यक होड़ प्रारम्भ हो जाती है। इससे समीपवर्ती व दूरवर्ती देशों के बीच भेदभाव की नीति भी पनपती है। यह भी कहा जाता है कि इस प्रकार की कोटा-व्यवस्था का लाभ केवल बड़े व्यापारियों (निर्यात करने वालों) को ही मिल पाता है, क्योंकि वे ही अल्पकालीन सूचना पर अधिक मात्रा में वस्तु की पूर्ति करने में समर्थ होते हैं। इसी प्रकार आयात करने वाले देश में भी बड़े व्यापारी निर्धारित कोटे का अधिकांश भाग प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं यद्यपि उन्हें इसके लिए अवांछनीय तरीकों का उपयोग क्यों न करना पड़ता हो। इस प्रकार एकपक्षीय कोटा व्यवस्था का लाभ बहुधा छोटे व्यापारियों को नहीं मिल पाता। इन दोषों को आयात लाइसेंस विधि से दूर करने का प्रयास किया जाता है।

(3) **आयात लाइसेंसिंग**—आयात लाइसेंस प्रणाली के अन्तर्गत विभिन्न व्यापारियों के मध्य आयात की मात्रा का न्यायपूर्ण आवंटन किया जाता है। ऐसी स्थिति में सरकार कुल आयात कोटा की सार्वजनिक घोषणा नहीं करती और इससे सट्टा प्रवृत्ति को न्यूनतम किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि घरेलू माँग की तुलना में कुल घोषित कोटा अधिक हो तो मूल्यों में गिरावट आने

की सम्भावना होगी। इसके विपरीत, यदि कुल घोषित कोटा वस्तु की घरेलू माँग से कम हो तो मूल्यों मे वृद्धि होना प्रारम्भ हो जायगा। यही कारण है कि सरकार कुल कोटा के विषय म सार्वजनिक रूप मे कोई घोषणा नही करती। इसी प्रकार कोटा की सार्वजनिक घोषणा न होने पर विदेशो मे बसे निर्यातकर्ता हमारी घरेलू माँग के विषय मे अनभिज्ञ रहते हैं, और माँग बहुत अधिक होने पर उनको मूल्य वृद्धि के द्वारा अधिक लाभ अर्जित करने का अवसर नही मिल पाता। आयात लाइसेंस द्वारा सरकार अपने विदेशी विनिमय के वर्तमान तथा सम्भावित कोषो को दृष्टिगत रखकर आयात-कर्ताओ को वस्तु का आयात करने की अनुमति प्रदान करती है। इसके माध्यम से उपयुक्त मूल्यो पर वस्तुओ की अविरत उपलब्धि होने की भी सम्भावना रहती है।

परन्तु आयात लाइसेंसिंग प्रशासनिक दृष्टि से एक दोषयुक्त विधि है। बहुधा लाइसेंस देने मे पक्षपात तथा भाई-भतीजेवाद की आलोचना सुनने को मिलती है। फिर आयात लाइसेंस के माध्यम से विभिन्न वस्तुओ की माँग मे होने वाले मौसमी उतार-चढाव का दृष्टिगत नही रखा जाता। साथ ही अनेक बार ऐसी वस्तुओ के आयात लाइसेंस जारी कर दिये जाते हैं जिन्हे देश मे भी कम लागत पर तैयार करना सम्भव है। बहुधा यह भी कहा जाता है कि कच्चे माल के आयात लाइसेंस की बडे पैमाने पर कालाबाजारी होती है तथा इसके फलस्वरूप देश के उद्योगो मे निर्मित वस्तुओ की उत्पादन-लागतें अधिक बढ जाती है।

भारत मे लाइसेंसिंग—भारत जैसी मिश्रित अर्थ-व्यवस्था वाले देश मे लाइसेंस नीति निजी क्षेत्र पर नियन्त्रण रखने हेतु एक महत्वपूर्ण माध्यम है। 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव म लाइसेंस नीति की महत्ता को दृष्टिगत रखते हुए इसके निम्न उद्देश्य स्पष्ट किय गय थे :

(i) बडे औद्योगिक प्रतिष्ठानो की एकाधिकारिक प्रवृत्तियो को रोकना,
(ii) क्षेत्रीय सन्तुलन को बनाये रखना, तथा
(iii) मध्यम एव लघु आकार के उद्योगो को प्रोत्साहन देना।

भारत मे लाइसेंस प्रणाली का प्रारम्भ 1951 के औद्योगिक विकास एव नियमन अधिनियम के अन्तर्गत हुआ। इस अधिनियम के अन्तर्गत निम्न स्थितियो मे उद्योगो को लाइसेंस लेना अनिवार्य माना गया (अ) नयी इकाइयो की स्थापना, (ब) किसी औद्योगिक इकाई का व्यापक विस्तार, (इ) नयी वस्तुओ का उत्पादन, तथा (ई) औद्योगिक इकाइयो का स्थानान्तरण।

फरवरी 1964 से प्रत्येक पखवाडे मे एक बार लाइसेंसिंग कमेटी की बैठक होती है। यह कमेटी उद्योग मन्त्रालय, भारत सरकार के अन्तर्गत गठित की जाती है। लाइसेंस हेतु प्राप्त आवेदनो के औचित्य की पूरी तरह जाँच करने के बाद लाइसेंसिंग कमेटी भारत सरकार को अपनी सिफारिशें भेज देती है। इन्ही सिफारिशो के आधार पर सरकार औद्योगिक इकाइयो को लाइसेंस देने सम्बन्धी निर्णय लेती है। लाइसेंस प्राप्त होने के बाद आवश्यक कच्चे माल एव मशीनो की उपलब्धि का दायित्व सरकार का हो जाता है जिसमे इनका आयात भी सम्मिलित हो सकता है। जिन औद्योगिक इकाइयो को लाइसेंस प्राप्त होता है उन्हे छह माह की अवधि मे इसकी कार्यान्विति करनी होती है।

जुलाई 1969 मे एस दत्त कमेटी ने बताया कि भारत म औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति निर्धारित उद्देश्यो की पूर्ति म पूर्णत असफल रही है।[1] कमेटी ने बताया कि औद्योगिक लाइसेंस के वितरण मे बडी-बडी औद्योगिक इकाइयो के प्रति अधिक उदारता बरती जाती है तथा औद्योगिक लाइसेंस मे सम्बद्ध आयात लाइसेंसो का अधिकाश लाभ भी इन इकाइयो को ही प्राप्त होता है। 1966 म बडे-बडे औद्योगिक प्रतिष्ठानो के नियन्त्रण मे केवल 8% कम्पनियाँ थी परन्तु निजी क्षेत्र को प्राप्त 38% लाइसेंस इन प्रतिष्ठानो को ही मिले थे। दूसरी ओर, 91% कम्पनियो को 59% लाइसेंस प्राप्त हुए। एस दत्त कमेटी ने बताया कि अब तक लाइसेंस प्रणाली का लाभ मुख्यतया बिरला, वालचन्द, साराभाई एस पी जैन एव श्रीराम औद्योगिक समूहो ने प्राप्त किया था।

प्रोफेसर आर के. हजारी ने भी अपनी रिपोर्ट मे औद्योगिक लाइसेंस एव आयात प्रतिस्थापन

1 Report on Industrial Licensing Policy, (July 1960) by S. Dutt Committee

से सम्बद्ध नीति की कड़ी आलोचना की थी। उनके मतानुसार साधारणतया निजी क्षेत्र के लोगो, विशेष रूप से मध्यम एव छोटी इकाइयों के प्रबन्धको को लाइसेंस प्राप्त करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उपलब्ध विदेशी विनिमय पर अत्यधिक दबाव होने के कारण औद्योगिक इकाइयाँ बढ़ा-चढ़ाकर औद्योगिक क्षमता हेतु आवेदन करती है, ताकि उन्हें अधिक से अधिक राशि का आयात लाइसेंस प्राप्त हो सके। प्रोफेसर हजारी ने यह भी बताया कि वर्तमान लाइसेंस प्रणाली के अन्तर्गत कुछ लोगों को जान-पहचान एव अन्य माध्यमों से लाइसेंस की प्राप्ति हो जाती है, यद्यपि वास्तव मे उनको इसकी आवश्यकता नही होती, इसके विपरीत जिनको वास्तव मे लाइसेंस की आवश्यकता होती है उन्हें सरकारी माध्यम से लाइसेंस न मिलने के कारण काले बाजार से लाइसेंस लेना होता है।

प्रोफेसर हजारी ने यह भी बताया कि वर्तमान लाइसेंस प्रणाली खर्चीली एव अनावश्यक समय लेने वाली है। उन्होंने योजना आयोग की भी आलोचना की जिसने प्राथमिकता वाले उद्योगों की ऐसी कोई सूची नही बनायी है जिसके आधार पर विदेशी विनिमय एव अन्य दुर्लभ साधनो का प्राथमिकता के आधार पर आवटन किया जा सके।[1]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत मे लाइसेंस प्रणाली न केवल इसके घोषित उद्देश्यो को प्राप्त करने मे असफल रही है, अपितु इसके कारण अनेक गम्भीर समस्याएँ भी उत्पन्न हो गयी है। भारत मे आज अधिक मात्रा मे बेकार (surplus) औद्योगिक क्षमता होने के पीछे एक प्रमुख कारण हमारी दोषयुक्त लाइसेंस प्रणाली भी है। कुछ लोगो ने तो लाइसेंस प्रणाली को पूरी तरह समाप्त करने का सुझाव दिया है। पिछले तीन-चार वर्षों में सरकार ने कुछ उद्योगों को लाइसेंस प्राप्त करने सम्बन्धी औपचारिकता से यह छूट देकर अपनी लाइसेंस नीति को किसी सीमा तक उदार बनाया है। सरकार की नवीनतम लाइसेंस नीति (1985) भी इसी बात की पुष्टि करती है कि धीरे-धीरे सरकार वास्तविकता से परिचित होकर अपनी लाइसेंस नीति की आवश्यकता को अधिक महत्व दे रही है। साथ ही, लाइसेंस प्रणाली में विद्यमान जटिलताओं को कम करने के भी प्रयास किये जा रहे हैं।

(4) **द्विपक्षीय कोटा प्रणाली**—द्विपक्षीय कोटा प्रणाली के अन्तर्गत दो देश मिलकर यह निर्णय करते हैं कि उनमें से प्रत्येक दूसरे को किसी वस्तु का निर्यात करेगा। इस प्रकार दोनों ही देशो के आयात व निर्यात की मात्राओं का निर्धारण परस्पर विचार-विमर्श के माध्यम से होता है। इससे निम्न लाभ होते हैं :

(i) इससे आयातित वस्तुओ की पूर्ति में होने वाले उतार-चढ़ाव को समाप्त किया जा सकता है।

(ii) दोनों देश परस्पर सहमति द्वारा आयात-निर्यात की मात्रा तय करते हैं और इससे दोनों के बीच किसी भी प्रकार के तनाव की सम्भावना नहीं होती।

(iii) परस्पर सहमति द्वारा निर्यात में एकाधिकार की प्रवृत्ति पर रोक लगायी जा सकती है।

(iv) विशेष रूप से जिन देशो के पास विदेशी विनिमय के कोष बहुत कम होते हैं वे इस प्रणाली के माध्यम से अपने भुगतान-सन्तुलन को बनाये रख सकते हैं।

(v) दोनों देशों के बीच विचार-विमर्श से पूर्व दोनों ही देशो में उत्पादकों से भी वहाँ की सरकारें इस विषय पर विचार-विमर्श कर लेती हैं। यही कारण है कि उत्पादकों का सहयोग मिलने के कारण द्विपक्षीय कोटा प्रणाली सुगमतापूर्वक अपनायी जा सकती है।

(vi) अलग-अलग प्रकार की वस्तुओ के उत्पादक देशो के बीच व्यापार करने हेतु द्विपक्षीय कोटा प्रणाली एक विवेकपूर्ण एव आदर्श नीति हो सकती है, तथा

(vii) चूँकि आयात कोटो का निर्धारण विचार-विमर्श एव परस्पर सहमति द्वारा होता है, अत. इन्हें मूर्त रूप देते समय उपस्थित कठिनाइयों को भी परस्पर सहमति द्वारा एव अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को कटु बनाये बिना ही हल किया जा सकता है।

---

1 Report on Industrial Licensing Policy, (September 1967) by R. K. Hazari

अनुदान
[SUBSIDIES]

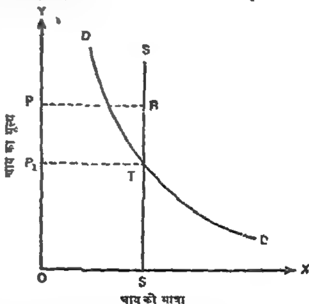
अनुदान द्वारा भी सरकार उद्योगों को संरक्षण प्रदान कर सकती है। करों में छूट अथवा अन्य किसी प्रणाली द्वारा सरकार शिशु अथवा दुर्बल उद्योगों की सहायता करती है। कभी-कभी उत्पादन-लागत का एक भाग सरकार वहन करती है तथा ऊँची उत्पादन-लागत वाले उद्योगों को राहत प्रदान करती है ताकि इनके द्वारा निर्यात वस्तुएँ स्पर्धाशील मूल्यों पर बेची जा सकें।

यदि सरकार देश में निर्मित वस्तुओं के निर्यात को प्रोत्साहन देना चाहती है तो निर्यात-बोनस, निर्यात पुरस्कार, निर्यात-करों में छूट अथवा मूल्य के एक अंश की प्राप्ति हेतु प्रत्यक्ष गारन्टी आदि विधियों से निर्यात करने वाली संस्थाओं को अनुदान दिया जा सकता है। इन विधियों द्वारा वस्तुओं के मूल्यों को कृत्रिम रूप से कम करके निर्यातों को प्रोत्साहित किया जाता है।

परन्तु अनुदान के माध्यम से विदेशी विनिमय की अतिरिक्त प्राप्ति में किस सीमा तक सफलता प्राप्त होगी यह हमारी वस्तुओं की विदेशों में स्थित माँग की लोच पर निर्भर है। उदाहरणार्थ, यदि किसी देश की वस्तु की निर्यात माँग बेलोच है ($\eta dx < 1$) अथवा पूर्ण बेलोच है ($\eta dx = 0$) तो अनुदान द्वारा वस्तु के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य में कमी करने पर भी प्राप्त विदेशी विनिमय पूर्वापेक्षा कम हो जायगा। इसके विपरीत यदि वस्तु की निर्यात माँग पर्याप्त लोचदार है ($\eta dx > 1$) तो अनुदान के माध्यम से निर्यातों एवं विदेशी विनिमय की प्राप्ति को अधिक बढ़ाया जा सकता है। निर्यात की वृद्धि के साथ-साथ सरकार की निर्यात कर से प्राप्त आय (राजस्व) में भी वृद्धि हो जाती है।

यह मानते हुए कि वस्तु की पूर्ति पूर्णत बेलोच है परन्तु निर्यात माँग लोचदार है, अनुदान का निर्यात व्यापार पर क्या प्रभाव हो सकता है यह रेखाचित्र 14 8 में बताया गया है।

रेखाचित्र 14 8 में DD वक्र हमारी वस्तु की अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में माँग को व्यक्त करता है जबकि SS वस्तु की कुल (घरेलू) पूर्ति है। दूसरे शब्दों में, हम अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में अधिक से अधिक OS मात्रा की पूर्ति कर सकते हैं। अब मान लीजिए, देश में वस्तु का घरेलू मूल्य OP है जो इसके अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य OP_1 से बहुत अधिक है। यदि सरकार समस्त उपलब्ध पूर्ति (OS) को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में बेचना चाहती है तो वस्तु की प्रत्येक इकाई पर PP_1 के समान अनुदान देना होगा। ऐसी स्थिति में वस्तु के निर्यात पर कुल अनुदान की राशि PP_1RT होगी। केवल OP_1 मूल्य पर ही वस्तु का मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में स्पर्धाशील हो सकता है। यदि वस्तु की प्रत्येक इकाई पर PP_1 से कम अनुदान दिया जाय तो हम OS मात्रा में वस्तु का निर्यात नहीं कर पायेंगे।



रेखाचित्र 14 8 —अनुदान प्रभाव

मूल्य-विभेद अथवा राशिपातन
[PRICE DISCRIMINATION OR DUMPING]

मूल्य विभेद से तात्पर्य उस स्थिति से है जिसमें कोई विक्रेता एक ही वस्तु को पृथक्-पृथक् क्रेताओं को अलग-अलग कीमतों पर बेचता है। राशिपातन का प्रयोग भी कीमत-विभेद की स्थिति के लिए किया जा सकता है परन्तु इसके अन्तर्गत विदेशों में वस्तुएँ स्वदेश के मूल्य से भी कम मूल्य पर बेची जाती हैं। प्रो एल्सवर्थ के अनुसार राशिपातन विदेश में वस्तु की उत्पादन लागत से

कीमत पर विक्रय करने की क्रिया ही नहीं है। "यातायात व्ययों, करों एवं अन्य सभी हस्तान्तरण लागतों के समायोजन के पश्चात् विदेशी बाजार में वस्तु को देश के बाजार में प्राप्त होने वाली कीमत से कम पर विक्रय करने को 'राशिपातन' कहते हैं।"[1]

होर्न एवं गोमेज के अनुसार, "राशिपातन का सबसे सामान्य प्रकार तब उपस्थित होता है जब उत्पादन को विदेश में स्वदेशी बाजार से भी कम कीमत पर या उत्पादन लागत से भी कम कीमत पर बेचा जाता है।"[2]

वाल्टर क्रूस के अनुसार, *"राशिपातन उस समय उपस्थित होता है जब किसी वस्तु विशेष को आयातकर्ता देश में निर्यातकर्ता देश में प्रचलित मूल्यों से कम मूल्यों पर बेचा जाता है (इसमें यातायात व्यय, हस्तान्तरण व्यय, अन्य शुल्क आदि का ध्यान रखा जाता है।")*[3]

हैबरलर के अनुसार, "राशिपातन का सार्वभौमिक रूप [redacted] अर्थ किसी वस्तु को विदेश में ऐसी कीमत पर बेचने से लिया जाता है जो उसी वस्तु की उसी समय पर तथा उन्हीं दशाओं (भुगतान आदि की एक-सी दशाओं) के अन्तर्गत देश में यातायात व्यय का विचार रखते हुए बेचने की कीमत से कम हो।"[4]

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि राशिपातन विदेशी बाजार में वस्तु को देश के बाजार में विक्रय करने की कीमत के कम पर विक्रय करने की क्रिया है। प्रो. जेकब वाइनर ने विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए राशिपातन की परिभाषा निम्न प्रकार की है जो सब परिभाषाओं में श्रेष्ठ परिभाषा कही जा सकती है। प्रो. वाइनर के अनुसार, "राशिपातन दो बाजारों में मूल्य-विभेद है।"[5]

इस परिभाषा को अन्य परिभाषाओं से श्रेष्ठ मानने का कारण यह है कि राशिपातन दो स्वतन्त्र देशों के मध्य ही नहीं वरन् एक ही देश के दो क्षेत्रों के मध्य भी हो सकता है। यदि एक उत्पादक अपनी वस्तु को एक देश के विभिन्न क्षेत्रों में पृथक्-पृथक् कीमत पर बेचता है तो उस स्थिति को भी राशिपातन कहा जा सकता है। यही कारण है कि मूल्य विभेद तथा राशिपातन एक ही बात है।

राशिपातन के उद्देश्य (Objectives of Dumping)

राशिपातन के अनेक उद्देश्य हो सकते हैं। उनमें कुछ महत्वपूर्ण निम्न प्रकार हैं :

(1) जब अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में किसी देश का कोई शक्तिशाली प्रतियोगी उपस्थित हो जाता है तो उसे बाजार से बाहर करने के लिए राशिपातन का प्रयोग किया जाता है। राशिपातन अपनाकर एक देश विदेशी बाजार में कम मूल्य पर अपनी वस्तु को बेचता है जिसके फलस्वरूप उसका प्रतियोगी अपनी शक्ति का प्रयोग करने में विफल हो जाता है तथा उसे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार से बाहर तक जाना पड़ जाता है।

---

1 "*It means . sales in a foreign market at a price below that received in home* market, after allowing transportation charges and all other costs of transfer " —P T Ellsworth, *International Economy*, IVth Edition, p 262.

2 "The most common form of dumping occurs when a product [redacted] sold in a foreign country [redacted] less than the home market price or less than the cost of production "—Paul V Horn and Henry Gomez, *International Trade : Principles and Practices*, p [redacted]

3 "Dumping is said to occur when a particular commodity is offered in the importing country at *a price below that prevailing in the exporting country (allowance being made for transport charges, duties and all other costs of transfer)* "—*Walter Krause, The International Economy, pp.* 136 137.

4 ' The term dumping is now almost universally taken to mean the sale of a good abroad at a price which is lower than the selling price of the same good at the same time and in the same circumstances (that [redacted] under the same conditions of payment and so on) [redacted] home taking account of differences in transport costs."—Haberler, *International Trade*, p 295

5 "Dumping is price-discrimination between two markets " —Jacob Viner, *op cit.*

(2) राशिपातन अपनाने का एक उद्देश्य यह भी हो सकता है कि किसी देश का कोई प्रतियोगी किसी अन्तर्राष्ट्रीय संघ (Cartel) में शामिल होकर या विश्व के बड़े-बड़े उत्पादक मिलकर विश्व के बाजार में शोषण करने की प्रवृत्ति अपनालें तो उस देश को विवश होकर राशिपातन का सहारा लेना पड़ता है।

राशिपातन के उपर्युक्त उद्देश्य नैतिक एवं सामाजिक नहीं कहे जा सकते फिर भी इनका व्यवहार में प्रयोग किया जाता रहा है।

राशिपातन के प्रकार (Kinds of Dumping)

राशिपातन के विभिन्न स्वरूपों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, जो निम्न हैं

(1) आकस्मिक या यमतन्त्रित राशिपातन (Occasional or Spordic Dumping)—आकस्मिक राशिपातन एवं बिक्री मौसम के अन्त में बचे हुए माल को जो कि स्वदेशी बाजार में बेचने के लिए अयोग्य होता है विदेशों में बेचने के लिए किया जाता है। इस प्रकार का राशिपातन कभी-कभी ही होता है। इस राशिपातन को पुनः दो भागों में विभाजित किया जाता है। प्रथम, **परभक्षी (predatory) राशिपातन** जिसका प्रयोग विदेशी प्रतियोगिता को समाप्त करने के लिए किया जाता है। द्वितीय **अनभिप्रेत (Unintentional) राशिपातन** जिसका प्रयोग स्वदेशी बाजार की बिक्री को न बढ़ा सकने के कारण व बाजार-आधिक्य से मुक्ति पाने के लिए किया जाता है।

इसके लिए यह आवश्यक है कि वस्तु की विदेशी माँग की तुलना में अधिक लोचदार होनी चाहिए। इस प्रकार का राशिपातन आयातकर्ता देश के उत्पादकों के लिए हानिकारक होता है।

(2) विरामी या अल्पकालीन राशिपातन (Intermittent or Short Period Dumping)—इस प्रकार के राशिपातन का तात्पर्य समय-समय पर विदेशों में घरेलू कीमतों से भी कम कीमत पर माल बेचने से होता है। *इस प्रकार के राशिपातन में एक देश को हानि भी उठानी पड़ सकती है।* यह हानि उस समय अधिक हो जाती है जबकि उस वस्तु की बिक्री विदेशों में उस पर *की जाने वाली उत्पादन लागत से भी कम कीमत पर करनी पड़ती है।*

इस प्रकार के राशिपातन का उद्देश्य विदेशी प्रतियोगिता को समाप्त करने अथवा विदेशी *विनिमय प्राप्त करने हेतु किया जाता है।* इस प्रकार का राशिपातन साधारणतया आयात शुल्क के विरोध में जनमत तैयार करने के लिए भी किया जाता है। चूँकि इस प्रकार के राशिपातन में देश को *हानि उठानी पड़ती है। अतः यह केवल अल्प-समय के लिए ही किया जाता है।*

(3) निरन्तर या दीर्घकालीन राशिपातन (Continuous or Long Period Dumping)—दीर्घकालीन राशिपातन उस समय होता है जबकि एक उत्पादक अपनी वस्तुओं को एक बाजार की अपेक्षा दूसरे बाजार में स्थायी रूप से कम कीमतों पर बेचता है। यह विभिन्न बाजारों में माँग की लोच अलग-अलग होने के कारण उनमें अधिकतम लाभ प्राप्त करने हेतु किया जाता है। उदाहरण के लिए, यदि वस्तु के स्वदेशी बाजार में माँग की लोच बेलोचदार है जबकि विदेशी बाजार में माँग *की लोच अधिक लोचदार है तो ऐसी स्थिति में बाजार में कम कीमत पर अधिक मात्रा बेची जायेगी* जबकि देशी बाजार में अधिक कीमत पर कम मात्रा का ही विक्रय किया जाता है। इसी स्थिति में *यह आवश्यक है कि कीमत किसी भी तरह सीमान्त लागत से कम नहीं होती। यही कारण है कि* निरन्तर या दीर्घकालीन राशिपातन को समाप्त करना उचित नहीं होता है।

राशिपातन की आवश्यक शर्तें तथा उसका प्रभाव
(Necessary Conditions for Dumping and Its Effects)

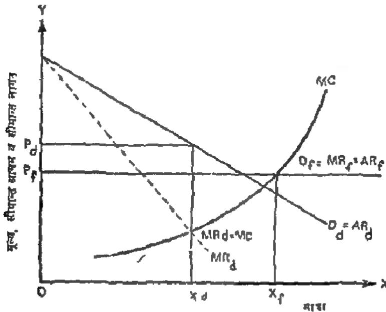
राशिपातन के लिए तीन शर्तों का पूर्ण होना आवश्यक है।

(1) क्रेता पृथक्-पृथक् बाजारों में विद्यमान हों।

(2) विभिन्न बाजारों में विद्यमान क्रेताओं (या आयातकर्ताओं) की वस्तु के प्रति माँग की लोच में असमानता हो, तथा

(3) जिस बाजार में वस्तु की कीमत कम हो वहाँ से अधिक मूल्य वाले बाजार को वस्तु का निर्यात सम्भव हो अथवा दोनों बाजारों की दूरी बहुत अधिक होने के कारण परिवहन-लागत बहुत अधिक आती हो।

सुविधा के लिए हम यह मान लेते हैं कि किसी उत्पादक के समक्ष दो बाजार—एक घरेलू बाजार व दूसरा विदेशी बाजार—विद्यमान हैं। यह भी मान लिया जाय कि वस्तु के उत्पादन में घरेलू बाजार में उत्पादक को एकाधिकार प्राप्त है जबकि विदेशी बाजार में उसे अन्य देशों के उत्पादकों से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है। उत्पादक की इस दुहरी स्थिति के कारण वस्तु का माँग-वक्र घरेलू बाजार में ऋणात्मक ढलाव लिये होगा। (जैसा कि एकाधिकारी का माँग-वक्र होता है) जबकि विदेशी बाजार में प्रतियोगिता के कारण माँग-वक्र पूर्ण लोचदार होगा (जैसा कि एक *प्रतियोगी फर्म के सन्दर्भ में होता है) इस स्थिति में हम घरेलू बाजार को नियन्त्रित या सुरक्षित* बाजार के नाम से पुकारते हैं जबकि विदेशी बाजार को खुला हुआ अथवा प्रतियोगितापूर्ण (मुक्त) बाजार कहा जाता है।



रेखाचित्र 14·9—घरेलू व विदेशी बाजार के मध्य मूल्य-विभेद

रेखाचित्र 14·9 में D_f वस्तु की विदेशी बाजार में माँग को व्यक्त करता है जबकि D_d उसी वस्तु की घरेलू माँग का प्रतीक *माँग-वक्र है। चूँकि विदेशी बाजार में वस्तु की माँग पूर्ण लोच*दार है (D_f), इसका सीमान्त आगम वक्र (MR_f) भी यही होगा। इसके विपरीत, घरेलू बाजार में माँग-वक्र D_d ऋणात्मक ढलावदार है, इसका अनुरूपी सीमान्त आगम वक्र (MR_d) इससे अधिक ऋणात्मक ढलावयुक्त होगा। चूँकि सुविधा के लिए हमने घरेलू बाजार में रेखीय माँग-वक्र (linear demand curve) (D_d) लिया है इसका अनुरूपी सीमान्त आगम वक्र (MR_d) इससे आधी दूर पर (अर्थात् *इससे दुगुना ढलान लिये हुए*) होगा।[1]

यद्यपि दोनों बाजारों में माँग-फलन भिन्न-भिन्न है तथापि उत्पादक अधिकतम लाभ की प्राप्ति हेतु दोनों बाजारों के सीमान्त आगम एवं उत्पादन की सीमान्त लागत के आधार पर दोनों बाजारों में बेची या निर्यात की जाने वाली मात्राओं का निर्धारण करेगा। जहाँ तक मूल्य का प्रश्न है, अन्तर्राष्ट्रीय या विदेशी बाजार में मूल्य का निर्धारण कुछ अन्तर्राष्ट्रीय माँग व पूर्ति द्वारा होगा जबकि

---

1 यदि रेखीय माँग-फलन (घरेलू बाजार में) $P = a - bD_f$ हो तो कुल आगम वक्र $PD_f =$ $aD_f - bD_f^2$ होगा। ऐसी स्थिति में सीमान्त आगम-फलन $\frac{d(P.D_f)}{dD_f} = a - 2bD_f$ होगा। इस प्रकार यदि माँग-फलन का ढलाव $-b$ है तो सीमान्त आगम-फलन का ढलाव $-2b$ होगा।

घरेलू बाजार में जिस उत्पादन-स्तर पर सीमान्त आगम व सीमान्त उत्पादन-लागत समान हैं, एकाधिकारी की भांति उसी स्तर पर मांग-फलन पर लम्ब डालकर घरेलू बाजार का मूल्य निर्धारित किया जायगा।

रेखाचित्र 14 9 में OP_f तो अन्तर्राष्ट्रीय मांग व पूर्ति द्वारा निर्धारित मूल्य साम्य है। इस मूल्य में परिवर्तन करना हमारे उत्पादन के लिए कदापि सम्भव नहीं है। अत सीमान्त आगम व मूल्य समान होंगे। जैसा कि रेखाचित्र से स्पष्ट है, OX_f मात्रा विदेशी बाजार में बेचने पर अधिकतम लाभ प्राप्ति की शर्त ($MR_f = MC$) पूरी होती है। इसी प्रकार घरेलू बाजार में अधिकतम लाभ तभी पूरा होगा जब उत्पादन घरेलू बाजार में OX_d मात्रा में बेचे—इसी स्तर पर घरेलू बाजार में प्राप्य सीमान्त आगम एवं सीमान्त लागत होंगे ($MR_d = MC$)। इसी प्रकार दोनों बाजारों में अधिकतम लाभ प्राप्ति हेतु दोनों बाजारों में सीमान्त आगम व सीमान्त लागत में समानता होनी चाहिए

$$MR_f = MR_d = MC$$

परन्तु जैसा कि रेखाचित्र 14 9 से स्पष्ट है विदेशी बाजार में मांग पूर्णतया लोचदार होने के कारण वहां मूल्य बाहरी शक्तियों (मांग व पूर्ति) द्वारा निर्धारित हुआ (OP_f) परन्तु घरेलू बाजार में मांग-वक्र अपेक्षाकृत बेलोच होने के कारण मूल्य विदेशी बाजार में अधिक है ($PO_d > PO_f$)। दूसरी ओर विदेशी बाजार में घरेलू बाजार की अपेक्षा अधिक मात्रा बेची जाती है ($OX_f > OX_d$)। उत्पादक को अधिकतम लाभ $OX_f + OX_d$ मात्रा बेचने पर प्राप्त होता है परन्तु इसके लिए उसे घरेलू व विदेशी बाजारों में विद्यमान क्रेताओं के बीच भेदभाव की नीति अपनानी होगी।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह तर्क दिया जा सकता है कि वस्तु के उत्पादक को यदि घरेलू बाजार में अधिक ऊँची कीमत प्राप्त हो जाय तो विदेशी बाजार में हानि उठा कर भी वह वस्तु का निर्यात करने को सहमत हो जायगा। इस प्रकार की भेदभाव या कम मूल्य पर भी विदेशी बाजार में निर्यात करने की नीति निर्यात प्रोत्साहन में तभी सहायक हो सकती है जबकि विदेशी बाजार में होने वाले घाटे की पूर्ति घरेलू बाजार में की जा सके।

राजकीय व्यापार
[STATE TRADING]

राजकीय व्यापार में हमारा अभिप्राय उस व्यवस्था से है जिसके अन्तर्गत वस्तुओं के आयात व निर्यात का समस्त दायित्व सरकार द्वारा नियन्त्रित या सरकारी संस्था पर छोड़ दिया जाता हो। सरकार आयातित वस्तुओं का देश की विभिन्न औद्योगिक इकाइयों के मध्य आवंटन करती है। *साथ ही देश की औद्योगिक इकाइयों से खरीदकर वस्तुओं का निर्यात भी इसी सरकारी संस्था के* माध्यम से किया जाता है।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक विदेशी व्यापार में सरकार का योगदान अत्यन्त गौण था। परन्तु प्रथम महायुद्ध-काल में सैन्य एवं सुरक्षा की दृष्टि से यह आवश्यक समझा गया कि महत्वपूर्ण वस्तुओं के आयात पर राज्य का नियन्त्रण एवं अंकुश हो। सर्वप्रथम रूस ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर राजकीय नियन्त्रण को स्थापित किया। परन्तु विश्वव्यापी मन्दी (1929-31) के समय कृषि-मूल्यों में भारी गिरावट, व्यापक बेरोजगारी, विश्व के अधिकांश देशों में भुगतान-सन्तुलन तथा पूंजी के अन्तर्राष्ट्रीय *प्रवाह में बाधाएँ आदि अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गयीं, जिनके फलस्वरूप राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय* व्यापार पर नियन्त्रण की विस्तृत पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ।

द्वितीय महायुद्ध ने मुक्त व्यापार के समर्थकों को फिर से झकझोर दिया। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् विश्व के अनेक देशों में स्थापित समाजवादी एवं आर्थिक नियोजन की व्यवस्थाओं ने सरकार की आर्थिक प्रबन्धन एवं विदेशी व्यापार में बढ़ती हुई भूमिका को और भी स्पष्ट कर दिया।

आज विदेशी व्यापार में राजकीय हस्तक्षेप विश्वव्यापी है, यद्यपि राज्य की यह भूमिका *तथा राजकीय व्यापार के उद्देश्य भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न हैं। किन्हीं-किन्हीं देशों में राज्य के अन्य* कार्यों के अतिरिक्त राजकीय व्यापार भी एक आकस्मिक सरकारी गतिविधि बन सकती है। सरकार विभिन्न औद्योगिक इकाइयों एवं सरकारी विभागों के लिए आवश्यक कच्चा माल एवं तैयार वस्तुओं की विदेशों में खरीद कर सकती है। यही नहीं, संकट के समय खाद्यान्न एवं सामान्य परिस्थितियों में

सैन्य-सामग्री की खरीद भी राज्य द्वारा ही की जाती है। इसी प्रकार राजकीय व्यापार के अन्तर्गत सरकार देश में उपलब्ध निर्यात योग्य खाद्य-पदार्थों, कच्चे माल, खनिज एवं तैयार वस्तुओं का विदेशों में निर्यात कर सकती है। पिछले दो दशकों में एशिया, अफ्रीका, यूरोप एवं लेटिन अमरीकी देशों में वहाँ की सरकारों ने अनेक वस्तुओं के आयात व निर्यात का कार्य अपने हाथों में ले लिया है तथा इसके लिए सरकार द्वारा नियन्त्रित विपणन बोर्ड अथवा राजकीय व्यापार संस्थाओं की स्थापना की गयी है। परन्तु केवल समाजवादी देशों में ही विदेशी व्यापार पूर्णतया सरकारी नियन्त्रण में है।

राजकीय व्यापार के उद्देश्य—राजकीय व्यापार के अनेक उद्देश्य हो सकते हैं :

(1) सरकार का यह उद्देश्य हो सकता है कि दुर्लभ विदेशी विनिमय का उपयोग विदेशों से केवल अत्यन्त महत्वपूर्ण वस्तुओं के आयात हेतु किया जाय, तथा विलासिता की वस्तुओं के आयात पर सरकारी अंकुश रखा जाय।

(2) सरकार यह भी चाहती है कि आयात व्यापार पर कुछ ही व्यक्तियों का नियन्त्रण न रहे, तथा आयातित वस्तुओं की कालाबाजारी समाप्त करके आवश्यकता वाले उत्पादकों व उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर ये वस्तुएँ उपलब्ध करायी जायें।

(3) घरेलू उद्योगों को विदेशी प्रतिस्पर्धा से बचाने के लिए भी यह उपयुक्त समझा जाता है कि आयात व निर्यात पर राज्य का नियन्त्रण रखा जाय।

(4) आयात व्यापार में विद्यमान बिचौलियों को समाप्त करके आयातित वस्तुओं की वितरण-लागत कम की जाय। इसी प्रकार निर्यात व्यापार से प्राप्त लाभ के सार्वजनिक उपयोग हेतु महत्वपूर्ण वस्तुओं के निर्यात पर सरकार की भागीदारी रखी जा सकती है।

(5) देश में सम्पत्ति व आय के न्यायपूर्ण वितरण के महान् लक्ष्य की प्राप्ति में राजकीय व्यापार का एक विशिष्ट योगदान है।

राजकीय व्यापार की विधियाँ—राजकीय व्यापार की अनेक विधियाँ हो सकती हैं, जिनमें निम्न विधियाँ प्रमुख हैं :

(1) विदेशों से वस्तुओं की खरीद व बिक्री राज्य स्वयं करें,

(2) विदेशों से वस्तुओं की खरीद व बिक्री हेतु सरकार स्वायत्त (autonomous) संस्थाओं की स्थापना करे अथवा

(3) लाइसेंस प्रणाली द्वारा निजी व्यापारियों को विशिष्ट वस्तुओं की विदेशों से खरीद व बिक्री हेतु एकाधिकार प्रदान किये जायें तथा इन व्यापारियों की गतिविधियों पर दृष्टि रखी जाय।

राज्य विदेशी व्यापार में किस सीमा तक भाग लेगा यह किसी देश की सरकार की आर्थिक नीतियों के मूलभूत लक्ष्यों पर निर्भर करता है। किन्हीं परिस्थितियों में सरकार सभी वस्तुओं का आयात व निर्यात व्यापार अपने अधिकार में ले सकती है तो अन्य परिस्थितियों में केवल कुछ विशिष्ट वस्तुओं के आयात तथा/अथवा निर्यात पर ही सरकार का एकाधिकार हो सकता है। राजकीय व्यापार के अनेक लाभ हो सकते हैं, परन्तु इससे अनेक दूसरी समस्याएँ भी उत्पन्न हो सकती हैं। बहुधा राजकीय व्यापार से उत्पन्न समस्याओं के पीछे सरकार का विदेशी व्यापार पर एकाधिकार एवं निजी संस्थाओं के विदेशी व्यापार का पूर्ण निषेध निहित रहते हैं।

राजकीय व्यापार के लाभ—(1) सरकार का आयात व निर्यात पर एकाधिकार होने के कारण वस्तुओं की खरीद इकट्ठी की जाती है और इससे कम कीमत एवं प्रति इकाई कम जहाज भाड़े पर वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं।

(2) सरकार के व्यापक प्रशासन एवं आर्थिक तन्त्र के कारण अन्य देशों में वस्तुओं की उपलब्धि एवं हमारे देश में निर्मित वस्तुओं की विदेशों में माँग के विषय में अधिक विस्तृत जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार राजकीय व्यापार द्वारा आयात व निर्यात व्यापार में अधिकतम लाभ प्राप्त करना सम्भव है क्योंकि उपलब्ध जानकारी के आधार पर न्यूनतम मूल्य पर आयात करना तथा अधिकतम मूल्य पर निर्यात करना सरल हो जाता है।

(3) सरकार के लिए यह भी सम्भव है कि वह बड़ी मात्रा में वस्तुएँ खरीदने व बेचने के

लिए अन्य देशों से द्विपक्षीय व्यापार समझौते कर ले। ऐसी स्थिति में आयात के लिए वित्त जुटाने की समस्या स्वयमेव हल हो जाती है।

(4) नये बाजारों की खोज हेतु प्राइवेट निर्यात करने वालों की अपेक्षा सरकार के पास अधिक साधन एवं विशेषज्ञों की सेवाएँ विद्यमान रहती हैं। इसी प्रकार निजी व्यापारिक संस्थाओं की अपेक्षा सरकार अधिक उपयुक्त ढंग से आयात के नये स्रोतों की खोज कर सकती है।

(5) राजकीय व्यापार के माध्यम से देश के बैंकों, जहाज कम्पनियों एवं बीमा संस्थाओं की सेवाओं का उपयोग करके उन्हें प्रोत्साहन दिया जा सकता है।

(6) जिन वस्तुओं के निर्यात हेतु देश को विश्व के बाजारों में एकाधिकार प्राप्त है उन्हें सरकारी संस्थान द्वारा निर्यात करने पर उनके समस्त लाभ सार्वजनिक कोषागार को प्राप्त हो सकते हैं। ऐसी वस्तुओं का निर्यात निजी संस्थाओं के द्वारा करने पर ये लाभ इन्हीं संस्थाओं को प्राप्त होंगे जिससे आय व सम्पत्ति का केन्द्रीकरण होता जायगा।

(7) दुर्लभ वस्तुओं का आयात सरकारी नियन्त्रण में होने पर इनका वितरण न्यायपूर्ण ढंग से तथा उचित मूल्य पर किया जा सकता है जबकि इनका आयात निजी अधिकार में रखने पर इनकी कालाबाजारी होती रहती है।

(8) राजकीय व्यापार द्वारा अनुदान आदि विधियों से देश के निर्यातों को प्रोत्साहन देने की नीति को सफलतापूर्वक कार्यान्वित किया जा सकता है।

(9) राजकीय व्यापार द्वारा देश में वस्तु विशेष की (घरेलू) माँग तथा पूर्ति के बीच सन्तुलन बनाये रखना सम्भव है और सरकार इनके अनुरूप आयातों को नियमित करके मूल्य स्तर पर नियन्त्रण रख सकती है।

(10) राजकीय व्यापार के माध्यम से भुगतान-असन्तुलन की स्थिति को सुधारने में सहायता मिलती है।

(11) यदि विदेशी व्यापार को सार्वजनिक उपयोगिता की सेवा मान लिया जाय तो इस दृष्टि से भी इस पर सरकार का अधिकार होना चाहिए।

(12) आयात पर नियन्त्रण करने हेतु कोटा प्रणाली की अपेक्षा राजकीय व्यापार अधिक प्रभावकारी एवं अधिक श्रेष्ठ विधि है।

(13) विकासशील देशों में जहाँ विदेशी विनिमय अत्यधिक दुर्लभ है, सरकार विलासिता की वस्तुओं का आयात रोककर केवल महत्वपूर्ण व आवश्यक वस्तुओं का आयात कर सकती है।

राजकीय व्यापार के दोष—(1) यदि सरकार विदेशों में हमारी वस्तु की माँग या देश में किसी वस्तु की घरेलू माँग का गलत अनुमान लगाकर उसी आधार पर निर्यात तथा आयात की मात्रा का निर्णय ले लेती है तो देश से वस्तु का अत्यधिक मात्रा में निर्यात होने के कारण घरेलू बाजार में अभाव की स्थिति आ सकती है अथवा बहुत अधिक आयात करने के कारण वस्तु की भारी मात्रा में बिना बिका हुआ स्टाक जमा हो सकता है। परन्तु जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है निजी व्यापारियों की अपेक्षा सरकार विदेशों में माँग व पूर्ति का अनुमान अधिक अच्छे प्रकार से लगा सकती है। विशेष रूप से दुर्लभ विदेशी विनिमय का इष्टतम उपयोग किन-किन वस्तुओं के आयात हेतु किया जाय, इस बात का निर्णय सरकार अधिक उपयुक्त रूप से ले सकती है।

(2) यदि विदेशी व्यापार तो सरकार के हाथ में हो जबकि वस्तुओं का घरेलू उत्पादन व उपयोग निजी क्षेत्र में होता हो तो राजकीय व्यापार संस्था के लिए पर्याप्त निर्यात योग्य वस्तुओं को प्राप्त करना एवं आयात की गयी वस्तुओं का समुचित आवंटन करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में पक्षपात एवं भाई भतीजेवाद जैसी बुराइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

(3) राजकीय व्यापार में बहुधा द्विपक्षीय व्यापार समझौतों को महत्व दिया जाता है और इसका परिणाम यह होता है कि देश बहुपक्षीय व्यापार (multilateral) व्यापार के प्राप्य लाभों से वंचित रह जाता है।

(4) राजकीय व्यापार के माध्यम से विदेशी बाजारों में भी हमारी सरकार एकाधिकारिक

प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देती है तथा प्रतियोगिता से प्राप्त लाभों से देश की जनता को वंचित रखती है।

(5) राजकीय व्यापार के कारण देश के लोग अपनी बुद्धि, अनुभव, ज्ञान एवं दूरदर्शिता का समुचित उपयोग नहीं कर पाते क्योंकि उन्हें केन्द्रीय प्रशासन के निर्देशानुसार कार्य करना पड़ता है। वैसे भी सरकारीकरण से कर्मचारियों की दक्षता का ह्रास होने की आशंका बनी रहती है।

(6) व्यापार से अधिकतम लाभ प्राप्त करने हेतु यह आवश्यक है कि व्यापार सम्बन्धी निर्णय बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप हों तथा ये निर्णय अविलम्ब लिये जायें। परन्तु सरकारी तन्त्र के महत्वपूर्ण निर्णय भी तुरन्त लेना सम्भव नहीं होता और इसी कारण अनेक बार देश की जनता को भारी हानि उठानी पड़ती है।

(7) लगभग सभी देशों में, और विशेष रूप से विकासशील देशों में, सरकारी प्रशासन में भ्रष्टाचार एवं अनैतिक आचरण व्याप्त है। विदेशी व्यापार सरकार के हाथों में जाने से इसके उपर्युक्त-वर्णित लाभ देश की जनता को प्राप्त हो सकेंगे, इसमें सन्देह है।

(8) विदेशी आयात व निर्यात करने वाले व्यापारी (समाजवादी देशों के अतिरिक्त) बहुधा निजी संस्थाओं से व्यापार करना अधिक उपयुक्त समझते हैं। विदेशी व्यापार पर राजकीय नियन्त्रण हो जाने पर राजकीय व्यापार संस्था या निगम की नीतियों को बहुधा वे लोग संशय की दृष्टि से देखते हैं।

(9) विदेशी व्यापार से अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए व्यक्तिगत रुचि व देख-रेख की नितान्त आवश्यकता है। परन्तु राजकीय व्यापार में अधिकारियों तथा कर्मचारियों में व्यक्तिगत रुचि का सामान्यतया अभाव पाया जाता है। साधारणतया योग्य व दक्ष अधिकारियों या कर्मचारियों को पुरस्कृत करने की भी सरकारी तन्त्र में कोई व्यवस्था नहीं होती।

(10) बहुधा यह देखा जाता है कि सरकारी संस्थाओं में प्रबन्ध व प्रशासनिक व्यय (administrative expenditure) निजी संस्थाओं की अपेक्षा अधिक होता है और परिणामस्वरूप उनके लाभ भी अधिक नहीं होते।

(11) राजकीय व्यापार में पूर्ण दक्षता होने पर देश की जनता को यदि विदेशी व्यापार के सभी लाभ मिल जायें तब भी दूसरे देशों को इससे कोई लाभ नहीं होता और फलस्वरूप कालान्तर में उनसे हमें प्राप्त होने वाले सहयोग में कमी होती जाती है।

अन्त में, यही निष्कर्ष निकालना उचित प्रतीत होता है कि राजकीय व्यापार से देश को लाभ व हानि दोनों हो सकते हैं। आवश्यकता इस बात की ही नहीं है कि निजी लाभों को राजकीय व्यापार के माध्यम से सार्वजनिक लाभों के रूप में परिणित किया जाय, बल्कि इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है *कि सीमित अथवा व्यापक जिस भी रूप में सरकार विदेशी व्यापार को अपने हाथ में ले, इसका प्रबन्ध निष्पक्ष, ईमानदार, कर्तव्यनिष्ठ एवं दक्ष अधिकारियों को दिया जाय तथा* आयात व निर्यात सम्बन्धी महत्वपूर्ण निर्णय तत्काल लेने की व्यवस्था रखी जाय। यदि ऐसा सम्भव है तब तो राजकीय व्यापार हमारे लिये एक वरदान सिद्ध हो सकता है। परन्तु राजकीय व्यापार भ्रष्ट एवं अनिपुण कर्मचारियों के निर्देश में होता हो तो इससे लाभ की अपेक्षा देश को हानि ही होगी तथा *राजकीय व्यापार देश के उद्योगों व उपभोक्ताओं के लिए अभिशाप बन जायगा।*

अन्तर्राष्ट्रीय संघ (कार्टेल)
[INTERNATIONAL CARTELS]

अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल का अर्थ (Meaning of International Cartels)

प्रो. हैबरलर (Haberler) के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय संघ से तात्पर्य *उत्पादकों के एक ऐसे संगठन से है जिसका निर्माण एक से अधिक देशों द्वारा किया गया हो तथा जिसका उद्देश्य उत्पादन एवं कीमत पर एकाकी नियोजित नियन्त्रण रखना तथा बाजारों को विभिन्न उत्पादक देशों के बीच विभाजित करना होता है।*"[1]

1 G. V. Haberler, *op. cit.*, p. 331.

प्रो विलियम फेरिश (William Ferish) के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल प्रतियोगिता का नियन्त्रण उत्पादन एव स्थिर मूल्यो का सयोग है।"[1]

प्रो कोक्स (Prof H Cox) के शब्दो मे, 'अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल वह समझौता (agreement) है जो एक ही व्यापार क्षेत्र की दो या अधिक व्यापारिक इकाइयो (trading units) के मध्य मे होता है। समझौते का सम्बन्ध उनके व्यापार करने के तरीके से होता है तथा उसका प्रभाव सदैव एकाधिकारात्मक होता है।"

प्रो मेसन (Mason) के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल का तात्पर्य व्यापार की एक ही शाखा म सलग्न विभिन्न फार्मों के उस समझौते से है जो उत्पादन और बाजार के सम्बन्ध म उनकी स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित करे। कार्टेल का उद्देश्य सदस्य देशो द्वारा उत्पादन या विक्रय पर प्रतिबन्ध लगाना बाजारो का विभाजन करना एव वस्तुओ के मूल्य निश्चित करना है।'

उपर्युक्त परिभाषाओ से स्पष्ट होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल का मुख्य उद्देश्य उत्पादक की स्वतन्त्रता को सीमित करके बाजार मे एकाधिकारात्मक प्रवृत्ति को जन्म देना है। इसमे सदस्य देशो द्वारा अपने उत्पादन तथा विक्रय को प्रतिबन्धित करके बाजारो का विभाजन किया जाता है। उपर्युक्त परिभाषाओ के आधार पर एक अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल के निम्न लक्षण बताये जा सकते हैं

(1) कार्टेल मे एक ही उद्योग से सम्बन्धित विभिन्न उत्पादक होते हैं।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय सघो का निर्माण उत्पादन तथा पूर्ति के नियन्त्रण हेतु किया जाता है।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय सघो का मुख्य उद्देश्य एकाधिकारी लाभ अर्जित करना होता है।

(4) इनके सदस्य देशो का अस्तित्व स्वतन्त्र होता है।

(5) सघ की सदस्यता अनिवार्य नही होती।

अन्तर्राष्ट्रीय सघो का विकास द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की अवधि म हुआ है। इसका प्रमुख कारण विश्वयुद्ध के बाद बहुत से देशो म अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भारी धक्का लगा। 1930 के पूर्व कुछ अन्तर्राष्ट्रीय सघो की स्थापना की गयी थी किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध तक य सभी लगभग समाप्त हो गये थे। अत द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की परिस्थितियो मे इनको पुनर्जीवित करना अनिवार्य हो गया।

अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल का उद्देश्य (Objectives of International Cartel)

अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल का उद्देश्य अपने सदस्य देशो के व्यापारिक लाभो म वृद्धि करना होता है। य लाभ अनेक प्रकार स उत्पन्न किये जा सकते हैं

(1) **मूल्यों पर नियन्त्रण (Control Over Prices)**—अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल का मुख्य उद्देश्य वस्तुओ की कीमतो पर नियन्त्रण करना है। कार्टेल की स्थापना के पूर्व प्राय आयातित एव निर्यातित वस्तुओं के मूल्य को लेकर उत्पादकों म कीमत युद्ध (price-war) की स्थिति बनी रहती है। यही कीमत युद्ध की परिस्थितियाँ विभिन्न प्रतियोगी देशो के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल की स्थापना का कारण होती है। कार्टेल की स्थापना के बाद कीमत का एक ऊँचे स्तर पर निश्चित कर दिया जाता है।

(2) **वस्तु के गुणों मे गिरावट (Fall in the Quality of Products)**—अन्तर्राष्ट्रीय सघ अन्तर्राष्ट्रीय बाजार म एकाधिकारी स्थिति बनाये रखने म सफल हो जाता है। जिस प्रकार एकाधिकारी अपनी वस्तु के गुणात्मक स्तर को कम करके कम मूल्य पर वस्तु की अधिक बिक्री करने म सफल हो सकता है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल भी गुणात्मक तत्व पर अधिक ध्यान नही देता तथा अपनी बिक्री म वृद्धि करने का उद्देश्य रखता है। प्रतियोगिता की स्थिति म ऐसा सम्भव नही हो सकता।

(3) **पूर्ति पर नियन्त्रण (Control Over Supply)**—एकाधिकार की भांति अन्तर्राष्ट्रीय सघ का भी वस्तु की पूर्ति पर एकाधिकार स्थापित हो जाता है। ऐसी स्थिति म उस एकाधिकार

---

1 *"Cartel is a combination of competition control, production and fixed prices"*
—William S Ferish

के लाभ प्राप्त हो जाते हैं। संघ वस्तु की पूर्ति को सीमित करके प्रतियोगिता के तत्व को सीमित कर सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल के लाभ (Advantages of International Cartels)

(1) उत्पादन लागतों में कमी (Reduction in per Unit Cost of Production)—अल्पाधिकार की स्थिति में उत्पादकों के मध्य कीमत युद्ध से बचने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल का निर्माण किया जाता है। इससे एक ओर तो मूल्यों में स्थिरता आ जाती है तथा दूसरी ओर विज्ञापन आदि पर होने वाला अपव्यय भी समाप्त हो जाता है। अतः प्रत्येक उत्पादक अपने उत्पादन की लागत में कमी करके अधिक लाभ प्राप्त कर सकता है।

(2) प्रशुल्क में कमी (Reduction in Tariffs)—कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल में सम्मिलित विभिन्न देशों के उत्पादकों के मध्य समझौता होने पर प्रशुल्क की दीवारों को समाप्त किया जा सकता है। इसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा में वृद्धि की जा सकती है।

(3) आर्थिक विकास (Economic Development)—अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल से उत्पादक विभिन्न प्रकार के दुर्लभ तकनीकी ज्ञान का परस्पर लाभ उठा सकते हैं। इससे लागत कम तथा उत्पादन अधिक किया जा सकता है तथा आर्थिक विकास की दर में वृद्धि की जा सकती है।

(4) अतिरिक्त क्षमता का उपयोग (Use of Excess Capacity)—अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना के साथ-साथ प्रत्येक देश एक दूसरे की वस्तुओं के लिए माँग भी उत्पन्न कर देते हैं। बढ़ी हुई माँग की पूर्ति के लिए अतिरिक्त क्षमता का उपयोग आवश्यक हो जाता है।

(5) आर्थिक संकट को उठाने की सामर्थ्यता (Capability to bear Economic Crisis)—चूँकि अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल का निर्माण आपसी सहयोग के लिए किया जाता है। अतः एक देश के सामने उत्पन्न आर्थिक संकट को बड़ी सरलता के साथ समाप्त किया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल के दोष (Disadvantages of International Cartels)

(1) एकाधिकारात्मक शोषण (Monopolistic Exploitation)—अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल के अन्तर्गत उत्पादकों द्वारा उपभोक्ताओं के एकाधिकारात्मक शोषण की सम्भावना बनी रहती है। जब उत्पादकों को विदेशी प्रतियोगिता से संरक्षण दिया जाता है तो वे पूर्ण प्रतियोगी कीमत से अधिक विक्रय मूल्य लेते हैं। इसके साथ-साथ उपभोक्ताओं को कार्टेल की एकाधिकारी प्रवृत्ति के कारण अच्छी किस्म की वस्तु भी उपलब्ध नहीं हो पाती।

(2) अस्थायी अस्तित्व (Temporary Existence)—सामान्यतया अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल के सदस्य अत्यन्त ढीले समझौते द्वारा संगठित होते हैं। यदि एक सदस्य देश विक्रय क्षेत्र, कोटे के आवंटन अथवा किसी अन्य बात से सन्तुष्ट नहीं है तो यह सम्भव है कि वह अप्रत्यक्ष रूप से समझौते का पालन न करे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल अस्थायी अस्तित्व ही रखते हैं।

(3) सीमित क्षेत्र (Limited Area)—अन्तर्राष्ट्रीय संघों का निर्माण केवल उसी समय सम्भव हो सकता है जबकि उत्पादकों के मध्य कुल उत्पादक (बाजार) का वितरण बहुत अधिक विस्तृत न हो। कृषिगत वस्तुओं एवं लकड़ी के कार्य आदि के उद्योगों में अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों का निर्माण सम्भव नहीं होता क्योंकि इनका उत्पादन क्षेत्र बहुत विस्तृत होता है। इससे स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल का क्षेत्र अत्यन्त सीमित होता है।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का ह्रास (Loss of International Trade)—जब अन्तर्राष्ट्रीय संघ बहुत व्यापक हो जाते हैं तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा कम हो जाती है। इसका मुख्य कारण प्रतिशोधात्मक प्रवृत्ति का जन्म लेना है।

(5) देश भक्ति की भावना का अभाव (Lack of Spirit of National Interest)—किण्डलबर्गर का मत है कि कभी-कभी कार्टेल के सदस्य अपने हित की प्राप्ति में राष्ट्र-हित का भी बलिदान कर देते हैं।[1]

---

1 C. P. Kindleberger, *op. cit.*, p 160.

प्रश्न एव उनके संकेत

1 तटकर एव कोटा के बीच अन्तर बताइए। घरेलू उद्योगों को सरक्षण देने हेतु दोनों के सापेक्ष महत्व का विवरण दीजिए।

Distinguish between tariffs and quotas Consider their relative importance as methods of protecting domestic industries

[संकेत—सरक्षण के लिए व्यवहार मे अनेक पद्धतियाँ प्रचलित है। इनका सक्षेप मे वर्णन करते हुए दो प्रमुख पद्धतियो अर्थात् आयात तटकरो या प्रशुल्क-नीति तथा कोटा-प्रणाली की तुलना करें। यह भी बतायें कि किन किन परिस्थितियो मे इनम से प्रत्येक महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है।]

2 सरक्षणात्मक तटकर क्या है ? अल्पविकसित देशों मे सरक्षण के पक्ष मे क्या तर्क दिये जा सकते हैं ?

What is protective tariff ? What are the arguments in favour of protection in under developed countries ?

[संकेत—इस प्रश्न के उत्तर मे सरक्षण की विभिन्न विधियों का सक्षिप्त विवरण देते हुए सरक्षणात्मक तटकरो की विस्तृत व्याख्या करें। विकसित देशों की अपेक्षा अल्प विकसित देशों मे सरक्षण का औचित्य अधिक क्यो है यह भी बतायें।]

3 इस कथन का परीक्षण कीजिए कि आयात कोटा एव तटकर एक जैसे हैं।

"Import quotas are much like tariffs" Discuss

4. घरेलू उद्योगों का सरक्षण देने हेतु प्रचलित विधियों—आयात-कोटा, तटकर एव उत्पादन अनुदान—के गुण व दोषों की विवेचना कीजिए।

Bring out the merits and demerits of import quotas, tariffs and production subsidies as devices to protect domestic industries

5 व्यापार नीति के अस्त्रों के रूप मे कोटा एव तटकरों के प्रभावो की समानताओं एव अन्तर की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

Give a critical review of the similarities and differences between the effects of quotas and tariffs as instruments of commercial policy

[संकेत—प्रश्न स्पष्ट एव सरल है। इसका उत्तर लगभग प्रश्न 1 के अनुरूप ही होना चाहिए।]

6 यह बताइए कि कुछ देश सरक्षण हेतु तटकरों की अपेक्षा आयात-कोटा की मात्रात्मक पाबन्दी को क्यों प्राथमिकता देते हैं ? क्या आपके मत मे आयात कोटा सदैव लाभप्रद सिद्ध होते हैं।

Describe why quantitative restrictions by imposing import quotas is preferred by some countries to that of protective tariffs for giving protection to domestic industries Do you think that in all cases quantitative restrictions by imposing quotas is advantageous ?

[संकेत—इस प्रश्न के उत्तर मे कोटा तथा तटकरो की तुलना करते हुए उन परिस्थितियो का वर्णन कीजिए जिनमे कोटा प्रणाली अधिक उपयुक्त हो सकती है। परन्तु कोटा-प्रणाली सदैव उपयोगी नही होती, अत प्रश्न के द्वितीय भाग का उत्तर देते समय यह बतायें कि आयात-कोटा के आधार पर कोई देश सदैव लाभ नही उठा सकता तथा अनेक परिस्थितियो मे सरक्षण की अन्य विधियो का भी सहारा लेना होता है।]

7 इस दृष्टिकोण की समीक्षा कीजिए कि कोटा एवं तटकरों के सरक्षणात्मक एवं पुनर्वितरण सम्बन्धी प्रभाव समान होते हैं।

Consider the view that quotas are much like tariffs in their protective and *redistributive effects*

8 'यह कहना गलत है कि तटकरों से मूल्यो मे वृद्धि होती है परन्तु आयात-कोटों से नहीं।" इस कथन की समीक्षा कीजिए तथा प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन को ठीक करने हेतु कोटा एव तटकर के गुण दोषों का परीक्षण करें।

"It is wrong to say that tariffs raise prices but quotas do not" *Comment* and examine the relative merits of quotas and tariffs as means of correcting an unfavourable balance of trade

9 "कभी-कभी तटकर से प्रतिशोधात्मक नीति को प्रोत्साहन मिलता है।" समझाइए।
"Tariffs will sometimes lead to retaliation" Discuss.

[संकेत—इस प्रश्न के उत्तर में प्रतिशोधात्मक नीति किन परिस्थितियों में अपनायी जाती है इसकी व्याख्या करनी है। वस्तुत एडम स्मिथ ने तटकरों का विरोध इसी आधार पर किया था कि इससे अन्य देशों को प्रतिशोधात्मक तटकर लगाने का प्रोत्साहन मिलता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का संकुचन होता है। संक्षेप में, प्रतिशोधात्मक तटकरों (retaliatory tariffs) के प्रभावों की व्याख्या करें।]

10. विदेशों में कम मूल्य पर बेचने (dumping) की नीति से आप क्या समझते हैं? इस नीति के लिए आवश्यक शर्तें क्या हैं? इस नीति के प्रभाव कौन-कौन से होते हैं?
What do you understand by dumping? What are the necessary conditions for dumping? What are its effects?

[संकेत—प्रश्न स्पष्ट है। इसके तीन भागों में से प्रथम भाग के उत्तर में कम मूल्य पर बेचने की नीति का अर्थ बताइए। द्वितीय भाग में इस नीति की मान्यताएँ एवं शर्तों का उल्लेख कीजिए। अन्तिम भाग के उत्तर में इस नीति के परिणामों की व्याख्या करें।]

11. "कम मूल्य पर बेचने की नीति दो बाजारों के बीच मूल्य विभेद की नीति है"—(वाइनर) कम मूल्य पर बेचने की नीति की उक्त कथन के सन्दर्भ में परिभाषा प्रस्तुत कीजिए। इस नीति के उद्देश्य बताइए।

"Dumping is the price discrimination between two markets"—*Viner* Define dumping in the context of this statement Explain the objectives of this policy

[संकेत—अपने उत्तर के प्रथम भाग में बतायें कि कम मूल्य पर बेचने वाला व्यापारी विदेशी बाजार में वस्तु विशेष को अत्यन्त कम मूल्य पर तथा घरेलू बाजार में ऊँचे मूल्य पर बेचता है। इसी नीति को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में मूल्य-विभेद की संज्ञा दी जा सकती है। रेखाचित्र सहित यह बतायें कि किस प्रकार माँग की लोच भिन्न होने के कारण घरेलू व अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में उसी वस्तु के मूल्यों में अन्तर होता है। अन्त में, कम मूल्य पर वस्तु को बेचने की नीति के उद्देश्य पर प्रकाश डालें।]

12. कम मूल्य पर बेचने की प्रवृत्ति के आयात व निर्यात करने वाले देशों पर होने वाले प्रभावों पर प्रकाश डालिए।
Explain the effect of dumping on the exporting and importing countries.

13. घरेलू उद्योगों को संरक्षण देने हेतु प्रचलित राजकीय व्यापार के लाभों व हानियों का वर्णन कीजिए।

Discuss the advantages and disadvantages of state trading as a means of *protecting domestic industries.*

[संकेत—घरेलू उद्योगों को संरक्षण देने हेतु अपनायी गयी अनेक विधियों में से राजकीय व्यापार भी एक विधि है। विद्यार्थियों से यही अपेक्षा है कि वे राजकीय व्यापार की परिभाषा एवं सफलता हेतु दी गयी शर्तों की व्याख्या करेंगे। अपने उत्तर के द्वितीय भाग में राजकीय व्यापार की हानियों व इसके लाभों की व्याख्या करें।

14. अनुकूलतम प्रशुल्क पर एक लेख लिखिए।
Write a note on Optimum Tariff

15. अन्तर्राष्ट्रीय संघ अथवा कार्टेल की परिभाषा दीजिए। इनके गुण-दोषों की भी विवेचना कीजिए।
Define International Cartel Discuss their merits and demerits.

[संकेत—अन्तर्राष्ट्रीय संघ का अर्थ स्पष्ट कीजिए तथा यह बताइए कि ये किस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्वतन्त्र प्रवाह में रुकावट डालते हैं। इनसे होने वाले लाभ कहाँ तक वास्तविक हैं। उनकी आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।]

15

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या

[THE PROBLEM OF INTERNATIONAL LIQUIDITY]

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या के विषय मे रॉबर्ट ट्रिफिन (Robert Triffin) ने कुछ समय पूर्व ही विचार करना प्रारम्भ किया था। उन्होने 1959 मे एक लेख 'Tomorrow's Convertibility Aims and Means of International Monetary Policy" प्रकाशित किया जिसमे अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या पर व्यापक रूप से विचार किया गया था। उसके बाद मे अनेक कार्यक्रम बनाये गये है, अनेक बैठको मे इस समस्या के समाधान हेतु विचार किया गया है तथा उच्चस्तरीय मन्त्रणाएँ हुई हैं। पिछले दो-तीन वर्षों से इस समस्या ने समस्त विश्व के व्यापारियो, बैको अर्थशास्त्रियो एव राजनीतिज्ञो को आलोडित (perturbed) किया हुआ है। स्टर्लिंग के अवमूल्यन तथा अमरीका के अविरत भुगतान-असन्तुलन ने न केवल अन्तर्राष्ट्रीय रिजर्व-कोषो की महत्ता को स्पष्ट कर दिया है, वरन् इन प्रवृत्तियो मे स्वर्ण, डालर एव स्टर्लिंग की अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय व्यवस्था मे क्या भूमिका होनी चाहिए, इस विषय मे भी कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न प्रस्तुत हुए हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की धारणा न केवल सरकार तथा केन्द्रीय बैको के लिए महत्वपूर्ण है, अपितु इसका महत्व उन सभी के लिए है जिनकी रुचि व्यापारिक एव वित्तीय मामलो मे है। परन्तु दुर्भाग्यवश इस धारणा के विषय मे अलग-अलग अर्थ लिये जाते है और फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का सही अर्थ स्पष्ट नही हो पाता। अनेक व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का अर्थ सभी देशो की राष्ट्रीय मौद्रिक सस्थाओ की सयुक्त तरलता से लेते है। पियरे पॉल (Pierre Paul) का मत है कि हम अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की चर्चा करते समय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बहुत बडे अश के वित्त-प्रबन्ध की उपेक्षा कर देते है, यद्यपि यह महत्वपूर्ण ही हो। दूसरे शब्दो मे, हम व्यक्तिगत विदेशी विनिमय की मात्रा को इसमे सम्मिलित नही करते, यद्यपि इसका कुल परिमाण बहुत अधिक होता है। इसी प्रकार, बैंक साख, व्यावसायिक-साख आदि जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे अत्यन्त सामान्य एव उपयोगी हैं, अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की परिभाषा से बाहर रखी जाती है।

जे अमूजेगर (J Amuzegar) के मतानुसार, **"अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के अन्तर्गत विदेशी वित्तीय भुगतानों को निपटाने हेतु विभिन्न देशों के उपलब्ध सभी पावनों (assets) को सम्मिलित किया जाता है।"**[1]

प्रोफेसर मेक्लप (Prof. Machlap) ने लिखा है, **"अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में उन सभी साधनों को सम्मिलित किया जाता है जो भुगतान-सन्तुलन को ठीक करने हेतु मौद्रिक अधिकारियों को उपलब्ध हैं।"**[2]

सरल शब्दो मे, यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता मे उन सभी वित्तीय साधनों एव सुविधाओ को सम्मिलित किया जाता है जो विभिन्न देशो को उनके भुगतान-सन्तुलन को निपटाने हेतु उपलब्ध है। दूसरे शब्दो मे, जब अन्य साधनों द्वारा विदेशी खातो का निपटारा नही हो पाता हो तो विदेशी मुद्रा के रूप मे ये साधन शेष राशि के भुगतान मे सहायता करते हैं।

---

1 J Amuzegar, "International Liquidity," *Indian Economic Journal*, Vol. XIV, Oct-Dec. 1966

2 I M. F Annual Report, 1964, No. 25.

आधुनिक सन्दर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के तीन प्रमुख अंश हैं : (अ) स्वर्ण, (ब) आधारभूत मुद्राएँ—विशेषतः डालर एवं स्टर्लिंग, तथा (स) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष अथवा द्विपक्षीय या बहुपक्षीय समझौतों के माध्यम से प्राप्त साख।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या क्या है ?
[WHAT IS THE PROBLEM OF INTERNATIONAL LIQUIDITY ?]

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या में हम विकासशील देशों की उन कठिनाइयों को सम्मिलित करते हैं जो उनके अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के सम्बन्ध में उपस्थित होती रहती हैं। स्वर्ण-कोषों तथा डालर या स्टर्लिंग के कोषों की पर्याप्त पूर्ति न होने के कारण बहुधा ये देश अपने भुगतान-सन्तुलन को व्यवस्थित करने में असमर्थ रहते हैं। कभी-कभी विकसित देशों को भी स्वर्ण या आधारभूत मुद्रा की कमी के कारण कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है।

आज अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में विद्यमान असन्तुलन का प्रारम्भ द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद प्रारम्भ हो गया था। उस समय अमरीका ने युद्ध से ध्वस्त यूरोपियन देशों व जापान के पुनर्विकास हेतु विदेशी सहायता का एक व्यापक कार्यक्रम बनाया था। इस प्रक्रिया में अमरीका के भुगतान-सन्तुलन में जान-बूझकर एक प्रतिकूल स्थिति उत्पन्न कर दी गयी। साथ ही अनेक देशों ने *अतिरिक्त विदेशी मुद्रा व स्वर्ण कोष बनाने का यत्न प्रारम्भ कर दिया। युद्ध से ध्वस्त यूरोप के* पुनर्निर्माण हेतु मार्शल प्लान बनाया गया। अमरीका द्वारा दी गयी अधिकांश सहायता ऋणों के रूप में न होकर सहायता (grant) के रूप में थी। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोप के इन देशों के पास न केवल भारी मात्रा में डालर जमा हो गया अपितु इसमें से अधिकांश राशि का तो इन्हें भुगतान करने की भी कोई आवश्यकता नहीं थी।

इसके साथ ही अमरीकी सरकार ने अनेक अमरीकी कम्पनियों को यूरोपियन देशों में पूँजी लगाने हेतु प्रोत्साहन दिया। वर्तमान शताब्दी के पाँचवें दशक के मध्य से 1971 तक अमरीका ने अरबों डालर केवल वियतनाम युद्ध पर खर्च किये जिसका वियतनाम या पूर्वी एशिया के देशों के आर्थिक विकास से कोई प्रयोजन नहीं था। इन सभी नीतियों का परिणाम यह हुआ कि विश्व के अनेक देशों में अमरीकी अर्थ-व्यवस्था के भविष्य एवं डालर की आन्तरिक शक्ति के विषय में अनास्था उत्पन्न हो गयी। अनेक देशों को यह भी आशंका होने लगी कि "रिजर्व मुद्रा" वाला देश होने के कारण अमरीका एक गैर-जिम्मेदार देश की भूमिका भी प्रस्तुत कर सकता है। ऐसी भी अटकलें लगायी जा रही हैं कि अमरीका यूरोपियन मुद्रा से यूरोप में नये कारखाने स्थापित कर रहा है तथा यूरोप के उद्योगपतियों को बड़े स्तर पर ऋण प्रदान करके उसके डालर-कोषों में और अधिक वृद्धि कर रहा है।

ऐसी बात नहीं है कि अमरीका में इन सबके विरुद्ध कोई उपाय नहीं किये जा रहे हों। 1964 में वहाँ की सरकार ने ब्याज समानीकरण कर (Interest Equalization Tax) लगाया और 1965 में विनियोग में ऐच्छिक कटौती (Voluntary Investment Curbs) लागू की गयी। परन्तु इन उपायों का प्रभाव अत्यन्त सीमित रहा और अमरीका के प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन का *क्रम जारी रहा। 1967 के अन्त में इस बात पर बल दिया गया कि उक्त संकट से बचने हेतु* कठोर कदम उठाये जायें। फेडरल रिजर्व बोर्ड के अध्यक्ष मिस्टर मार्टिन जूनियर ने 1968 के प्रारम्भ में कहा कि अमरीका के भुगतान-सन्तुलन की अविरत एवं बड़े आकार की बाकी न तो वांछनीय है और न ही सहनीय। उन्होंने कहा कि इस प्रकार का भुगतान-असन्तुलन अविरत रूप से अमरीका के रिजर्व कोषों में कमी करके तथा/अथवा अन्य देशों के प्रति अमरीका की तरल देय राशि में वृद्धि द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय तरलता स्थिति को दूषित कर देता है। उन्होंने कहा, "हमारी विशुद्ध साधन-स्थिति (Net Worth) में सुधार के होते हुए भी निरन्तर बिगड़ती हुई तरलता-स्थिति दीर्घकाल तक चलाना सम्भव नहीं है। एक रिजर्व मुद्रा के रूप में विश्व के सभी देश डालर जमा करना चाहते हैं। यह स्वाभाविक है कि डालर के धारकों का ध्यान हमारे स्वर्ण तथा अन्य कोषों पर हो तथा वे यह अपेक्षा करें कि हम अपनी *अल्पकालीन* देनदारियों एवं तरल कोषों के बीच एक उचित सम्बन्ध ठीक उसी प्रकार बनाये रखेंगे जिस प्रकार कि जमाकर्ता उनके बैंकों के रिजर्व कोषों एवं जमा की राशि के बीच सम्बन्ध बनाये रखते हैं।"

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता यह है कि अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान तो अमरीकी डालर के रूप में किये जाते हैं अथवा ब्रिटिश पौण्ड के रूप में। इन्हीं दोनों मुद्राओं के रूप में अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय कोष भी रखे जाते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि इन मुद्राओं की स्थिति में परिवर्तन होने पर अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सौदों पर कितना व्यापक प्रभाव हो सकता है परन्तु यह एक महत्वपूर्ण बात है कि विभिन्न देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सौदों के निपटारे हेतु रिजर्व-मुद्राओं का वास्तविक उपयोग होना आवश्यक नहीं है। यही नहीं विभिन्न मुद्राओं तथा उनसे सम्बद्ध देशों के विदेशी व्यापार के बीच कोई सम्बन्ध नहीं है। डालर तथा स्टर्लिंग को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का स्तर अमरीकी या ब्रिटिश संसद अथवा ईश्वरीय शक्ति द्वारा प्राप्त नहीं हुआ अपितु इन्हें यह गौरव इसलिए प्राप्त हुआ कि अन्य साधनों की अपेक्षा इनमें विभिन्न विदेशी सरकारी संस्थाओं एवं विदेशी व्यवसायियों की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करने की अधिक क्षमता विद्यमान थी।

जैसा कि सर्वविदित है ऐतिहासिक दृष्टि से औद्योगिक क्रान्ति का लाभ सर्वप्रथम इंगलैण्ड ने उठाया था। जहाँ इंगलैण्ड औद्योगिक कच्चे एवं खाद्यान्न आदि का एक प्रमुख आयातकर्ता देश था इंगलैण्ड के कारखानों में निर्मित वस्तुएँ इंगलैण्ड के साम्राज्य में स्थित सभी देशों को भेजी जाती थीं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तथा वर्तमान शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ब्रिटेन द्वारा विश्व के अनेक देशों को पूंजी का भी निर्यात किया गया। पूंजी-विनियोग तथा व्यापार के कारण पौण्ड स्टर्लिंग सर्वव्यापी था तथा अधिकांश देशों के लिए अपने अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान को स्टर्लिंग में करना ही सुविधाजनक भी था। स्टर्लिंग को भविष्य के लिए सुरक्षित कोष के रूप में रखना भी उपयुक्त माना गया। अनेक स्थितियों में तो इसे स्वर्ण की अपेक्षा भी प्राथमिकता दी गयी क्योंकि स्टर्लिंग का विनियोग करने पर ब्याज द्वारा आय हो सकती थी जबकि स्वर्ण के कोषों से इस प्रकार की कोई आय होना सम्भव नहीं था। परन्तु प्रथम महायुद्ध काल में ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था को एक भारी धक्का लगा एवं इसके साथ ही पौण्ड स्टर्लिंग का प्रभाव भी समाप्त हो गया।

अमरीकी डालर का एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के रूप में अभ्युदय प्रथम महायुद्ध के समय से ही हुआ, जबकि अमरीका की भूमिका यूरोपियन पूंजी के आयातकर्ता के स्थान पर तैयार वस्तुओं व पूंजी के निर्यातकर्ता के रूप में परिवर्तित हो गयी। इस अवधि में अमरीकी सरकार ने अपने उन मित्र देशों को काफी साख प्रदान की जो युद्ध के समय अमरीका व इंगलैण्ड के साथ रहे थे। विदेशी वित्तीय संस्थाओं में डालर की राशि में काफी वृद्धि हुई तथा अधिकांश यूरोपियन देशों ने उनके डालर कोषों की सुरक्षा हेतु किसी न किसी प्रकार का विनिमय नियन्त्रण अपना लिया। यूरोप के केन्द्रीय बैंकों ने अपनी मुद्राओं को स्वर्ण में परिवर्तित करने की प्रवृत्ति पर रोक लगा दी और इस प्रकार स्वर्णमान से विचलन प्रारम्भ कर दिया। इसके विपरीत, अमरीका ने डालर की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता की नीति जारी रखी। इसके फलस्वरूप अन्य देशों के केन्द्रीय बैंकों को इस बात की प्रेरणा मिली कि वे डालर को भी स्वर्ण की भाँति ही एक रिजर्व कोष में रखें। इसके अतिरिक्त यूरोप के देशों ने उपभोक्ताओं के लिए अथवा युद्ध-ग्रस्त अर्थ-व्यवस्था में सुधार करने हेतु भारी मात्रा में अमरीकी वस्तुओं का आयात किया। चूंकि अमरीका की अर्थ-व्यवस्था को युद्ध काल में कोई क्षति नहीं हुई थी अमरीका इस बढ़ी हुई माँग को पूरा करने में पूर्णतः समर्थ था। अमरीका ने औद्योगिक क्षमता का विस्तार होता चला गया तथा उसकी अर्थ-व्यवस्था एवं साथ ही डालर की महत्ता में वृद्धि होती चली गयी।

द्वितीय महायुद्ध ने पौण्ड व डालर को पृथक् पृथक् रूप में प्रभावित किया। इंगलैण्ड की अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय स्थिति काफी बिगड़ती गयी और इससे पौण्ड स्टर्लिंग का महत्व भी काफी घट गया यद्यपि इसके बावजूद पौण्ड स्टर्लिंग का क्षेत्र अनेक देशों में रिजर्व मुद्रा के रूप में विद्यमान रहा। इसके विपरीत अमरीका की बाह्य वित्तीय स्थिति और भी सुदृढ़ हो गयी। युद्ध में ध्वस्त यूरोपियन देशों के आर्थिक पुनर्निर्माण हेतु अमरीकी वस्तुओं की माँग में और अधिक वृद्धि हुई।

अमरीका के विदेशी सहायता के सफल प्रयासों तथा यूरोपियन देशों के अपनी अर्थ-व्यवस्था के पुनर्निर्माण हेतु अपनायी गयी नीतियों के फलस्वरूप यूरोप व अमरीका के बीच द्वितीय महायुद्ध जनित भुगतान असन्तुलन में धीरे धीरे सुधार हो गया। पाँचवें दशक की समाप्ति तक यूरोपियन देशों की सरकारी डालर कोषों की जमा राशि सन्तोषजनक स्तर तक पहुँच चुकी थी।

पूंजी का बहिर्गमन खतरनाक है क्योंकि इसके साथ उस मुद्रा के सम्बन्ध में सट्टेबाजों की गतिविधियों में वृद्धि हो जाती है। यह निष्कर्ष इस मान्यता पर आधारित है कि देश में विनिमय-नियन्त्रण नहीं है। इन सब दबावों के कारण मुख्य मुद्राओं की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचता है तथा यह आवश्यक समझा जाने लगता है कि व्यापार एवं अन्तर्राष्ट्रीय कार्यकलापों पर नियन्त्रण लगाये बिना स्थिति में सुधार नहीं हो सकता। इनके फलस्वरूप मुद्रा विशेष में अस्थिरता, विनिमय-नियन्त्रण, द्विपक्षीय व्यापार समझौते एवं विश्व-समृद्धि का ह्रास आदि दुष्परिणाम सामने आ सकते हैं।

अधिक अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की आवश्यकता
[NEED FOR MORE INTERNATIONAL LIQUIDITY]

पिछले 25 वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लगभग चार गुना हो गया है जबकि रिजर्व कोषों में केवल 60 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई है। परिणामस्वरूप व्यापार एवं आर्थिक विकास को सुविधाजनक बनाने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की आवश्यकता काफी बढ़ गयी है।

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं वर्तमान तरलता की समस्या का मूल कारण संयुक्त राज्य अमरीका के अविरत रूप से चले आ रहे वृहत् भुगतान-असन्तुलन में निहित है। इस समस्या को और अधिक गम्भीर बनाने में ब्रिटेन की भुगतान-सन्तुलन की अनिश्चित स्थिति ने भी काफी योगदान दिया है परिणामस्वरूप आज विश्व के देश ब्रेटनवुड्स व्यवस्था (जिसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एवं विश्व-बैंक की स्थापना की गयी है) की उपादेयता पर पुनर्विचार करने लगे हैं। यही नहीं स्वर्ण विनिमयमान को बनाये रखने हेतु स्वर्ण की पूर्ति भी पर्याप्त नहीं है। विश्व के अधिकांश देश आज पूर्ण रोजगार एवं द्रुत आर्थिक प्रगति के लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु कृतसंकल्प दिखायी देते हैं। इस बढ़ते हुए अभाव को केवल अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के विस्तार द्वारा पूरा किया जा सकता है। 1958 में प्रोफेसर रॉबर्ट ट्रिफिन ने बताया कि उसके पूर्व के दशक में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार 3 प्रतिशत की वार्षिक दर से हुआ जबकि स्वर्ण के उत्पादन में केवल 1½ प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई थी। इस कमी की पूर्ति हेतु विश्व के अधिकांश देशों ने स्वर्ण की अपेक्षा डालर का उपयोग प्रारम्भ कर दिया जिसके परिणामस्वरूप डालर का संग्रह बढ़ाया जाने लगा। एक शंका यह उत्पन्न होने लगी कि डालर की अनिश्चित काल तक पर्याप्त पूर्ति भी उपलब्ध हो सकेगी अथवा नहीं। अगस्त 1971 में संयुक्त राज्य अमरीका ने 1934 में निर्धारित 35 डालर प्रति औंस की दर पर से डालर की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता को समाप्त कर दिया, परिणामस्वरूप डालर के प्रति अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में विद्यमान आस्था भी कम होने लगी।

जैसा कि ऊपर बताया गया है अन्तर्राष्ट्रीय तरलता सम्बन्धी कठिनाइयाँ बहुधा अमरीकी डालर एवं ब्रिटिश पौण्ड की दुर्बलता के रूप में प्रतिबिम्बित होती हैं तथा इन दोनों मुद्राओं की क्षीण होती हुई शक्ति के साथ-साथ स्वर्ण की माँग में वृद्धि होती जाती है। यह सर्वविदित है कि अनेक वर्षों से अमरीका व इंगलैण्ड के मौद्रिक अधिकारी परस्पर सहयोग से कार्य करते रहे हैं। जब नवम्बर 1967 में पौण्ड का अवमूल्यन हुआ तो अमरीकी डालर की माँग बढ़ने लगी। चूँकि अगस्त 1971 तक डालर स्वर्ण के रूप में परिवर्तनीय था, अतः पौण्ड स्टलिंग के अवमूल्यन एवं डालर पर बढ़ते हुए दबाव के फलस्वरूप 1967 के अन्तिम महीनों में अमरीका के स्वर्ण-कोष में काफी कमी हो गयी। जहाँ 1949 में अमरीका के पास लगभग 250 करोड़ डालर के मूल्य का स्वर्ण-कोष था मार्च 1968 तक स्वर्ण-कोष की मात्रा 114 करोड़ डालर ही रह गयी। इसके साथ ही अमरीका की डालर को स्वर्ण में बदलने की सामर्थ्य भी कम हो गयी और अन्ततः, जैसा कि ऊपर बताया गया है अगस्त 1971 में डालर की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता को समाप्त कर दिया गया।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का अभाव एक वास्तविक समस्या है और जब तक स्वर्ण-कोषों में पर्याप्त वृद्धि नहीं हो जाती, विद्यमान मौद्रिक कोषों पर दबाव और अधिक बढ़ता जायगा जिसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं पूंजी के प्रवाहों पर प्रतिकूल प्रभाव होगा।

इन्हीं कारणों से पिछले कुछ वर्षों में विश्व के बड़े-बड़े मुद्रा विशेषज्ञ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष

की संरचना के अन्तर्गत ही अथवा इनमें कुछ परिवर्तन करके अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि करने हेतु किसी सूत्र (formula) की खोज में है। विभिन्न विशेषज्ञों ने अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की बढ़ती हुई समस्या के निदान हेतु निम्न सुझाव दिये है :

1. स्वर्ण का अधिमूल्यन (हैरॉड प्लान),
2. ट्रिफिन प्लान,
3. बर्नस्टीन प्लान,
4. स्टाम्प प्रस्ताव,
5. मोल्डिंग योजना,
6. स्वर्ण पूल बनाना,
7. मैकमिलन योजना,
8. रोसा योजना, तथा
9. विशिष्ट आहरण अधिकार।

इन सभी प्रस्तावों के औचित्य एवं व्यावहारिकता के विषय में आर. जेड. अलिबर (R. Z. Aliber) ने लिखा है, "इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये सभी प्रस्ताव व्यावहारिक हैं, परन्तु शर्त यह है कि इनसे सम्बद्ध देश परस्पर वह छूट देने को तैयार हो जो इन प्रस्तावों की कार्यान्विति हेतु आवश्यक है। परन्तु फिर एक प्रश्न उठता है कि इन प्रस्तावों में से किसकी कार्यान्विति द्वारा कम से कम छूट देकर सदस्य देश पर्याप्त तरलता प्राप्त कर सकते है।"[1] अब हम उपरिवर्णित प्रस्तावों की समीक्षा प्रस्तुत करेंगे

1 स्वर्ण का अधिमूल्यन (Revaluation of Gold) या हैरॉड प्लान—*सर रॉय हैरॉड (Sir Roy Harrod) ने अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या का एक सरल समाधान स्वर्ण के अधिमूल्यन के रूप में बताया है। यह प्रस्ताव फ्रांस के इस प्रस्ताव के अनुरूप है कि स्वर्ण के डालर* मूल्य में वृद्धि कर दी जाय। 1934 से स्वर्ण का मूल्य डालर से सम्बद्ध है और इस अवधि में स्वर्ण का निरपेक्ष या वास्तविक मूल्य लगभग दुगना हो गया है। हैरॉड ने इसी आधार पर सुझाव दिया है कि डालर के रूप में स्वर्ण का मूल्य 70 डालर प्रति औंस कर दिया जाय, जो स्वर्ण के वर्तमान मूल्य (लगभग 35 डालर प्रति औंस) से दुगना है। इसका यह अर्थ हुआ कि हैरॉड प्लान के अनुसार डालर का 50 प्रतिशत अवमूल्यन किया जाना चाहिए। रूफ प्लान के अन्तर्गत भी स्वर्णमान के पुनर्स्थापन हेतु स्वर्ण के मूल्य में वृद्धि होनी चाहिए।

साधारणतया इस सन्दर्भ में दो प्रमुख विचारधाराएँ व्यक्त की जाती हैं। प्रथम विचारधारा के अनुसार विश्व में *1934 से अब तक वस्तुओं तथा धातुओं (स्वर्ण, चाँदी व ताँबा) के सामान्य मूल्य-स्तर दुगने से अधिक हो गये हैं। स्वर्ण का उत्पादन अब अधिक लाभदायक नहीं रह गया है* क्योंकि इसका मूल्य 1934 में निर्धारित स्तर पर ही स्थिर रह गया है जबकि इसकी उत्पादन-लागत में वृद्धि होती जा रही है। विश्व के मौद्रिक कोषों में स्वर्ण की मात्रा में उत्पादन के ह्रास के कारण वृद्धि होने में अवरोध उत्पन्न हो गया है तथा इसके साथ ही साथ स्वर्ण का सट्टा हेतु बढ़ता हुआ उपयोग भी स्वर्ण के अन्तर्राष्ट्रीय कोषों में कमी आ रही जड़ता के लिए उत्तरदायी है। हैरॉड की ऐसी मान्यता है कि स्वर्ण के मूल्य में वृद्धि करने से स्वर्ण-कोषों में वृद्धि होगी और फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में भी वृद्धि हो जायगी। इसके अतिरिक्त स्वर्ण के मूल्य में वृद्धि होने पर सट्टा सम्बन्धी गतिविधियाँ भी कम हो जायेंगी।

परन्तु स्वर्ण के मूल्य में वृद्धि करने के विरोध में भी अनेक तर्क दिये जाते हैं। *सर्वप्रथम प्रश्न तो यह है कि स्वर्ण के मूल्य में वर्तमान स्तर से कितनी अधिक वृद्धि की जाय? जैसा कि* आज हम देखते हैं, स्वर्ण का मूल्य 38 डालर प्रति औंस करने पर (थोड़ी-सी मूल्य-वृद्धि करने पर) यह आशा बँधने लगी है कि स्वर्ण के मूल्य में वृद्धि होगी। इसके फलस्वरूप निजी व सरकारी दोनों

---

1 R. Z. Aliber, "The Adequacy of International Liquidity" in *Monetary Management*, p. 472.

मे विद्यमान डालर का स्वर्ण के रूप मे सट्टे हेतु परिवर्तन होगा। इसके विपरीत, स्वर्ण के मूल्य मे बहुत अधिक वृद्धि करने पर निजी स्वर्णकोषो के मूल्य मे ही वृद्धि नही होगी अपितु केन्द्रीय बैंको को भी उनके स्वर्ण-कोषो के मूल्य म वृद्धि होने के कारण अधिक मुद्रा निर्गमित करने की प्रेरणा प्राप्त होगी। इसके फलस्वरूप विश्व के विभिन्न दशो म मुद्रा-प्रसार की स्थिति प्रारम्भ हो जायगी। इसीलिए बहुधा यह तर्क दिया जाता है कि चूंकि स्वर्ण-कोष विनिमय के माध्यम एव अर्थ के सचय मे योग देते है स्वर्ण का मूल्य स्थिर रहना चाहिए।

इसके साथ ही एक महत्वपूर्ण प्रश्न और भी उठता है। क्या सयुक्त राज्य अमरीका का भुगतान-असन्तुलन आधारभूत है? पिछले पच्चीस वर्षो मे हुई घटनाओ स स्पष्ट है कि ऐसा नही है। वास्तव म चालू खाते म सयुक्त राज्य अमरीका की बाकी हमेशा अनुकूल रही है। ऐसी स्थिति म यदि डालर का अवमूल्यन किया जाता है तो अमरीका के चालू खाते की अनुकूल बाकी बहुत अधिक हो जायगी जो सम्भवत अन्य देशो को सह्य न हो। इसके लिए यह भी आवश्यक होगा कि डालर के साथ-साथ अन्य देशो की मुद्राओ का भी अवमूल्यन किया जाय अथवा स्वर्ण क मूल्य को स्थिर रखते हुए डालर के मूल्य को यथावत् रखा जाय।

एक तर्क यह भी दिया जाता है कि स्वर्ण क अधिमूल्यन का लाभ मुख्य रूप से उन दशो को प्राप्त होगा जो स्वर्ण का उत्पादन करते हैं जैसे दक्षिण अफ्रीका एव सोवियत रूस। राजनीतिक दृष्टि से दक्षिण अफ्रीका की आर्थिक शक्ति बढने पर रग भेद की नीति को और अधिक प्रोत्साहन मिलेगा जबकि सोवियत रूस की आर्थिक शक्ति का विस्तार सयुक्त राज्य अमरीका ब्रिटेन, साम्यवादी चीन आदि देशो के लिए एक सिरदर्द बन जायगा। फिर स्वर्ण के मूल्य मे 35 या 38 डालर प्रति औंस मे वृद्धि करके 70 डालर कर देने से तरलता का बहुत अधिक विस्तार हो जाने की आशका है जिसके फलस्वरूप मुद्रा-प्रसार को बल मिल सकता है। परन्तु इसके विपरीत यदि स्वर्ण के मूल्य म धीरे धीरे वृद्धि की जाय तो जैसा कि ऊपर बताया गया है, स्वर्ण के भावी मूल्य पर अटकलें लगायी जायेंगी तथा सट्टे की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा। इन्ही सब कठिनाइयो व आशकाओ के कारण हेरॉड प्लान को अधिक समर्थन प्राप्त नही हो सका।

2 **ट्रिफिन प्लान (Triffin Plan)**—इस प्लान के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक केन्द्रीय बैंक प्रणाली लागू करने का प्रस्ताव है। येल विश्वविद्यालय के प्रोफेसर रॉबर्ट ट्रिफिन ने यह प्रस्ताव रखा है। यह प्रस्ताव लॉर्ड कीन्स के उस सुझाव पर आधारित है कि विश्व की भुगतान सम्बन्धी समस्याओ के हल हेतु एक अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन सघ (International Clearing Union) की स्थापना होनी चाहिए। ट्रिफिन का सुझाव है कि पृथक्-पृथक् दो अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा विश्व-बैंक—के स्थान पर एक अन्तर्राष्ट्रीय सस्था स्थापित की जाय तथा समस्त कोषो को सम्मिलित कर दिया जाय ताकि अतिरिक्त कोषो के सृजन के बिना ही विश्व के सुरक्षित कोषो के परिमाण म वृद्धि की जा सके। यह नया कोष, जिसे साधारणतया XIMF कहा जाता है, उसी दर से साख का सृजन करेगा जिस पर विश्व की अर्थ-व्यवस्था का विकास हो रहा है। परन्तु साधारण रूप से साख सृजन की दर 3 से 5 प्रतिशत रखने का सुझाव दिया गया है। ट्रिफिन न यह भी सुझाव दिया कि भविष्य मे XIMF मुद्रा या बैंकोर (BANCOR) को ही रिजर्व मुद्रा के रूप में प्रयुक्त किया जाय।

परन्तु ट्रिफिन-प्लान की भी काफी आलोचना की गयी है। आलोचको का कथन है कि—

(i) इस व्यवस्था से भी मुद्रा-प्रसार की आशका है,

(ii) यह प्रस्ताव इसलिए अव्यावहारिक है कि इसमे केन्द्रीय बैंको की प्रभुसत्ता को समाप्त करके विश्व-सस्था को समस्त अधिकार प्रदान करने की बात कही गयी है। केन्द्रीय बैंक किसी भी मूल्य पर अपनी प्रभुसत्ता का परित्याग करना चाहेंगे, तथा

(iii) यह प्लान "अल्प समय मे ही बहुत कुछ करने" की आशा पर आधारित है। विश्व की मौद्रिक व्यवस्था मे इतना बडा परिवर्तन केवल दीर्घकाल मे ही लाया जा सकता है।

3 **बर्नस्टीन प्लान (Bernstein Plan)**—ई एम बर्नस्टीन (जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के आर्थिक सलाहकार हैं) ने मुद्रा-कोष की वर्तमान सरचना के अन्तर्गत ही अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के विस्तार हेतु एक प्रस्ताव रखा है। बर्नस्टीन ने अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की मांग को दो भागो मे

कहा जा सकता है कि मोल्डिंग योजना केवल अल्पकालीन समस्याओं का निदान कर सकती है तथा प्रमुख मुद्राओं पर अल्पकालीन दवाव कम कर सकती है।

6 **स्वर्ण-पूल (Gold Pool)**—यूरोप के केन्द्रीय बैंक इस दिशा में प्रयास कर रहे हैं कि 25 करोड डालर के मूल्य का एक स्वर्ण-पूल बनाया जाय। उनकी ऐसी योजना है कि इस स्वर्ण का उपभोग खुले बाजार में स्वर्ण के भावों में होने वाले उतार-चढावों पर नियन्त्रण हेतु किया जाय। खुले बाजार में स्वर्ण का मूल्य बहुत ऊँचा होने पर इस पूल में से स्वर्ण बेचा जाय तथा स्वर्ण का मूल्य बाजार में कम होने पर इस पूल में बाजार से स्वर्ण खरीदकर जमा किया जाय। स्वर्ण का मूल्य 35 डालर प्रति औंस पर स्थिर रखने का प्रावधान रखा गया। मिस्टर रॉबर्ट रोसा, अमरीकी भूतपूर्व वित्त उपमन्त्री, ने एक आपातकालीन मुद्रा-कोष (currency swap) का सृजन करने का प्रस्ताव रखा जिसके अनुसार अमरीका ने यूरोप की मुद्राओं का एक सुरक्षित कोष बनाना प्रारम्भ कर दिया है ताकि समय-समय पर डालर एवं अमरीका के स्वर्ण-कोषों पर पड़ने वाले दवाव को वहन किया जा सके। परन्तु विशेषज्ञों की ऐसी मान्यता है कि ये सब तदर्थ (ad hoc) विधियाँ हैं। विश्व के कुछ देशों में आज मन्दी के आसार दिखायी देने लगे हैं और उपर्युक्त विधियाँ न तो मन्दी को रोकने में सहायक हो सकेंगी और न ही अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या का समाधान प्रस्तुत कर सकेंगी। प्रो दूधा के अनुसार यदि सामान्य कीन्सियन विधियों का उपयोग किया जाना है तो यह और भी आवश्यक हो जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पूर्ति में वृद्धि की जाय।[1]

7. **जेक्सन योजना (Jacobson Plan)**—मिस्टर जेक्सन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के एक भूतपूर्व प्रबन्ध-सचालक, ने बनस्टीन प्लान के अनुरूप ही एक योजना प्रस्तुत की है जिसके अनुसार पर्याप्त अतिरेक वाले देशों के पास तैयार कोष रखने का प्रावधान है जिसका घाटे वाले देशों के लिए तुरन्त उपयोग किया जा सके। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के अतिरिक्त विश्व की प्रमुख मुद्राओं का एक कोष रखकर इन पर होने वाले दवाव को कम किया जा सकता है। उक्त योजना के अनुसार घाटे वाले देशों के लिए इस कोष का उपयोग करने का प्रस्ताव है।

सिद्धान्तत यह योजना बड़े देशों ने स्वीकार कर ली है तथा प्रमुख मुद्राओं का 6 अरब डालर मूल्य का एक कोष भी बना लिया गया है। इस कोष को 'ऋणदाता क्लब' का नाम दिया गया है तथा इसमें बारह प्रमुख देश सम्मिलित हुए हैं। किन शर्तों पर किसी विशिष्ट मुद्रा के रूप में ऋण दिया जायगा, इसका निर्णय ऋण देने वाले देश पर छोड़ दिया जायगा। इसका यह अर्थ हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की प्रभुसत्ता का एक अंश अब इस क्लब द्वारा अधिग्रहण कर लिया गया है। फिर भी, यह तो केवल समय ही बतायेगा कि ऋणदाता क्लब किस सीमा तक अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की दीर्घकालीन समस्या के निदान में सहायक हो सकता है।

8 **रोसा योजना (The Roosa Plan)**—1962 की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की वार्षिक बैठक के अवसर पर अमरीका के भूतपूर्व वित्त-उपमन्त्री रॉबर्ट रोसा ने भी अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि हेतु एक योजना प्रस्तुत की। उनकी इस योजना के अनुसार भविष्य में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि हेतु किसी सीमा तक स्वर्ण की मात्रा में वृद्धि करनी होगी तथा किसी सीमा तक सुरक्षित केन्द्रों (reserve centres) की स्थापना करनी होगी। जिस प्रकार आज के स्वर्ण-विनिमयमान के अन्तर्गत विभिन्न देश अपने विदेशी कोषों को दो मुख्य मुद्राओं—डालर व स्टर्लिंग पौण्ड—के रूप में रख सकते हैं और जिस प्रकार इन मुद्राओं की पूर्ति में हुई वृद्धि ने अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि की है, रोसा योजना के अन्तर्गत भविष्य में विभिन्न देश अपने सुरक्षित कोष (Reserve Fund) डालर व पौण्ड स्टर्लिंग के अतिरिक्त अन्य मुद्राओं के रूप में रखने को स्वतन्त्र होंगे। दूसरे शब्दों में, रॉबर्ट रोसा की योजना ट्रिफिन योजना से भिन्न है। यह स्मरणीय है कि ट्रिफिन योजना के अन्तर्गत राष्ट्रीय मुद्राओं को अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षित कोषों के रूप में रखना खतरनाक है क्योंकि, जैसा कि ट्रिफिन ने कहा था, इससे अल्पकालीन कोषों में सट्टे हेतु प्रभाव में वृद्धि होने की आशंका है। इसे ट्रिफिन ने गर्म मुद्रा (hot money) की संज्ञा देते हुए कहा कि इस मुद्रा का सट्टे हेतु उपयोग उन देशों के बीच होगा जिनकी मुद्राएँ रिजर्व हेतु प्रयुक्त की जानी हैं। रोसा ने न केवल इस व्यवस्था

---

1 R. D Doodha, *Economic Relations in International Trade*, p. 226.

का अनुमोदन किया अपितु इसका उपयुक्त रूप में विस्तार करने का भी सुझाव दिया और डालर व पौण्ड के अतिरिक्त अन्य मुद्राओं का भी इस योजना हेतु उपयोग करने का आह्वान किया ताकि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या की गम्भीरता कम हो सके।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना के बाद यह अपेक्षा की गयी थी कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या का काफी सीमा तक समाधान हो जायेगा। परन्तु यह अपेक्षा पूरी नहीं हो सकी। ऐसा अनुभव किया जाने लगा कि विरोधी राजनीतिक धारणाओं के कारण सभी देश एक कठोर व्यवस्था से बँधने को तैयार नहीं थे। ऐसी दशा में दो प्रमुख प्रश्न उपस्थित हुए : (i) विनिमय-दरों में कितना लचीलापन रखा जाय ? (ii) रिजर्व कोषों का स्वरूप क्या हो तथा उनकी भूमिका क्या हो ?

जहाँ प्रथम प्रश्न के समाधान हेतु विभिन्न देशों ने स्थिर परन्तु समायोजन योग्य विनिमय दरों का फार्मूला स्वीकार करते हुए मुद्रा-कोष के तत्वावधान में मुद्राओं को प्रवाहित (float) करने की सहमति जताई, वहीं रिजर्व कोषों के नये स्वरूप की आवश्यकता को अनुभव करते हुए डालर के स्थान पर अन्य किसी विकल्प को प्रतिस्थापित करने का निश्चय किया गया। वस्तुतः बहुत से देश अपने कोष डालर में रखने का विरोध कर रहे थे, क्योंकि उन्हें आशंका थी कि भविष्य में डालर का अवमूल्यन हो सकता है। इसीलिए सातवें दशक में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को बढ़ाने हेतु विशेष *आहरण अधिकारों (SDR) का सृजन किया गया। इस अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा 1970 में पहली बार सदस्य देशों को आवंटन किया गया।*[1]

9. विशेष आहरण अधिकार (Special Drawing Rights)—इस नवीन व्यवस्था के माध्यम से पिछले कुछ वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में पर्याप्त वृद्धि की गयी है। हमने ऊपर यह देखा था कि ट्रिफिन योजना के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को *यह अधिकार दिया जाना था कि वह आवश्यकता वाले देशों को नयी मुद्रा उपलब्ध कराने हेतु सामान्य बैंकिंग व्यवस्था के अन्तर्गत ही आवश्यक कदम उठाये। यह अधिकार उस परम्परागत विधि से भिन्न था जिसके* अनुसार पूर्व-निर्धारित फार्मूले के अन्तर्गत प्रत्येक देश को निश्चित मात्रा में विदेशी मुद्रा उपलब्ध कराने का प्रावधान था। परन्तु 1966 में एमिंजर ग्रुप (Emminger Group) ने दस बड़े देशों तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को प्रस्तुत एक रिपोर्ट में इस योजना को ठुकरा दिया तथा इसे निकट भविष्य में कार्यान्विति के योग्य न मानते हुए लिखा, "हम इस बात से सहमत हैं कि विभिन्न देशों के प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन को ठीक करने हेतु जानबूझ कर कोई रिजर्व नहीं बनाया जाना चाहिए।"[2] इसके विपरीत, यह उपयुक्त माना गया कि "अतिरिक्त रिजर्व साधनों का वितरण किसी पूर्व-सम्मत सामान्य फार्मूले (उदाहरण के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के कोटे) के अनुसार होना चाहिए।"

जून 1966 में दस बड़े देशों के मन्त्रियों एवं गवर्नरों की हेग (Hague) में आयोजित बैठक में एमिंजर रिपोर्ट प्रस्तुत की गयी तथा उसी वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की वार्षिक बैठक में इस पर विचार किया गया। सभी प्रकार के विचारों के परीक्षण के बाद अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की सितम्बर 1967 में रियो द जनेरो (ब्राजील) में आयोजित बैठक में विशेष आहरण अधिकार (SDR's) लागू करने हेतु अन्तिम निर्णय लिया गया।

SDR की स्थापना एवं इसकी व्यावहारिक रूप में कार्यान्विति को अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि माना गया है तथा ऐसा माना जाने लगा है कि इन अधिकारों ने अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को बढ़ाने में काफी सहायता की है। रॉय जेंकिन्स (Roy Jenkins) का यह कथन सच ही प्रतीत होता है, "मौद्रिक व्यवस्था के विकास में SDR के महत्वपूर्ण योगदान ने अतिरिक्त विश्व की जटिल परन्तु वास्तविक समस्याओं के समाधान हेतु अन्त-

1 Leonard Gold, *International Economic Problems*, (1978), pp. 111-114.
2 Emminger Report, paras 37 and 98 (4), quoted by Brian Tew, *International Monetary Cooperation, 1945-1967*, (1967), p. 216.

राष्ट्रीय सहयोग का भी ये अधिकार एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।" SDR 'प्रशासन के माध्यम से सुरक्षित-सृजन" (reserve creation through administration) के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का प्रबन्ध करने की नीति पर आधारित है। यह व्यवस्था ठीक उस घरेलू नीति के अनुरूप है जिसके अन्तर्गत कोई सरकार मुद्रा-स्फीति को टालते हुए देश के विकास हेतु वित्तीय प्रबन्ध करती है।

SDR के अन्तर्गत मुद्रा-कोष के प्रत्येक सदस्य देश को उसके कोटे के अनुपात में विशेष आहरण अधिकार दिये जायेंगे। इस व्यवस्था के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के अन्तर्गत एक पृथक खाता खोला जायगा। मुद्रा-कोष के पास अब दो खाते होंगे। एक में तो मुद्रा-कोष के सामान्य लेन-देन का विवरण होगा जबकि दूसरे में SDR से सम्बद्ध लेखा-जोखा होगा। इस प्रकार मुद्रा-कोष के साधारण साधनों से भिन्न तौर पर SDR के लिए नये स्रोतों से साधन जुटाये जायेंगे और इनका विवरण भी इसी प्रकार अलग रूप में होगा। दूसरे शब्दों में, यह व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के माध्यम से विभिन्न देशों के खातों का हिसाब चुकता करने हेतु लागू की गयी है परन्तु इस प्रक्रिया में न तो स्वर्ण का उपयोग किया जाता है और न ही पत्र-मुद्रा का। SDR से सम्बद्ध निम्न प्रावधान महत्वपूर्ण हैं

(i) इनमें भाग लेने वाले देश को उनके मुद्रा-कोष में विद्यमान कोटे के अनुरूप विशेष आहरण अधिकार दिये जायेंगे तथा उसके खाते में यह अधिकृत राशि दर्ज कर दी जायगी,

(ii) ये विशेष आहरण अधिकार एक बार में पाँच वर्ष के लिए दिये जायेंगे,

(iii) भाग लेने वाले देशों को यह छूट होगी कि वे आपस में इन विशेष आहरण अधिकारों व अपनी मुद्राओं का विनिमय कर लें,

(iv) सदस्यों को भुगतान सन्तुलन की कठिनाइयों को दूर करने या अन्य विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु इन अधिकारों का उपयोग करने की छूट होगी, परन्तु अपने मौद्रिक सुरक्षित (Reserve) मुद्रा-कोष के पास अपनी जमा राशि के स्वरूप को बदलने हेतु इनका उपयोग नहीं कर सकेंगे। इस सन्दर्भ में यह जानना महत्वपूर्ण है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की उपयुक्त उपेक्षाओं के आधार पर किसी भी सदस्य द्वारा SDR के उपयोग अथवा इसके औचित्य को चुनौती देने का अधिकार नहीं है, फिर भी मुद्रा-कोष इन अधिकारों का उचित उपयोग न करने पर किसी सदस्य देश से विरोध अवश्य प्रकट कर सकता है। SDR के प्रबन्ध हेतु मुद्रा-कोष कुछ नियमों का पालन करता है जो इस प्रकार हैं (अ) समय-समय पर मुद्रा-कोष प्रत्येक सदस्य देश की रिजर्व स्थिति, रिजर्व की सरचना तथा विशेष आहरण अधिकार की शेष राशि का मूल्यांकन करेगा, तथा (ब) मुद्रा-कोष उन देशों को अधिकृत करेगा जो "प्रतिकूल अनुपात वाले" हैं, अर्थात जिनके पास कोटों के अनुपात से कहीं अधिक स्वर्ण-कोष विद्यमान है। इन देशों को मुद्रा-कोष के पास मुद्रा जमा करनी होगी तथा इन मुद्राओं का उपयोग अन्य देशों द्वारा किया जायगा।

इन प्रस्तावों के आधार पर 3 अक्टूबर, 1967 को दस बड़े देशों के गवर्नरों ने प्रबन्ध-संचालकों की सिफारिश मानते हुए विशेष आहरण अधिकारों को प्रचलित करने का निर्णय लिया तथा साथ ही यह भी निर्णय लिया कि इन अधिकारों का आवटन विभिन्न देशों के बीच किस प्रकार होगा। जनवरी 1970 को SDR का प्रथम आवटन किया गया। इस समय तक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के 115 में से 105 देशों ने इस योजना में सम्मिलित होने हेतु सहमति व्यक्त कर दी थी। SDR का आवटन समान रूप से किया गया। प्रत्येक भाग लेने वाले देश को इसके कोटे का 16.8% प्रदान किया गया। भारत का प्रारम्भिक भाग 12.6 करोड़ डालर (94 करोड़ रुपए) का था। उसी वर्ष अक्टूबर में गवर्नरों की बैठक में यह निर्णय लिया गया कि 1 जनवरी 1971 व 1 जनवरी 1972 को आवटित राशि में वृद्धि की जायगी।

इस प्रकार प्रारम्भ में यह योजना 3 वर्ष के लिए लागू की गयी। 1970-1971 एवं 1972 क्रमशः 3½ अरब, 3 अरब व 3 अरब विशेष आहरण अधिकार आवटित किये गये। दूसरी बार 1979 से 1981 तक के तीन वर्षों में 4 बिलियन SDRs प्रतिवर्ष की दर से 12.1 बिलियन SDRs का आवटन किया गया है। इस प्रकार SDRs की अब तक कुल राशि 21.4 बिलियन SDRs है। अधिकांश देशों, मुख्यतया विकासशील देशों, द्वारा यह माँग की गयी है कि 1982 तथा बाद के वर्षों में भी योजना के अन्तर्गत आवटन किये जायें तथा इनकी राशि 8 से 10

मिलियन SDR प्रतिवर्ष हो। परन्तु अभी तक इनके लिए सहमति प्राप्त नहीं हो सकी है। बड़े औद्योगिक देश विस्तार का विरोध कर रहे हैं। उनका तर्क यह है कि इससे अन्तर्राष्ट्रीय तरलता बढ़ेगी जिससे वर्तमान मुद्रा स्फीति के दबाव बढ़ सकते हैं। परन्तु यह तर्क निराधार है।

तालिका 15 1

प्रमुख देशों की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष में रिजर्व स्थिति (वर्ष के अन्त मे)

(करोड़ SDR मे)

देश	1970	1971	1972	1973	1977	1982
स. राज्य अमरीका	1450	1210	1210	1190	1690	—
ब्रिटेन	280	810	520	540	1730	—
पश्चिमी जर्मनी	1360	1720	2190	2750	3210	—
जापान	480	1410	1690	1020	1910	—
स्विट्जरलैण्ड	510	640	700	710	1140	—
इटली	540	630	560	530	960	—
बड़े औद्योगिक देश (योग)	*6580*	*8880*	*9750*	*9600*	*13940*	*18520*
तेल-निर्यातक देश (योग)	*500*	*780*	*1000*	*1200*	*6270*	*800*
अन्य विकासशील देश (योग)	1390	1450	1990	2460	4540	7220
सभी देशों का योग	9320	12320	14680	15260	26280	34240

Source . *International Financial Statistics*, Published in IMF Annual Reports and Report on Currency and Finance, 1982-83

तालिका 15 1 मे 1970 से 31 मार्च, 1982 तक विश्व के प्रमुख देशो या देशो के समूहो मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की रिजर्व स्थिति मे हुए परिवर्तनो को दर्शाया गया है।

इस प्रकार कुल मिलाकर 1970 से 1982 के बीच मुद्रा-कोष के रिजर्व तीन गुने से भी अधिक हो गये। सर्वाधिक वृद्धि तेल निर्यातक ओपेक देशो की रिजर्व स्थिति में हुई जबकि अमरीका के सन्दर्भ मे यह वृद्धि केवल दस प्रतिशत ही रह पायी। ब्रिटेन ने भी अपनी स्थिति मे हाल के वर्षों मे काफी सुधार किया है। 1970 के बाद एक वर्ष मे ही ब्रिटेन के रिजर्व 360 करोड़ SDR से बढ़कर 1,730 करोड़ SDR हो गये।

यदि विश्व के अधिकृत सुरक्षित कोषों (Reserve Fund) की प्रगति की ओर दृष्टिपात किया जाय तो 1970 मे स्वर्ण, मुद्रा-कोष तथा देशो के विदेशी विनिमय कोषों मे कुल 9,320 करोड़ SDR के रिजर्व थे। इनमे से अमरीका के पास 1,450 करोड़ SDR के व जर्मनी के पास 1,360 करोड़ SDR के रिजर्व विद्यमान थे। जापान के पास केवल 480 करोड़ SDR के कुल रिजर्व थे। विश्व के सभी रिजर्व का मूल्य 34 240 करोड़ SDR हो गया।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि विगत कुछ वर्षों मे यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की क्षमता मे वृद्धि हुई है परन्तु कुछ देशो के पास अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राओ व स्वर्ण का अभाव काफी बढ़ा है जबकि तेल-निर्यातक ओपेक देशों के अतिरिक्त अन्य विकासशील देशों, ब्रिटेन व अमरीका की रिजर्व स्थिति मे अपेक्षाकृत बहुत ही कम सुधार हुआ है। विश्व के सभी प्रकार के सुरक्षित कोषों (Reserve Funds) मे एशिया तथा अफ्रीका के पिछड़े हुए देशों का अनुपात 1950 मे 8% था जो 1960 मे घटकर 5 प्रतिशत रह गया तथा 1982 के अन्त मे थोड़ा सा बढ़कर 7 4 प्रतिशत हो गया। इससे यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण विदेशी विनिमय एवं मुद्रा-कोष मे स्थित सुरक्षित कोषो के वितरण की विषमता मे विगत वर्षों में वृद्धि हुई है।[1]

1 IMF Annual Report, 1984.

विशेष आहरण अधिकार प्राप्त देशों की सख्या 1970 मे 105 थी जो 1971 मे बढकर 109 तथा मई 1982 मे पुन बढकर 146 हो गयी। 31 अक्टूबर, 1976 को इन देशों के कोटे की कुल राशि 2,920 करोड SDR थी। 1974 मे स्थापित की गयी मुद्रा-कोष की अन्तरिम समिति ने जनवरी 1976 मे किंगस्टन (जमैका) मे हुई बैठक म यह निर्णय किया था कि मुद्रा-कोष के कुल कोटा राशि मे 32·5 प्रतिशत वृद्धि की जाय। मुद्रा-कोष मे यह वृद्धि अप्रैल 1978 से लागू हुई है। सदस्य देशो के कोटा मे अलग-अलग वृद्धि की गयी है। इसके परिणामस्वरूप मुद्रा कोष के साधन 2,920 करोड SDR (लगभग 34 विलियन डालर)[1] से बढकर 3,900 करोड SDR हो गये है। पुन सितम्बर 1978 मे समिति ने सभी देशो की कोटा राशियो मे 50% की और वृद्धि का सुझाव दिया। अत. 1980 के अन्त तक सम्पूर्ण कोटा राशि 3,900 करोड SDR से बढकर 5 860 करोड SDR हो गयी। मुद्रा-कोष के नियमो के अन्तर्गत यह आवश्यक है कि कोटा राशियो का सामान्य पुनर्विलोकन कोष के गवर्नर मण्डल द्वारा पाँच वर्ष की अवधि मे कर लिया जाना चाहिए। फरवरी 1983 मे मुद्रा कोष की अन्तरिम समिति ने सुझाव दिया है कि कोटा राशियो मे 47·5% की वृद्धि की जाये जिससे कोटा राशि 61 विलियन SDRs से बढकर 90 विलियन SDRs हो गयी।

इन विशेष आहरण अधिकारो को कागजी स्वर्णमान भी कहा जाता है क्योकि इसमे निहित मुद्रा के पीछे सिर्फ अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहायता की भावना निहित है तथा यह मान लिया जाता कि विभिन्न देश अपने निर्यातो तथा पूँजीगत भुगतानो के लिए इसे स्वीकार कर लेंगे। सबसे अधिक मुख्य बात तो यह है कि इन भुगतानो के लिए किन्ही मुद्राओं का हस्तान्तरण नही होता अपितु इन भुगतानो का लेखा-जोखा मुद्रा-कोष के खातो मे ही किया जाता है। यही नही, इनके द्वारा विभिन्न सरकारो को यह सुविधा दी जाती है कि वे अपने निर्धारित स्वर्ण एव विदेशी विनिमय कोष मे उन्हे आवटित विशेष आहरण अधिकारो को सम्मिलित कर लें और इस प्रकार अपनी मुद्राओं की स्थिति को सुदृढ बना लें। इन विशेष अधिकारो के पीछे हाल ही के महीनो तक स्वर्ण को गारण्टी रहती थी। ऐसी व्यवस्था रखी गयी है कि जिन केन्द्रीय बैंको पर माँग का दबाव है वे उन्हें आवटित विशेष आहरण अधिकारो को अन्य केन्द्रीय बैंको को बेचकर बदले मे उनकी मुद्राएँ प्राप्त कर लें। विशेष आहरण अधिकारो को खरीदने वाले केन्द्रीय बैंक इन्हे अन्य आवश्यकता वाले केन्द्रीय बैंको को तब बेच सकते हैं जब उनकी स्वय की मुद्राओं पर माँग के दबाव मे वृद्धि होने लगती है। विशेष आहरण अधिकारो की योजना IMF तथा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था के इतिहास मे सबसे महत्वपूर्ण कदम है। यह योजना विकासशील देशो के लिए विशेषरूप से लाभप्रद हो सकती है क्योकि इन देशो के तरल कोष बहुत सीमित हैं तथा इनकी अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की माँग बहुत अधिक है। किन्तु यह कह देना अनुपयुक्त नही होगा कि जिस प्रकार से यह योजना लागू की गयी है उससे अल्पविकसित देश सन्तुष्ट नही हैं। इस योजना के अन्तर्गत SDRs का वितरण सदस्य देशो के वर्तमान कोटो के अनुपात में किया गया है अत इनका अधिकाश भाग सम्पन्न विकसित देशो को मिला है। अल्पविकसित देशो की विदेशी विनिमय की माँग अधिक है तथा न्यायपूर्ण भी है, अत SDRs का अधिकाश भाग उन्हे मिलना भी चाहिए। अब आवश्यकता इस बात की है कि भविष्य मे इनका विस्तार करके इनका आवटन इस प्रकार किया जाय कि विश्व के अल्प-विकसित राष्ट्रो को अधिक साधन सुलभ हो सकें।

विशेष आहरण अधिकारों के परिणाम
[IMPLICATIONS OF SDR'S]

हमे यह स्वीकार करना होगा कि विश्व के मुख्य देश आज समूचे विश्व मे मौद्रिक रिजर्व

---

[1] अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की व्यवस्था मे अमरीका के डालर का लेखे की इकाई (Unit of Account) के रूप मे प्रयोग किया जाता था। अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सकट की स्थिति उत्पन्न होने पर डालर का मूल्य अस्थिर हो गया तथा अब डालर के स्थान पर SDR का प्रयोग लेखे की इकाई के रूप मे किया जाने लगा है। इसका मूल्याकन विश्व की 16 प्रमुख मुद्राओ के मूल्यो मे होने वाले दैनिक परिवर्तनो के आधार पर होता था, किन्तु 1-1-1981 से 5 प्रमुख मुद्राओ के आधार पर मूल्याकन किया जाने लगा है।

बढ़ाने हेतु प्रयत्नशील है—विशेष आहरण अधिकारों के द्वारा विशेष रूप से वे देश लाभान्वित होंगे जो भुगतान सम्बन्धी कठिनाइयों, अस्थिर विनिमय दरों एवं उनकी मुद्राओं के सन्दर्भ में चल रही सट्टा प्रवृत्तियों से प्रताड़ित हैं। इसी प्रकार, इन विशेष अधिकारों से विकासशील देशों को दुहरा लाभ होगा। एक तो यह कि उनके आहरण अधिकारों में वृद्धि से उनकी अनेक समस्याओं की गुरुता कम होगी और दूसरे उन्हें विकास कार्यों के लिए पर्याप्त आर्थिक सहायता प्राप्त हो सकेगी। मिस्टर पी. पी. श्वाइजर (Schweitzer) का कथन है, *"मेरा ऐसा विश्वास है कि अब सहायता की राशि एवं क्वालिटी में पर्याप्त सुधार हो सकेगा एवं व्यापार तथा भुगतान आदि में आने वाली बाधाओं को दूर करना सम्भव होगा।"*[1]

विशेष आहरण अधिकारों की मूलयोजना के अनुसार किसी देश का औसत जमा उसे आवंटित राशि का 30% होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, किसी भी सदस्य देश द्वारा विशेष आहरण अधिकार का औसत दैनिक उपयोग किसी भी पाँच वर्ष की अवधि में इस आवंटित राशि के 70% से अधिक नहीं होना चाहिए। इसी बिना शर्त तरलता की सुविधा हेतु सदस्य देश विशेष आहरण अधिकारों की प्राप्ति से पूर्व उत्सुक थे।

परन्तु विशेष आहरण अधिकारों से अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या का पूर्ण समाधान निकल जायगा, यह मान लेना एक भूल होगी। इन विशेष अधिकारों के प्रचलन के विद्यमान रहते हुए भी स्वर्ण की प्रभुसत्ता को समाप्त करना सम्भव नहीं होगा। ये अधिकार स्वर्ण की कमी की पूर्ति करने में अवश्य सहायक हो सकते हैं। विशेष आहरण अधिकारों के विषय में प्रोफेसर पॉल एन्जिग ने कहा है कि स्वर्ण-विनिमयमान के अन्तर्गत तो स्वर्ण सारव के आधार के रूप में दो बार कार्य करता है, जबकि नवीन प्रणाली में इसका योगदान तीन बार होगा। प्रो. एन्जिग (*Prof. Einzig*) ने आगे कहा कि *स्वर्ण के स्थान पर कोई भी दूसरी व्यवस्था सामान्य परिस्थितियों में तो कार्य करेगी, परन्तु असामान्य परिस्थितियों में प्रत्येक बैंक अपने विशेष आहरण अधिकारों को न्यूनतम कर देगा। उनके मतानुसार असामान्य स्थिति में यह भी सम्भव है कि कुछ सरकारें इस योजना से स्वयं को सर्वथा पृथक् कर लें।* प्रो. एन्जिग ने लिखा, **"SDR ने अविरल रूप से मुद्रा-स्फीति को प्रोत्साहन दिया है। सम्भव है कुछ देश स्थायी भुगतान-असन्तुलन की स्थिति में आ जायें तथा आज की अपेक्षा आधारभूत मुद्राएँ एवं विनिमय और अधिक भेद्य (vulnerable) हो जायें।"**[2] इस प्रकार, जब तक स्वर्ण की प्रभुसत्ता विद्यमान है, विशेष आहरण अधिकारों के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या के पूर्ण निदान की कोई सम्भावना नहीं होगी।

परन्तु जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, "अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने स्वर्ण की प्रभुसत्ता को लगभग समाप्त करने का निर्णय लिया है। कोष के पास विद्यमान स्वर्ण में से 2.5 करोड़ औंस को चार वर्ष में ही बाजार मूल्य पर बेचने तथा 2.5 करोड़ औंस स्वर्ण को सदस्य देश को बेचने का कार्य 1976 में प्रारम्भ कर दिया गया है। इस बिक्री से प्राप्त लाभ को एक ट्रस्ट कोष में रखा जायगा। ट्रस्ट कोष में जमा SDR को अत्यधिक प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन वाले देशों की सहायतार्थ ½% ब्याज पर प्रयुक्त किया जायगा।"[3] इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि हेतु सदस्य देशों की करेन्सी को अधिक महत्व दिया जायगा। सदस्य देशों को उनकी मुद्रा की पुनः खरीद हेतु स्वर्ण के स्थान पर अन्य देशों की मुद्राएँ (उनकी स्वीकृति से) जमा कराने की छूट दी गयी है।

अस्तु, मुद्रा-कोष ने अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि हेतु पिछले कुछ वर्षों में एक ओर तो डालर के वर्चस्व को समाप्त करके विशेष आहरण अधिकारों के रूप में समस्त लेखा-जोखा प्रारम्भ किया है वहीं स्वर्ण की दुर्लभता से पीड़ित देशों की सहायतार्थ स्वर्ण-कोष के छठे भाग को बाजार में बेचना प्रारम्भ किया।

---

1 P. P. Schweitzer, quoted by John A. Kay and Peter C. Hole, "The Fund's Meeting" in *Finance and Development*, Q. No. 4, 1969, p. 11

2 Paul Einzig, *Foreign Exchange Crisis*, p. 180

3 ट्रस्ट-कोष पर विस्तृत जानकारी के लिए देखिए—'The Trust Fund", article by Ernest Sture, Finance and Development, December 1976.

कुछ अर्थशास्त्रियो की ऐसी भी मान्यता है कि इस विधि को एक आपातकालीन आयोजना के रूप मे रखा जाता तो इससे सम्भवत किसी बड़े विदेशी विनिमय सकट को टालने म सहायता मिल सकती थी । इसके फलस्वरूप अतिरिक्त तरल साधनो की सहायता से सट्टा प्रवृत्तियो को भी नियन्त्रित करना सम्भव था । परन्तु चूँकि विशेष आहरण अधिकार लागू किये जा चुके है, इस नयी विधि द्वारा उपलब्ध नये साधनो का उपयोग भी विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था की सामान्य (routine) आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु किया जाने लगा है । अन्तर्राष्ट्रीय तरलता म इतनी अधिक (सामान्य) वृद्धि एव विभिन्न देशो की इसकी सरल उपलब्धि ने इन देशो म मूल्य-वृद्धि मे काफी सहायता दी है । अनुमानत पिछले कुछ वर्षो मे 80-100 करोड डालर के सुरक्षित कोष इस विधि की कार्यान्विति म प्रयुक्त किये जा चुके है । इस प्रकार विश्व की तरलता समस्या का स्थायी हल अब भी काफी दूर प्रतीत होता है ।

तीसरे विशेष आहरण अधिकारो के वितरण के मापदण्ड भी दोषपूर्ण प्रतीत होते हैं । न तो ये मापदण्ड समानता के सिद्धान्त पर आधारित हैं और न ही दक्षता के सिद्धान्त पर । उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है, इन मापदण्डो के कारण विकसित औद्योगिक देशो की अपेक्षाकृत काफी अधिक राशि आवटन की गयी है । कुल मिलाकर अब तक विशेष आहरण अधिकारो का 25 प्रतिशत केवल सयुक्त राज्य अमेरिका को प्राप्त हुआ है तथा ब्रिटेन व फ्रान्स को लगभग 16 प्रतिशत । यही स्थिति तालिका 15 1 के अनुसार कोटा व्यवस्था की दर्शी जा सकती है । भारत जहाँ प्रारम्भ म कोटे की दृष्टि से पाँचवें स्थान पर रखा था आज उसका आठवाँ स्थान है । अन्तु विशेष आहरण अधिकारो का आवटन एव कोटा दोनो मे अल्पविकसित देशो को विशेष सहायता प्रदान करने का कोई प्रावधान नही है । जैसा कि बताया जा चुका है कोष के सदस्य देशो के कोटो म अब तक आवटित अधिकारो मे अल्पविकसित देशो को केवल 28% राशि प्राप्त हुई है जबकि इन देशो मे विश्व की दो तिहाई जनसख्या निवास करती है ।

अन्तिम बात यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के प्रत्येक सदस्य के लिए यह आवश्यक नही कि वह अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो के लिए विशेष आहरण अधिकारो को स्वीकार कर । इस प्रकार कोई भी प्रभावशाली देश इस व्यवस्था को भग करने का प्रयास कर सकता है । यह स्मरणीय है कि कुछ वर्ष पूर्व जनरल डिगाल (फ्रान्स के तत्कालीन राष्ट्रपति) ने डालर की प्रतिष्ठा पर आघात पहुँचाकर समूची अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान व्यवस्था को क्षति पहुँचाने का प्रयास किया था । इस बात की कोई गारण्टी नही है कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या के समाधान म भविष्य मे सभी देशो का सहयोग मिलता रहेगा । विशेष रूप से विकासशील देश तो केवल यही अपेक्षा कर सकते हैं कि बड़े देश परस्पर सहयोग द्वारा इस समस्या को जटिल नही होने देंगे एव उनकी (विकासशील देशो की) कठिनाइयो को दूर करने हेतु उदार दृष्टिकोण अपनायेंगे ।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता एवं मुद्रा-कोष की भूमिका

[INTERNATIONAL LIQUIDITY AND ROLE OF MONETARY FUND]

मुद्रा-कोष की अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में भूमिका[1]

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष म कार्यों एव प्रगति पर अगले अध्याय मे विचार किया गया है । यहाँ इतना बतला देना पर्याप्त होगा कि मुद्रा कोष का एक महत्वपूर्ण कार्य अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को बनाये रखना है । मुद्रा-कोष की धाराओ के अनुरूप हाल के वर्षो म विशेष आहरण अधिकारो (SDRs) के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली मे तरलता को बनाये रखने के प्रयास किये जा रहे है ।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पर्याप्तता हेतु प्राय दो प्रक्रियाएँ चलायी जाती हैं विभिन्न देशो की मुद्राओ के रिजर्व पर्याप्त मात्रा मे बनाये रखना, तथा निजी अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी-बाजार का विस्तार ।

बहुधा सभी देश विदेशी मुद्रा का रिजर्व कोष अपने पास रखते हैं । रिजर्व की माँग निम्न घटको द्वारा निर्धारित होती है नीतिगत परिवर्तनो के फलस्वरूप बाहरी असन्तुलन किस तेजी से

1 IMF Annual Report, 1989, pp 20 22

साथ कम होते हैं, घरेलू एवं बाहरी आकस्मिक घटकों की प्रकृति एवं आकार तथा देश की अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी-बाजार में पहुँच। विदेशी रिजर्व कोषों की मांग किसी समय कितनी तेजी से पूरी होती है यह इस बात पर निर्भर करेगा कि पूर्ति कितनी जल्दी इसके अनुरूप समायोजित होती है।

रिजर्व कोषों की पूर्ति काफी हद तक उन देशों की मौद्रिक नीतियों पर निर्भर करती है जिनकी मुद्राएँ यह देश रिजर्व कोष में रखना चाहता है। इसके अतिरिक्त यह पूर्ति जिन घटकों पर निर्भर है वे हैं सम्बद्ध देशों की भुगतान-सन्तुलन स्थिति तथा अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी-बाजार की स्थिति। हाल के वर्षों में निजी पूंजी-बाजार का जिस रूप में विस्तार हुआ है उसमें विभिन्न (विशेष रूप से बड़े) देशों की मुद्राओं की पूर्ति में वृद्धि हुई है तथा अन्य देशों में इनके रिजर्व कोष के आकार भी बढ़े हैं।

विभिन्न देशों के पास रिजर्व कोष पर्याप्त हैं या नहीं, यह जानने के लिए आयात तथा रिजर्व कोषों का अनुपात देखा जाता है। कुछ वर्षों से मुद्रा-कोष ने वस्तुओं के आयातों के साथ-साथ सेवाओं के आयातों को भी देखने को कहा है। परन्तु मुद्रा-कोष की ऐसी मान्यता है कि आयात व रिजर्व कोषों के अनुपात को ही तरलता की पर्याप्तता का आधार नहीं मानना चाहिए। मुद्रा-कोष ने अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पर्याप्तता को आंकने हेतु तीन अन्य माप मण्ड सुझाए हैं: (i) निजी घरेलू निवासियों के पास मौजूद ऐसी परिसम्पत्तियाँ जिन्हें सरकारी रिजर्व कोषों में सरलता से बदला जा सके, (ii) ऐसे बाहरी साधन जिन्हें राष्ट्रीय एजेन्सियाँ या अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तत्काल उपलब्ध करा सकें, तथा (iii) ऐसे बाहरी साधन जिन्हें विदेशी स्रोतों से तत्काल प्राप्त किया जा सके।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता एवं SDR की भूमिका

भुगतान-असन्तुलन वाले देशों के पास जब रिजर्व कोषों की पूर्ति अपर्याप्त होती है तो वे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा प्रदत्त विभिन्न सुविधाओं के अन्तर्गत अल्पकालीन ऋण प्राप्त कर सकते हैं। वस्तुतः विशेष आहरण अधिकार (SDR) एक ऐसा माध्यम है जिसमें सभी 151 देशों की मुद्राओं को स्थान देकर इनके पारस्परिक विनिमय को सुगम बनाया गया है, अलबत्ता इसमें निजी स्रोतों से प्राप्त होने वाली मुद्राओं को स्थान नहीं दिया जाता।

मुद्रा-कोष के मण्डल की ऐसी मान्यता है कि वर्तमान विशेष आहरण अधिकारों को ऐच्छिक क्रियाओं के अन्तर्गत अन्य मुद्राओं में तत्काल परिवर्तित करने की आवश्यकता है। इसी प्रक्रिया में निर्दिष्ट अभ्यर्थ के अलावा प्रत्येक देश को ऋण लेने या देने का अधिकार भी शामिल है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में विशेष आहरण अधिकारों की भूमिका तभी प्रभावी हो सकती है जब विभिन्न सरकारों—विशेष रूप से बड़े देश की सरकारों—तथा निजी एजेन्सियों को अधिक परिसम्पत्तियाँ विशेष आहरण अधिकारों के रूप में रखने हेतु प्रेरित किया जा सके।

जैसा कि आप अगले अध्याय में देखेंगे, गत कुछ दशकों में सदस्य देशों को मुद्रा-कोष ने काफी सहायता दी है। SDR के रूप में मुद्रा-कोष भुगतान-असन्तुलन वाले देश की मुद्रा के बदले उसे अल्पकालीन ऋण प्रदान करता है और जिस देश के प्रति सम्बद्ध देश का भुगतान-असन्तुलन है उसकी मुद्रा की पूर्ति SDR के रूप में उपलब्ध कराता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना के पश्चात् काफी समय तक सदस्य देशों ने इस बात का प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से विरोध किया कि उनकी व्यापार-नीतियों, मौद्रिक नीतियों तथा विनिमय दरों के विषय में मुद्रा-कोष किसी भी प्रकार की चर्चा करे अथवा इनमें परिवर्तन हेतु कोई सुझाव दे। परन्तु आठवें दशक में जैसे-जैसे विश्व के अधिकाधिक देश तरणीय विनिमय दरों को अपनाते गये, उन्हें यह अनुभव होता गया कि 'समन्वयित विनिमय व्यवस्था" तथा "विनिमय दरों की स्थिर प्रणाली" के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सहारा लेना जरूरी है। परन्तु एक ओर मुद्रा-कोष अत्यधिक भुगतान-असन्तुलन वाले देशों की विनिमय दर नीतियों पर अधिक कड़ी निगरानी रखता गया और दूसरी ओर इन देशों को यह भी अहसास कराता गया कि उन्हें अपनी मौद्रिक व राजकोषीय नीतियों की पुनः समीक्षा करते रहना है क्योंकि इनका विनिमय दरों पर सीधा प्रभाव पड़ता है।

1982 मे पाँच बड़े देशों की सरकारों ने, जिनकी मुद्राओं के आधार पर विशेष आहरण अधिकार का मूल्य निर्धारित किया जाता है अपनी विनिमय दरों के विषय में मुद्रा-कोष के शीर्ष अधिकारियों के साथ मन्त्रणाएँ करने पर सहमति व्यक्त कर दी।

इस प्रकार मुद्रा-कोष अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पर्याप्त आपूर्ति तथा विनिमय दरों में स्थिरता बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है।

हाल के वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय बैंकिंग प्रणाली की सक्रिय भूमिका के कारण अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ। अनुकूल भुगतान वाले देशों की ओर से प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन वाले देशों को उचित समय पर एवं पर्याप्त विदेशी मुद्रा की आपूर्ति आज सम्भव हो गयी है। पूर्ति की दृष्टि से विदेशी विनिमय की मात्रा कुछ तो इसलिए बढ़ी है कि औद्योगिक देशों में ऋणों की माँग 1974 के बाद से कुछ कम हुई है तथा कुछ इसलिए कि प्रमुख तेल निर्यातक देशों ने पर्याप्त परिमाण में विदेशी मुद्रा प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन वाले विकासशील देशों के लिए उपलब्ध करना प्रारम्भ किया है।

दूसरी ओर अनेक देशों में प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन से निपटने के लिए विदेशी विनिमय की माँग में वृद्धि हुई है। पिछले कुछ वर्षों में अनेक गैर-तेल निर्यातक विकासशील देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय साख बाजारों में भारी मात्रा में ऋण लेकर न केवल अपने प्रतिकूल भुगतान सन्तुलनों को ठीक किया अपितु बड़े परिमाण में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राओं के रिजर्व भी जमा किये थे।

परन्तु इन प्रवृत्तियों के बावजूद निजी साख बाजारों से ऋण प्राप्त करने में अनेक दोष हैं। **प्रथम** तो यह है कि ये ऋण बहुधा लेने वालों की आवश्यकता के अनुरूप न होकर दोनों पक्षों के पारस्परिक दृष्टिकोण पर आधारित होते है। इसका परिणाम यह होता है कि ये ऋण असमान रूप से आवंटित किये जाते है। **द्वितीय** निजी व्यावसायिक बैंकों में प्रतिस्पर्धा होने पर कभी-कभी आवश्यकता से अधिक तरलता प्रभावित कर दी जाती है जिसके फलस्वरूप एक ऐसी सीमा भी आ जाती है जिसके आगे कोषों की उपलब्धि एकदम कम होना स्वाभाविक है। **तृतीय**, ऋणों द्वारा रिजर्व के रूप में रखे गये कोषों के लिए प्राप्त ऋणों की पुनर्वित्त-व्यवस्था की जा सकती है तथा इससे ऋण लेने वाले देशों के सामने समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं। अन्तिम निजी संस्थाएँ अपने लाभ की दृष्टि से तरलता की पूर्ति करती है तथा कभी-कभी ऋण लेने वालो को कठोर शर्तों की अनुपालना हेतु बाध्य भी कर सकती हैं।

परन्तु इनसे भिन्न आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तरलता की पूर्ति करता है। मुद्रा-कोष बिना शर्त तरलता की आपूर्ति करके ऐसे रिजर्व पावनों का आवंटन करता है जिसकी पुनर्वित्त व्यवस्था करना आवश्यक नहीं होता। हाल के वर्षो में मुद्रा-कोष ने सदस्य देशों के अभ्यशों में पर्याप्त वृद्धि की है और इससे अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की स्थिति में काफी सुधार हुआ है। विशेष रूप से अभ्यशों की आठवीं सामान्य समीक्षा के बाद से मुद्रा कोष के आवंटित अभ्यशों का कुल योग 39 बिलियन SDR से बढ़कर 90 बिलियन SDR हो गया है। इन अभ्यशों को और भी बढ़ाने हेतु नवी सामान्य समीक्षा अभी की जा रही है।

प्रश्न एवं उनके संकेत

1 *अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या से आप क्या समझते हैं ? क्या पिछले कुछ वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में हुए सुधारों ने इस समस्या का समाधान किया है ?*
What do you understand by the problem of international liquidity ? Could reform of the International Monetary Fund solve this problem ?
[संकेत—प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर हेतु सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की परिभाषा बतायें। इसके साथ ही यह बतायें कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या क्या है कि और इसका प्रारम्भ कैसे हुआ। प्रश्न के द्वितीय भाग के उत्तर में विशेष आहरण अधिकारो (SDRs) के प्रचलन तथा इनके परिणामों की व्याख्या करते हुए बतायें कि इनके माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष किस सीमा तक तरलता की समस्या का हल कर सका है।]

2 *अन्तर्राष्ट्रीय तरलता एवं भुगतान की समस्या पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए। इस सम्बन्ध में विद्यमान कठिनाइयों को दूर करने हेतु आप क्या सुझाव देंगे ?*

Write a critical note on the problem of international liquidity and payment What suggestions do you offer to get over the present difficulties in this regard ?

3 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता से आप क्या समझते हैं ? इसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में क्या महत्व है, विस्तार से समझाइए ।

What do you understand by international liquidity ? Discuss its importance in relation to the development of world trade.

[संकेत—उत्तर के प्रथम भाग में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का अर्थ बतायें। द्वितीय भाग में संक्षेप में यह बताते हुए कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का केन्द्रीय बैंक व सरकार के लिए तो महत्व है ही, यह भी बताइए कि *अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पर्याप्त या अपर्याप्त उपलब्धि का* अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर क्या प्रभाव हो सकता है।]

4 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के प्रमुख स्रोत कौन-कौन से हैं तथा उनकी वर्तमान स्थिति कैसी है, विस्तार से समझाइए ।

What are the chief sources of international liquidity and what is their present position ?

[संकेत—इस प्रश्न के उत्तर हेतु अध्याय 16 में प्रस्तुत सामग्री की भी आवश्यकता होगी। *डालर के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की अब तक उपलब्धि होती रही थी।* वास्तव में अन्य मुद्राएँ भी अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का स्रोत बन सकती हैं तथा उनकी मात्रा में वृद्धि से तरलता में भी वृद्धि सम्भव है। परन्तु विश्व के अधिकांश देशों में डालर की मांग आज भी विद्यमान है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को अन्तर्राष्ट्रीय तरलता एवं डालर की उपलब्धि का प्रमुख स्रोत माना जा सकता है। हाल में प्रचलित विशेष आहरण अधिकारों को भी इस दृष्टि से एक मुख्य स्रोत माना जा सकता है। परन्तु, जैसा कि इस अध्याय के अन्त में बताया गया है, ये सब उपाय अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पर्याप्त पूर्ति करने में सफल नहीं हो पाये हैं।]

5 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने पिछले कुछ वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि करने हेतु क्या उपाय किये हैं ? ये उपाय किस सीमा तक सफल रहे हैं ?

What measures have been taken by I M F. in recent years to increase international liquidity and how far they have been proved successful ?

[संकेत—अध्याय 16 में प्रस्तुत सामग्री को देखें। लगभग पिछले दशक से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष 'तैयार या सहारा प्रावधानों" *(Stand-by Arrangements)*, विशेष आहरण अधिकारों (SDRs), क्षतिपूरक सहायता समझौतों, प्राथमिक वस्तुओं के लिए बफर स्टॉक खरीदने सम्बन्धी सहायता आदि के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि हेतु प्रयास कर रहा है। जून 1974 के निर्णय के अनुसार खनिज तेल के मूल्यों में हुई वृद्धि से प्रभावित देशों को तेल-सुविधा सहायता देना प्रारम्भ किया गया है। इन सब के कारण किसी सीमा तक अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या की गम्भीरता में कमी हुई है। परन्तु विकसित एवं विकासशील देशों की आन्तरिक नीतियों एवं परस्पर सहयोग के अभाव के कारण आज भी विश्व के अधिकांश देश प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन एवं तरलता के अभाव की समस्या से पीड़ित हैं। इन्हीं बातों का उल्लेख इस प्रश्न के उत्तर हेतु कीजिए।]

6 द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् स्वर्ण एवं प्रमुख मुद्राओं की विशिष्ट भूमिका का वर्णन करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या पर प्रकाश डालिए।

Review the problem of international liquidity in the post-world war II era *with a special reference to the role of gold and key currencies.*

[संकेत—पहले इस बात का विवरण दें कि स्वर्णमान के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की क्या स्थिति थी। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व ही इसका परित्याग इसलिए कर दिया गया था कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की बढ़ती हुई कठिनाइयों के सन्दर्भ में स्वर्णमान का कोई औचित्य भी नहीं था। युद्धोपरान्त स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष में स्वर्ण के रूप में प्रत्येक देश को अपने कोटे का 25% देय रखा गया। पिछले कुछ वर्षों से मुद्रा-कोष द्वारा अपनायी गयी नीतियों

में स्वर्ण की अपेक्षा परस्पर सहयोग के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि पर बल दिया जाने लगा है।

स्वर्ण के अतिरिक्त डालर, पौण्ड, यन आदि प्रमुख मुद्राओं पर एवं विशेष रूप से डालर पर इन वर्षों में अधिक दबाव रहा है। परन्तु पिछले कुछ वर्षों से चल रहे ब्रिटेन व अमरीका के प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन में यह माँग भी उठने लगी है कि इन मुद्राओं की तुलना में स्वर्ण का पुनर्मूल्यन (revaluation) किया जाय। इस अध्याय में प्रस्तुत विभिन्न प्रस्तावों के आधार पर उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर दें।]

7 **अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की स्थिति में सुधार हेतु विशेष आहरण अधिकारों की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।**

Evaluate the role of Special Drawing Rights in improving international liquidity.

[*संकेत*—पहले उन परिस्थितियों का संक्षेप में वर्णन करें जिसके कारण विशेष आहरण अधिकारों या SDR का प्रचलन किया गया। जनवरी 1970 से अब तक इन अधिकारों के आवंटन एवं उपयोग की समीक्षा करने के बाद यह बतायें कि चार या पाँच वर्षों की अवधि किसी भी विधि की सफलता के मूल्यांकन हेतु पर्याप्त नहीं होती। यही नहीं SDR के माध्यम से भी अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या का दीर्घकालीन समाधान नहीं निकल सकता। अपने उत्तर के रूप में इस विधि की सीमाओं का उल्लेख करें जो अध्याय के अन्त में दी गयी हैं।]

8 **तरलता के अभाव की समस्या के समाधान हेतु परिवर्तनशील विनिमय-दरों की भूमिका का वर्णन कीजिए।**

Discuss the role of flexible exchange rates in meeting a situation of liquidity shortage

16

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष[1]

[INTERNATIONAL MONETARY FUND]

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एक अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संगठन है जिसकी स्थापना विश्व के विभिन्न देशों द्वारा द्वितीय महायुद्ध के पश्चात अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सन्तुलित विकास एवं विभिन्न मुद्राओं के मध्य परिवर्तनशीलता में वृद्धि करने के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु की गयी थी। प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक सम्पूर्ण विश्व में स्वर्णमान प्रचलित था तथा विभिन्न मौद्रिक व्यवस्थाएं किसी न किसी रूप में स्वर्ण से सम्बद्ध थी। प्रथम महायुद्ध में तथा उसके पश्चात जहाँ एक ओर स्वर्ण की मात्रा सीमित रही, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परिमाण में तीव्र गति से वृद्धि होती गयी। परिणामस्वरूप अनेक देशों के लिए स्वर्ण धातुमान (gold bullion standard) पर स्थिर रहना कठिन हो गया एवं अन्ततः चौथे दशक के प्रारम्भ में स्वर्णमान का प्रमुख देशों द्वारा परित्याग कर दिया गया। इसके स्थान पर पत्र-मुद्रा का प्रचलन हुआ। परन्तु इसके साथ ही विभिन्न देशों की मुद्राओं के बीच विनिमय-दरों में विद्यमान स्थिरता समाप्त हो गयी। पत्र-मुद्रामान के कारण विश्व की विभिन्न मुद्राओं के मध्य विनिमय-दरों में काफी उतार-चढ़ाव होने लगे एवं फलस्वरूप अनेक देशों ने विनिमय-नियन्त्रण की नीति अपना ली। अधिकांश देशों की आर्थिक स्थिति में गिरावट आने लगी और इसमें भी विनिमय-नियन्त्रण की विधियों जैसे अवरुद्ध खातों, समाशोधन समझौतों, विविध विनिमय-दरों आदि का व्यापक उपयोग होने लगा। इन सबका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव होना स्वाभाविक था। विश्व के देशों की स्थिति में इतना आमूल परिवर्तन हो चुका था कि स्वर्णमान के परित्याग के पश्चात उसकी कोई उपयुक्त स्थानापन्न (substitute) विधि नहीं दिखायी दे रही थी। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ तक विश्व में प्रत्येक देश में संकीर्ण एवं स्वार्थ से प्रेरित नीति अपनायी जा चुकी थी। यदि एक देश निर्यात में वृद्धि के उद्देश्य से अवमूल्यन करता था तो दूसरे देश तुरन्त ही आयात पर प्रतिबन्ध लगा देते थे। इस प्रकार मौद्रिक सहयोग के स्थान पर गलाकाट प्रतियोगिता एवं प्रतिशोध की नीतियाँ प्रचलित हो गयी थी। व्यापार एवं अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों पर प्रतिबन्ध के कारण व्यापार के परिमाण में काफी कमी हुई। जहाँ 1929 में विश्व के कुल व्यापार का मूल्य 5 590 करोड़ डालर था, 1932 में इसका मूल्य 2 180 करोड़ डालर हो गया, परन्तु 1937 में इसके मूल्य में कुछ वृद्धि हुई और यह 2,430 करोड़ डालर पहुँच गया। बहुत से देशों ने अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का भारी मात्रा में निर्गमन किया जिसके फलस्वरूप मूल्यों में तीव्र गति से उतार-चढ़ाव होने लगे। मूल्यों की इस अस्थिरता ने भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रतिकूल ढंग से प्रभावित किया तथा विनिमय-दरों में तीव्र उच्चावचन को प्रोत्साहन दिया।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात इस दिशा में और भी गिरावट आयी। परन्तु युद्धोपरान्त अनेक देशों के आर्थिक पुनर्निर्माण की समस्या और भी विकट थी। युद्धकाल में अमरीका का विश्व के एक बड़े साहूकार एवं व्यापारी देश के रूप में अभ्युदय हुआ और फलस्वरूप डालर की स्थिति सुदृढ़ होती गयी। यद्यपि यूरोप के देशों ने युद्ध के समय अपनी-अपनी अर्थ-व्यवस्था को सुधारने का भरसक प्रयास किया, फिर भी पर्याप्त मात्रा में मशीनें, कच्चा माल व खाद्य सामग्री के आयात हेतु उन्हें डालर की आवश्यकता थी। इस समय इन देशों के समक्ष गम्भीर भुगतान-असन्तुलन की

---

1 इस अध्याय की सामग्री IMF Annual Reports, 1988 व 1989 से ली गयी है।

समस्या विद्यमान थी। ऐसे समय यह अनुभव किया जाने लगा कि व्यक्तिगत तौर पर प्रत्येक देश केवल अल्पकालीन या अस्थायी तौर पर भुगतान-सन्तुलन का समाधान प्राप्त कर सकता था, परन्तु समस्या का दीर्घकालीन एवं स्थायी हल केवल विदेशी व्यापार के विस्तार द्वारा ही सम्भव था। परिणामस्वरूप संयुक्त राज्य अमरीका एवं ब्रिटेन के द्वितीय महायुद्ध-काल में ही अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की बहुत योजनाएँ बना ली थी। ब्रिटेन की योजना "कीन्स की योजना" (Keynes Plan) थी जबकि अमरीकी विशेषज्ञों द्वारा निर्मित योजना को "श्वेत योजना" (White Plan) का नाम दिया गया। जुलाई 1944 में अमरीका के ब्रेटनवुड (Bretonwood) नामक नगर में 44 देशों की एक बैठक में इन दोनों योजनाओं को एकीकृत रूप प्रदान किया गया। इसे 'ब्रेटनवुड्स अधिवेशन" (Bretonwood's Conference) के नाम से पुकारा जाता है। इसी अधिवेशन में विश्व के दो महान आर्थिक संगठनों—विश्व-बैंक या अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक (I B R D) तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I. M. F.)—का जन्म हुआ। प्रस्तुत अध्याय में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का विवरण प्रस्तुत किया गया है जबकि अगले अध्याय में विश्व-बैंक का अध्ययन किया जायगा।

ब्रेटनवुड्स अधिवेशन में यह अनुभव किया गया कि विश्व के समक्ष उस समय दो प्रकार की समस्याएँ थी। प्रथम समस्या उन देशों की मौद्रिकप्रणालियों में स्थिरता लाने से सम्बद्ध थी जिन्होंने स्वर्णमान के अन्तर्गत प्रचलित सभी परम्परागत मौद्रिक अनुशासन में नियमों का परित्याग कर दिया था। इसी समस्या के समाधान हेतु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना की गयी। द्वितीय समस्या युद्ध से ध्वस्त देशों के पुनर्निर्माण से सम्बद्ध थी तथा इसके समाधान हेतु विश्व बैंक की स्थापना की गयी।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य
[OBJECTIVES OF I. M. F.]

27 दिसम्बर, 1945 को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना वाशिंगटन में हुई। परन्तु मुद्रा-कोष ने वास्तविक रूप में 1 मार्च, 1947 से कार्य प्रारम्भ किया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के समझौता अनुच्छेदों (Articles of Agreement) के अनुसार इसके प्रमुख उद्देश्य (कार्य) निम्न है :

(1) अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को प्रोत्साहित करना (To Promote International Monetary Cooperation)—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का प्रमुख उद्देश्य सहयोग एवं परामर्श हेतु एक स्थायी व्यवस्था कायम करना है जिसके माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग में वृद्धि हो सके। दूसरे शब्दों में, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष बहुमुखी भुगतानों की एक प्रणाली लागू करने के उद्देश्य से स्थापित किया गया है।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सन्तुलित विकास (Balanced Growth of International Trade)—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सन्तुलित विस्तार द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष आर्थिक विकास में सहायता करता है। यदि विभिन्न देशों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विस्तार का क्रम जारी रहता है तो इससे उनके साधनों का उत्पादन एवं इष्टतम उपयोग हो सकेगा तथा रोजगार के स्तर में वृद्धि होगी। इसी प्रकार, विकसित देशों में आय एवं रोजगार के उच्च स्तर को बनाये रखने में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष सहायक हो सकता है।

(3) विनिमय-दरों में स्थिरता (Stability in Exchange Rates)—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष विनिमय-दरों में स्थिरता रखने एवं सदस्य देशों के मध्य व्यवस्थित विनिमय-व्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य को लेकर भी स्थापित किया गया है। इस प्रकार मुद्रा-कोष विनिमय-दरों में प्रतियोगात्मक गिरावट को रोकता है। जैसा कि ऊपर बताया गया है युद्ध एवं युद्धोत्तर-काल में विनिमय-दरों में होने वाले तीव्र उच्चावचनों के कारण विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव हुआ था। मुद्रा-कोष का एक प्रमुख उद्देश्य विनिमय-दरों में स्थिरता लाकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के ठोस विकास का वातावरण उत्पन्न करना भी है। मुद्रा-कोष की धाराओं 4-3 (a) व 4-3 (b) के अनुसार मुद्रा-कोष का एक प्रमुख दायित्व सदस्य देशों की विनिमय-दर नीतियों पर कड़ी दृष्टि रखना भी है। इसके लिए प्रत्येक सदस्य देश को मुद्रा द्वारा चाही गयी प्रत्येक सूचना प्रदान करनी होती है। इस पर भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष समस्त देशों की विनिमय-दरों को एक कठोर स्तर

पर नहीं रखता एवं इनमें किसी सीमा तक परिवर्तन हेतु अनुमति प्रदान करता है। विनिमय-दरों का यह लचीलापन विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सन्तुलित विकास हेतु आवश्यक भी है। वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष स्वर्णमान के अन्तर्गत विद्यमान कठोर विनिमय-दरों के मध्य का रास्ता अपनाता है। प्रत्येक सदस्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने लाभ हेतु विनिमय-दरों में या अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में कोई ऐसा परिवर्तन नहीं करेगा जिससे किसी अन्य देश को हानि होने की सम्भावना हो। यदि कोई देश एक ही दिशा में विनिमय बाजार को ले जाने का लगातार प्रयास करता है या अत्यधिक बड़ी रकम उधार लेता या देता है तो मुद्रा-कोष उस देश की सरकार से इस बारे में विस्तृत विचार-विमर्श करता है। सदस्य देशों द्वारा विनिमय-दरों के निर्धारण या इनमें किये जाने वाले परिवर्तनों के सम्बन्ध में मुद्रा-कोष पूँजी हस्तान्तरण व ऐसे परिवर्तन के दूरगामी प्रभावों पर विचार करता है।

(4) बहुपक्षीय भुगतानों की व्यवस्था (Multilateral System of Payments)—बहुपक्षीय भुगतानों (multilateral payments) की व्यवस्था स्थापित करके विनिमय-प्रतिबन्धों को समाप्त करना भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का एक प्रमुख उद्देश्य है। मुद्रा-कोष सदस्य देशों को अल्पकालीन मौद्रिक सहायता देकर संकट के समय सदस्य देशों की सहायता करता है एवं इनमें आत्मविश्वास जागृत करता है।

(5) प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन को ठीक करना (To Correct the Unfavourable Balance of Payments)—सदस्यों के प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन को ठीक करने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष उन्हें अल्पकालीन साख (short term credit) प्रदान करता है। यह साख इस प्रकार दी जाती है कि राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय सम्पन्नता पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं हो पाता परन्तु किसी सदस्य देश के स्थायी भुगतान-सन्तुलन को ठीक करने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष कोई दायित्व नहीं लेता। ऐसी स्थिति में मुद्रा-कोष सदस्य देशों को उनकी मुद्रा का अवमूल्यन करने का परामर्श देता है।

(6) असन्तुलन की मात्रा एवं अवधि में कमी करना (To Reduce the Duration and Degree of Disequilibrium)—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष सदस्य देशों के प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन की अवधि एवं सम्बद्ध घाटे के परिमाण को न्यूनतम करने का प्रयास करता है। मुद्रा-कोष के चार्टर की आठवीं धारा (*Article VIII*) के अनुसार, "कोई भी देश पूर्व अनुमति के बिना चालू अन्तर्राष्ट्रीय सौदों से सम्बद्ध भुगतानों एवं हस्तान्तरणों पर प्रतिबन्ध नहीं लगा सकेगा।" हाँ, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष पूँजी के अनपेक्षित हस्तान्तरण को रोकने के लिए लागू किये गये विनिमय नियन्त्रण हेतु कोई आपत्ति नहीं उठाता। ऐसे अनपेक्षित (*Unwarranted*) पूँजी हस्तान्तरणों में राजनीतिक उद्देश्यों पर आधारित या सट्टेबाजी द्वारा किये जाने वाले पूँजी हस्तान्तरण को सम्मिलित किया जाता है।

(7) सदस्य देशों की विनिमय-दर सम्बन्धी नीतियों पर दृष्टि रखना (To keep surveillance over the Exchange Rate Policies of Member Countries)—मुद्रा-कोष की धारा चार के अन्तर्गत मुद्रा-कोष के प्रबन्धकों की ऐसी धारणा है कि अनेक सदस्य देश कृत्रिम रूप से अपनी मुद्रा की विनिमय-दरों को ऊँचा रखते हैं। मुद्रा-कोष जिन देशों की सहायता करता है प्रायः उन्हें यह राय देता है कि वे विनिमय-दर को वास्तविक स्तर तक लाएँ। मुद्रा-कोष इन देशों की अन्य नीतियों में भी परिवर्तन करने हेतु परामर्श देता है जो प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन के लिए उत्तरदायी हैं। हाल में अनेक देशों ने मुद्रा-कोष की इस नीति को अपनी घरेलू नीति में हस्तक्षेप माना है। जिन देशों की समस्याएँ काफी गम्भीर रूप ले चुकी हैं उन पर 1984-85 में निर्धारित प्रक्रिया के तहत और कड़ी एवं परिवर्द्धित निगरानी रखी जाती है। 1987 में ब्राजील वेनेजुएला आदि 15 देशों को इस श्रेणी में रखा गया।

उपर्युक्त उद्देश्यों का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का आधारभूत लक्ष्य केवल अल्पकालीन घाटे की पूर्ति करना है। दूसरे शब्दों में, सदस्य देशों के प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन को ठीक करने हेतु विनिमय-नियन्त्रण या व्यापक (drastic) अन्तर्राष्ट्रीय समायोजन करने की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को प्रोत्साहित करना ही अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का प्रमुख उद्देश्य है। प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन का केवल अस्थायी हल ही मुद्रा-कोष प्रदान

करता है। यह भी ध्यान रखने की बात है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष किसी भी सदस्य देश की सहायता करने से पूर्व स्थिति का विस्तार से अध्ययन करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की एक अन्य भूमिका मे यह अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो के लिए सदस्य देशो के सामान्य बैंकिंग कार्यों के अतिरिक्त अन्य कार्यों मे भी सहायता करता है। परन्तु मुद्रा-कोष एक उधार देने वाली संस्था नही है। यह तो सदस्य देशो के द्वारा जमा किये गये स्वर्ण एवं मुद्राओ का एक धारक (holder) मात्र है। यह सदस्य देशो को एक मुद्रा के बदले निश्चित दर पर दूसरी मुद्रा प्राप्त करने की अनुमति देता है। कोई भी सदस्य देश दूसरे सदस्य देशो की मुद्राएँ खरीद सकता है अथवा अन्य मुद्राओ या स्वर्ण के बदले स्वयं की जमा मुद्रा को वापस ले सकता है। इन सब सुविधाओ के कारण अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के पास विद्यमान विभिन्न मुद्राओं के अनुपात मे परिवर्तन होता रहता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का नियन्त्रण एवं प्रबन्ध
[CONTROL AND MANAGEMENT OF I M F]

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का नियन्त्रण एवं प्रबन्ध एक बोर्ड ऑफ गवर्नर्स (Board of Governors) मे निहित है। इसके अतिरिक्त कार्यकारी सचालक (Executive Director) एवं प्रबन्ध सचालक (Managing Director) भी इसके प्रबन्ध हेतु उत्तरदायी है। प्रत्येक सदस्य देश एक प्रतिनिधि को मनोनीत करता है जिन्हे मिलाकर बोर्ड ऑफ गवर्नर्स का गठन होता है। इस मनोनयन के साथ ही प्रत्येक देश एक वैकल्पिक प्रतिनिधि को भी नियुक्त करता है जो मुख्य प्रतिनिधि की अनुपस्थिति मे कार्य करता है। प्रत्येक गवर्नर को कितने मताधिकार प्राप्त हो, यह उसके देश को प्राप्त कोटे के आकार पर निर्भर करता है। प्रत्येक गवर्नर को 250 मत सदस्यता के तथा उसके देश को प्राप्त कोटे मे प्रत्येक एक लाख डालर के बदले एक अतिरिक्त मत देने का अधिकार है। उदाहरण के लिए, यदि 'अ' देश का कोटा 5 करोड़ डालर का तथा 'ब' का कोटा 2 करोड़ डालर का है तो इनके गवर्नरो को क्रमशः 750 (=250+500) एवं 450 (=250+200) मत देने का अधिकार होगा। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के गवर्नरो से अधिक मत देने का अधिकार धनी एवं औद्योगिक देशो को मिला हुआ है क्योकि उन्ही के कोटों की राशि अपेक्षाकृत अधिक है। प्रत्येक देश एक बार मे पाँच वर्ष के लिए किसी प्रतिनिधि को बोर्ड ऑफ गवर्नर्स के लिए मनोनीत कर सकता है तथा पाँच वर्ष पूरे होने पर इस व्यक्ति की पुनर्नियुक्ति भी की जा सकती है।

साधारणतया बोर्ड ऑफ गवर्नर्स मे विभिन्न देशो के वित्त-मन्त्रियो को ही नियुक्त किया जाता है। इनकी बैठक वर्ष मे एक बार होती है। इस अवसर पर सदस्य देशो के कोटो मे संशोधन, नये देशो के प्रवेश, सदस्य देशो की मुद्राओं के मूल्य मे एक समान परिवर्तन तथा सचालको की नियुक्तियो के बारे मे निर्णय लिये जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के वार्षिक अधिवेशन मे एक गवर्नर को अध्यक्ष चुना जाता है।

बोर्ड ऑफ गवर्नर्स द्वारा लिये गये निर्णयो की कार्यान्विति एवं कोष के कार्यकलापो को सामान्य रूप से चलाने हेतु कार्यकारी सचालको की नियुक्ति की जाती है। कार्यकारी सचालक-मण्डल का अध्यक्ष मुख्य कार्यकारी सचालक (Chief Executive Director) कहलाता है जो मुद्रा-कोष के कर्मचारियो (staff) का प्रमुख होता है। यहाँ यह बता देना उपयुक्त होगा कि 20 कार्यकारी सचालको मे से पाँच का मनोनयन बड़े कोटाधारी देशो—अमरीका, ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, फ्रान्स व भारत—द्वारा किया जाता है, जबकि शेष पन्द्रह कर्मचारी सचालको का चुनाव अफ्रीकी देशो (तीन), लेटिन अमरीकी देशो (तीन), प्रशान्त क्षेत्र व सुदूर पूर्व (पाँच) तथा यूरोप के शेष देशो (चार) द्वारा किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के चार्टर के अनुसार जिस सदस्य देश का कोटा सर्वाधिक है मुद्रा-कोष का मुख्यालय वही स्थापित किया जायगा। तदनुसार संयुक्त राज्य अमरीका का कोटा सर्वाधिक होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का मुख्यालय वाशिंगटन मे रखा गया है।

कुछ वर्ष पूर्व सचालक मण्डल ने **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली तथा सम्बद्ध विषयों पर एक समिति** की नियुक्ति की थी। इसे 'कमेटी ऑफ ट्वेन्टी" भी कहा जाता है। इस कमेटी ने जून

1974 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। कमेटी ने दो विशेष समितियों की स्थापना का सुझाव रखा। इनमें प्रथम तो थी मुद्रा-कोष की अन्तरिम समिति (Interim Committee) तथा द्वितीय थी मुद्रा-कोष की विकास समिति (Development Committee)। यही नहीं, कमेटी ऑफ ट्वेन्टी ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणाली में सुधार हेतु भी अपने सुझाव प्रस्तुत किये। अब हम उक्त दो समितियों के कार्यों का विवरण प्रस्तुत करते हैं :

1 **मुद्रा-कोष की अन्तरिम समिति**—जैसा कि ऊपर बताया गया है, अन्तरिम समिति की स्थापना अक्टूबर 1974 में कमेटी ऑफ ट्वेन्टी के सुझावानुसार की गयी थी। अन्तरिम समिति की वर्ष में दो बार बैठकें होती हैं। अन्तरिम समिति में मुद्रा-कोष के 22 गवर्नर होते हैं। अन्तरिम समिति मुद्रा-कोष के संचालक मण्डल को निम्नांकित कार्यों के सम्पादन में सहयोग प्रदान करती है :

(अ) कार्यकारी संचालकों द्वारा आर्टिकल्स ऑफ एग्रीमेंट में संशोधन के प्रस्तावों पर विचार करने में,

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-व्यवस्था के प्रबन्ध एवं संशोधनों की क्रियान्विति का निरीक्षण करने में, तथा

(स) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणाली के लिए खतरा उत्पन्न करने वाली आकस्मिक घटनाओं से उत्पन्न समस्याओं को हल करने में।

समय-समय पर अन्तरिम समिति की बैठकों में कार्यकारी संचालकों द्वारा प्रस्तावित कोटा-संशोधनों, सदस्य देशों को दी जाने वाली सुविधाओं में किये जाने वाले परिवर्तनों तथा स्वर्ण के भविष्य के विषय में लिये गये निर्णयों आदि पर विचार-विमर्श किया जाता है।

अन्तरिम समिति की अगस्त 1975 में वाशिंगटन में हुई बैठक में इस बात पर विचार किया गया था कि विकासशील देशों की भुगतान-असन्तुलन, मुद्रा-स्फीति तथा बेरोजगारी की समस्याओं के निदान हेतु बड़े तथा अनुकूल भुगतान-सन्तुलन वाले देशों को इस प्रकार की नीतियाँ अपनानी चाहिए जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में पर्याप्त गति से वृद्धि हो। अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द तथा सहयोग के लिए विकसित देशों की नीति में और अधिक सुधार को आवश्यक माना गया। अन्तरिम समिति की यह धारणा है कि प्रतिकूल भुगतान वाले देशों को पर्याप्त सुविधाएँ प्राप्त नहीं होने पर वे अपने विकास कार्यक्रमों में कटौती कर देंगे अथवा व्यापार पर प्रतिबन्ध लगा देंगे। अन्तरिम समिति ने दोनों ही बातों को अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के प्रतिकूल बताया। अक्टूबर 1976 तथा अप्रैल 1977 में हुई अन्तरिम समिति की बैठकों में जहाँ इस बात पर सन्तोष व्यक्त किया गया कि विश्व के अधिकांश देशों की व्यापार स्थिति में सुधार हुआ है, तथापि समिति ने यह अनुभव किया कि अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान प्रक्रिया में उपयुक्त समायोजन का अभाव अब भी जारी है। समिति ने विकसित देशों से पुनः यह अनुरोध किया कि वे विकासशील देशों के निर्यातों में वृद्धि, एवं भुगतान-सन्तुलन की स्थिति में सुधार हेतु उदारतापूर्ण नीतियाँ बनायें। उपर्युक्त बैठकों में अन्तरिम समिति ने यह भी निर्णय लिया है कि अस्थायी सहायता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को व्यापक रूप से पूरक व्यवस्था करनी होगी। इसके अतिरिक्त, समिति ने सातवें कोटा-संशोधन की रूपरेखा पर भी विचार किया।

अन्तरिम समिति की जनवरी 1975 में हुई बैठक में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष में स्वर्ण की भूमिका पर कार्यकारी संचालकों द्वारा लिये गये निर्णयों की समीक्षा की गयी।

जनवरी 1976 में अन्तरिम समिति की जमैका में हुई बैठक में कार्यकारी संचालकों की "छठे सामान्य कोटा संशोधन पर" प्रस्तुत रिपोर्ट पर विचार किया गया। इसके अतिरिक्त, इस बैठक में स्वर्ण की बिक्री द्वारा स्थापित किये जाने वाले 'ट्रस्ट कोष' के उपयोग की शर्तों पर भी विचार किया गया। सितम्बर 1978 में समिति ने कोटा राशियों में 50% वृद्धि करने का सुझाव दिया। इसे कोटा राशियों में "सातवीं वृद्धि" कहा जाता है। इसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण कोटा राशि 39 बिलियन SDRs से बढ़कर 58 6 बिलियन SDRs हो गयी। फरवरी 1983 में समिति ने सुझाव दिया है कि कोटा राशियों में 47·5% की वृद्धि की जाये जिससे वर्तमान कोटा राशि 61 बिलियन SDRs से बढ़कर 90 बिलियन SDRs हो जाय।

1983 की बैठक मे अन्तरिम समिति ने धारा चार के अन्तर्गत उन निर्देशिकाओं को अन्तिम रूप दिया जिनके आधार पर सदस्य देशो से मन्त्रणाएँ की जा सकती है। अप्रैल 1989 की बैठक मे प्रबन्ध-मण्डल तथा अन्तरिम समिति ने अपनी बैठक मे अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर विचार किया। इस बैठक म यह अनुभव किया गया कि 1989-92 के बीच विश्व के आर्थिक क्षितिज पर अनेक अनिश्चितताएँ परिलक्षित हो सकती हैं। इनमे एक अनिश्चितता का कारण विश्व के बडे औद्योगिक देशो की वाहरी असन्तुलित स्थिति है जिसमे तीन-चार वर्षों मे कोई विशेष सुधार नही हो सकेगा। यह भी तय किया गया कि विभिन्न प्रकार की (राजकोषीय, मौद्रिक व सरचनात्मक) नीतियो के माध्यम से घरेलू माँग को सीमित करना होगा। इससे वचत के स्तर मे वृद्धि होगी।

अन्तरिम समिति ने यह पाया कि विकासशील देशो म गत कुछ वर्षों म स्फीति की दरें काफी ऊँची रही हैं। समिति ने इस बात पर जोर दिया कि इन देशो को अपनी घरेलू नीतियो में इस प्रकार सुधार करने चाहिए कि दीर्घकालीन विकास के साथ-साथ इनकी व्यापार व भुगतान-सन्तुलन स्थिति मे भी सुधार हो सके। ऐसा न करने पर इन देशो की ऋण समस्या और भी गम्भीर होन का खतरा है।

1987 मे मुद्रा-कोष द्वारा अनेक छोटे औद्योगिक तथा विकासशील देशो मे घरेलू वित्त बाजारो पर नियमन को कम करने विदेशी नियोजको को आकर्षित करने कर-नीतियो म संशोधन करने तथा मौजूदा नियन्त्रणों को सीमित करने का सुझाव दिया गया। कुछ विकासशील देशो की प्रशासनिक कठोरताएँ कम करने तथा बजट-घाटे को सीमित करने का सुझाव भी दिया गया।

2 **मुद्रा-कोष की विकास समिति**—विकास समिति की स्थापना भी मुद्रा-कोष की अन्तरिम समिति के साथ ही अक्टूबर 1974 म की गयी थी। विकास समिति का मुख्य प्रयोजन उन विधियो के सुझाव प्रस्तुत करना है जिनके द्वारा विकासशील देशो को वास्तविक साधनो का अन्तरण (transfer of real resources) किया जा सके। विशेष रूप से यह समिति उन देशों की सहायता के उपाय प्रस्तुत करती है जो गम्भीर भुगतान-असन्तुलन की समस्या से पीडित हैं। इस समिति मे 22 देशो के वित्तमन्त्री या उनके मनोनीत व्यक्ति सदस्य होते हैं।

सितम्बर 1975 मे हुई विकास समिति की बैठक मे विश्व बैंक के तृतीय झरोखा (Third window)[1] कार्यक्रम का सर्वसम्मति से अनुमोदन किया गया। परन्तु विकास समिति ने विकासशील देशो की समस्याओ के समाधान हेतु एक विशेष ट्रस्ट कोष (Special Trust Fund) की स्थापना पर अधिक जोर दिया। यह निर्णय लिया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा स्वर्ण की बिक्री से होने वाले लाभ को इस ट्रस्ट कोष मे जमा किया जाय।

1976 मे विकास समिति की पाँचवी व छठी बैठकें जमैका मे तथा मनीला मे हुईं। इनमे 'तृतीय झरोखे" के अन्तर्गत मध्यवर्ती शर्तों पर विकासशील देशो को दिये जाने वाले ऋणों की समीक्षा की गयी। समिति ने अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ से भी अनुरोध किया कि यह वस्तुत अधिक परिमाण मे निर्धन देशो की सहायता करे। इसके साथ ही विकास समिति ने इस प्रस्ताव पर अपनी सहमति व्यक्त की कि विकासशील देशो के निजी क्षेत्र का और अधिक विकास करने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की पूँजी मे वृद्धि की जाये। विकास समिति ने यह भी सुझाव दिया कि विशेष ट्रस्ट कोष से उन देशों को सहायता प्रदान की जाये, जिनकी प्रति व्यक्ति आय 360 डालर प्रति वर्ष से कम है। विकास समिति ने यह अनुभव किया कि गैर-तेल उत्पादक विकासशील देशो के चालू खाते का भुगतान-सन्तुलन हाल के वर्षों मे कम होने के बावजूद 1976 मे व 1977 के प्रथम छह माह मे इन देशो का भुगतान-सन्तुलन का घाटा 3,200 से 33 बिलियन डालर प्रतिवर्ष की दर से रहा था। विकास समिति ने इस बात पर खेद व्यक्त किया कि मध्यवर्ती आय समूह के अनेक देशो ने अपने आयातो के स्तर को बनाये रखने हेतु करोडो डालर के ऋण लिये हैं जब कि अत्यन्त निर्धन देशो के आयात सातवें दशक की अपेक्षा आठवें दशक मे 20% कम हुए हैं। इन देशो को प्राप्त प्रति व्यक्ति विदेशी सहायता विगत 7 वर्षों मे स्थिर रही है।

---

1 विस्तृत विवरण हेतु अध्याय 17 देखिए।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के साधन—अभ्यंश तथा अंशदान [RESOURCES OF THE I M F—QUOTAS AND SUBSCRIPTIONS]

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के साधनों में सर्वाधिक महत्व सदस्य देशों को आवटित अभ्यंशों (कोटा) का है। मुद्रा-कोष के प्रत्येक सदस्य को एक कोटा प्रदान किया जाता है। इन कोटों अथवा अभ्यंशों का दो कारणों से महत्व है - *(i) प्रत्येक देश का मुद्रा-कोष की पूँजी में योगदान इसी अभ्यंश* द्वारा निर्धारित होता है। (ii) इसी अभ्यंश, अथवा कोटे के आधार पर सदस्य का मुद्रा-कोष से ऋण लेने का अधिकार तथा उसकी मतदान शक्ति का निर्धारण होता है। नये सदस्यों के अभ्यंशों का निर्धारण मुद्रा-कोष द्वारा किया जाता है। मुद्रा-कोष के आर्टिकल्स ऑफ एग्रीमेंट (संशोधित) के अनुसार कार्यकारी संचालक कम से कम पाँच वर्ष की अवधि में इन अभ्यंशों की सामान्य समीक्षा (general review) करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना के समय प्रत्येक सदस्य के अभ्यंश या कोटे का निर्धारण निम्नांकित बातों के आधार पर किया गया

(i) उसके विदेशी व्यापार का मूल्य;

(ii) व्यापार की संरचना तथा इसकी परिवर्तनशीलता;

(iii) उस देश के पास विद्यमान अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा अथवा मुद्राओं का सुरक्षित कोष;

(iv) साहूकार अथवा ऋणी देश के रूप में उस देश की स्थिति,

(v) उस देश की राष्ट्रीय आय तथा राष्ट्रीय आय की प्रवृत्ति;

(vi) राष्ट्रीय आय में व्यापार का अनुपात; तथा

(vii) देश की राजनीतिक स्थिति आदि।

अप्रैल 1989 के अन्त में मुद्रा-कोष के 151 देशों का कुल कोटा लगभग 90 बिलियन SDR था जिसमें से 3·62 बिलियन SDR के मूल्य का स्वर्ण तथा शेष करेन्सी के रूप में प्राप्त किया हुआ था। कुल कोटे में जहाँ तक एक दशक पूर्व तक अमरीका का भाग 23 प्रतिशत व ब्रिटेन का 9·6 प्रतिशत था; 1987 तक ये कम होकर क्रमशः 19 9 व 5 9 प्रतिशत रह गये। भारत का कोटा 2 207 मिलियन SDR यानी 2 45 प्रतिशत था।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उपयुक्त होगा कि 1971 तक मुद्रा-कोष के समस्त अभ्यंशों (quotas) तथा इससे निकाली जाने वाली सहायता राशियों को डालर के रूप में व्यक्त किया जाता था। परन्तु दिसम्बर 1971 से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के समस्त लेन-देन विशेष आहरण अधिकारों (Special Drawing Rights अथवा SDRs) के रूप में व्यक्त किये जाने लगे हैं। 1971 के सितम्बर माह में एक डालर को एक SDR के समान माना गया था। परन्तु हाल के वर्षों में डालर का मूल्य जिस तेजी से कम हुआ उसको देखते हुए सितम्बर 1975 में एक डालर का मूल्य 0 84912 SDR के बराबर उद्धृत किया जाने लगा है।

यह उल्लेखनीय है कि अत्यधिक निर्धन देशों को इस बात की छूट दी जाती है कि वे अपने कोटे का 25 प्रतिशत स्वर्ण अथवा डालर में जमा कराने की अपेक्षा इससे कम मात्रा में जमा करायें और अपेक्षाकृत अपनी करेन्सी अधिक अनुपात में जमा कर दें। भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका रुआण्डा, बुरुण्डी तथा मॉरिशस को यह छूट प्रदान की गयी है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष में स्वर्ण का महत्व [IMPORTANCE OF GOLD IN I.M F]

कुछ वर्ष पूर्व तक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा सदस्य देशों को आवटित अभ्यंश का 25 प्रतिशत स्वर्ण में जमा किया जाता था। परन्तु मुद्रा-कोष द्वारा स्वर्ण को इतना अधिक महत्व देने के कारण अनेक अल्पविकसित देश भुगतान कठिनाइयों से मुक्त नहीं हो पाते थे। मुद्रा-कोष में यह भी प्रावधान रखा गया था कि किसी देश की करेन्सी की मात्रा निर्दिष्ट राशि से अधिक होने पर उसे स्वर्ण अथवा डालर जमा करके अपनी करेन्सी को पुनः खरीदना होता था। यह शर्त भी छोटे देशों के लिए काफी कठोर थी।

1971 में डालर की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता को समाप्त किये जाने के पश्चात् यह अनुभव किया जाने लगा कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष में स्वर्ण का महत्व कम किया जाना चाहिए। यह उल्लेखनीय है कि बहुत दिनों से मुद्रा-कोष द्वारा स्वीकृत मूल्य की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में स्वर्ण के मूल्य में अधिक वृद्धि हो रही थी। प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन वाले विकासशील देशों की स्थिति में इससे और भी अधिक विपरीत प्रभाव पड़ रहा था। दूसरी ओर विकासशील देश भी इस बात पर बल दे रहे थे कि स्वर्ण का उनमें लेकर मुद्रा-कोष में निष्क्रिय रूप से रख देना दुर्लभ साधनों का दुरुपयोग मात्र है।

इसी बीच ओपेक देशों द्वारा तेल के मूल्यों में 1973 में असाधारण रूप से वृद्धि की गयी, जिसके फलस्वरूप विश्व के स्वर्ण-कोषों के वितरण में बड़े औद्योगिक देशों का अनुपात कम हो गया जबकि तेल निर्यातक देशों के स्वर्ण-कोषों में अधिक वृद्धि हो गयी। विशेष रूप से अमरीका के स्वर्ण-कोष इस अवधि में 1,107 करोड़ SDR से घटकर 961 5 करोड़ SDR रह गए जबकि ब्रिटेन के स्वर्ण-कोष 135 करोड़ SDR से घटकर 73 4 करोड़ SDR मूल्य के रह गये।

जनवरी 1976 में जमैका में हुई अन्तरिम समिति की बैठक में स्वर्ण की अधिकृत कीमत को समाप्त करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के स्वर्ण-कोष का एक भाग बेचने का महत्वपूर्ण निर्णय लिया गया। इस सम्बन्ध में किये गये महत्वपूर्ण परिवर्तन इस प्रकार है

(i) SDR के इकाई मूल्य की अभिव्यक्ति हेतु एवं साथ ही अन्य मुद्राओं के मूल्यांकन के हेतु स्वर्ण का उपयोग समाप्त कर दिया गया।

(ii) स्वर्ण का अधिकृत मूल्य समाप्त कर दिया गया तथा सदस्यों को बाजार में स्वर्ण की आपसी खरीद व बिक्री की स्वतन्त्रता प्रदान की गयी।

(iii) सदस्यों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को तथा मुद्रा-कोष द्वारा सदस्यों को स्वर्ण के भुगतान की अनिवार्यता समाप्त कर दी गयी। मुद्रा-कोष द्वारा स्वर्ण को स्वीकार करने का अधिकार कुल मतदान शक्ति के अत्यधिक ऊँचे बहुमत के अन्तर्गत ही सीमित कर दिया गया।

(iv) मुद्रा-कोष 5 करोड़ औंस स्वर्ण को बाजार मूल्य पर बेचेगा जिसमें से 2 5 करोड़ औंस की बिक्री 1980 से पूर्व की जायगी तथा शेष स्वर्ण 35 SDR या 42 22 डालर प्रति औंस की दर से सदस्य देशों को बेचा जायगा। इस प्रकार मुद्रा-कोष अपनी स्वर्ण निधि का एक-तिहाई भाग कम कर देगा।

(v) स्वर्ण की बिक्री से प्राप्त लाभ को एक विशेष ट्रस्ट कोष में रखा जायगा जिसका उपयोग अत्यधिक प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन वाले देशों की सहायतार्थ किया जायगा।

(vi) मुद्राओं की विनिमय-दरें निर्धारित करने के लिए स्वर्ण को आधार नहीं माना जायेगा तथा परिवर्तनशील विनिमय दरों को मुद्रा-कोष द्वारा मान्यता दे दी जायगी। अन्तरिम समिति के उपर्युक्त सुझावों को अब स्वीकार कर लिया गया है तथा इसके लिए मुद्रा-कोष की धाराओं में आवश्यक परिवर्तन भी कर दिया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में अब स्वर्ण के स्थान पर SDR को मूल्यांकन का आधार माना जाता है। प्रति इकाई SDR के मूल्य का निर्धारण स्वर्ण पर आधारित नहीं है, बल्कि विश्व की 16 प्रमुख मुद्राओं के समूह के औसत मूल्य पर आधारित है।

1976-77 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने 35 SDR प्रति औंस की अधिकृत कीमत पर 1·173 करोड़ औंस शुद्ध सोने की बिक्री की जिसका कुल मूल्य 41 1 करोड़ SDR था। इसमें से 57·3 लाख औंस सोना आठ नीलामियों के अन्तर्गत बेचा गया तथा इसकी राशि ट्रस्ट कोष में रखी गयी। लगभग 60 लाख औंस सोना 112 सदस्य देशों को बेचा गया। जिन 30 देशों की साख स्थिति बहुत अच्छी थी उन्हें 34 97 लाख औंस सोना उनकी मुद्राओं के बदले ही बेच दिया गया जबकि 82 अन्य देशों को 12 साहूकार देशों के माध्यम से लगभग 25 लाख औंस सोना बेचा गया। 14 देशों के अनुरोध पर 1 3 लाख औंस स्वर्ण की बिक्री भविष्य के लिए स्थगित की गयी। मई 1978 तक मुद्रा-कोष द्वारा 24 8 मिलियन औंस स्वर्ण बेचा जा चुका है। ट्रस्ट फण्ड (Trust Fund) के लिए स्वर्ण नीलामी द्वारा बेचा जाता है। कुछ नियमों के अन्तर्गत अल्प विकसित देशों को अप्रतियोगी बोलियों (Non Competing bids) के आधार पर भी स्वर्ण बेचा जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में स्वर्ण को अब कोई स्थान प्राप्त नहीं है। परन्तु

राष्ट्रीय स्तर पर केन्द्रीय बैंक अपने पास स्वर्ण के मौद्रिक कोष रख सकते हैं तथा अपनी इच्छानुसार इसका मूल्यांकन कर सकते हैं। स्वर्ण का मौद्रिक कार्य लगभग समाप्त सा हो चुका है परन्तु फिर भी उसकी चमक ने व्यक्तियों को आकर्षित कर रखा है। मई 1980 तक मुद्रा कोष के द्वारा 50 मिलियन औंस स्वर्ण बेचा जा चुका था। इसमें से 25 मिलियन औंस 35 SDR प्रति औंस के मूल्य पर उन देशों को बेचा गया है जो 31 अगस्त, 1975 को मुद्रा कोष के सदस्य थे। शेष 25 मिलियन औंस स्वर्ण की बिक्री चार वर्षों में सार्वजनिक नीलामी के द्वारा की गयी है। इससे प्राप्त लाभ (35 SDR प्रति औंस से अधिक मूल्य के बराबर) 4 6 बिलियन डालर था। इसमें से 1 3 बिलियन डालर की राशि 104 विकासशील देशों में बाँट दी गयी है तथा शेष मुख्य भाग ट्रस्ट फण्ड में हस्तान्तरित कर दिया गया है। जैसा कि हम जानते है, इस ट्रस्ट कोष में से विकासशील देशों को रियायती ऋण दिये जाते हैं। मुद्रा-कोष के पास अब लगभग 140 मिलियन औंस स्वर्ण शेष है जिसकी बिक्री का निर्णय मताधिकार के 85% बहुमत से किया जा सकता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में स्वर्ण को अब कोई स्थान प्राप्त नहीं है। किन्तु राष्ट्रीय स्तर पर केन्द्रीय बैंक अपने पास स्वर्ण के मौद्रिक कोष रख सकते हैं तथा मनमाने ढंग से इसका मूल्यांकन कर सकते हैं।

*यह उल्लेखनीय है कि सामान्य परिस्थितियों में प्रत्येक सदस्य देश को अपने कोटे का एक-*चौथाई अंशदान स्वर्ण में तथा शेष तीन-चौथाई अपनी मुद्रा के रूप में देना होता है। परन्तु भारत, श्रीलंका, पाकिस्तान, रुआण्डा, बुरुण्डी, लाइबेरिया, मॉरीशस एवं कुछ ऐसे अल्पविकसित देशों के पास पर्याप्त स्वर्णकोष न होने के कारण इन्हें अपने निर्धारित कोटे का 25 प्रतिशत से भी काफी कम स्वर्ण के रूप में देने की छूट दे दी गयी है। उदाहरणार्थ, भारत ने अपने कोटे का 17%, पाकिस्तान ने लगभग 15% व श्रीलंका ने लगभग 22 5% स्वर्ण के रूप में जमा किया हुआ है।

यह भी उल्लेखनीय है कि विभिन्न देशों के अंशदान के रूप में मुद्रा-कोष में जमा की जाने वाली मुद्राएँ वस्तुतः मुद्रा-कोष को नहीं सौंपी जाती। इसके लिए सदस्य देशों को केवल यह वायदा करना पड़ता है कि वे आवश्यकता पड़ने पर इन मुद्राओं को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को उपलब्ध करा देंगे।

एक बात यह भी है कि यदि कोई देश अपनी मुद्रा का स्वर्ण के रूप में अवमूल्यन कर देता है तो उसे अपनी मुद्रा के अंशदान में वृद्धि करनी पड़ती है। इसी प्रकार मुद्रा का अधिमूल्यन करने पर सदस्य देश मुद्रा के रूप में प्रस्तुत अपने अंशदान में कमी कर सकता है।

तृतीय संशोधन के बाद, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, भारत की स्थिति पाँचवीं न रहकर आठवीं हो गयी है तथा जापान, कनाडा एवं इटली के कोटों की राशि भारत से कहीं अधिक कर दी गयी है।

अभ्यंशों का महत्व
[SIGNIFICANCE OF QUOTAS]

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के संगठन एवं कार्यों की दृष्टि से अभ्यंशों का बहुत अधिक महत्व है। संक्षेप में, निम्न बातें अभ्यंशों के महत्व को स्पष्ट करती हैं :

(i) अभ्यंशों द्वारा प्रत्येक सदस्य देश द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को दिये गये अंशदान का निर्धारण होता है और इस प्रकार इनके आधार पर मुद्रा-कोष के साधनों का ज्ञान हो सकता है। यही नहीं, यह भी जान सकते हैं कि विभिन्न देशों के द्वारा उनके अंशदान का कितना भाग स्वर्ण के रूप में एवं कितना उनकी मुद्राओं के रूप में दिया गया। इनके आधार पर मुद्रा-कोष के पास जिस देश की मुद्रा का अभाव हो उसके कोटे में वृद्धि की जा सकती है।

(ii) अभ्यंशों के आधार पर यह भी निर्धारित होता है कि कोई सदस्य देश अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से किस दर से एवं कितनी राशि प्राप्त कर सकता है। उदाहरणार्थ, अब तक कोई देश साधारण परिस्थितियों में अपने कोटे की 25% से अधिक राशि एक बार में सहायता-स्वरूप नहीं ले सकता था, तथा कुल ऋणों का अनुपात अभ्यंश का अधिकतम शत-प्रतिशत हो सकता है। हाल ही में एक वर्ष की राशि की अनुपात सीमा अभ्यंश के समान तथा संचयी अनुपात की सीमा 4 गुनी तक बढ़ा दी गयी है। इसके अतिरिक्त किसी सदस्य देश से सहायता हेतु प्रदान की गयी राशि पर कितना ब्याज लिया जायगा, यह भी उसके कोटे पर ही निर्भर करता है।

(iii) अभ्यंश के आधार पर ही प्रत्येक सदस्य देश की मतदान-शक्ति (voting strength) का निर्धारण होता है। जैसाकि ऊपर बताया गया है, प्रत्येक सदस्य देश को 250 मौलिक मत एवं अभ्यंश के प्रत्येक 1 लाख डालर की राशि पर 1 अतिरिक्त मत देने का अधिकार होता है। इस आधार पर आज की अभ्यंश स्थिति के अनुसार अमरीका को 67 250 मत, ब्रिटेन को 28 250 मत व भारत को 9 650 मत देने का अधिकार है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि किसी देश की आर्थिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष में मतदान-शक्ति का संकेत उसे प्राप्त अभ्यंश के आधार पर मिल सकता है। स्वाभाविक है कि औद्योगिक देशों को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के प्रबन्ध में अधिक ऊँचा स्थान प्राप्त है।

मुद्रा-कोष की तरलता (Liquidity of the Fund)—मुद्रा-कोष के तरल साधनों में निम्न को शामिल किया जाता है (i) प्रयोग योग्य मुद्राएँ, (ii) विशेष आहरण अधिकार (iii) ऋण। मुद्रा-कोष के पास विद्यमान स्वर्ण को तरल कोषों की श्रेणी में नहीं लिया जाता। अप्रैल 1988 के अन्त में प्रयोग योग्य मुद्राओं का स्टॉक 40 2 बिलियन SDR के लगभग था जबकि सामान्य खाते में 0 8 बिलियन SDR थे। इस समय मुद्रा-कोष पर बकाया ऋणों की राशि 9 07 बिलियन SDR थी जो अप्रैल 1987 की तुलना में 3 63 बिलियन डालर कम थी। अप्रैल 1987 व अप्रैल 1988 के बीच मुद्रा-कोष के तरल साधनों की देय राशि 36 72 बिलियन SDR थी जो 1988 तक घटकर 31 28 बिलियन SDR हो गयी।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के कार्य
[FUNCTIONS AND OPERATIONS OF I M F]

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं :

1 **विभिन्न देशों की मुद्राओं की मूल्य-समता (par values) का निर्धारण एवं उनमें परिवर्तन करना**—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के चतुर्थ समझौता अनुच्छेद के अनुसार सदस्य बनने पर प्रत्येक देश को अपनी मुद्रा का अर्घ या मूल्य स्वर्ण या डालर के रूप में घोषित करना पड़ता है। इस अर्घ अथवा मूल्य को स्वर्ण तथा डालर दोनों के रूप में भी व्यक्त किया जा सकता है तथा 0 888671 ग्राम स्वर्ण प्रति डालर की दर को (जो 1 जुलाई, 1944 को प्रचलित थी) आधार बनाया जा सकता है। कोई देश यदि चाहे तो अपनी मुद्रा के मूल्य की घोषणा करना अस्वीकार भी कर सकता है। साइप्रस व अफगानिस्तान ने अपनी मुद्रा के अर्घ को डालर के रूप में घोषित करना अस्वीकार कर दिया था। परन्तु एक बार किसी मुद्रा का मूल्य डालर स्वर्ण में घोषित होने के बाद उस देश को भी सभी विदेशी विनिमय सौदों को डालर में ही व्यक्त करना होता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को यह अधिकार प्राप्त है कि वह किसी देश द्वारा उसकी मुद्रा का प्रस्तावित मूल्य अस्वीकार कर दे। ऐसा वस्तुतः तब किया जाता है जब मुद्रा-कोष के संचालकों को यह विश्वास हो जाय कि प्रस्तावित अर्घ वस्तु-स्थिति की उपेक्षा करके निर्धारित किया गया है और इस कारण यह स्थिर नहीं रह पायेगा।

सच तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना से लेकर आज तक किसी भी सदस्य देश द्वारा प्रस्तावित विनिमय-दर को स्वीकार नहीं किया गया है। प्रारम्भ में उन सभी दरों को स्वीकार किया गया जो अक्टूबर 1946 में प्रचलित थीं। उस समय डालर के रूप में सभी मुद्राओं को अपेक्षाकृत अधिक बताया गया था तथा व्यापार एवं विनिमय नियन्त्रण की विधियों द्वारा इन विनिमय-दरों को बनाये रखा जा रहा था। नवम्बर 1947 में प्रचलित विनिमय-दरों को सही मानते हुए इन्हें औपचारिक रूप में स्वीकार कर लिया गया। परन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि जिन देशों की मुद्राओं के मूल्य कृत्रिम रूप से (डालर के रूप में) अधिक रखे गये थे उनके निर्यात अवरुद्ध होने लगे और सर्वप्रथम 1949 में ब्रिटेन को पौण्ड स्टर्लिंग का अवमूल्यन करना पड़ा।

प्रत्येक सदस्य का यह दायित्व है कि वह अपनी मुद्रा के घोषित एवं निर्धारित मूल्य को स्थिर बनाये रखे। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का एक उद्देश्य 'विनिमय-दरों में स्थिरता रखना" बताया गया था, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि विनिमय-दरों को कठोर (rigid) रूप में स्थिर रखा जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष घोषित या समता मूल्य (parity value) से 1 प्रतिशत विचलन की छूट देता है। 1972 से विचलन की यह सीमा 2 5 प्रतिशत कर दी गयी है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष किसी सदस्य देश को उसके आधारभूत (fundamental) भुगतान-सन्तुलन को ठीक करने हेतु मुद्रा के क्षमता मूल्य मे 2½ प्रतिशत से अधिक परिवतन करने की भी छूट देता है। इसके लिए सदस्य देश को मुद्रा-कोष मे परामर्श लेने की आवश्यकता होती है क्योंकि इस परामर्श के माध्यम से ही विभिन्न देशो के बीच अवमूल्यन (या अधिमूल्यन) की होड को नियन्त्रित किया जा सकता है। सामान्य परिस्थितियो मे मुद्रा-कोष किसी भी सदस्य देश की विनिमय-दर मे पहले किये गये परिवर्तनो सहित 10 प्रतिशत तक परिवर्तन की अनुमति दे देता है। परन्तु यदि विनिमय-दर मे प्रस्तावित परिवर्तन 10 प्रतिशत से अधिक हो तो मुद्रा कोष को यह अधिकार है कि वह इन्हे स्वीकृति न दे। यदि मुद्रा के समता मूल्य या विनिमय-दर का प्रस्तावित परिवर्तन 20 प्रतिशत से कम है तो सदस्य देश के आग्रह पर इस पर 72 घण्टे मे निर्णय लिया जाता है। यदि प्रस्तावित परिवर्तन 20% से अधिक है तो मुद्रा-कोष 72 घण्टे से अधिक समय मे इस पर अपना निर्णय देने को स्वतन्त्र है।

यदि किसी सदस्य देश द्वारा उसकी मुद्रा की विनिमय-दर मे परिवर्तन करने पर मुद्रा-कोष के सदस्य देशो के अन्तर्राष्ट्रीय सौदों पर कोई प्रभाव न होता हो तो सदस्य देश को ऐसे परिवर्तन के लिए मुद्रा-कोष की पूर्व अनुमति लेने की आवश्यकता नही है। साधारणतया मुद्रा-कोष विनिमय दरों मे परिवर्तन के सभी प्रस्तावो का अनुमोदन कर देता है, परन्तु इसके लिए मुद्रा-कोष के अधिकारियो को यह विश्वास हो जाना आवश्यक है कि ये परिवर्तन सम्बद्ध सदस्य देशो के आधारभूत भुगतान-असन्तुलन को ठीक करने हेतु अनिवार्य है।

प्रायः विनिमय-दरो मे प्रस्तावित परिवर्तनो को स्वीकृति देने के लिए मुद्रा-कोष सम्बद्ध देश की घरेलू, सामाजिक या राजनीतिक नीतियो मे किये जाने वाले परिवर्तनो पर कोई ध्यान नही देता। उदाहरणार्थ, यदि मुद्रा-कोष को यह विश्वास है कि आधारभूत भुगतान असन्तुलन सम्बद्ध सदस्य देश मे विद्यमान मुद्रा-स्फीति के कारण है तो इस आधार पर मुद्रा-कोष विनिमय-दर मे प्रस्तावित परिवर्तन को अस्वीकृत नही करेगा। यह व्यवस्था इसलिए रखी गयी है ताकि सदस्य देशो के आन्तरिक मामलो मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के हस्तक्षेप को रोका जा सके।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को यह भी अधिकार है कि वह सदस्य देश की मुद्राओं के समता मूल्यो (par values) मे एक साथ एक ही अनुपात मे परिवर्तन कर दे। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा-कोष मे 10 प्रतिशत या इससे अधिक अंशधारी सदस्य देशो को आपत्ति न हो।

यदि कोई सदस्य देश अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की पूर्व-अनुमति के बिना अपनी मुद्रा के समता मूल्य या विनिमय-दर मे परिवर्तन कर देता है तो उसे मुद्रा-कोष की सभी प्रकार की सहायता से वंचित किया जा सकता है। यदि सदस्यो का बहुमत इस पक्ष मे हो तो ऐसे देश को सदस्यता से भी वंचित किया जा सकता है।

2 **विनिमय-प्रतिबन्धों को हटाना** (Elimination of Exchange Restrictions)—विनिमय-प्रतिबन्धो को समाप्त करना अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के प्रमुख कार्यों मे से एक है। यही नही मुद्रा-कोष विविध विनिमय-दरों एव विभेदात्मक मौद्रिक नीतियो के विरुद्ध भी कार्य करता है क्योंकि इन नीतियो के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास मे अवरोध उत्पन्न होता है। वस्तुत. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एक स्वतन्त्र बहुमुखी भुगतान-प्रणाली की स्थापना हेतु कार्य करता है। मुद्रा-कोष के सभी सदस्य इस बात का सकल्प करते है कि वे परिस्थितियों के अनुकूल होते ही सभी प्रकार के विनिमय-प्रतिबन्धो को समाप्त कर देंगे तथा इनका पुन उपयोग केवल उस स्थिति मे करेंगे जब ऐसा करना नितान्त आवश्यक हो जाये। यह उल्लेखनीय है कि मुद्रा-कोष विनिमय प्रतिबन्धो का पूर्ण रूप से निषेध नही करता। विनिमय-प्रतिबन्धो के उपयोग हेतु निम्न बातें दृष्टिगत रखी गयी :

(i) यह कि इनके पूर्ण रूप से उन्मूलन हेतु काफी समय की आवश्यकता है,

(ii) यह कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का उद्देश्य विनिमय-प्रतिबन्धो की पूर्ण समाप्ति न होकर केवल उन प्रतिबन्धों को समाप्त करना है जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार मे बाधक है, तथा

(iii) जिन देशों की मुद्राएँ दुर्लभ घोषित की जाती है वे विनिमय-प्रतिबन्धो का उपयोग करें तब भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव नही होगा।

इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु सभी सदस्य देशों से यह अपेक्षा की गयी कि एक निर्दिष्ट अवधि के बाद वे सातवें अनुच्छेद (Article VII) में वर्णित दायित्वों का पालन करेंगे। इस अनुच्छेद के अनुसार कोई भी देश मुद्रा-कोष की पूर्व अनुमति बिना भुगतानों पर प्रतिबन्ध नहीं लगाता, अथवा चालू अन्तर्राष्ट्रीय सौदों के भुगतानों को रोक नहीं सकता। यही नहीं उक्त अनुच्छेद के अनुसार, बिना पूर्व अनुमति के कोई भी देश विविध भुगतान-दरों या विभेदात्मक मौद्रिक व्यवस्था का प्रचलन नहीं कर सकता। इस अनुच्छेद के कारण चालू खाते में परिवर्तनशीलता को बाजार की (माँग व पूर्ति) शक्तियों पर छोड़ने की अपेक्षा औपचारिक रूप दे दिया गया।

3 मुद्रा-कोष के वित्तीय कार्य (Financial Operations of the Fund)—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के वित्तीय कार्य निम्न प्रकार हैं

(i) मुद्राओं की खरीद व बिक्री—मुद्रा-कोष का यह एक प्रमुख दायित्व है कि वह सदस्य देशों की मुद्राओं को बेचे एवं खरीदे। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को अपने साधनों को घूमते हुए (revolving) रूप में रखना होता है तथा इसके लिए सदस्य देशों से यह कहा जाता है कि वे समय-समय पर अपनी मुद्राएँ खरीदते रहें जिससे मुद्रा-कोष के पास कुछ ही मुद्राओं का जमाव नहीं हो सके। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है मुद्रा-कोष द्वारा आवंटित कोटा का तीन-चौथाई भाग सदस्य देशों की मुद्राओं के रूप में जमा होता है। ये मुद्राएँ उन सदस्य देशों को बेची जाती हैं जिन्हें इनकी आवश्यकता है। कुछ समय पूर्व तक इन देशों में यह कहा जाता था कि वे स्वर्ण अथवा डालर के बदले अपनी मुद्रा खरीद लें। दूसरे शब्दों में, किसी सदस्य देश को अल्पकाल के लिए उसकी मुद्रा के बदले डालर या येन प्राप्त हो सकता है परन्तु कुछ ही समय बाद उसे डालर, मुद्रा या अन्य कोई मुद्रा (या स्वर्ण) देकर अपनी मुद्रा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से वापस लेनी पड़ती थी। परन्तु छठवीं सामान्य समीक्षा के पश्चात् इस प्रकार की पुनः खरीद की अनिवार्यता को समाप्त कर दिया गया।

(ii) सदस्य देशों की अन्य मुद्राएँ खरीदने की क्षमता (Drawing Rights)—किसी भी सदस्य देश की विदेशी मुद्रा खरीदने की क्षमता उसके आवंटित कोटे पर निर्भर करती है। इस सन्दर्भ में निम्नांकित नियम महत्वपूर्ण हैं

(अ) किसी भी एक वर्ष की अवधि में किसी सदस्य देश द्वारा मुद्रा खरीदने पर उसके अभ्यंश में मुद्रा के अनुपात में 25% से अधिक वृद्धि न हो,

(ब) विदेशी मुद्रा की कुल खरीद सदस्य देश के कोटे की दुगुनी से अधिक न हो।

इस प्रकार एक वर्ष में कोई भी सदस्य देश अपने कोटे का अधिकतम 25% तथा कुल मिलाकर अपने कोटे का अधिकतम 145% विदेशी मुद्रा खरीदने में प्रयुक्त कर सकता है। प्रत्येक देश के कोटे को पाँच भागों में विभाजित किया गया है—कोटे की 25% सीमा स्वर्ण में दिये गये अंशदान के समान है। साधारणतया इस सीमा तक विदेशी मुद्रा खरीदने पर मुद्रा-कोष कोई आपत्ति नहीं करता। इस सीमा तक विदेशी मुद्रा खरीदने के लिए भी सदस्य देश को उपयुक्त कारण बताने होते हैं तथा कोटे की 25% से अधिक की विदेशी मुद्रा खरीदने पर अधिक से अधिक स्पष्टीकरण देने की आवश्यकता होती है। यदि प्रत्येक बार 25% सीमा के नियम का सख्ती से पालन किया जाय तो प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन की समस्या से प्रभावित देश को पर्याप्त विदेशी मुद्रा उपलब्ध नहीं हो पाती।

अपने सामान्य साधनों (जो अब एक मुद्रा विशेष में व्यक्त नहीं हैं) के उपयोग हेतु मुद्रा-कोष सदस्यों के भुगतान सन्तुलन, रिजर्व स्थिति तथा विनिमय बाजारों को देखते हुए विभिन्न बिक्री योग्य मुद्राओं का चुनाव करेगा। सदस्य देश मुद्रा-कोष से अन्य देशों की मुद्राएँ उसी स्थिति में खरीदेंगे जबकि उन्हें भुगतान-सन्तुलन के लिए इनकी आवश्यकता हो। इसी प्रकार सदस्य देश उन मुद्राओं को जमा करेंगे जिनकी पुनः खरीद में प्रयोग हेतु मुद्रा-कोष अनुमति देता है। मुद्रा-कोष SDRs के बदले सदस्य देश को अन्य देशों की मुद्राएँ उपलब्ध कराता है अथवा अन्य देशों की मुद्राओं के बदले SDRs उपलब्ध करता है।

1986-87 के वित्तीय वर्ष के अन्त में मुद्रा-कोष के प्रयोग योग्य साधन (मुद्राएँ तथा विशेष आहरण अधिकार) 40 3 बिलियन SDR थे जो 1988-89 के अन्त में बढ़कर 42 9 बिलियन

SDR हो गये। 1986 में प्रबन्ध-मण्डल ने यह निर्णय लिया कि उधार लिये हुए साधनों का अधिक प्रयोग सहारा योजना तथा विस्तृत सुविधाओं के लिए की गयी खरीद हेतु किया जाये।

(iii) मुद्रा-कोष द्वारा सदस्य देशों से ऋण लेना—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने दस औद्योगिक देशों के साथ सामान्य समझौते किये हैं। इन समझौतों के अन्तर्गत मुद्रा-कोष इन देशों से मुद्राएँ उधार लेकर प्रतिकूल भुगतान वाले देशों को सहायता प्रदान करता है। 31 अक्टूबर, 1977 को सामान्य समझौतों के अन्तर्गत मुद्रा-कोष ने 664 करोड़ SDR के ऋण प्राप्त किये जो सभी औद्योगिक देशों से प्राप्त किये गये थे। हाल के वर्षों में सऊदी अरब, जापान तथा अन्तर्राष्ट्रीय निपटारा बैंक से मुद्रा-कोष के साथ अधिक ऋण समझौते हुए हैं।[1]

1981 में मुद्रा-कोष ने सऊदी अरब से 8 बिलियन SDR का मध्यकालीन ऋण लेने हेतु समझौता किया। इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय निपटारा बैंक व अन्य बैंकों से 1·2 बिलियन SDR अल्पकालीन ऋणों के लिए समझौता किया गया। 1984 में 6 बिलियन SDR के अल्पकालीन ऋण निपटारा बैंक, नेशनल बैंक ऑफ बेल्जियम, जापान सरकार एवं सऊदी अरब से लिये। 1987 में मुद्रा-कोष के पास कुल मिलाकर 24 8 बिलियन SDR की साख-स्वीकृतियाँ उपलब्ध थीं जिनके तहत मुद्रा-कोष आवश्यकतानुसार विभिन्न मुद्राएँ प्राप्त कर सकता था। 1987-88 में जहाँ मुद्रा-कोष ने 1·3 बिलियन SDR के नये ऋणों के लिए समझौता किया वहीं 4 9 बिलियन SDR के पुराने ऋण चुका दिये। अप्रैल 1988 के अन्त में मुद्रा-कोष के बकाया देय ऋणों की राशि 9·1 बिलियन SDR थी। अप्रैल 1989 में यह राशि घटकर 5 6 बिलियन SDR रह गयी। अप्रैल 1989 के अन्त तक मुद्रा-कोष के द्वारा दिये गये ऋणों में अवधिपार ऋणों की राशि 2 9 बिलियन SDR तक पहुँच गयी थी।

(iv) सदस्य देशों को प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन ठीक करने हेतु सहायता देना—यह मुद्रा-कोष का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष अपने सदस्य देशों को अनेक प्रकार से सहायता देकर उनकी भुगतान-सन्तुलन समस्याओं के निदान में सहायक होता है। इनके द्वारा दी गयी विविध प्रकार की सहायता का विवरण नीचे दिया जा रहा है :

(a) साधारण खाते में मुद्राओं की खरीद—ऋण प्राप्त करने के सामान्य समझौते के अन्तर्गत आवश्यकता पड़ने पर कोष अपने सदस्य देशों में से दस बड़े औद्योगिक देशों[2] से विदेशी मुद्रा प्राप्त कर सकता है। इनका उपयोग समय-समय पर उत्पन्न होने वाली अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की समस्याओं को हल करने के लिए किया जा सकता है। इन समझौतों की योजना अक्टूबर 1962 में लागू की गयी थी। 1966 तक मुद्राओं की खरीद की बकाया राशि 4 3 बिलियन SDR थी जो 1972 तक 3 बिलियन SDR से भी कम रह गयी। यह उल्लेखनीय है कि सदस्य देश निर्दिष्ट अवधि (3 से 5 वर्ष के बीच) के भीतर इन अन्य देशों की मुद्रा वापस करके अपनी उस मुद्रा को वापस खरीद लेते हैं जिसे वे अन्य देशों की मुद्राएँ खरीदते समय मुद्रा-कोष में जमा कराते हैं।

1973 के अन्त में मुद्रा-कोष के साधनों के उपयोग में हुई वृद्धि इस बात की द्योतक है कि तेल निर्यात करने वाले देशों के अतिरिक्त अन्य देशों, विशेष रूप से विकासशील देशों के वर्तमान भुगतान-सन्तुलन को दूर करने में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष कितना सक्रिय रहा है। स्विट्जरलैण्ड के साथ मुद्रा-कोष ने इस प्रकार के ऋण लेने के लिए अलग से समझौते किये हैं। जनवरी 1983 में पेरिस में हुई एक बैठक में दस बड़े औद्योगिक देशों ने यह तय किया है कि इन देशों तथा स्विट्जरलैण्ड से मुद्रा कोष को प्राप्त होने वाली राशि 6 5 बिलियन SDRs से बढ़ाकर 17 बिलियन SDRs करदी जाय। सऊदी अरब ने भी इस व्यवस्था में सम्मिलित होने की स्वीकृति दी है।

(b) तेल निर्यातक देशों से सुविधाएँ दिलाना (Oil Facility)—तेल के मूल्यों में असाधारण वृद्धि के पश्चात् मुद्रा-कोष ने तेल निर्यातक देशों से उन देशों को ऋण दिलाना प्रारम्भ किया

---

1 *International Financial Statistics*, I M. F. December 1977.
2 Belgium, Canada, France, Germany, Italy, Japan, Netherlands, Sweden, U. K. and U. S. A.

है जिनका भुगतान-सन्तुलन तेल के बढ़े हुए मूल्यों के कारण बिगड़ा है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु मुद्रा-कोष तेल निर्यात करने वाले देशों से स्वयं ऋण लेता है। 1974 की तेल सुविधा हेतु प्राप्त ऋणों पर मुद्रा-कोष ने 7 प्रतिशत ब्याज दिया था, परन्तु 1975 में इन ऋणों पर देय ब्याज 7 25 प्रतिशत कर दिया गया। 1975-76 के वर्ष म मुद्रा-कोष ने 30 3 मिलियन SDR ब्याज के रूप में चुकाये जिसमे से ऋणदाताओं की इच्छानुसार 276 मिलियन SDR का भुगतान डालर के रूप म तथा शेष उनकी अपनी मुद्राओं अथवा परस्पर एक-दूसरे के प्रति विशेष आहरण अधिकारों के रूप में चुकाये गये। 1976 77 म तेल सुविधा के लिए प्राप्त ऋणों पर मुद्रा-कोष ने 474 मिलियन SDR ब्याज के रूप म चुकाये जिसम से 449 मिलियन SDR अमरीकी डालर के रूप म तथा शेष चार ऋणदाता देशों की मुद्रा के रूप चुकाये गये।

मई 1976 तक तेल सुविधा के अन्तर्गत किये गये समझौतों के अन्तर्गत 690 करोड़ SDR के ऋण लिये जा चुके थे जिसम से 1 897 बिलियन SDR के ऋण औद्योगिक देशों (जर्मनी 600 मिलियन, नीदरलैण्ड्स 35 करोड़ स्विट्जरलैण्ड तथा जापान म प्रत्यक मे 25 करोड़ SDR) तथा लगभग 5 बिलियन SDR 13 तेल-निर्यातक देशों के संगठन (OPEC) के सदस्यों से प्राप्त किये गये। 1974 75 म लगभग 3 5 बिलियन SDR के ऋण मुद्रा-कोष द्वारा तेल सुविधा के अन्तर्गत आवश्यकता वाले देशों को दिये गये थे जबकि 1975-76 म ऋणों की यह राशि 390 मिलियन SDR तक पहुँच गयी। यह उल्लेखनीय है कि साधारण खाते से दिये गये ऋणों का दो तिहाई भाग इस वर्ष तेल सुविधा के अन्तर्गत दिया गया। कुल मिलाकर 6 7 बिलियन SDR के ऋण तेल सुविधा के अन्तर्गत दिये गये जिसमे से 1 बिलियन SDR ब्रिटेन ने, 1 45 बिलियन SDR इटली ने तथा 200 मिलियन SDR भारत ने प्राप्त किये। 1 मार्च, 1976 म तेल सुविधा को समाप्त कर दिया गया।

1 अगस्त, 1975 को कार्यकारी सचालकों ने तेल सुविधा प्राप्त करने वाले देशों मे से अत्यधिक कमजोर देशों की सहायतार्थ एक अनुदान खाता (Subsidy Account) स्थापित किया। तेल की कीमतों म हुई वृद्धि से बुरी तरह प्रभावित 35 देशों में से 18 ने इस खाते मे अनुदान प्राप्त किया। इस खाते म 24 देशों ने 30 जून, 1977 तक 655 मिलियन SDR जमा किये थे तथा 5% की दर से इन 18 देशों ने 1975-76 व 1976-77 मे क्रमश 138 मिलियन SDR व 2 75 मिलियन SDR का अनुदान प्राप्त किया।

(c) क्षतिपूरक वित्तीय सहायता (Compensatory Financing)—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने फरवरी 1963 से प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन से ग्रस्त देशों को विशेषत प्राथमिक वस्तुओं की व्यापार शर्तों (terms of trade) की निरन्तर गिरावट से हानि उठा रहे देशों को अस्थायी सहायता देना प्रारम्भ किया है। परन्तु क्षतिपूरक सहायता के रूप मे कोई भी सदस्य देश एक वर्ष मे अपने अभ्यंश का अधिकतम 50 प्रतिशत भाग प्राप्त कर सकता है।[1] 1963 से लेकर 31 अक्टूबर 1977 तक कुल मिलाकर 377 करोड़ SDR क्षतिपूरक सहायता के रूप म दिये गये जिसमे से अर्जेंटीना ने 280 मिलियन SDR न्यूजीलैण्ड, मैक्सिको तथा मिस्र मे से प्रत्येक ने 180 मिलियन SDR व चिली तथा भारत मे से प्रत्येक ने लगभग 150 मिलियन SDR प्राप्त किये। क्षतिपूरक सहायता के अन्तर्गत 1976-77 मे सर्वाधिक राशि (332 मिलियन SDR) आस्ट्रेलिया ने प्राप्त की। 1977 म स्थापित की गयी पूरक वित्तीय सुविधा (Supplementary Financing Scheme) लागू करने के लिए मुद्रा-कोष ने औद्योगिक देशों तथा तेल के निर्यातक देशों से ऋण लेने का निर्णय किया है। 13 सदस्य देशों तथा स्विट्जरलैण्ड के राष्ट्रीय बैंक ने कोष को इस सुविधा के अन्तर्गत 1982 व 1983 मे क्रमश 2 6 बिलियन तथा 2 8 बिलियन SDR की क्षतिपूरक सहायता प्रदान की गयी।

1986 87 मे आठ देशों ने क्षतिपूरक सहायता के रूप मे 593 मिलियन SDR की राशि प्राप्त की थी। 1987-88 मे इसके अन्तर्गत सात देशों ने 1 54 बिलियन SDR प्राप्त किये जिनमे अर्जेंटीना ने 752 मिलियन SDR तथा इण्डोनेशिया ने 463 मिलियन SDR प्राप्त किये।

---

1 24 दिसम्बर, 1975 म पूर्व यह अनुपात 25 प्रतिशत था।

(d) सहारा आयोजन की व्यवस्था (Stand-by Arrangement)—पिछले कुछ वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की कार्य प्रणाली विशेष रूप से इसके द्वारा दी जाने वाली सहायता सम्बन्धी नीति में काफी परिवर्तन किये गये हैं। कुछ स्थितियों में मुद्रा-कोष ने आवश्यकता वाले देशों के लिए अधिक सहायता का प्रावधान कर दिया है। अब प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन रहने पर सदस्य देश को यह छूट दी गयी है कि पाँच वर्ष के बाद भी अपनी मुद्रा को खरीद लें। अक्टूबर 1952 से "सहारा आयोजन" (Stand-by Arrangement) की व्यवस्था की गयी है जिसके अन्तर्गत कोई देश पहले निर्दिष्ट राशि के ऋण हेतु समझौता कर लेता है। इस ऋण की राशि आवश्यकतानुसार अनुबन्ध की अवधि के भीतर कभी भी उठायी जा सकती है। बहुधा ऐसा ऋण एक वर्ष के लिए दिया जाता है एवं इस अवधि के लिए प्राप्त ऋण $\frac{1}{4}\%$ वार्षिक दर से शुल्क लिया जाता है। परन्तु इस शुल्क की वसूली ऋण हेतु किये गये समझौते के समय ही कर ली जाती है। कभी-कभी कोई सदस्य देश ऋण के लिए समझौता करने की अपेक्षा यह आश्वासन चाहता है कि आवश्यकता के समय उसे निर्दिष्ट मात्रा तक ऋण प्राप्त हो जायेगा। ऐसा आश्वासन न मिलने की स्थिति में उस देश को विनिमय-प्रतिबन्धों का आश्रय लेना पड़ता है ताकि आने वाली अवधि में विदेशी विनिमय संकट से बचा जा सके। "सहारा आयोजनों" (Stand-by Arrangements) के अन्तर्गत हुए ऋण अनुबन्ध साधारणतया एक वर्ष के लिए होते हैं या फिर उपयुक्त परिस्थितियों में अनुबन्ध की अवधि तीन वर्ष से कम की हो सकती है। सहारा आयोजन के अन्तर्गत अनुबन्धित राशि को आयोजन की अवधि के दौरान अनेक चरणों में आवंटित किया जा सकता है। 1952 से 1984 के बीच मुद्रा-कोष तथा सदस्य देशों के मध्य 548 सहारा आयोजन समझौते हुए। अनेक बार सदस्य देश अनुबन्ध में दी गयी अवधि से पूर्व ही अपनी मुद्रा की अतिरिक्त मात्रा की खरीद कर लेते हैं। कभी-कभी अनुबन्ध होने पर भी सदस्य देश मुद्रा-कोष से कोई ऋण नहीं ले पाते। इस प्रकार "सहारा आयोजनों" को प्रतिरक्षा की दूसरी पंक्ति (second line of defence) के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। यह उल्लेखनीय है कि 'सहारा आयोजनों' पर अब तक अनुबन्ध विकासशील देशों के लिए ही हुए हैं परन्तु बहुधा अनुबन्ध की अवधि समाप्त होने तक वे समूची राशि का उपयोग नहीं कर पाते। अनेक बार सदस्य देश इन अनुबन्धों के विद्यमान रहते हुए भी मुद्रा-कोष से कोई सहायता प्राप्त नहीं करता। 1987-88 में 14 नये सहारा आयोजन समझौते किये गये जिनकी कुल राशि 1·7 बिलियन SDR थी। 1986-87 में 22 आयोजनों के तहत 4 12 बिलियन SDR के समझौते किये गये थे। अधिकांश नये समझौते अफ्रीका एवं लैटिन अमरीकी देशों के साथ किये गये थे। इनमें भी अर्जेंटीना को 0·95 बिलियन SDR तथा मिस्र को 0 25 बिलियन SDR देने का निर्णय किया गया। 1988-89 में 12 नये सहारा आयोजन समझौतों के अन्तर्गत 3 बिलियन SDR की सहायता देना तय हुआ। इनमें सर्वाधिक राशि 1 1 बिलियन SDR की सहायता ब्राजील के लिए स्वीकृत की गयी।

(e) विशेष आहरण खाता (Special Drawing Account)—मुद्रा-कोष के नवीन नियमों के अनुसार कोई भी देश औसतन 70 प्रतिशत से अधिक सम्पत्ति का उपयोग नहीं कर सकता। 1970, 1971, 1972 के वित्तीय वर्षों में 126 सदस्य देशों में से 117 देशों को तीन बार विशेष आहरण अधिकारों का आवंटन किया गया। इसमें अक्टूबर 1979 तक 931·5 करोड़ SDR का सृजन किया गया जिसमें से लगभग एक-चौथाई विकासशील देशों के लिए था। विशेष आहरण खाते से सदस्य देश दो प्रकार की सहायता प्राप्त करते हैं—प्रथम, अधिकृत सौदों द्वारा, तथा द्वितीय, समझौते वाले अन्तरणों द्वारा। 1986-87 में अधिकृत सौदों (Transfer-by Designation) के अन्तर्गत 1 25 बिलियन SDR की सहायता प्राप्त की गयी, परन्तु 1987-88 में यह राशि घटकर 0 99 बिलियन SDR रह गयी। सोलह देशों द्वारा प्राप्त इस राशि का 80 प्रतिशत ब्रिटेन, फ्रान्स, इटली, कनाडा तथा पश्चिमी जर्मनी ने दिया था।

समझौते वाले अन्तरणों में दोहरी व्यवस्था होती है। जो देश दोहरी व्यवस्था के अन्तर्गत मुद्राएँ खरीदना व बेचना चाहते हैं उन्हें अधिकतम व न्यूनतम सीमाएँ बतानी होती हैं जिनके भीतर मुद्रा-कोष को उनके लिए SDR प्राप्त करनी तथा आवंटन करनी होती है। SDR प्राप्त करने वाले देश को अपनी मुद्रा देकर SDR निर्दिष्ट अवधि के लिए लेनी होगी। 1987-88 में इस व्यवस्था के अन्तर्गत 7 34 बिलियन SDR का अन्तरण किया गया। यह राशि 1986-87 की तुलना में 87 प्रतिशत अधिक थी।

मुद्रा-कोष ने हाल के वर्षो मे SDR के अतिरिक्त प्रयोग की छूट देना प्रारम्भ किया है। इनमे इन देशो के ऋणो का (अल्पकालीन) समायोजन, अग्रिम क्रियाएँ आदि शामिल हैं। इस व्यवस्था मे मुद्रा-कोष के माध्यम से एक या अधिक देश कोष के सदस्य देशों को सहायतार्थ SDRs का अन्तरण किया जाता है। 1987-88 मे 225 मिलियन SDRs का 53 रूप मे अन्तरण किया गया। इसके अतिरिक्त तीन अग्रिम क्रियाओं मे 247 मिलियन का अन्तरण किया गया।

(f) **कोष की विस्तृत सुविधा (Extended Fund Facility)**—1974 मे मुद्रा-कोष ने विस्तृत सुविधा प्रारम्भ की जिसका प्रयोजन उन देशो को अधिक लम्बी अवधि के ऋण देना है जिन्हें गम्भीर भुगतान असन्तुलन की समस्या का सामना करना पड रहा है। इन ऋणों की राशि भी अपेक्षाकृत अधिक होती है तथा यह अपेक्षा की जाती है कि इनके माध्यम से सम्बद्ध देश अपनी उत्पादन लागतो मे कमी करके अथवा वस्तुओ की गुणवत्ता मे सुधार करके अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में अपनी निर्यात क्षमता को बढा सकेगा। 1985 के मध्य तक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा ऐसे 33 ऋण दिये गये जिनके अन्तर्गत 2,450 करोड SDR की राशि प्रदान की गयी थी।

(g) **संरचनात्मक समायोजन सुविधा (Structural Adjustment Facility)**—मार्च 1986 मे मुद्रा-कोष के अन्तर्गत सरचनात्मक समायोजना सुविधा प्रारम्भ की गयी। इस सुविधा का प्रयोजन उन गरीब देशो को रियायती दर पर सहायता देना है जो दीर्घकाल से प्रतिकूल भुगतान असन्तुलन की समस्या से ग्रस्त हैं। इस सहायता पर ½ से 1 प्रतिशत की दर से ब्याज लिया जाता है तथा प्राप्त ऋण को दस किश्तो मे चुकाने की व्यवस्था रखी गयी है। मुद्रा-कोष ने 62 देशो को चुना है जो इस प्रकार की सहायता के पात्र हैं। परन्तु भारत तथा चीन ने इस सुविधा को प्राप्त न करने का निश्चय किया है। प्रत्येक पात्र देश को एक कोटा आवंटित किया गया है जिसका अधिकतम 63 5 प्रतिशत सहायता के रूप मे लिया जा सकता है, परन्तु प्रथम व द्वितीय वर्षो मे कोटे का क्रमश 20 व 30 प्रतिशत भाग ही सहायतार्थ लिया जा सकता है।

इस सुविधा हेतु मुद्रा-कोष ने 1985-91 के बीच ट्रस्ट फण्ड ऋण के भुगतान से प्राप्त 2 7 बिलियन SDR की राशि जुटाई है। अप्रैल 1988 तक मुद्रा-कोष के 25 सदस्य देशो को तीन वर्षों के लिए 1·36 बिलियन SDR की सहायता देना तय किया गया था। इनमे जिन देशों को अपेक्षाकृत अधिक सहायता का प्रावधान किया गया है वे हैं बागलादेश, श्रीलंका, घाना, जैर, कीन्या तथा तजानिया। अप्रैल 1988 तक इस स्वीकृत राशि मे से 584 मिलियन SDR की राशि वास्तव में वितरित कर दी गयी थी।

दिसम्बर 1987 मे कार्यकारी मण्डल की स्वीकृति से विस्तृत सरचनात्मक समायोजन सुविधा प्रारम्भ की गयी। इसके प्रयोजन तथा सहायता प्रक्रिया सरचनात्मक समायोजन सुविधा के ही अनुरूप है। इसके कुल साधन 6 बिलियन डालर के होंगे परन्तु इसके लिए अनुदान अश प्राप्त होन शेष हैं।

30 अप्रैल, 1989 को सरचनात्मक समायोजन सुविधा के अन्तर्गत स्वीकृत राशि 2 5 बिलियन SDR तक पहुँच गयी थी।

4 **मुद्रा-कोष की लागतें व ब्याज (Costs and Interest Charges by IMF)**—मुद्रा-कोष को निम्नांकित तीन प्रकार की ब्याज दरें लागू करने का अधिकार दिया गया है :

(अ) सदस्य देश के अभ्यश के 25 प्रतिशत पर प्रथम तीन माह के लिए कोई ब्याज नहीं लिया जाता, परन्तु उसके पश्चात् अगले नौ माह के लिए 1/2 प्रतिशत तथा फिर प्रत्येक अगले वर्ष के लिए ब्याज दर म 1/2 प्रतिशत की वृद्धि कर दी जाती है।

(ब) अभ्यश के 25 प्रतिशत से अधिक परन्तु 50 प्रतिशत से कम ऋण पर प्रत्येक अगले वर्ष के लिए ब्याज दर मे 1/2 प्रतिशत की वृद्धि कर दी जाती है।

(स) अभ्यश के प्रत्येक अगले 25 प्रतिशत भाग के लिए, प्रथम वर्ष के लिए 1/2 प्रतिशत अधिक ब्याज लिया जाता है तथा प्रत्येक अगले वर्ष के लिए फिर 1/2 प्रतिशत वृद्धि कर दी जाती है।

अतएव यह कहा जा सकता है कि जिस देश की मुद्रा की उसके अभ्यश की तुलना मे

अनुपात में वृद्धि होती जाती है, उसे उत्तरोत्तर अधिक ब्याज देना होता है। पहले यह ब्याज स्वर्ण में लिया जाता था परन्तु अब डालर या अन्य मुद्रा (स्वीकृति से) के रूप में लिया जाने लगा है।

मुद्रा-कोष सदस्य देशों की औसत दैनिक शेष राशि पर ब्याज प्राप्त करता है। जुलाई 1974 में मुद्रा-कोष ने सदस्य देशों द्वारा आहरित राशि पर लिये जाने वाले ब्याज दर में वृद्धि की। 1975-76 में मुद्रा-कोष ने 1974-75 की तुलना में तेल सुविधा तथा अन्य प्रकार की सहायता पर अधिक ब्याज प्राप्त किया। तेल सुविधा के अतिरिक्त अन्य सहायता पर 1974-75 में 3 2 प्रतिशत ब्याज लिया गया था जो 1975-76 में बढ़कर 3 9 प्रतिशत कर दिया गया। ब्याज की यह औसत दर 1976-77 में 4 26 प्रतिशत रही थी। तेल सुविधा पर 1974-75 के ऋणों पर प्रथम तीन वर्षों के लिए 6 875 प्रतिशत ब्याज लिया गया था जबकि 1975-76 की सुविधा पर 7 625 प्रतिशत ब्याज लिया गया। इन सभी के अतिरिक्त मुद्रा-कोष 1/2 प्रतिशत सेवा-शुल्क (service charge) भी सदस्य देशों को दी गयी सहायता पर प्राप्त करता है। इनके अतिरिक्त 1975 में मुद्रा-कोष ने तेल सुविधा के अन्तर्गत तेल निर्यातक देशों से लिये जाने वाले ऋणों पर भी अधिक ब्याज देना प्रारम्भ कर दिया है।

मुद्रा-कोष जिस देश की मुद्रा SDR के रूप में अन्य देशों को सहायतार्थ उपलब्ध कराता है उसे "पुरस्कार" दिया जाता है। इस पुरस्कार की दर इस बात पर निर्भर करती है कि सदस्य देश के "निर्दिष्ट-स्तर" (norm) से इसकी मुद्रा की राशि (holding) कितनी कम होती है। यह निर्दिष्ट स्तर भिन्न-भिन्न देशों के लिए भिन्न है। 1 अप्रैल, 1978 से इस स्तर का आकलन सभी अन्य देशों के स्तरों के भारित औसत (जो सदस्यता तिथि को था) तथा सदस्य देश के कोटे में हुई सभी वृद्धियों का योग मान कर किया जाता है। 30 अप्रैल, 1988 को सदस्यों के ये निर्दिष्ट स्तर उनके कोटे के 88·49 से लेकर 98 95 प्रतिशत के बीच थे।

पुरस्कार की दर 1 फरवरी, 1987 से SDR की ब्याज-दर के 100 प्रतिशत तक बढ़ा दी गयी है। अप्रैल 1988 में दोनों दरें 5·52 प्रतिशत थीं।

5 **कोष के सौदों में सदस्य देशों की करेन्सी का उपयोग**—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष सदस्य देशों को करेन्सी के उपयोग हेतु उनसे समझौता करता है। विशेष तौर पर जिन देशों के भुगतान-सन्तुलन पर्याप्त रूप से अनुकूल है तथा जिनकी रिजर्व स्थिति सुदृढ़ है उनके साथ ये समझौते किये जाते हैं। 30 अप्रैल, 1977 तक 101 देशों ने अपनी करेन्सी मुद्रा-कोष के सौदों में उपयोग करने देने हेतु मुद्रा-कोष के साथ समझौते कर लिये थे। मुद्रा-कोष ने अपने करेन्सी बजट में कुछ उन देशों की करेन्सी को शामिल किया हुआ है जिनकी गणना ऋणी देशों में की जाती है यानी जिनकी करेन्सी का अभ्यश से अनुपात 75% से अधिक है। परन्तु वस्तुतः जिस करेन्सी की माँग बहुत अधिक होती है मुद्रा-कोष के करेन्सी बजट में उसकी उपलब्ध मात्रा कम होती जाती है।

6. **ट्रस्ट कोष**—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष में कार्यकारी सचालकों ने 1975-76 में एक ट्रस्ट-कोष स्थापित किया। इस कोष का प्रयोजन प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन वाले देश को ऋण देना है। इन ऋणों पर केवल 1/2 प्रतिशत ब्याज लिया जाता है। इसमें सोने की बिक्री से प्राप्त लाभ के अतिरिक्त गारंटी गयी या दान से प्राप्त करेन्सी भी शामिल है। वर्तमान में 61 देश इस ट्रस्ट कोष से सहायता प्राप्त करने के अधिकारी हैं। मई 1980 तक मुद्रा-कोष के द्वारा 50 मिलियन औंस स्वर्ण बेचा जा चुका है जिसमें से 25 मिलियन औंस 35 SDR प्रति औंस के मूल्य पर उन देशों को बेचा गया है जो 31 अगस्त, 1975 को मुद्रा-कोष के सदस्य थे। शेष 25 मिलियन औंस स्वर्ण की बिक्री चार वर्षों में सार्वजनिक नीलामी द्वारा की गयी है इससे प्राप्त लाभ 4 6 बिलियन डालर था। इसमें से 1 3 बिलियन डालर की राशि 104 विकासशील देशों में बाँट दी गयी है तथा शेष मुख्य भाग ट्रस्ट कोष में हस्तान्तरित किया गया है। जैसा कि विदित है इस कोष से अल्पविकसित देशों को रियायती ऋण दिये जाते हैं। इन ऋणों की अवधि 10 वर्ष है या इन पर ब्याज दर 0 5 प्रतिशत है।

7. **मुद्रा-कोष द्वारा तकनीकी सहायता एवं प्रशिक्षण (Technical Assistance and Training)**—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष समय-समय पर सदस्य देशों के अधिकारियों के प्रशिक्षण हेतु

व्यवस्था करता है। इसके अतिरिक्त सदस्य देशों को मौद्रिक नीतियों एव इनकी क्रियान्विति के सम्बन्ध मे मार्ग-दर्शन भी करता है। सदस्य देशो को आवश्यकता पडने पर सरकारी व्यय में कमी या वृद्धि करने अथवा मुद्रा एव साख की मात्रा मे आवश्यकतानुसार कमी या वृद्धि करने का भी परामर्श दिया जा सकता है ताकि इन देशो मे आर्थिक स्थिरता विद्यमान रहे। मुद्रा-कोष ने 1953-56 म अनेक देशो मे निजी निवेश मे वृद्धि करने हेतु महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की।

मुद्रा-कोष द्वारा सदस्य दशो को दो प्रकार से तकनीकी सहायता प्रदान की जाती है:

(i) प्रथम, मुद्रा-कोष किसी सदस्य देश के अनुरोध पर अपने अधिकारियों को एक सप्ताह से लेकर एक वर्ष तक के लिए (या अधिक समय के लिए) नियुक्त करता है। ये अधिकारी सम्बद्ध सरकार को वहाँ की आर्थिक समस्याओ एव आर्थिक विकास के कार्यक्रमों के विषय में परामर्श देते हैं। समय-समय पर इन अधिकारियो ने सदस्य देशो मे उपयुक्त मौद्रिक एव राजकोषीय नीतियों के निर्माण एव तत्सम्बन्धी उपयुक्त कानूनो के बनाने मे भी सहायता की है।

(ii) तकनीकी सहायता का दूसरा स्वरूप सदस्य देशो को मुद्रा-कोष के कर्मचारियों (staff) से बाहर के विशेषज्ञों की सेवाएँ उपलब्ध कराना है। ये विशेषज्ञ पृथक्-पृथक् क्षेत्रों मे विशेष योग्यता एव अनुभव प्राप्त व्यक्ति होते हैं तथा आवश्यकतानुसार मुद्रा-कोष के अनुरोध पर अल्पकालीन अनुबन्ध पर अपनी सेवाएँ प्रदान करते हैं।

कुछ समय पूर्व ही मुद्रा-कोष ने दो नयी इकाइयों की स्थापना करके अपनी तकनीकी सहायता सम्बन्धी क्षमता का विस्तार किया है। ये इकाइयाँ क्रमश केन्द्रीय बैंकिंग सेवाओं एव राजकोषीय विषयों से सम्बद्ध विभाग हैं। केन्द्रीय बैंकिंग सेवाओं के विभाग मे उन विशेषज्ञो को रखा गया है जो सदस्य देशो की मौद्रिक नीतियो को उनके आर्थिक विकास कार्यक्रमों के अनुरूप बनाने एव मौद्रिक समस्याओ के समाधान हेतु अपनी सेवाएँ प्रदान करते हैं। ये विशेषज्ञ परामर्श सम्बन्धी सेवाएँ प्रदान करते हैं। इसी प्रकार, राजकोषीय विषयो से सम्बद्ध विभाग के विशेषज्ञ सदस्य देशों की राजकोषीय नीतियो के निर्माण एव क्रियान्विति मे अपना परामर्श प्रदान करते है। इनमे कर नीतियो, कर प्रशासन, बजट तथा राजस्व तथा राजकोष व्यय के विभिन्न पहलुओ पर परामर्श सम्मिलित हैं।

पिछले कुछ वर्षों मे मुद्रा-कोष द्वारा सदस्य देशों को दी जाने वाली सहायता मे निरन्तर वृद्धि हुई है। 1982 व 1988 को बकाया ऋणों की स्थिति मे निम्न तालिका के आधार पर तुलना की जा सकती है:[1]

मुद्रा कोष के बकाया ऋण (मिलियन SDR)

सहायता की प्रकृति	1982 राशि	1982 प्रतिशत	1988 राशि	1988 प्रतिशत
1 नियमित सुविधाएँ	3,206	21 7	5,732	20 6
2 क्षतिपूरक सहायता	3,643	24 6	4,342	15 6
3. तेल-सहायता	565	3 8		
4 विस्तृत कोष सुविधा	2 115	14 3	5,762	20 7
5 पूरक सहायता	4,112	27 8	2,161	7 8
6 व्यापक लक्ष्य-नीति	1,160	7·8	9,829	35 3
	14,802	100 0	27,829	100 0

1987-88 मे मुद्रा-कोष ने सदस्य देशों से 13 68 बिलियन SDR प्राप्त किये तथा 14 95 बिलियन SDR विभिन्न प्रकार की सहायता के रूप मे दिये। इनके अतिरिक्त सामान्य

1 I. M. F. Annual Report, 1987-88, p. 95.

खाते से 5·8 बिलियन SDR प्राप्त किये गये एवं 4·5 बिलियन पुनः इसमें जमा किये गये। सामान्य खाते से लगभग एक-तिहाई राशि अरब से प्राप्त हुआ था। सभी मुद्राओं की सचयी जमा 1 अप्रैल, 1988 को 21·46 बिलियन SDR के समान थी।

8. **विनिमय दरों में स्थिरता लाना**—जैसा कि पिछले अध्याय में बताया गया था, गत 10-12 वर्षों से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के प्रयासों के फलस्वरूप विश्व की महत्वपूर्ण मुद्राओं की विनिमय दरों में जहाँ एक ओर माँग व पूर्ति के परिवर्तनों के अनुरूप समायोजन की (लचीली) प्रक्रिया प्रारम्भ हुई है, वहीं इससे विनिमय दरों में सीमित स्थिरता लाने में भी सहायता की है। इस प्रकार एक ओर मुद्राओं की विनिमय दरें प्रवाहमान होने के कारण वास्तविक दरों के अनुरूप होने लगी हैं वहीं दूसरी ओर इनमें होने वाले परिवर्तनों को सीमाबद्ध करने का भी प्रयास किया जा रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एवं अल्पविकसित देश
[I. M. F. AND UNDER-DEVELOPED COUNTRIES]

पिछले कुछ वर्षों से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने अल्पविकसित देशों की सहायतार्थ अधिक ध्यान देना प्रारम्भ किया है। कुल मिलाकर मुद्रा-कोष ने अल्पविकसित देशों को निम्न प्रकार की सहायता प्रदान की है :

(1) अनेक अल्पविकसित देशों को, विशेष रूप से उन देशों को जो प्राथमिक वस्तुओं का निर्यात करते हैं, उनके व्यापार-घाटे (Trade deficit) की पूर्ति हेतु क्षतिपूरक सहायता दी जाती है। दिसम्बर 1975 में मुद्रा-कोष ने विकासशील देशों को दी जाने वाली क्षतिपूरक सहायता का अनुपात कोटे के 25% से बढ़ाकर 75% कर दिया। परन्तु यह सहायता केवल उन देशों को प्रदान की जाती है जो व्यापार के घाटे को स्वयं ठीक करने में समर्थ नहीं हैं तथा यह सहायता अल्प समय के लिए ही दी जाती है। सहायता प्रदान करने वाले देश से यह अपेक्षा की जाती है कि वह मुद्रा-कोष के सहयोग से प्रतिकूल व्यापार-सन्तुलन में सुधार करने हेतु आवश्यक कार्यवाही करेगा।

(2) जैसा कि ऊपर बताया गया है, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष विकासशील देशों की मौद्रिक, राजकोषीय एवं विनिमय-नीतियों में सुधार करने हेतु केन्द्रीय बैंकिंग एवं राजकोषीय विषयों के विशेषज्ञों की सेवाएँ उपलब्ध कराता है। मुद्रा-कोष के विशेषज्ञ विकासशील देशों की आर्थिक नीतियों को सुधारने हेतु इन देशों की सरकारों को समय-समय पर परामर्श देते हैं।

(3) समय-समय पर इन देशों की वित्तीय समस्याओं पर भी मुद्रा-कोष विचार करता है। इन समस्याओं में मुद्रा-स्फीति, व्यापार एवं भुगतान सम्बन्धी कठिनाइयों एवं अन्य विषयों पर विचार करके यह देखा जाता है कि इन सभी का सम्बद्ध देशों के आर्थिक विकास पर क्या प्रभाव हो रहा है। इसी प्रकार आधारभूत आर्थिक कमजोरियों एवं विदेशी ऋण के अत्यधिक भार से उत्पन्न समस्याओं पर भी विचार करके सम्बद्ध देशों को इनके निवारण हेतु परामर्श दिया जाता है।

(4) विदेशी ऋण की समस्या के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने विकासशील देशों को निम्न प्रकार की सहायता प्रदान की है :

(i) मुद्रा-कोष ने विभिन्न देशों के बीच परस्पर विचार-विमर्श का वातावरण प्रस्तुत किया है,

(ii) निर्धन एवं ऋणी देशों की समस्याएँ कितनी गम्भीर हैं तथा उनके ऋणों का पुनर्निर्धारण (re-scheduling) क्यों आवश्यक है इसके लिए मुद्रा-कोष पर्याप्त सूचनाएँ उपलब्ध करता है,

(iii) कुछ "तैयार या सहारा आयोजनों" (Stand-by Arrangements) के लिए मुद्रा-कोष ऐसी शर्तें तैयार करता है जिससे ऋण का भार अधिक नहीं होने पाये, तथा

(iv) सदस्य देशों की समस्याओं (सम्भावित एवं वर्तमान) के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष पूर्ण जागरूकता बरतते हुए उन्हें ऐसी नीतियाँ अपनाने की सलाह देता है जिससे वे आने वाले खतरे से बच सकें।

(5) स्वर्ण की बिक्री से प्राप्त लाभ को मुद्रा-कोष के एक विशेष ट्रस्ट कोष में रखा जायगा,

जिससे अत्यधिक प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन वाले देशो को सहायता दी जा सकेगी। जैसा कि ऊपर बताया गया है इस ट्रस्ट कोष म दिय जाने वाले ऋण पर नाममात्र का ब्याज दिया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय तरलता
[I M F AND INTERNATIONAL LIQUIDITY]

कुछ वर्षों से यह अनुभव किया जा रहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था म इस प्रकार सुधार किय जायें कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता मे वृद्धि हो। जैसा कि पिछले अध्याय मे बताया गया है अन्तर्राष्ट्रीय तरलता मे वे सभी साधन सम्मिलित किय जाते हैं जो सदस्य देशो के मौद्रिक अधिकारियो का भुगतान के घाटे की पूर्ति हेतु उपलब्ध हैं अथवा तत्काल उपलब्ध किये जा सकते हैं। यदि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का अभाव हो तो प्रतिकूल भुगतान वाले देश के समक्ष सकट उपस्थित हो जायगा तथा उसे बाध्य होकर व्यापार एव पूंजी के प्रवाह के सम्बन्ध में निरोधात्मक (Restrictive) वित्तीय नीतियाँ अपनानी होगी। इन नीतियो के फलस्वरूप विश्व के कुल उत्पादन एव व्यापार में कमी होगी तथा प्राथमिक वस्तुओ के मूल्यो में कमी हो जायगी।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की उपलब्धि के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। मुद्रा-कोष शर्तों सहित एव बिना शर्त तरल साधनो की उपलब्धि कराता है। यदि तरलता की पूर्ति हेतु भुगतान सन्तुलन व सम्बन्ध मे कुछ नीतियो की कार्यान्विति अनिवार्य कर दी जाय तो इस व्यवस्था को सशर्त तरलता-उपलब्धि कहा जायेगा। इसके विपरीत, यदि मुद्रा-कोष सम्बद्ध सदस्य देश पर किसी प्रकार की शर्त नही थोपता तथा पर्याप्त तरलता उपलब्ध करा देता है तो इस बिना शर्त (unconditional) तरलता की उपलब्धि माना जायगा। यह उल्लेखनीय है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा दी जाने वाली अधिकाश सहायता (तरलता) सशर्त होती है। पिछले कुछ वर्षों म बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियो के अनुसार वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु *अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की नीतियो म अनेक परिवर्तन किये गये है। तदनुसार अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की वृद्धि हेतु निम्न व्यवस्थाएँ लागू की गयी हैं :*

(1) **सामान्य सहायता कार्य तथा अभ्यशों मे वृद्धि (Normal lending operations and increases in the quotas)**—जैसा कि ऊपर बताया गया है, मुद्रा-कोष के साधनो मे स्वर्ण एव सदस्य देशो की मुद्राएँ सम्मिलित है। इन मुद्राओ को आवश्यकता वाले सदस्य देशो को उनकी मुद्राओ के बदले बेचा जाता है। परन्तु प्रत्येक सदस्य देश के लिए यह आवश्यक है कि कुछ समय बाद ही (साधारणतया 3 से 5 वर्ष के भीतर) वह डालर, स्वर्ण या किसी अन्य देश की मुद्रा जमा करके अपनी मुद्रा वापस ले ले।

स्वर्ण एव सदस्य देशो के अभ्यशो के अन्तर्गत प्राप्त मुद्राओ के अतिरिक्त मुद्रा-कोष अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-बाजार मे उधार लेकर भी अपने साधनो मे वृद्धि करता है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, इन साधनो का उपयोग आवश्यकता वाले सदस्य देशो की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु किया जाता है। इस प्रकार मुद्रा-कोष के क्रियाकलापो का अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के वितरण एव उसके गठन (Composition) पर काफी प्रभाव पडता है।

1959 मे साधारण रूप से सभी देशो के अभ्यशो मे 50% की वृद्धि की गयी। 1966 म द्वितीय सशोधन के अन्तर्गत अभ्यशो मे 25% की सामान्य वृद्धि की गयी। इसके साथ ही 16 सदस्य देशो के अभ्यशो मे इससे अधिक वृद्धि की गयी। जैसा कि पहले बताया गया है, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के अभ्यशो का प्रारम्भिक योग 1,000 करोड डालर था जो अब तक लगभग तीन गुना हो गया है। जैसा कि ऊपर बतलाया गया था, अप्रैल 1988 मे मुद्रा कोष के अभ्यश 90 बिलियन SDR के थे। मुद्रा-कोष के पास प्रयोग मे ली जाने वाली मुद्राओ का योग इस समय 40 2 बिलियन SDR था।

हाल के वर्षों म मुद्रा-कोष के प्रयासो से अन्तर्राष्ट्रीय तरलता मे आशातीत वृद्धि हुई है। इन प्रयासो के फलस्वरूप विश्व के बडे व निर्धन (विकासशील) सभी देशो मे गैर-स्वर्ण रिजर्व कोषो मे काफी वृद्धि हुई है। विकासशील देशो के रिजर्व-कोष जहाँ 1985 व 1986 मे कम हुए थे, 1987 म इनमे 17 बिलियन SDR की वृद्धि हुई। विकसित देशो के रिजर्व कोषो म 1987 मे 74 बिलियन SDR की वृद्धि हुई। यह सब डालर की विनिमय दर मे कमी होने के बावजूद हुआ।

(2) *सहायता शर्तों से सम्बद्ध औपचारिकतायें कम करना* (*Liberalization of proccedures for assistance*)—इस व्यवस्था के अन्तर्गत मुद्रा-कोष की कार्य-प्रणाली में निम्न परिवर्तन किये गये हैं :

(i) 1952 में सदस्य देशों को अपने कोटे का 25% इच्छानुसार उधार प्राप्त करने की छूट दी गयी है। चूंकि कोटे में यह स्वर्ण-कोष का अनुपात है, यह व्यवस्था स्वाभाविक मानी गयी है।

(ii) उधार लेने हेतु कोटा के 100% भाग पर जो प्रतिबन्ध थे उनको 1956 व 1957 में कम कर दिया गया।

(iii) यह प्रतिबन्ध भी हटा लिये गये कि कोटे के 25% से अधिक परन्तु 125% से कम सहायता की राशि केवल एक वर्ष के लिए ही दी जायेगी।

(iv) तैयार या सहारा समझौते (Stand-by Arrangements) लागू किये गये।

(v) जुलाई 1961 से स्थायी तौर पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के साधनों का उपयोग पूंजी के हस्तान्तरण हेतु भी किया जाने लगा।

(vi) 1980-81 में सहायता की शर्तों को और अधिक उदार बना दिया गया था।

(3) **साधारण समझौता मण्डल** (General Agreement Board)—दिसम्बर 1961 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को यह अधिकार प्राप्त हो गया है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में अपनी भूमिका को और अधिक प्रभावी बनाने हेतु पूरक साधन उधारस्वरूप प्राप्त कर सके। जिन विकसित एवं औद्योगिक देशों ने इस समझौते पर स्वीकृति दी है उन्होंने इस बात का दायित्व लिया है कि वे आवश्यकता पड़ने पर तत्काल ही निर्दिष्ट मात्रा में आवश्यकता वाले सदस्य देशों के लिए अपनी मुद्राएँ उपलब्ध करा देंगे।

(4) *मुद्रा-कोष सदस्य देशों के निर्यातों में होने वाले उच्चावचनों के बदले क्षतिपूरक वित्तीय* **सहायता** प्रदान करता है।

(5) विशेष आहरण अधिकारों का प्रावधान करके भी मुद्रा-कोष ने अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि की है। जैसा कि पिछले अध्याय में बताया गया था जनवरी 1970 से इन विशेष आहरण अधिकारों का उपयोग किया जा रहा है तथा इससे अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या की गम्भीरता में कुछ कमी हुई है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एवं भारत
[I.M F AND INDIA]

भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के संस्थापक देशों में से एक है। 1970 के तृतीय अभ्यंश संशोधन से पूर्व भारत की अभ्यंश सूची में पाँचवाँ स्थान था। आज, जैसा कि ऊपर बताया गया है, भारत का स्थान अभ्यंश की दृष्टि से आठवाँ है। प्रारम्भ से ही भारत कार्यकारी संचालक-मण्डल का एक सदस्य रहा है। परन्तु 1970 के बाद भारत कार्यकारी मण्डल का स्थायी सदस्य न रहकर प्रतिनिधि के रूप में चुना जाता है।

भारतीय रुपया दो वर्ष तक पौण्ड स्टर्लिंग से सम्बद्ध था तथा रुपये का डालर के रूप में समता मूल्य 33·225 सेंट = एक रुपया था। परन्तु अब भारतीय रुपये की विनिमय-दर कई मुद्राओं के रूप में व्यक्त की जाती है तथा इसके साथ ही पौण्ड स्टर्लिंग से भारतीय मुद्रा का सम्बन्ध विच्छेद कर दिया गया है।

प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन को ठीक करने हेतु 1948-49 में भारत ने 10 करोड़ अमरीकी डालर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से खरीदे तथा इसके बदले 47·62 करोड़ भारतीय रुपये चुकाये। फरवरी 1957 में भारत ने मुद्रा-कोष के साथ एक "सहारा समझौता" किया जिसमें 20 करोड़ डालर की पूर्ति का प्रावधान था। यह समझौता भी भुगतान-सन्तुलन की असाध्य कठिनाइयों को ध्यान में रखकर किया गया था। 1947 से 1957 के बीच मुद्रा-कोष से भारत ने 30 करोड़ डालर की सहायता किश्तों में प्राप्त की। जुलाई 1961 में मुद्रा-कोष ने भारत को छह देशों की मुद्राएँ प्राप्त करने की अनुमति दी, जिनमें 11 करोड़ डालर के रूप में, 4·5 करोड़ डालर के बराबर पश्चिमी जर्मनी मार्क, 1·5 करोड़ डालर के बराबर फ्रान्सीसी फ्रैंक, 50 लाख डालर के

बराबर इटली का लीरा, 6.5 करोड़ डालर के बराबर ब्रिटिश पौण्ड तथा 1 करोड़ डालर के बराबर जापानी येन सम्मिलित थे। इन सभी मुद्राओं का मूल्य 25 करोड़ डालर के बराबर था। वस्तुतः भारत पहला देश था जिसने मुद्रा-कोष से जापानी येन खरीदा।

भारत को मुद्रा-कोष से अविरल प्रवाह के रूप में वित्तीय सहायता प्राप्त हुई। जुलाई 1962 में भारत ने मुद्रा-कोष से 10 करोड़ डालर का "सहारा समझौता" किया। इस समझौते की समाप्ति पर इतनी राशि के लिए एक नया समझौता फिर किया गया। इस नये समझौते की अवधि जुलाई 1964 तक की थी। 19 मार्च, 1964 को मुद्रा-कोष ने विदेशी विनिमय संकट से उबारने के लिए भारत के साथ एक सहारा समझौता किया जिसकी राशि 20 करोड़ डालर थी। *इस समझौते के अन्तर्गत भारत ने 10 करोड़ डालर की विदेशी मुद्राएँ प्राप्त की।* शेष राशि मार्च 1966 तक प्राप्त की गयी।

भारत की तृतीय पंचवर्षीय योजना के द्वितीय वर्ष (1966-76) में भारत फिर से गम्भीर विदेशी विनिमय संकट में फँस गया। आयातों की राशि निर्यातों से काफी अधिक हो गयी। यही नहीं खाद्य-संकट तथा विदेशी ऋण की किस्तों को चुकाने की समस्याएँ भी विकट थी। ऐसे समय में *आयातों पर अंकुश लगाना भी सम्भव नहीं था क्योंकि इनमें से बहुत सी वस्तुएँ खाद्यान्नों, औद्योगिक* कच्चे माल व मशीनों तथा ऐसी साज सज्जा के रूप में थी जो विकास कार्यों के सम्पादन हेतु अनिवार्य थी। ऐसी स्थिति में मुद्रा-कोष ने पुनः भारत की सहायता की।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से समय-समय पर पर्याप्त सहायता प्राप्त की है। तीन वर्ष तक मुद्रा-कोष से सहायता प्राप्त करने वाले देशों में *ब्रिटेन के बाद भारत का स्थान दूसरा था परन्तु अब संयुक्त राज्य अमरीका का स्थान दूसरा है* तथा भारत का स्थान तीसरा हो गया है। 1967 में मुद्रा-कोष से प्राप्त सहायता की बकाया (outstanding) राशि 508 मिलियन डालर थी। *31 अक्टूबर, 1976* तक यह राशि बढ़कर 822 मिलियन SDR हो गयी। इसकी स्थापना से लेकर 1976 तक मुद्रा-कोष से भारत ने 3000 मिलियन SDR से अधिक की सहायता प्राप्त की।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का भारत के प्रति प्रारम्भ से ही सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण रहा है। भारत को खाद्य-संकट एवं प्राकृतिक प्रकोपों के आधार पर उस शर्त से मुक्ति दे दी गयी है जिसके *अनुसार किसी भी देश को एक वर्ष में उसके कोटे के 5% से अधिक राशि सहायता-स्वरूप नहीं* दी जा सकती। अनेक बार भारत ने मुद्रा-कोष से तकनीकी एवं परामर्श सम्बन्धी सहायता प्राप्त करके अपनी मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों के लिए मार्गदर्शन प्राप्त किया है। समय-समय पर मुद्रा कोष के अधिकारी भारत आकर इन नीतियों के विषय में भारत को परामर्श प्रदान करते रहे हैं।

जनवरी *1970 में प्रचलित विशेष आहरण अधिकारों से भी भारत को पर्याप्त लाभ हुआ है। 1970-73 के तीन वर्षों में भारत को 326 मिलियन SDR की सहायता सामान्य रूप में* प्राप्त हुई। क्षतिपूरक सहायता के रूप में भारत को 1973-74 व 1974-75 में 344 मिलियन SDR प्राप्त हुए। तेल सुविधा के अन्तर्गत भारत ने 1974-75 में 200 मिलियन तथा 1975-76 में 201 मिलियन SDR प्राप्त किये। इस प्रकार भारत को प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन में सुधार करने हेतु मुद्रा-कोष से पर्याप्त सहायता मिलती रही है।

किंग्सन समझौते (जनवरी 1976) के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने स्वर्ण की भूमिका को कम करने हेतु 2.5 करोड़ औंस स्वर्ण सदस्य देशों को प्रत्यापण करने तथा 2.5 करोड़ औंस स्वर्ण की नीलामी द्वारा बिक्री करने का निर्णय लिया था। जनवरी 1977 में इसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने 62.5 लाख औंस स्वर्ण सदस्य देशों को 31 अगस्त, 1975 को विद्यमान उनके कोटे के अनुपात में वापस किया। भारत ने इस सन्दर्भ में 2.01 लाख औंस स्वर्ण का भुगतान डालर के रूप में कर दिया है। अतः 1980 से 1982 के तीन वर्षों में 12 बिलियन SDR से प्रस्तावित आवंटन में भारत का हिस्सा *358 मिलियन SDR था। चूँकि प्रस्तावित 50%* कोटा वृद्धि का 25% भाग SDR के रूप में भुगतान करना होगा, अतः 143 मिलियन SDR का भुगतान करने के पश्चात् भारत अपने कोषों में 215 मिलियन SDR की शुद्ध वृद्धि कर

सका ।[1] जुलाई 1976 से जून 1978 तक के दो वर्षों की अवधि में मुद्रा कोष द्वारा बेचे गये स्वर्ण से प्राप्त लाभ में से भारत को 42 मिलियन डालर का हिस्सा प्राप्त हुआ है। मुद्रा-कोष की कोटा प्रणाली में 50 प्रतिशत और वृद्धि करने का निर्णय सातवें सामान्य पुनर्विलोकन के अन्तर्गत 1980 से लागू किया गया। इसके परिणामस्वरूप भारत का कोटा 1717 मिलियन SDRs हो गया। चूंकि सभी सदस्य देशों के कोटा में 50% की समान वृद्धि हुई, अतः कुल कोटा राशि में भारत के कोटे का अनुमान अपरिवर्तित रहा है। आठवें पुनरावलोकन के बाद भारत को मुद्रा-कोष में कोटा 2 [illegible] बिलियन SDR हो गया। अप्रैल 1988 में मुद्रा-कोष के पास कुल करेन्सी का मूल्य 4·3 बिलियन SDR था। नवें पुनरावलोकन में कोटा को बढ़ाने हेतु अन्तरिम समिति विचार कर रही है। परन्तु चूंकि अलग-अलग देशों की कोटा राशि में एक समान वृद्धि नहीं होगी, इसलिए अनुमान है कि भारत का कोटा 2·8% से कम होकर 2 4% रह जायेगा।

सितम्बर 1981 में भारत को मुद्रा-कोष की विस्तृत सहायता सुविधा के अन्तर्गत 5000 मिलियन SDR का एक बड़ा ऋण स्वीकृत किया गया जिसका उद्देश्य भारत की बिगड़ी हुई भुगतान-सन्तुलन स्थिति को सँभालने में मदद करना था। परन्तु इस ऋण के साथ भारत सरकार को देश की आन्तरिक नीतियों में काफी परिवर्तन करने के निर्देश दिये गये थे। भारत में इन शर्तों के कारण मुद्रा-कोष के रवैये की बड़ी आलोचना की गयी। इसके परिणामस्वरूप भारत सरकार ने स्वीकृत सहायता की आधी से कुछ ही अधिक राशि प्राप्त की। अब तक उस ऋण का भुगतान कर दिया गया है।

1987-88 में मुद्रा-कोष द्वारा प्रदत्त विभिन्न सुविधाओं के अन्तर्गत भारत ने 712 5 मिलियन SDR मूल्य की मुद्राओं की पुनः खरीद की। इस वर्ष भारत ने सामान्य खाते में 936 5 मिलियन SDR अन्तरित किये। 30 अप्रैल, 1987 को भारत की कुल अवशिष्ट राशि (होल्डिंग) 148 5 मिलियन SDR थी जबकि इसके सापेक्ष आवंटित राशि 681·7 मिलियन SDR थी।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की सफलता का मूल्यांकन
[ASSESSMENT OF SUCCESS OF THE I. M F)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की सफलता का मूल्यांकन इसकी स्थापना के समय रखे गये उद्देश्यों के आधार पर ही करना चाहिए। इस दृष्टि से निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं :

(1) **मौद्रिक क्रियाएँ**—*इस दृष्टि से मुद्रा-कोष ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है।* मुद्रा-कोष ने एक ऐसा मंच प्रस्तुत किया है जहाँ सदस्य देशों की भुगतान सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया जाता है तथा उनकी आर्थिक एवं वित्तीय नीतियों की समीक्षा की जाती है। 20 कार्यकारी सचालकों के मण्डल की बैठकें बहुधा होती रहती हैं तथा सदस्य देशों की समस्याओं पर लगातार विचार किया जाता है। यही नहीं, उक्त सचालक मण्डल सदस्य देशों की आर्थिक विकास की स्थिति एवं व्यापार की प्रगति की भी समय-समय पर समीक्षा करता है।

मुद्रा-कोष के विशेषज्ञ एवं सलाहकार समय-समय पर कार्यकारी सचालक-मण्डल को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करते हैं। कार्यकारी सचालक इन रिपोर्टों पर अपनी टिप्पणियाँ देते हैं तथा आर्थिक नीतियों को सम्बद्ध देशों में उपयोगी बनाने के हेतु सुझाव देते हैं। तीस वर्ष पूर्व इन सुविधाओं के विषय में कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। यही नहीं, समय-समय पर मुद्रा-कोष के दलों द्वारा सदस्य देशों की यात्राओं तथा कोष के गवर्नर मण्डल की वार्षिक बैठकों से अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समस्याओं तथा नीतियों पर औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों ही प्रकार की उच्चस्तरीय मन्त्रणाएँ करने के अवसर मिलते रहते हैं। ये मन्त्रणाएँ आज की अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समस्याओं के निदान हेतु नीति निर्धारण में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई हैं।

(2) **व्यापार का विस्तार**—*अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार हेतु* पर्याप्त योगदान दिया है। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से मुद्रा-कोष के इस योगदान का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता तथापि मुद्रा-कोष से भुगतान सम्बन्धी कठिनाइयों को जिस ढंग से हल किया है उसे

---

1 *The Economic Times*, January 1983.

देखते हुए पिछले 15-30 वर्षों म विश्व के व्यापार में हुई प्रगति का श्रेय काफी सीमा तक मुद्रा-कोष के प्रयासों को दिया जा सकता है।

(3) **विनिमय-स्थिरता**—यद्यपि विभिन्न मुद्राओं की विनिमय-दरा में पर्याप्त स्थिरता आज भी नहीं है तथापि यह कहना असगत नहीं होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना के पश्चात् विनिमय-दरो में होने वाले उच्चावचन काफी कम हुए हैं तथा द्वितीय महायुद्ध के पूर्व विद्यमान स्थिति से आज विनिमय-दरें कहीं कम परिवर्तनशील हैं आज विश्व के लगभग सभी देश यह स्वीकार करते हैं कि उनकी मुद्राओं के समता-मूल्य (विनिमय-दरें) स्थिर रहने पर ही उनके व्यापार का दीर्घकालीन विकास हो सकता है।

तीस वर्ष के पूर्व की अपेक्षा आज बहुत कम देश विनिमय-प्रतिबन्धों का सहारा लेते हैं। जो कुछ परिवर्तन इस अवधि म विनिमय-दरो म हुए हैं वे व्यवस्थित एव ठोस आर्थिक कारणा पर आधारित रहे हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि सदस्य देशा ने ये परिवर्तन मुद्रा-कोष की पूर्व-स्वीकृति के आधार पर ही किय हैं। इनमें से कुछ परिवर्तनो के लिए तो मुद्रा-कोष की ओर से सुझाव दिये गये थे। मुद्रा-कोष के सतत् प्रयासो के कारण आज विश्व के अनेक देशो ने बहुमुखीय विनिमय-प्रणाली अपना ली है। यह भी उल्लेखनीय है कि मुद्रा-कोष ने इस प्रणाली को यथासम्भव सरल बनाया है।

(4) **बहुमुखीय भुगतान प्रणाली**—इस क्षेत्र में भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने पर्याप्त प्रगति की है। 1958 म अनौपचारिकता तथा 1960 मे औपचारिक परिवर्तनशीलता के बाद अधिकाश यूरोपियन देशो के बीच बहुमुखी भुगतान व्यवस्था प्रारम्भ हो गयी है। परन्तु अनेक विकासशील देशो मे विनिमय प्रतिबन्धो के कारण बहुमुखी भुगतान-प्रणाली लोकप्रिय नहीं हो पायी है।

(5) **मुद्रा-कोष द्वारा आवश्यकता वाले देशों की सहायता**—मुद्रा-कोष के कार्यकाल के प्रथम दशक में तो मुद्रा-कोष के साधनो के आवटन मे काफी सतर्कता एव हिचकिचाहट बरती गयी थी। परन्तु पिछले दो दशको मे मुद्रा-कोष द्वारा अधिक उदारतापूर्वक सदस्य देशो की सहायता की जा रही है।

1956-57 व 1964 65 के बीच मुद्रा-कोष द्वारा दी गयी सहायता-राशि मे काफी वृद्धि हुई। 1947-63 की अवधि में मुद्रा-कोष ने कुल 850 करोड डालर की सहायता आवश्यकता वाले देशो को दी थी परन्तु 1964 66 की अवधि म 700 करोड डालर की सहायता दी गयी। तेल सुविधा, क्षतिपूरक भुगतान एव साधारण खाते के अन्तगत दिय जाने वाले विशेष आहरण अधिकारो की सहायता ने सदस्य देशो की भुगतान-असन्तुलन समस्याओं की गुरुता को काफी कम किया है। 30 अप्रैल 1948 से 30 अप्रैल 1982 तक मुद्रा-कोष से सदस्य देशों द्वारा कुल 64 बिलियन SDR के ऋण क्रय किये गये हैं और इसी अवधि मे पुन क्रय की राशि 37 2 बिलियन SDR रही है। *Stand-by arrangement* के अन्तर्गत 1953 से 1982 के बीच कुल 494 व्यवस्थाएँ की गयी जिनकी कुल राशि 39 6 बिलियन SDR थी। IMF द्वारा दी जाने वाली सहायता के आकार मे 1974 के बाद विशेष वृद्धि हुई है। कोष के साधनो मे वृद्धि के लिए अनेक बार कोटा राशियो म वृद्धि की गयी है। जुलाई 1975 से अप्रैल 1982 के बीच IMF की विस्तृत सुविधा के अन्तर्गत 15 8 बिलियन SDRs के ऋण स्वीकृत किये गये हैं। 1976 मे 1982 के बीच कुल 42 5 बिलियन SDRs के ऋण दिये गये। इसमे से 28 2 बिलियन SDRs के ऋण सामान्य खाते से तथा 12 1 बिलियन SDR के ऋण विशेष आहरण खाते (SDR allocations) मे तथा शेष मुद्रा-कोष द्वारा प्रबन्धित विभिन्न खातो से दिये गये।

मुद्रा-कोष से सहायता प्राप्त करने वाले देशों मे ब्रिटेन का स्थान सर्वोपरि है। दूसरे व तीसरे स्थान पर क्रमश सयुक्त राज्य अमरीका व भारत है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, मुद्रा-कोष के साधनो का उपयोग पिछले कुछ वर्षो मे काफी अधिक हो जाने का मुख्य कारण मुद्रा-कोष द्वारा अपनायी गयी उदार नीति है। आज मुद्रा-कोष सदस्य देशो की समस्याओं के प्रति पूर्वापेक्षा अधिक जागरूक है।

एक उल्लेखनीय बात यह है कि हाल के वर्षों मे भारत ने मुद्रा-कोष द्वारा प्रदत्त सुविधाओं का प्रयोग कम कर दिया है। भारत ने पूरक सहायता सुविधा, सरचनात्मक समायोजन सुविधा

आदि के अन्तर्गत गत वर्षों में मुद्रा-कोष से कोई भी सहायता प्राप्त नहीं की। गत वर्षों में मुद्रा-कोष से लेटिन अमरीकी तथा अफ्रीकी देशों को अधिक सहायता दी गयी है।

(6) भुगतान-सन्तुलन की अवधि एवं राशि को कम करना—इस सन्दर्भ में यहीं कहा जा सकता है कि मुद्रा-कोष भुगतान-सन्तुलन की समस्या का निदान करने में असमर्थ रहा है। मुद्रा-कोष के सतत् प्रयासों के बावजूद विश्व के अधिकांश देशों का भुगतान-असन्तुलन बढ़ता जा रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की सीमाएँ
[LIMITATIONS OF INTERNATIONAL MONETARY FUND]

उपर्युक्त सफलताओं के बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के समक्ष अनेक कठिनाइयाँ हैं। इन सीमाओं या कठिनाइयों के कारण मुद्रा-कोष सुचारु रूप से कार्य नहीं कर पाता। ये सीमाएँ इस प्रकार हैं

(1) विनिमय-दरों की स्वेच्छा से परिवर्तन—अनेक देशों ने मुद्रा-कोष के उस नियम की अवहेलना की है जिसके अनुसार उनकी मुद्राओं का सामान्य मूल्य स्थिर रहना चाहिए था। मुद्रा-कोष की समय-समय पर की गयी अपीलों के पश्चात् भी पूर्ति में वृद्धि करने हेतु सम्बद्ध देशों ने कोई कदम नहीं उठाया। फ्रान्स ने 1948 में मुद्रा-कोष के विरोध के होते हुए भी फ्रैंक का 44% अवमूल्यन कर दिया। इसी प्रकार अमरीका के प्रभाव के कारण 1949 से अब तक डालर की कमी अनुभव किये जाने पर भी इसे "दुर्लभ मुद्रा" घोषित नहीं किया गया। इसके विपरीत, अमरीकी डालर की प्रतिष्ठा में वृद्धि करने हेतु पौण्ड स्टर्लिंग के अवमूल्यन हेतु ब्रिटेन को सलाह दी गयी। सब ऐसे उदाहरण हैं जो स्पष्टतः इस बात की पुष्टि करते हैं कि मुद्रा-कोष में केवल अमरीका का वर्चस्व रहा है तथा डालर की प्रतिष्ठा को बनाये रखने हेतु ही अधिक प्रयास होते रहे हैं। यह सन्तोष का विषय है कि जनवरी 1970 के पश्चात् विशेष आहरण अधिकारों के रूप में सदस्य देशों के अभ्यंश एवं उन्हें दी जाने वाली सहायता को SDR में व्यक्त किया जाने लगा है और इससे डालर की प्रभुता में कमी हुई है।

(2) मुद्रा-कोष की कुछ व्यवस्थाएँ दोषपूर्ण हैं—उदाहरण के लिए, किसी देश की दोषपूर्ण आन्तरिक नीतियों से उत्पन्न मुद्रा-स्फीति के बावजूद उस देश की मुद्रा के 20% से अधिक अवमूल्यन के प्रस्ताव को भी मुद्रा-कोष स्वीकृत कर देता है। परन्तु अवमूल्यन तभी प्रभावकारी हो सकता है जब मुद्रा-स्फीति पर नियन्त्रण पाना सम्भव हो। इस प्रकार मुद्रा-कोष सदस्य देश में आन्तरिक आर्थिक स्थिरता लाने में असमर्थ है क्योंकि यह सदस्य देश का घरेलू विषय है जिसमें हस्तक्षेप वहाँ की सरकार को अमान्य होगा। मुद्रा-कोष ऐसी स्थिति में केवल परामर्श प्रदान कर सकता है।

(3) विकासशील देशों की भुगतान-असंतुलन की समस्या—इस समस्या का आज तक मुद्रा-कोष कोई उपयुक्त हल प्रस्तुत नहीं कर पाया है। इसी प्रकार व्यापार-घाटे वाले देशों को वित्तीय सहायता देकर उनके आय व रोजगार स्तर को ऊँचा उठाने के लिए उद्देश्य में भी मुद्रा-कोष को पर्याप्त सफलता नहीं मिल पायी है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि विकासशील देश एक ओर अत्यधिक मात्रा में कच्चा माल, खाद्यान्न, मशीनों, इस्पात, रासायनिक पदार्थ आदि का आयात कर रहे हैं और दूसरी ओर इनके द्वारा निर्यात की जाने वाली प्राथमिक व तैयार दोनों ही प्रकार की वस्तुओं के मूल्य में काफी उतार-चढ़ाव (बहुधा गिरावट) आ रहे हैं। मुद्रा-कोष इस दिशा में कोई ठोस नीति लागू करने एवं इन देशों की बिगड़ती हुई भुगतान-स्थिति को सम्भालने में सफल नहीं हो पाया है। इसी प्रकार मुद्रा-कोष इन देशों में विद्यमान मुद्रा-स्फीति की गम्भीर समस्या के निदान हेतु भी प्रभावकारी नीतियाँ लागू करवाने में असमर्थ रहा है।

(4) बड़े देशों का मुद्रा-कोष पर प्रभाव—यह इस अध्याय में बताया जा चुका है कि मुद्रा-कोष में मतदान-शक्ति का निर्धारण सदस्य देश को आवंटित कोटे के आधार पर होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि मुद्रा-कोष की नीतियों का निर्धारण भी बड़े देशों के नियन्त्रण में रहता है क्योंकि कुल कोटे का एक बड़ा भाग उन्हीं को आवंटित किया गया है। दूसरे शब्दों में, अन्तर्राष्ट्रीय

राजनीति का प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की नीतियों में भी प्रतिबिम्बित होता है। बड़े देशों का एक और प्रभाव मुद्रा-कोष द्वारा दी गयी सहायता (Drawing) के रूप में उन्हें प्राप्त वर्चस्व से भी स्पष्ट होता है। उदाहरण के लिए अब तक दी गयी, 42.5 बिलियन SDR की सहायता में से लगभग 40 प्रतिशत इन्हीं देशों (औद्योगिक देशों) को विशेष रूप से ब्रिटेन को प्राप्त हुआ है। कुछ समय पूर्व तक भारत का सहायता प्राप्त देशों में दूसरा स्थान था पर अब अमरीका ने वह स्थान ग्रहण कर लिया है। भारत के अतिरिक्त अन्य देशों को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से पर्याप्त सहायता नहीं मिल पायी है।

(5) मुद्रा-कोष भुगतान-असन्तुलन को दूर करने हेतु तो सहायता देने का यत्न करता है परन्तु पूंजी निवेश को सफल बनाकर प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन वाले देशों की समस्या का कोई दीर्घकालीन हल प्रदान नहीं करता।

(6) सोवियत रूस मुद्रा-कोष का आज तक भी बहिष्कार कर रहा है जबकि वह विश्व की दूसरी बड़ी शक्ति है। इससे स्पष्ट है कि मुद्रा-कोष भुगतान-असन्तुलन का आंशिक हल ही प्रस्तुत कर सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा हाल ही में उठाये गये कुछ महत्वपूर्ण कदम [RECENT STEPS TAKEN BY I. M. F.]

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना से लेकर अब तक अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि करने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने काफी प्रयास किये हैं, तथा अनेक सीमाओं के विद्यमान रहते हुए मुद्रा-कोष ने प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन वाले देशों के लिए काफी सहायता दी है। परन्तु फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार की चुनौती को मुद्रा-कोष स्वीकार करने में अब तक पूर्णरूपेण सफल नहीं हो पाया है। विकासशील देशों के प्रतिनिधियों ने मुद्रा-कोष तथा विश्व बैंक की मनीला में हुई संयुक्त बैठक (अक्टूबर 1976) में यह स्पष्ट संकेत दिया कि मुद्रा-कोष तरलता में काफी अधिक वृद्धि करके ही इनकी प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन की समस्या का कोई सर्वमान्य एवं स्थायी हल प्रस्तुत नहीं कर सकता है। मुद्रा-कोष द्वारा ब्याज की दरों में वृद्धि को भी विकासशील देशों ने एक प्रतिगामी कदम माना है। हाल के एक दो वर्षों में ब्रिटेन, इटली तथा मैक्सिको की भुगतान स्थिति काफी प्रतिकूल हो गयी है और मुद्रा-कोष ने जर्मनी से 400 करोड़ डच मार्क व जापान से 9000 करोड़ येन (31.6 करोड़ डालर) के ऋण की मांग की है। विकासशील देशों में स्फीति की बढ़ती हुई समस्या से उनके भुगतान-सन्तुलन में और अधिक प्रतिकूलता उत्पन्न हो सकती है।

दूसरी ओर विकसित देशों की ऐसी धारणा बनती जा रही है कि मुद्रा-कोष से प्राप्त सहायता का विकासशील एवं विकसित दोनों ही प्रकार के देशों द्वारा समुचित उपयोग हो सके इसके लिए ऋणों के उपयोग पर मुद्रा-कोष की कड़ी दृष्टि होनी चाहिए। इन सब कारणों से ही मनीला अधिवेशन (अक्टूबर 1976) में दो निर्णय लिये गये . (1) मुद्रा-कोष उन सिद्धान्तों व नियमों को लागू करे जिनके आधार पर मुद्रा-कोष द्वारा दी गयी सहायता के उपयोग पर दृष्टि रखी जा सके, (2) मुद्रा-कोष अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में और अधिक वृद्धि करे।

अन्तरिम समिति की 28 व 29 अप्रैल, 1977 की बैठक में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को नयी दिशा देने हेतु लगभग 1.660 करोड़ डालर (लगभग 1,400 करोड़ SDR) की व्यवस्था करने पर विचार किया गया जिसमें से 50 प्रतिशत तेल निर्यात करने वाले "ओपेक" देशों से प्राप्त हुआ। इस कोष का उपयोग अत्यधिक प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन वाले देशों के लिए किया जायगा परन्तु इन देशों को कोष के उपयोग हेतु मुद्रा-कोष की शर्तों एवं निगरानी को स्वीकार करना होगा। इससे हाल ही में तेल के मूल्यों में की गयी 10 प्रतिशत वृद्धि से भुगतान-सन्तुलन पर होने वाले प्रतिकूल प्रभावों को कम किया जा सकेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में सुधार [REFORM OF THE INTERNATIONAL MONETARY SYSTEM]

जून 1974 में 20 सदस्यों की एक कमेटी (The Committee of Twenty) ने अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में सुधार हेतु अपनी अन्तिम रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस कमेटी की स्थापना

जुलाई 1972 में की गयी थी। कमेटी ने विश्व के बिगड़ते हुए भुगतान-सन्तुलन पर चिन्ता व्यक्त करते हुए सुझाव दिया कि भविष्य में और अधिक अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग के लिए सदस्य देशों की रिजर्व स्थिति एवं उनकी घरेलू आर्थिक नीतियों को और अधिक अनुकूल बनाना होगा। कमेटी ने मुद्रा-कोष की भूमिका को व्यापक बनाने तथा सदस्य देशों के व्यवहार के प्रति मुद्रा-कोष के प्रबन्ध में और अधिक सतर्कता रखने पर बल दिया।

कमेटी ने यह स्वीकार किया कि अनेक विषयों पर मुद्रा-कोष एवं सदस्य देशों के बीच समझौते आज की परिस्थितियों में सम्भव नहीं हैं। परन्तु उसने सुझाव दिया कि समय-समय पर मुद्रा-कोष इन क्षेत्रों में समझौते करने का प्रयास करे। कमेटी ने बोर्ड ऑफ गवर्नर्स की एक अन्तरिम समिति एवं बाद में एक कौंसिल बनाने, मुद्रा-कोष की कार्यप्रणाली को अधिक प्रभावशाली बनाने, परिवर्तनशील विनिमय-दरों के प्रबन्ध हेतु उपयुक्त मार्गदर्शन प्रदान करने, पैट्रोल एवं पैट्रोलियम पदार्थों के बढ़े हुए मूल्यों से सदस्य देशों को राहत पहुँचाने, सदस्य देशों द्वारा आवश्यक व्यापार-प्रतिबन्धों को लगाने की प्रवृत्ति को रोकने तथा स्वर्ण की उपादेयता पर पुनर्विचार करने के लिए महत्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किये।

उपर्युक्त सुझावों के अनुरूप अन्तरिम समिति की स्थापना, तेल-सुविधा, साख की उपलब्धि एवं परिवर्तनशील विनिमय-दरों के प्रारम्भ हेतु संहिताओं आदि के विषय में आवश्यक कदम उठाये जा चुके हैं। अनेक देशों ने अपनी व्यापार नीतियों के विषय में स्वेच्छा से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को सूचनाएँ प्रदान की हैं।

इस प्रकार अनेक सीमाओं के विद्यमान रहते हुए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था के सुधार तथा सदस्य देशों की ज्वलन्त समस्याओं के निराकरण हेतु प्रयत्नशील है। आवश्यकता इस बात की है कि विकसित एवं विकासशील दोनों ही देश स्वहित को प्राथमिकता न देकर मुद्रा-कोष के समझौता अनुच्छेद में दिये गये उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु सहयोग की नीति अपनायें। जैसा कि ऊपर बताया गया है, जमैका व मनीला अधिवेशनों में लिये गये निर्णयों से मुद्रा-कोष की अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की स्थिति सुधारने में काफी प्रोत्साहन मिला है।

मनीला में सम्पन्न अन्तरिम समिति की बैठक में यह निर्णय लिया गया कि प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन वाले देशों को घरेलू माँग पर अंकुश लगाकर चालू खाते के घाटे को पूँजी के आगम एवं सहायता के अनुरूप में लाना चाहिए। यह भी अनुभव किया गया कि विश्व की अर्थव्यवस्था को खतरा मन्दी से न होकर मूलतः बिगड़ती हुई स्फीति से है तथा ऐसी स्थिति में घाटे को वित्तीय सहायता से पूरा करने की अपेक्षा बाहरी स्थिति के समायोजन पर अधिक बल देना चाहिए। यह भी अनुभव किया गया कि सुदृढ़ भुगतान बाकी वाले देशों को अपनी स्फीति विरोधी नीतियों की सीमाओं में रहते हुए घरेलू माँग के विस्तार की प्रक्रिया को जारी रखना चाहिए।

पिछले चार-पाँच वर्षों में विश्व के अनेक देशों ने (भारत सहित) विनिमय-दर के निर्धारण की विधि में परिवर्तन किये हैं। यद्यपि आज भी 44 देशों ने अपनी मुद्राओं की विनिमय-दरों को डालर के साथ, 14 देशों ने फ्रान्सीसी फ्रैंक के साथ तथा 9 अन्य ने किसी न किसी अन्य करेन्सी के साथ जोड़ा हुआ है, तथापि विगत वर्षों में अधिकाधिक देशों (जिनकी संख्या जून 1977 तक 29 हो गयी थी) ने अपनी विनिमय दरों को अन्य मुद्राओं के एक समूह (basket) के साथ सम्बद्ध करने का निर्णय लिया है। भुगतान-असन्तुलन को ठीक करने की यह एक अनूठी विधि है जो हाल की विश्व-व्यापी स्फीति से उत्पन्न अस्थिरता के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है। संक्षेप में, स्थिर विनिमय दर की नीति वर्तमान सन्दर्भ में बड़े औद्योगिक देशों के लिए ही उपयुक्त है जिनका भुगतान-सन्तुलन अनुकूल चला आ रहा है।

इसके बावजूद 1973 के तेल संकट से उत्पन्न भुगतान-सन्तुलन के विरुद्ध समायोजन की प्रक्रिया अत्यन्त धीमी रही। इसी कारण वर्तमान असन्तुलन में विनिमय-दरों के बढ़ते हुए लचीलेपन के बावजूद पर्याप्त कमी नहीं हो पायी है। अधिकांशतः देशों ने या तो बाहरी समायोजन को प्राथमिकता नहीं दी, अथवा इस समायोजन के साथ-साथ घरेलू नीतियों में पर्याप्त संशोधन नहीं किया। यही कारण है कि इन देशों के भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूल स्थिति और अधिक प्रतिकूल होती जा रही है और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष असहाय व मूक-दर्शक बना रहता है।

प्रश्न एवं उनके संकेत

1 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के प्रमुख उद्देश्य कौन कौन से हैं ? मुद्रा कोष अपने सदस्य देशों को किस प्रकार सहायता देता है ?

What are the main objectives of International Monetary Fund ? How does the Fund assist its member countries ?

[संकेत—इस प्रश्न के उत्तर में पहले यह बतायें कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष किन उद्देश्यों को लेकर स्थापित किया गया है। अपने उत्तर के द्वितीय भाग म मुद्रा-कोष के कार्य, जैसे सदस्य देशों की मुद्राओं की विनिमय-दरों का निर्धारण विनिमय प्रतिबन्धों को हटाना मुद्रा-कोष के वित्तीय कार्य, क्षतिपूरक सहायता, तकनीकी सहायता आदि का संक्षेप म विवरण प्रस्तुत करें।]

2 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्यों एव नीतियों पर प्रकाश डालिए।

Explain the purposes and policies of I M F

3 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के उद्देश्यो कार्यों एव सफलता का विवरण दीजिए।

Discuss the functions objectives and achievements of International Monetary Fund

[संकेत—प्रश्न 2 का उत्तर प्रश्न 1 के ही अनुरूप होना चाहिए। प्रश्न 3 के उत्तर में मुद्रा-कोष के उद्देश्यों तथा कार्यों का विवरण देने के बाद अध्याय के अन्त में प्रस्तुत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की सफलता का मूल्यांकन कीजिए।]

4 उन विधियों का विवरण दीजिए जिनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों मे साम्य बनाये रखने का प्रयास करता है। इन विधियो की सफलता का भी मूल्यांकन कीजिए।

Describe the methods by which the IMF helps to maintain international *payments equilibrium and estimate their success*

[संकेत—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के कार्यों का बहुत संक्षेप मे वर्णन करने के बाद इनके एक महत्वपूर्ण कार्य—वित्तीय सहायता—से सम्बद्ध विधियों का विवरण दीजिए। यह उल्लेखनीय है कि वित्तीय कार्यों के माध्यम से ही मुद्रा कोष सदस्य देशो के भुगतानो मे सन्तुलन बनाये रखने का प्रयास करता है। उत्तर के दूसरे भाग मे मुद्रा-कोष की इस दशा मे सफलता का मूल्यांकन करें। जैसा कि अध्याय के अन्त म बताया गया है, इस उद्देश्य मे मुद्रा-कोष को सीमित सफलता ही मिली है।]

5 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की अल्पविकसित देशो के लिए क्या उपयोगिता है ? मुद्रा कोष के उद्देश्य की तुलना मे इसकी सफलता का मूल्यांकन कीजिए।

Examine the utility of the IMF for under developed countries Evaluate *its contribution in relation to its objectives*

[संकेत—*इस प्रश्न के उत्तर में स्थापना से लेकर अब तक मुद्रा-कोष के कोटा-आवंटन वित्तीय सहायता एव अन्य क्षेत्रो मे विकसित देशो की तुलना मे अल्पविकसित देशों का क्या* स्थान रहा है इस पर प्रकाश डालिए। जैसा कि इस अध्याय म बताया गया है अल्प विकसित देशों की सहायतार्थ मुद्रा कोष ने पर्याप्त सहायता देने का प्रयास किया है तथापि इसकी प्रबन्ध व्यवस्था इस प्रकार की है कि ये देश आशानुरूप सहायता प्राप्त करने म असफल रहे हैं तथा आज भी भुगतान-असन्तुलन की समस्या से पीड़ित है।]

6 संक्षेप मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के उद्देश्य एव कार्य बताइए तथा बताइए कि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग बढाने मे वह कहाँ तक सफल हो सका है ?

State briefly the purposes and functions of IMF and give an appraisal as to what extent it has successfully brought about *international monetary cooperation*

[संकेत—अपने उत्तर को दो भागों मे बाँटते हुए प्रथम भाग म अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के

उद्देश्यों तथा कार्यों का संक्षिप्त विवरण दें। द्वितीय भाग में इस अध्याय में प्रस्तुत विषय-वस्तु के आधार पर मुद्रा-कोष की सफलताओं का मूल्यांकन करें। संक्षेप में, उन क्षेत्रों का विवरण दें जहाँ मुद्रा-कोष सफल नहीं हो पाया है। साथ ही इसकी सीमाओं का भी उल्लेख करें, जिनके कारण, यह अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग बढ़ाने के उद्देश्य में पूर्णतः सफल नहीं हो पाया है।]

7. **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने किस प्रकार विनिमय-दरों में स्थिरता लाने हेतु प्रयास किया है? यह बताइए कि मुद्रा-कोष के कार्यकलापों एवं नीतियों ने भारत को किस प्रकार प्रभावित किया है?**

In what ways has the IMF helped to stabilize foreign exchange rates. To what extent has India been affected by the policies and operations of the Fund?

[*संकेत—मुद्राओं की विनिमय-दरों में स्थिरता लाना मुद्रा-कोष का एक प्रमुख उद्देश्य है।* संक्षेप में, यह बताइए कि इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष क्या उपाय करता है। अपने उत्तर के द्वितीय भाग में यह बतायें कि मुद्रा-कोष से भारत को क्या लाभ हुआ है।]

8. **विनिमय-दरों में स्थिरता लाने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की भूमिका का वर्णन कीजिए।**

Discuss the role of IMF in promoting the stability of exchange rates.

9. **दो देशों के बीच आधारभूत भुगतान-असन्तुलन होने पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष क्या-क्या कदम उठा सकता है?**

What steps can the IMF take if there is fundamental disequilibrium in balance of payments between two countries?

[**संकेत**—सदस्य देशों के अल्पकालीन भुगतान-असन्तुलन को ठीक करने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष उन्हें वित्तीय सहायता प्रदान करता है। परन्तु बहुधा यह देखा जाता है कि अनेक सदस्य देश विशेष रूप से अधिकांश अल्पविकसित देश, आधारभूत भुगतान-असन्तुलन की समस्या से ग्रस्त हो जाते हैं और ऐसी स्थिति में मुद्रा-कोष सम्बद्ध सदस्य देश को अवमूल्यन या (अधिमूल्यन) की सलाह देता है। यही नहीं, मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों को ठीक करने हेतु भी मुद्रा-कोष के विशेषज्ञ सम्बद्ध देशों में अनुबन्ध के आधार पर अपनी सेवाएँ अर्पित करते है, ताकि इन देशों की अर्थ-व्यवस्था स्वस्थ आधार पर विकास कर सके तथा अन्ततः आधारभूत असन्तुलन ठीक किया जा सके।]

10. **"मुद्रा-कोष केवल अस्थायी भुगतान-असन्तुलन को ठीक करने का प्रयास करता है।" टिप्पणी लिखिए।**

"The IMF only intends to deal with the temporary disequilibrium in the balance of payments." Discuss

[संकेत—इस प्रश्न का उत्तर प्रश्न 1 की ही भाँति होना चाहिए।]

11. **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के कार्यों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए तथा "दुर्लभ मुद्राओं" की समस्या के समाधान में इसकी असफलता पर प्रकाश डालिए।**

Examine critically the working of IMF and account for its failure to solve the problem of "scarce currencies"

[संकेत—संक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के उद्देश्यों व कार्यों का विवरण देने के पश्चात् यह बतायें कि किस सीमा तक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को डालर, मार्क, येन आदि दुर्लभ मुद्राओं की पूर्ति बढ़ाने में सफलता मिली है। यह उल्लेखनीय है कि हाल ही के कुछ वर्षों तक अधिकांश विकासशील देशों में डालर आदि दुर्लभ मुद्राएँ खुले बाजार में—घोषित विनिमय-दरों से कहीं बहुत ऊँची दरों पर—उपलब्ध होती थी। इस प्रश्न के उत्तर में यह स्पष्ट करना है कि दुर्लभ मुद्राओं की समस्या का समाधान ढूँढने में मुद्रा-कोष को पर्याप्त सफलता क्यों नहीं मिल सकी।]

12. **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को चालू सौदों के लिए बहुमुखी भुगतान-प्रणाली कायम करने एवं विदेशी विनिमय प्रतिबन्धों को समाप्त करने में किस सीमा तक सफलता मिली है?**

How far the IMF helped in establishing the multilateral system of payment *in respect of current transactions and the elimination of foreign* exchange restrictions ?

[संकेत—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के दो प्रमुख उद्देश्यों—बहुमुखी भुगतान-व्यवस्था को लागू करना एवं विनिमय-प्रतिबन्धों को समाप्त करना—पर प्रकाश डालते हुए अध्याय के अन्त में प्रस्तुत विषय-सामग्री के आधार पर यह बतायें कि इन क्षेत्रों में मुद्रा-कोष कहाँ तक सफल रहा है। *इसकी सीमाओं का उल्लेख कीजिए।*]

13 भारत को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की सदस्यता से विदेशी व्यापार एवं आर्थिक विकास के क्षेत्रों में क्या लाभ हुआ है ?

Assess the beneficial effects enjoyed by India in her membership of the IMF on her foreign trade and economic development

[संकेत—अध्याय में प्रस्तुत "भारत एवं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष" के आधार पर भारत को मुद्रा-कोष की सदस्यता से हुए लाभों का विवरण दें।]

17

विश्व बैंक एवं सम्बद्ध संस्थाएँ
[WORLD BANK AND ASSOCIATED INSTITUTIONS]

द्वितीय विश्वयुद्ध ने बहुराष्ट्रीय व्यापार तन्त्र को झकझोर दिया था एवं इसके साथ ही सम्पत्ति एवं मानवीय जीवन को भी काफी क्षतिग्रस्त किया था। यूरोप के कुछ ही देश युद्ध की विभीषिका से बच पाये थे। इंगलैण्ड का उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक विश्व की अर्थ-व्यवस्था पर प्रभुत्व था, परन्तु द्वितीय महायुद्ध में इसे सर्वाधिक क्षति हुई थी। यही स्थिति फ्रान्स की थी, जबकि इटली तथा जर्मनी की अर्थ-व्यवस्था तो युद्ध के अन्त तक पूर्णरूपेण ध्वस्त हो चुकी थी। युद्ध से प्रभावित देशों के पुनर्निर्माण की समस्या अत्यन्त ही गम्भीर थी एवं इसका शीघ्र ही हल होना आवश्यक था।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् एक अन्य समस्या विकसित तथा अल्पविकसित देशों के मध्य व्याप्त आय एवं जीवन-स्तर सम्बन्धी विषमता की उत्पन्न हुई। यह आशंका व्यक्त की गयी कि काल चक्र के प्रवाह में निर्धन एवं धनी देशों के मध्य अन्तर में और भी अधिक वृद्धि हो जायेगी। विश्व की जनसंख्या का दो-तिहाई भाग अल्पविकसित देशों में निवास करता था, यहाँ करोड़ों लोग अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करने में भी असमर्थ थे। यही कारण था कि द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद युद्ध से प्रभावित देशों के पुनर्निर्माण के साथ-साथ अल्पविकसित देशों के विकास को भी महत्वपूर्ण माना गया।

वस्तुतः इन दोनों ही समस्याओं का निदान एक दुरूह कार्य था जो अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा ही पूरा किया जा सकता था। 1944 में ब्रेटनवुड्स में आयोजित सम्मेलन में विश्व के अनेक देशों ने मिलकर समस्याओं के समाधान हेतु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I.M.F.) तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (IBRD) अथवा विश्व बैंक की स्थापना करने का निर्णय लिया। आज विश्व बैंक के साथ दो अन्य संस्थाएँ—अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (IDA) तथा अन्तर्राष्ट्रीय *वित्त निगम (IFC)—कार्य कर रही हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। प्रस्तुत अध्याय में हम विश्व बैंक एवं इसकी सहयोगी संस्थाओं की प्रगति की समीक्षा* करेंगे।

विश्व बैंक
[WORLD BANK]

विश्व बैंक अथवा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक की स्थापना दिसम्बर 1945 में की गयी थी। इसकी स्थापना के समय हुए समझौते की धारा 1 के अनुसार विश्व बैंक के कार्य एवं उद्देश्य निम्न प्रकार अंकित हैं :

विश्व बैंक के उद्देश्य

(1) **पूँजी की व्यवस्था**—सदस्य देशों को उत्पादक कार्यों में विनियोजन हेतु पूँजी उपलब्ध कराकर उनके पुनर्निर्माण एवं विकास में सहायता देना। यह पूँजी निम्न प्रयोजनों हेतु दी जा सकती है : (अ) युद्ध से ध्वस्त अर्थ-व्यवस्था के पुनर्निर्माण, (ब) शान्ति के समय की आवश्यकताओं के अनुरूप उत्पादक शक्तियों की पुनर्स्थापना, तथा (स) पिछड़े हुए देशों में साधनों एवं उत्पादन की सुविधाओं के विकास में सहयोग।

(2) पूंजी विनियोग को प्रोत्साहन—निजी पूंजी के विदेशों में विनियोग को विश्व बैंक निम्न विधियों से प्रोत्साहन देता है (अ) निजी पूंजी के विनियोग अथवा ऋणों के लिए गारण्टी प्रदान करना तथा (ब) यदि उपयुक्त शर्तों पर पर्याप्त निजी पूंजी उपलब्ध न हो तो अपने कोष में से अथवा इस प्रयोजन हेतु जुटाये गये साधनों में से उपयुक्त शर्तों पर उत्पादक कार्यों के लिए ऋण प्रदान करना।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सन्तुलित विकास—विश्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के दीर्घकालीन सन्तुलित विकास हेतु तथा भुगतान-सन्तुलन बनाये रखने हेतु दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी-विनियोग के द्वारा सदस्य देशों में उत्पादकता को बढ़ाता है तथा इनके माध्यम से जीवन-स्तर एवं श्रम की स्थिति में सुधार भी उत्पन्न करता है।

(4) ऋण प्रदान करना—विश्व बैंक छोटी व बड़ी उत्पादक इकाइयों के लिए अधिक उपयोगी एवं आवश्यक परियोजनाओं हेतु ऋण देता है अथवा ऐसे ऋणों के लिए प्रतिभूति (guarantee) प्रदान करता है।

(5) शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था की स्थापना—विश्व बैंक ऐसे कार्यक्रमों को प्रोत्साहन देता है जिससे युद्धग्रस्त अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो सके।

यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एवं विश्व बैंक के कार्यों की तुलना करें तो हमें यह मानना होगा कि इन देशों में पर्याप्त पूरकता है, यद्यपि दोनों ही संस्थाओं का लक्ष्य सदस्य देशों की आय एवं लोगों के जीवन-स्तर में वृद्धि करना है। दोनों संस्थाओं द्वारा सदस्य देशों को दी जाने वाली सहायता का मुख्य अन्तर यह है कि जहां मुद्रा-कोष भुगतान-असन्तुलन को ठीक कराने हेतु अल्पकालीन सहायता प्रदान करता है, विश्व बैंक द्वारा दी जाने वाली सहायता के पीछे मुख्य प्रयोजन सदस्य देशों में सन्तुलित आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना है।

विश्व बैंक की सदस्यता एवं संगठन

विश्व बैंक की सदस्यता केवल उन्हीं देशों को प्राप्त हो सकती है जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सदस्य बन चुके हैं। इसी प्रकार किसी भी समय कोई देश एक लिखित सूचना द्वारा विश्व बैंक की सदस्यता से मुक्त हो सकता है। 1944 में ही जिन देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की सहायता ग्रहण की थी वे विश्व बैंक के प्रारम्भिक सदस्य माने गये। किसी भी नये सदस्य के लिए यह आवश्यक है कि इस देश की सदस्यता को तीन-चौथाई वर्तमान सदस्यों का समर्थन प्राप्त हो। विश्व बैंक के सदस्यों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती रही है तथा जून 1988 तक इसके सदस्यों की संख्या 151 हो चुकी है। यहां पर यह भी उल्लेखनीय है कि सोवियत रूस विश्व बैंक का सदस्य नहीं है। विश्व बैंक के प्रबन्ध हेतु एक बोर्ड ऑफ गवर्नर्स तथा कार्यकारी प्रबन्धकों का एक प्रबन्धक मण्डल है। विश्व बैंक के वर्तमान अध्यक्ष रॉबर्ट मेक्नेमारा हैं। अध्यक्ष बैंक के संचालन हेतु बोर्ड ऑफ गवर्नर्स की राय लेते हैं। प्रत्येक सदस्य देश इस बोर्ड में एक गवर्नर (सामान्यतः वित्त मन्त्री) तथा एक वैकल्पिक गवर्नर (सामान्यतः केन्द्रीय बैंक का गवर्नर) मनोनीत करता है। यह नियुक्ति प्रत्येक सदस्य 5 वर्ष के लिए करता है। प्रत्येक गवर्नर की वोट देने की शक्ति उसके देश द्वारा विश्व बैंक में जमा पूंजी पर निर्भर करती है। बोर्ड की बैठक वर्ष में एक बार होती है। साधारणतया यह बैठक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के बोर्ड ऑफ गवर्नर्स की बैठक के साथ ही बुलाई जाती है।

विश्व बैंक के सामान्य प्रशासन हेतु कार्यकारी संचालक-मण्डल की नियुक्ति की जाती है। इस संचालक-मण्डल का अध्यक्ष भी बैंक का अध्यक्ष ही होता है। संचालक-मण्डल की बैठक प्रत्येक माह होती है। संचालक-मण्डल के कोरम की पूर्ति हेतु कम से कम 60 प्रतिशत वोटिंग शक्ति वाले प्रतिनिधियों की उपस्थिति आवश्यक है। इन सबके अतिरिक्त विश्व बैंक में अनेक ऐसी समितियां हैं जो सदस्य देशों को ऋण देने के प्रस्तावों पर विचार करती हैं।

विश्व बैंक की पूंजी के स्रोत

स्थापना के समय विश्व बैंक की अधिकृत पूंजी 1,000 करोड़ डालर रखी गयी थी। इन

अधिकृत पूंजी में तीन-चौथाई बहुमत द्वारा वृद्धि की जा सकती है। यह पूंजी एक-एक लाख डालर के एक लाख शेयरों में विभक्त की गयी है। इसमें से 950 करोड़ डालर का अंशदान बैंक की स्थापना के समय ही प्राप्त हो चुका था। प्रत्येक देश के अंशदान का कोटा निम्न प्रकार से निर्धारित होता है :

(i) अंशदान का 2% स्वर्ण अथवा अमरीकी डालर के रूप में। यह राशि बिना किसी कठिनाई के ऋण हेतु उपलब्ध हो सकती है।

(ii) अंशदान का 18% स्थानीय मुद्रा के रूप में, जिसे सम्बन्धित देश की सहमति से प्राप्त किया जा सकता है।

(iii) शेष 80% को बैंक के पास तभी जमा किया जा सकता है जब बैंक को उसकी आवश्यकता हो। साधारणतया अंशदान का यह भाग ऋण हेतु उपलब्ध नहीं होता।

सदस्य देशों को आवंटित हिस्सों का मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष में उन्हें प्राप्त कोटे पर निर्भर करता है। विश्व बैंक की स्थापना के बाद 15 सितम्बर, 1959 को पहली बार बैंक की अधिकृत पूंजी 1,000 करोड़ डालर से बढ़ाकर 2,100 करोड़ डालर की गयी। लगभग सभी देशों के अंशदान को दुगुना कर दिया गया। यह उल्लेखनीय है कि अंशदान का बढ़ा हुआ भाग डालर, स्वर्ण या स्थानीय मुद्रा के रूप में न लिया जाकर सदस्य देशों के बाकी अंशदान के रूप में छोड़ दिया गया। फलस्वरूप बैंक की कुल पूंजी में वृद्धि होने पर भी ऋण हेतु उपलब्ध कोष में वृद्धि नहीं हुई। इसके बाद तीन बार विश्व बैंक की अधिकृत पूंजी में वृद्धि की गयी। 1963 में इसे बढ़ाकर 2,200 करोड़ डालर, 1965 में 2,400 करोड़ डालर तथा 31 दिसम्बर, 1970 को बढ़ाकर इसे 2,700 करोड़ डालर कर दिया गया। हाल ही तक सदस्यों के अंशदान का 1% स्वर्ण या डालर के रूप में तथा 9% राष्ट्रीय मुद्राओं के रूप में लिया गया था। इसमें से स्वर्ण या डालर में जमा राशि को बिना किसी कठिनाई के तथा राष्ट्रीय मुद्राओं में जमा राशि को सम्बद्ध देश (देशों) की सहमति से प्राप्त किया जा सकता था। शेष 90% अंशदान ऋण के लिए उपलब्ध नहीं है, परन्तु आवश्यकता होने पर बैंक इसकी मांग कर सकता था।

विश्व बैंक की 2,700 करोड़ डालर की अधिकृत पूंजी एक लाख डालर के 2.7 लाख शेयरों में विभाजित है। यह उल्लेखनीय है कि बैंक की पूंजी की अभिव्यक्ति संयुक्त राज्य अमरीका के डालर के उस तौल एवं उत्तमता के आधार पर की जाती है जो 1 जुलाई, 1944 को विद्यमान थी। उक्त अधिकृत पूंजी में से अभिदत्त पूंजी 2558·9 करोड़ डालर है।

30 अप्रैल, 1976 को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में स्वर्ण के धर्मच्युत को प्राप्त कर देने के बाद से अब 1 जुलाई, 1944 को विद्यमान अमरीकी डालर व तौल की उत्तमता के आधार पर पूंजी का मूल्य व्यक्त नहीं किया जा सकेगा। सदस्य देशों की राष्ट्रीय मुद्राओं के रूप में प्राप्त पूंजी के अंशदान को अमरीकी डालर में बदलने हेतु प्रचलित विदेशी विनिमय-दरों का आधार लिया जाता है।

विश्व बैंक से चुकायी गयी पूंजी को 1975 के डालर मूल्य के आधार पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है : (1) 30·87 करोड़ डालर का स्वर्ण या अमरीकी डालर के रूप में प्राप्त अंशदान, तथा (2) 277·8 करोड़ डालर की राशि जो सदस्य देशों की मुद्राओं के रूप में प्राप्त हुई है। 30 जून, 1978 को विश्व बैंक की अभिदत्त पूंजी 33,045 मिलियन डालर थी।[1] 4 जनवरी, 1980 को बैंक के गवर्नर मण्डल द्वारा लिये गये निर्णय के अनुसार विश्व बैंक की अधिकृत पूंजी 45 बिलियन डालर कर दी गयी है। इसमें से केवल 7·5 प्रतिशत चुकाना होगा, जिसमें 0·75 प्रतिशत स्वर्ण अथवा अमरीकी डालरों में तथा शेष 6·75 प्रतिशत सदस्य देशों की अपनी मुद्राओं में चुकाया जायेगा। वृद्धि का शेष भाग (अर्थात् 92·5 प्रतिशत अथवा 37 बिलियन डालर) सदस्य देशों को चुकाना नहीं होगा। कोष की पूंजी में इस सामान्य वृद्धि के अन्तर्गत सदस्य देशों को 30

1 30 जून, 1978 को समाप्त होने वाले वर्ष की रिपोर्ट में "डालर" से तात्पर्य अमरीकी डालर के वर्तमान मूल्य से है जो कि 1·23953 प्रति SDR माना गया है। 1973 से 31 मार्च, 1978 तक डालर का मूल्य 1·20635 प्रति SDR माना जाता था।

सितम्बर, 1981 से जुलाई 1986 तक भुगतान करने होंगे। 30 जून, 1988 को विश्व बैंक की अभिदत्त पूंजी (Subscribed capital) 91436 मिलियन डालर थी।[1]

पुन: विश्व बैंक की व्यवस्था में किसी भी देश की मताधिकार शक्ति उसके द्वारा दिये गये अंशदान पर निर्भर करती है। प्रत्येक सदस्य देश के 250 मत (Vote) होते हैं। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक 1 00 000 डालर के अंशदान पर एक अतिरिक्त वोट प्राप्त होता है। अमरीका का अंशदान सर्वाधिक होने के कारण इसकी मताधिकार शक्ति भी सर्वाधिक है। 30 जून, 1988 को अमरीका का अंशदान कुल अंशदानों का 22 40 प्रतिशत था और इसे कुल मताधिकार शक्ति का 20 51 प्रतिशत भाग प्राप्त था। अमरीका के बाद अन्य महत्वपूर्ण देश क्रमशः जापान, ब्रिटेन, भारत इटली जर्मनी तथा फ्रान्स हैं। भारत का अंशदान 5 73% था और इसकी मताधिकार शक्ति 5 31 प्रतिशत थी। जून 1988 में कुछ मुख्य देशों की पूंजी निम्नलिखित थी :

देश	पूंजी (मि डालर में)
अमरीका	17939
इंगलैण्ड	4698
फ्रान्स	4698
प जर्मनी	4802
जापान	6348
भारत	2875

चूंकि सदस्य देशों द्वारा चुकायी गयी पूंजी अधिकृत पूंजी का केवल 10% है अत: विश्व बैंक ने अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी बाजार से ऋण लेकर अपने साधनों में काफी वृद्धि की है। विश्व बैंक दो विधियों से अपने दायित्व की पूर्ति हेतु साधन जुटाता है। प्रथम जनता को बॉण्डों की बिक्री करके और द्वितीय केन्द्रीय बैंकों एवं अन्य सरकारी खातों में निजी रूप से बॉण्डों को रखकर।[2] 1964-68 में विश्व बैंक के द्वारा लिये गये ऋणों की **वार्षिक औसत** राशि 49 करोड डालर थी जो 1969-73 के वर्षों में बढ़कर 136 करोड डालर हो गयी। 1974, 1975 एवं 1976 के वित्तीय वर्षों में विश्व बैंक द्वारा क्रमश: 185 3 करोड, 351 करोड तथा 381 करोड डालर के ऋण लिये गये। यह उल्लेखनीय है कि 1973-77 की अवधि में विश्व बैंक ने 1,562 करोड डालर के ऋण लिये जो इसके पूर्व के पाँच वर्षों में लिये गये ऋणों से ढाई गुनी राशि थी। 1977 के वित्तीय वर्ष में विश्व बैंक ने 472 करोड डालर ऋण प्राप्त किये। इसमें से 354 5 करोड डालर के ऋण निवेश बाजारों में जुटाये गये। सदस्य देशों की सरकारों व केन्द्रीय बैंकों ने कुल राशि का 24 प्रतिशत प्रदान किया जो 1967 के वित्तीय वर्ष में प्रदत्त राशि से 21 3 करोड डालर कम था।

1977 के वित्तीय वर्ष में संयुक्त राज्य अमरीका की विभिन्न संस्थाओं से विश्व बैंक को 185 करोड डालर के ऋण प्राप्त हुए। जर्मनी के बैंकों व अन्य संस्थाओं से 119 करोड डालर व 139 5 करोड डालर के ऋण प्राप्त हुए जबकि स्विट्जरलैण्ड से 50 करोड डालर के ऋण लिये गये। डच बैंकों द्वारा भी इस वर्ष 65 करोड डच मार्क प्रदान किये गये। उल्लेखनीय बात यह है कि 30 जून, 1966 को विश्व बैंक द्वारा प्राप्त ऋणों की बकाया राशि 1,544 करोड डालर थी जो 30 जून, 1977 को बढ़कर 1847 7 करोड डालर हो गयी। यहाँ यह बताना भी उपयुक्त होगा कि विश्व बैंक अधिकांशत 6 से 10 वर्ष तक के लिए ऋण लेता है तथा इन पर देय ब्याज 6 प्रतिशत से 8 8 प्रतिशत तक होता है। 25 वर्ष के लिए प्राप्त ऋणों पर बैंक 9 से 10 प्रतिशत तक ब्याज देता है। 1978 के वित्तीय वर्ष (1 जुलाई, 1977 से 30 जून, 1978) में

1 यह आंकडे अमरीकी डालर के चालू मूल्यों में हैं। यदि इन्हें SDR में व्यक्त किया जाय तो इनका मूल्य कम होगा। 30 जून, 1988 को 1 SDR = 1 09224 अमरीकी डालर था।

2 विस्तृत विश्लेषण हेतु देखिए, Eugene H Rotbarg "The World Bank—A Financial Appraisal" in *Finance and Development*, Vol 13, No 3

विश्व बैंक द्वारा 3,636 मिलियन डालर के ऋण लिये गये। 1974 से 1978 तक के पाँच वर्षों में विश्व बैंक द्वारा लिये गये ऋणों की कुल राशि 17,531 मिलियन डालर थी जबकि इसके पूर्व में 5 वर्षों (1969-73) में लिये गये ऋणों की कुल राशि 6794 मिलियन डालर थी। विश्व बैंक इन ऋणों को विभिन्न देशों की सरकारों, केन्द्रीय बैंकों तथा निजी विनियोग बाजारों से प्राप्त करता है। विश्व बैंक का इतनी बड़ी मात्रा में ऋण लेने का कारण यह है कि इसके सदस्यों द्वारा चुकायी गयी पूँजी अधिकृत पूँजी का केवल 10% भाग ही है। 1979 से 1983 तक 5 वर्षों में विश्व बैंक ने कुल 24 1 बिलियन डालर के ऋण लिये थे। 1983 के वित्तीय वर्ष में 10 3 बिलियन डालर के ऋण लिये हैं जबकि 1981 एवं 1982 के लिए ऋणों की राशि क्रमश 5 1 बिलियन डालर एवं 8·5 बिलियन डालर थी। वित्तीय वर्ष 1988 में विश्व बैंक ने 10 8 बिलियन डालर के ऋण लिये तथा जून 1988 तक बैंक द्वारा लिये गये ऋणों की लगभग 79 7 बिलियन डालर के बराबर राशि बकाया थी।

विश्व बैंक के प्रमुख कार्य एवं योगदान

वित्तीय वर्ष 1988 में विभिन्न क्षेत्रों में विश्व बैंक की प्रगति निम्न विवरण से जानी जा सकती है :

विभिन्न मद	राशि (बिलियन डालर में)
1. नयी सहायता का वायदा	14 8
2. कुल सहायता	155 0
3 425 डालर से कम प्रति व्यक्ति आय वाले देशों को ऋण	3·4
4. ऋणों की संख्या	118
5. ऋण लेने वाले देशों की संख्या	37
6. भुगतान की राशि	11·6
7 सदस्य देशों की संख्या	151
8. विश्व बैंक की अभिदत्त पूँजी	91·4

विश्व बैंक के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं :

1. *ऋण प्रदान करना*—*आधुनिक सन्दर्भ में विश्व बैंक द्वारा सदस्य देशों को आर्थिक* प्रगति की ठोस नींव के निर्माण हेतु ऋण प्रदान किये जाते हैं, जबकि स्थापना के बाद लगभग एक दशक तक बैंक के ऋणों का मुख्य प्रयोजन युद्ध से प्रभावित देशों का पुनर्निर्माण था। ऐसा अनुमान है कि अब तक बैंक द्वारा दिये गये ऋणों का एक-तिहाई भाग विद्युत-शक्ति हेतु दिया गया है तथा इतना ही भाग परिवहन के साधनों—रेलों, सड़कों, वायुमार्गों तथा जलमार्गों—के विकास हेतु दिया गया। शेष एक-तिहाई ऋण कृषि (विशेष रूप से सिंचाई के विस्तार हेतु), उद्योगों (विशेष रूप से इस्पात के उत्पादन) एवं सामान्य विकास कार्यों के लिए प्रदान किये गये। विश्व बैंक निम्न विधियों द्वारा सदस्य देशों की सहायता कर सकता है :

(i) अपने कोषों में से प्रत्यक्ष सहायता देकर,

(ii) किसी सदस्य देश के बाजार में या अन्य स्रोतों से प्राप्त ऋणों का उपयोग करके, तथा

(iii) विनियोक्ता संस्थाओं द्वारा दिये जाने वाले ऋणों के लिए पूर्ण या आंशिक प्रतिभूति (guarantee) प्रदान करके। किसी देश द्वारा प्राप्त ऋण पर प्रतिभूति देना विश्व बैंक का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। इस कार्य के लिए बैंक अनुमोदित जोखिम के अनुसार ऋण लेने वाले देश से उपयुक्त कमीशन प्राप्त करता है। इस प्रकार बैंक निजी पूँजी के विनियोग को प्रोत्साहन देता है। परन्तु इस प्रकार की प्रतिभूति देने से पूर्व विश्व बैंक निम्न बातों की पूरी जाँच कर लेता है :

(अ) यह कि जिस परियोजना के लिए ऋण माँगा गया है वह आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त भी

है या नही । इस कार्य हेतु विश्व बैंक विशेषज्ञों की एक समिति से परियोजना के सभी पहलुओं की जाँच करवाता है ।

(ब) यह कि ऋण लेने वाला देश ब्याज सहित ऋण का (किश्तों में) भुगतान कर सकेगा या नहीं ।

(स) यह कि ऋण का प्रयोजन विशिष्ट परियोजनाओं के लिए आवश्यक विदेशी विनिमय की पूर्ति है अथवा विकास एवं आर्थिक पुनर्निर्माण ।

(द) यह कि ऋण लेने वाले देश मे पूँजी के अन्य स्रोत (विशेष रूप से निजी क्षेत्र में) इन परियोजनाओं के लिए साधन जुटाने म सक्षम हैं या नहीं, तथा देश की सरकार ने इन साधनों के जुटाने हेतु क्या प्रयास किये हैं ।

विश्व बैंक ऋण देने के बाद ऋणी देश द्वारा ऋण के उपयोग की विधियों एवं परियोजना की प्रगति पर पूरी दृष्टि रखता है और आवश्यकतानुसार प्राविधिक परामर्श एवं अन्य प्रकार की सहायता प्रदान करता है ।

साधारणतया विश्व बैंक मध्यकालीन एवं दीर्घकालीन ऋण ही उपलब्ध कराता है। ऋणों पर ली जाने वाली ब्याज की दर उस दर पर निर्भर करती है जिस पर बैंक स्वयं साधन जुटाता है। बहुधा बैंक जिस ब्याज पर ऋण लेता है उसमे 1% कमीशन एवं 1/4 से 1/2% प्रशासनिक व्यय-भार (कुल $1\frac{1}{4}$ से $1\frac{1}{2}$ प्रतिशत) सम्मिलित करके अपने द्वारा दिये गये ऋणों का ब्याज प्राप्त करता है ।

सामान्यत विश्व बैंक ऋण लेने वाले देशों द्वारा ऋणों के उपयोग पर दृष्टि रखता है। यदि आवश्यक हुआ तो बैंक तकनीकी अथवा अन्य प्रकार के मार्ग-दर्शन द्वारा सदस्य देशों की सहायता करता है । विश्व बैंक ऋण स्वीकृत करने से पूर्व इस बात की भी जाँच करता है कि सम्बद्ध देश म स्थानीय निजी उद्यम को समुचित प्रोत्साहन भी प्रदान किया जा रहा है, अथवा नहीं ।

विश्व बैंक अथवा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक ने 1967 में जहाँ 46 परियोजनाओं के लिए कुल मिलाकर 77 7 करोड डालर के ऋण स्वीकृत किये थे, इसके ग्यारह वर्ष अर्थात् 1977 के वित्तीय वर्ष मे इससे चार गुनी परियोजनाओं के लिए लगभग $7\frac{1}{2}$ गुनी राशि के ऋण स्वीकृत किय गय । 1975-77 के मध्य सहायता हेतु स्वीकृत 400 कृषि-परियोजनाएँ थी । विगत कुछ वर्षों मे विश्व बैंक की ऋण नीति म निम्न महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं :[1]

(1) कृषि अनुसन्धान क्षेत्रीय विकास एवं प्रशिक्षण हेतु अधिक ऋणों की स्वीकृति 1974 मे 51 कृषि परियोजनाओं में से 18 कृषि अनुसन्धान के लिए थी । 1976 के वित्तीय वर्ष मे इनकी सख्या 64 परियोजनाओं मे 33 हो गयी । 1977 के वित्तीय वर्ष में कृषि की कुल 84 परियोजनाओं के लिए 163 8 करोड़ डालर के ऋण दिये गये । इनम से 26 परियोजनाएँ क्षेत्रीय विकास हेतु थी । जिन परियोजनाओं में कृषि प्रशिक्षण का अश था उनकी सख्या 1974 व 1981 के बीच दुगुनी हो गयी ।

(2) परियोजनाओं की अपेक्षा पिछले कुछ वर्षों मे विशेष परिस्थितियों मे विकास कार्यक्रमों हेतु अधिक ऋण दिये जाने लगे हैं । किसी देश मे व्यापार सन्तुलन मे अचानक निर्यात कम होने पर प्रतिकूलता आ जाय, या औद्योगिक उत्पादन क्षमता का पूर्ण उपयोग करने हेतु कच्चे माल की जरूरत हो या गम्भीर प्राकृतिक सकट से उबरना हो अथवा आयात-मूल्यों में तीव्र वृद्धि होने पर व्यापार शर्तों म गिरावट आ जायें तो कार्यक्रम-ऋण दिये जाने लगे हैं । 1947 से 1970 तक विश्व बैंक व अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ न 26 कार्यक्रम-ऋण दिये थे जिनकी कुल राशि 171 करोड डालर थी । 1978 मे 46 देशों को 137 ऋण दिये गये जिनकी राशि लगभग 610 करोड डालर थी । 1967 से 1978 के बीच ऋण की राशि बढकर आठ गुनी हो गयी ।

30 जून, 1988 तक विश्व बैंक ने कुल 1,55,048 मिलियन डालर के ऋण स्वीकृत किये, जिनका विवरण अग्र प्रकार दिया गया है :

---

1 See : *World Bank Annual Report*, 1981.

30 जून, 1988 तक विश्व बैंक द्वारा स्वीकृत कुल ऋण

(मिलियन डालर में)

ऋण का उद्देश्य	ऋण की राशि
1. कृषि एवं ग्रामीण विकास	32051
2. शक्ति	34330
3 परिवहन	25098
4. औद्योगिक विकास वित्त	10974
5 जल-पूर्ति	7129
6. गैर-परियोजना	10642
7. नगर-विकास	6188
7. शिक्षा	5610
9. लघु-व्यवसाय	3891
10 अन्य (तकनीकी सहायता, दूरसंचार, जनसंख्या स्वास्थ्य, आदि)	19135
योग	1,55,048

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि विश्व-बैंक द्वारा कृषि एवं ग्रामीण विकास, शक्ति, परिवहन एवं औद्योगिक विकास के लिए कुल ऋणों का लगभग 66% राशि दी गयी है।

विश्व बैंक द्वारा प्रदान किये गये ऋणों से सम्बद्ध नीतियाँ एवं विधियाँ

विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त विश्व बैंक सामान्यतः विशिष्ट परियोजना के लिए ही ऋण प्रदान करता है। ऋण की स्वीकृति से पूर्व विश्व बैंक इस बात की पूर्ण जाँच करता है कि वह परियोजना तकनीकी एवं आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त है, परियोजना की क्रियान्विति एवं समाप्ति तक के समय में इसका प्रबन्ध ठीक प्रकार से होगा तथा निर्दिष्ट अवधि के बाद ऋण का भुगतान हो सकेगा। यह बता देना भी उपयुक्त होगा कि विश्व बैंक के ऋण सदस्य देशों की सरकारों या उनकी प्रतिभूति पर निजी अथवा सार्वजनिक संस्थाओं के लिए दिये जा सकते हैं। सामान्यतः परियोजना की कुल लागत का वह समूचा अथवा आंशिक भाग ऋण के रूप में स्वीकृत किया जाता है जो विदेशी विनिमय की पूर्ति हेतु आवश्यक है।

सदस्य देशों में रोजगार की समुचित व्यवस्था के लिए विश्व बैंक ऐसी नीतियों का अनुमोदन करता है जिनके अनुसार रोजगार अवसर में वृद्धि करने हेतु प्रयास किये जाते हों। बैंक पूंजी-प्रधान तथा श्रम-प्रधान तकनीकी का उपयुक्त समन्वय करने का प्रयास करता है।

जून 1976 तक विश्व बैंक के ऋणों के परिशोधन हेतु समय के साथ-साथ किश्त की राशि में वृद्धि होती जाती थी। कुछ समय पूर्व ही यह निर्णय लिया गया है कि मूलधन का परिशोधन समान किश्तों में किया जाय। छूट अवधि (grace period) एवं अन्तिम परिपक्वता की भारित औसत अवधि आगे से क्रमशः 3 8 वर्ष एवं 19 वर्ष होगी।

1. ब्याज की दरें—विश्व बैंक द्वारा सदस्य देशों को दिये गये ऋण की ब्याज दर इसके द्वारा जुटाये गये ऋणों की लागत पर निर्भर करती है। हाल के वर्षों में विश्व बैंक द्वारा लिए गये ऋणों की ब्याज दर में साधारण सी वृद्धि हुई है और इस कारण दिये जाने वाले ऋणों पर भी ब्याज दर में वृद्धि की गयी है। उदाहरणार्थ, 1973-74 तक विश्व बैंक द्वारा दिये गये ऋणों पर 7 51 प्रतिशत ब्याज लिया गया था जो 1974-75 में लगभग 8 21 प्रतिशत हो गया। जनवरी 1975 से ब्याज की यह दर लगभग 8·5 प्रतिशत रही है।

विश्व बैंक स्वयं जिस ब्याज दर पर ऋण लेता है इसमें 1¼ से 1½ प्रतिशत तक कमीशन एवं प्रशासकीय व्यय जोड़कर सदस्य देशों को दिये गये ऋणों पर ब्याज वसूल करता है। जनवरी 1975 से 31 मई, 1976 तक ब्याज की दर 8 5 प्रतिशत थी जिसमें 1 जून, 1976 से वृद्धि करके 8·85 प्रतिशत कर दी गयी।

1 जुलाई, 1976 से बैंक द्वारा दिये गये ऋणो पर एक नये फार्मूले के अनुसार ब्याज दर का निर्धारण किया जाने लगा है। इस फार्मूले के अनुसार प्रत्येक तीन मास की अवधि के पश्चात् बैंक की ब्याज दर की समीक्षा की जायेगी तथा इसे उससे पूर्व के बारह मासो मे विश्व बैंक द्वारा लिये गये ऋणों की परिपक्वता व राशि की औसत भारित लागत के अनुसार समायोजित किया जायेगा। इस समायोजित ब्याज दर मे 0 5 प्रतिशत जोडकर अगले तीन मासो मे दिये जाने वाले ऋण की ब्याज दर निर्धारित की जायगी। जनवरी से मार्च 1978 की तिमाही मे विश्व बैंक के ऋणो पर ब्याज दर 7 45% थी।

यह उल्लेखनीय है कि सदस्य देशो की आर्थिक स्थिति मे तथा विश्व बैंक द्वारा किये जाने वाले ऋणो की लागतो म अन्तर होने पर भी विश्व बैंक दय ऋणा पर सभी से समान ब्याज लेता है। परन्तु यथासम्भव ऋण की वसूली से सम्बद्ध शर्तों अर्थात् ऋण-वापसी की अवधि तथा छूट की अवधि (grace period) का निर्धारण सदस्य देशो की भुगतान-क्षमता, विशेषत अपेक्षित भुगतान-सन्तुलन की स्थिति के आधार पर किया जाता है।

गत कुछ वर्षो मे विश्व बैंक द्वारा दिये जाने वाले ऋण की नीति मे एक और परिवर्तन किया गया है। विश्व बैंक अब वित्तीय सहायता हेतु आवेदन करने वाले देशो की उन परियोजनाओ पर प्राथमिकता के आधार पर विचार करता है जो अपेक्षाकृत अधिक रोजगार-प्रधान हैं। विश्व बैंक ने पिछले अनुभव के आधार पर यह अनुभव किया है कि वित्त की अपेक्षा अनेक विकासशील देशो के आर्थिक विकास में प्रौद्योगिक (technological) प्रक्रिया सम्बन्धी तथा रोजगार सम्बन्धी बाधाएँ हैं। विश्व बैंक वित्तीय सहायता देने से पूर्व सदस्य देशो से यह आग्रह करता है कि इन कमियो की पूर्ति अविलम्ब करें।

गत कुछ वर्षो मे ही विश्व बैंक की ऋण सम्बन्धी नीति मे एक अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन यह भी दृष्टिगोचर हुआ है कि इन निर्धन देशो को दी जाने वाली सहायता मे अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि हुई है। 262 डालर प्रति वर्ष प्रति व्यक्ति से कम आय वाले देशो को 1964-68 मे दी जाने वाली सहायता का वार्षिक औसत 23 4 करोड डालर था, जो 1969-73 मे बढकर 288 करोड डालर हो गया। 1973-74 व 1974-75 मे इन देशों को क्रमश 36 6 करोड डालर तथा 88 4 करोड डालर की सहायता दी गयी। 1976 77 के वित्तीय वर्षो मे जहाँ प्रति-व्यक्ति आय 265 डालर से कम थी उन देशो को 104 करोड रुपये (प्रत्येक वर्ष मे) की सहायता दी गयी। अस्तु विश्व बैंक द्वारा अत्यन्त निर्धन देशो को दी जाने वाली सहायता मे पूर्वापेक्षा काफी वृद्धि हुई है। इस प्रकार जहाँ 1968 तक अपेक्षाकृत कम आय वाले देशो को प्राप्त सहायता का कुल ऋणो म अनुपात 22 प्रतिशत लगभग था, 1974-75 तक यह बढकर 30 प्रतिशत हो गया।

जनवरी 1980 से अपनायी गयी ब्याज दर की व्यवस्था के अन्तर्गत 12 महीनो मे 6 पिछले महीनो तथा 6 अगले महीनों को सम्मिलित किया जाने लगा। वर्ष मे कम से कम एक बार ब्याज-दरो का निर्धारण करना आवश्यक हो गया है। जुलाई 1982 से पूर्व व्यवस्था यह थी कि ऋण स्वीकृत करते समय भी ब्याज दर होती थी, उस ऋण की सम्पूर्ण अवधि (सामान्यतया 15-20 वर्ष) के लिए वही रहती थी। परन्तु अब परिवर्तन यह किया गया कि दिये गये ऋणों पर ब्याज दर प्रति 6 महीने बाद बदलती रहेगी। इसका निर्धारण बैंक द्वारा किये गये विभिन्न ऋणों के समूह (pool) की वास्तविक लागत के आधार पर होगा। बैंक द्वारा ली जाने वाली ब्याज दर इसके द्वारा दी जाने वाली ब्याज दर से 0 5 प्रतिशत ज्यादा होगी।

1984 के वित्तीय वर्ष के अन्त तक विश्व बैंक द्वारा प्रदत्त सहायता की सचयी राशि 9400 करोड डालर हो चुकी थी। पिछले डेढ दशक मे विश्व बैंक द्वारा विकासशील देशो को दी जाने वाली सहायता म निम्न उल्लेखनीय परिवर्तन परिलक्षित हुए हैं[1]

(1) एशियाई देशो को प्राप्त सहायता का अनुपात 30 प्रतिशत से बढकर 45 प्रतिशत के लगभग हो गया है।

---

1 *World Development Report*, 1985, p. 87.

(ii) जहाँ पहले परिवहन, सचार तथा ऊर्जा के विकास हेतु दी जाने वाली सहायता का अनुपात 60-65 प्रतिशत होता था, अब यह घटकर 30 प्रतिशत रह गया है। नवें दशक में कृषि व ग्रामीण विकास हेतु प्रदत्त ऋणों का अनुपात 26 प्रतिशत तथा सामाजिक सेवाओं आदि के लिए प्रदत्त सहायता का अनुपात लगभग 13 प्रतिशत था। उद्योगों के विकास हेतु दी जाने वाली सहायता का अनुपात भी गत दो दशकों में काफी बढ़ा है।

2. वित्तीय साधनों की प्राप्ति—विश्व बैंक के ऋण प्रदान करने के कार्यों का निरन्तर विस्तार हुआ है। इन कार्यों को पूरा करने के लिए विश्व बैंक अपने वित्तीय साधनों का विस्तार करता है। पिछले कुछ वर्षों में विश्व बैंक ने यह महसूस किया है कि पूँजी की सीमितता के कारण वह अल्प-विकसित देशों की अधिक सहायता नहीं कर सकता है, अतः उसने ऋण प्राप्त करने का कार्यक्रम प्रारम्भ किया। 1979 से 1983 तक की अवधि में कुल 44 8 बिलियन[1] डालर के ऋण स्वीकृत किये गये थे और इस प्रकार वार्षिक औसत 8 9 बिलियन डालर के ऋण दिये गये। 1983 के वित्तीय वर्ष में 43 देशों को 136 परियोजनाओं के लिए 11·1 बिलियन डालर के ऋण दिये गये। 1982 में 10 3 बिलियन डालर के ऋण दिये गये थे। 30 जून, 1988 तक विश्व बैंक ने कुल 155048 बिलियन डालर के ऋण दिये। इन ऋणों का क्षेत्रीय विवरण निम्न प्रकार रहा था :

क्षेत्र	ऋण की राशि (बिलियन डालर में)	कुल ऋणों का प्रतिशत
1. अफ्रीका	12656	8 2%
2. एशिया	52231	33·7%
3. यूरोप, मध्यपूर्व तथा उत्तरी अफ्रीका	40249	25·9%
4. लेटिन अमरीका तथा कैरेबियन देश	49912	32·2%
योग	155048	100 0%

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि अधिकांश ऋण एशिया तथा लेटिन अमरीका और अफ्रीका के पिछड़े देशों को दिये गये हैं।

3 कोष-निधि का निर्माण—विश्व बैंक अपनी शुद्ध आय में से प्रति वर्ष कुछ भाग रिजर्व कोष में स्थानान्तरित करता है। इसके अतिरिक्त बैंक के पास एक विशेष कोष भी होता है जिसका निर्माण एक प्रतिशत बट्टे की राशि से किया जाता है।

4 गारण्टी प्रदान करना—विश्व बैंक अपने सदस्यों को अन्य वित्तीय संस्थाओं से ऋण का भुगतान करने की गारण्टी भी प्रदान करता है। ऋण की गारण्टी देने में जो जोखिम उठानी पड़ती है उसके लिए बैंक ऋणी सदस्य देश से अपना कमीशन प्राप्त करता है। किन्तु पिछले कुछ वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि हो जाने के कारण विश्व बैंक की गारण्टी के बिना भी सदस्य देशों को अन्य देशों से ऋण प्राप्त होने लगे हैं।

5 विश्व बैंक द्वारा तकनीकी सहायता—सदस्य देशों की आर्थिक सहायता के पश्चात् विश्व बैंक का द्वितीय महत्वपूर्ण कार्य इन देशों को तकनीकी सहायता प्रदान करना है। विश्व बैंक सदस्य देशों को विकास परियोजनाओं की क्रियान्विति में आने वाली तकनीकी, प्रशासकीय तथा वित्तीय कठिनाइयों की खोज करने में उनकी सहायता करता है, तथा इन कठिनाइयों को दूर करने हेतु उन्हें आवश्यक सुझाव भी प्रस्तुत करता है। सदस्य देशों की परियोजनाओं की सम्भाव्यता (feasibility) के विषय में विश्व बैंक विस्तृत रूप से अध्ययन करके इनकी रिपोर्ट तैयार करता है। यदि विश्व बैंक को सदस्य देशों की किसी परियोजना का तकनीकी पक्ष अनुपयुक्त लगता है तो इसमें आवश्यक संशोधन हेतु कार्यवाही की जाती है।

---

1 एक बिलियन डालर एक हजार मिलियन डालर के बराबर होते हैं।

विश्व बैंक सदस्यों की परियोजनाओं की क्रियान्विति में सहयोग प्रदान करने हेतु अपने विशेषज्ञों को वहाँ भेजता है। केवल कुछ परिस्थितियों में सीमित राशि तक ही तकनीकी सहायता अनुदान के रूप में दी जाती है। संयुक्त राष्ट्र संघ विकास परियोजना (UNDP) से सम्बद्ध परियोजनाओं की क्रियान्विति विश्व बैंक के माध्यम से ही की जाती है। सदस्य देशों की नियोजन संस्थाओं को सुधारने हेतु भी विश्व बैंक सहायता करता है। विकास परियोजना (UNDP) ने अब तक 700 करोड़ डालर के निवेश की परियोजनाओं के लिए वित्तीय सहायता प्रदान की है।

स्थापना वर्ष से लेकर 30 जून 1976 तक विश्व बैंक ने सदस्य देशों को 2 9 करोड़ डालर की तकनीकी सहायता प्रदान की है। यह *अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (IDA) द्वारा दी गयी* 4 करोड़ डालर की तकनीकी सहायता से भिन्न है। 1976 में 152 कार्यों में निहित तकनीकी कार्यक्रमों के लिए विश्व बैंक ने 21 8 करोड़ डालर की सहायता दी। 1977 में 162 कार्यों में निहित तकनीकी कार्यक्रमों के लिए विश्व बैंक ने *19 करोड़ डालर* की सहायता दी।

विश्व बैंक ने *आर्थिक विकास संस्था (Economic Development Institute or EDI)* की स्थापना 1956 में की थी। इस संस्था में विकासशील देशों के वरिष्ठ अधिकारियों को प्रशिक्षण दिया जाता है। इसके अतिरिक्त इस संस्था द्वारा सदस्य देशों में विकास कार्यों के क्रियान्वयन हेतु *प्रशासनिक अधिकारियों के प्रशिक्षण* हेतु चलाये जाने वाले कार्यक्रमों में आर्थिक विकास संस्था भी सहयोग प्रदान करती है। अब तक इस संस्था ने 5000 व्यक्तियों को अल्पकालीन प्रशिक्षण दिया है। पिछले कुछ वर्षों में वाशिंगटन के बाहर अन्य देशों में चलाये जाने वाले प्रशिक्षण कार्यक्रमों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है। 1977 के वित्तीय वर्ष में पहली बार आर्थिक विकास संस्था ने दो विकसित देशों फ्रान्स व जापान, में *विकासशील देशों के अधिकारियों के लिए शैक्षणिक कार्यक्रमों* का संचालन किया। इसके अतिरिक्त विभिन्न देशों (सूडान, अल्जीरिया, मिस्र, रूमानिया, पाकिस्तान, बंगलादेश, वेनेजुएला आदि देशों) में विभिन्न प्रकार के प्रशिक्षण कार्यक्रमों के आयोजन में सहायता दी गयी।

परम्परागत ऋणों के अतिरिक्त विश्व बैंक विकासशील देशों को विकसित देशों से पृथक् से ऋण दिलाने हेतु भी प्रयास करता है। भारत सहायता क्लब एवं पाकिस्तान सहायता क्लब आदि के माध्यम से भी विश्व बैंक भारत व पाकिस्तान को पृथक् से सहायता प्रदान करता है।

30 जून, 1988 तक विश्व बैंक द्वारा कुल 155 बिलियन डालर के ऋण दिये गये हैं। *इसमें लेटिन अमरीका तथा कैरीबी देशों (Caribbean countries) का हिस्सा 50 बिलियन डालर* था। यूरोप तथा मध्य पूर्व एवं उत्तरी अफ्रीका के देशों को 40 3 बिलियन डालर के ऋण दिये गये हैं। उद्देश्यानुसार 25 बिलियन डालर के ऋण परिवहन के लिए 32 1 बिलियन डालर के ऋण *कृषि तथा ग्रामीण विकास के लिए दिये गये हैं। विश्व बैंक द्वारा परिवहन, संचार, शक्ति के साधनों* का विकास आदि के लिए भी ऋण दिये जाते हैं।

भारत को अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक से सहायता

जैसा कि ऊपर बताया गया है, भारत उन कुछ देशों में एक है जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्विकास तथा विकास बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ से काफी अधिक सहायता प्राप्त हुई है। भारत प्रारम्भ से ही *अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक का सदस्य* रहा है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, बैंक के पूँजी अंशदान के क्रम में भारत का सातवाँ स्थान है।

नियोजन काल के पिछले 40 वर्षों में भारत ने समय-समय पर विभिन्न विकास परियोजनाओं के निर्माण तथा क्रियान्वयन हेतु विश्व बैंक के विशेषज्ञों की सेवाएँ प्राप्त की हैं। बैंक का एक दल समय-समय पर भारत की यात्रा करके यहाँ की *आर्थिक स्थिति तथा देश की वित्तीय आवश्यकताओं* की समीक्षा करता है। इसके अतिरिक्त नई दिल्ली में विश्व बैंक का एक स्थानीय मिशन भी स्थापित किया गया है जो हमारे आर्थिक विकास की प्रगति का मूल्यांकन करने के अतिरिक्त आवश्यक परामर्श भी प्रदान करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक के प्रयासों से ही *1958* में "भारत सहायता क्लब" की स्थापना हुई जिसमें ब्रिटेन, अमरीका, पश्चिमी जर्मनी, जापान, फ्रान्स, कनाडा, इटली,

आस्ट्रिया, बेल्जियम एवं हॉलैण्ड सम्मिलित हैं। इस क्लब ने भारत को अनेक बार कठिन परिस्थितियों में ऋण प्रदान किये हैं।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, स्थापना से जून 1977 तक विश्व बैंक द्वारा स्वीकृत कुल 3861 करोड़ डालर के ऋणों में ब्राजील एवं मैक्सिको के बाद भारत को सर्वाधिक राशि प्राप्त हुई है। भारत को इस समय तक 51 परियोजनाओं के लिए लगभग 201.5 करोड़ डालर के ऋण स्वीकृत हो चुके हैं।

विश्व बैंक ने 30 जून, 1988 तक कुल 155048 मिलियन डालर के ऋण स्वीकृत किये थे, जिनमें भारत का हिस्सा 15075 मिलियन डालर अर्थात् 9.7% था। जहाँ तक केवल 1988 के वर्ष का प्रश्न है, बैंक के ऋणों में भारत का हिस्सा 15% था। जुलाई 1987 से जून 1988 तक के वित्तीय वर्ष में विश्व बैंक द्वारा 2255 मिलियन डालर के ऋण स्वीकृत किये गये जबकि 1987 में यह राशि 2128 मिलियन डालर थी।

भारत को केवल अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक से प्राप्त ऋणों से निम्न लाभ हुए हैं :

(1) **भारतीय रेलों का विकास**—विश्व बैंक ने भारतीय रेलों के विकास के लिए काफी बड़ी मात्रा में ऋण प्रदान किया है। लगभग 2 अरब 80 करोड़ रुपये की राशि ऋण के रूप में भारतीय रेलों के आधुनिकीकरण के लिए प्राप्त की जा चुकी है। भारत सरकार ने रेलों के आधुनिकीकरण के लिए विश्व बैंक के सामने 3 अरब रुपये के ऋण की योजना प्रस्तुत की है। 1987-88 में विश्व बैंक का विशेषज्ञ दल जाँच-पड़ताल करने के लिए भारत आया था तथा इस योजना को तर्कसंगत तथा न्यायपूर्ण बताया।

(2) **सिंचाई परियोजनाएँ**—विश्व बैंक ने हरियाणा तथा पंजाब में सिंचाई योजनाओं के पुनर्वास तथा उनमें आवश्यक सुधार करने के लिए पर्याप्त सहायता प्रदान की है।

(3) **उर्वरक कारखाना**—विश्व बैंक बॉम्बे हाई गैस पर आधारित उर्वरक कारखानों के लिए विदेशी मुद्रा देने के लिए सहमत हो गया है।

(4) **ग्रामीण विकास**—छठवीं योजना में गाँवों के विकास के लिए विश्व बैंक ने सहायता देने की सहमति प्रदान करदी है। इस सम्बन्ध में अनेक योजनाओं पर विचार किया जा रहा है।

(5) **मध्य प्रदेश में सम्बल परियोजना**—मध्य प्रदेश में 40 लाख हेक्टेयर भूमि को कृषि योग्य बनाने की योजना रिजर्व बैंक की सहायता से कार्यान्वित की जा रही है। इसके लिए विश्व बैंक ने 300 करोड़ 12 लाख रुपये का ऋण दिया है।

(6) **उत्तर प्रदेश में सरकारी गोदाम का निर्माण**—उत्तर प्रदेश में विश्व बैंक की सहायता से एक योजना लागू की गयी है, जहाँ सरकारी गोदामों का निर्माण किया जा रहा है।

(7) **मध्य प्रदेश में गहन कृषि विस्तार एवं अनुसन्धान परियोजनाएँ**—मध्य प्रदेश में विश्व बैंक की सहायता से कृषि सुधार की अनेक योजनाएँ कार्यान्वित की जा चुकी हैं।

(8) **केरल में कृषि विकास योजना**—विश्व बैंक ने 1977 में कृषि विकास योजना के लिए 72 करोड़ रुपये की वित्तीय सहायता दी थी।

(9) **आसाम कृषि विकास परियोजना**—विश्व बैंक ने सन् 1977 में आसाम के कृषि विकास के लिए 7 मिलियन डालर का ऋण दिया था।

संक्षेप में, उपर्युक्त लाभों को निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है -

(1) विद्युत उत्पादन क्षमता की 10 किलोवाट की वृद्धि,
(2) लगभग 40 लाख एकड़ कृषि भूमि का सुधार तथा लगभग 10 लाख एकड़ भूमि में श्रेष्ठ सिंचाई व्यवस्था,
(3) इस्पात उद्योग के विकास में सहायता, तथा
(4) परिवहन व्यवस्था में सुधार।

विश्व बैंक द्वारा वर्ष 1987-88 में भारत को कुल 2255 मिलियन डालर के ऋण स्वीकृत किये थे जिसमें भारत द्वारा 300 मिलियन डालर के ऋण की गारण्टी भी शामिल है। स्वीकृत ऋणों का विवरण निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है :

ऋण का मद	स्वीकृत राशि (मिलियन डालर में)	ऋण का उद्देश्य
1 कृषि एवं ग्रामीण विकास	150	सूखाग्रस्त क्षेत्रों में पुनर्निर्माण एवं पुनर्वास सहायता
	200	द्वितीय राष्ट्रीय दुग्ध परियोजना
2. शक्ति	295	वैस्टन गैस विकास परियोजना
	260	द्वितीय कर्नाटक शक्ति परियोजना
	350	उत्तर प्रदेश शक्ति परियोजना
3 औद्योगिक वित्त एवं तकनीकी सहायता	310	दो बड़ी विकास वित्त संस्थाओं को सहायता
4 परिवहन	390	तृतीय रेलवे आधुनिकीकरण परियोजना
योग	1955	

1987-88 में भारत ने विश्व-बैंक को 300 मिलियन डालर ऋण की गारण्टी दी थी जिसका विवरण निम्न प्रकार दिया जा सकता है :

(1) भारतीय औद्योगिक विकास बैंक, भारतीय औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम तथा स्टील अथॉर्टी ऑफ इण्डिया } 50 मिलियन डालर

(2) आवास विकास वित्त निगम 250 मिलियन डालर

1986 के वित्तीय वर्ष में स्वीकृत 1743 मिलियन डालर के ऋण स्वीकृत किये गये जो कि इस वर्ष स्वीकृत किये गये कुल ऋणों की राशि का 13 2 प्रतिशत थे। 1987 में भारत को स्वीकार किये गये ऋणों की राशि 2128 मिलियन डालर थी जो कि इस वर्ष की स्वीकृत राशि का 15% थी। 1987 के बाद भारत को विश्व बैंक से पहले से अधिक सहायता मिलने लगी है। इसके पूर्व विश्व बैंक की सहायता संस्था अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ से सहायता अधिक रहती थी। विश्व बैंक ने भारत सहायता क्लब (Aid India Club) की स्थापना भारत की विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में आर्थिक सहायता देने के उद्देश्य से 1958 में की थी जो नियमित रूप से समय-समय पर सहायता दे रहा है।

विश्व बैंक भारत सहायता क्लब के द्वारा भारत को 1989-90 में 670 करोड डालर की पूँजी देगा। यह धनराशि पिछले वर्ष 1988-89 की धनराशि से 6 3 प्रतिशत अर्थात् 40 करोड डालर अधिक है। यदि डालर की विनिमय दर को ध्यान में रखा जाय तो यह धनराशि 11 प्रतिशत अधिक होगी। भारत के लिए इस सहायता राशि की उपलब्धता के लिए भारत सरकार का 'गरीबी हटाओ कार्यक्रम' प्रमुख रूप से सराहा गया। भारत सहायता क्लब की बैठक में भारत के आर्थिक प्रबन्ध की अत्यधिक प्रशंसा की गयी। भारत में उद्योग विकास के लिए बनी सरकारी नीतियों की भी प्रशंसा की गयी। विशेष रूप से व्यापार सम्बन्धी कानूनों के सुधार को जारी रखने का भी समर्थन किया गया। भारत सहायता क्लब में ब्याज के भुगतान के लिए भी प्रश्न उठाये गये, किन्तु क्लब में इस बारे में सदाशयता का प्रस्ताव पारित किया गया। भारत सहायता क्लब में आठवीं पंचवर्षीय योजना में 8 प्रतिशत विकास दर के लक्ष्य पर सन्तोष प्रकट किया गया तथा कहा गया कि यदि भारत यह लक्ष्य प्राप्त कर लेता है, तो यह एक सन्तोषप्रद बात होगी। इसके साथ ही जापान ने पृथक से भारत की परियोजनाओं के लिए कम ब्याज पर 96,7100 येन (11 अरब रुपये) का ऋण देने की घोषणा की है। यह राशि जापान द्वारा गत वर्ष दी गयी राशि से साढ़े छत्तीस प्रतिशत अधिक है। जापान गत कुछ वर्षों से भारत को दी जाने वाली कर्ज की रकम बढ़ाता रहा है। जापान सरकार की कर्ज देने की नीति में भारत के प्रति खासा बदलाव आया है।

पहले यह परियोजनाओं में विदेशी मुद्रा के भुगतान के लिए ही जोर देता था, मगर अब परियोजनाओं की 50 प्रतिशत राशि के लिए ऐसी व्यवस्था की गयी है कि इसका भुगतान विदेशी अथवा स्थानीय मुद्रा में भी हो सकेगा। इस बदलाव से भारत को अधिक सुविधा होगी।

विश्व बैंक भारत को वर्ष 1949 से अप्रैल 1989 तक विश्व बैंक की एजेंसी 'पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक' के द्वारा 15 अरब 40 करोड़ डालर के 119 कर्जे व अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेंसी से 15 अरब 70 करोड़ डालर के 199 कर्जे दे चुका है। इनमें से अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक के मंजूरशुदा आठ अरब डालर व अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेंसी से स्वीकृत 4 अरब डालर की धनराशि जारी नहीं की गयी है। विश्व बैंक से जुड़ा अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम 1958 से अब तक भारत के लिए 50 करोड़ डालर से अधिक का निवेश मंजूर कर चुका है। भारत सहायता क्लब की बैठक के लिए तैयार पर्चे के मुताबिक भारतीय अर्थ व्यवस्था का प्रदर्शन अच्छा रहा है।

विश्व बैंक ने इस बार सहायता राशि प्रदान करते समय यद्यपि अधिक सख्त व्यवहार नहीं किया है फिर भी भारत को सचेत किया है कि भविष्य में सहायता राशि प्राप्त करने के लिए उसे अपनी आर्थिक नीतियों का पुनर्विलोकन करना आवश्यक है। यह भी स्पष्ट किया है कि उसकी नीतियों का स्वरूप क्या होना चाहिए। भारत के बारे में जानकारी विशेषज्ञों को हो सकती है, वह विश्व बैंक को कदापि नहीं हो सकती। किन्तु हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि जब तक हमें विश्व बैंक जैसी संस्था से सहायता की अपेक्षा रहेगी, तब तक हमें उसके द्वारा सुझाई हुई नीतियों को स्वीकार करना ही होगा और विश्व बैंक की सलाह का अर्थ होगा कि उसके ऋण की वापसी सुनिश्चित हो सके, क्योंकि कोई भी वित्तीय संस्था अन्ततः अपने ऋण की सुरक्षा से ही जुड़ी होती है। विश्व बैंक की पूँजी के स्रोत विश्व के सम्पन्न देश हैं। पश्चिम के औद्योगिक देशों का अंशदान सर्वाधिक है। इसलिए इस बैंक के अंशधारी देश यही चाहते हैं कि इसके माध्यम से ऋण लेने वाले विकासशील देशों पर नियन्त्रण रखा जा सके। इसमें इन देशों का निहित स्वार्थ भी है। यदि उनके द्वारा सुझाये गये तरीके अपनाये जायें तो उनकी तकनीकी का भी प्रयोग करना पड़ेगा और इससे उनके व्यापार में वृद्धि होगी। *विश्व बैंक के एड-इण्डिया कन्सोर्टियम ने भारतीय प्रतिनिधि मण्डल को जो सलाह दी है, उसमें ये दोनों उद्देश्य स्पष्ट दिखायी देते हैं। कन्सोर्टियम ने भारत से निम्नलिखित तीन स्तरों पर काम करने की आवश्यकता पर जोर दिया है :*

1. करों के ढाँचे में ऐसा बदलाव लाया जाय, जिससे आयात पर निर्भरता कम हो,
2. अनुदानों को कम किया जाय, तथा
3. योजनाओं में अधिक कुशलता लायी जाय।

विश्व बैंक के अनुसार अभी भारत में सिंचाई सुविधा के विस्तार व सुधार की आवश्यकता है। उद्योगों के विकास पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। उद्योगों में इस प्रकार की कुशलता पैदा करने की आवश्यकता है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मुकाबला कर सकें।

ऐसी स्थिति में हम यही आशा कर सकते हैं कि विदेशी सहायता का उपयोग भारत अपने उद्योगों के स्तर को अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्द्धा की दृष्टि से सक्षम बनाने के लिए करेगा। यह उल्लेखनीय है कि विकास सहायता समिति (DAC) के देशों से भारत को प्राप्त होने वाली सरकारी सहायता का अनुपात 1970 में 15·1 प्रतिशत था जो 1988 तक घटकर केवल 6 3 प्रतिशत रह गया। इस प्रकार देश के विकास हेतु पश्चिमी देशों से प्राप्त सरकारी सहायता में सापेक्ष दृष्टि से कमी होने के कारण विश्व बैंक तथा विकास संघ से प्राप्त सहायता का महत्व काफी बढ़ गया है।[1]

तृतीय झरोखा
[THIRD WINDOW]

29 जुलाई, 1975 को बैंक के कार्यकारी संचालकों ने एक प्रस्ताव पारित करके एक मध्यवर्ती वित्त सुविधा (Intermediate Financing Facility) का श्रीगणेश किया जिसे तृतीय झरोखा (Third Window) की संज्ञा दी गयी है। इस सुविधा के अन्तर्गत बैंक तथा विकास संघ

---

1 *Economic Survey*, 1988-89.

की मध्यवर्ती शर्तों पर ऋण देने का प्रावधान रखा गया है। इसके लिए एक ब्याज अनुदान कोष (Interest Subsidy Fund) की भी स्थापना की गयी है जिसके लिए लगभग 13 5 करोड डालर की राशि के वचन (Promise) भी मिल चुके है। इस कोष म योगदान देने वाले देशो म विश्व बैंक के धनी सदस्य देश तथा स्विट्जरलैण्ड प्रमुख है। विश्व बैंक जो ब्याज ऋणी देशो से प्राप्त करता है उसमे 4 प्रतिशत अनुदान बकाया ऋणो पर इस कोष म से दिया जाता है और शेष का भुगतान ऋणी देश द्वारा किया जाता है। कोष के लिए जून 1976 तक प्राप्त राशि मे म विभिन्न देशो का योगदान निम्न प्रकार था

(राशि लाख डालर मे)

देश	राशि	देश	राशि
कनाडा	200	सऊदी अरब	150
डेनमार्क	300	स्विटजरलैण्ड	59
कुवैत	200	सयुक्त अरब अमीरात	50
नीदरलैण्ड्स	200	ब्रिटेन	100
नॉर्वे	40	वेनेजुएला	100
कतार	20		

इनके अतिरिक्त आस्ट्रेलिया फ्रान्स तथा बेल्जियम ने जून 1975 मे यह वचन दिया था कि वे 1977 के वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ मे अपना अशदान कोष हेतु जमा करा देगे। जून 1976 तक कोष मे प्राप्त राशि से 30 परियोजनाओ के लिए स्वीकृत लगभग 48 करोड के डालर के ऋणो के ब्याज पर अनुदान किया गया।[1] 1977 के वित्तीय वर्ष मे तृतीय झरोखे के अन्तर्गत 11 ऋण दिये गये जिनकी कुल राशि 22 26 करोड डालर थी। 1976 के वित्तीय वर्ष म तृतीय झरोखे की शर्तों के अन्तगत 47 78 करोड डालर के ऋण दिये गये थे।

उल्लेखनीय है कि तृतीय झरोखे के अन्तर्गत ब्याज अनुदान कोष से उन्ही देशो को सहायता दी जाती है जिनकी 1972 मे प्रति व्यक्ति आय 375 डालर से कम थी तथा जो देश अपनी विकास क्षमता एव उपलब्ध साधनो के अनुरूप आर्थिक विकास हेतु समुचित प्रयास कर रहे हो। कोष से उन्ही देशो को अनुदान दिया जाता है जो ऋणो के भुगतान की क्षमता रखते हैं। यह भुगतान क्षमता उन देशो की व्यापार शर्तों (Terms of Trade) मे हुए परिवर्तनो एव उनकी विकास सम्भावनाओ के आधार पर आँकी जाती है।

विश्व बैंक के कार्यों की आलोचनात्मक समीक्षा

यद्यपि विश्व बैंक द्वारा सदस्य देशो को दी जा रही सहायता की राशि मे पिछले कुछ वर्षों मे आशातीत वृद्धि हुई है तथापि इसकी निम्न बातो के लिए आलोचना भी की जाती रही है

(i) **ऋण सम्बन्धी जटिलताएँ**—विश्व बैंक केवल विशिष्ट परियोजनाओ के लिए ऋण (tied loans) देता है। फलस्वरूप ऋण प्राप्त करने वाले देश को ऋण के उपयोग मे चयन की छूट नही होती।

(ii) *आन्तरिक हस्तक्षेप*—ऋणो के उपयोग के समय बैंक अत्यधिक हस्तक्षेप करता है। सम्भवत यह विकासशील देशो की ऋणो के उपयोग मे विवेक के प्रति सशय का एक प्रतीक है।

(iii) **ऊँची ब्याज दर**—विश्व बैंक के ऋणो की ब्याज दर काफी अधिक होती है। विकासशील देशो की आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु रियायती दर पर ऋणो की उपलब्धि विश्व बैंक से नही हो सकती। बहुधा बैंक द्वारा ली गयी ब्याज की राशि मे तीन बातो का समावेश होता है—प्रथम,

1 भारत को सिचाई परियोजना के लिए 1976 के वित्तीय वर्ष मे प्राप्त ऋण (14 5 करोड डालर) तृतीय झरोखा के अन्तर्गत ही दिया गया था। अन्य प्रमुख देश, जिन्हें इसके अन्तर्गत सहायता प्रदान की गयी, निम्न थे
मिस्र (कृषि 5 0), पाकिस्तान (विद्युत शक्ति 5 0), फिलीपीन्स (शिक्षा व नगरीकरण 3 5), मोरक्को (शिक्षा 2 5), कोरिया (कृषि : 4 0), घाना (कृषि 2 1), थाईलैण्ड (कृषि 2 6) तथा सूडान (परिवहन 2 0)।

वह ब्याज-दर जिस पर विश्व बैंक पूंजी बाजार से ऋण प्राप्त करता है या कर सकता है; द्वितीय, वह ब्याज अतिरिक्त बैंक जोखिम को ढकने के लिए 1% कमीशन सभी ऋणों पर लेता है, तथा तीसरे, ऋण का $\frac{1}{4}$ से 1% तक प्रशासनिक व्यय के रूप में वसूल किया जाता है। इस प्रकार विश्व बैंक विकासशील देशों को रियायती दर पर ऋण नहीं दे पाता।

(iv) पक्षपातपूर्ण व्यवहार—बैंक द्वारा स्वीकृत ऋण में बहुधा पक्षपात किया जाता है तथा अमरीका का राजनीतिक विरोध करने पर ऋण की प्राप्ति में काफी कठिनाई होती है मतदान-शक्ति का केन्द्रीयकरण अमरीका के पास निहित है। इस प्रकार योग्यता की अपेक्षा राजनीतिक प्रभाव अधिक महत्वपूर्ण है।

(v) कार्यों में विलम्ब—ऋणों की स्वीकृति के पूर्व विश्व बैंक अनेक औपचारिकताओं की पूर्ति करता है। यह ठीक है कि केवल आर्थिक दृष्टि से ठोस परियोजनाओं पर ही ऋण दिया जाना चाहिए, परन्तु अनेक बार अनावश्यक जाँच-पड़ताल के कारण ऋणों की स्वीकृति में काफी विलम्ब हो जाता है।

(vi) अपर्याप्त सहायता—आलोचकों का कहना है कि विश्व के दो-तिहाई पिछड़े एवं विकासशील देशों की विकास तथा पुनर्निर्माण सम्बन्धी भारी आवश्यकताओं को देखते हुए विश्व बैंक जो आर्थिक सहायता प्रदान करता है वह पर्याप्त नहीं है।

(vii) पुनःभुगतान की क्षमता पर अधिक बल—*विश्व बैंक ऋणों की वास्तविक स्वीकृति* देने के पहले सम्बन्धित देश की पुनःभुगतान की क्षमता पर अधिक बल देता है। वास्तव में अल्प-विकसित राष्ट्रों का ऋण लेने का उद्देश्य यह है कि वे अपनी पुनःभुगतान की क्षमता को मजबूत बना सकें अतः पहले से ही इस प्रकार की शर्त लगाना उचित नहीं है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के होते हुए भी इस बात से मना नहीं किया जा सकता कि विश्व बैंक ने अल्प-विकसित राष्ट्रों को आर्थिक सहायता देकर सबल बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ
[INTERNATIONAL DEVELOPMENT ASSOCIATION]

विश्व बैंक की स्थापना के कुछ समय बाद यह अनुभव किया जाने लगा था कि विश्व बैंक द्वारा सामान्य ब्याज दर पर दिये गये ऋण उन देशों की अधिक सहायता नहीं कर सकते जिनको विकास कार्यों के लिए अधिक धन की आवश्यकता है परन्तु जो आर्थिक पिछड़ेपन के कारण ब्याज का अधिक भार वहन करने में असमर्थ हैं। इसीलिए इन देशों को आसान शर्तों एवं कम ब्याज-दर पर ऋण देने हेतु *अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (IDA) की स्थापना सितम्बर 1960 में की गयी।* इस संघ ने अपना कार्यारम्भ 8 नवम्बर, 1960 से प्रारम्भ किया।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ [redacted] उद्देश्य

समझौता अनुच्छेदों (Articles of Agreement) के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ के उद्देश्यों में "आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देना, उत्पादन को बढ़ाना जिससे अल्पविकसित सदस्य देशों में जीवन-स्तर ऊँचा उठ सके विशेष रूप से महत्वपूर्ण विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिए परम्परागत ऋणों की *अधिक लोचदार शर्तों पर—जो भुगतान-सन्तुलन पर अधिक निर्भर* [redacted] करें—ऋण उपलब्ध कराना, और इस प्रकार विश्व बैंक के विकास सम्बन्धी उद्देश्यों को पूरा करने में सहायक होना तथा इसकी पूरक इकाई के रूप में कार्य करना" सम्मिलित है।

जैसा कि स्पष्ट है *अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ विश्व बैंक की अपेक्षा अधिक आसान शर्तों पर* ऋण देता है। यह भी उल्लेखनीय है कि इसकी स्थापना विशेष रूप से अल्पविकसित देशों को सहायता प्रदान करने हेतु की गयी है। एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि विकास संघ के ऋणों हेतु उन देशों को प्राथमिकता दी जाती है जिनकी आर्थिक स्थिति काफी कमजोर हो तथा जो भुगतान-सन्तुलन की अनुकूलता के आधार पर विश्व बैंक से या अन्य संस्थाओं/विकसित देशों से विकास कार्यों के लिए ऋण लेने में समर्थ न हों।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ किसी परियोजना की कुल लागत का एक अंश ऋण के रूप में

देता है। इस ऋण में न केवल विदेशी विनिमय के रूप में लागत का एक अंश सम्मिलित होता है, अपितु स्थानीय मुद्रा के रूप में भी लागत का भाग ऋण के रूप में दिया जाता है। अनेक बार ऐसी परियोजनाओं के लिए भी विकास संघ द्वारा ऋण दिये जाते हैं जो विश्व बैंक की तकनीकी कसौटी पर खरी नहीं उतरती।

एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की ब्याज-दर बहुत ही कम (कभी-कभी 1% से भी कम) होती है और इसकी किश्तों की अवधि (repayment period) काफी लम्बी होती है। वस्तुतः संघ अपने ऋणों पर ब्याज न लेकर केवल सर्विस चार्ज लेना उपयुक्त समझता है। अधिकांश ऋण 50 वर्ष के लिए दिये जाते हैं। 10 वर्ष की रियायती अवधि के बाद ऋण का 1% 10 वर्ष तक प्रति वर्ष वापस किया जाता है। शेष 30 वर्षों में ऋण का 3% प्रति वर्ष वापस किया जाता है। केवल वितरित ऋण पर विकास संघ 3/4 प्रतिशत वार्षिक की दर से सर्विस चार्ज लेता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ से **केवल वे ही देश साख या ऋण ले सकते हैं जिनकी प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 375 डालर से कम हो।** परन्तु जिन देशों में प्रति व्यक्ति आय इस स्तर से कम हो परन्तु जिनके पास पर्याप्त पूंजी-स्रोत उपलब्ध हों तो वे देश विकास संघ से ऋण प्राप्त करने के पात्र नहीं माने जायेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की सदस्यता में उन सभी देशों के लिए स्थान हैं जो विश्व बैंक के सदस्य हैं। 30 जून, 1985 तक 133 देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की सदस्यता ग्रहण कर ली थी। इनमें से 22 विकसित देश प्रथम श्रेणी के सदस्य हैं तथा शेष अल्पविकसित देश हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की पूंजी एवं मतदान-शक्ति का आवंटन

जैसाकि वर्णन किया जा चुका है, विश्व बैंक का कोई भी सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ का सदस्य बन सकता है। किन्तु उसके लिए इसकी अलग से सदस्यता प्राप्त करना आवश्यक है। प्रारम्भ में 1961 में संघ के सदस्यों की संख्या 51 थी जो 30 जून, 1985 तक बढ़कर 133 हो गयी है। *संघ का प्रबन्ध विश्व बैंक के अधिकारियों द्वारा ही किया जाता है। विश्व बैंक के गवर्नर मण्डल तथा प्रशासनिक संचालक मण्डल के सदस्यों तथा अध्यक्ष को विकास संघ में भी वही स्थान प्राप्त हो जाते हैं तथा वे सभी अधिकारी पदेन (ex-officio) स्थिति में संघ का कार्य सम्पन्न करते हैं। इसी प्रकार बैंक के नियमित कर्मचारी ही संघ के समस्त कार्यों की व्यवस्था करते हैं,* किन्तु संघ को अलग कर्मचारी अथवा अधिकारी नियुक्त करने का भी अधिकार प्राप्त होता है।

30 जून, 1985 को संघ के 133 सदस्यों में से 22 विकसित देश प्रथम श्रेणी के सदस्य हैं, जबकि शेष को द्वितीय श्रेणी के सदस्य के रूप में रखा गया है। यह अन्तर इसलिए किया गया है कि जहां लगभग सभी देशों से अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ को पूंजी हेतु अंशदान देने को कहा जाता है *उदार देय साधनों के लिए पूरक राशि केवल प्रथम श्रेणी में रखे गये देश ही देते हैं। यह उल्लेखनीय है कि द्वितीय श्रेणी के देशों से जो अंशदान लिया जाता है वह भी नाममात्र का ही है। 1965 से 1983 तक छः पुनर्भरण (replenishment) किये गये हैं जिसमें प्रत्येक की अवधि तीन वर्ष थी। 1965 में संघ के कोषों में प्रथम भाग के सदस्यों के पूरक अंशदानों में 750 मिलियन* डालर की वृद्धि करने का निर्णय लागू किया गया था। दूसरे पुनर्भरण का निर्णय *जुलाई 1969* में लागू किया गया जिसके अन्तर्गत विकसित देशों से 1,200 मिलियन डालर के अतिरिक्त साधन प्राप्त करने की व्यवस्था की गयी। 1972 से 1974 तक की अवधि में विकास संघ को तृतीय पुनर्भरण के अन्तर्गत 2410 मिलियन डालर पूंजी प्राप्त हुई। विकास संघ की पूंजी में चौथे पुनर्भरण के लिए यह निश्चित किया गया कि 1975 से 1977 तक 4·5 मिलियन डालर (1·5 मिलियन डालर प्रति वर्ष) का पुनर्भरण किया जायेगा। पांचवें पुनर्भरण के अन्तर्गत 1978 से 1980 तक के तीन वर्षों में 26 देशों ने 7 6 बिलियन डालर देना स्वीकार किया। छठे पुनर्भरण की अवधि *जुलाई 1981 से जून 1983 तक की थी।* इस अवधि में संघ ने 12 बिलियन डालर के साधन उपलब्ध करने का प्रस्ताव था, किन्तु *इस समय तक यह राशि प्राप्त नहीं हो सकी।* इसलिए इस छठे पुनर्भरण की अवधि एक वर्ष और बढ़ा दी गयी। *सातवें पुनर्भरण की अवधि जुलाई 1984 से* प्रारम्भ हुई। इन तीन वर्षों की अवधि (*जुलाई 1984 से जून 1987*) के लिए *16 बिलियन* डालर की राशि उपलब्ध होने का अनुमान था क्योंकि चीन ने भी *IDA सदस्यता प्राप्त करली है*

तथा यह ऋण प्राप्त करने का अधिकारी हो गया। जून 1986 तक विकास संघ के कुल संसाधन 3900 करोड़ डालर के हो गये थे।

अब तक IDA में अमरीका का अंशदान सबसे अधिक रहता था। पाँचवें पुनर्भरण तक इसका अंशदान क्रमशः 42%, 38%, 39%, 33% तथा 31% रहा है। छठे पुनर्भरण के अन्तर्गत यह 27% रह गया तथा सातवें पुनर्भरण के लिए अमरीका 25% से अधिक तथा 750 मिलियन डालर वार्षिक से अधिक देने को तैयार नहीं था जबकि आठवें पुनर्भरण के समय यह अनुपात 10 प्रतिशत से भी कम हो गया।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ द्वारा विकासशील देशों की सहायता

अपनी स्थापना से लेकर अब तक पिछले 27 वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ ने विकासशील देशों की पर्याप्त सहायता की है। यह कहना अनुचित न होगा कि अनेक पिछड़े हुए देशों (जिनमें मुख्य रूप से भारत, पाकिस्तान, इण्डोनेशिया एवं इथोपिया के नाम हैं) को विकास संघ से विश्व बैंक की अपेक्षा कहीं अधिक सहायता प्राप्त हुई।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक की तुलना में अल्पविकसित और विशेष रूप से न्यूनतम विकसित देशों को अधिक सहायता प्रदान कर रहा है। इन न्यूनतम विकसित देशों में से अधिकांश अफ्रीका व एशिया में हैं। लगभग ढाई दशक की अवधि में अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ का कार्यकाल अनेक कठिनाइयों तथा व्यवधानों का इतिहास रहा है। ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा अपने दायित्व से पीछे हटने तथा अंशदान की राशि में लगातार कमी करने से विकास संघ के समक्ष हमेशा वित्त-संकट रहा है। बहुधा तय किये हुए अंशदान को भी ये देश विलम्ब से उपलब्ध कराते हैं।

अल्पविकसित देशों को दिये गये ऋणों की वार्षिक औसत 1970 से 1974 तक 758.6 मिलियन डालर थी जो कि 1975 से 1978 के बीच 1506.6 मिलियन डालर हो गयी। इन ऋणों में से सबसे अधिक ऋण एशिया तथा अफ्रीका के देशों को दिये गये हैं। दक्षिणी एशिया को लगभग 7.8 मिलियन डालर के ऋण दिये गये हैं जिनमें अधिकांश भाग भारत, पाकिस्तान तथा बंगला देश का है। 30 जून, 1978 को समाप्त होने वाले वर्ष में संघ द्वारा 2,313 मिलियन डालर के ऋण दिये गये हैं, जबकि 30 जून, 1977 को समाप्त होने वाले वर्ष में ऋणों की राशि 1,301 मिलियन डालर थी। संघ द्वारा दिये जाने वाले ऋणों की अवधि प्रायः 50 वर्ष की है। इसमें प्रारम्भिक छूट की अवधि 10 वर्ष है। इन ऋणों पर ब्याज नहीं लिया जाता बल्कि एक प्रतिशत का 3/4 वार्षिक सेवा शुल्क (Service charge) लिया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ द्वारा दी गयी सहायता

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ ने 1961 के वित्तीय वर्ष से सदस्य देशों को साख (सहायता) देना प्रारम्भ किया। तब से निरन्तर रूप से यह सदस्य देशों की सहायता करता रहा।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (IDA) द्वारा दिये जाने वाले ऋणों की संख्या तथा कुल स्वीकृत एवं वितरित राशियों में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है।

स्थापना से लेकर 30 जून, 1982 तक विकास संघ ने विकासशील देशों की सहायतार्थ 1176 परियोजनाओं के लिए 113.97 बिलियन डालर की सहायता प्रदान की। इस सहायता का 37.3 प्रतिशत कृषि व ग्रामीण विकास परियोजनाओं के लिए, 18.7 प्रतिशत परिवहन विकास हेतु तथा 15.6 प्रतिशत नॉन-प्रोजेक्ट सहायता के रूप में प्रदान किया गया। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ द्वारा प्रदत्त सहायता का आधे से अधिक भाग कृषि एवं परिवहन विकास के लिए ही दिया गया।

जहाँ तक क्षेत्र-वार सहायता का प्रश्न है, 1982 तक कुल सहायता का 58.8 प्रतिशत दक्षिण एशियाई देशों ने प्राप्त किया। यह उल्लेखनीय है कि भारत ने अकेले ही इस समय तक विकास संघ द्वारा प्रदत्त कुल सहायता का एक बड़ा भाग प्राप्त किया था।

1987-88 में विकास संघ ने 99 परियोजनाओं के लिए विभिन्न देशों को 3.3 बिलियन

डालर की सहायता दी। 1988-89 में 106 परियोजनाओं के लिए 3 7 बिलियन डालर प्रदान किये गये।

विकास संघ से भारत को अनेक महत्वपूर्ण परियोजनाओं के लिए सहायता प्राप्त हुई है। इनमें इन्दिरा गांधी नहर परियोजना (पूर्व में राजस्थान नहर) कमांड एरिया विकास, डेयरी विकास, औद्योगिक आयात विद्युत विकास रेल परिवहन, उवरक उद्योग, ग्रामीण विद्युतीकरण, जल-आपूर्ति, कृषि-विस्तार कार्यक्रम आदि शामिल हैं।

30 जून, 1985 तक अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ द्वारा लगभग 36 7 बिलियन डालर के ऋण देना निश्चित किया गया। अब तक 89 देशों म कुल 1494 परियोजनाओं के लिए सहायता प्रदान की गयी है। विकास संघ के ऋणों में भारत को सर्वाधिक ऋण मिले हैं। विकास संघ से ऋणों का भौगोलिक वितरण तालिका 17 1 में दिखाया गया है :

तालिका 17 1

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ द्वारा स्वीकृत ऋणों का क्षेत्रीय वितरण

(30 जून, 1985 तक कुल योग)

क्षेत्र	कुल स्वीकृत ऋण राशि (मिलियन डालर)
दक्षिण एवं पूर्वी अफ्रीकी देश	6,596 9
पश्चिमी अफ्रीकी देश	3,560 2
यूरोप मध्य-पूर्व तथा उत्तरी अफ्रीकी देश	2,255 2
लैटिन अमरीकन एवं कैरेबियन देश	754 7
पूर्वी एशियाई एवं पैसेफिक देश	2,738 2
दक्षिणी एशियाई देश	20 776 8
कुल योग	36 682 0

उपर्युक्त ऋणों का लगभग 65% एशियाई देशों को मिला है, शेष 35% विश्व के अन्य अल्पविकसित देशों को प्राप्त हुआ है।

प्रयोगानुसार ऋण का वितरण

विकास संघ के ऋणों में सर्वाधिक ऋण कृषि विकास के लिए दिया गया है दूसरे नम्बर पर परिवहन विकास आता है सामाजिक पूंजी निर्माण व जनसंख्या नियन्त्रण तक के लिए ऋण स्वीकृत किये गये हैं जैसा कि निम्न तालिका में स्पष्ट है

तालिका 17 2

विकास संघ द्वारा स्वीकृत ऋणों का कार्यानुसार वितरण

(30 जून, 1985 तक कुल राशि मिलियन डालर में)

कृषि एवं ग्रामीण विकास	14,025 0
परिवहन (यातायात)	4 816 0
गैर-परियोजना	3 711 3
उद्योग	1,241 4
ऊर्जा विकास	4,579 9
शिक्षा	2 386 7
संचार व्यवस्था	1,108 2
जल आपूर्ति आदि	1,486 4
नगरीकरण	936 0
जनसंख्या एवं स्वास्थ्य	569 6
पर्यटन विकास	86 7
तकनीकी सहायता	451 4
अन्य सहित कुल योग – 36,682 मिलियन डालर	

यह उल्लेखनीय है कि विकास संघ ने अकेले वित्त वर्ष 1985 में ही 45 देशों को 105 परियोजनाओं के लिए 3,028 मिलियन डालर का ऋण स्वीकृत किया है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उद्योगों को ऋण देने के लिए एक अलग संस्था अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (I F C.) है, अतः विकास संघ द्वारा स्वीकृत ऋण कम रहे हैं।

अब तक स्वीकृत ऋणों की कुल राशि 37,682 मिलियन डालर है और ये ऋण 50 वर्ष की अवधि के लिए दिये गये हैं। इन पर कोई ब्याज नहीं लिया जाता, केवल नाममात्र का सेवा-शुल्क (Service Charge) $\frac{3}{4}$ से 1% प्रति वर्ष तक वसूल किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ एवं भारत

भारत को विकास संघ से सर्वाधिक लाभ पहुँचा है। यह विकास संघ का प्रारम्भिक सदस्य है और अभ्यंश की दृष्टि से पाँचवें नम्बर पर है। भारत को उसके अधिक अभ्यंश के कारण अधिक ऋणों का लाभ मिलने के साथ-साथ विकास संघ के कार्य संचालन व नीति निर्धारण में भी उसका हाथ है। भारत को विकास संघ के कार्यकारी निर्देश मण्डल में स्थान प्राप्त है।

विकास संघ द्वारा भारत को अपनी स्थापना से 30 जून, 1985 तक 164 परियोजनाओं के लिए कुल 13,203 मिलियन डालर के ऋण स्वीकृत किये गये हैं जो कुल ऋणों (26,682 मिलियन डालर) का लगभग 37% है। भारत को मुख्यतः कृषि के विकास, सिंचाई एवं विद्युत शक्ति विकास, बन्दरगाहों के विकास टैलीफोन एवं संचार विकास तथा उद्योगों के विकास के लिए ऋण स्वीकृत किये गये हैं। भारत को स्वीकृत ऋणों में से 11,186 मिलियन डालर वितरित किये जा चुके हैं। विकास संघ के द्वारा स्वीकृत ऋण उदार ऋण हैं, जो 50 वर्ष के लिए स्वीकृत हैं। उन पर ब्याज वसूल नहीं किया जाता, केवल $\frac{3}{4}$% वार्षिक दर सेवा शुल्क वसूल किया जाता है। सामाजिक पूँजी निर्माण के साथ-साथ सिंचाई व विद्युत शक्ति विकास के लिए ऋण देकर विकास संघ ने भारत के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है। 1973 में संघ ने 54 मिलियन डालर के दो ऋण भारत सरकार को कृषि विकास कार्यों के लिए स्वीकृत किये। 100 मिलियन डालर के ऋण मध्यम एवं बड़े उद्योगों के विकास के लिए स्वीकृत किये हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ ने अकेले वित्त वर्ष 1980 में ही 15 परियोजनाओं के लिए लगभग 1,535 मिलियन डालर के ऋण स्वीकृत किये हैं जिनमें फरक्का थर्मल पॉवर, सिंगरौली थर्मल पॉवर, नौ कृषि एवं ग्रामीण विकास परियोजनाएँ दो जनसंख्या एवं स्वास्थ्य परियोजनाएँ, तथा एक शहरीकरण तथा एक राजस्थान की जल आपूर्ति एवं सीवरेज योजना शामिल थीं। 1981-82 में रेलों के विकास के लिए 700 मिलियन डालर में उदार ऋण स्वीकृत हुए हैं। वित्त वर्ष 1984 में 9 परियोजनाओं के लिए 858 मिलियन डालर का उदार ऋण स्वीकृत किया है जबकि वर्ष 1985 में 6 परियोजनाओं के लिए 672.9 मिलियन डालर के ऋण स्वीकृत किये गये हैं।

इस प्रकार भारत को अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ से अत्यधिक उदार शर्तों वाली प्राप्त सहायता में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पिछले कुछ वर्षों में भारत के प्रति विकास संघ के सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण एवं व्यवहार के कारण अनेक महत्वपूर्ण कार्यक्रमों को लागू करने में सहायता प्राप्त हुई है। 1983 के वित्तीय वर्ष में भी विकास संघ ने भारतीय कृषि के विकास हेतु अनेक परियोजनाओं के लिए ऋण स्वीकृत किये जिनमें से राजस्थान की बीज परियोजना एवं कृषि विस्तार परियोजनाएँ प्रमुख हैं। इसी प्रकार, जैसा कि ऊपर बताया गया है, विभिन्न राज्यों में सिंचाई एवं डेयरी विकास हेतु भी सहायता दी गयी है।

अन्य देशों की अपेक्षा भारत को विश्व बैंक तथा विकास संघ से सर्वाधिक सहायता प्राप्त हुई है। भारत ने इन ऋणों का उपयोग अपने आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने के लिए ग्रामीण विकास के कार्य, शक्ति तथा सिंचाई, यातायात तथा सन्देशवाहन के साधनों के विकास के लिए किया है। इसके बावजूद भी यह कहा जा सकता है कि प्रति व्यक्ति सहायता के आधार पर भारत को दी जाने वाली सहायता पर्याप्त नहीं है। विकास संघ द्वारा दी गयी राशि में भारत का हिस्सा 1980 तक लगभग 40% रहा था। 1980 के बाद यह कम होने लगा है। संघ द्वारा भारत को दी गयी सहायता का विवरण तालिका 17.3 में प्रस्तुत किया गया है।

तालिका 17 3

संघ द्वारा भारत को दी गयी सहायता राशि (मिलियन डालर)

वर्ष	राशि	कुल ऋणों का प्रतिशत
1980	1535	40 0
1981	1281	36 8
1982	900	33 5
1983	863	26 0
1984	858	36 0
1985	673	28 0

सघ की तुलना मे विश्व बैंक भारत को पहले से अधिक सहायता देने लगा है किन्तु विश्व बैंक के ऋणों पर भारत को ऊँची ब्याज दर देनी पड़ती है अत देश पर विदेशी ऋणो के ब्याज का भार बढ़ता जा रहा है।

परन्तु जैसा कि पूर्व मे बतलाया गया था, 1983-84 मे जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ से भारत को 100 करोड डालर की सहायता प्राप्त हुई थी, 1984-85 मे यह राशि घटकर 67 3 करोड़ डालर रह गयी।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ तथा विश्व बैंक

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (विश्व बैंक) एव अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ दोनो ही सदस्य देशो के आर्थिक विकास हेतु सहायता प्रदान करते हैं। ये दोनो ही सस्थाएँ परस्पर पूरक हैं। जहाँ विश्व बैंक सहायता हेतु आवेदन करने वाले देश की ऋण-अवशोषण क्षमता (absorptive capacity) तथा सम्बद्ध परियोजनाओ की आर्थिक सम्भाव्यता पर जोर देता है, विश्व बैंक की सहायता सबसे कमजोर वर्ग के देशो के लिए उपलब्ध होती है। इसके अतिरिक्त, विश्व बैंक के ऋणो की तुलना मे विकास सघ द्वारा दिये जाने वाले ऋणो की शर्तें अपेक्षाकृत अधिक उदार होती है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, विकास सघ द्वारा वितरित ऋणो पर केवल 3/4 प्रतिशत सर्विस चार्ज लिया जाता है, अर्थात् ये ऋण ब्याज मुक्त होते हैं। केवल इतना ही नहीं, इनके भुगतान (repayment) की शर्तें भी विश्व बैंक के ऋणो के भुगतान की शर्तों की तुलना म अधिक उदार होती हैं। तीसरी बात यह है कि विकास सघ द्वारा दिये गये ऋण का अधिकाश भार परियोजनाओ से ही सम्बन्धित नही है जबकि विश्व बैंक के ऋण निर्दिष्ट परियोजनाओ के लिए ही प्रयुक्त किये जा सकते हैं। अधिकाशत विकास सघ कार्यक्रमो के लिए सहायता (programme aid) प्रदान करता है न कि परियोजनाओ के लिए (project aid)। चतुर्थ, विश्व बैंक के ऋणो का अपेक्षाकृत अधिक भाग लेटिन अमरीकी देशो को प्राप्त हुआ है जबकि विकास संघ के ऋणो का अधिक भाग दक्षिण एशिया के देशो—भारत पाकिस्तान, बगलादेश आदि को प्राप्त हुआ है। पाँचवी बात यह है कि विश्व बैंक की तुलना मे विकास सघ ने विद्युत-शक्ति, औद्योगिक विकास एव नगरीकरण आदि के लिए कम सहायता प्रदान की है तथा कृषि परिवहन आदि के साथ-साथ कमाण्ड एरिया एव एकीकृत विकास कार्यक्रमो के लिए अधिक सहायता प्रदान की है। इस प्रकार विश्व बैंक तथा विकास सघ परस्पर पूरक होते हुए भी इन दोनो की ऋण सम्बन्धी नीतियों, ब्याज एव ऋण सम्बन्धी अन्य शर्तों के प्रति दृष्टिकोण मे बहुत अधिक अन्तर है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम
[INTERNATIONAL FINANCE CORPORATION]

विश्व बैंक की स्थापना के समय इस बात को आवश्यक समझा गया कि इस सस्था द्वारा दिये गये ऋणो के लिए सम्बद्ध सरकारो की प्रतिभूति (Guarantee) अनिवार्य है। अतएव विश्व बैंक उन देशो की अधिक सहायता करने मे सफल नहीं हो सका जहाँ निजी पूँजी सकोचशील (shy) है तथा पूँजी की जहाँ विनियोग-दर काफी कम है। 1951 मे अमरीका की सरकार ने सुझाव दिया कि निजी उद्योगो को सुलभ पूँजी उपलब्ध कराने हेतु एक एकीकृत विकास परामर्शदाता मण्डल

1 *Economic Survey*, 1988-89.

(United Development Advisory Board) की स्थापना की जाय। दिसम्बर 1954 में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने विश्व बैंक से इस प्रकार की संस्था की स्थापना हेतु प्रारूप तैयार करने का अनुरोध किया। अप्रैल 1955 में विश्व बैंक ने अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (IFC) की व्यवस्था सम्बन्धी एक प्रारूप अपने सदस्यों के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत किया। जुलाई 1956 में 31 सदस्यों के सम्मिलित हो जाने पर इस निगम की औपचारिक रूप में स्थापना कर दी गयी।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के उद्देश्य

जैसा कि ऊपर बताया गया है अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना की पृष्ठभूमि में निजी उद्योगों की सहायता का लक्ष्य निहित था। मुख्य रूप से निगम के निम्नलिखित तीन उद्देश्य माने जा सकते हैं :

(1) निजी उद्योगों के विकास, सुधार एवं विस्तार को प्रोत्साहन देना तथा इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु सम्बद्ध देश की सरकार की प्रतिभूति बिना वहाँ निजी उद्योगों में विनियोग करना,

(2) विनियोग के अवसरों, देशी एवं विदेशी पूंजी (निजी) तथा अनुभवी प्रबन्ध को परस्पर मिलाना तथा इसमें उपयुक्त सामंजस्य स्थापित करना, तथा

(3) सदस्य देशों में घरेलू एवं विदेशी निजी पूंजी को उत्पादक विनियोगों में प्रवाहित करके ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करना जो आर्थिक विकास में सहायक हो।

(4) यदि कोई सरकारी इकाई निजी क्षेत्र को बेची जाने वाली हो तो वित्त निगम उसमें सहायता कर सकता है।

उपर्युक्त उद्देश्यों में उल्लेखनीय बात यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम सदस्य देशों में निजी क्षेत्र के उद्योगों का विकास करने हेतु घरेलू एवं विदेशी दोनों ही प्रकार की पूंजी के विनियोग हेतु कार्य करता है।

वित्त निगम तथा विश्व बैंक में चार बातों का अन्तर है . (i) वित्त निगम एक निजी (Private) विनियोजन संस्था की भाँति कार्य करता है। उसके पास स्थित कार्यकारी मण्डल (Staff) में इंजीनियर, विनियोजन अधिकारी, लेखाकार एवं वकील आदि होते हैं। समय-समय पर यह बाहर से भी सलाहकारों की सेवाएँ प्राप्त करता है। विश्व बैंक का कार्यकारी मण्डल इस प्रकार का नहीं होता। (ii) यहाँ विश्व बैंक केवल ऋण देता है, वित्त निगम ब्याज पर निश्चित अवधि के लिए ऋण दे सकता है अथवा निजी कम्पनी की शेयर पूंजी का एक भाग ले सकता है। (iii) विश्व बैंक सरकारों को या सरकारी प्रतिभूति पर ऋण देता है परन्तु वित्त निगम सीधे निजी कम्पनियों को ऋण देता है। (iv) वित्त निगम एक बिचौलिये का काम करके अनेक बार विनियोक्ताओं (निजी क्षेत्र में) को तलाश कर उनको पूंजी आवश्यकता वाली कम्पनियों से मिलाता है। परन्तु इसके पास विश्व बैंक की अपेक्षा कम साधन होने से यह पिछड़े हुए देशों के आर्थिक विकास में अधिक सहायता नहीं दे पाता।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की सदस्यता एवं प्रबन्ध

वे सभी देश जो विश्व बैंक के सदस्य हैं, अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के सदस्य बन सकते हैं। इतने पर भी निगम की सदस्यता ऐच्छिक है। निगम के कार्य-संचालन हेतु गवर्नर मण्डल है जिसमें *विश्व बैंक के सदस्य देशों द्वारा बैंक के गवर्नर-मण्डल में मनोनीत गवर्नर ही सदस्य होते हैं। दिन-*प्रतिदिन के प्रबन्ध हेतु कार्यकारी संचालकों का एक बोर्ड गठित किया गया है जिसमें विश्व बैंक के कार्यकारी संचालक (Executive Directors) होते हैं। इसी प्रकार विश्व बैंक का अध्यक्ष अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम का पदेन चेयरमैन होता है परन्तु दिन-प्रतिदिन के कार्य संचालन हेतु वित्त निगम का एक अध्यक्ष (President) पृथक् से चुना जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के सदस्यों की संख्या 30 जून, 1985 को 125 थी। इनमें से 100 देश अल्पविकसित देश थे। विश्व बैंक की भाँति प्रत्येक सदस्य देश को 250 मत प्राप्त होते हैं तथा प्रति एक हजार डालर के अंशदान पर एक अतिरिक्त मत प्राप्त होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की पूंजी

30 जून, 1975 को अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की कुल पूंजी 10·7 करोड़ डालर थी।

इसमे से सयुक्त राज्य अमरीका का अशदान 3·52 करोड डालर, ब्रिटेन का अशदान 1 44 करोड डालर फ्रान्स का अशदान 58 15 लाख डालर, भारत का 44 31 लाख डालर, ब्राजील का 36 लाख डालर तथा कनाडा का 36 55 लाख डालर था। इस प्रकार निगम के कुल अशदान का लगभग 35% केवल अमरीका द्वारा दिया हुआ था। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की पूंजी मे 2/3 बहुमत द्वारा वृद्धि की जा सकती है।

नवम्बर 1977 मे निगम के गवर्नर मण्डल ने निगम की अधिकृत पूंजी मे 540 मिलियन डालर की वृद्धि करने का निर्णय किया। इस प्रकार निगम की अधिकृत पूंजी 107 मिलियन डालर (30 जून, 1975) से बढकर 650 मिलियन डालर हो गयी है। बढायी गयी राशि मे से 480 मिलियन डालर के अशदान वतमान सदस्य देशो मे बाँट दिय गये है। अशदान की पूर्ण राशि का भुगतान करने के लिए सदस्य देशों को पाँच वर्ष का समय दिया गया है।

निगम अपने साधनो म वृद्धि करने के लिए विश्व बैंक स ऋण ले सकता है। विश्व बैंक से लिये गये ऋणो की राशि निगम की पूंजी स चौगुनी हो सकती है। निगम को विश्व बैंक से ऋण प्राप्त करने का अधिकार 1965 मे प्राप्त हुआ था। निगम अपने सदस्य देशों से भी ऋण ले सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम द्वारा सदस्य देशों को सहायता

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम द्वारा दी जाने वाली वित्तीय सहायता के सम्बन्ध मे निम्नलिखित बातें महत्वपूर्ण हैं

(1) निगम द्वारा केवल निजी क्षेत्र के उपक्रमो मे ही विनियोग किया जाता है।

(2) निगम विकासशील देशो की प्राथमिकता के आधार पर सहायता देता है।

(3) निगम द्वारा दी जाने वाली सहायता के लिए सरकार की प्रतिभूति आवश्यक नहीं है, परन्तु किसी देश की सरकार द्वारा विरोध किये जाने पर निगम द्वारा कोई सहायता नहीं दी जायगी।

(4) निगम किसी भी निजी उपक्रम मे 50% से अधिक पूंजी का विनियोग नहीं करता। अर्थात् परियोजना की आधी लागत इस विकासशील देश की पूंजी द्वारा वहन की जानी चाहिए।

(5) निगम के प्रारूप के अनुसार वैसे तो यह सभी आर्थिक श्रेणी मे निजी क्षेत्र के उपक्रमो के विकास हेतु पूंजी दे सकता है परन्तु व्यवहार म औद्योगिक एव खनन इकाइयो को ही सहायता दी जाती है। किसी भी स्थिति मे सार्वजनिक हित के उपक्रमो जैसे विद्युत-शक्ति, सिचाई, सडक या रेल परिवहन आदि के लिए अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम कोई सहायता नहीं देता।

(6) निगम केवल उन उपक्रमो के लिए पूंजी देता है जिनकी न्यूनतम (अधिकृत) पूंजी 5 लाख डालर के लगभग है। निगम द्वारा दी जाने वाली पूंजी की न्यूनतम राशि 1 लाख डालर तथा अधिकतम राशि 30 लाख डालर है।

(7) निगम व्यक्तिगत प्रतिभूति पर भी पूंजी उपलब्ध करा सकता है।

(8) साधारणतया (सितम्बर 1961 से) निगम शेयर पूंजी प्रदान करता है परन्तु अनेक बार यह अन्य रूप मे भी पूंजी का विनियोग करता है।

(9) स्वय शेयर पूंजी लगाने के अतिरिक्त वित्त निगम शेयर पूंजी का अभिगोपन (underwrite) भी करने लगा है।

(10) प्रयोजन एव सहायता हेतु आवेदनकर्ता इकाई को ध्यान मे रखते हुए वित्त निगम अलग-अलग ब्याज की दरो पर वित्तीय सहायता देता है। सामान्य रूप से ब्याज की दर 6 से 10 प्रतिशत के बीच रहती है। किन्ही-किन्ही परिस्थितियो मे निगम सहायता प्राप्त करने वाली इकाई मे लाभ का एक अश चुकाने की शर्त भी रख देता है।

(11) साधारण रूप से निगम 5 से 15 वर्ष की अवधि के लिए सहायता देता है।

(12) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम सहायता प्राप्त करने वाली कम्पनी से यह अपेक्षा करता

है कि वह अपने लेखे-जोखे को व्यवस्थित ढग से रखेगी तथा नियमित रूप से उनका अंकेक्षण (Audit) करवाती रहेगी। तथापि वित्त निगम इस कम्पनी के प्रबन्ध में कोई हस्तक्षेप नहीं करता।

(13) निगम द्वारा दिये गये ऋणों की वापसी (repayment) केवल डालर में ही की जा सकती है।

(14) निगम सदस्य देश की निजी क्षेत्र की वित्तीय कम्पनियों से प्रतियोगिता होने की स्थिति में कोई सहायता नहीं देगा।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की प्रगति

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम ने प्रत्यक्ष रूप से उधार देकर, निजी कम्पनियों के शेयर खरीदकर (विशेष रूप से विकासशील देशों की विकास वित्त संस्थाओं के शेयर) तथा अनेक कम्पनियों की शेयर पूँजी के निर्गमन के समय अभिगोपन करके निजी क्षेत्र के उद्योगों को सहायता देने का प्रयास किया है। 30 जून, 1968 तक निगम ने 27 2 करोड़ डालर की कुल सहायता अल्पविकसित देशों को निजी उपक्रमों हेतु प्रदान की थी। 30 जून, 1971 तक अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम ने 57 58 करोड़ डालर की सहायता 47 विकासशील देशों की 172 औद्योगिक इकाइयों के लिए प्रदान की थी। भारत में इस निगम ने 2·7 करोड़ डालर का निवेश किया जिसमें रिपब्लिक फार्जों कम्पनी लि., किर्लोस्कर डीजल इंजन, के. एस. बी. पम्प लि., सदर्न मशीन्स लि. (टैक्सटाइल मशीन क), एवं इण्डियन एसबेस्टोजिब्स लि. (उर्वरक) आदि कम्पनियाँ थी।

30 जून, 1975 तक अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम द्वारा स्वीकृत सहायता की राशि में वृद्धि होकर यह 126·2 करोड़ डालर हो गयी थी जिसमें से उस समय तक 86 करोड़ डालर का वितरण हो चुका था। कुल राशि को 57 विकासशील देशों की 249 औद्योगिक इकाइयों के लिए स्वीकृत किया गया था। यह उल्लेखनीय है कि 126 2 करोड़ डालर स्वीकृत सहायता का 60 प्रतिशत भाग 1970 व 1975 के बीच ही दिया गया था।

30 जून, 1975 तक वितरित कुल 86 करोड़ के ऋणों में से 48 प्रतिशत अमरीका ने, 23 प्रतिशत जापान ने तथा 11 8 प्रतिशत यूरोपियन आर्थिक समुदाय ने दिया था। वित्त निगम द्वारा वितरित इस राशि में से ब्राजील को 26 2 करोड़ डालर, टर्की को 11 6 करोड़ डालर, यूगोस्लाविया को 8 करोड़ डालर, फिलीपीन्स को 7 6 करोड़ डालर, मैक्सिको को 7·0 करोड़ डालर तथा भारत को 5 8 करोड़ डालर के ऋण दिये गये। वित्त निगम के पोर्टफोलियो निवेश की राशि 30 जून, 1975 को 90 करोड़ डालर की थी जिसमें से 23 8 करोड़ डालर भाग लेने वाले देशों में तथा शेष (66 4 करोड़ डालर) निगम के अपने साधनों से किये गये निवेश थे।

इसके अलावा अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम विभिन्न देशों में तकनीकी सहायता हेतु प्रयास करता है। यही नहीं, विकासशील देशों की निजी कम्पनियों के प्रबन्ध में सुधार हेतु विदेशी कम्पनियों के साथ समझौते भी कराये जाते हैं।

1977 के वित्तीय वर्ष में अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय निगम ने 34 उपक्रमों के लिए 20 देशों में 25 9 करोड़ डालर ऋण एवं निवेश के रूप में प्रदान किये। *1976 के* वित्तीय वर्ष में निगम ने 33 उपक्रमों के लिए 23·6 डालर प्रदान किये थे।

1956 से लेकर 30 जून, 1978 तक अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम ने 72 विकासशील देशों को *300 उपक्रमों के लिए 1,800 मिलियन डालर* के ऋण तथा विनियोग स्वीकृत किये हैं। निगम द्वारा जिन उपक्रमों में पूँजी लगायी जाती है उनमें अन्य साधनों से प्राप्त पूँजी के विनियोग को प्रोत्साहन मिलता है। इन उपक्रमों में अन्य साधनों से प्राप्त 7200 मिलियन डालर की पूँजी का विनियोग किया गया है। इससे स्पष्ट है कि निगम के एक डालर के विनियोग से अन्य विनियोजकों द्वारा चार अतिरिक्त डालर का विनियोग किया जाता है। 1977-78 में निगम द्वारा 31 देशों में 41 विनियोग किये गये जिनकी राशि 338 4 मिलियन डालर है। विभिन्न वर्षों में निगम द्वारा विनियोजित की गयी राशि का विवरण अग्रांकित प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :

वर्ष	निगम द्वारा विनियोजित राशि (मिलियन डालर में)
1974	203 4
1975	211 7
1976	245 3
1977	258 9
1978	338 4
1979	425 4
1980	680 6
1981	811 0
1982	612 0
1983	845 0
1984	1100 0 (अनुमानित)

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि निगम द्वारा दिये गये ऋणों तथा विनियोगों की राशि प्रति वर्ष बढ रही है। 1983 में वित्तीय वर्ष (जुलाई-जून) में 845 मिलियन डालर के विनियोग स्वीकृत किय गये थे जो पिछले वर्ष की तुलना में 38% अधिक थे। 1984 तक वित्त निगम ने 84 देशों में 773 परियोजनाओं के लिए 370 करोड डालर की पूँजी लगायी। इन परियोजनाओं का कुल पूँजी निवेश 2700 करोड डालर था। इसके अतिरिक्त वित्त निगम ने निजी वित्त संस्थाओं को इन परियोजनाओं में लगभग 100 करोड डालर की पूँजी लगाने हेतु तैयार किया है। आगामी पाँच वर्षों में निगम ने अपने विनियोगों में 12% वार्षिक वृद्धि करने का लक्ष्य निर्धारित किया है। 1985 में विनियोग की राशि बढकर 2100 मिलियन डालर किये जाने का लक्ष्य था।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की आलोचना

ऊपर प्रस्तुत वित्त निगम की प्रगति का विवरण देखने से ऐसा प्रतीत नहीं होता कि वित्त निगम ने विकासशील देशों के निजी क्षेत्र की विनियोग सम्बन्धी समस्याओं के निदान में आश्चर्यजनक रूप से सहायता की है। वस्तुत वित्त निगम को अमरीका, ब्रिटेन, जर्मनी, जापान, फ्रान्स एव कनाडा आदि देशों का उतना सहयोग प्राप्त नहीं हो सका है जो विश्व बैंक या विकास संघ के लिए मिलता रहा है। यह भी उल्लेखनीय है कि विकासशील देशों में विभिन्न सरकारों की निजी क्षेत्र के प्रति जो नीतियाँ हाल ही में प्रारम्भ की गयी हैं उन्हें देखते हुए निजी क्षेत्र के उद्यमियों में सतर्कता एव सशय प्रवृत्ति बढने लगी है। यह सशय की प्रवृत्ति निजी क्षेत्र में पूँजी के समुचित विनियोग में किसी सीमा तक बाधक सिद्ध हुई है। परन्तु निम्नलिखित तथ्य इस प्रकार के हैं जिनके कारण निगम अपनी नीतियों के कारण भी विकासशील देशों में विद्यमान निजी उपक्रमों को पर्याप्त सहायता दे पाया है -

(1) निगम की ब्याज-दर साधारणतया 6 से 10 प्रतिशत के बीच रहती है जो इस बात की द्योतक है कि निगम रियायती दर पर यह सहायता उपलब्ध नहीं कराता।

(2) निगम की ऋण स्वीकृत करने की नीति भेदभावपूर्ण है। ऋणों की स्वीकृति में पक्षपात बरता जाता है तथा ऋणों का अधिक भाग लेटिन अमरीका व एशिया के उन देशों को दिया गया है जो अमरीका को राजनीतिक समर्थन प्रदान करते हैं। 1983 तक स्वीकृत सहायता का 43% लेटिन अमरीकी देशों को, 24% एशियाई देशों को, 19% यूरोप के विकासशील देशों को, 9% अफ्रीकी देशों को तथा 5% मध्य-पूर्व के देशों को ऋण दिये गये।

(3) निगम की ऋण की स्वीकृति तथा ऋणों की वापसी हेतु रखी गयी शर्तें अपेक्षाकृत काफी कठोर हैं। ऋण के मूलधन तथा ब्याज की राशि डालर में चुकानी होती है और इसलिए सहायता प्राप्त करने वाली कम्पनियों के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे डालर अर्जित करें। बहुधा डालर अर्जित करने में अनेक समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं, और इस प्रकार निगम की उक्त शर्त के कारण इसके द्वारा दी जाने वाली सुविधा का लाभ अनेक उपक्रम नहीं उठा पाते।

(4) वित्त निगम ऋण की स्वीकृति एवं तत्सम्बन्धी निवेश के वितरण में काफी समय लेता है और अनेक बार इसके ऋण लेने वाले देश को काफी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

अस्तु, यह कहना अनुचित न होगा कि विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम का कार्य-क्षेत्र सीमित है तथा इस निगम की कठोर शर्तों एवं पक्षपातपूर्ण नीतियों के कारण यह अल्पविकसित देशों के निजी क्षेत्र के उपक्रमों के विकास तथा विस्तार हेतु अपेक्षित सहायता नहीं दे पाया है।

भारत को निगम द्वारा सहायता

भारत अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम का प्रारम्भ से ही सदस्य रहा है। भारत ने इस निगम से कोई विशेष लाभ प्राप्त नहीं किया है। भारत में निजी उद्योगों का विकास भी अधिकांशतया सरकारी प्रोत्साहन द्वारा ही सम्भव हो पाया है। *30 जून, 1977 तक भारत में निगम द्वारा 22* औद्योगिक कम्पनियों को 58.4 मिलियन डालर के ऋण देने का निश्चय किया था। 1978 में बम्बई स्थित गृह निर्माण विकास वित्त निगम के लिए अन्तर्राष्ट्रीय निगम ने ऋण तथा विनियोग की स्वीकृति प्रदान की। *इस प्रकार अब तक भारत में 13 उपक्रमों में कुल 63.6 मिलियन डालर* की पूँजी का विनियोग किया गया है जो कि निगम द्वारा किये गये वायदों (Commitments) का केवल मात्र 30% है। *1981 में निगम ने भारत में निजी क्षेत्र के 7 अन्य उपक्रमों में 100 मिलियन डालर* की सहायता स्वीकृत की थी। 1982-83 में मध्यप्रदेश में एक सीमेण्ट कारखाने के लिए 4.3 मिलियन डालर का ऋण स्वीकृत किया था। निगम की सहायता से कुछ ऐसी क्षेत्रीय कम्पनियाँ स्थापित की जा रही हैं जो मध्यम तथा छोटे आकार के साहसियों को पट्टे (*lease*) पर साज सामान देने की व्यवस्था करेंगी। आगामी वर्षों में और अधिक सहायता प्राप्त करने की सम्भावना व्यक्त की गयी है।

एशियाई विकास बैंक
[ASIAN DEVELOPMENT BANK]

जैसा कि ऊपर बताया गया है, विश्व बैंक ने क्षेत्रीय विकास बैंकों की स्थापना हेतु प्रयास किया है और इसीलिए पिछले दस वर्षों में लेटिन अमरीका, अफ्रीका व एशिया में विकासशील देशों के लिए *क्षेत्रीय (regional) बैंकों की स्थापना की गयी है। वस्तुतः एशियाई विकास बैंक की* स्थापना का सुझाव 1973 में ही एशिया एवं सुदूर-पूर्व के आर्थिक आयोग (ECAFE) ने दिया था परन्तु इसका प्रारूप दिसम्बर 1965 में ही मनीला (फिलीपीन्स) में एशिया के प्रमुख बैंकों की *एक बैठक में प्रस्तुत किया गया तथा एशियाई विकास बैंक की विधिवत् स्थापना 1966 के अन्त* तक हो सकी।

एशियाई विकास बैंक के उद्देश्य एवं कार्य

एशियाई विकास बैंक का उद्देश्य एशिया महाद्वीप के देशों के आर्थिक विकास एवं परस्पर सहयोग को प्रोत्साहित करना तथा सामूहिक व व्यक्तिगत रूप से इस महाद्वीप में विकासशील देशों के आर्थिक विकास की प्रक्रिया को गति प्रदान करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु एशियाई विकास *बैंक के निम्न कार्य निर्धारित किये गये हैं :*

(1) *विकास कार्यों के लिए* सार्वजनिक एवं निजी पूँजी के विनियोग को प्रोत्साहन देना।

(2) उन परियोजनाओं की कार्यान्विति में अपने साधनों को प्रयुक्त करना जो किसी देश में बड़े क्षेत्र के आर्थिक विकास हेतु महत्वपूर्ण हैं।

(3) सदस्य देशों का विकास कार्यक्रमों एवं नीतियों के समायोजन (coordination) में सहायता प्रदान करना जिससे उनके आर्थिक विकास में ही सहायता न मिले अपितु अन्तर्क्षेत्रीय (inter-regional) व्यापार में भी वृद्धि हो।

(4) विकास सम्बन्धी परियोजनाओं, उनके कार्यान्वयन एवं प्रबन्ध के विषय में तकनीकी सहायता प्रदान करना।

(5) विश्व बैंक एशिया एवं सुदूर-पूर्व आर्थिक आयोग संयुक्त राष्ट्र संघ की अन्य इकाइयों एवं अन्य सार्वजनिक एवं निजी इकाइयों के साथ सहयोग करते हुए विकास कार्यों के लिए अधिकाधिक धन जुटाना।

(6) ऐसे सभी कार्य करना जो उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक हो सकें।

इस प्रकार एशियाई विकास बैंक उन सभी कार्यक्रमों एवं परियोजनाओं के लिए वित्तीय एवं तकनीकी सहायता देने हेतु तत्पर हैं जो आर्थिक विकास की गति को बढ़ाने में सहायक हो सकते हैं।

एशियाई विकास बैंक की पूंजी, सदस्यता एवं प्रबन्ध

एशियाई विकास बैंक की सदस्यता एशिया के सभी देशों के लिए खुली है परन्तु आर्थिक साधन जुटाने की दृष्टि से महाद्वीप के बाहर के अनेक विकसित देशों को भी इसका सदस्य बनाया गया है। ये देश हैं अमरीका ब्रिटेन आस्ट्रिया, बेल्जियम फ्रान्स, कनाडा, डेनमार्क, नीदरलैण्ड्स, नॉर्वे, स्वीडन स्विट्जरलैण्ड फिनलैण्ड इटली एवं पश्चिमी जर्मनी। इन 14 बाहरी देशों के अतिरिक्त 27 क्षेत्रीय देश इनके सदस्य हैं।

एशियाई विकास बैंक की अधिकृत पूंजी वर्तमान डालर मूल्यों में 940 7 करोड डालर है जो 31 जनवरी 1966 के तौल एवं शुद्धता वाले 10,000 शेयरों में विभाजित है। 1978 में बैंक की प्रदत्त पूंजी 874 1 करोड डालर है। नीचे तालिका 17 4 में विभिन्न देशों का पूंजी-अंशदान एवं उनकी मतदान-शक्ति का प्रतिशत प्रयुक्त किया गया है :

तालिका 17 4

प्रमुख देशों की एशियाई विकास बैंक में अभिदत्त पूंजी एवं मतदान शक्ति

(राशि करोड डालर में)

देश	कुल पूंजी	पूंजी का प्रतिशत	मतदान शक्ति का प्रतिशत
(अ) क्षेत्रीय देश			
जापान	60 3	18 8	35 56
भारत	28 0	8 8	7 49
आस्ट्रेलिया	25 6	8 0	6 89
इण्डोनेशिया	24 1	7 5	6 51
कोरिया गणतन्त्र	22 3	7 0	6 06
मलेशिया	12 0	3 8	3 50
पाकिस्तान	9 6	3 0	2 90
फिलीपीन्स	10 5	3 3	3 12
थाइलैण्ड	6 0	1 9	2 00
सभी 17 क्षेत्रीय देशों का योग	231 5	72 3	71 01
(ब) बाहरी देश			
संयुक्त राज्य अमरीका	36 2	11 3	9 53
ब्रिटेन	9 0	2 8	2 75
जर्मनी	10 2	3 2	3 05
कनाडा	7 5	2 3	2 37
फ्रान्स	7 5	2 3	2 37
इटली	6 0	1 9	2 00
सभी 14 बाहरी देशों का योग	88 6	27 7	28 99
कुल योग (अ + ब)	320 1	100 0	100 00

Source Asian Development Bank Annual Report

तालिका 17.4 के अतिरिक्त बैंक ने 31 दिसम्बर, 1975 तक 62 करोड़ डालर की करेन्सी का औद्योगिक एवं विकसित देशों में भी ऋण लिया जिसमें बकाया राशि उस समय 53 करोड़ डालर थी। इसमें आस्ट्रेलियाई शिलिंग, लक्जमबर्ग फ्रैंक, बेल्जियन फ्रैंक, डच मार्क, जापानी येन, स्विस फ्रैंक, इटैलियन लीरा, सऊदी अरब के रियाल तथा नीदरलैण्ड्स के गिल्डर सम्मिलित थे। एशियाई बैंक द्वारा 31 दिसम्बर, 1975 तक दिये गये ऋणों में अमरीकी डालर का 36½ प्रतिशत तथा जापानी येन का अनुपात 34 प्रतिशत था। संक्षेप में, एशियाई बैंक अपने बाहरी पूंजी साधनों के लिए प्रधानतः इन दो देशों पर निर्भर करता है।

नवम्बर 1976 में एशियाई विकास बैंक की अधिकृत पूंजी को 3,777 मिलियन डालर से बढ़ाकर 8,711 मिलियन डालर करने का निर्णय किया गया। इसी प्रकार बैंक की पूंजी में 135% वृद्धि हो सकेगी। यह भी तय किया गया था कि नयी पूंजी का 10% प्रदत्त (Paid in) होगा जिसका भुगतान 4 समान किश्तों में किया जायगा। प्रत्येक किश्त का 40% परिवर्तनशील मुद्राओं तथा 60% देश की मुद्राओं में देय होगा। प्रथम किश्त का भुगतान 1978 में करने का निश्चय किया गया। पूंजी में वृद्धि का यह निर्णय 1977 में लागू किया गया। अंशदान की राशि के अतिरिक्त बैंक को यह अधिकार दिया गया कि वह पूंजी बाजार से ऋण लेकर तथा अपनी स्वयं की प्रतिभूतियाँ बेचकर भी पूंजी प्राप्त कर सकता है। परन्तु इसके लिए सम्बन्धित सरकारों की अनुमति ले लेना आवश्यक होगा। अप्रैल 1985 में बैंक की पूंजी में 105 प्रतिशत की वृद्धि की गयी। इसके परिणामस्वरूप बैंक की पूंजी 7.9 बिलियन डालर से बढ़कर 16.3 बिलियन डालर हो गयी।

पुनः बैंक के विशेष कोषों (special funds) में विकसित देशों से अनुदान भी प्राप्त किये जा सकते हैं।

एशियाई विकास बैंक के विशेष कोष (Special Funds)

एशियाई विकास बैंक दो विशेष कोषों के माध्यम से सदस्य देशों को रियायती दर पर ऋण देने की व्यवस्था करता है। **बहु-उद्देश्यीय विशेष कोष (Multi-Purpose Special Fund)** जो 1968 में स्थापित किया गया; तथा **एशियाई विकास कोष** जिसकी स्थापना 1974 में की गयी थी। इन दोनों कोषों में केवल औद्योगिक एवं विकसित देशों ने धनराशि जमा की है।

बहु-उद्देश्यीय विशेष कोष में 31 दिसम्बर, 1975 को 407 करोड़ डालर की जमाराशि थी। इसमें आस्ट्रेलिया तथा कनाडा का अंशदान क्रमशः 10 करोड़ डालर तथा 26 करोड़ डालर था जबकि शेष राशि निवल आय एवं अन्य जमा राशियाँ थी। एशियाई विकास कोष में 31 दिसम्बर, 1975 को 65 करोड़ डालर जमा थे जिसमें से जापान ने 31.4 करोड़ डालर, अमरीका ने 10 करोड़ डालर, ब्रिटेन ने 3.55 करोड़ डालर, जर्मनी ने 5.65 करोड़ डालर, आस्ट्रेलिया ने 2.28 करोड़ डालर तथा कनाडा ने लगभग एक करोड़ डालर जमा किया है। दोनों कोषों की 69.1 करोड़ डालर की राशि में से 31 दिसम्बर, 1975 तक 65 करोड़ डालर एशिया के पिछड़े हुए देशों के लिए ऋण-स्वरूप स्वीकृत किये जा चुके थे। 1976 से 1980 तक पाँच वर्षों में इस संस्था की योजना विश्व के पूंजी बाजारों से 3 बिलियन डालर ऋण प्राप्त करने की थी।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, इन विशेष कोषों से रियायती शर्तों पर एशिया के विकासशील देशों को सहायता दी जाती है। ये ऋण 40 वर्ष के लिए दिये जाते हैं तथा इन पर एशियाई विकास बैंक के सदस्य देशों से केवल 1 प्रतिशत ब्याज सेवा शुल्क (Service Charge) के रूप में वसूल किया जाता है।

1975 में एशियाई विकास बैंक ने 16.6 करोड़ डालर (कृषि हेतु 64.5%) के ऋण इन कोषों से देना तय किया। इन्हें मिलाकर 1969-75 की अवधि में इन कोषों से 65.88 करोड़ डालर के रियायती ऋण दिये जा चुके हैं। इनमें से 46.26 प्रतिशत कृषि व कृषि उद्योगों के लिए, 30.4 प्रतिशत सार्वजनिक सेवाओं के लिए, 15.86 प्रतिशत तथा परिवहन तथा संचार के लिए उद्योगों के लिए 8 प्रतिशत तथा शेष शिक्षा के लिए स्वीकृत किये गये।

विशेष कोषों में से 1969-1976 के बीच 101 परियोजनाओं के लिए सहायता दी गयी।

बंगला देश को 11 परियोजनाओं के लिए कुल राशि का 19 प्रतिशत, इण्डोनेशिया को 21 परियोजनाओं के लिए कुल राशि का 17 2 प्रतिशत, पाकिस्तान को 8 परियोजनाओं के लिए 15 2 प्रतिशत तथा श्रीलंका व नेपाल को क्रमश. 8·6 प्रतिशत एव 8·4 प्रतिशत राशि दी गयी।

एशियाई विकास बैंक ने एक **तकनीकी सहायता विशेष कोष** (*TASF*) की भी स्थापना की है। इसमे विकसित देशो के अतिरिक्त एशियाई विकास बैंक के कुछ सदस्य देशों ने भी योगदान दिया है। 31 दिसम्बर, 1975 तक इस कोष मे लगभग 19 करोड डालर की राशि जमा की गयी थी जिसमें से 1 17 करोड डालर जापान ने तथा 12·5 लाख डालर अमरीका ने दिये हैं। इस राशि को अधिकांशतः सम्बद्ध देशो के विशेषज्ञो एव सलाहकारो के वेतन व भत्ते चुकाने हेतु प्रयुक्त किया जाता है। 31 दिसम्बर, 1975 तक कुल प्राप्त राशि मे से 98 9 लाख डालर व्यय किये जा चुके थे।

1976 से 1978 तक के लिए द्वितीय पुनर्भरण (Replenishment) के अन्तर्गत पूंजी प्राप्त की गयी। इस प्रकार, 1977 के अन्त तक 1 2 बिलियन डालर पूंजी प्राप्त की गयी जिसमे से 1,967 मिल्यिन डालर के ऋण स्वीकृत किये गये। 1979 से 1981 तक के लिए तृतीय पुनर्भरण के अन्तर्गत पूंजी प्राप्त करने के प्रयास किये गये। इस प्रकार एशियाई विकास बैंक विभिन्न विशेष कोषो के द्वारा भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के विकास मे सहायता प्रदान करता है। अप्रैल 1985 मे बैंक की पूंजी बढ़कर 16·3 बिलियन डालर हो गयी थी।

एशियाई विकास बैंक की गतिविधियाँ

एशियाई विकास बैंक एशिया के विकासशील देशों को निम्न क्षेत्रो से सम्बद्ध परियोजनाओ के लिए ऋण प्रदान करता है

1 **कृषि**—(i) सिंचाई, (ii) बाढ-नियन्त्रण, (iii) एकीकृत ग्रामीण विकास, (iv) भूमि-सुधार व बन्दोबस्त, (v) कृषि-साख, (vi) बीज-उत्पादन, (vii) मत्स्य उद्योग, (viii) पशु-सम्पदा, (ix) वन-सम्पदा के विकास, (x) उर्वरको के उत्पादन एव वितरण, तथा (xi) कृषि वस्तुओं का परिनिर्माण (processing)।

2 **उद्योग**—(i) वस्त्र उत्पादन, (ii) इन्जीनियरिंग उद्योग, (iii) रसायनो का उत्पादन, (iv) विकास-वित्त संस्थान।

3. **सार्वजनिक सेवाएँ**—(i) विद्युत-शक्ति, (ii) प्राकृतिक गैस, (iii) परनालो का निर्माण, तथा (iv) नगरो का विकास।

4. **परिवहन का विकास**—(i) राजमार्ग, (ii) फीडर सडको का विकास, (iii) बन्दरगाहो का विकास, (iv) हवाई अड्डो का निर्माण तथा विकास, (v) रेल-परिवहन, तथा (vi) दूर-सचार (**tele-communication**)।

5 शिक्षा।

इनके अतिरिक्त एशियाई विकास बैंक सदस्य देशो को तकनीकी सहायता भी प्रदान करता है।

एशियाई बैंक द्वारा दी गयी आर्थिक सहायता

1968 से लेकर 31 सितम्बर, 1978 तक एशियाई विकास बैंक ने 23 देशो की 395 परियोजनाओं के लिए 540 4 करोड डालर के ऋण स्वीकृत किये। इन ऋणो की संख्या 384 थी। इनमें से 160 ऋण (54·7 करोड डालर) विशेष कोषों से उदार ऋण के रूप में 40 वर्ष की अवधि के थे। बैंक ने 1982 के अन्त तक कुल 11 बिलियन डालर से अधिक के ऋण स्वीकृत किये हैं।

एशियाई विकास बैंक ने उन क्षेत्रो तथा परियोजनाओ को अधिक प्राथमिकता दी जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं तथा जिनके व्यापक क्षेत्र या जनता को लाभ प्राप्त होने की आशा थी।

कुल स्वीकृत ऋणो मे से 1968-1978 के बीच कोरिया तथा फिलीपीन्स को क्रमश 17 व 13·5 प्रतिशत राशि प्रदान की गयी, जबकि पाकिस्तान, इण्डोनेशिया तथा थाईलैण्ड के अनुपात

क्रमशः 13 प्रतिशत, 10.4 प्रतिशत तथा 10·4 थे। नवोदित देश बंगला देश को कुल ऋणों का 5·3 प्रतिशत भाग प्राप्त हुआ।

क्षेत्रों की दृष्टि से 1968-1978 की अवधि में कुल के स्वीकृत ऋणों में से 32.5 प्रतिशत राशि सार्वजनिक सेवाओं के लिए, 25.2 प्रतिशत राशि कृषि एवं कृषि-उद्योगों के लिए, 6.5 प्रतिशत राशि उद्योगों के लिए तथा 7·4 प्रतिशत राशि परिवहन एवं संचार में विकास हेतु प्रदान की गयी। शेष 1·4% राशि शिक्षा सम्बन्धी परियोजनाओं के लिए दी गयी।

वित्त निगम की स्थापना से लेकर 1975 के अन्त तक वित्त निगम द्वारा जितने ऋण दिये गये उनमें से एक चौथाई से अधिक केवल 1975 के वर्ष में दिये गये। इस वर्ष कुल 66 करोड़ डालर के ऋण स्वीकृत किये गये थे, जिनमें से 49.4 करोड़ डालर सामान्य पूँजीगत साधनों से तथा शेष विशेष कोषों से दिये गये। सामान्य पूँजीगत साधनों से स्वीकृत ऋणों में 10.1 करोड़ डालर कोरिया के लिए, 7·83 करोड़ डालर के ऋण इण्डोनेशिया के लिए, 7.8 करोड़ डालर के ऋण थाईलैण्ड के लिए, 6.3 करोड़ डालर के ऋण पाकिस्तान के लिए तथा 4.76 करोड़ डालर के ऋण मलेशिया के लिए स्वीकृत किये गये।

विशेष कोषों से जो 16.63 करोड़ डालर के ऋण 1975 में स्वीकृत किये गये उनमें से सर्वाधिक (5·16 करोड़ डालर) बंगला देश को दिये गये जबकि पाकिस्तान, बर्मा तथा श्रीलंका के लिए क्रमशः 3.4 करोड़; 3.14 करोड़ तथा 3.0 करोड़ डालर के ऋण स्वीकृत किये गये। यह उल्लेखनीय है कि 1975 में 1974 की तुलना में कुल स्वीकृत ऋणों की राशि 20.6 प्रतिशत अधिक थी। यह भी उल्लेखनीय है कि 1974 में ऋणों की औसत राशि 1.59 करोड़ डालर थी, जो कि 1976 में बढ़कर 2.01 करोड़ डालर हो गयी।

यह उल्लेखनीय है कि 1975 में पूर्व के वर्षों की तुलना में कृषि एवं कृषि-उद्योगों के लिए अपेक्षाकृत अधिक ऋण स्वीकृत किये गये। इस वर्ष 37·23 प्रतिशत ऋण इस क्षेत्र की परियोजनाओं के लिए दिये गये जबकि सार्वजनिक सेवाओं एवं उद्योगों के लिए स्वीकृत ऋणों का अनुपात क्रमशः 28.76 प्रतिशत तथा 19.46 प्रतिशत था। कृषि की परियोजनाओं में भी सिंचाई तथा ग्रामीण विकास उर्वरक उत्पादन का अपेक्षाकृत अधिक महत्व रहा है।

एशियाई विकास बैंक द्वारा 1968 से 1977 के अन्त तक कुल 4246 मिलियन डालर के ऋण स्वीकृत किये गये हैं। वास्तविक भुगतान (disbursements) 1515 मिलियन डालर के किये गये हैं जिसमें 205 मिलियन डालर के रियायती शर्तों पर सुलभ ऋण प्राप्त कर सकते हैं। इन ऋणों पर केवल 1% वार्षिक की दर से सेवा-शुल्क प्राप्त किया जाता है। अन्य ऋणों पर ब्याज दर 1 जनवरी, 1978 से 8.30% से कम करके 7.65% कर दिया गया है।

1982 के वर्ष में बैंक द्वारा 13 देशों में 56 परियोजनाओं के लिए 1731 मिलियन डालर के ऋण दिये गये। यह राशि पिछले वर्ष की तुलना में थोड़ा अधिक होते हुए भी लक्ष्यों से कम थी। यह अनुमान था कि 1982 में ऋणों की राशि 2 बिलियन डालर तथा 1986 में 4 बिलियन डालर हो जायेगी। 1982 में बैंक द्वारा स्वीकृत ऋणों में से 30% ऊर्जा विकास के लिए दिये गये। कृषि तथा कृषि उद्योगों के लिए ऋणों की राशि 1982 में कुल ऋणों का 36% थी जबकि पिछले वर्ष में यह केवल 18% थी।

भारत को इस संस्था से कोई सहायता प्राप्त नहीं हुई है क्योंकि भारत यह चाहता है कि इसके क्षेत्र में छोटे अल्पविकसित देशों को अधिक साधन प्राप्त होने चाहिए। मई 1981 में प्रथम बार भारत ने एशियाई बैंक से 2 बिलियन डालर का विकास ऋण प्राप्त करने का प्रस्ताव रखा था। इसे 1983 से 1989 की अवधि में प्राप्त करने की बात थी किन्तु अभी तक इसकी स्वीकृति नहीं की जा सकी है। इसका मुख्य कारण बैंक में साधनों की कमी बताया गया है। 1986 से भारत ने एशियाई विकास के साधारण पूँजीगत साधनों से ऋण लेना प्रारम्भ कर दिया है। 1986 में इस ऋण की मात्रा 250 मिलियन डालर थी जो 1987 में बढ़कर 378 मिलियन डालर हो गयी। दिसम्बर 1988 तक यह राशि और बढ़कर 493 मिलियन डालर हो गयी।

एशियाई विकास बैंक द्वारा तकनीकी सहायता

स्थापना से लेकर 1985 के अन्त तक एशियाई विकास बैंक ने 185 परियोजनाओं के

लिए 3 6 करोड डालर की तकनीकी सहायता भी स्वीकृत की। इनमें आस्ट्रेलिया व न्यूजीलैण्ड को दी गयी 50 लाख डालर की तकनीकी सहायता भी सम्मिलित है। सबसे अधिक तकनीकी सहायता 2 10 करोड डालर कृषि एवं कृषि उद्योगों के लिए दी गयी, जबकि सार्वजनिक सेवाओं तथा परिवहन व सचार के लिए क्रमश 80 लाख डालर एवं 60 लाख डालर की तकनीकी सहायता दी गयी।

एशियाई विकास बैंक द्वारा ऋणों के उपयोग का मूल्यांकन

ऋण स्वीकृत होने तथा उनके वितरण के पश्चात एशियाई विकास बैंक के विशेषज्ञ इस बात की समीक्षा करते हैं कि ऋणों का किस रूप मे उपयोग किया गया तथा यह उपयोग निर्धारित शर्तों के अनुरूप था अथवा नही। यह भी देखा जाता है कि ऋण द्वारा जिस परियोजना पर कार्य हुआ उसके लाभ कितने व किन किन व्यक्तियों को मिलेंगे।

एशियाई विकास बैंक की ऋण नीति तथा इसकी आलोचनात्मक समीक्षा

यद्यपि एशियाई विकास बैंक एशिया के विकासशील देशों को सहायता देने के उद्देश्य से स्थापित किया गया है, तथापि इनके द्वारा सदस्य देशों को सहायता देते समय निम्न बातों पर विचार किया जाता है

(1) *इस महाद्वीप या क्षेत्र के विकासशील देशों मे भी काफी पिछडे देशों को अपेक्षाकृत अधिक ऋण दिये जायें।*

(2) किसी निजी या सार्वजनिक इकाई की परियोजना के लिए तभी सहायता देने हेतु विचार किया जाता है जबकि सम्बद्ध देश की सरकार की इस सम्बन्ध मे सहमति हो।

(3) ऋणों की स्वीकृति एशियाई विकास बैंक के अध्यक्ष की रिपोर्ट प्राप्त होने के पश्चात ही दी जाती है।

(4) किसी ऋण की स्वीकृति से पूर्व इस बात की भी जाँच की जाती है कि आवेदनकर्ता समझौते म वर्णित शर्तों का पालन कर सकेगा अथवा नही।

(5) ऋण की स्वीकृति पर विचार करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि आवेदनकर्ता अन्य स्रोतों मे धन राशि जुटा सकता है।

(6) ऋणों के अन्तर्गत स्वीकृत राशि का उपयोग केवल सदस्य देशों मे ही वस्तुओं व सेवाओं की खरीद हेतु किया जा सकता है परन्तु दो तिहाई बहुमत से सचालक मण्डल किसी अन्य देश मे (जो कि सदस्य नही है) भी वस्तुओं की खरीद की अनुमति दे सकता है।

(7) एशियाई विकास बैंक का कार्य-सचालन ठोस बैंकिंग सिद्धान्तों पर आधारित होगा।

एशियाई विकास बैंक की आलोचना

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्व बैंक एवं अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ की तुलना मे एशियाई विकास बैंक स्थापना के लगभग एक दशक के पश्चात भी एशिया के पिछडे हुए देशों के आर्थिक विकास मे अधिक सहायक नही हो सका है। बहुधा एशियाई विकास बैंक की आलोचना हेतु निम्न तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं

(1) **एशियाई बैंक पर अमरीकी प्रभाव**—एशियाई बैंक की कार्य प्रणाली एवं नीति-निर्धारण मे अमरीकी प्रभाव स्पष्टत दिखायी देता है। 1971 तक जिन 9 देशों ने बैंक से सहायता प्राप्त की थी उनको अमरीका का सक्रिय राजनीतिक समर्थन प्राप्त है। पूंजी मे सर्वाधिक अशदान जापान का है परन्तु जापान व अमरीका के मध्य जो सम्बन्ध है उनके कारण अमरीका के बैंक पर प्रभाव म वृद्धि ही हुई है। यही कारण है कि रूस ने बैंक की सदस्यता ग्रहण नही की।

(2) बैंक द्वारा दिये जाने वाले ऋणों एवं ऋणों की वापसी से सम्बद्ध शर्तें काफी कठोर हैं तथा ब्याज की दर भी काफी है जिसे एशिया के अधिकाश देश वहन करने की स्थिति मे नहीं हैं। दूसरे शब्दों मे, आसान शर्तों एवं रियायती ब्याज-दर पर ऋण उपलब्ध न होने के कारण एशियाई बैंक अभी तक लोकप्रियता अर्जित नही कर पाया है।

(3) एशियाई बैंक अधिकाशतया बंधे हुए ऋण (tied loan) देता है तथा विशिष्ट परियोजनाओं हेतु ही इनकी राशि का उपयोग किया जा सकता है। इसी प्रकार बैंक की यह शर्त कि

ऋण की राशि का उपयोग केवल सदस्य देशो मे ही वस्तुओ व सेवाओं की खरीद हेतु किया जा सकता है जोकि इसके कार्यक्षेत्र को सीमित कर देता है ।

(4) एशियाई बैंक ने अब तक एशिया के देशो मे निजी क्षेत्र के उपक्रमो को अपनी ऋण सम्बन्धी नीति मे प्राथमिकता दी है । यह सम्भवत अमरीकी प्रभाव का एक परिणाम है । परन्तु अधिकांश विकासशील देशो मे विकास हेतु बनायी जा रही परियोजनाएँ सार्वजनिक क्षेत्र मे है । इन परियोजनाओ की कार्यान्विति हेतु एशियाई विकास बैंक ने पर्याप्त रुचि नही दिखायी है ।

(5) एशियाई विकास बैंक द्वारा स्वीकृत ऋणो मे वस्तुत. वितरित राशि का अनुपात काफी कम है ।

आवश्यकता इसी बात की है कि आर्थिक विकास हेतु वित्तीय साधनो की उपलब्धि राजनीतिक आधार पर न होकर योग्यता (merit) के आधार पर करायी जाय । एशियाई बैंक इस महाद्वीप मे स्थित देशो के बीच परस्पर सहयोग एव समन्वय स्थापित करके ही अपने उद्देश्यों मे सफलता प्राप्त कर सकता है तथा सदस्य देशो के आर्थिक विकास मे सहायक हो सकता है ।

1985 के वर्ष मे एशियाई विकास बैंक द्वारा कुल 190 8 करोड डालर के ऋण सदस्य देशो के लिए प्रदान किये गये । इस राशि मे विभिन्न क्षेत्रो के लिए प्रदत्त ऋणो का अनुपात (प्रतिशत) इस प्रकार था :[1]

कृषि एवं ग्रामीण विकास 29 3; सामाजिक सेवाएँ (शिक्षा, स्वास्थ्य, पेय जल, सेनिटेशन आदि) 28 5; परिवहन एव सचार सेवाएँ 16 3; ऊर्जा परियोजनाएँ 12·8, तथा अन्य 13 1 ।

गत वर्ष की राशि का आवटन कुल मिलाकर 46 परियोजनाओ के लिए किया गया था । इन सभी को मिलाकर 1985 तक एशियाई विकास बैंक ने सदस्य देशो के विकास हेतु कुल 1749 करोड डालर के ऋण प्रदान किये ।

प्रश्न एवं उनके संकेत

1 अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एव विकास बैंक की ऋण-नीति की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए तथा विकासशील देशों के आर्थिक विकास में इसके योगदान का विवरण दीजिए ।
Critically examine the lending policy of International Bank for Reconstruction and Development and evaluate its role in the promotion of the economic development of developing countries.

2. विश्व बैंक के कार्यों एव सेवाओं का आलोचनात्मक विवरण दीजिए ।
Give a critical account of the work and services of the World Bank.

3 अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास में अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक की क्या भूमिका रही है विस्तार से समझाइए ।
Examine the role played by the IBRD in assisting the economic development of underdeveloped countries

4. क्या अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एव विकास बैंक ये दोनों पूरक संस्थाएँ हैं ? यह बताइए कि दोनों संस्थाएँ अपने उद्देश्य में किस सीमा तक सफल रही हैं ?
The IMF and IBRD are complementary institutions and show how far they have been able to achieve the objectives for which they are meant ?

5. अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक के उद्देश्यों एवं संगठन का विवरण दीजिए । यह भी बताइए कि इस बैंक से भारत को क्या लाभ हुआ है ?
Discuss the organization and objectives of the IBRD. To what extent has the Bank been able to help India ?

6. अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक की कार्य-प्रणाली पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए । इस संस्था ने अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय व्यवस्था में विद्यमान कमी को कहाँ तक पूर्ण किया है ?

---

1 *A D B Quarterly Review*, February 1986.

Write a critical note on the working of the IBRD. How far has it filled in gaps in the sphere of international finance?

7. अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम एवं अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ के लक्ष्यों, उद्देश्यों एवं कार्य-प्रणाली की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

   Critically examine the aims, objectives and working of the International Finance Corporation and International Development Association.

8. निम्न पर टिप्पणी लिखिए :

   (i) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक
   (ii) अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ, तथा
   (iii) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम।

   Write short notes on the following :
   (i) IBRD, (ii) IDA, and (iii) IFC

9. एशियन विकास बैंक के कार्यों का विवेचन कीजिए। इस क्षेत्र के देशों के विकास को प्रोत्साहन देने में इसके योगदान की समीक्षा कीजिए।

   Discuss the functions of the Asian Development Bank. Examine its role in promoting the development of countries in this region.

   [संकेत—सर्वप्रथम एशियाई विकास बैंक के उद्देश्य, कार्य तथा प्रगति का उल्लेख कीजिए तथा उसके बाद बैंक द्वारा दी गयी सहायता का वर्णन कीजिए। एशियाई बैंक के मूल्यांकन को संक्षेप में बताइए।]

18

प्रशुल्क-दरों एवं व्यापार पर सामान्य समझौता

[GENERAL AGREEMENT ON TARIFFS AND TRADE]

द्वितीय महायुद्ध-काल में ही संयुक्त राज्य अमरीका में युद्धोपरान्त अपनायी जाने वाली आर्थिक नीति पर विचार-विमर्श प्रारम्भ हो गया था। ऐसा अनुभव किया जाने लगा था कि युद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित नीतियों के निर्धारण एवं इनके कार्यान्वयन के लिए विभिन्न देशों को संगठित होना चाहिए। इस विषय पर ब्रैटनवुड्स अधिवेशन में भी (1944) चर्चा हुई थी। जैसा कि अध्याय 14 व 15 में बताया गया था, विश्व बैंक एवं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष इसी अधिवेशन में लिये गये निर्णयों के फलस्वरूप स्थापित किये गये थे। इसी समय यह भी तय किया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं रोजगार को प्रोत्साहन देने हेतु एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन (International Trade Organization—ITO) की स्थापना की जाय। परन्तु विभिन्न देश इस दिशा में काफी समय तक कोई निर्णय नहीं ले सके। अन्ततः 1947 में हवाना अधिवेशन में ही एक समझौता हुआ, जिसको "प्रशुल्क-दरों एवं व्यापार पर सामान्य समझौता (GATT)" की संज्ञा दी गयी है। प्रारम्भ में इस समझौते को केवल अस्थायी व्यवस्था माना गया था, परन्तु 1948 से यह एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के रूप में कार्यशील है। प्रारम्भ में इसके सदस्यों की संख्या 23 थी जो बढ़कर अब 83 हो गयी है। यह उल्लेखनीय है कि नये देश को सदस्य केवल उसी स्थिति में बनाया जा सकता है जब दो-तिहाई वर्तमान सदस्य इसके लिए अपनी सहमति व्यक्त कर दें। समस्त सदस्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे "समझौते" में दी गयी आचार-संहिता (code of conduct) का पालन करेंगे। इस "समझौते" के सदस्यों में विश्व के प्रमुख देश सम्मिलित हैं, परन्तु सोवियत रूस, लाल चीन एवं अधिकांश साम्यवादी देशों ने इसकी सदस्यता स्वीकार नहीं की है।

"प्रशुल्क-दरों एवं व्यापार पर सामान्य समझौता" एक ऐसी सन्धि है जिसके प्रति सभी सदस्य देशों का दायित्व रहता है। सदस्य देशों के प्रतिनिधि समय-समय पर मिलकर विचार-विमर्श करते हैं। यह एक ऐसी सन्धि है जो निम्नांकित चार महत्वपूर्ण सिद्धान्तों पर आधारित है :

(1) विभिन्न देशों के बीच बिना भेद-भाव के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किया जाय,

(2) विदेशी व्यापार को प्रभावित करने हेतु केवल प्रशुल्क-दरों का आश्रय लिया जाय,

(3) एक देश दूसरे देश के लिए हानिप्रद नीति अपनाने से पूर्व उस (दूसरे) देश से विचार-विमर्श करे, तथा

(4) ऐसे कदम उठाये जायँ जिनसे प्रशुल्क-दरों में परस्पर विचार-विमर्श के माध्यम से कमी की जा सके।

इस "समझौते" को चार भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग में समझौते से अनुबन्धित देशों के प्रमुख कर्तव्यों का विवरण है, द्वितीय भाग में न्यायपूर्ण व्यापार (fair trade) हेतु आचरण की संहिता है, तृतीय भाग में सदस्य बनने एवं सदस्यता के परित्याग से सम्बद्ध नियमावली है, तथा अन्तिम भाग विकासशील देशों के विदेशी व्यापार के विस्तार से सम्बद्ध है। इस भाग में विकासशील देशों को दी जाने वाली विशेष रियायतों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। परन्तु यह स्पष्ट कर दिया गया है कि बदले में विकासशील देशों के लिए प्रशुल्क-दरों में कमी करना आवश्यक नहीं है। इसके अतिरिक्त इन देशों को यह भी छूट दी गयी है कि वे भुगतान-सन्तुलन सम्बन्धी कारणों से आयात कोटा निश्चित कर सकते हैं।

प्रशुल्क-दरों एवं व्यापार के सामान्य समझौते के उद्देश्य [OBJECTIVES OF GATT]

समझौते का मुख्य प्रयोजन प्रशुल्क-दरो मे पर्याप्त कटौती एव व्यापार के विस्तार मे आने वाली बाधाओ को कम करके परस्पर लाभ पहुँचाने वाले निम्नलिखित उद्देश्यो की पूर्ति करना है :

(1) सदस्य देशो मे जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना,

(2) पूर्ण रोजगार की दिशा मे अर्थ-व्यवस्था को प्रवृत्त करना तथा वास्तविक आय एव प्रभावी माँग के परिमाण मे वृद्धि करना,

(3) विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा उत्पादन में वृद्धि करना,

(4) विश्व मे उपलब्ध साधनो का इष्टतम उपयोग करना, तथा

(5) दो देशो की अपेक्षा अनेक देशो के व्यापार की सवृद्धि हेतु वार्ताएँ आयोजित करना ताकि विभिन्न देशो के बीच व्यापार मे सरकारी हस्तक्षेप एव बाधाओं को न्यूनतम किया जा सके।

इन उद्देश्यो की प्रवृति अत्यन्त सामान्य है। वस्तुत: "समझौते" द्वारा इन उद्देश्यो की पूर्ति हेतु प्रत्यक्ष रूप से कोई कार्यवाही नही की जाती। उदाहरणार्थ समझौते के किसी भी अनुच्छेद मे उपर्युक्त उद्देश्यो की पूर्ति हेतु कोई प्रावधान नही है। ऐसी मान्यता व्यक्त की गयी कि विश्व के विभिन्न देशो के बीच व्यापार को बहुमुखी पद्धति पर आधारित करके इस प्रकार समायोजित किया जाय कि प्रशुल्क-दरों मे कटौती करके इन्हे न्यूनतम स्तर पर लाया जाय ताकि इन देशो के आर्थिक विकास की प्रक्रिया को बल मिलता रहे तथा आय एव रोजगार के स्तर मे पर्याप्त सुधार हो। यह उल्लेखनीय है कि 'समझौते" के अन्तर्गत प्रशुल्क-दरो एव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर विद्यमान प्रतिबन्धो को पूर्णत. समाप्त करने की अपेक्षा इन्हे काफी कम करने का प्रस्ताव रखा गया है। यह लक्ष्य इसलिए रखा गया था कि द्वितीय महायुद्ध-काल मे एव उसके बाद प्रशुल्क-दरो एव व्यापार-प्रतिबन्धो मे आशातीत वृद्धि कर दी गयी थी तथा उनमे कमी करना आवश्यक माना जा रहा था। "समझौते" का प्रारूप तैयार करने वालो की ऐसी मान्यता थी कि कुछ परिस्थितियो मे व्यापार पर प्रतिबन्ध आवश्यक है। परन्तु वे यह भी मानते थे कि प्रशुल्क-दरो मे कमी एव विभेदात्मक व्यापार-नीति की समाप्ति दोनों पक्षो की ओर से होनी चाहिए तथा इसका लाभ भी सभी सम्बद्ध देशो को मिलना चाहिए। परन्तु हाल मे 'समझौते" मे सम्मिलित किये गये नये अध्याय के अनुसार यह स्पष्ट कर दिया गया है कि विकसित देशो को यह अपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि उनके द्वारा दी गयी रियायतो के बदले विकासशील देश भी व्यापार की शर्तों एवं प्रशुल्क-दरों मे छूट देंगे अथवा व्यापार प्रतिबन्धो को पूर्णत. समाप्त कर देंगे।

"प्रशुल्क-दरो एव व्यापार पर सामान्य समझौते" के उपरिवर्णित उद्देश्यो की पूर्ति हेतु निम्नलिखित तीन सिद्धान्त स्वीकार किये गये हैं :

(अ) व्यापार का विस्तार एव अधिकतम उत्पादन की प्राप्ति तभी सम्भव है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भेदभावपूर्ण व्यवहार नही अपनाया जाय तथा प्रशुल्क-दरो एव व्यापार-प्रतिबन्धो के माध्यम से इसे सीमित नही किया जाय,

(ब) विदेशी व्यापार में आयात-कोटे का निर्धारण या मात्रात्मक प्रतिबन्ध अनुचित एव निन्दनीय है, तथा

(स) विद्यमान प्रशुल्क-दरो मे कमी करने हेतु 'समझौते" मे अनुबन्धित देशों को परस्पर विचार-विमर्श एव एक दूसरे के लाभ व कठिनाइयों को समझते हुए कोई नीति अपनानी चाहिए।

अब हम समझौते के प्रमुख सिद्धान्तो एव उद्देश्यों की विस्तृत विवेचना करेंगे।

1 प्रतिबन्धों की समाप्ति या 'सबसे अधिक प्रिय देश' का सिद्धान्त (Elimination of Restrictions or the Principle of Most Favoured Nation)—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भेदभावपूर्ण व्यवहार की समाप्ति हेतु 'सबसे अधिक प्रिय देश" सिद्धान्त का प्रयोग किया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक सदस्य देश के साथ अन्य देशो की भाँति ही व्यवहार किया जाता है तथा किसी एक सदस्य देश को दी गयी रियायत स्वत: ही अन्य सदस्य देशो के लिए भी उपलब्ध हो जाती है। इस प्रकार "प्रशुल्क बैठको" (Tariff Conferences) मे यद्यपि दो देशो

के बीच मन्त्रणा होती है, तथापि इसके अन्तर्गत प्रशुल्क-दरों में दी जाने वाली छूट समझौते के सभी सदस्य देशों को प्राप्त हो जाती है।

फिर भी "समझौते" में अनेक अपवाद हैं। एक बैठक में भारतीय प्रतिनिधि ने कहा कि *व्यवहार में समानता तभी न्यायपूर्ण है जब यह समान स्तर के देशों से सम्बन्धित हो।* इसी आधार पर विकासशील देशों ने किसी सीमा तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भेदभावपूर्ण नीति अपनाने की छूट चाही थी। इस प्रकार विदेशों में कम मूल्य पर बेचने की नीति एवं निर्यात अनुदानों के विरोध में क्षतिग्रस्त देश भी कोई कदम उठा सकते हैं। यह उल्लेखनीय है कि "समझौते" के अन्तर्गत प्रशुल्क-दरों में आंशिक प्राथमिकताओं (Partial tariff) का निषेध है, फिर भी कस्टम यूनियनों एवं मुक्त व्यापार क्षेत्रों के रूप में, "पूर्ण प्रशुल्क प्राथमिकताओं" (complete preferences) की व्यवस्था को आपत्तिजनक नहीं माना जाता।

2. आयात पर मात्रात्मक प्रतिबन्ध (Quantitative Restrictions on Imports)—*सिद्धान्ततः "समझौते" में मात्रात्मक प्रतिबन्धों का पूर्णतः निषेध है, परन्तु तीन अपवादस्वरूप* स्थितियों में इसकी छूट दी जाती है :

(i) अत्यधिक प्रतिकूल भुगतान-संतुलन की स्थिति में सम्बद्ध देश आयात-कोटों का आश्रय ले सकते हैं, परन्तु वे ऐसा करने में केवल उसी सीमा तक स्वतन्त्र हैं, जहाँ तक आयात-कोटों के माध्यम से वे अपने सुरक्षित कोषों को बचाने या इनमें सम्भावित भारी कमी को रोक सकते हों। परन्तु आयात-कोटों का इस रूप में उपयोग केवल अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्वीकृति लेकर ही किया जा सकता है।

(ii) अल्पविकसित देश आयात-कोटों का उपयोग केवल "समझौते" में वर्णित प्रणाली के आधार पर कर सकते हैं। *ये देश जब प्रशुल्क-दरों के माध्यम से घरेलू उद्योगों को संरक्षण प्रदान* करने में असमर्थ हों तो मात्रात्मक प्रतिबन्धों के द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति कर सकते हैं परन्तु इन प्रतिबन्धों का उपयोग करते समय अनुबन्धित देश को यह चाहिए कि वह व्यापार का अन्य अनुबन्धित देशों के बीच उस अनुपात में वितरण करे जो इन प्रतिबन्धों के न होने पर विद्यमान रहता हो। जहाँ तक सम्भव हो निर्दिष्ट अवधि के लिए आयात-कोटे के अन्तर्गत निर्धारित मात्रा की पूर्व घोषणा की जानी चाहिए।

(iii) कृषि एवं मत्स्य-वस्तुओं के लिए आयात-कोटों का निर्धारण केवल उस स्थिति में किया जाय जब इनका देश में उत्पादन उतने ही प्रतिबन्धों के अन्तर्गत किया जा रहा हो।

3. प्रशुल्क मन्त्रणाएँ (प्रशुल्क-दरों में कटौती) (Tariff Negotiations or Reduction of Tariffs)—*इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु यह आवश्यक है कि अनुबन्ध में सम्मिलित देश इस सिद्धान्त* में विश्वास रखते हों कि प्रशुल्क-दरों का व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। यह स्पष्टीकरण "समझौते" के अठारहवें अनुच्छेद में दिया गया है। इसी में विभिन्न देशों के बीच आयात व निर्यात से सम्बद्ध मन्त्रणाओं द्वारा प्रशुल्क-दरों एवं अन्य करों में पर्याप्त कमी करने के लिए विशेष रूप से ऐसी प्रशुल्क-दरों को कम करने के लिए जो न्यूनतम मात्रा में भी आयात न करते हैं—इस "समझौते" में प्रावधान रखा गया है। *ये मन्त्रणाएँ परस्पर लाभ की दृष्टि से आयोजित की जायें* तथा "समझौते" में वर्णित प्रत्येक देश की विशिष्ट परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं का इसमें ध्यान रखा जाय, यह भी आवश्यक है। इन मन्त्रणाओं में विकासशील देशों का विशेष ध्यान रखने पर भी बल दिया गया है ताकि वे ऐसी संरक्षणात्मक प्रशुल्क-नीति के माध्यम से वे न केवल आर्थिक विकास कर सकें अपितु राजस्व प्राप्ति हेतु भी प्रशुल्क वसूल कर सकें।

अर्थशास्त्री प्रायः यह तर्क देते हैं कि प्रशुल्क-दरों में कटौती से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि होती है, जिससे सम्बद्ध देश की राष्ट्रीय आय बढ़ती है और इससे प्रभावित होकर पुनः प्रशुल्क-दरें कम करने की प्रवृत्ति जन्म लेती है। इस प्रकार प्रशुल्क-दरों में कटौती से एक "गुणचक्र" (Virtuous circle) का जन्म होता है। प्रशुल्क मन्त्रणाएँ साधारण रूप से निम्नलिखित सिद्धान्तों पर आधारित होती हैं :

(i) आदान-प्रदान एवं पारस्परता (Reciprocity and Mutuality)—ये मन्त्रणाएँ

आदान-प्रदान के सिद्धान्त पर प्रत्येक वस्तु के लिए की जाती हैं। "आदान-प्रदान" में यहाँ अभिप्राय उस भावना से है जिसके अनुसार एक देश द्वारा यदि मन्त्रणा के समय कोई रियायत की जाय तो उसे भी छूट प्राप्त करने का नैतिक अधिकार मिल जाता है।

(ii) **प्रशुल्क-दरों को सीमित करना (Binding of Low Tariffs)**—इन मन्त्रणाओं का प्रयोजन ऊँची प्रशुल्क-दरों को कम करना तथा नीची दरों के स्तर को बनाये रखना होना चाहिए। यह प्रावधान उन देशों के हितों की रक्षा हेतु रखा गया जिनकी प्रशुल्क-दर पहले से कम हैं तथा जो मन्त्रणाओं के समय कोई भी छूट देने में असमर्थ हैं।

(iii) *प्राथमिक दरें तथा प्राथमिकता-मार्जिन (Preferential Rates and the Margin of Preference)*—प्राथमिकता का मार्जिन मापने के लिए सबसे अधिक प्रिय देश (M. F. N.) के लिए निर्धारित प्रशुल्क-दर तथा उसी वस्तु के लिए प्राथमिकता दर के विद्यमान वास्तविक अन्तर को देखना चाहिए न कि इन दोनों दरों का आनुपातिक सम्बन्ध। इस प्रकार यदि सबसे अधिक प्रिय देश (The Most Favoured Nation) की दर कम कर दी जाय तो प्राथमिकता का मार्जिन स्वतः कम हो जायगा। इसके विपरीत यदि सबसे अधिक प्रिय देश की प्रशुल्क-दर में वृद्धि कर दी जाय तो प्राथमिकता के मार्जिन में भी वृद्धि हो जायगी।

(iv) **बँधी हुई या निश्चित एवं खुली हुई दरें (Bound and Unbound Rates)**—एक बार शुल्क की जो दर अनुसूची में सम्मिलित कर ली जाती है, फिर इसमें किसी प्रकार की वृद्धि की सम्भावना नहीं रह जाती। इसका यह अर्थ हुआ कि 'सामान्य समझौते" के परिशिष्ट में जिन प्रशुल्क रियायतों का वर्णन है—जिन्हें साधारणतया बँधी हुई दरों की संज्ञा दी जाती है—वे 1948 से दिसम्बर 1950 तक प्रचलित रहीं। तीन साल की इस अवधि के समाप्त होने पर यह निर्णय अनुबन्ध से सम्बद्ध देशों पर छोड़ दिया गया कि वह दूसरे पक्ष के साथ मन्त्रणा एवं समझौते के माध्यम से उस रियायत को वापस ले ले अथवा उसमें संशोधन कर दे। अब तक यही देखा गया है कि अनुसूची की अवधि में वृद्धि करने के लिए सभी सम्बन्धित पक्ष सहमत होते रहे हैं परन्तु नयी अवधि प्रारम्भ होने से पूर्व सम्बन्धित पक्षों को यह अवसर अवश्य दिया जाता है कि वे प्रशुल्क-दरों में छूट या संशोधन के लिए मन्त्रणा कर सकें।

आयात-करों में स्थिरता एवं कमी लाने हेतु 1947 व 1979 के बीच सात प्रशुल्क अधिवेशन हुए। ये सम्मेलन क्रमशः 1947 में जेनेवा में, 1948 में अनेसी में, 1950-51 में तोरके (Torquay) में, 1956 में जेनेवा में, 1960-62 में पुनः जेनेवा में (इसे डिल्लन राउण्ड के नाम से भी पुकारते हैं), 1964-68 में ब्रूसेल्स (इसे कैनेडी राउण्ड कहा जाता है) में तथा 1983 में टोकियो में हुए। इन अधिवेशनों में प्रत्येक वस्तु के विषय में मन्त्रणाएँ हुईं। उपर्युक्त अधिवेशनों में प्रथम तथा अन्तिम के परिणाम सबसे अधिक अनुकूल रहे। प्रथम अधिवेशन तो इसलिए कि द्वितीय महायुद्ध-काल में आरोपित अत्यधिक ऊँची प्रशुल्क-दरों के विषय में यह अधिवेशन था। 1968 का अधिवेशन इसलिए काफी महत्वपूर्ण माना जाता है कि संयुक्त राज्य अमरीका ने 1962 में पारित "व्यापार विस्तार अधिनियम" के अन्तर्गत अपनी प्रशुल्क-दरों में पर्याप्त कटौती की घोषणा की।

प्रथम अधिवेशन 10 अप्रैल, 1947 से लेकर 30 अक्टूबर, 1947 तक हुआ था तथा वस्तुतः 'सामान्य समझौते" की स्थापना का ही एक पहलू था। इस अधिवेशन में मन्त्रणाओं के पश्चात् जो रियायतें दी गयीं उनका रूप कुछ इस प्रकार का था : (अ) कुछ करों एवं प्राथमिकताओं (Preferences) की पूर्ण समाप्ति, (ब) करों में घोषित प्राथमिकताओं में कमी, (स) आयात व निर्यात करों को प्रचलन दरों पर बाँध देना, तथा (द) यथासम्भव करों से मुक्ति की प्रचलित नीति को जारी रखना।

अनेसी में 1949 में हुए अधिवेशन का उद्देश्य उन देशों को भी "सामान्य समझौते" से अनुबन्धित करना था जो प्रथम अधिवेशन में उपस्थित नहीं हो सके थे। इस समय तक 10 नये देशों ने 'प्रशुल्क एवं व्यापार पर सामान्य समझौते" को अपना औपचारिक समर्थन दे दिया था तथा सदस्य-संख्या 33 हो गयी थी। इस अधिवेशन में 500 वस्तुओं के विषय में 147 द्विपक्षीय मन्त्रणाएँ हुईं।

तृतीय अधिवेशन (तोरके—1950-51) में 6 नये देशों ने भाग लिया। यह अधिवेशन

अधिक सफल नहीं हो पाया क्योंकि 400 अपेक्षित समझौतों के स्थान पर केवल 147 ही पूरे किये जा सके। संयुक्त राज्य अमरीका पहले ही रियायतें दे चुका था तथा तब कोई नयी प्रशुल्क छूट देने में असमर्थ था।

चौथे अधिवेशन (जिनेवा—1956) में अमरीका ने आयातों पर अधिकतम सम्भव छूट देने का प्रस्ताव रखा जिसका (व्यापार का) मूल्य 90 करोड़ डालर था। इसके बदले अमरीका ने 40 करोड़ डालर के व्यापार पर छूट अन्य देशों [illegible] प्राप्त की। परन्तु इस अधिवेशन में भी कोई देश पूर्णत: सन्तुष्ट नहीं हो सका तथा बहुत से देशों ने तो मन्त्रणाओं का बहिष्कार कर दिया। पाँचवें अधिवेशन (जिनेवा—1960-61) में विकासशील देशों ने यह तर्क दिया कि पूर्व अधिवेशनों में परस्परता (reciprocity) के सिद्धान्त के कठोर अनुपालन ने उनकी सौदा करने की शक्ति को पूर्णतया समाप्त कर दिया था और वे और अधिक रियायतें अपनी प्रशुल्क नीति के अन्तर्गत देने में असमर्थ थे। दूसरी ओर, औद्योगिक देश उन वस्तुओं पर कोई भी छूट देने में संकोच कर रहे थे जिनमें विकासशील देशों की रुचि थी और उस नियम का आश्रय ले रहे थे जिसके अनुसार कोई देश किसी भी वस्तु के विषय में मन्त्रणा करना अस्वीकार कर सकता था। विकासशील देशों ने इस बात पर जोर दिया कि अधिवेशन तभी सफल हो सकता था जब औद्योगिक देश अपनी ओर से (एकपक्षीय) प्रशुल्क रियायतें देने को तैयार हों। इस दृष्टिकोण का हैबरलर रिपोर्ट में पुरजोर समर्थन किया गया। आस्ट्रेलिया एवं भारत के प्रतिनिधि मण्डलों ने विभिन्न मन्त्रणाओं में प्रशुल्क-दरों के अतिरिक्त कोटा, आन्तरिक कर-नीति आदि पर विचार करने हेतु ठोस प्रस्ताव रखे। ये प्रस्ताव लम्बे विचार-विमर्श के बाद स्वीकार कर लिये गये।

कैनेडी राउण्ड *(The Kennedy Round)*

छठा अधिवेशन, जिसे कैनेडी राउण्ड कहते हैं, मई 1964 में प्रारम्भ हुआ। इससे कुछ ही समय पूर्व यूरोप में दो मुक्त व्यापार क्षेत्रों की स्थापना हो चुकी थी। प्रथम तो यूरोपियन साझा बाजार (ECM) था एवं द्वितीय यूरोपियन मुक्त व्यापार संघ (European Free Trade Association or EFTA) था। इन क्षेत्रों की सफलता से प्रेरित होकर अमरीका ने राष्ट्रपति कैनेडी के निर्देशन में सभी प्रकार की प्रशुल्क-दरों में कटौती का सुझाव दिया ताकि यूरोप के देशों, विशेष रूप से साझा बाजार के सदस्यों से अमरीका के व्यापार में वृद्धि हो सके। ऐतिहासिक दृष्टि से अमरीका में संरक्षण-नीति को प्रारम्भ से ही पोषण मिलता रहा है क्योंकि अमरीकी उद्योगपतियों को उन देशों में लगातार एक बड़ा खतरा दिखायी दिया है जो सस्ते श्रम के बल पर वस्तुओं का उत्पादन करके अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में बेचने को तैयार हैं। यह उल्लेखनीय है कि अमरीका में श्रम एवं उत्पादन की अनेक दूसरी लागतें काफी ऊँची हैं। अमरीका में पारित व्यापार समझौते कानून (1934-62) के अन्तर्गत मन्त्रणाओं द्वारा प्रशुल्क-दरों में कमी करने की संवैधानिक व्यवस्था तो है परन्तु साथ ही कानून में एक 'खतरे के बिन्दु' (Peril Point) का भी वर्णन है। इस "खतरे के बिन्दु" के अन्तर्गत ऐसी सीमाओं का निर्धारण करने का अधिकार राष्ट्रपति को प्राप्त है जिनसे नीचे प्रशुल्क-दरें नहीं ले जायी जा सकती। यही रियायती दरों की सीमाएँ हैं। यदि प्रशुल्क रियायतें इससे अधिक देने का प्रस्ताव हो तो उसे काँग्रेस में रखा जाय एवं उसकी स्वीकृति मिलने पर ही उन रियायतों को लागू किया जाय। 1962 में व्यापार विस्तार अधिनियम (Trade Expansion Act) के अन्तर्गत "खतरे के बिन्दु" की व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया तथा राष्ट्रपति को यह अधिकार दे दिया गया कि आवश्यकता पड़ने पर वे सभी आयात करों में 50% तक छूट दे सकें।

प्रशुल्क एवं व्यापार सामान्य समझौते के लिए सदस्य के रूप में अमरीका ने प्रत्येक प्रशुल्क अधिवेशन में अपनी प्रशुल्क-दरों में छूट की घोषणा की परन्तु इन सबमें अधिक छूट छठे अधिवेशन (1964-68 ; कैनेडी राउण्ड—बूसेल्स) के समय दी गयी। इस अधिवेशन के लिए राष्ट्रपति कैनेडी ने पहल की थी, अत: इसे कैनेडी राउण्ड के नाम से जाना जाता है। इस अधिवेशन में 50 देशों ने भाग लिया तथा 37 देशों द्वारा 4 करोड़ डालर के व्यापार पर प्रशुल्क रियायतें दी गयी। अमरीका ने अपने दो तिहाई आयातों पर औसतन 35% प्रशुल्क रियायत दी यद्यपि किन्हीं-किन्हीं वस्तुओं पर यह छूट 50% या इससे अधिक थी।

यूरोपियन साझा बाजार के देशो ने भी 50% की प्रशुल्क रियायतें प्रदान की। ब्रिटेन द्वारा प्रशुल्क-दरा म छूट का औसत 38% था जबकि जापान एव कनाडा द्वारा दी गयी छूट क्रमश 30% व 24% थी। इन सभी रियायतो को तत्काल न देकर 5 वर्ष के भीतर प्रभावी बनाने का भी निर्णय लिया गया। ऐसी व्यवस्था की गयी कि केनेडी राउण्ड मे दी गयी प्रशुल्क रियायतो के फलस्वरूप 5 वर्ष के बाद औद्योगिक देशो द्वारा आरोपित प्रशुल्क-दरों का अनुपात 5 से 15% के बीच रह जाय।

विभिन्न वस्तुओ का व्यापार करने वाले देशो पर केनेडी राउण्ड म दी गयी रियायतो का प्रभाव एक समान नही रह सका। रसायन पदार्थों, कागज आधारभूत एव अन्य कुछ तैयार वस्तुओं पर छूट का अनुपात अधिकतम था। इसके विपरीत, लोह व इस्पात, वस्त्रो, ईंधन एव सम-शीतोष्ण (Tropical) प्रदशो म प्राप्त वस्तुओं पर काफी कम रियायतें दी गयी।

विकासशील देशो को यह आशा थी कि केनेडी राउण्ड के फलस्वरूप उनकी रुचि की विशिष्ट वस्तुओ पर उन्हे विशेप छूट दी जायगी। परन्तु उन्हे वास्तव मे उतनी छूट नही दी गयी। उनकी सूची मे से केवल 79% वस्तुओ पर ही वे प्रशुल्क रियायत प्राप्त कर सके।

वास्तव म केनेडी राउण्ड की सफलता केवल औद्योगिक (निर्मित) वस्तुओं पर प्रशुल्क रियायतें प्रदान करने तक ही सीमित रही। कृषि-वस्तुओ के सम्बन्ध म हुई मन्त्रणाएँ अधिक सफल नही हो पायी यद्यपि इन मन्त्रणाओ के द्वारा गेहूँ की न्यूनतम अन्तर्राष्ट्रीय कीमत पर सहमति प्राप्त हो गयी। परन्तु डेरी से सम्बद्ध वस्तुओ पर कोई छूट प्राप्त नही हो सकी।

इन समस्याओ के विद्यमान रहने हुए भी केनेडी राउण्ड को प्रशुल्क-दरो मे कमी एव व्यापार के विस्तार की दिशा म एक बडी सफलता के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। हमे यह नही भूलना चाहिए कि केवल प्रशुल्क-दरो मे कमी करना पर्याप्त नही है, व्यापार के विस्तार हेतु अन्य व्यवधानो को दूर करना भी आवश्यक है।

टोकियो राउण्ड (Tokyo Round)

बहुपक्षीय व्यापार समझौतो का एक महत्वपूर्ण राउण्ड जिसे टोकियो राउण्ड कहा जाता है, 1983 मे सम्पन्न हुआ। इन समझौतो मे भारत भी सम्मिलित हुआ है। इस प्रकार के समझौतो की शुरूआत 1973 मे ही हो चुकी थी जिसका उद्देश्य व्यापार से सम्बन्धित रुकावटो को दूर करना तथा विश्व व्यापार म वृद्धि करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय ढाँचे मे सुधार करना था।

इन समझौतो का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य अल्पविकसित देशो को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अतिरिक्त लाभो को सुलभ करना भी था। इससे अल्पविकसित देश अपनी विदेशी मुद्रा मे आवश्यक वृद्धि करने मे सफल हो सकते हैं। समझौतो के अन्तर्गत भाग लेने वाले सदस्यो ने तटकर रहित तरीका को कम करने पर अधिक बल दिया। उद्देश्य की प्राप्ति हेतु अनेक समझौते निश्चित किये गये।

यह निश्चित किया गया कि वार्षिक तटकर मे कमी की प्रक्रिया 1 जनवरी, 1987 तक जारी रहेगी। इसके अन्तर्गत औद्योगिक देश अपने आयातो पर लगाये गये तटकर को 30% तक कम कर देंगे।

जेनेवा मीटिंग (Geneva Meeting)

26 नवम्बर से 30 नवम्बर, 1982 को जेनेवा मे GATT के देशो के मन्त्रियो की एक बैठक हुई। इसमे बहुपक्षीय व्यापार समझौतो का कार्यान्वयन एव विश्व व्यापार को प्रभावित करने वाली समस्याओ पर विचार किया गया। यह निर्णय किया गया था कि 1983 तक अल्पविकसित देशो के हितार्थ GATT के विभिन्न नियमो मे सुधार किया जा सकेगा। सदस्य देशो ने व्यापार तथा विकास की समिति (Committee on Trade and Development) को यह कार्य सौंपा कि वह इस बात की समीक्षा करे कि विकसित देश GATT के प्रस्ताव IV की कहाँ तक पूर्ति करते हैं। गैट के 1984 के अधिवेशन म इस समिति के सुझावो पर विचार किया गया।[1] सम्मेलन मे सरक्षणवाद पर नियन्त्रण पाने के सम्बन्ध मे गतिरोध बना रहा। यह गतिरोध अमरीकी और यूरो-

---

1 Report on Currency and Finance, 1982 83, Vol. I, pp 305-307

पियन आर्थिक समुदाय के बीच खेती की पैदावार के निर्यात पर रियायत देने के सवाल को लेकर पैदा हुआ। यूरोपियन आर्थिक समुदाय के देशों के व्यापार मन्त्रियों की बैठक कोई ऐसा फार्मूला तैयार नहीं कर सकी जो अमरीका स्वीकार कर लेता। यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देश यह माँग कर रहे हैं कि उन्हें खेती की पैदावार के निर्यातों के मामले में जो रियायतें दी जा रही हैं, उन्हें एक साथ किया जाय। अमरीका का कहना है कि इन रियायतों से उसके अपने कृषि निर्यातों को क्षति पहुँच रही है। यूरोप और अमरीका, अमरीका और जापान तथा विकसित विकासशील देशों के बीच विवाद की वजह से इस सम्मेलन में गतिरोध बना रहा।

टैरिफ और व्यापार पर आम सहमति (गैट) के मन्त्रिस्तरीय सम्मेलन में एक अमरीकी अधिकारी ने बताया कि सम्मेलन निराशाजनक रहा। उधर विकासशील देशों ने अनौपचारिक रूप से विकासशील देशों में उद्योगों के लिए *'सुरक्षा' के नाम से जाना जाने वाले गाट सुरक्षा उपायों* को रद्द करने के अमरीकी प्रस्ताव की आलोचना की। जिन देशों को लक्ष्य बनाया गया है उनमें एक दक्षिण कोरिया है जिसका विदेश व्यापार के मामले में विकासशील देशों में तीसरा स्थान है। दक्षिण कोरिया के वाणिज्य मन्त्री ने स्पष्ट कहा है कि हम विकासशील देशों पर आर्थिक दायित्व डालने के किसी भी ऐसे प्रयास के खिलाफ हैं जो उनके आर्थिक विकास के चरण के अनुरूप नहीं है।

इस बीच अमरीका ने यूरोपीय आर्थिक समुदाय को धमकी दी है कि अगर उसने इस मन्त्रिस्तरीय बैठक में रियायतों में कमी करने के लिए कदम नहीं उठाये तो वह बदले की कार्यवाही के तौर पर अपने कृषि उत्पादों से विश्व की मण्डियों को भर देगा. तटकर एवं व्यापार के सामान्य समझौते के बारे में चली इस बैठक में अमरीका की इस धमकी का कोई प्रभाव नहीं हुआ। इस प्रकार तटकर सम्मेलन में अमरीका व यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशों में मतभेद बना रहा।

यूरेग्वे राउण्ड (Uraguay Round)[1]

यह प्रशुल्क अधिवेशन 1990 में यूरेग्वे में होगा। विभिन्न देशों में ऐसी धारणा है कि इस अधिवेशन के दौरान अनेक विकसित तथा विकासशील देशों में प्रचलित प्रशुल्क दरों में पर्याप्त कमी करने पर सहमति हो जायगी। अमरीकी सरकार को यह आशा है कि 1990 के अधिवेशन में *प्रशुल्क-इतर व्यवधानों (Non-Tariff Barriers) में भी पर्याप्त कमी हेतु समझौते हो सकेंगे।* दूसरी ओर, अनेक विकासशील देश यह चाहते हैं कि यूरेग्वे राउण्ड के दौरान कृषि वस्तुओं एवं *सेवाओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर (विकसित देशों द्वारा) लगायी गयी पाबन्दियों को कम करने* पर भी सहमति हो।

संक्षेप में, गैट (GATT) के अन्तर्गत आयोजित विभिन्न मन्त्रणाओं का प्रमुख उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अधिकाधिक उदार बनाना है और हाल के वर्षों में बड़े औद्योगिक देशों ने प्रशुल्क-दरों में काफी कटौती की भी है। जून 1988 में कनाडा, हांगकांग, दक्षिणी कोरिया, *न्यूजीलैण्ड, स्विट्ज़रलैण्ड, आस्ट्रेलिया व हंगरी ने प्रशुल्क कटौती पर एक फार्मूला तैयार किया है।* परन्तु ये देश चाहते हैं कि विकासशील देश भी अपनी प्रशुल्क-दरों में उतनी ही कमी करें जो अभी सम्भव नहीं हो पा रहा है।

भारत की यूरेग्वे राउण्ड में क्या रुचि है?—जहाँ तक भारत का प्रश्न है, अमरीका, यूरोपीय साझा बाजार तथा जापान को भारत जो वस्त्र, पोशाकें, मसाले आदि निर्यात करता है उन पर औसत प्रशुल्क की दरें क्रमश: 8·6 प्रतिशत, 2·3 प्रतिशत तथा 3·6 प्रतिशत तक घटा दी गयी हैं। परन्तु इन वस्तुओं का भारत के इन देशों को किये जाने वाले कुल निर्यातों में अनुपात केवल 7 प्रतिशत है और इस कारण प्रशुल्क दरों में और कटौती का भारत को नाममात्र का ही लाभ मिल पायेगा।

वस्तुत: भारत से आयात की जाने वाली अधिकांश वस्तुओं पर इन देशों ने प्रशुल्क-इतर बाधाएँ डाल रखी हैं। उदाहरण के तौर पर जापान को निर्यातित वस्तुओं में 35 प्रतिशत पर तथा अमरीका को निर्यातित वस्तुओं में 12 प्रतिशत पर ये बाधाएँ विद्यमान हैं जबकि यूरोपीय समुदाय

---

1 Ashok V Desai, "India and the Uraguay Round", *Economic & Political Weekly*, Special Number 1988.

ने अनेक वस्तुओ पर मात्रात्मक प्रतिबन्ध लगा रखे हैं। भारत की दिलचस्पी विशेष रूप से वस्त्रो तथा पोशाको के निर्यात पर रोपित बाधाओ मे कमी कराने में है।[1] भारत से खनिज लौह का पर्याप्त मात्रा म निर्यात किया जाता है पर यह भारत व जापान के बीच का मसला है और अभी तक उसमे रियायत प्राप्त करने का हमने प्रयत्न भी नही किया है। चाय के आयात पर यदि ये देश परोक्ष करो मे कमी कर दें तो भारत को लाभ हो सकता है।

जरूरत इस बात की है कि यूरेग्वे राउण्ड के समय की जाने वाली मन्त्रणाओं मे व्यापक आधार पर प्रशुल्क एव प्रशुल्क-इतर बाधाओ को कम करने के प्रयास किये जायें तभी भारत सहित अधिकाश विकासशील देशो को लाभ हो सकेगा।

विवादो का निपटारा
[SETTLEMENT OF DISPUTES]

प्रशुल्क-दरो एव व्यापार पर हुए सामान्य समझौते की सबसे बडी सफलता विवादो के निपटने मे निहित है। कोई देश वार्षिक बैठक के अवसर पर किसी अन्य (अनुबन्धित) देश के विरुद्ध शिकायत प्रस्तुत कर सकता है जो नियमो के विरुद्ध आचरण कर रहा हो। प्रथम दोनो पक्षो को स्वय ही वार्ता द्वारा अपने विवादो को निपटाने का परामर्श दिया जाता है। यदि फिर भी विवाद का हल न हो तो समस्या पर सावधानीपूर्वक विचार करके 'समझौते' की केन्द्रीय समिति कोई निर्णय या सिफारिश दे सकती है। जिस पक्ष द्वारा नियम-विरुद्ध आचरण किया गया है, उसे इस फैसले को स्वीकार करना होता है अन्यथा दूसरे पक्ष को यह छूट दी जाती है कि वह स्वय के द्वारा दोषी पक्ष को दी गयी समस्त रियायतें या इनमें से कुछ वापस ले ले। व्यवहार में अब तक सभी दोषी देशो ने केन्द्रीय समिति के निर्णयो को स्वीकार किया है। परन्तु समझौते की विफलता का एक बहुत बडा उदाहरण उस समय प्रस्तुत हुआ जब सयुक्त राज्य अमरीका ने नीदरलैण्डस से निरन्तर आयात किये जाने वाले डेरी पदार्थों पर विद्यमान प्रतिबन्धो को सशोधित करना अस्वीकार कर दिया। 1953 से सदस्य देशो का एक पैनल बनाया गया है जो विवादो को निपटाने हेतु एक अनौपचारिक न्यायालय की भाँति कार्य करता है तथा इन पर दिये जाने वाले निर्णयों का प्रारूप तैयार करता है।

इस समझौते के अन्तर्गत कुल मिलाकर अत्यधिक कठिन एव जटिल विवादो का निपटारा किया गया है। विवादो का निपटारा सामान्यतया अत्यन्त कठिन कार्य होता है। बहुधा तथ्यो की पूर्ण रूप से जाँच करना सम्भव नही होता। कभी-कभी 30 से 40 वर्ष पुराने विवाद तक प्रस्तुत किये जाते हैं, और इस लम्बी अवधि मे वास्तविक दोषी पक्ष कौनसा है, यह ज्ञात करना भी कठिन हो जाता है परन्तु प्रशुल्क-दरो व व्यापार पर हुए उक्त समझौते (GATT) के अन्तगत ऐसे विवादो पर भी उचित निर्णय दिये गये हैं। अनेक बार बेलजियम एव ब्रिटेन मे समझौते के निर्णयो को कार्यान्वित करने हेतु वहाँ की ससदो से स्वीकृति लेनी पडी है।[2]

समझौते का विकासशील देशों को लाभ
[BENEFITS ACCRUING TO UNDER DEVELOPED COUNTRIES FROM GATT]

अल्पविकसित देशो के समक्ष विदेशी व्यापार सम्बन्धी अनेक समस्याएँ हैं। इन समस्याओं मे मुख्य रूप से कृषि एव घरेलू उद्योगो को सरक्षण, प्राथमिक वस्तुओ के मूल्यों व निर्यातों में अस्थिरता, अधिकाश वस्तुओं के निर्यात मे कमी का खतरा, भुगतान-असन्तुलन आदि सम्मिलित की जा सकती हैं। ये समस्याएँ "समझौते" के अस्तित्व के लिए एक बडी चुनौती प्रस्तुत करती

---

1 वस्त्रों व पोशाको के विषय मे बडे देश अपनी इच्छानुसार आयात-नीति मे परिवर्तन करते रहते हैं और इससे बहुधा भारत को हानि हो जाती है। इसीलिए भारत का वस्त्रो व पोशाको के विषय म रियायतें प्राप्त करने का हमेशा आग्रह रहा है।

2 Raynond Vernon, "Organising for World Trade", *International Conciliation*, No 505 (Nov 1955), p 206

है, तथा "समझौते" की सफलता का मूल्यांकन काफी सीमा तक इसी आधार पर होगा कि यह चुनौती किस प्रकार स्वीकार की जाती है। "समझौते" में सम्मिलित होने वाले देश को अनेक लाभ होते हैं। इसे "सबसे प्रिय देश" का अधिकार प्राप्त हो जाता है। "समझौते" के आठवें अनुच्छेद के अन्तर्गत विकासशील देशों के लिए विशेष रियायतों का प्रावधान रखा गया है। इस अनुच्छेद के (अ) से (द) तक के खण्डों में विकासशील देशों को निम्न क्षेत्रों में विशेष रियायत दी जाती है : (अ) जीवन-स्तर में वृद्धि करने हेतु किसी उद्योग विशेष का विकास करने की दृष्टि से रियायतें देना, (ब) बाहरी वित्तीय स्थिति को बचाने हेतु मात्रात्मक आयात प्रतिबन्ध लगाने की छूट। यह विशेष छूट विकास कार्यों की कार्यान्विति हेतु पर्याप्त सुरक्षित कोष बनाने के लिए भी दी जा सकती है, (स) प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन की समाप्ति करने हेतु विकासशील देशों को मात्रात्मक प्रतिबन्ध अथवा ऐसे ही कदम उठाने का विशेष अधिकार दिया गया है, (द) आर्थिक विकास के लिए आवश्यक किसी उद्योग विशेष की स्थापना हेतु आवश्यक कदम उठाने के लिए भी अल्प-विकसित देशों को विशेष रियायतें दी गयी हैं।

अल्पविकसित देशों की कठिनाइयों को अनुभव करते हुए 1957 में "समझौते" के अन्तर्गत एक विशेषज्ञों का अध्ययन-दल नियुक्त किया गया। इस दल को विदेशी व्यापार की प्रवृत्तियों, विशेष रूप से विकसित देशों की तुलना में विकासशील देशों के अन्तर्राष्ट्रीय बाजार की तुलनात्मक प्रवृत्तियों पर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करने को कहा गया। इस दल को यह भी कहा गया कि यह प्राथमिक वस्तुओं के मूल्य में होने वाले उच्चावचनों एवं इन देशों में कृषि उत्पादन को दी जा रही प्राथमिकता पर भी अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करे। इन विशेषज्ञों ने 1958 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसे **हैबरलर रिपोर्ट (Haberler Report)** के नाम से जाना जाता है। इसी रिपोर्ट के आधार पर "समझौते" के अन्तर्गत विश्व के व्यापार का विस्तार करने हेतु कार्यक्रम बनाया गया। इसके लिए तीन समितियों की स्थापना की गयी। पहली समिति को और अधिक बहुमुखी प्रशुल्क मन्त्रणाएँ प्रारम्भ करने के प्रश्न पर विचार करना था। दूसरी समिति को कृषि-वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बद्ध समस्याओं पर विचार करना था। तीसरी समिति को अल्पविकसित देशों के आयात में वृद्धि करने के प्रश्न पर विचार करके उपयुक्त उपाय सुझाने को कहा गया था।

फरवरी 1965 में जब अनुबन्धित देशों ने अपने आवेदन पुनः प्रस्तुत किये तो व्यापार एवं आर्थिक विकास से सम्बद्ध एक और समिति की नियुक्ति की गयी। इस समिति का उत्तरदायित्व पहले वाली समितियों द्वारा दिये गये प्रतिवेदनों की कार्यान्विति की देखरेख करना था।

परन्तु अल्पविकसित देशों के सम्बन्ध में "समझौते" के अन्तर्गत बहुत ही धीमी प्रगति हुई है। आज भी "समझौते" में वर्जित व्यापार प्रतिबन्ध विद्यमान हैं। विकसित देश न तो प्रशुल्क-दरों में कटौती हेतु कोई स्पष्ट नदम निर्धारित करने को तैयार हैं और न ही विकासशील देशों से सम्बद्ध परेनू आर्थिक समस्या के विषय में वे कोई स्थायी समाधान करना चाहते हैं। "समझौते" की व्यापार एवं विकास समिति ने अल्पविकसित देशों की समस्याओं को अनुभव करते हुए और अधिक प्रभावपूर्ण प्रयास करने की दृष्टि से अनेक कार्य प्रारम्भ किये हैं। इनमें से एक महत्वपूर्ण कार्य तो विभिन्न देशों की विकास सम्बन्धी योजनाओं की विस्तृत समीक्षा करना है। इन समीक्षाओं का उद्देश्य इन देशों की विकास सम्बन्धी योजनाओं का विदेशी व्यापार पर होने वाला प्रभाव देखना है तथा यह अनुमान करना है कि प्रत्येक देश के विकास की प्रक्रिया में निर्यातों की क्या भूमिका हो सकती है। इसके माध्यम से योजनाओं में आवश्यक संशोधन करने, विदेशी सहायता एवं निर्यात-नीति में समन्वय स्थापित करने तथा अल्पविकसित देशों को एक-दूसरे की आयात सम्बन्धी आवश्यकताओं तथा निर्यात के लक्ष्यों से परिचित कराने आदि में सहायता मिलती है। ये समीक्षाएँ विश्व बैंक तथा विदेशी सहायता में संलग्न अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के परामर्श द्वारा तैयार की जाती हैं ताकि विदेशी सहायता एवं व्यापार में समन्वय रखा जा सके।

जनवरी 1980 से लेकर अब तक औद्योगिक देशों ने अनेक निर्मित पदार्थों के आयात पर टैरिफ में छूट देना स्वीकार किया है। ये छूटें लागू होने पर टैरिफ दरों में औसतन 25% से 30% की कमी होगी। अनुमान लगाया गया है कि यूरोपीय समुदाय के देशों तथा आठ अन्य औद्योगिक देशों द्वारा दी गयी छूटों के परिणामस्वरूप टैरिफ दरों में औसतन 34% की कमी होगी। टैरिफ की औसत दर 7% से घटकर 4·7% हो जायेगी।

टोकियो राउण्ड के अन्तर्गत व्यापार सम्बन्धी उदारता के साथ साथ गैर-टैरिफ प्रतिबन्धों को नियमित करने के उपाय भी सम्मिलित किये गये। उनका सम्बन्ध सीमा शुल्क के लिए मूल्यांकन (Customs Valuation) सरकार द्वारा की गयी खरीददारी (Government Procurement), आयात लाइसेन्सिंग प्रणाली (Import Licensing Procedures) निर्यात अनुदानों तथा प्रतिकरों (Export Subsidies and Countervailing Duties) तथा व्यापार पर तकनीकी प्रतिबन्धो (Technical Barriers) आदि से होगा। विकासशील देशो को दी जाने वाली टैरिफ तथा गैर-टैरिफ सुविधाओ को अब विश्व की व्यापार व्यवस्था का एक स्थायी एवं वैधानिक अंग मान लिया गया है। इसके परिणामस्वरूप अब विकासशील देशो को रियायतें प्राप्त होने पर उसी प्रकार की जवाबी रियायतें देना आवश्यक नही है। कुल मिलाकर, यह कहा जा सकता है कि अद्ध विकसित देश टोकियो राउण्ड के अन्तर्गत हुए समझौतो से अधिक सन्तुष्ट नही हैं। प्राय यह देखा गया है कि GATT के अन्तर्गत की जाने वाली वार्ताओ मे अमरीका, जापान तथा यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC) के देशो को ही अधिक महत्व दिया जाता है।

समझौता एवं भारत
[GATT AND INDIA]

प्रारम्भ मे ही भारत समझौते" का सक्रिय भागीदार रहा है। भारतीय प्रतिनिधियो ने न केवल समझौते के अन्तर्गत आयोजित प्रशुल्क मन्त्रणाओ मे भाग लिया है, अपितु विभिन्न समितियो की बैठको मे विकासशील देशो की समस्याओ एवं दृष्टिकोण को भी स्पष्ट रूप मे प्रस्तुत किया है। परन्तु भारत जैसा विकासशील देश अपनी प्रतियोगात्मक शक्ति मे वृद्धि करके ही 'समझौते" से पूरा लाभ उठा सकता है चाहे यह शक्ति आन्तरिक आर्थिक अनुशासन से प्राप्त की जाय अथवा विदेशो मे हमारी विक्रय-कला के श्रेष्ठतम प्रदर्शन द्वारा। यह भी आवश्यक है कि देश मे बढती हुई उत्पादन लागतो एवं कीमतो पर अंकुश लगाया जाय।

जुलाई 1980 म भारत सरकार द्वारा चार गैर-टैरिफ उपायो से सम्बन्धित समझौते स्वीकार करने की घोषणा की गयी थी। इनका सम्बन्ध निम्न उपायो से है अनुदान तथा प्रतिकारी उपाय, राशिपातन विरोधी उपाय सीमा शुल्को का मूल्यांकन तथा आयात लाइसेन्सिंग प्रणाली से सम्बन्धित उपाय।

'समझौते' से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे लाभ[1]

प्रो जगदीश भगवती ने हाल के अपने लेखो मे यह स्पष्ट किया है कि "गैट" के फलस्वरूप संयुक्त राज्य अमरीका ने अपनी औसत प्रशुल्क-दरो को 1947 की तुलना मे 1/12 तक कम कर दिया है। वे यह भी बतलाते हैं कि गैट के कारण आमतौर पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे उदारता का सचार हुआ है तथा अधिकाश देशो ने प्रशुल्क-दरो म भारी कटौती की है। इस प्रकार इन मन्त्रणाओ का लाभ 'समझौते" से सम्बद्ध सभी देशो को हुआ है।

परन्तु भगवती यह भी तर्क देते हैं कि 'गैट' के अन्तर्गत व्यापार को इष्टतम सीमा तक उदार बनाना सम्भव नही हो पाया है क्योकि जहाँ एक ओर विकसित देशो ने प्रशुल्क-दरो मे कटौती करके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे उदारता लाने का मार्ग प्रशस्त किया है वहीं उन देशो सहित अनेक देशो ने सरक्षण की अन्य विधियो का सहारा लेकर उस सफलता को काफी धूमिल कर दिया है। एक ओर विकसित देशो मे कृषि-उत्पादो के प्रवेश मे व्यवधान हैं[2] तो दूसरी ओर विकासशील देशो ने प्रशुल्क-दरो तथा आयात प्रतिबन्धो के माध्यम से विनिर्मित वस्तुओं के आयात को सीमित कर रखा है।

भगवती 'गैट" की सीमित सफलता के लिए सरक्षणवाद की इसी प्रवृत्ति को उत्तरदायी

---

1 Bhagwati Jagdish, "The Rise of Protectionism" in *Economic Impact*, February, 1989 एव 'GATT Don't Sell It Short" in *Economic Times*, August 7, 1989

2 अध्याय 21 भी देखें।

मानते हैं। निम्न तालिका स्पष्ट करती है कि 1980-85 के बीच प्रतिरोधी प्रशुल्क-दरों तथा राशिपातन-विरोधी उपायों का विकसित देशों ने कितनी बार प्रयोग किया था :

देश देश-समूह	प्रतिरोधी प्रशुल्क-दरें (संख्या)	राशिपातन विरोधी प्रावधान (संख्या)
अमरीका	252	280
कनाडा	12	219
आस्ट्रेलिया	18	393
यूरोपीय आर्थिक समुदाय	7	254

प्राय राशिपातन-विरोधी प्रावधानों तथा प्रशुल्क-दरों का प्रयोग प्रतिद्वन्दी देशों की सरकारों व वहाँ की जनता पर दबाव डालने हेतु किया जाता है, परन्तु कुछ समय तक यदि ये उपाय जारी रखे जायें तो इससे संरक्षणवाद पनपता है। इसी प्रवृत्ति के कारण गैट के वांछित लाभ नहीं मिल पाते।

इसके उपरान्त भी जगदीश भगवती के मतानुसार "गैट" की मन्त्रणाओं के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उदारता की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई है जिसके फलस्वरूप विश्व के सभी देशों की आय की अपेक्षा विश्व के व्यापार की वृद्धि-दर 1953 से लेकर 1983 के मध्य अनवरत रूप से अधिक रही है।

समझौते के दोष (Defects of GATT Arrangements)

प्रशुल्क-दरों एव व्यापार पर हुए सामान्य समझौते के उद्देश्य काफी अच्छे होने पर भी इसमें ऐसे अनेक दोष हैं जिनके कारण निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करना कठिन हो जाता है। ये दोष निम्न प्रकार हैं :

(1) यह ठीक है कि समझौते द्वारा एक ऐसा फोरम तैयार हो गया जहाँ परस्परता के आधार पर बहुपक्षीय मन्त्रणाएँ होती हैं, तथा इससे एक ऐसा तन्त्र स्थापित हो गया है जहाँ परस्पर विचार-विमर्श द्वारा विवादों का निपटारा हो सकता है। इस पर भी समझौता मात्र "अच्छे आचरण हेतु एक संहिता" बनकर रह गया है। कैनेडी राउण्ड को समझौते को अभूतपूर्व सफलता माना जाता है, परन्तु यह भी स्थिति में पर्याप्त सुधार नहीं ला सकता है। वस्तुतः "बचाव की धाराओं" (Escape Clauses) की आड़ में संरक्षण की नीति अपनायी जाती रही है तथा "समझौते की केन्द्रीय समिति" के पास इन्हें रोकने का कोई उपाय नहीं है।

(2) "समझौते" में सम्बद्ध देशों की स्थिति (आर्थिक व राजनीतिक) में काफी अन्तर होने से कोई भी सामान्य नियम नहीं बनाये जा सकते। दूसरे शब्दों में, आर्थिक उद्देश्य राजनीतिक उद्देश्यों से उलझकर रह जाते हैं।

(3) भेदभावपूर्ण व्यवहार न करने के सिद्धान्त एव परस्परता के सिद्धान्त को मिलाने पर पूर्वाग्रहों एव जटिल समस्याओं की उत्पत्ति होती है। वस्तुत इनमें से एक सिद्धान्त को एक बार में कार्यान्वित करना अधिक उपयुक्त रहता है। परस्परता (reciprocity) का यह आशय है कि कम से कम दो समान रूप से शक्तिशाली देशों के बीच मन्त्रणा हो। इसके विपरीत, भेदभाव न करने (non-discriminatory) की नीति के लिए यह आवश्यक है कि उस देश की प्रतियोगितात्मक स्थिति विश्व के बाजारों में काफी सुदृढ हो और साथ ही घरेलू बाजार पूर्णत सुरक्षित हो। भेदभाव न करने की नीति के लिए एक देश को परस्परता की अवहेलना करनी पड़ती है।

(4) अधिकांशतया मन्त्रणाएँ वस्तुओं के आधार पर की जाती हैं और इसलिए दो देशों के बीच ही व्यापार में वृद्धि करने पर बल दिया जाता है। इसमें अन्य देशों के प्रति उपेक्षा की भावना भी व्याप्त हो सकती है। संक्षेप में, बहुदेशीय मन्त्रणाएँ अब तक कम हो पायी हैं। बढ़ते हुए क्षेत्रवाद ने भी गैट की सफलता को सीमित कर दिया है।

(5) सिद्धान्त समझौते में इस बात को स्वीकार किया जाता है कि बहुपक्षीय सौदेबाजी (Multilateral Bargaining) द्विपक्षीय सौदेबाजी से श्रेष्ठ है। परन्तु परस्परता के सिद्धान्त के

अनुसार सौदेबाजी में केवल बड़े देशों का वर्चस्व रहता है। यह भी परस्परता तथा भेदभाव न करने के सिद्धान्तों के बीच समन्वय करने की ही समस्या है।

(6) 'समझौता" विश्व के सभी देशों या विश्व के एक बहुत बड़े भाग की प्रतिनिधि संस्था नहीं है। इसमें अनेक विकासशील (एवं कुछ विकसित देश भी) सम्मिलित नहीं हुए हैं। बहुधा यह भी आरोप लगाया जाता है कि समझौता तो धनी देशों का एक क्लब मात्र है। जहाँ अमरीका व यूरोपियन देशों का प्रभाव व्याप्त है तथा विकासशील देश तो केवल दर्शक के रूप में रहते हैं। दीर्घकालीन अवधि तक जापान को समझौते" में भागीदार नहीं बनाया गया और सदस्य बन जाने के बाद भी समझौते के चार्टर में ऐसी विशेष धाराएँ सम्मिलित कर दी गयी हैं जिनके कारण जापान को आज भी 'सबसे प्रिय देश" वाली सुविधा प्राप्त नहीं हो सकी है। वस्तुतः सामान्य समझौते (GATT) को धनी देशों का एक क्लब" कहा जा सकता है।

इन कमियों के बावजूद प्रो जगदीश भगवती का ऐसा मत है कि समझौता (गैट) विश्व व्यापार को उदार बनाने में सहायक हो सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि इसमें कृषि वस्तुओं एवं सेवाओं के विषय में प्रचलित प्रशुल्क पर भी मन्त्रणा की जाये और उसके लिए बहुदेशीय चर्चाओं को अधिक पारस्परिक विश्वास के साथ किये जाने की जरूरत होगी। जापान पश्चिमी-यूरोपीय देशों तथा संयुक्त राज्य अमरीका ने अपनी-अपनी प्रशुल्क-दरों में काफी कटौती कर ली है जबकि आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड अब कम करने जा रहे हैं। यह एक शुभ संकेत ही है।

उक्त कमियों के कारण ही अल्पविकसित देश प्रशुल्क-दरों एवं व्यापार पर हुए समझौते" का लाभ उठाने एवं अपनी विदेशी व्यापार सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने में असमर्थ रहे हैं। इसी कारण संयुक्त राष्ट्र संघ के व्यापार एवं विकास अधिवेशन (United Nations Conference on Trade and Development) को जन्म दिया गया है।

अंक्टाड (UNCTAD) का विस्तृत विवरण अगले अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

प्रश्न एवं उनके संकेत

1 व्यापार एवं प्रशुल्क पर हुए सामान्य समझौते के प्रमुख उद्देश्य कौन कौन से हैं ? इन उद्देश्यों की पूर्ति कहाँ तक हो चुकी है ? आप वर्तमान स्थिति को सुधारने हेतु कौन कौन से सुझाव देंगे ?

What are the main objectives of the GATT ? To what extent they have been accomplished ? What practical suggestions can you make for improving the present situation ?

2 व्यापार एवं प्रशुल्क पर हुए सामान्य समझौते (GATT) का विश्व के व्यापार को सुगम बनाने एवं इनके विस्तार में क्या योगदान रहा है विस्तार से समझाइए।

State briefly the contribution of GATT in facilitating and expanding the world trade

3 विकासशील देशों की समस्याओं को ध्यान में रखते हुए आप व्यापार एवं प्रशुल्क पर हुए सामान्य समझौते में क्या परिवर्तन करना चाहेंगे ?

What changes would you recommend in the GATT bearing in mind the problems of developing countries ?

4 किन परिस्थितियों में आप विदेशी व्यापार एवं विनिमय के क्षेत्रों में विभेदात्मक नीति को उपयुक्त मानते हैं ? इस सन्दर्भ में व्यापार एवं प्रशुल्क पर हुए सामान्य समझौते (GATT) में क्या प्रावधान हैं ?

Under what circumstances is it advisable to resort to trade and exchange discriminations ? Explain the provisions of the GATT in this regard.

5 आप केनेडी राउण्ड समझौते से क्या समझते हैं ? यह समझौता व्यापार एवं प्रशुल्क पर हुए सामान्य समझौते (GATT) में निहित उद्देश्यों की पूर्ति में कहाँ तक सहायक है ? समझाइए।

What do you understand by Kennedy Round Agreement ? How far does it subserve the purpose of GATT ? Explain carefully

6. व्यापार एवं प्रशुल्क पर हुए सामान्य समझौते पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए तथा बताइए कि इस समझौते ने विश्व के कुल व्यापार की वृद्धि में कहाँ तक योग दिया है ?
Give a critical account of GATT and explain how it has resulted in the expansion of total world trade

7. व्यापार एवं प्रशुल्क पर हुए सामान्य समझौते के आधारभूत सिद्धान्त क्या हैं ? इन सिद्धान्तों को अल्पविकसित देशों के नियोजित आर्थिक विकास ने कहाँ तक प्रभावित किया है ?
What are the basic principles of GATT ? How have they been affected by the planned economic development of under-developed countries ?

8 व्यापार एवं प्रशुल्क पर हुए सामान्य समझौते (GATT) पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
Write a short note on 'GATT'.

परिशिष्ट

सुपर तथा स्पेशल 301

[SUPER AND SPECIAL 301]

प्रस्तावना—गत वर्ष के पूर्वार्द्ध में अमरीका की इस घोषणा की भारत में काफी अधिक प्रतिक्रिया हुई थी कि ब्राजील, जापान तथा भारत द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार एवं उदार बनाने की प्रक्रिया में व्यवधान डाला जा रहा था और इसलिए अमरीका अपने *1988 के ओमनी बस ट्रेड एण्ड कम्पीटीटिवनेस एक्ट* की धारा 301 के अन्तर्गत इन देशों के विरुद्ध आवश्यक कदम उठायेगा। अनेक भारतीय अर्थशास्त्रियों एवं राजनेताओं ने अमरीकी सरकार की इस घोषणा को भारत के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप बतलाया जबकि कुछ अन्य ने इसे अमरीका की धमकी की संज्ञा दी। *इस परिशिष्ट में हम यह बताने का प्रयास करेंगे कि* **सुपर 301** *के प्रमुख उद्देश्य क्या* हैं तथा अमरीका द्वारा उक्त तीन देशों के विरुद्ध इसके प्रयोग का औचित्य क्या है क्योंकि ये देश अनुचित व्यापार पद्धति अपनाते हैं। इसी प्रकार भारत सहित आठ देशों के विरुद्ध **स्पेशल 301** का प्रयोग करने की भी गत वर्ष चेतावनी दी गयी। स्पेशल 301 के अन्तर्गत अमरीका का व्यापार प्रतिनिधि ऐसे देशों का पता करता है जो अपनी भौगोलिक सीमा में अमरीकी बौद्धिक सम्पत्ति, यानी पेटेण्ट, कॉपीराइट, ट्रेडमार्क आदि को सुरक्षा प्रदान नहीं कर पाते। अमरीका के इस कदम के विरुद्ध भी भारत में काफी प्रतिक्रिया हुई है।

सुपर 301

जैसा कि ऊपर बतलाया गया था, सुपर *301 अमरीकी व्यापार अधिनियम (1988)* की एक धारा है। इसके अनुसार सरकार के व्यापार प्रतिनिधि को एक दायित्व सौंपा जाता है कि वे ऐसे देशों की पहचान करें जिन्होंने अपनी आयात निर्यात नीतियों के अन्तर्गत ऐसे प्रतिबन्ध रोपित किये हुए हैं जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, विशेष रूप से अमरीकी हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। वह प्रतिनिधि सम्बद्ध सरकार से अनुरोध करता है कि वह दो-तीन वर्ष के भीतर इन व्यवधानों को समाप्त कर दे। व्यापार प्रतिनिधि को यह दायित्व सौंपा गया है कि वह मई तक अपना प्रतिवेदन अमरीकी राष्ट्रपति को प्रस्तुत कर दे तथा उन कारणों का इस प्रतिवेदन में उल्लेख करे जिनके कारण निर्दिष्ट देश पर सुपर 301 लागू किये जाने की स्थिति बनती है।

स्पेशल 301

अमरीकी व्यापार कानून की विशेष धारा 301 के अन्तर्गत सरकार के व्यापार प्रतिनिधि को ऐसे देशों के विषय में अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति को प्रस्तुत करना होता है जिनकी आन्तरिक नीतियों के कारण ऐसे देशों में अमरीकी निवेशकर्ताओं के हित सुरक्षित नहीं हैं।

दोनों ही धाराओं के अन्तर्गत यह व्यवस्था है कि जो देश आयात-निर्यात नीतियों में संरक्षणवाद को अधिक महत्व देता हो उसके विषय में प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जाय। 1989 के पूर्वार्द्ध में ऐसे 34 देशों के बारे में प्रतिवेदन प्रस्तुत किया गया, जिनमें से तीन—भारत, ब्राजील तथा जापान—पर यह आरोप लगाया गया कि यहां की सरकारों ने विदेशी व्यापार पर बहुत अधिक अंकुश लगाया हुआ है।

जहां सुपर 301 का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर विद्यमान प्रतिबन्धों को कम करके इसे उदार बनाना है, स्पेशल 301 के माध्यम से सम्बद्ध देश पर इस बात के लिए दबाव डाला जाता है कि वह वहां विद्यमान अमरीकी पूंजी को सुरक्षा प्रदान करे।

अमरीकी सरकार के व्यापार प्रतिनिधि एवं प्रशासन ने बार-बार यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि इन प्रावधानों का उद्देश्य सम्बद्ध देशों को दण्डित करना नहीं है, अपितु इन पर नैतिक दबाव डालते हुए इनकी नीतियों में वांछित परिवर्तन करते हुए व्यापार को उदार बनाना है। सरकार के प्रवक्ता यह स्वीकार करते हैं कि भुगतान-सन्तुलन की विषमता को देखते हुए अल्पकाल के लिए किसी सीमा तक संरक्षण की आवश्यकता हो सकती है; परन्तु अमरीका इस बात को सर्वथा अनुचित मानता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर कोई भी देश दीर्घकाल तक प्रतिबन्ध लगाये रखे।

सुपर 301 की आवश्यकता क्यों हुई ?

गत कुछ वर्षों से अमरीका के उद्योगपति एवं व्यापारी यह अनुभव कर रहे थे कि अमरीका की "उदार" व्यापार नीतियों का लाभ अन्य देशों के व्यापारी प्राप्त कर रहे थे तथा उन्हें हानि हो रही थी। अमरीकी कांग्रेस तथा सीनेट में जन-प्रतिनिधि सरकार पर लगातार इस बात के लिए दबाव डाल रहे थे कि अमरीका को उन देशों की सरकारों से दो टूक बात करनी चाहिए जिन्होंने अमरीकी वस्तुओं के विरुद्ध संरक्षणवाद की नीति का आश्रय लिया हुआ था परन्तु अमरीका की उदार नीति के कारण जिन देशों से काफी मात्रा में वस्तुएँ अमरीका के बाजारों में वहाँ निर्मित वस्तुओं से निर्बाध प्रतिस्पर्द्धा कर रही थी। कांग्रेस में जन-प्रतिनिधियों ने अनेक बार यह पुरजोर तर्क दिया कि उदारता पारस्परिक (द्विपक्षीय) होनी चाहिए, न कि एकपक्षीय।

1955 तथा 1987 के मध्य विश्व के कुल निर्यातों में अमरीकी निर्यातों का अनुपात जहाँ 17 प्रतिशत से घटकर 2 2 प्रतिशत रह गया, वहीं आयातों में यह अनुपात 11 7 प्रतिशत से बढ़कर 16·5 प्रतिशत हो गया। सरकार की उदार नीतियों के फलस्वरूप अमरीका का व्यापार-घाटा 1980 व 1987 के मध्य 3,100 करोड़ डालर से बढ़कर 17 000 करोड़ डालर हो गया। विशेष रूप से जापान, द. कोरिया, ताइवान, पश्चिमी जर्मनी व मैक्सिको के साथ इस व्यापार-घाटे में निरन्तर वृद्धि हो रही थी।[1] और तो और, भारत के साथ भी अमरीका का व्यापार-सन्तुलन जो 1982 तक अमरीका के पक्ष में था, धीरे-धीरे घाटे के रूप में बदलता गया तथा 1987 में यह घाटा 70 करोड़ डालर तक पहुँच गया।

अमरीकी अर्थशास्त्रियों ने अनुमान लगाया कि प्रति 100 करोड़ व्यापार-घाटे के फलस्वरूप यहाँ 25,000 व्यक्तियों को रोजगार से हाथ धोना पड़ता है। 1987 में इसी आधार पर 1986 की तुलना में 3·75 लाख व्यक्तियों का रोजगार छिन गया। इस प्रकार बढ़ता हुआ व्यापार-घाटा न केवल अमरीका के स्वर्ण-कोषों पर दबाव डाल रहा था अपितु इससे देश में बेरोजगारी भी बढ़ रही थी जिसके गम्भीर गुणक-प्रभावों की आशंका अनुभव की जा रही थी।

भारत तथा सुपर व स्पेशल 301

जैसा कि ऊपर बतलाया गया था, 1982 के बाद से अमरीका को भारत के साथ व्यापार करने में उत्तरोत्तर घाटा हो रहा है। अमरीका के व्यापार प्रतिनिधि ने मई 1989 के अपने प्रतिवेदन में सरकार को बतलाया कि अन्य विकासशील देशों की तुलना में भारत ने काफी अधिक संरक्षणवाद की नीति अपनायी हुई है। इसके प्रमाणस्वरूप उक्त प्रतिवेदन में अनेक तथ्य प्रस्तुत किये गये .

(i) भारत में प्रशुल्क-दरें (आयातों पर) बहुत ऊँची हैं। 59 प्रतिशत वस्तुओं पर प्रशुल्क का अनुपात 120 से 140 प्रतिशत है।

(ii) आयात लाइसेंसिंग की व्यवस्था जटिल तथा भेदभावपूर्ण होने से आयातों में भारी व्यवधान होता है।

(iii) अधिकांश उपभोग वस्तुओं का आयात भारत में निषिद्ध है।

(iv) अनेक—विशेष रूप से उपभोग व पूँजीगत वस्तुओं के आयात—क्षेत्रों में कोटा प्रणाली लागू की हुई है।

---

1 1987 का व्यापार-घाटा (करोड़ डालर) : जापान 5960; ताइवान 1930; प. जर्मनी 1620 तथा मैक्सिको 520।

(v) सरकारी उपक्रमों द्वारा आयात हेतु जो व्यवस्था अपनाई हुई है, वह भी काफी जटिल एवं भेदभावपूर्ण है।

(vi) जिन क्षेत्रों में भारत को तुलनात्मक लाभ प्राप्त है उनमें भी निर्यात अनुदान बहुधा ऊँची दरों पर दिये जा रहे हैं। इनके आधार पर व्यापार प्रतिनिधि ने भारत को अनुचित व्यापार-पद्धति अपनाने वाला देश बता दिया।

अमरीका के व्यापार प्रतिनिधि ने उपर्युक्त आधार पर भारत को उन तीन देशों की श्रेणी में रखा जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अत्यधिक संरक्षणवाद अपनाया हुआ है तथा जिनसे अपनी व्यापार-नीतियों को परिवर्तित करने का अनुरोध किया जाना है। वस्तुतः अमरीका भारत को एक अल्पविकसित देश नहीं मानता।

व्यापार प्रतिनिधि ने यह भी प्रतिवेदन किया है कि भारत में दिसम्बर 1987 के अन्त में अमरीकी निवेश की कुल राशि 46 6 करोड़ डालर थी। परन्तु भारत सरकार की नीतियाँ इस निवेश को पूर्ण सुरक्षा प्रदान नहीं कर पा रही थीं। अमरीकी पेटेण्ट कॉपीराइट ट्रेडमार्क आदि श्रेणी की बौद्धिक सम्पत्ति[1] *की सुरक्षा हेतु अमरीका ने भारत को उन आठ देशों की श्रेणी में शामिल किया जिनके विरुद्ध स्पेशल 301 लागू किया जाना है।* इसके लिए भारत सरकार की नीतियों पर अमरीकी व्यापार प्रतिनिधि की प्राथमिकता के आधार पर 'दृष्टि" रहेगी।

परन्तु भारतीय अर्थशास्त्रियों का ऐसा मानना है कि अमरीका के कुल व्यापार-घाटे में भारत के साथ उसका घाटा नगण्य है और इसलिए भारत पर सुपर 301 लागू करना न्यायोचित नहीं है। हाँ, अमरीका से आयात तथा अमरीका को निर्यात भारत के लिए बहुत महत्व रखते हैं। इसी कारण भारतीय पर्यवेक्षक अमरीका की इस कारवाही को राजनीति से प्रेरित मानते हैं क्योंकि इससे भारत को हानि तो हो सकती है परन्तु अमरीका को कोई विशेष लाभ नहीं होगा।

अमरीकी व्यापार प्रतिनिधि के इस तर्क का कोई औचित्य नहीं है कि भारत में प्रति व्यक्ति आय का स्तर घोषित स्तर से अधिक है और इसलिए भारत एक अल्पविकसित देश नहीं रह गया है जिसके लिए उसे संरक्षणवाद का आश्रय लेने तथा रियायती दर पर अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से ऋण लेने की अनुमति दी जा सके।

जैसा कि ऊपर बतलाया गया है अमरीका को भारत से व्यापार-विषयक शिकायतें इतनी अधिक नहीं हैं जितनी भारतीय विदेशनीति विषयक हैं। हाल में भारत द्वारा 'अग्नि' का परीक्षण किया गया, उसके विरुद्ध अमरीका में तीव्र प्रतिक्रिया हुई है। भारत के सोवियत रूस से बढ़ते हुए सम्बन्ध तथा दक्षिण एशिया में भारत के बढ़ते हुए प्रभाव से भी अमरीका प्रसन्न नहीं है। इसी कारण भारतीय पर्यवेक्षकों का यह तर्क किसी सीमा तक ठीक प्रतीत होता है कि सुपर व स्पेशल 301 का भारत के विरुद्ध प्रयोग राजनीति से प्रेरित है।[2]

---

1 इनमें अमरीकी फिल्म, विज्ञान तथा टेक्नोलॉजी समझौते भी शामिल हैं।
2 S Iyyampellai "Super and Special 301 : Trade Regulation or *Distortion ?*" *The Economic Times*, Oct 10, 1989.

19

संयुक्त राष्ट्र संघ का व्यापार एवं आर्थिक विकास पर अधिवेशन (अंक्टाड)

[THE UNITED NATIONS CONFERENCE ON TRADE AND DEVELOPMENT—UNCTAD]

अंक्टाड अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ के व्यापार एवं आर्थिक विकास पर हुए अधिवेशन से पूर्व विदेशी व्यापार तथा सहायता सम्बन्धी समस्याओं पर प्रशुल्क-दरों एवं व्यापार पर हुए सामान्य समझौते (GATT) के अन्तर्गत विचार किया जाता था। जैसा कि पिछले अध्याय में बताया गया था, उक्त "सामान्य समझौते" का अल्पविकसित देशों को आशानुरूप लाभ नहीं मिल सका था। इसी कारण अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग हेतु एक नवीन कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया जिसका प्रयोजन अल्पविकसित देशों के व्यापार के विद्यमान अन्तर (trade gap) में कमी करना था। इसी कार्यक्रम को अंक्टाड की संज्ञा दी गयी। अंक्टाड की स्थापना संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के एक स्थायी अंग के रूप में 30 दिसम्बर, 1964 को हुई। इस संस्था की स्थापना एवं कार्य-प्रणाली को समझने के लिए यह आवश्यक है कि इसकी पृष्ठभूमि की समीक्षा कर ली जाय।

सातवें दशक (1960's) की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह मानी जा सकती है कि इस अवधि के प्रारम्भ से ही विकसित देशों को एशिया, अफ्रीका एवं लेटिन अमरीका के अल्पविकसित देशों की समस्याओं की अनुभूति होने लगी थी तथा विकसित देश यह स्पष्ट रूप से समझने लगे थे कि धनी एवं निर्धन देशों के बीच अन्तर को कम करने हेतु विश्वव्यापी प्रयास होने चाहिए। उन्होंने यह भी समझ लिया था कि इस अन्तर में कमी करके ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक तनाव को दूर किया जा सकता है। दिसम्बर 1961 में जब संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा का 15वाँ सत्र प्रारम्भ हुआ तो यह निर्णय किया गया कि सातवें दशक को "संयुक्त राष्ट्र संघ का विकास दशक" के रूप में माना जाय। इसी सत्र में अल्पविकसित देशों के लिए दशक के अन्त तक आर्थिक विकास की दर 5% कर देने का लक्ष्य निर्धारित किया गया तथा सभी सदस्य देशों से यह अनुरोध किया गया कि वे इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु अल्पविकसित देशों की सहायता करें।

यह उल्लेखनीय है कि द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अनेक अल्पविकसित देशों का स्वतन्त्र इकाइयों के रूप में उदय हो चुका था तथा यूरोप के उपनिवेशवाद से उन्हें मुक्ति मिल चुकी थी। जब तक ये देश राजनीतिक दृष्टि से परतन्त्र रहे शासक-यूरोपीय देशों ने इन्हें केवल कच्चा माल निर्यात करने का अवसर दिया तथा इन (अल्पविकसित) देशों में औद्योगिक (तैयार) वस्तुओं की पूर्ति करते रहे। स्वतन्त्र होने के तुरन्त पश्चात् इन देशों ने अपनी औद्योगिक शक्ति का विस्तार करने का प्रयास किया तथा संरक्षात्मक विधियों से उद्योगों के विकास की योजनाएँ कार्यान्वित करना प्रारम्भ कर दिया। राउल प्रेबिश तथा नर्क्से आदि अर्थशास्त्रियों ने इस संरक्षण-नीति का पूर्ण समर्थन किया। इन अर्थशास्त्रियों ने संरक्षण के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किये -

(1) विश्व के बाजारों में प्राथमिक वस्तुओं की माँग-आय लोच इकाई से कम है ($e_y < 1$) और इसलिए अल्पविकसित देशों को एक या दो प्राथमिक वस्तुओं (जैसा कि रिकार्डो या हैक्सर-ओहलिन के सिद्धान्त में निहित है) का विशिष्टीकरण करने की अपेक्षा विविध प्रकार के उद्योगों का विकास करना चाहिए, तथा

(ii) पिछले अनेक वर्षों से प्राथमिक वस्तुओं एवं औद्योगिक वस्तुओं की व्यापार-शर्तें प्रतिकूल होती रहती हैं तथा प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादकों की शक्ति क्षीण होती जा रही है। इसलिए एक ऐसी व्यापार व्यवस्था जिसमें प्राथमिक वस्तुओं के निर्यात एवं निर्मित औद्योगिक वस्तुओं के आयात का प्रावधान हो, प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादक देशों के लिए लाभप्रद कदापि नहीं हो सकती। इन्हीं तर्कों के आधार पर पिछले पच्चीस वर्षों में अल्पविकसित देशों ने अपनी औद्योगीकरण की नीतियाँ निर्धारित की तथा उनको कार्यान्वित किया। परन्तु पिछला अनुभव इस बात की पुष्टि करता है कि इस प्रकार की नीति के सफल कार्यान्वयन में अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं। यह नीति कुल मिलाकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की विरोधी है। यह अनुभव किया जाने लगा कि यद्यपि 19वीं शताब्दी के समान विदेशी व्यापार आर्थिक विकास का प्रमुख स्रोत नहीं है, फिर भी निर्धन देशों में विदेशी व्यापार में आर्थिक विकास की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका होनी चाहिए।

प्रेबिश का तर्क था कि विश्व की 70 प्रतिशत जनसंख्या को कुल आय का एक-चौथाई से भी कम प्राप्त हो पाता है जबकि विश्व की कुल आय का तीन-चौथाई उन 30% लोगों को प्राप्त होता है जो धनी देश में रहते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि धनी देशों की संरक्षणात्मक नीतियों के कारण विकासशील देशों से उनके द्वारा आयात की जाने वाली वस्तुओं के अनुपात में निरन्तर कमी होती चली जा रही है। 1950 में विकसित देशों के आयात में विकासशील देशों की वस्तुओं का अनुपात 31 प्रतिशत था 1960 में इसमें कमी हो गयी तथा यह 24 प्रतिशत ही रह गया। उन्होंने चेतावनी दी कि विकसित देशों द्वारा रोपित प्रतिबन्धों के कारण विकासशील देशों से उन्हें निर्यातित वस्तुओं का अनुपात भविष्य में और भी कम हो जायगा।

इसके अतिरिक्त यह भी अनुभव किया गया कि "प्रशुल्क-दरों एवं व्यापार पर सामान्य समझौता" (GATT) के अन्तर्गत विकासशील देशों के व्यापार में वृद्धि हेतु कोई ठोस कार्यवाही नहीं की गयी थी। विकासशील देशों में यह भावना भी व्याप्त होने लगी थी कि गैट के स्थान पर उन्हें संयुक्त रूप से संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में ही एक संस्था का निर्माण करना होगा जो उनके हितों की रक्षा के लिए विकसित देशों पर दबाव डाल सके।

आर्थिक विकास के लिए पूँजी-विनियोग एवं आयातों में भारी वृद्धि होना स्वाभाविक है। यह एक सामान्य नियम है कि विकास के प्रथम चरणों में आयात में वृद्धि कम से कम आय वृद्धि के अनुरूप होनी है। छठे दशक (1950's) में अल्पविकसित देशों के निर्यातों से आय में केवल 3·5% की वार्षिक दर से वृद्धि हुई थी। ऐसा अनुभव किया गया कि यदि यही प्रवृत्ति जारी रही तो अल्पविकसित या विकासशील देशों की आयात सम्बन्धी आवश्यकताओं तथा इन आयातों के भुगतान करने की क्षमता (जिसका निर्धारण निर्यातों से होता है) के अन्तर में वृद्धि होती जायेगी। छठे दशक में इस अन्तर को उदार विदेशी सहायता के माध्यम से पूर्ण किया गया था। परन्तु सातवें दशक के लिए यह सन्देहास्पद विषय माना गया कि अपेक्षित विदेशी सहायता (aid) भी इन देशों की बढ़ती हुई आयात सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकेगी।

इन सबका परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो विकासशील देशों ने धनी देशों से प्राप्त विदेशी सहायता में वृद्धि हेतु दबाव डालना प्रारम्भ कर दिया, और दूसरी ओर जिन देशों ने पहले से पर्याप्त सहायता प्राप्त कर ली थी, उन्होंने यह अनुभव करना आरम्भ कर दिया कि विदेशी सहायता के साथ संलग्न शर्तों को देखते हुए सहायता की राशि का वास्तविक मूल्य (अर्थ) बहुत कम था, तथा अन्ततः ऋणों एवं इनके ब्याज का भुगतान केवल निर्यात व्यापार में वृद्धि द्वारा ही सम्भव हो सकता था। इस प्रकार सभी देशों को यह अनुभूति होने लगी कि अल्पविकसित देशों को राहत देने के लिए विश्व के व्यापार में वृद्धि करने हेतु कुछ न कुछ उपाय अवश्य किया जाना चाहिए।

प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादक देशों की व्यापार नीतियों की एक बड़ी सीमा यह थी कि इन वस्तुओं के मूल्य अत्यधिक अस्थिर थे। यदि कृषिजन्य एवं अन्य प्राथमिक वस्तुओं के मूल्यों में किसी प्रकार स्थिरता लायी जा सके तो इन देशों के लिए अपनी व्यापार नीतियों को उदार बनाना काफी सहज हो सकता था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को नियमित करने का तत्कालीन एकमात्र उपाय

"समझौते" में निहित था। परन्तु जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, "समझौते" के माध्यम से विकासशील देशों के निर्यातों में वृद्धि नहीं हो सकी। अनेक अवसरों पर तो ये देश अपनी बात भी विकसित देशों को नहीं कह सकते थे।

परन्तु 1961 के महासभा के 16वें सत्र में कोई ठोस कदम उपर्युक्त समस्याओं के निराकरण हेतु नहीं उठाया जा सका। सत्रहवें सत्र (1962) में महासभा ने यह निर्णय किया कि व्यापार एवं आर्थिक विकास पर संयुक्त राष्ट्र संघ का एक अधिवेशन (अंकटाड) 1964 में बुलाया जाय। भारत इस अधिवेशन की तैयारी समिति (Preparatory Committee) का एक सदस्य था। जेनेवा में मार्च 1964 में आयोजित प्रथम अधिवेशन में 118 देशों के अतिरिक्त प्रशुल्क-दरों एवं व्यापार पर सामान्य समझौते (GATT), संयुक्त राष्ट्र संघ के 13 विशिष्ट अभिकरणों एवं अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के प्रतिनिधियों को स्थायी रूप देने का विचार नहीं था। परन्तु दिसम्बर 1964 में राष्ट्र संघ की एक स्थायी एजेन्सी के रूप में इसे स्वीकार किया गया तथा एक स्थायी सचिवालय की स्थापना के साथ-साथ अंकटाड के लिए स्थायी महासचिव की नियुक्ति कर दी गयी।

अंकटाड में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार एवं वित्तीय व्यवस्था के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु-समस्याओं, औद्योगिक (तैयार) एवं अर्द्ध-निर्मित वस्तुओं के व्यापार, विकासशील देशों के अदृश्य व्यापार (सेवाओं के निर्यात) में सुधार, क्षेत्रीय आर्थिक गठबन्धनों के प्रभाव आदि विवादों पर विचार किया गया।

अंकटाड में लिये गये निर्णयों को एक कानून में सम्मिलित कर लिया गया जिसमें यह सुझाव दिया गया कि संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा को अंकटाड को एक स्थायी एजेन्सी के रूप में स्वीकार करते हुए कम से कम तीन वर्ष में एक बार सदस्य देशों का सम्मेलन बुलाना चाहिए। इस कानून में अंकटाड के निम्न कार्य निर्धारित किये गये :

(1) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन देना—विशेष रूप से आर्थिक विकास की गति को बढ़ाने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाना आवश्यक माना गया है। यह कहा है कि आर्थिक विकास की दृष्टि से विभिन्न श्रेणियों के देशों—विकासशील देशों के मध्य तथा भिन्न सामाजिक संगठन वाले देशों—के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार होना चाहिए।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं आर्थिक विकास से सम्बद्ध समस्याओं के विषय में सिद्धान्तों एवं नीतियों का प्रारूप तैयार करना तथा इनके कार्यान्वियन हेतु उपयुक्त सुझाव देना,

(3) संयुक्त राष्ट्र संघ से सम्बद्ध अन्य संगठनों के बीच समन्वय स्थापित करना तथा इनकी समीक्षा करना,

(4) संयुक्त राष्ट्र संघ की अन्य उपयुक्त संस्थाओं को बहुपक्षीय व्यापार के विस्तार के लिए मन्त्रणाएँ आयोजित करने हेतु तैयार करना, तथा

(5) विभिन्न सरकारों एवं क्षेत्रीय आर्थिक गठबन्धनों की व्यापार एवं आर्थिक विकास सम्बन्धी नीतियों के बीच समानता (harmony) स्थापित करने हेतु एक केन्द्र के रूप में कार्य करना, तथा इनके मध्यों में विद्यमान विरोध को कम करना।

अंकटाड की सदस्यता एवं प्रबन्ध
[MEMBERSHIP AND MANAGEMENT OF UNCTAD]

जैसा कि ऊपर बताया गया है, आज अंकटाड एक स्थायी संस्था है। संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्य देश इसके सदस्य हो सकते हैं। यही नहीं, ये देश अन्तर्राष्ट्रीय आणविक शक्ति एजेन्सी तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की अन्य विशिष्ट एजेन्सियों के भी सदस्य हो सकते हैं। प्रत्येक सदस्य देश को केवल एक मत देने का अधिकार है। जहाँ सामान्य महत्व के विवादों पर केवल उपस्थित सदस्यों के बहुमत के आधार पर निर्णय लिये जाते हैं, अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्नों के लिए दो-तिहाई बहुमत आवश्यक है।

अंकटाड के स्थायी प्रबन्ध हेतु एक "व्यापार एवं विकास मण्डल" (Trade and Development Board) की स्थापना की गयी है जिसमें 55 सदस्य हैं। इस बोर्ड की बैठक वर्ष

मे दो बार होती है। प्रशासन को सुविधाजनक बनाने हेतु इस बोर्ड के अन्तर्गत चार समितियाँ निम्न विशिष्ट विषयों के लिए नियुक्त की गयी हैं

(i) वस्तुएँ (प्राथमिक एव कृषि-जन्य),

(ii) औद्योगिक (निर्मित) वस्तुएँ,

(iii) जहाजरानी एव अदृश्य व्यापार, तथा

(iv) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वित्तीय प्रबन्ध।

अक्टाड का प्रधान कार्यालय जेनेवा मे है तथा इसके सदस्यों की वर्तमान सख्या 140 है। अक्टाड की साधारण सभा का अधिवेशन चार वर्ष म कम से कम एक बार बुलाया जाता है।

अंकटाड प्रथम
[UNCTAD I]

जेनेवा मे आयोजित अक्टाड के प्रथम अधिवेशन (1964) मे विकासशील देश धनी देशो से बहुत सी आशाएँ रखते हुए सम्मिलित हुए थे। उन्हे यह आशा थी कि इस अधिवेशन के बाद धनी व निर्धन देशो के बीच विद्यमान अन्तर को कम करने हेतु प्रभावपूर्ण कदम उठाये जायेंगे। अक्टाड प्रथम मे 77 विकासशील देशो ने भाग लिया जिन्हे '77 का समूह" (Group of 77) कहा जाता है। इन 77 देशो ने सयुक्त रूप से उनकी विदेशी व्यापार सम्बन्धी गम्भीर कठिनाइयो को प्रस्तुत किया तथा यह भी बताया कि किस प्रकार विकसित देशो की दोषपूर्ण नीतियो के कारण ये समस्याएँ और अधिक विकट रूप धारण कर रही हैं। 77 देशो के इस समूह द्वारा प्रस्तुत सयुक्त प्रतिवेदन को अन्तिम अधिनियम मे सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रतिवेदन मे कहा गया कि उक्त अधिवेशन ने व्यापार एव विकास के क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के एक नये युग का सूत्रपात किया है। इस प्रतिवेदन मे यह आशा व्यक्त की गयी कि इस अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग के द्वारा विश्व मे व्याप्त सम्पन्नता तथा असह्य दरिद्रता का वर्तमान अन्तर समाप्त करने मे सहायता मिलेगी तथा अधिवेशन की अन्तिम सिफारिशें विकास हेतु एक नयी व्यापार नीति के कार्यान्वयन का सूत्रपात करेंगी। विभिन्न देशो ने अधिवेशन के परिणामो को इस आशा के साथ स्वीकार कर लिया कि इनके आधार पर आने वाली अवधि मे व्यापार एव विकास के क्षेत्रो म पर्याप्त प्रगति हो सकेगी। अक्टाड प्रथम की एक बडी सफलता यह थी कि इसमे विकासशील देशो के विकसित देशो को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्याओ एव विकास की समस्या के प्रति एक नये दृष्टिकोण को स्वीकार करने हेतु बाध्य कर दिया।

अक्टाड प्रथम के अन्तिम अधिनियम मे 15 सामान्य तथा 13 विशिष्ट सिद्धान्त सम्मिलित किये गये हैं। सामान्य सिद्धान्तो म नये बाजारो की खोज एव पुराने बाजारो को बनाये रखने हेतु विकासशील देशो को सहायता देने प्राथमिक वस्तुओ के लिए उचित मूल्य दिलाने सैन्य या राजनीतिक बन्धनो से मुक्त आर्थिक सहायता मे वृद्धि करने, विकासशील देशो म क्षेत्रीय गठबन्धन एव सहयोग को प्रोत्साहन देने सम्बन्धी उपायो का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त इसमे यह भी स्पष्ट किया गया है कि विकासशील देशो के निर्यातो को प्राथमिकता मिलनी चाहिए तथा उन्हें परस्परता (reciprocity) के सिद्धान्त से मुक्त रखना चाहिए। ये सभी सिद्धान्त सामान्य सिद्धान्तो के रूप मे हैं तथा विशिष्ट समस्याओ के निदान मे इनकी कोई व्यवस्था नहीं रखी गयी है। इनमे से जिन सिद्धान्तो मे विकासशील देशो की प्रत्यक्ष रुचि रही है, वे निम्न प्रकार हैं

(i) राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक नीतियो का उद्देश्य विकासशील देशो की आवश्यकताओ एव रुचियो के अनुरूप अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन को सम्भव बनाना हो।

(ii) विकासशील देशो की निर्यात से प्राप्त आय मे तीव्र गति से वृद्धि हेतु अनुकूल वातावरण तभी बन सकता है जब सब देशो मे परस्पर सहयोग की भावना हो तथा सभी देश विशिष्टीकरण के स्थान पर व्यापार म विविधता लाने हेतु प्रयत्नशील हो।

(iii) विकसित देशो को चाहिए कि विकासशील देशो से निर्यातित वस्तुओ पर विद्यमान प्रतिबन्धों एव इनके व्यापार म आने वाले व्यवधानो को प्रगतिशील रूप मे कम करें तथा इन वस्तुओ के निर्यात म वृद्धि हेतु अनुकूल वातावरण तैयार करने मे सक्रिय सहयोग दें। समुचित

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के माध्यम से सभी देशों को मिलकर ऐसे कदम उठाने चाहिए जिनके द्वारा प्राथमिकता वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि हो (या कम से कम इनमें स्थिरता तो उत्पन्न की जा सके) तथा इसके उद्देश्य की प्राप्ति हेतु न्यायोचित मूल्य प्रणाली लागू की जाये जिसके अन्तर्गत प्राथमिक वस्तुओं एवं औद्योगिक (निर्मित) वस्तुओं के मूल्यों के बीच विकसित एवं विकासशील दोनों देशों को स्वीकार्य सम्बन्ध निर्धारित किये जायें।

(iv) विकसित देश सभी विकासशील देशों को रियायतें देने की घोषणा करें तथा आपस में उन्होंने जो रियायतें दी हैं उन्हें विकासशील देशों पर लागू करें। इन रियायतों के बदले वे यह शर्त न लगायें कि विकासशील देश भी उन्हें व्यापार की शर्तों में रियायतें दें। प्रशुल्क एवं गैर-प्रशुल्क दोनों प्रकार की नयी रियायतें सभी विकासशील देशों को दी जायें एवं यथासम्भव ऐसी प्राथमिकता विकसित देशों को नहीं दी जायें।

(v) विकसित देशों के बीच हुए क्षेत्रीय आर्थिक गठबन्धनों (यूरोपियन साझा बाजार, यूरोपियन मुक्त व्यापार संघ आदि) का इन देशों द्वारा विकासशील देशों से आयातित वस्तुओं की मात्रा एवं उनके मूल्यों पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए।

(vi) विदेशी वित्तीय सहायता (external finance) के लिए अंकटाड ने सुझाव दिया कि प्रत्येक विकसित देश अपने कुल राष्ट्रीय उत्पादन (GNP) का कम से कम 1% विकासशील देशों को सहायतार्थ दें। अंकटाड ने यह भी सुझाव दिया कि विदेशी सहायता की शर्तों को आसान बनाया जाय ताकि विकासशील देशों पर इन ऋणों के ब्याज का भार न्यूनतम पड़े।

उपर्युक्त सिद्धान्तों में कुछ को मूर्त रूप देकर कार्यान्वित करने के भी निर्णय 1964 के बाद लिये गये। उदाहरण के लिए, कैनेडी राउण्ड के अन्तर्गत विकासशील देशों द्वारा निर्यात की जाने वाली वस्तुओं पर विकसित देशों ने प्रशुल्क रियायतों की घोषणा की और बदले में विकासशील देशों से पूर्ण पारस्परिकता की कोई अपेक्षा नहीं की गयी। इसी प्रकार सितम्बर 1966 में प्रारम्भ की गयी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की पूरक सहायता स्कीम अंकटाड के उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक है। यदि मुद्रा-कोष से ली गयी यह सहायता अल्पकाल के लिए ही ली जाय तथा यह घाटा सम्बद्ध देश की अपनी नीतियों का परिणाम न होकर बाहरी परिस्थितियों की देन हो तो इस स्कीम के अन्तर्गत मुद्रा-कोष के सदस्य देश अपने देशों का 25% तक निर्यात-आय में होने वाले घाटे की पूर्ति हेतु प्राप्त कर सकते हैं। यह सहायता सदस्य देशों को उपलब्ध स्वर्ण एवं साख साधनों के अतिरिक्त है। पूरक सहायता की सुविधा मिलने से पूर्व इस प्रकार की क्षतिपूरक वित्तीय सहायता का अनुपात सदस्य देशों के कोटे का केवल 25% था। जून 1973 तक इस व्यवस्था के अन्तर्गत लगभग 50 करोड़ डालर की सहायता दी जा चुकी थी।

परन्तु अंकटाड के अधिनियम में निहित सिद्धान्तों पर कार्यान्वयन की गति अत्यन्त धीमी रही। कम से कम दो क्षेत्र ऐसे थे जिनमें 1964 व 1968 के बीच कोई प्रगति नहीं हो सकी। ये दो क्षेत्र थे : विकासशील देशों से बिना पारस्परिकता (non-reciprocity) के प्राथमिकता के आधार पर वस्तुएँ आयात करना तथा विकसित देशों के कुल राष्ट्रीय उत्पादन (GNP) का 1% विकासशील देशों को आर्थिक सहायता के रूप में देना। इसके विपरीत, 1964-68 के बीच अधिक सहायता की शर्तें और अधिक प्रतिकूल होती गयीं। यही नहीं, सरकारी आर्थिक सहायता में अनुदान (Grant) का अनुपात 1942 व 1965 के बीच 71% से घटकर 61% रह गया। परिणाम यह हुआ कि विकासशील देशों के ऋण के भार में वृद्धि होती गयी। ऋण के भार में यह वृद्धि इसी तथ्य से स्पष्ट होती है कि 1965 में दी गयी कुल सहायता में ब्याज का अंश 45% था। दूसरे शब्दों में, कुल प्राप्त सहायता का 45% केवल ब्याज चुकाने हेतु ही प्राप्त किया गया। यह भी उल्लेखनीय है कि बन्धनयुक्त आर्थिक सहायता देने का क्रम भी अविरत रूप से चलता रहा। धनी व निर्धन देशों के बीच के अन्तर में कमी होने की अपेक्षा वृद्धि होती गयी। अंकटाड प्रथम के बाद भी काफी समय तक विश्व के कुल व्यापार में विकासशील देशों के निर्यातों का अनुपात घटता रहा। यह ऊपर बताया जा चुका है कि विकासशील देश मूलतः प्राथमिक वस्तुओं का निर्यात करते हैं। इन वस्तुओं के निर्यात में बहुत ही कम वृद्धि हुई। परन्तु इनके मूल्यों में कमी होने के कारण निर्यातक विकासशील देशों की कुल निर्यात-आय में कमी हो गयी। इसके विपरीत, औद्योगिक (निर्मित) वस्तुओं

के निर्यात मे निरन्तर वृद्धि होती रही है। विकासशील देशो की आर्थिक विकास सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु उन्हे अनेक कच्चे पदार्थो, यन्त्रो एव मशीनो तथा अन्य वस्तुओं का अधिक मात्रा मे आयात करना पड रहा था। दूसरी ओर अधिकाश विकसित देश प्राथमिक वस्तुओ की माँग का बहुत बडा भाग घरेलू उत्पादन से पूर्ण कर लेते हैं। परिणाम यह हुआ कि **विकासशील देशों की व्यापार शर्तें प्रतिकूल होती गयीं।** सातवें दशक मे काफी समय तक कोई नये वस्तु-समझौते (commodity agreements) नही हुए और न ही विकसित देशो ने विकासशील देशो की निर्मित एव अर्द्ध-निर्मित वस्तुओ के निर्यातो मे वृद्धि हेतु कोई विशेष रियायतें दी। अब हम विस्तार से अक्टाड प्रथम के कार्यान्वियन एव सफलता का मूल्याकन करेंगे।

वस्तु-समझौते (Commodity Agreements)

1964 मे टिन, काफी, गेहूँ तथा ऑलिव ऑइल ये चार ही ऐसी वस्तुएँ थी जिनके विषय में अन्तर्राष्ट्रीय समझौतो के अन्तर्गत व्यापार चल रहा था। अक्टाड प्रथम के बाद भी किसी नयी वस्तु के विषय मे काफी लम्बे समय तक कोई समझौता नही हुआ। इसके विपरीत कुछ विकसित देशो मे ऐसे कानून पारित किये गये जो अक्टाड प्रथम की भावना के सर्वथा प्रतिकूल थे। उदाहरणार्थ, सयुक्त राज्य अमरीका मे अक्टूबर 1965 मे पारित शक्कर अधिनियम मे कुछ ऐसी धाराएँ रखी गयी जिनमे बाहरी देशो का अमरीका के बाजार मे शक्कर का निर्यात जान-बूझकर कम करने का प्रयास निहित था। इसी प्रकार यूरोपीय देशो की मिली-जुली कृषि-नीति का प्रयोजन भी घरेलू उत्पादको को विदेशी निर्यातकर्ता के विरुद्ध सरक्षण प्रदान करता था।

विकासशील देशो से निर्मित वस्तुओं के निर्यात मे 1960-66 के बीच 8% वार्षिक की वृद्धि-दर होते हुए भी विश्व के कुल निर्यातो की तुलना मे बहुत कम है। यह भी उल्लेखनीय है कि इन निर्मित वस्तुओं मे सूती वस्त्र, लकडी की वस्तुएँ, परिनिर्मित खाद्य-पदार्थ, चमडे की वस्तुएँ आदि छोटी वस्तुएँ ही विकासशील देशो द्वारा बाहर भेजी जाती हैं और बहुत थोडे से विकासशील देश इन वस्तुओं का निर्यात कर पाते है। यह हमे स्पष्टत. समझ लेना चाहिए कि यदि विकासशील देश अपने निर्यातो की ऊँची वृद्धि-दर को बनाये रखना चाहते हैं तो इसके लिए उनके निर्यातो में सम्मिलित वस्तुओ की सरचना (structure) मे काफी परिवर्तन करने होगे। विकासशील देशो को काफी प्रभावपूर्ण निर्यात नीतियाँ भी इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु अपनानी होगी। परन्तु इन देशो के निर्यात व्यापार मे पर्याप्त वृद्धि केवल इन्ही की नीतियो एव उनके कार्यान्वियन पर निर्भर नही होगी। इससे भी अधिक आवश्यक बात यह है कि विकसित देश अपने घरेलू बाजारो मे विकासशील देशो से आने वाली वस्तुओं के प्रवेश पर अनावश्यक प्रतिबन्ध न लगाकर अनुकूल शुल्क एव गैर-प्रशुल्क नीतियो के माध्यम से विकासशील देशो के निर्यात वृद्धि मे सक्रिय योगदान दें। दुर्भाग्य से इस दिशा मे पिछले कुछ वर्षों मे विशेष प्रगति नही हो सकी है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, आज भी बहुत से विकसित देशो की प्रशुल्क-नीतियाँ विकासशील देशो मे निर्मित औद्योगिक वस्तुओं के निर्यात मे बाधक हैं। इसी प्रकार अनेक देशो मे आज भी विकासशील देशो से आने वाली वस्तुओ पर मात्रात्मक प्रतिबन्ध (quantitative restrictions) विद्यमान है।

प्रशुल्क कटौतियाँ (Tariff Cuts)

केनेडी राउण्ड के अन्तर्गत हुई प्रशुल्क-मन्त्रणाओ मे पहली बार अक्टाड प्रथम मे प्रतिपादित गैर-परम्परा के सिद्धान्त (The Principle of Non-reciprocity) का व्यावहारिक प्रयोग किया गया। परन्तु उल्लेखनीय बात यह है कि विकसित देशो ने जहाँ प्राथमिक वस्तुओ पर विद्यमान प्रशुल्क-दरो म पर्याप्त रियायतें दी हैं, विकासशील देशो से निर्यातित निर्मित-वस्तुओ पर स्थित प्रशुल्क-दरो मे उन्होने विशेष रियायतें नही दी।

अधिकाश वस्तु-समूहो पर, जिनके निर्यात मे विकासशील देशो की रुचि है, प्रशुल्क-दरें उच्चतम औसत प्रशुल्क-दर से अधिक हैं। यह भी देखा गया है कि प्रशुल्क-दरो को और अधिक प्रभावशाली बनाने हेतु बहुधा व्यापार गैर-प्रशुल्क व्यापार प्रतिबन्धो का आश्रय लिया जाता है। सरक्षण के सम्बन्ध मे यह बताया जा चुका है कि अधिकाश विकसित देशो ने आयातित वस्तुओ पर प्रशुल्क की दरें इस प्रकार निर्धारित की हैं कि अर्द्ध-निर्मित एव निर्मित वस्तुओं पर प्राथमिक वस्तुओं की अपेक्षा बहुत ऊँची प्रभावी प्रशुल्क-दर चुकानी होती है। यह सब केनेडी राउण्ड के अन्तर्गत स्वीकृत रियायतो के विद्यमान रहते हुए भी सामान्य रूप से चल रहा है।

विदेशी सहायता (External Assistance)

जैसा कि ऊपर बताया गया है, अंक्टाड प्रथम में विकासशील देशों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता का लक्ष्य विकसित देशों के कुल राष्ट्रीय उत्पादन का 1% रखा गया था। आश्चर्य की बात तो यह है कि बड़े औद्योगिक देशों ने इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु कोई कदम नहीं उठाया, जबकि कुछ छोटे औद्योगिक देशों ने इस लक्ष्य को प्राप्त कर लिया। परन्तु इन छोटे विकसित देशों से प्राप्त आर्थिक सहायता का परिणाम बहुत ही कम रहा है। बड़े औद्योगिक देशों द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता का उनके कुल राष्ट्रीय उत्पाद में अनुपात 1966 में 1961 से भी कम था। उदाहरण के लिए, विकसित देशों ने जहाँ 1961 में अपने कुल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) का 0 87 प्रतिशत विकासशील देशों की सहायतार्थ दिया था, 1966 तक यह अनुपात घटकर 0 62 प्रतिशत रह गया। इसी प्रकार, विकासशील देशों को प्राप्त होने वाले ऋणों की शर्तें सरल एवं उदार बनाने का उद्देश्य भी पूर्ण नहीं हो सकता। जैसा कि ऊपर बताया गया है, विकासशील देशों को 1965 में जितनी सहायता मिली उसका 45% केवल ब्याज चुकाने हेतु प्रयुक्त किया गया था। दूसरे शब्दों में, विकासशील देशों की स्थिति इतनी सोचनीय हो गयी थी कि उन्हें ऋण लेकर ब्याज का भुगतान करना पड़ा। इसी प्रकार बन्धनयुक्त (tied) आर्थिक सहायता का क्रम जारी है तथा जैसा कि अगले अध्याय में बताया गया है, इसके फलस्वरूप विकासशील देशों को प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता का वास्तविक मूल्य काफी कम हो जाता है। मुख्य रूप से ऐसा अनुमान लगाया गया है कि बन्धनयुक्त सहायता के फलस्वरूप सहायता करने वाले देश को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में विद्यमान प्रतियोगितापूर्ण (न्यूनतम) मूल्य की अपेक्षा 15% अधिक मूल्य पर वही वस्तु सहायता देने वाले या साहूकार देश से खरीदनी पड़ती है। इस प्रकार के बन्धनों के कारण विकासशील देशों को प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता से वास्तविक मूल्य में, लगभग 100 करोड़ डालर की कमी हो जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ विश्व बैंक द्वारा दी गयी आर्थिक सहायता विकासशील देशों की आवश्यकता के एक बहुत ही छोटे भाग को पूरा कर पाती है।

विकासशील देशों को दिये जाने वाले ऋणों पर विद्यमान कठोर शर्तों के कारण भी इन देशों पर ब्याज का अत्यधिक भार हो जाता है। जहाँ एक ओर इन देशों के निर्यात की कुल मात्रा 1961 से अपरिवर्तित रही है, वहीं इनकी व्यापार शर्तें भी प्रतिकूल होती जा रही हैं। उदाहरणार्थ, 1961-66 के बीच व्यापार की प्रतिकूल शर्तों के कारण विकासशील देशों को 220 करोड़ प्रति वर्ष की क्षति हुई जो उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं तथा विकसित देशों से प्राप्त आर्थिक सहायता का 38% भाग था।

अंक्टाड की एक सिफारिश पर विश्व बैंक ने पूरक वित्तीय सहायता की एक स्कीम प्रस्तुत की। इस स्कीम की अंक्टाड के एक अन्तर्सरकारी (inter-governmental) दल ने जाँच की। परन्तु इसकी सिफारिशें प्रमुख विकसित देशों को मान्य नहीं थी।

मौद्रिक तरलता (Monetary Liquidity)

पिछले चार-पाँच वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था (मुद्रा-कोष) के भविष्य के विषय में काफी वाद-विवाद होता आया है। इस दृष्टि से अंक्टाड को एक सीमा तक सफलता भी मिली है जिसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के अन्तर्गत विशेष आहरण अधिकार की सुविधा दी गयी है। अब मुद्रा-कोष के सदस्य देशों को स्वर्ण एवं विभिन्न आधारभूत मुद्राओं के निरट कोटे के अतिरिक्त आवंटित विशेष आहरण अधिकार का उपयोग करने की भी छूट दी गयी है। किसी समय अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या को इतनी गम्भीरता से नहीं लिया जाता था। अंक्टाड के प्रयासों के फलस्वरूप विश्वव्यापकता (universality) के सिद्धान्त का अभ्युदय हुआ जिसके अनुसार नये सुरक्षित कोषों के सृजन हेतु विकासशील देशों को भाग लेने दिया गया। परन्तु अंक्टाड के एक विशेषज्ञ दल का यह सुझाव आज तक मान्य नहीं हो सका है कि तरलता के सृजन एवं वितरण हेतु दी जाने वाली आर्थिक सहायता के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध होना चाहिए।

अंक्टाड को निर्यात-आय में होने वाले उच्चावचनों की स्थिति में मुद्रा-कोष की ओर से दी जाने वाली क्षतिपूरक सहायता की सुविधा के लिए श्रेय दिया जा सकता है। अंक्टाड प्रथम में इस सन्दर्भ में अनेक सिफारिशें प्रस्तुत की गयी थी तथा इनमें से अनेक को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने स्वीकार भी कर लिया है।

धीमी क्रियान्विति (Lack of Action)

अंक्टाड प्रथम में दी गयी सिफारिशों की धीमी क्रियान्विति में अंक्टाड द्वितीय के लिए आदर्श भूमिका प्रस्तुत नहीं की। यह स्पष्ट है कि पिछले वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहायता एवं विकास की समस्याओं के प्रति विकसित देशों की रुचि काफी कम हो गयी है। इसके लिए अनेक घटक उत्तरदायी हैं। द्वितीय महायुद्ध के बाद सहायता एवं विकासशील देशों की समस्याओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण के पीछे शीत युद्ध (Cold War) का खतरा निहित था तथा इन देशों को सहायता देकर अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना का वातावरण तैयार किया जा सकता था। जब विश्व में राजनीतिक रंगमंच पर तनाव कम हो गया तो विकसित देशों ने विकासशील देशों की समस्याओं की ओर ध्यान देना भी कम कर दिया। इसके अतिरिक्त अमरीका व ब्रिटेन जैसे बड़े देशों को भी हाल ही के कुछ वर्षों में प्रतिकूल भुगतान का सामना करना पड़ा है। आज अनेक औद्योगिक देशों की सरकारों ने घरेलू समस्याओं, विशेष रूप से बेकारी व निर्धनता की समस्याओं पर अधिक ध्यान देना आरम्भ कर दिया। यह स्वाभाविक है कि इन प्रवृत्तियों के फलस्वरूप उनके द्वारा दी जाने वाली सहायता राशि के बजट में कटौती की जाय।

पिछले कुछ वर्षों से यह भी अनुभव किया जाने लगा है कि आर्थिक सहायता के पीछे जो राजनीतिक उद्देश्य निहित है और इसके नाम पर जिस प्रकार विकासशील देशों का शोषण किया जाता है, वह सहायता की भावना के सर्वथा प्रतिकूल है तथा विश्व में राजनीतिक अस्थिरता एवं तनाव को बढ़ाने में सहायक होती है। संक्षेप में राजनीतिक उद्देश्य से प्रेरित होकर प्रदान की गयी आर्थिक सहायता बहुधा आर्थिक विकास में सहायक नहीं होती। विकसित देशों की इस मनोवृत्ति के विषय में विश्व बैंक के भूतपूर्व अध्यक्ष जार्ज वुड्स ने कहा था कि आज आर्थिक विकास के लिए दी जा रही सहायता 'अविश्वास असन्तोष एवं भ्रान्तियों से ग्रस्त है।" आवश्यकता इसी बात की है कि विकसित देश इस दिशा में ठोस एवं रचनात्मक दृष्टिकोण अपनायें।

संक्षेप में, अंक्टाड प्रथम की सफलता यदि इस बात में निहित थी कि उसके कारण विकसित देशों की विकासशील देशों के आर्थिक विकास में रुचि में वृद्धि हुई तथा समूचा विकासशील जगत 'ग्रुप ऑफ 77" के रूप में संगठित हो गया। परन्तु अंक्टाड प्रथम की सफलता केवल यहीं तक सीमित रह गयी। इस सन्दर्भ में ये बातें महत्वपूर्ण हैं (1) अधिकांश विकसित देश अपने राष्ट्रीय उत्पाद का 1 प्रतिशत विकासशील देशों की सहायतार्थ नहीं दे पाये। (2) पूंजी, विदेशी सहायता तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उदार वातावरण के अभाव में अनेक विकासशील देश अंक्टाड प्रथम द्वारा अपेक्षित विकास-दर (5 प्रतिशत प्रतिवर्ष) प्राप्त नहीं कर पाए। (3) विकसित देशों ने विकासशील देशों से आयातित उन वस्तुओं पर प्रशुल्क कटौती प्रदान की जिनका विकासशील देशों में आर्थिक विकास की प्रक्रिया में अधिक महत्व नहीं था।

परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि आर्थिक सहायता के क्षेत्र में पूर्णतः अन्धकार ही व्याप्त है। अंक्टाड द्वितीय (नई दिल्ली) में इस सम्बन्ध में काफी विस्तार से विचार-विमर्श हुआ था तथा विकसित देशों ने इस दिशा में रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाने हेतु आश्वासन भी दिया था। वस्तुतः अंक्टाड प्रथम के समय अनेक विकसित देशों ने इस दिशा में सोचा भी नहीं था कि उनका विकासशील देशों के प्रति कोई दायित्व भी है। इसी कारण अंक्टाड प्रथम में दी गयी सिफारिशों के प्रति काफी अधिक समय तक इन देशों का दृष्टिकोण तटस्थता या उपेक्षा का रहा।

अंक्टाड प्रथम के पश्चात् अंक्टाड की विभिन्न समितियों में अनेक समस्याओं पर स्पष्ट रूप से विचार विमर्श हुआ और महत्वपूर्ण विषयों पर विकसित देशों की सहमति प्राप्त हुई। उदाहरणार्थ, कुछ वर्षों पूर्व जहां अधिकांश विकसित देश भेदभाव न करने की विश्वव्यापी प्रशुल्क नीति के पक्ष में (विशेष रूप से औद्योगिक निर्मित वस्तुओं के लिए) नहीं थे तथा कुल मिलाकर इस सन्दर्भ में विकासशील देशों के प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार करते थे, अंक्टाड प्रथम के पश्चात् उन्होंने इस प्रश्न पर सहानुभूतिपूर्वक सोचना प्रारम्भ कर दिया। आज स्थिति काफी आशानुकूल बन चुकी है तथा यह अपेक्षा की जा सकती है कि विकासशील देशों से बाहर जाने वाली निर्मित वस्तुओं के लिए विकसित देश बिना भेद-भाव की प्रशुल्क नीति अपनाने हेतु उपयोगी मन्त्रणाओं में भाग लेंगे। इसकी एक झलक अंक्टाड द्वितीय के समय दिखायी दी।

विकासशील देशों द्वारा निर्यातित प्राथमिक वस्तुओं के लिए एक प्रभावपूर्ण मूल्य-नीति के विषय में भी स्थिति पूर्वापेक्षा अनुकूल होती जा रही है। कुछ समय पूर्व विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के विशेषज्ञों को ऐसे ठोस उपाय सुझाने को कहा गया था, ताकि ये दोनों संस्थाएँ उपयुक्त वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में स्थिरता लाने में सक्रिय योगदान दे सकें।

इसी प्रकार अंक्टाड की अदृश्य वस्तुओं एवं वित्त-प्रबन्ध समितियों में विकास एवं विकासशील देशों के प्रतिनिधियों में अब इस बात पर सहमति होने लगी है कि विकासशील देशों को प्राप्त आर्थिक सहायता अपर्याप्त रही तथा कुल सहायता की राशि विकसित देशों की सामर्थ्य एवं विकासशील देशों की आवश्यकताओं—दोनों ही दृष्टि—से काफी कम रही है। विकसित देशों को यह भी अनुभव होने लगा है कि विकासशील देशों पर ब्याज का भार बहुत ही अधिक है तथा इस भार में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है और इसके लिए ऋणों की पूर्ति उदार बनायी जानी चाहिए। इन प्रश्नों पर भी अंक्टाड द्वितीय में विस्तार से चर्चा की गयी।

अंक्टाड द्वितीय
[UNCTAD II]

अंक्टाड प्रथम के अधिनियम में निहित नीतियों एवं सिफारिशों की धीमी कार्यान्विति को देखते हुए *अंक्टाड द्वितीय (1968) के तीन प्रमुख उद्देश्य निर्धारित किये गये :*

(i) आर्थिक स्थिति का पुनरावलोकन करना,

(ii) मन्त्रणाओं के माध्यम से विशिष्ट परिणामों की प्राप्ति करना, तथा

(iii) किसी विशेष समझौते या निष्कर्ष तक पहुँचने से पूर्व विषय का विस्तार से अध्ययन करना एवं सम्बद्ध विषयों की जाँच करना।

अंक्टाड द्वितीय से पूर्व अक्टूबर 1967 में "77 देशों के समूह" की एक बैठक अल्जीयर्स में हुई तथा इसमें अंक्टाड द्वितीय के लिए विकासशील देशों की रणनीति (strategy) निर्धारित की गयी। इस बैठक में जो कार्यक्रम तैयार किया गया उसे "चार्टर ऑफ अल्जीयर्स" (The Charter of Algiers) भी कहा जाता है। इस चार्टर में उन सब कार्यक्रमों का विवरण था जो अंक्टाड द्वितीय के समय आवश्यक एवं अविलम्ब क्रियान्वयन हेतु प्रस्तुत किये जाने थे। इस चार्टर में कोको तथा शक्कर के हेतु अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के लिए विकसित देशों से आग्रह किया गया। यह भी सुझाव इस चार्टर में दिया गया कि महत्वपूर्ण प्राथमिक वस्तुओं का तटस्थ भण्डार (Buffer Stock) बनाने हेतु दो कार्य किये जायें। प्रथम तो यह कि तटस्थ भण्डार (Buffer Stock) के लिए प्रारम्भिक वित्तीय व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा की जाय। द्वितीय, जिन प्राथमिक वस्तुओं का विकसित देश उत्पादन एवं निर्यात करते हैं उनके अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में विकासशील देशों को भी अवसर दिये जायें। दूसरे शब्दों में, प्राथमिक वस्तुओं के निर्यात में विकसित तथा विकासशील देशों के बीच प्रतियोगिता न हो।

चार्टर ऑफ अल्जीयर्स में इस बात पर भी बल दिया गया कि विकासशील देशों से निर्यातित निर्मित एवं अर्द्धनिर्मित वस्तुओं के लिए विकसित देशों की प्रशुल्क-नीतियाँ भेदभाव रहित एवं बिना पारस्परिकता पर बल दिये हुए हों। चार्टर में विकसित देशों से इस बात का भी अनुरोध किया गया कि वे 1970 तक अपने कुल राष्ट्रीय उत्पाद का 1% विकासशील देशों को आर्थिक सहायता के रूप में प्रदान करें।

अंक्टाड द्वितीय का आयोजन फरवरी-मार्च 1968 में नई दिल्ली में किया गया। इस अधिवेशन में 121 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इसमें निम्न विषयों पर विचार-विमर्श किया जाना था :

(1) विश्व के व्यापार एवं विकास की प्रवृत्ति की समीक्षा करना।

(2) वस्तुओं के विषय में विभिन्न देशों की समस्याओं पर विचार करना तथा तत्सम्बन्धी नीतियों का प्रारूप तैयार करना।

(3) विकासशील देशों की विकास एवं वित्तीय सहायता से सम्बद्ध समस्याओं पर विचार करना।

(4) विकासशील देशो के निर्मित, अर्द्ध-निर्मित (semi manufactured) वस्तुओ तथा कच्चे माल के निर्यातो मे वृद्धि एव विविधीकरण से सम्बद्ध समस्याओ पर विचार करना।

(5) विकासशील देशो की दृश्य एव अदृश्य सेवाओ के सम्बन्ध मे विचार-विमर्श करना।

(6) विकासशील देशो मे आपसी आर्थिक एकीकरण एव व्यापार के विस्तार मे विद्यमान बाधाओ पर विचार करना तथा उनके विषय मे ठोस नीति निर्धारित करना।

(7) सर्वाधिक पिछडे हुए विकासशील देशो की आर्थिक तथा सामाजिक बुराइयो को दूर करने हेतु विशेष प्रयासो का प्रारूप तैयार करना।

अधिवेशन से पूर्व विकासशील देशो को विकसित देशो से बहुत कुछ रियायतें प्राप्त होने की आशा थी। परन्तु जब अधिवेशन प्रारम्भ हुआ तो यह अनुभव किया गया कि अंक्टाड प्रथम की अपेक्षा अंक्टाड द्वितीय मे सहमति की प्रवृत्ति अधिक थी तथा लम्बे वाद-विवाद के पश्चात् भी ठोस परिणाम नही निकल पा रहे थे। इस प्रवृत्ति का प्रमुख कारण विचार-विमर्श का राजनीतिक स्वरूप था। जिस वातावरण मे यह अधिवेशन आयोजित किया गया वह भी अनुकूल नही था तथा स्वर्ण-सकट प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन अमरीका व ब्रिटेन की लडखडाती हुई अर्थ-व्यवस्था, अमरीका म मन्दी का व्याप्ति, वियतनाम युद्ध समाजवादी गुट के देशो के दृष्टिकोण मे उदारता का प्रारम्भ पश्चिमी एशिया की सकटमय स्थिति आदि समस्याओ मे विश्व के लगभग सभी देश प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उलझे हुए थे। अनेक विकासशील देशों मे आपस मे भी इन विषयो के सम्बन्ध मे गहरा मतभेद था तथा इसका लाभ उठाने का प्रयास विकसित देशो द्वारा किया गया। परिणाम यह हुआ कि "77 देशो का समूह" सयुक्त रूप से कोई भी प्रस्ताव नही रख सका। बहुत से विकासशील देशो ने तो सम्पूर्ण आशाएँ समाजवादी गुट पर केन्द्रित कर दी थी, परन्तु इस गुट का पूर्ण समर्थन विकासशील देशो को नही मिल पाया। इन सब का परिणाम यह हुआ कि अंक्टाड द्वितीय का अन्तिम अधिनियम अनेक कठिनाइयो के बाद पारित किया जा सका। शायद यही एक कारण था जिसने अंक्टाड के प्रणेता एव महासचिव राउल प्रेबिश को अंक्टाड द्वितीय के तुरन्त पश्चात् ही त्यागपत्र देने को विवश कर दिया था। वास्तव मे अंक्टाड द्वितीय मे अपेक्षित सफलता प्राप्त नही हो सकी, क्योकि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक विकास हेतु किसी भी नीति के निर्माण मे इसकी कोई भूमिका नही थी। इसके उपरान्त भी अंक्टाड द्वितीय मे जो थोडी बहुत सफलता मिली उसका सक्षिप्त विवरण देख लेना उपयुक्त होगा।

प्रशुल्क प्राथमिकताएँ (Tariff Preferences)

यह अंक्टाड द्वितीय की एक बडी सफलता मानी जा सकती है कि इसके अन्तर्गत प्रशुल्क प्राथमिकताओ की एक स्कीम पर मन्त्रणा प्रारम्भ हुई। यद्यपि कोई विशेष कदम इस दिशा मे नही उठाया जा सका, तथापि सैद्धान्तिक रूप से सभी देश इस बात पर सहमत थे कि विकासशील देशो के लिए भेदभाव रहित एव गैर परस्परतापूर्ण (non reciprocal) प्रशुल्क प्राथमिक नीति अपनायी जानी चाहिए। परन्तु विकसित देशो ने इसके लिए कोई ठोस आश्वासन नही दिया। विकासशील देशो ने सैद्धान्तिक रूप से विकसित देशो द्वारा अनुकूल प्रशुल्क नीति की आवश्यकता को स्वीकार किये जाने पर भी सन्तोष व्यक्त किया। विकासशील देशो ने यह तर्क दिया कि विकसित देशो के दृष्टिकोण मे परिवर्तन भी महत्वपूर्ण उपलब्धि थी।

अंक्टाड द्वितीय मे प्रशुल्क प्राथमिकताओ के विषय मे पारित अधिनियम मे प्राथमिकताओ पर एक विशेष समिति की नियुक्ति का प्रावधान था। नयी व्यवस्था के प्रारम्भ हेतु विकसित एव विकासशील दोनो ही प्रकार के देशो के बीच मन्त्रणाएँ करने का भी प्रस्ताव रखा गया। यह कहा गया कि 1968 के अन्त मे ये मन्त्रणाएँ प्रारम्भ होकर 1969 के अन्त तक समाप्त हो जायेंगी। 1971 मे एक स्कीम प्रारम्भ की गयी जिसके अन्तर्गत विकासशील देशो से निर्यातित निर्मित वस्तुओ को प्राथमिकता प्रदान करने का प्रावधान है।

वस्तु-समझौते (Commodity Agreements)

वस्तु-समझौतो के विषय मे 10 प्रस्ताव रखे गये थे जिनमे से 5 प्राथमिक वस्तुओ के लिए इस बात पर सहमति हो गयी कि इनके निर्यात हेतु विकसित देश विकासशील देशो को अधिक सुविधाएँ एव रियायतें प्रदान करेंगे। ये वस्तुएँ हैं : कोको, शक्कर, प्राकृतिक रबर, तिलहन एव

चर्चा । अधिवेशन में यह निर्णय हुआ कि 1968 के मध्य तक संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में कोको पर एक सम्मेलन बुलाया जाय तथा संयुक्त राष्ट्र संघ शक्कर सम्मेलन में पारित प्रस्तावों की 1969 के आरम्भ से कार्यान्विति हेतु आवश्यक कदम उठाये जाएँ । तिलहनों, तेलों व चर्बी के लिए 1968 के अन्त तक अन्तर्सरकारी (inter-governmental) सलाहकार समिति की नियुक्ति का निर्णय लिया गया ताकि शीघ्र ही इन वस्तुओं के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के लिए उपयुक्त उपाय सुझाये जा सकें । यह भी निर्णय किया गया कि इनके अतिरिक्त जूट एवं सम्बद्ध धागों पर नियुक्त अध्ययन-दल अंकटाड सचिवालय की सलाह से इन वस्तुओं के पर्याप्त तटस्थ भण्डार (Buffer Stock) के निर्माण की सम्भावनाओं पर विचार करें ।

आर्थिक एवं वित्तीय सहायता (Aid and Finance)

अंकटाड द्वितीय की एक सफलता यह भी मानी जा सकती है कि इसमें बन्धनयुक्त आर्थिक सहायता को आंशिक रूप से बन्द करने एवं अधिकाधिक सहायता बिना पूर्व-बन्धनों के प्रदान करने के विषय में भी निर्णय किया गया । अधिवेशन में यह स्वीकार किया गया कि विकासशील देशों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता की शर्तें काफी कठोर हैं तथा उनके लिए कुछ उदारतापूर्ण दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए । विकासशील देशों ने कुछ विकसित देशों की सहायता से यह सुझाव दिया कि सरकारी सहायता का 80% भाग अनुदान (grant) के रूप में दिया जाना चाहिए या फिर सरकारी सहायता का 90% भाग 2·5% या उससे कम ब्याज पर दिया जाना चाहिए तथा ऐसे ऋणों की वापसी की अवधि कम से कम 30 वर्ष होनी चाहिए एवं इसमें रियायत अवधि (grace period) 8 वर्ष की होनी चाहिए । विकसित देशों ने यह आश्वासन दिया कि अपनी सहायता-नीतियाँ बनाते समय वे इन सब सुझावों का ध्यान रखेंगे ।

यह भी सुझाव दिया गया कि ऋण देने की विधियों, विशेष रूप से ऋणों के भुगतान की अनुसूची (Repayment Schedule), में सुधार हेतु शोध की जाय । विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा अंकटाड सचिवालय के संयुक्त तत्वावधान में यह शोध करने को कहा गया । इस शोध का प्रयोजन विदेशी विनिमय संकट के समय ब्याज एवं किश्तों के भुगतान को स्थगित करने की सम्भावनाएँ खोजना था ।

सैद्धान्तिक रूप से यह स्वीकार किया गया कि आधारभूत आर्थिक सहायता बन्धन-रहित होनी चाहिए । अनेक विकसित देशों ने यह तर्क दिया कि देश की जनता का आर्थिक सहायता हेतु समर्थन प्राप्त करने एवं अपने भुगतान-सन्तुलन को ठीक रखने के लिए आर्थिक सहायता के साथ कुछ बन्धन अवश्य होने चाहिए । सहायता पर कितने बन्धन हों, यह सहायता की राशि पर निर्भर करता है । विकसित देशों ने इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया कि सहायता में दी गयी राशि को सहायता प्राप्त करने वाला देश मनमाने ढंग से खर्च करे, भले ही वह खर्च उसी क्षेत्र में क्यों न किया जाय । यद्यपि अधिवेशन में बहुमत इस पक्ष में था कि विकसित देशों को व्यक्तिगत या संयुक्त रूप से वे सभी उपाय काम में लेने चाहिए जिनसे आर्थिक सहायता पर विद्यमान बन्धनों में कमी हो तथा इन बन्धनों का न्यूनतम प्रतिकूल प्रभाव सहायता प्राप्त करने वाले (विकासशील) देशों पर हो ।

विकसित देशों ने विकासशील देशों की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को अनुभव किया है और इसीलिए अंकटाड द्वितीय में उन्होंने यह आश्वासन दिया है कि यथासम्भव वे निकट भविष्य में अपने कुल राष्ट्रीय उत्पादन (GNP) का कम से कम 1% भाग विकासशील देशों को आर्थिक सहायता के रूप में देंगे । इसमें उन देशों का विशेष ध्यान रखने की बात भी कही गयी थी जो कि विकसित देशों में पूँजी प्राप्त करना चाहते थे । यह उल्लेखनीय है कि उक्त 1% लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कोई अवधि निर्धारित नहीं की गयी थी, तथापि विकसित देशों के इस सन्दर्भ में दिये गये आश्वासन को भी काफी महत्व दिया गया । जब यह लक्ष्य पूर्ण होगा तो विकासशील देशों को विकसित देशों से प्राप्त होने वाली राशि लगभग 300 करोड़ डालर हो जायगी ।

क्षतिपूरक सहायता (Compensatory Financing)

अधिवेशन में इस बात पर सन्तोष व्यक्त किया गया कि क्षतिपूरक वित्तीय सहायता हेतु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने उपयुक्त कदम उठाये हैं । चूँकि यह सुविधा कुछ ही समय (केवल 18

माह) पूर्व प्रारम्भ की गयी थी, अतएव इसके समुचित *मूल्यांकन हेतु और अधिक समय* देना उचित समझा गया। फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को इस अधिवेशन में निम्न सिफारिशें प्रस्तुत की गयी

(1) जब विकासशील देशों द्वारा आयातित वस्तुओं के मूल्य प्रतिकूल दिशा में चलने लगें (मूल्य वृद्धि हो जाय) तो ऐसी स्थिति में भी उन्हें क्षतिपूरक सहायता का लाभ मिलना चाहिए।

(2) इस सुविधा के अन्तर्गत आवेदक सदस्य देश को मुद्रा-कोष द्वारा आवंटित कोटे का 50% तो तुरन्त मिलना चाहिए तथा इसके लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाना चाहिए।

(3) इस सुविधा के अन्तर्गत प्राप्त किये गये ऋणों की वापसी ऋण लेने की तिथि से 5 वर्ष तक प्रारम्भ नहीं होनी चाहिए तथा इसके पश्चात् भी उसी वर्ष किश्तों व ब्याज का भुगतान किया जाना चाहिए जबकि सम्बद्ध देश के निर्यात अपेक्षित स्तर से कहीं अधिक हो। यह भी सुझाव दिया गया कि जिस वर्ष निर्यात अपेक्षा से अधिक हो तथा सम्बद्ध देश को क्षतिपूरक सहायता की अवशेष राशि का भुगतान करने को कहा जाय, तो ऐसे भुगतान की राशि वास्तविक *निर्यात के अपेक्षित निर्यात से आधिक्य की 50% से अधिक न हो।*

(4) क्षतिपूरक सहायता के अन्तर्गत दिये गये ऋणों पर ब्याज की दर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा *सामान्य ऋणों पर लिये गये (प्रगतिशील) ब्याज के अनुरूप न हो।* यह सुझाव दिया गया कि ऐसी सहायता की विशेष राशि पर ब्याज का आकलन अलग से किया जाय ताकि ऋणी देशों पर न्यूनतम भार पड़े।

व्यावसायिक साख (Commercial Credit)

अंक्टाड द्वितीय में यह भी बताया गया कि *पिछले कुछ वर्षों में व्यावसायिक साख* की दिशा में कुछ प्रगति हुई है। सदस्य देशों के प्रतिनिधियों ने यह स्वीकार किया कि व्यावसायिक *साख साधनों के प्रवाह की गति को बढ़ाती है एवं एक सीमा तक* आर्थिक विकास की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत कर सकती है। अधिवेशन में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से यह अनुरोध किया गया कि वह ऐसी साख के विषय में विश्व बैंक एवं अंक्टाड सचिवालय की सहायता से अध्ययन करके अपनी रिपोर्ट तैयार करे। अधिवेशन में विश्व बैंक से यह आग्रह किया गया कि वह विकासशील देशों को सहायता देने, उनके निर्यात में वृद्धि करने एवं व्यापार के लिए वित्तीय साधन जुटाने हेतु व्यावसायिक साख पर अन्य संस्थाओं के परामर्शानुसार आयोजित अध्ययन-क्रम को विद्यमान रखे तथा ऐसे सुझाव प्रस्तुत करे जिससे कि विकासशील देशों को प्राप्त ऐसी सुविधाओं में पर्याप्त वृद्धि हो।

जहाजरानी (Shipping)

अधिवेशन में विकसित देशों से अनुरोध किया गया कि वे विकासशील देशों की जहाजरानी क्षमता के विस्तार हेतु अधिक उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता दें। स्थगित भुगतान (deferred payment) के आधार पर विकासशील देशों को जहाज बेचने का भी अनुरोध किया गया तथा विकसित देशों से यह अपेक्षा की गयी कि इन स्थगित भुगतानों पर वे ब्याज की दर अत्यन्त कम रखेंगे। जहाज भाड़े के सम्बन्ध में अधिवेशन *ने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि जिन वस्तुओं* एवं मार्गों पर भाड़े की दरें अधिक हैं उनके विषय में सम्मेलन आयोजित कर इन दरों को कम करने *के प्रयास किये जायें।*

बीमे के प्रश्न पर भी अंक्टाड द्वितीय में विचार किया गया। अधिवेशन में यह सुझाव प्रस्तुत किया गया कि विकासशील देशों से बीमा एवं पुनर्बीमा के लिए अपेक्षाकृत कम से कम प्रीमियम वसूल किया जाय। इन सिफारिशों के अतिरिक्त अधिवेशन में विकासशील देशों में पर्यटन के विस्तार, जहाजरानी के क्षेत्र में तकनीकी सहायता, जहाजों पर लदान की शर्तों, तथा जहाजरानी समिति के तत्वावधान में अन्तर्राष्ट्रीय जहाजरानी कानून पर एक कार्यशील दल की नियुक्ति के विषय में भी अनेक सिफारिशें प्रस्तुत की गयी। इस कार्यशील दल का उद्देश्य वर्तमान जहाजरानी कानूनों में विद्यमान कमियों का पता लगाने तथा उपयुक्त संशोधन हेतु सुझाव प्रस्तुत करना था।

एकान्त प्रदेश (Land locked Countries)

अधिवेशन में विकसित देशों एवं अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं से अनुरोध *किया गया कि*

वे एकान्त प्रदेशों (land-locked countries) में परिवहन एवं संचार की सुविधाओं के विकास हेतु विशेष सहायता प्रदान करें ताकि पिछड़े हुए क्षेत्रों के समुचित विकास का मार्ग प्रशस्त किया जा सके। यह निश्चय किया गया कि दूरस्थ एवं एकान्त में स्थित देशों को विकासशील देशों के समूह में न्यूनतम विकसित क्षेत्र मानते हुए इनकी आवश्यकताओं की पूर्ति प्राथमिकता के आधार पर की जाय।

अंकटाड द्वितीय की सिफारिशों की कार्यान्विति
(Implementation of the Recommendations of UNCTAD II)

अंकटाड का व्यापार एवं विकास बोर्ड तथा इसकी सहायता संस्थाएँ अंकटाड द्वितीय में निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति हेतु प्रयत्नशील हैं। इन दोनों अधिवेशनों की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि सामान्यीकृत (generalized), परस्परता-रहित (non-reciprocal) एवं भेदभाव-रहित प्रशुल्क प्राथमिकताओं का प्रारम्भ है। 18 विकसित देशों[1] ने 14 नवम्बर, 1969 को अपनी ओर से दी जाने वाली रियायतों का प्रारम्भिक स्वरूप प्रस्तुत किया। सितम्बर 1970 में संशोधन किये गये। 20 अक्टूबर, 1970 को अंकटाड की विशेष समिति के अन्तर्गत चल रही मन्त्रणाएँ समाप्त हुईं तथा इसमें प्रस्तुत सिफारिशों को व्यापार एवं विकास बोर्ड (Trade and Development Board) की स्वीकृति प्रदान की गयी। इस स्कीम के अन्तर्गत यह निश्चय किया गया कि विकासशील देशों की अधिकांश निर्मित एवं अर्द्ध-निर्मित वस्तुओं पर अमरीका, यूरोपियन साझा बाजार के देशों जापान तथा नार्डिक देशों में कोई प्रशुल्क नहीं लिया जायगा। कृषिजन्य वस्तुओं के विषय में प्राथमिकतापूर्ण रियायतों की घोषणा की गयी। इन सामान्यीकृत प्राथमिकताओं की प्रारम्भिक अवधि 10 वर्ष रखी गयी परन्तु यह अपेक्षा की गयी कि विकसित देश 1971 के अन्त तक समस्त (आन्तरिक) वैधानिक औपचारिकताएँ पूरी कर लेंगे।

अंकटाड तथा खाद्य एवं कृषि संगठन (FAO) के संयुक्त तत्वावधान में वस्तु-समझौतों (commodity agreements) के विषय में अन्तर्सरकारी मन्त्रणाएँ हुईं। इनमें तिलहन, खाद्य तेलों एवं चर्बी के विषय में अल्पकालीन उपायों तथा दीर्घकालीन नीतियों के प्रारूप पर विचार किया गया। इसी प्रकार जुलाई 1970 में भारत, मलेशिया एवं इन्डोनेशिया के बीच काली मिर्च के सम्बन्ध में हुई मन्त्रणाओं के फलस्वरूप एशियाई काली मिर्च समुदाय (Asian Pepper Community) की स्थापना की गयी। चाय के गिरते हुए मूल्यों को देखते हुए उपयुक्त कदम उठाने का भी निर्णय लिया गया। यह उल्लेखनीय है कि चाय के उत्पादक सभी देश विकासशील देशों की श्रेणी में आते हैं।

अंकटाड अधिवेशनों की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह रही है कि इनके कारण विकासशील देशों में संगठन तथा एकता की भावना का विकास हुआ। इन देशों में सामान्य रूप से जिस महत्वपूर्ण भावना का आविर्भाव हुआ है वह यह है कि उन्हें आपस में भी व्यापार तथा सहयोग में वृद्धि करनी चाहिए। आशा है कि यह संगठन एवं एकता विश्व के विकासशील देशों में समस्त विद्यमान अनेक बुराइयों को समाप्त कर सकेगी। यह ठीक है कि आज भी इन देशों के आर्थिक विकास की गति अत्यन्त धीमी है। परन्तु फिर भी अंकटाड प्रथम एवं द्वितीय के फलस्वरूप एक नयी परम्परा का श्रीगणेश हुआ जिसके अनुसार मतभेदों को विवाद की अपेक्षा परस्पर विचार-विमर्श के द्वारा दूर करने का प्रयास किया जाता है। आशा है कि इन मन्त्रणाओं के बीच जिन मुद्दों पर सहमति हुई है तथा विभिन्न संस्थाओं को जो दायित्व सौंपे गये हैं वे कालान्तर में विकासशील देशों के निर्यात बढ़ाने उन्हें अधिक वित्तीय साधन उपलब्ध कराने उनमें परस्पर सहयोग बढ़ाने एवं तदनुसार उनकी आर्थिक विकास की क्षमता को बढ़ाने में सहायक होंगे।

अंकटाड तृतीय
[UNCTAD III]

अंकटाड तृतीय से पूर्व 1971 में "77 देशों के समूह" की मन्त्री-स्तर की वार्ता बैठक में

---

1 इन देशों में अमरीका, यूरोपियन साझा बाजार के देश (पश्चिमी जर्मनी फ्रान्स इटली, नीदरलैण्ड्स, बेल्जियम एवं लक्जमबर्ग), जापान, आस्ट्रिया, नार्डिक देश (नॉर्वे स्वीडन, डेनमार्क एवं फिनलैण्ड), स्विट्जरलैण्ड, ब्रिटेन, कनाडा, न्यूजीलैण्ड व आयरलैण्ड सम्मिलित हैं।

हुई। इस बैठक में वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संकट एवं इससे विकासशील देशों की वित्तीय एवं व्यापार स्थिति पर होने वाले प्रभावों के विषय में विस्तृत चर्चा हुई। एशियाई देशों के नेताओं ने इस बैठक में मौद्रिक संकट तथा विकसित देशों में बढ़ती हुई संरक्षण की प्रवृत्ति के विरुद्ध चेतावनी देते हुए कहा कि इनके कारण न केवल विकासशील देशों के निर्यात व्यापार पर ही प्रतिकूल प्रभाव होंगे अपितु अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के आधार को भी क्षति पहुँचेगी। इन बातों को दृष्टिगत रखते हुए उन्होंने एक घोषणा की जिसे 'संघर्ष के कार्यक्रम" (Programme of Action) की संज्ञा दी जाती है। *इस कार्यक्रम में उन सब उपायों का विवरण है जो व्यापार एवं आर्थिक विकास के* विस्तार हेतु प्रयुक्त किये जाने चाहिए। *मुख्य रूप से इसमें प्राथमिक तथा निर्मित वस्तुओं के व्यापार,* वित्तीय साधनों एवं आर्थिक विकास व्यापार के विस्तार तथा आर्थिक सहयोग जैसे महत्वपूर्ण विषयों से सम्बद्ध उपाय निहित हैं। यह भी आशा की गयी कि यह संघर्ष का कार्यक्रम" एशियाई, अफ्रीका एवं लैटिन अमरीकी विकासशील देशों के संयुक्त कार्यक्रम हेतु आवश्यक मार्गदर्शन करेगा। विकासशील देशों के सम्मेलन (अक्टूबर 1971) के समय लीमा (पीरू) में इस कार्यक्रम को प्रस्तुत करने का निर्णय कर लिया गया। इस बैठक में भारतीय प्रतिनिधि ने विकासशील देशों का आह्वान किया कि वे संगठित होकर विकसित देशों से अपनी मन्त्रणाओं के दौरान ठोस परिणाम प्राप्त करने का प्रयास करें।

अंकटाड तृतीय के अवसर पर 340 देशों के 3 000 राजनीतिज्ञों एवं अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न मन्त्रणाओं में भाग लिया। यह अधिवेशन 13 अप्रैल 1972 से मई 1972 तक चिली की राजधानी सैंटियागो में हुआ। इस अधिवेशन में मुख्य रूप से धनी एवं निर्धन देशों के बीच बढ़ते हुए अन्तर के सम्बन्ध में विचार किया गया। रॉबर्ट मैकनमारा ने विश्व के विभिन्न देशों की प्रति व्यक्ति आय विद्यमान अन्तर को कम करने पर बल दिया। *उन्होंने कहा कि ' विकसित देशों में वृद्धि होने का अनुमान है। इसके विपरीत, विकासशील देशों में प्रति व्यक्ति वार्षिक आय का औसत* 180 डालर है और 1980 तक इसके 280 डालर तक बढ़ने की आशा है।" डॉ मैकनमारा ने कहा कि यद्यपि विकासशील देशों में प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि का अनुपात विकसित देशों के अनुपात से कहीं अधिक होगा तथापि निरपेक्ष दृष्टि से 1980 में 1971 की अपेक्षा विकसित तथा विकासशील देशों में प्रति व्यक्ति आय का अन्तर अधिक होने की सम्भावना थी।

काफी लम्बी मन्त्रणाओं के पश्चात् अंकटाड तृतीय में निम्नलिखित निर्णयों पर सहमति व्यक्त की गयी

(1) *विकसित देशों को विकासशील देशों की अर्थ-व्यवस्था के* विविधीकरण (diversification) हेतु सहायता जारी रखनी चाहिए,

(2) वस्तु समझौतों पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए,

(3) जहाजरानी एवं बन्दरगाहों की सुविधाओं पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए ताकि विकासशील देशों में परिवहन की लागतें कम की जा सकें,

(4) विकासशील देशों के निर्यात बढ़ाने हेतु विशेष कदम उठाये जायें, तथा

(5) *विश्व बैंक को अपने साधनों का अधिक भाग विकासशील देशों की सहायतार्थ देना* चाहिए।

अधिवेशन में सर्वसम्मति से यह निर्णय लिया गया कि विश्व के 25% निर्धनतम देशों को प्राथमिकता के आधार पर सहायता दी जाय। अन्य विकासशील देशों के समकक्ष लाने हेतु उन्हें यथासम्भव सहायता देने का निर्णय लिया गया। अंकटाड तृतीय में लिये गये ये निर्णय कहाँ तक कार्यान्वित हो सके हैं, यह इस समय तक ज्ञात नहीं है। तथापि यह कहना युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि विकासशील देशों को अन्ततः विकसित देशों पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति को छोड़ना ही होगा। व्यापार के विस्तार एवं आर्थिक विकास की गति में वृद्धि करने हेतु विकासशील देशों के परस्पर आर्थिक सहयोग में वृद्धि होना अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होता है।

अंक्टाड चतुर्थ[1]
[UNCTAD IV]

संयुक्त राष्ट्र संघ के व्यापार एवं आर्थिक विकास का चतुर्थ अधिवेशन मई 1976 में नैरोबी में हुआ। नैरोबी अधिवेशन से पूर्व (फरवरी 1976 में) "ग्रुप ऑफ 77" (जिसमें इस समय तक 110 विकासशील देश सम्मिलित हो चुके थे) की मनीला में बैठक हुई जिसमें यह निर्णय लिया गया कि विकासशील देशों को अपने व्यापार-हितों की रक्षा हेतु एक कार्यक्रम निर्धारित करना चाहिए। इसमें यह भी निर्णय हुआ कि विकासशील देश अंक्टाड में भाग लेने वाले धनी देशों पर इस बात के लिए दबाव डालेंगे कि विकासशील देशों की वस्तुओं के आयातों पर छूट देने, दस प्राथमिक वस्तुओं के तटस्थ भण्डार के निर्माण हेतु एक जिंस कोष बनाने, तथा विदेशी सहायता की शर्तों एवं परिमाण हेतु उदारता बरतने की दशाओं में ठोस कदम उठाएँ। 'मनीला घोषणा" का सभी विकासशील देशों के प्रतिनिधियों ने पूर्ण समर्थन किया।

परन्तु 1976 के प्रारम्भ में विकसित देशों की आन्तरिक आर्थिक स्थिति सन्तोषप्रद नहीं थी। बड़े औद्योगिक देश 1973 की तेल-वृद्धि के बाद की मन्दी तथा स्फीति के परस्पर विरोधी रागने वाले कुचक्र में फँसे हुए थे। डालर फ्रैंक व स्टर्लिंग पाउण्ड की स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में पूर्वापेक्षा कम सुदृढ़ थी।

मनीला की तैयारी-बैठक में तथा अंक्टाड के नैरोबी अधिवेशन में विकासशील देशों ने पूर्व की भाँति इस बात को दोहराया कि प्रतिकूल व्यापार शर्तें तथा विकसित देशों द्वारा दी गयी अपर्याप्त आर्थिक सहायता ही उनकी बिगड़ती हुई आर्थिक दशा के लिए उत्तरदायी है। उनकी ओर से यह कम करने के लिए 7.2 ट्रिलियन[2] डालर की राशि अगले 50 वर्षों में खर्च करनी होगी। 1975-76 में धनी देशों में रहने वाले विश्व के 30 प्रतिशत लोगों की प्रति व्यक्ति आय निर्धन देशों में रहने वाले 70 प्रतिशत व्यक्तियों की अपेक्षा 40 गुनी थी। विकसित देशों की अनुदार नीतियों के कारण यह अन्तर और अधिक होने की आशंका व्यक्त की गयी। विकासशील देशों ने विकसित देशों से अनुरोध किया कि वे निर्धन देशों के आर्थिक विकास हेतु उदारतापूर्वक सहायता दें।

अंक्टाड चतुर्थ में दूसरा महत्वपूर्ण विचार-विमर्श प्राथमिक वस्तुओं के निर्यात मूल्यों की अनिश्चितता से सम्बन्धित था। निम्नांकित दस महत्वपूर्ण वस्तुओं की अनिश्चितता के कारण ही अनेक विकासशील देशों की निर्यात आय पर काफी प्रतिकूल प्रभाव पड़ते रहे—(1) कोको, (2) कॉफी (3) चाय, (4) शक्कर, (5) ताँबा, (6) टिन, (7) रबड़, (8) कपास, (9) जूट, तथा (10) सख्त धागे (Hard fibres)।

विकासशील देश चाहते थे कि इन दस वस्तुओं के तटस्थ भण्डार की व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से की जाय ताकि इनके मूल्यों के उच्चावचनों को रोकने में सहायता मिले, तथा इनमें निर्यातक विकासशील देशों की निर्यात आय में स्थिरता लायी जा सके। नैरोबी अधिवेशन (अंक्टाड चतुर्थ) में इस तटस्थ भण्डार की वित्तीय व्यवस्था हेतु 600 करोड़ डालर का एक कोष बनाने का प्रस्ताव रखा गया। यह भी प्रस्ताव रखा गया कि इस कोष की स्थापना में इन वस्तुओं के उपभोक्ता तथा उत्पादक दोनों ही श्रेणी के देशों का सहयोग होना चाहिए।

अंक्टाड चतुर्थ का तीसरा महत्वपूर्ण विषय विकासशील देशों की निरन्तर गिरती व्यापार शर्तों से सम्बद्ध था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से अब तक विश्व के कुल व्यापार में विकासशील देशों का अंश निरन्तर घट रहा है। उदाहरणार्थ, 1940 में विकासशील देशों के व्यापार का अनुपात 28 प्रतिशत था जो कि 1970 तक 15.5 प्रतिशत रह गया। इसके बाद इस अनुपात में वृद्धि हुई। विशेष रूप से 1973 के उत्तरार्द्ध में तेल निर्यातक देशों के व्यापार-अनुपात में तीव्र गति से वृद्धि हुई है। परन्तु इस अवधि में तेल निर्यातक देशों के अतिरिक्त अन्य विकासशील देशों का व्यापार अनुपात 1975 तक केवल 10 प्रतिशत रह गया।

---

1 See, *Finance Development*, September 1976, pp 44-45
2 एक ट्रिलियन = 10 खरब।

नैरोबी अधिवेशन से पूर्व "प्रशुल्क एवं व्यापार पर सामान्य समझौते" (GATT) द्वारा प्रकाशित एक रिपोर्ट में बताया गया कि पाँच वस्तुओं (चाय, जूट, कच्चा लोहा, तम्बाकू एवं केले) की सामान्य व्यापार-शर्तें 1972-73 के समृद्धि-काल में भी प्रतिकूल हो चुकी थीं। अक्टाड चतुर्थ में यह बात स्पष्टतः कही गयी कि 11 देशों के लिए इनमें से कम से कम एक वस्तु के निर्यात से 20 से 50 प्रतिशत तक विदेशी विनिमय प्राप्त होता था। पाँच देश ऐसे थे जिन्हें इनमें से कम से कम एक वस्तु के निर्यात द्वारा 50 प्रतिशत से अधिक विदेशी विनिमय प्राप्त होता था। उपर्युक्त रिपोर्ट के आधार पर अधिवेशन में यह तर्क भी प्रस्तुत किया गया कि 1975 के मार्च तक 10 अन्य वस्तुओं की व्यापार शर्तें भी काफी प्रतिकूल हो चुकी थीं तथा इनसे लगभग 42 विकासशील देशों की व्यापार आय पर प्रतिकूल प्रभाव हुआ था।

अक्टाड चतुर्थ में इन्हीं कारणों से वस्तु-समझौतों पर बल दिया गया। अधिवेशन में यह तर्क दिया गया कि 1968 में द्वितीय अक्टाड के समान घोषित सामान्यीकृत अधिमानों की योजना (Generalized Scheme of Preference अथवा GSP) का और भी अधिक विस्तार किया जाय। इन अधिमानों के अन्तर्गत विकसित देश विकासशील देशों की वस्तुओं को बिना भेद भाव के तथा बिना दोतरफा (reciprocal) अधिमानों की घोषणा के आयात करते हैं। अपने व्यापार के परिमाण एवं मूल्य में वृद्धि हेतु विकासशील देशों ने विकसित औद्योगिक देशों से आग्रह किया कि वे सामान्यीकृत अधिमानों की योजना में अधिकाधिक वस्तुओं का समावेश करें। जिन देशों ने 1975 के अन्त तक इन योजनाओं की घोषणा नहीं की थी, उनसे भी अविलम्ब ऐसी घोषणा करने का अनुरोध किया गया।

अक्टाड चतुर्थ में विकासशील देशों ने विकसित देशों को यह स्पष्ट संकेत दिया कि उनके विकास हेतु विकसित देशों द्वारा विदेशी सहायता एवं व्यापार हेतु टुकड़े-टुकड़े करके छूट देना उपयुक्त नहीं है। उन्होंने औद्योगिक देशों से माँग की कि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों—विशेषतः व्यापार एवं सहायता के प्रारूप में मूलभूत परिवर्तन करने में पहल करें। इसके लिए सरकारी विकास सहायता के लक्ष्यों में सुधार करने, ऋणों व ब्याज के भुगतान में रियायतें देने, औद्योगिकी (technology) के अन्तरण (transfer) के लिए एक निर्दिष्ट आचार संहिता निर्धारण करने, सामान्यीकृत अधिमान योजनाओं (GSPs) के विस्तार एवं इनमें सुधार करने तथा विश्व की आर्थिक समस्याओं पर विचार विमर्श करने हेतु अक्टाड को एक महत्वपूर्ण मंच का स्थान देने का आग्रह किया गया।

अक्टाड चतुर्थ द्वारा लिये गये प्रमुख निर्णय निम्न प्रकार थे :

(1) अक्टाड के तत्वावधान में मार्च 1977 से पूर्व एक बैठक बुलायी जायगी जिसमें महत्वपूर्ण वस्तुओं के तटस्थ भण्डार के लिए वित्तीय व्यवस्था पर विचार-विमर्श किया जायेगा। 'ग्रुप ऑफ 77' द्वारा प्रस्तावित कोष (Common fund) के उद्देश्यों एवं उपयोग प्रणाली के निर्धारण हेतु अक्टाड के तुरन्त बाद तैयारी-बैठकें आयोजित करने का भी निर्णय लिया गया। यह भी तय किया गया कि 1978 तक वस्तु समझौतों के प्रारूप तैयार कर लिये जायें।

(2) विकासशील देशों में निर्यात व्यापार में विकास एवं स्थिरता हेतु **एकीकृत वस्तु कार्यक्रमों** (Integrated Commodity Programmes) को प्रभावी बनाने का प्रयास किया जायेगा।

(3) वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से यह अनुरोध किया गया कि वे प्रत्येक देश के लिए भावी नीति निर्धारण हेतु विकासशील देशों की ऋण-ग्रस्तता एवं सम्बद्ध समस्याओं का अध्ययन करें। 1977 में अक्टाड का व्यापार एवं विकास बोर्ड इस दिशा में हुई प्रगति की समीक्षा करेगा।

(4) अक्टाड चतुर्थ में विकासशील देशों को दी जाने वाली उदारतापूर्ण सहायता के औचित्य को विकसित देशों ने स्वीकार किया परन्तु राष्ट्रीय आय का 0.7 प्रतिशत सरकारी विदेशी सहायता के रूप में कब तक दिया जा सकेगा इस विषय में उन्होंने वचनबद्ध होने की माँग अस्वीकार कर दी।

(5) सामान्यीकृत अधिमान योजनाओं में सुधार करने तथा इनका विस्तार करने के अतिरिक्त इनकी 10 वर्ष की अवधि में वृद्धि कर दी जानी चाहिए।

(6) विकासशील देशों के निर्यात पर विकसित देशों से लगे हुए प्रतिबन्धों को समाप्त किया जाना चाहिए अथवा इनमें यथासम्भव कमी की जानी चाहिए।

(7) विश्व बैंक तथा क्षेत्रीय विकास संस्थाओं को आह्वान किया गया कि वे विकासशील देशों के निर्यातों के लिए पुनर्वित्त की व्यवस्था करें।

(8) विकसित देशों से विकासशील देशों को प्रौद्योगिकी के अन्तरण हेतु 1977 के मध्य तक एक ड्राफ्ट संहिता निर्धारित की जाय। इसके लिए अंक्टाड के अन्तर्गत एक परामर्शदात्री सेवा स्थापित की जानी चाहिए जो कि विकासशील देशों में प्रौद्योगिकी के विकास में सहायता देगी।

(9) सबसे कम व एकान्त प्रदेशों (land locked countries) तथा द्वीपीय वाले विकासशील देशों को सरकारी विकास सहायता में अपेक्षाकृत अधिक भाग मिलना चाहिए। इन देशों की सहायता के लिए सहायता देने वाली संस्थाओं को उपयुक्त शर्तें निर्धारित करनी चाहिए।

(10) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग से सम्बद्ध विषयों के लिए श्रेष्ठतम दशाओं के निर्माण हेतु अंक्टाड को और अधिक शक्तिशाली बनाना आवश्यक है।

यह उल्लेखनीय है कि तीन सप्ताह तक मन्त्रणाओं के पश्चात् भी विकासशील देश विकसित देशों से अपेक्षित रियायतें प्राप्त करने में सफल नहीं हो सके। जैसा कि उपर्युक्त विवरण से भी स्पष्ट है, विकासशील देशों द्वारा निर्यात की जाने वाली वस्तुओं—विशेष रूप से प्राथमिक वस्तुओं तथा निर्मित (manufactured) वस्तुओं—पर विद्यमान प्रतिबन्धों को समाप्त अथवा इन्हें न्यूनतम करने वाले प्रस्ताव पर विकसित देशों ने तत्काल कोई अनुकूल प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। अमरीका, जापान, जर्मनी, फ्रांस, आदि विकसित देश विकासशील देशों को अधिक विकास सहायता रियायती शर्तों पर देने के लिए भी प्रस्तुत नहीं थे। अतएव वे राष्ट्रीय उत्पादन का 0.7 प्रतिशत भाग विदेशी सहायता के रूप में देने का वचन नहीं दे सके।

एकीकृत वस्तु कार्यक्रम तथा प्राथमिक वस्तुओं के तटस्थ भण्डार हेतु प्रस्तावित कोष के विषय में अंक्टाड चतुर्थ के बाद जेनेवा में बैठकें हुईं परन्तु कोई भी अनुकूल परिणाम नहीं निकल सका। विशेष रूप से इस सन्दर्भ में अमरीका का दृष्टिकोण अभी तक अनुकूल नहीं हो पाया है। मई 1976 में अंक्टाड चतुर्थ के समय तत्कालीन अमरीकी विदेश मन्त्री डॉ. हेनरी किसिंजर ने तटस्थ भण्डार हेतु प्रस्तावित कोष की उपादेयता को संदिग्ध बताया था, तथा मार्च 1976 में कार्टर प्रशासन द्वारा भी विकासशील देशों की बिगड़ती हुई व्यापार शर्तों एवं उनकी बढ़ती हुई सहायता की आवश्यकता के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए भी इस ओर कोई ठोस कदम अब तक नहीं उठाये गये हैं। अमरीका ने प्रस्ताव रखा है कि 100 करोड़ डालर के कोष से अन्तर्राष्ट्रीय साधन बैंक स्थापित किया जाए जिसके आधार पर निर्धन देशों में खनिज सम्पदा एवं अन्य साधनों के विकास हेतु बहुराष्ट्रीय निगमों को प्रोत्साहित किया जा सके। यह तो विकसित देश स्वीकार करते हैं कि प्राथमिक वस्तुओं के तटस्थ भण्डार से इनके मूल्यों के उच्चावचनों में कमी होगी परन्तु तटस्थ भण्डार के लिए आवश्यक वित्तीय प्रबन्ध योगदान हेतु अब तक भी अपनी नीति स्पष्ट नहीं कर पाये हैं।

यही कारण है कि अंक्टाड चतुर्थ के समय हुए निर्णयों की क्रियान्विति आज तक भी सम्भव नहीं हो पायी, तथा जैसा कि उन्नीसवें अध्याय में बताया गया है, विकासशील देशों की विदेशी सहायता एवं भुगतान-असन्तुलन की समस्याएँ आज अंक्टाड की स्थापना से भी अधिक गम्भीर रूप धारण कर चुकी हैं। परन्तु विकासशील देशों की व्यापार समस्याओं का समाधान केवल विकसित देशों से प्राप्त रियायतों में ही निहित नहीं है। इनकी व्यापार समस्याएँ मूलभूत हैं तथा दीर्घकाल में निर्यात वृद्धि हेतु इन्हें अपने उद्योगों की दक्षता में वृद्धि करके प्रतियोगितापूर्ण वातावरण में कार्य करने हेतु तत्पर रहना होगा।

अंक्टाड पंचम
[UNCTAD V]

अंक्टाड पंचम सम्मेलन 7 मई से 3 जून, 1979 तक मनीला में हुआ। चतुर्थ सम्मेलन में निर्धारित की गयी रूपरेखा की व्यावहारिक असफलता को देखते हुए पंचम सम्मेलन से बहुत अधिक सफल होने की आशा पहले से ही कम थी परन्तु विकासशील देशों ने अपनी माँग की व्याख्या

पहले से ही अरूशा (Arusha—Tanzania) मे निर्धारित कर ली थी। इसमे इस बात पर विशेष जोर दिया गया था कि विकासशील देश परस्पर सहयोग मे वृद्धि करें। चतुर्थ सम्मेलन मे प्रस्तावित सामान्य कोष की स्थापना पर विकसित देशो की सहमति प्राप्त करने मे अनेक कठिनाइयां सामने आयी। मार्च 1979 मे हुए समझौते के अन्तर्गत 400 मिलियन डालर का कोष स्थापित करना स्वीकार किया गया, जब कि सुझाव 2000 मिलियन डालर का कोष स्थापित करने का था। इस प्रकार, अंकटाड का पाँचवां सम्मेलन ऐसे वातावरण मे हुआ जिसमे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना का अभाव था तथा औद्योगिक देशो द्वारा व्यापार के क्षेत्र मे सरक्षणवादी प्रवृत्तियो मे वृद्धि की जा रही थी।

मनीला मे हुए पांचवें सम्मेलन मे ऐसे प्रस्ताव रखे गये जिनका उद्देश्य व्यापार, मुद्रा एव वित्त तथा विश्व की अर्थ-व्यवस्था मे विभिन्न क्षेत्रो मे अन्योन्याश्रय (interdependence) से सम्बन्धित सरचनात्मक परिवर्तन लाना था। सम्मेलन मे रखे गये अनेक प्रस्तावो मे से केवल कुछ पर ही विकसित देशो की सहमति प्राप्त की जा सकी। यह स्वीकार कर लिया गया कि कम विकसित देशो के विकास के लिए अधिक कार्य करना होगा और इन्हे दी जाने वाली सहायता मे वृद्धि करनी होगी। इनको प्राप्त होने वाली अधिकाधिक विकास सहायता को दुगुना करने का लक्ष्य रखा गया। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था तथा मुद्रा-प्रणाली मे सुधार व्यापार मे सुविधाओ के विस्तार, विकासशील देशो के निर्यातो के लिए क्षतिपूरक सुविधा तथा ऋण एव व्यापार से सम्बन्धित अन्य प्रस्तावो पर विकसित देशो की सहमति प्राप्त नही की जा सकी। ये विषय अंकटाड के व्यापार एव विकास बोर्ड को और अधिक विचार के लिए सौंपे गये। इस सम्मेलन की मुख्य विशेषता यह थी कि विकासशील देशो ने 18 सदस्यो की समिति नियुक्त करने का निर्णय लिया जो कि बहुपक्षीय आर्थिक सहयोग की रूपरेखा तैयार करेगी।

अंकटाड के पचम-सम्मेलन म 1980 के दशक के लिए विकास नीति निर्धारित की जा सकती थी। *परन्तु इसकी असफलता से विकासशील देशो को निराशा ही मिली है।* विशेष रूप से ऐसे विकासशील देश जिन्हे तेल का आयात करना पडता है गम्भीर स्थिति का सामना कर रहे हैं। इन विकासशील देशो के भुगतान सन्तुलन मे घाटा निरन्तर बढ रहा है। इन देशो पर विदेशी ऋणो का भार भी बहुत अधिक बढ गया है। विश्व का भविष्य बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि आने वाले वर्षों मे विकसित देश ससार की दो-तिहाई जनसख्या वाले गरीब देशो के प्रति क्या दृष्टिकोण अपनाते हैं। यदि गरीब और अमीर देशो मे अन्तर बढते गये तो भविष्य अन्धकारमय हो सकता है। वास्तव मे आवश्यकता इस बात की है कि ससार के विकसित देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे इस प्रकार का वातावरण उत्पन्न करें कि कम विकसित देश भी औद्योगिक विकास कर सकें। वे व्यापारिक सरक्षण एव तटकर की दीवारों को हटायें ताकि कम विकसित देशो द्वारा निर्मित औद्योगिक पदार्थ विकसित देशो मे प्रवेश पा सकें।

जून 1980 मे वस्तुओ के लिए सामान्य कोष के समझौता-पत्र (Articles of Agreement on the Common Fund for Commodities) को स्वीकार कर लिया गया है। इसे कार्यान्वित करने के लिए दो-तिहाई पूंजी के प्रत्यक्ष अशदान वाले कम-से-कम 90 देशो की स्वीकृति अनिवार्य है। 280 मिलियन डालर के ऐच्छिक अशदाना का 50 प्रतिशत भाग कोष कार्यान्वित करने से पूर्व प्राप्त करना भी अनिवार्य है। इस कोष के दो खाते होगे: एक समीकरण भण्डारो (buffer stocks) के लिए तथा दूसरा वस्तु बाजारो की सरचनात्मक स्थिति मे सुधार के लिए। यह कोष एक स्वायत्त सस्था के रूप मे अपने प्रशासक मण्डल के अधीन कार्य करेगा जिसमे विभिन्न वर्गों के देशो को प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा।

अक्टूबर 1981 म 22 विकसित तथा विकासशील राष्ट्रो का **केनकुन शिखर सम्मेलन (Cancun Summit)** मैक्सिको म हुआ। विकासशील देशो द्वारा आर्थिक सहयोग तथा व्यापार *से सम्बन्धित अनेक प्रस्ताव रखे गये परन्तु विकसित देशो, विशेषतया अमरीका, द्वारा असहयोगपूर्ण रवैया अपनाया गया।* भविष्य के कार्यक्रमो के लिए कोई सहमति प्राप्त नही की जा सकी है।

छठा अंकटाड
[UNCTAD VI]

अंकटाड का छठा सम्मेलन जून 1983 मे बेलग्रेड (Belgrade) म हुआ। इसमे 166

देशो के 3,000 से अधिक प्रतिनिधियो ने भाग लिया। इसके पूर्व विकासशील देशो ने अपनी माँगों का एक मसौदा (The Buenos Aires Message for Dialogue and Consensus) अप्रैल 1983 मे तैयार कर लिया था। इसमे मुख्य बातें ये थी : (1) अंकटाड द्वारा पहले से स्वीकार किये जा चुके प्रस्तावो को तत्काल लागू करने के उपाय किये जायें, इनमें मुख्य रूप से सामान्य कोष की स्थापना तथा वस्तु-बाजारो की स्थिरता आदि उपाय अधिक महत्वपूर्ण हैं, (2) व्यापार के क्षेत्र मे संरक्षणवादी नीतियो के स्थान पर ऐसे उपाय किये जायें जिनसे विकासशील देशों को निर्यात बढ़ाने की सुविधाएँ मिलें, (3) विकासशील देशो को अधिक वित्तीय साधन उपलब्ध कराये जायें तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-व्यवस्था मे आवश्यक सुधार किये जायें, तथा (4) कम विकसित देशो के लिए अधिक सुविधाएँ देने का एक नया कार्यक्रम तैयार किया जाय।

एक महीने के इस छठे सम्मेलन मे कुछ विषयो पर प्रस्ताव पारित किये गये। परन्तु कुल मिलाकर, स्थिति मे कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ। विकासशील देश अधिक सहयोग देने के लिए तैयार नहीं हैं। विकासशील देशों को इस सम्मेलन से निराशा ही हुई।

सातवाँ अंकटाड•
[UNCTAD VII]

अंकटाड सप्तम का अधिवेशन जेनेवा मे जुलाई-अगस्त 1987 मे हुआ। इस सम्मेलन में 148 देशो के प्रतिनिधियो ने भाग लिया।

सम्मेलन मे पूर्व की भाँति निम्नलिखित बिन्दुओ पर विचार-विमर्श किया गया, (अ) विकासशील देशो के निर्यातो की धीमी प्रगति, (ब) उत्तरोत्तर प्रतिकूल व्यापार-शर्तें, (स) निर्धन देशो के ऋणो का उपयुक्त समायोजन, तथा (द) अपर्याप्त पूँजी-प्रवाह। विकासशील देशो ने पुनः इस बात पर बल दिया कि उनकी वस्तुओ—विशेषरूप से विनिर्मित वस्तुओं—को विकसित देशो मे निर्बाध रूप से प्रविष्टि मिलनी चाहिए। वे इस बात पर भी बल दे रहे थे कि उनके बढ़ते हुए ऋणो के भुगतान की शर्तें उदार होनी चाहिए, तथा भविष्य के लिए उन्हे आर्थिक विकास के लिए रियायती ऋण अधिक परिमाण मे मिलने चाहिए।

जैसा कि अपेक्षित था, विकसित देश विनिर्मित वस्तुओ के निर्बाध आयात के पक्षधर नही थे। इसके बावजूद 1987 के अंकटाड सम्मेलन मे एक अपूर्व सफलता यह मिली कि विकसित व विकासशील देशो के प्रतिनिधियो ने सर्वसम्मति से चार विषयो पर निर्णय लिये। इन निर्णयो को निर्णायक पहल (The Final Act) की संज्ञा दी गयी। ये चार विषय इस प्रकार हैं :

(1) आर्थिक विकास हेतु संसाधन—सभी प्रतिनिधि इस बात से सहमत थे कि अधिकांश विकासशील देशो पर ऋण का भारी बोझ है। उन्होने सर्वसम्मति से यह निर्णय लिया कि यथा-सम्भव व्यापारी बैंक ऋणो का पुन: सूचीकरण करें तथा नये ऋण उदार तथा लचीली शर्तों के आधार पर दें। यह भी तय किया गया कि जो सर्वाधिक निर्धन देश उपयुक्त समायोजन की नीति अपना रहे हैं उन्हें विशेष रूप से रियायती ब्याज दरो तथा दीर्घकालीन भुगतान अवधि का लाभ दिया जाना चाहिए।

विकासशील देशों के प्रतिनिधियो ने विकसित देशो से यह आग्रह किया कि वे अपनी राष्ट्रीय आय के 0.7 प्रतिशत भाग को विकासशील देशो की सहायतार्थ देने का लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करें। साथ ही यह भी अनुरोध किया गया कि रियायती ब्याज पर अधिक ऋण उपलब्ध कराने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ के आठवें आपूरण से सम्बद्ध वायदों को शीघ्र ही पूरा करें।

(2) वस्तुएँ एवं साझा-कोष—अंकटाड चतुर्थ मे विकासशील देशों द्वारा निर्यातित कृषि-जन्य एवं अन्य प्राथमिक वस्तुओ की घटती हुई कीमतो मे स्थिरता लाने हेतु एक कोष की स्थापना का निर्णय लिया गया था। एक दशक से अधिक अवधि निकलने के बावजूद इस कोष की पूरी राशि प्राप्त नहीं हो सकी थी। अंकटाड सप्तम मे अब तक के वस्तु-समझौतो मे शामिल नहीं की गयी वस्तुओ को शामिल करने के अतिरिक्त उक्त कोष की आपूरित राशि संग्रह करने का संकल्प दोहराया गया। एक उल्लेखनीय बात यह हुई कि सोवियत रूस ने भी इस बार साझा-कोष मे अपना अंशदान करने की घोषणा कर दी। प्रतिनिधियों ने इस बात पर सहमति व्यक्त की कि

1990 मे आयोजित यूरेग्वे राउण्ड तथा अन्य बहुपक्षीय मन्त्रणाओ के माध्यम से प्राथमिक वस्तुओं के व्यापार सम्बन्धी निर्णय लिये जायेंगे।

(3) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार**—सभी प्रतिनिधियों ने यह स्वीकार किया कि प्राथमिकताओ की सामान्यीकृत योजना (GSP) को विकसित देशो, विशेष रूप मे अमरीका, का समर्थन प्राप्त नहीं है और इस कारण इसका लाभ विकासशील देशो को वांछित रूप मे प्राप्त नही हो पाया है। इस बात पर जोर दिया गया कि उक्त योजना को व्यापक रूप मे प्रभावी बनाया जाये ताकि विकासशील देशो को इसका लाभ मिल सके। इसमे सेवाओं को भी शामिल करने का निर्णय किया गया। विकासशील देशो के निर्यातो मे वृद्धि हेतु बहुपक्षीय मन्त्रणाओ को अधिक प्रभावी बनाने का निर्णय भी लिया गया।

(4) **सर्वाधिक निर्धन देशों की समस्याएँ**—अत्यधिक निर्धन देशो के आर्थिक विकास हेतु उन्हे अधिकाधिक रियायती ऋण उपलब्ध कराने एव पुराने ऋणो की विलम्बित अदायगी अथवा पुन सूचीकरण की सुविधा उपलब्ध कराने का भी सप्तम अक्टाड सम्मेलन में निर्णय किया गया।

अन्त मे यह कहा जा सकता है कि विभिन्न सम्मेलनो म विकासशील देश विकसित देशो से अधिक सहयोग की माँग करते आये हैं परन्तु विकसित देशो ने सहयोग की ओर अधिक ध्यान नही दिया है। यह बात स्पष्ट है कि तेल उत्पादक-देशो द्वारा तेल की कीमतें बढाने से तेल के आयातकर्ता विकासशील देशो को बहुत अधिक हानि हुई है। तेल के उत्पादक देश भी विकासशील देशो की श्रेणी मे आते हैं। इनके बढे हुए साधनो का उपयोग अन्य विकासशील देशो की समृद्धि के लिए किया जा सकता था, परन्तु ऐसा नहीं हुआ है। विकासशील देशो के बीच परस्पर सहयोग उतना ही आवश्यक है जितना कि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग बढाना आवश्यक है। अक्टाड इस उद्देश्य की पूर्ति करने मे सफल नही हो पाया है।

व्यापार विकास प्रतिवेदन 1989[1]

हाल ही में अक्टाड द्वारा प्रकाशित 'ट्रेड डेवलपमेंट रिपोर्ट 1989" मे इस बात पर बल दिया गया है कि जिन विकासशील देशो पर ऋण का भार काफी अधिक है उनके लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण लक्ष्य है आर्थिक विकास, जिसे उन्हें हर कीमत पर प्राप्त करना होगा। अक्टाड के इस प्रतिवेदन म यह तो स्वीकार किया गया है कि विकसित देश कुछ समय से विकसित देशों के प्रति उदार रुख अपनाने लगे हैं, परन्तु विकसित देशो से और अधिक उदारता की अपेक्षा की जा सकती है।

1989 के प्रतिवेदन में बडे देशो से आग्रह किया गया कि वे **"ब्रेडी योजना"** को स्वीकार करते हुए विकासशील देशो को ऋण-भार से मुक्त कराने मे सक्रिय भूमिका प्रदान करें।

प्रतिवेदन म विकासशील देशो के आन्तरिक प्रबन्ध को सुधारने के विषय में कहीं-कहीं उल्लेख किया गया है। ऋण के भार तथा विकास कार्यक्रमो के लाभों का देश के भीतर न्यायपूर्ण वितरण होना चाहिए, इसका उल्लेख भी प्रतिवेदन म है। परन्तु अनेक देशो मे एक ओर तो निजीकरण की प्रवृत्ति चल रही है जबकि दूसरी ओर ऋण-भार से मुक्ति हेतु निजी साधनो को अधिगृहीत किया जा रहा है।

वस्तुत बडे औद्योगिक देशो से किस प्रकार व्यापार मे रियायतें प्राप्त की जायें तथा ऋण की समस्या से निजात कैसे पायी जाय यह काफी सीमा तक विकासशील देशो को भी सोचना है। अक्टाड के माध्यम से केवल बडे देशों की नीतियो को विकासशील देशों की बढती हुई ऋणग्रस्तता, उनकी धीमी विकास-दर तथा बढते हुए व्यापार घाटे के लिए दोषी ठहराना उचित नही है। इन देशो को अपनी अर्थव्यवस्था के प्रबन्ध को ठीक करना होगा और साथ ही नीतियो मे विद्यमान विसगतियो को दूर करना होगा, तभी अक्टाड के लक्ष्य पूरे हो सकेंगे।

प्रश्न एवं उनके संकेत

1 **अंक्टाड द्वारा सुझाई गयी सामान्य अधिमानों की प्रणाली मे विकासशील देशों को होने वाले लाभ बताइए।**

---

1 'UNCTAD's New Thinking"—Satish Jha See *Economic & Political Weekly*, September 23, 1989.

Indicate the benefits to developing countries from the system of general preferences as recommended by the UNCTAD.

[संकेत—यह बताइए कि स्थापना से लेकर अब तक अंक्टाड ने विकासशील देशों के निर्यातों में वृद्धि तथा उनके व्यापार सन्तुलन को अनुकूल बनाने हेतु विकसित देशों से कौन-कौन सी रियायतें प्राप्त की हैं। सामान्यीकृत अधिमाना की योजना पर भी संक्षेप में प्रकाश डालिए।]

2 अंक्टाड के मूलभूत सिद्धान्त एवं उद्देश्य कौन-कौन से हैं ? विकासशील देशों के नियोजित आर्थिक विकास की प्रक्रिया के द्वारा पर क्या प्रभाव हुए हैं ?

What are the basic principles and objectives of UNCTAD ? How have they been affected by the process of planned economic development of developing countries ?

[संकेत—प्रारम्भ में अंक्टाड के उद्देश्य एवं सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए। उत्तर के द्वितीय भाग में अंक्टाड से विकासशील देशों को होने वाले लाभ बताइए।]

3. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को सुविधाजनक बनाने एवं इसके विस्तार में अंक्टाड की भूमिका का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

State briefly the contribution of UNCTAD in facilitating and expanding world trade.

4. "द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् की अवधि में बढ़ते हुए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परिणाम तथा आर्थिक सहयोग व अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र का विस्तार कर दिया है।" इस कथन की विवेचना कीजिए।

"The increasing volume of international trade and economic co operation during the Post-World War II period has widened the scope of International Economics." Discuss.

5. अंक्टाड की गतिविधियों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए तथा स्पष्ट कीजिए कि यह विकासशील देशों की समस्या के समाधान में कहाँ तक असफल रहा है।

Examine critically the working of UNCTAD and account for its failure to solve the problem of developing countries

[संकेत—अंक्टाड के प्रमुख उद्देश्य बताइए तथा विकासशील देशों के लिए प्रशुल्क एवं अन्य प्रकार की रियायतें प्राप्त करने की दिशा में अंक्टाड की सफलताओं का मूल्यांकन कीजिए। यह भी बताइए कि किस सीमा तक विकासशील देशों को विकसित देशों से प्राप्त रियायतों पर ही आश्रित रहना चाहिए। उन्नीसवें अध्याय में प्रस्तुत सामग्री भी इसके लिए उपयोगी होगी।]

6 विकासशील एवं विकसित देशों के मध्य विद्यमान आर्थिक सम्बन्धों का विश्लेषण कीजिए। विकासशील देशों में परस्पर व्यापार के विस्तार के हेतु दिये गये तर्कों का मूल्यांकन भी करें।

Analyse the international economic relations of developing countries with the developed countries and examine the case for larger trade within the developing countries.

7. अंक्टाड VI पर टिप्पणी लिखिए।

Write short note on UNCTAD VI.

20

क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग
[REGIONAL ECONOMIC COOPERATION]

आधुनिक सन्दर्भ में उत्पादन का पैमाना काफी बड़ा हो गया है। इसके फलस्वरूप उत्पादक इकाइयों को न केवल बड़े बाजारों की आवश्यकता है, अपितु यह भी आवश्यक है कि क्रय शक्ति का वितरण इस प्रकार हो कि वृहत् स्तर पर उत्पादित वस्तुओं को बेचा जा सके। यदि कोई देश आकार एवं जनसंख्या की दृष्टि से छोटा है तो वह बड़े पैमाने की बचतें तभी प्राप्त कर सकता है जब उसका बाजार राष्ट्रीय सीमाओं को लाँघकर अन्य देशों तक व्याप्त हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि यह देश अपने समीपवर्ती देशों के साथ आर्थिक सहयोग करें। परन्तु आर्थिक शक्ति की प्राप्ति एवं राजनीतिक श्रेष्ठता में गहरा सम्बन्ध है तथा इस प्रकार आर्थिक सहयोग आर्थिक आकार का एक फलन (Function) बन जाता है। दूसरे शब्दों में, आर्थिक आकार को वृहत् बनाने की दृष्टि से आर्थिक सहयोग आवश्यक हो जाता है।

इसके अतिरिक्त तीन दशक से भी कम अवधि में हुए दो विश्व युद्धों ने इस धारणा को जन्म दिया कि सगठित यूरोप के माध्यम से ही यूरोप में शक्ति-सन्तुलन को विद्यमान रखा जा सकता है। सम्भवतः यह धारणा सोवियत रूस में साम्यवाद की स्थापना तथा उसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की वकालत की एक प्रतिक्रिया मात्र थी। यदि इस स्थिति में यूरोप के बिखरे हुए एवं एकाकी रहते तो सम्भवतः साम्यवादी शक्तियाँ उन पर हावी हो गयी होतीं। इसी परिस्थिति ने यूरोप के गैर साम्यवादी देशों को सगठित होने के लिए विवश कर दिया। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् वृहत् यूरोप के लिए बढ़ती हुई आवश्यकता वस्तुतः राजनीतिक एवं आर्थिक घटना-चक्रों की उपज मात्र थी। यद्यपि इस बात को सभी जानते थे कि यूरोप के देशों का एकीकरण एक लम्बी प्रक्रिया है तथा इसमें अधिक समय लग जायगा तथापि इस दिशा में प्रयास करना आवश्यक समझा गया। प्रारम्भ में ऐसी आशा थी कि आर्थिक एकीकरण की प्रक्रिया में इसी प्रकार से राजनीतिक एकीकरण की अपेक्षा कम बाधाएँ प्रस्तुत होंगी। परन्तु धीरे-धीरे इस प्रक्रिया में उपस्थित होने वाली परिस्थितियों से यह स्पष्ट हो गया कि आर्थिक सहयोग वस्तुतः राजनीतिक सहयोग से भी कठिन है। आवश्यकता इसी बात की है कि आर्थिक सहयोग का दृष्टिकोण एकपक्षीय न होकर बहुपक्षीय हो तथा प्रत्येक देश अन्य साथी देशों की आकांक्षाओं को भी समझें एवं इनकी पूर्ति में उन्हें सहयोग दें। यूरोप में ऐसा सम्भव हो सका और इसीलिए अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा वहाँ क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग सफल हो गया।

आर्थिक सहयोग को मुख्य रूप से पाँच वर्गों में विभक्त किया जा सकता है

1 आर्थिक सघ (Economics Union),

2 कस्टम सघ (Customs Union),

3 मुक्त व्यापार क्षेत्र (Free Trade Area)

4 क्षेत्रीय या आंशिक एकीकरण (Sectoral or Partial Integration), तथा

5 दीर्घकालीन व्यापार अनुबन्ध (Long term Trade Contracts)।

1 आर्थिक सघ (Economics Union)

उपर्युक्त वर्गीकरण आर्थिक सहयोग की नियोजित सीमा पर आधारित है। यदि कुछ देश पूर्ण रूप से अपनी अर्थ व्यवस्थाओं को एकीकृत कर लें तो उसे आर्थिक सघ की सज्ञा दी जाती है।

आर्थिक संघ में सदस्य देशों के मध्य पूंजी, श्रम, वस्तुओं एवं सेवाओं का राष्ट्रीय सीमाओं के बन्धनों के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से आवागमन होता रहता है। सभी सदस्य देशों की नीतियाँ एकीकृत, समरूप एवं सामूहिक रूप से निर्धारित की हुई रहती है। आर्थिक संघ के प्रत्यक्ष उदाहरणों के रूप में यूरोपियन साझा बाजार तथा बेनेलक्स को लिया जा सकता है। यूरोपियन साझा बाजार (EMC) में पश्चिमी जर्मनी, फ्रान्स, इटली, नीदरलैण्ड्स, बेल्जियम एवं लक्जमबर्ग आदि देश सम्मिलित थे, परन्तु 1973 में ब्रिटेन को भी साझा बाजार का सदस्य बनाये जाने पर साझा बाजार में अब सात देश सम्मिलित हो गये हैं। बेनेलक्स में बेल्जियम, नीदरलैण्ड्स तथा लक्जमबर्ग सम्मिलित हैं।

आर्थिक संघ जिन मुख्य सिद्धान्तों पर आधारित है उनमें कस्टम यूनियन के अतिरिक्त व्यक्तियों, वस्तुओं एवं साधनों का स्वतन्त्र आवागमन, सामूहिक परिवहन सुविधाएँ, सामूहिक कृषि-नीतियों, एकीकृत आर्थिक नीतियाँ, असन्तुलित भुगतान-सन्तुलन में सुधार करने हेतु सामूहिक उपायों की कार्यान्विति, सामूहिक आर्थिक विकास बैंक की स्थापना (यूरोपियन विनियोग बैंक); प्रतियोगिता में वृद्धि-हेतु नियमों का निर्माण तथा श्रम की गतिशीलता व रोजगार में वृद्धि करने हेतु सामाजिक कोष (जैसे यूरोप में है) की स्थापना, आदि का समावेश किया जाता है। वस्तुतः आर्थिक सहयोग की पराकाष्ठा आर्थिक संघ में दिखायी देती है।

2 कस्टम यूनियन (Costoms Union)

कस्टम संघ या कस्टम यूनियन के अन्तर्गत दो या अधिक कस्टम सीमाओं के स्थान पर एक कस्टम सीमा का निर्धारण किया जाता है। कस्टम यूनियन की स्थापना मुख्य रूप से निम्न दो उद्देश्यों को लेकर की जाती है .

(अ) विदेशी व्यापार में विद्यमान प्रशुल्क-दरों तथा अन्य नियमों को समाप्त करना—कस्टम यूनियन के सदस्य देश एक-दूसरे के साथ व्यापार करते समय अधिकांश वस्तुओं पर कोई प्रशुल्क (duty) नहीं लगाते। विशेष रूप से यह बात सदस्य देशों में उत्पादित वस्तुओं की आवागमन पर लागू होती है, तथा

(ब) संघ के बाहर वाले देशों के साथ व्यापार करने पर समान दरों पर प्रशुल्क की वसूली—जो देश कस्टम संघ में शामिल नहीं उनसे आयातित वस्तुओं पर प्रशुल्क लिया जायगा। परन्तु प्रशुल्क की दरें सभी सदस्य देश समान रखेंगे।[1]

जे. ई. मीड ने उपर्युक्त परिभाषा के अनुरूप कस्टम यूनियन को एक ऐसा संगठन बताया है जिसमें कस्टम देशों के बीच तो वस्तुओं व सेवाओं का पूर्णरूप से स्वतन्त्र आवागमन है, परन्तु बाहरी जगत तथा यूनियन के सदस्यों के बीच वस्तुओं व सेवाओं का व्यापार प्रशुल्क नीति के अधीन होता है।[2]

अतएव यह कहा जा सकता है कि आर्थिक संघ की अपेक्षा कस्टम यूनियन के अन्तर्गत आर्थिक एकीकरण कम शक्तिशाली होता है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, कस्टम यूनियन में केवल सदस्य देशों के पारस्परिक व्यापार में क्षेत्र में प्रशुल्क-दरों को समाप्त किया जाता है परन्तु पूंजी, श्रम व सेवाओं का आवागमन पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं होता।

3. मुक्त व्यापार क्षेत्र (Free Trade Area)

आर्थिक यूनियन या कस्टम यूनियन से भिन्न मुक्त व्यापार क्षेत्र होता है जिसमें दो या अधिक देश परस्पर होने वाले समस्त व्यापार को प्रशुल्क-दरों से मुक्त कर लेते हैं, यदि इन वस्तुओं का उत्पादन इन्हीं देशों में किया गया हो। परन्तु जहाँ कस्टम यूनियन के अन्तर्गत यूनियन के बाहर के देशों से होने वाले व्यापार के लिए सभी सदस्य समरूप प्रशुल्क-दरें लागू करते हैं मुक्त व्यापार क्षेत्र के अन्तर्गत सदस्य देश केवल पारस्परिक व्यापार के लिए समान प्रशुल्क नीति अपनाने को बाध्य हैं। दूसरे शब्दों में, मुक्त व्यापार क्षेत्र का प्रत्येक सदस्य देश बाहरी देशों के लिए इच्छानुसार प्रशुल्क नीति अपनाने को स्वतन्त्र है। मुक्त व्यापार क्षेत्र के उदाहरणों में यूरोपियन मुक्त व्यापार

1 Article XXIV, Articles of Agreements of GATT.
2 J. E. Meade, *The Theory of Customs Unions*, (Amsterdam, 1955), p. 13.

संघ (European Free Trade Association EFTA)[1] तथा लेटिन अमरीकी व्यापार संघ (Latin American Free Trade Association—LAFTA) को शामिल किया जा सकता है। एक दृष्टि से मुक्त व्यापार क्षेत्र सदस्य देशों के लिए सुविधाजनक भी है क्योंकि परस्पर व्यापार करते समय तो वे मुक्त व्यापार नीति से लाभ उठा सकते हैं जबकि बाहरी देशों के लिए इच्छा एवं परिस्थितियों के अनुसार वे प्रशुल्क एवं व्यापार नीतियाँ लागू करने को स्वतन्त्र रहते हैं। इस प्रकार आपस में साझा बाजार के लाभ उठाते हुए भी वे किसी सीमा तक स्वतन्त्र व्यापार नीति लागू कर सकते हैं।

4 आंशिक आर्थिक संगठन (Partial or Sectoral Economic Integration)

आंशिक या क्षेत्रीय आर्थिक संगठन एक वस्तु या वस्तुओं के समूह के विषय में स्थापित किसी साझा बाजार को कहा जाता है। इसका एक अच्छा उदाहरण यूरोपियन कोयला तथा इस्पात समुदाय (ECSC) है। आंशिक आर्थिक संगठन के अन्तर्गत सम्बद्ध वस्तु या वस्तुओं के आयात तथा निर्यात पर कोई भी प्रशुल्क नहीं लगाया जाता है, और न ही किसी प्रकार के मात्रात्मक प्रतिबन्ध, भेदभावपूर्ण नीतियाँ, अनुदान या राजकीय सहायता या प्रतियोगिता को रोकने वाले (निरोधात्मक) तरीके जैसे बाजार का विभाजन—आदि का कोई अस्तित्व रहता है।

5 दीर्घकालीन व्यापार अनुबन्ध (Long-Term Trade Contracts)

दीर्घकालीन व्यापार-अनुबन्ध एक प्रकार की द्विपक्षीय व्यवस्था है जिसमें दो देश एक वस्तु या अधिक वस्तुओं के विषय में व्यापार करने को सहमत होते हैं। सम्भवत: आर्थिक सहयोग की यह सबसे शिथिल विधि है। दीर्घकालीन अनुबन्ध बहुधा एक वर्ष से अधिक की अवधि के लिए किया जाता है। उदाहरण के लिए, भारत ने जापान के साथ पाँच वर्ष की अवधि के लिए कच्चे लोहे की पूर्ति हेतु एक अनुबन्ध किया है। इस प्रकार के अनुबन्ध द्वारा निर्दिष्ट मूल्यों पर निर्दिष्ट मात्रा में वस्तु विशेष का निर्यात करना सम्भव हो जाता है जिससे भुगतान-सन्तुलन में एक प्रकार की स्थिरता आ जाती है। इसके अतिरिक्त, इससे निर्यात आय की आने वाले वर्षों में निश्चितता हो जाती है जिससे देश की सरकार अग्रिम योजनाएँ बना सकती है। हाँ, कभी-कभी इससे अनुबन्ध करने वाला कोई एक देश वस्तु विशेष के मूल्य में होने वाले उतार-चढ़ावों से लाभ उठाने से वंचित रह जाता है।

अब हम क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग के प्रमुख स्वरूपों का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

यूरोपियन साझा बाजार
[EUROPEAN COMMON MARKET OR ECM]

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात यूरोपियन साझा बाजार की स्थापना सम्भवत: सबसे महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक थी। विभिन्न युद्ध-जनित समस्याओं के निदान हेतु यूरोप के देशों ने अनेक कदम उठाये थे और इनके कारण उनमें पारस्परिक आर्थिक सहयोग में पर्याप्त वृद्धि हुई थी। इनमें यूरोपियन आर्थिक सहयोग संगठन (Organization for European Economic Cooperation) की स्थापना 1955 में हुई थी जबकि यूरोपियन कोयला व इस्पात समुदाय (European Coal and Steel Community) तथा यूरोपियन भुगतान संघ (European Payments Union) की स्थापना क्रमश: 1952 एवं 1955 में की गयी। द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने से पहले ही 1944 में बेल्जियम, नीदरलैण्ड्स एवं लक्जमबर्ग ने एक कस्टम यूनियन की स्थापना की थी जिसे बेनेलक्स (BENELUX) का नाम दिया गया। यूरोपियन साझा बाजार की स्थापना इस बात का एक और प्रमाण था कि यूरोप के देश अपनी विभिन्न समस्याओं के समाधान हेतु अधिकाधिक सहयोग की दिशा में प्रवृत्त हो रहे थे।

यूरोपियन साझा बाजार का अनौपचारिक प्रारम्भ 1 मई, 1950 को हो गया था जिस

1 यूरोपियन मुक्त बाजार संघ को "आउटर सेवन" (Outer Seven) भी कहा जाता है। इसके सात सदस्य देशों के नाम इस प्रकार हैं : आस्ट्रिया, डेनमार्क, नॉर्वे, पुर्तगाल, स्वीडन, स्विट्जरलैण्ड तथा ब्रिटेन। फिनलैण्ड ने मार्च 1961 में एक सहयोगी (associate) देश के रूप में इसकी सदस्यता ग्रहण की।

दिन फ्रान्स के तत्कालीन विदेश-मन्त्री रॉबर्ट शूमेन ने इसके लिए यूरोप के गैर साम्यवादी देशों का आह्वान किया था। उन्होंने द्वितीय महायुद्ध से ध्वस्त यूरोप को फिर से शक्तिशाली बनाने हेतु जर्मनी एवं फ्रान्स के कोयला एवं इस्पात साधनों का पूल बनाने तथा इन्हें राष्ट्रीय सरकारों से भी ऊपर एक उच्च अधिकार प्राप्त सत्ता के नियन्त्रण में रखने का सुझाव दिया। उनके मतानुसार इसके द्वारा यूरोपियन महासंघ के लिए एक ठोस नींव डालना सम्भव था। उन्होंने इस महासंघ को "शान्ति की सुरक्षा" हेतु अनिवार्य बताया। वैधानिक दृष्टि से विद्यमान तीन यूरोपियन समुदायों को मिलाकर ही यूरोपियन साझा बाजार की स्थापना की गयी। इनमें से प्रथम समुदाय यूरोपियन कोयला तथा इस्पात समुदाय था जिसकी स्थापना अगस्त 1952 में पेरिस में सम्पन्न हुई एक सन्धि के अन्तर्गत की गयी थी। इस सन्धि में फ्रान्स, जर्मनी, इटली एवं तीनों बेनेलक्स देश सम्मिलित थे। इस समुदाय का प्रमुख उद्देश्य कोयला, इस्पात, कच्चे लोहे एवं लोहे की कतरनों (scrap) के विषय में एक सामूहिक बाजार की स्थापना करना था। 1954 तक इसमें से अधिकांश वस्तुओं का सामूहिक बाजार स्थापित किया जा चुका था। ब्रिटेन से इस समुदाय में शामिल होने को कहा गया था, परन्तु उसने इसे स्वीकार नहीं किया।

यूरोपियन कोयला एवं इस्पात समुदाय की सफलता ने राष्ट्रीय सरकारों से ऊपर आर्थिक संगठनों के क्षेत्र को व्यापक बना दिया। उक्त समुदाय की सफलता से प्रोत्साहित होकर यूरोप के गैर-साम्यवादी देशों ने और अधिक व्यापक आर्थिक सहयोग के लिए रोम की सन्धि (Rome Treaty) पर मार्च 1957 में हस्ताक्षर किये। इस सन्धि के अन्तर्गत यूरोपियन आर्थिक समुदाय (European Economic Community or EEC) या साझा बाजार की स्थापना की गयी। यूरोपियन आर्थिक समुदाय ने 1 जनवरी, 1958 से कार्य आरम्भ किया। इसका उद्देश्य सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले देशों (यूरोपियन कोयला व इस्पात समुदाय एवं बेनेलक्स के देश) की आर्थिक नीतियों का एकीकरण करना था।

1957 में ही रोम में एक और सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये जिसके अन्तर्गत यूरोपियन आणविक शक्ति समुदाय या यूरेटम (EURATOM) की स्थापना की थी। इसका उद्देश्य उपर्युक्त 6 देशों के बीच आणविक टैक्नोलॉजी एवं अनुसन्धान क्षेत्र में सहयोग बढ़ाना था।

1 जुलाई, 1967 से कोयला व इस्पात समुदाय, साझा बाजार तथा यूरेटम का उच्चस्तरीय प्रबन्ध सामूहिक रूप से निम्न संस्थाओं में निहित हो गया :

(1) कार्यकारी आयोग (The Executive Commission)—*राष्ट्रीय प्रशासनों से स्वतन्त्र यह एक संस्था है जिसका दायित्व समुदाय की नीतियों का निर्धारण, विकास एवं कार्यान्विति से जुड़ा हुआ है।* इसमें यूरोपियन सदस्य देशों के 6,000 प्रशासक कार्य करते हैं तथा इसका मुख्यालय ब्रूसेल्स (बेल्जियम) के एक विशाल एवं भव्य भवन में स्थित है। इस आयोग का उत्तरदायित्व यह देखना है कि सदस्य देशों की सरकारें समुदाय द्वारा निर्धारित सामूहिक नीतियों के अनुरूप कार्य करती हैं या नहीं। यदि किसी सदस्य देश की सरकार सामूहिक नीति के प्रतिकूल आचरण करती है तो आयोग उसे ऐसा न करने हेतु आदेश दे सकता है। यह आदेश सम्बद्ध देश की सरकार को मान्य होगा। इस आयोग ने सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य ट्रस्ट-विरोधी क्षेत्र (anti-trust field) में किया है जहाँ आयोग ने वृहत् अन्तर्राष्ट्रीय निगमों के विरुद्ध उनकी एकाधिकारिक प्रवृत्तियों के लिए अभियोग प्रस्तुत किये हैं। विभिन्न राष्ट्रीय सरकारों ने 14 आयुक्तों को इस कार्य हेतु मनोनीत किया है। इनमें से प्रत्येक आयुक्त को इस बात की शपथ लेनी होती है कि वह अपने देश की सरकारी नीति से प्रभावित न होकर स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष रूप से कार्य करेगा।

(2) मन्त्रि परिषद (Council of Ministers)—यह एक अन्तःसरकारी संस्था है जो महत्त्वपूर्ण विषयों पर निर्णय लेती है। साधारण रूप में सदस्य देश के वे मन्त्री इस परिषद् में भाग लेते हैं जिनसे सम्बद्ध विषयों पर चर्चा चल रही है। विदेश-मन्त्रियों को प्रमुख राजनीतिक विषयों पर विचार-विमर्श करना होता है। यही नहीं, वे तकनीकी विषयों तथा ऐसे विषयों पर भी विचार करते हैं जिन पर अन्य मन्त्रियों में कोई सहमति नहीं हो सकी हो। मन्त्रि-परिषद् की बैठक एक महीने में कम से कम एक बार होती है। रोम की सन्धि के अनुसार समस्त निर्णय बहुमत से लिये जाने चाहिए, परन्तु साझा बाजार की अब तक चली आ रही परम्परा के अनुसार

सभी निर्णय सर्वसम्मति से लिये गये है। मन्त्रि-परिषद का अध्यक्ष वर्ष मे दो बार—जनवरी 1 तथा जुलाई 1—नियुक्त किया जाता है।

(3) **यूरोपियन संसद (The European Parliament)**—यूरोपियन ससद सदस्य देशो के ससदो की एक सस्था है तथा इसका कार्य विभिन्न विषयो पर अपनी सम्मति प्रदान करना है। रोम की सन्धि मे ऐसा प्रावधान है कि यूरोपियन ससद मे कुछ देशा की जनता प्रत्यक्ष चुनावों द्वारा अपने प्रतिनिधियों को मनोनीत करे। परन्तु फ्रान्स ने प्रारम्भ से ही इस प्रावधान का विरोध किया है तथा वहाँ की सरकार ने ही अपने प्रतिनिधियो को यूरोपियन ससद मे अब तक मनोनीत किया है। यूरोपियन ससद के एक वर्ष मे 8 सत्र क्रमश लक्जमवर्ग, स्ट्रासवर्ग, एव फ्रान्स मे होते हैं।

(4) **न्यायालय (The Court of Justice)**—यह न्यायालय लक्जमवर्ग म स्थित है तथा विभिन्न सन्धियो से सम्बद्ध विवादो का निपटारा करता है। न्यायालय को यह भी अधिकार है कि यूरोपियन आर्थिक समुदाय की नीतियो से सम्बद्ध प्रश्नो पर सदस्य देश किसी न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय को अमान्य करते हुए अपना निर्णय दे जोकि सम्बद्ध पक्ष को मान्य होगा।

(5) **आर्थिक एवं सामाजिक समिति (Economic and Social Committee)**—153 सदस्यो की इस समिति की भूमिका भी परामर्शदात्री सस्था के रूप मे ही है। इस समिति के सदस्यो मे नियोक्ताओ, उपभोक्ताओ, श्रमिको एव अन्य क्षेत्रो के प्रतिनिधि भाग लेते हैं।

(6) **द' एविनॉन कमेटी (The D'avignon Committee)**—यह भी एक अन्त सरकारी समिति है जिसमे विदेश नीति से सम्बद्ध प्रश्नो पर चर्चा की जाती है। यद्यपि यूरोपियन आर्थिक समुदाय का कोई सम्बन्ध रोम की सन्धि मे अन्तर्गत विदेशी नीति से नही होना चाहिए परन्तु फिर भी यह समरूपता लानी चाहिए। बेल्जियम के विदेशी मन्त्रालय के राजनीतिक निदेशक वाइकट एतिन द' एविनॉन (Viscut Etinne D'avignon) के नाम पर इस समिति का उपर्युक्त नाम रखा गया है।

(7) **मौद्रिक समिति (The Monetary Committee)**—यह समिति यूरोपियन आर्थिक समुदाय एव इससे सम्बद्ध आयोग तथा मन्त्रि-परिषद को अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समस्याओ से अवगत कराते हुए समुचित सुझाव प्रस्तुत करती है। इस समिति म साझा बाजार के सदस्य देशो के मौद्रिक अर्थशास्त्री, आयोग के प्रतिनिधि एव केन्द्रीय बैंको के अधिकारी सम्मिलित हैं।

यूरोपियन आर्थिक समुदाय से सम्बद्ध अन्य संस्थाओ मे स्थायी प्रतिनिधि समिति (COREPER) का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस समिति म साझा बाजार के देशो द्वारा स्थायी प्रतिनिधि या राजदूत मनोनीत किये जाते हैं। सर्वप्रथम किसी भी महत्वपूर्ण निर्णय का प्रारूप आयोग द्वारा तैयार किया जाता है। इस प्रारूप पर मन्त्रि-परिषद (Council of Ministers) मे विचार किया जाता है। परन्तु मन्त्रि-परिषद मे भेजे जाने से पूर्व यह प्रारूप स्थायी प्रतिनिधि समिति मे प्रस्तुत किया जाता है जहाँ इसकी जाँच की जाती है तथा प्रतिनिधियो के बीच वार्ता होती है। बहुधा महत्वपूर्ण प्रश्नो पर स्थायी प्रतिनिधि समिति ही आयोग द्वारा प्रस्तुत प्रारूप को अन्तिम रूप देती है एव मन्त्रि-परिषद केवल समिति द्वारा लिये गये निर्णयो पर औपचारिक स्वीकृति प्रदान करती है। यदि किसी समय मन्त्रि-परिषद के सदस्य किसी विषय पर सहमत न हो तो वे ऐसे प्रारूप को पुनर्विचार हेतु स्थायी प्रतिनिधि समिति को भिजवा देते हैं जहाँ विशेषज्ञ लोग इसकी फिर से जाँच करते हैं।

1 जनवरी, 1973 को ब्रिटेन व आयरलैण्ड भी यूरोपियन साझा बाजार के सदस्य हो गये। सम्भवत यह एक ऐतिहासिक घटना थी क्योकि अनेक वर्षों तक फ्रान्स, जर्मनी एव साझा बाजार के अन्य देश ब्रिटेन को साझा बाजार मे प्रवेश देने का विरोध करते रहे थे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से यूरोपियन देशो मे ब्रिटेन का स्थान सर्वोपरि है। ब्रिटेन व आयरलैण्ड के सदस्य बन जाने पर पश्चिम यूरोप के आर्थिक एकीकरण का दूसरा महत्वपूर्ण चरण भी पूर्ण हो गया। इससे साझा बाजार की आर्थिक एव राजनीतिक शक्ति मे वृद्धि होने की आशा है। यह कहना भी अनुचित न होगा कि यूरोप के राजनीतिक एकीकरण की दिशा मे यह एक महत्वपूर्ण कदम है। पेरिस मे आयोजित शिखर सम्मेलन (1973) मे साझा बाजार के देशो ने यह स्पष्ट रूप से घोषित किया कि

वे साझा बाजार को विश्व के अन्य औद्योगिक देशों एवं विकासशील देशों से पृथक् रख कर संगठित करते रहेंगे। भूमध्यसागर के विषय में उनकी नीति आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टिकोणों पर आधारित है। इसी शिखर सम्मेलन में यह भी निर्णय किया गया कि 1980 के अन्त तक साझा बाजार के देश पूर्ण रूप से आर्थिक एवं मौद्रिक एकीकरण कर लेंगे तथा 1974 से ही इस दिशा में ठोस कार्यवाही प्रारम्भ कर देंगे। सम्मेलन में एक मौद्रिक सहयोग कोष (Monetary Cooperation Fund) की स्थापना का भी निर्णय लिया गया। ऐसा प्रतीत होता था कि आर्थिक एवं मौद्रिक एकीकरण की भावना से अभिभूत होकर ही इस शिखर सम्मेलन में समस्त विषयों पर विचार किये जा रहे थे। विशेष रूप से इसके लिए फ्रान्स काफी समय से दबाव डालता रहा था।

सन्धि की मुख्य बातें (Main Provisions of the Treaty)

रोम की सन्धि की मुख्य बात यह थी कि इनके आधार पर यूरोपियन साझा बाजार के छह संस्थापक देशों ने अन्य देशों से व्यापार के लिए तो पूर्व विद्यमान बाह्य प्रशुल्क-दरों का औसत रखा, जबकि परस्पर व्यापार के लिए समस्त प्रशुल्क-दरों एवं मात्रात्मक प्रतिबन्धों को समाप्त कर दिया। इन परिवर्तनों को 12-14 वर्षों की अवधि में तीन चरणों में लागू करने का निर्णय लिया गया। इस प्रकार 1971 तक साझा बाजार के देशों के परस्पर व्यापार में प्रशुल्क-दरें समाप्त की जानी चाहिए थी। परन्तु वस्तुतः इस सब प्रक्रिया में केवल 11 वर्ष ही लगे। 1968 तक साझा बाजार के देशों के मध्य विद्यमान सभी प्रकार के प्रशुल्क को समाप्त कर दिया गया और साथ ही बाहरी देशों से आने वाली वस्तुओं के लिए समान दरों पर प्रशुल्क लगा दिया गया।

रोम की सन्धि की दूसरी महत्वपूर्ण बात आर्थिक एकीकरण को प्रोत्साहन देने से सम्बद्ध थी। ऐसा अनुभव किया गया कि केवल व्यापार के विस्तार में आने वाले अवरोधों को समाप्त करना ही पर्याप्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय कर-व्यवस्था, सार्वजनिक व्यय सम्बन्धी नीतियों तथा मौद्रिक भुगतान-सन्तुलन से सम्बद्ध कठिनाइयों के कारण साझा बाजार के सदस्य देशों के मध्य आर्थिक सहयोग अपूर्ण रहने की आशंका थी। इसीलिए इस बात पर बल दिया गया कि सदस्य देशों की राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों में समता लायी जाय जिससे श्रम की गतिशीलता में वृद्धि हो तथा सदस्य देशों में निकटतर आर्थिक सम्बन्ध स्थापित हों। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सन्धि में निम्नलिखित विषयों का प्रावधान रखा गया :

(i) श्रम व पूँजी के प्रभाव में आने वाली सभी बाधाओं की समाप्ति,

(ii) समान परिवहन नीति,

(iii) समान कृषि-नीति,

(iv) ऐसी व्यवस्था का निर्माण जिसमें प्रतियोगिता को प्रोत्साहन मिले, तथा

(v) ऐसी विधियों का प्रयोग करना जिससे सदस्य देशों की आर्थिक नीतियों में समन्वय स्थापित हो तथा भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता दूर हो।

रोम की सन्धि में विशिष्ट सहायता कोष तथा विशिष्ट विनियोजन की स्थापना का भी प्रावधान है। इनका प्रयोजन यूरोपियन आर्थिक समुदाय में स्थित पिछड़े हुए क्षेत्रों के लिए सहायता देना है। साथ ही इन कोषों के माध्यम से शिक्षा एवं ऐसे श्रमिकों को फिर से प्रशिक्षण दिये जाने का प्रावधान है जो प्रतियोगितात्मक शक्तियों के कारण बेकार हो गये हैं।

वस्तुतः समान कृषि-नीति के सम्बन्ध में सदस्य देशों के बीच सहमति होना अत्यन्त कठिन था, द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त बढ़ते हुए खाद्य-संकट, खाद्यान्नों का आयात करने हेतु विदेशी विनिमय के प्रभाव, तथा विभिन्न सदस्य देशों (विशेष रूप से फ्रान्स) में कृषकों में बढ़ते हुए राजनीतिक दबाव के कारण अधिकांश देशों में खाद्य व अन्य कृषिजन्य वस्तुओं के लिए विविध प्रकार के मूल्य-अवलम्बन-कार्यक्रम (Price Support Programmes) लागू कर दिये गये थे। इन विविध नीतियों में समरूपता लाना एक गम्भीर समस्या थी। वस्तुतः आज भी कृषि के सम्बन्ध में साझा बाजार के सदस्य देश एक ही नीति अपनाने को तैयार नहीं हैं। रोम की सन्धि में समान कृषि-नीति के लिए मुख्य रूप से कुछ सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं।

रोम की सन्धि के विभिन्न प्रावधानो की कार्यान्विति हेतु अनेक इकाइयाँ स्थापित की गयी हैं। इसकी प्रशासनिक इकाई तो यूरोपियन परिषद है जिसमे प्रत्येक सदस्य देश से एक सदस्य मनोनीत किया जाता है। इस परिषद की सहायतार्थ एक नौ सदस्यो का आयोग है जो विशिष्ट समस्याओं का विश्लेषण करके प्रशासनिक इकाई (अर्थात् परिषद) को अपनी सिफारिशें भेज देता है। जैसा कि ऊपर बताया गया था, न्यायालय (Court of Justice) यूरोपियन आर्थिक समुदाय के सदस्य देशो के परस्पर विवादो पर अपने निर्णय देता है, जो सभी सदस्यो को मान्य होते हैं।

यूरोपियन आर्थिक समुदाय की प्रगति एवं अनुभव
[PERFORMANCE AND EXPERIENCE OF EEC]

प्रशुल्क-दरो के धीरे-धीरे किये गये उन्मूलन यूरोपियन साझा बाजार के देशो के आपसी व्यापार को कई गुना बढ़ा दिया। ब्रिटेन व आयरलैण्ड के साझा बाजार मे सम्मिलित होने के बाद साझा बाजार का व्यापार विश्व के कुल व्यापार का 40% से भी अधिक हो गया है। आज साझा बाजार के व्यापार सम्बन्ध 50 से भी अधिक देशो मे व्याप्त हैं, परन्तु इसके साथ ही साझा बाजार के विस्तार के फलस्वरूप उत्पन्न एकाधिकार प्रवृत्ति का विश्वव्यापी प्रभाव होना स्वाभाविक था। भूतपूर्व ब्रिटिश प्रधानमन्त्री एडवर्ड हीथ के शब्दो मे, 'यह (साझा बाजार) एक ऐसा समुदाय है जिसमे हम अपने समान उद्देश्यो की पूर्ति हेतु मिल-जुल कर कार्य कर सकते हैं।"

साझा बाजार के देशो मे आपसी आयात उनके कुल आयात का 1958 मे 29 6% था जो 1964 तक बढ़कर 38 2% तथा 1975 तक बढ़कर 58 प्रतिशत हो गया। उल्लेखनीय बात यह है कि साझा बाजार की स्थापना के पश्चात् औद्योगिक वस्तुओ का परस्पर आयात 50% अधिक हो गया है। बाहरी देशो से आयात की जाने वाली वस्तुओ में खनिज तेल, खाद्यान्न एवं कपास, तिलहन आदि कच्चे पदार्थ हैं जिनकी पश्चिमी यूरोप में पूर्ति बहुत ही कम रही है।

साझा बाजार स्थापित होने से सदस्य देशो के पारस्परिक व्यापार में वृद्धि तो हुई ही है। इससे इनकी औद्योगिक इकाइयों की कार्यकुशलता में भी पर्याप्त सुधार हुआ है। प्रशुल्क की समाप्ति ने इन इकाइयो की निर्यात-क्षमता म पिछले पन्द्रह वर्षों मे काफी वृद्धि की है। 1960 मे साझा बाजार के देशो का आपसी व्यापार विश्व के कुल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का केवल 9% था, परन्तु यह 1975 मे बढ़कर 16% हो गया। परन्तु इसी अवधि मे विकासशील देशो म साझा बाजार के देशो को किया जाने वाला आयात का इनके कुल आयात मे अनुपात 35% से घटकर 40% रह गया। दूसरे शब्दो म, साझा बाजार की स्थापना एव विस्तार का विकासशील देशो के हितो पर प्रतिकूल प्रभाव हुआ है।

साझा बाजार के सदस्य देशो मे औद्योगिक कार्यकुशलता बढ़ने के साथ ही बेरोजगारी की दर में भी कमी हुई। औद्योगिक क्षेत्र मे सर्वाधिक उन्नति जर्मनी ने की। फ्रान्स व इटली ने अपेक्षाकृत धीमी गति से अपनी अर्थ-व्यवस्था का विकास किया। द्वितीय युद्ध के बाद इन देशो की आशातीत औद्योगिक एव व्यावसायिक उन्नति का श्रेय कुछ सीमा तक मार्शल योजना को है, परन्तु पिछले पन्द्रह वर्षों मे काफी सीमा तक इनकी औद्योगिक एव व्यावसायिक उन्नति साझा बाजार के कारण हुई है। इन सबका परिणाम यह हुआ कि यूरोप के देश डालर के प्रभाव से मुक्त होकर काफी सीमा तक एक सामान्य यूरोपियन मुद्रा के विकास की दिशा मे प्रवृत्त हुए हैं।

प्रशुल्क की समाप्ति एव इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एव औद्योगिक क्षेत्रो मे हुई प्रगति के फलस्वरूप सदस्य देशों के आर्थिक विकास की गति मे काफी वृद्धि हुई है। 1958 म फ्रान्स, जर्मनी, बेल्जियम एव नीदरलैण्ड्स मे प्रति व्यक्ति औसत आय ब्रिटेन के समान थी। जबकि इटली मे प्रति व्यक्ति औसत आय ब्रिटेन से आधी थी। साझा बाजार की स्थापना के पश्चात् 1970 तक इटली मे प्रति व्यक्ति औसत आय ब्रिटेन के समान हो गयी जबकि साझा बाजार के सदस्य देशो की प्रति व्यक्ति आय का औसत ब्रिटेन के औसत से 25% से 50% अधिक हो गया। कुल मिलाकर इस अवधि मे प्रति व्यक्ति औसत आय की वृद्धि-दर साझा बाजार के देशो मे ब्रिटेन की अपेक्षा दुगुनी रही थी। सातवें दशक मे नीदरलैण्ड्स व लक्जमबर्ग की राष्ट्रीय आय की वृद्धि-दर क्रमश 8 5% व 6 5% रही थी, जबकि जर्मनी व फ्रान्स मे ये दरें क्रमश 6 5% व 5 5% रही थी। इनके अति-

किन्तु साझा बाजार के देशों की विनिमय-प्रवृत्ति में भी पिछले 17 वर्षों में काफी वृद्धि हुई है। 1959-73 के बीच साझा बाजार के छह संस्थापक सदस्य देशों में इनकी राष्ट्रीय आय का लगभग 25 प्रतिशत विनियोग हेतु प्रयुक्त किया गया। इसी अवधि में यूरोपियन आर्थिक समुदाय के देशों ने पर्याप्त अनुकूल भुगतान-सन्तुलन बनाये रखा है। अनुमानतः 1959-73 के बीच 3,000 करोड़ डालर का चालू खाते में अतिरिक्त जमा किया है। इसके विपरीत, इसी अवधि में ब्रिटेन का भुगतान-सन्तुलन लगातार प्रतिकूल रहा है।

ब्रिटेन के 1975 में साझा बाजार में प्रवेश करने का साझा बाजार के सदस्य देशों के आपसी व्यापार एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रभाव पड़ा है। ब्रिटेन से राष्ट्रमण्डल (Commonwealth) के देशों को जो रियायतें मिलती थीं, उनमें काफी कटौती की गयी है। नीचे हम ब्रिटेन के साझा बाजार में प्रवेश से होने वाले सम्भावित परिणामों का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

साझा बाजार में ब्रिटेन का प्रवेश एवं इसके सम्भावित परिणाम [BRITISH ENTRY INTO THE COMMON MARKET AND ITS IMPLICATIONS]

यह ऊपर बताया जा चुका है कि साझा बाजार के साथ-साथ यूरोप के कुछ देशों (ब्रिटेन, आस्ट्रिया, डेनमार्क, नार्वे, स्वीडन, स्विट्जरलैण्ड व पुर्तगाल) ने मिलकर "मुक्त व्यापार संगठन" नाम का एक शिथिल आर्थिक संघ स्थापित किया था। वैसे इस संगठन का प्रत्येक देश यूरोपियन साझा बाजार में प्रवेश पाने हेतु जोर-शोर कर रहा था। प्रारम्भ में ब्रिटेन पुनः एक विश्व-शक्ति बनने के दम्भ में, तथा किसी सीमा तक उसके राष्ट्रमण्डल में सम्बद्ध होने के कारण, साझा बाजार से दूर रहा परन्तु शीघ्र ही 16 करोड़ की आबादी वाले साझा बाजार के आकर्षण से मुक्त न रह सका। प्रथम बार ब्रिटेन ने साझा बाजार की सदस्यता हेतु 1961 में आवेदन किया। परन्तु फ्रान्स के प्रतिकूल दृष्टिकोण के कारण यह आवेदन स्वीकृत नहीं हो पाया। अनेक लम्बी वार्ताओं के बाद 1 जनवरी, 1973 को ब्रिटेन को साझा बाजार का सदस्य बना लिया गया।

वस्तुतः ब्रिटेन के साझा बाजार में प्रवेश में इतना अधिक विलम्ब राष्ट्रमण्डल के देशों को ब्रिटेन द्वारा दी गयी प्रशुल्क प्राथमिकताओं के प्रश्न को लेकर हुआ था। ब्रिटेन इन प्राथमिकताओं को जारी रखने के पक्ष में था जबकि साझा बाजार के सदस्य इनकी समाप्ति के पक्ष में थे। एक कारण और भी था और वह यह था कि साझा बाजार के देश चाहते थे कि ब्रिटेन फ्रान्सीसी कृषि-उत्पादकों के लिए अपना बाजार खोल दे तथा सभी वस्तुओं के आयात पर समान प्रशुल्क लगाये। ब्रिटेन इसके विपरीत कृषि-वस्तुओं पर विद्यमान प्रशुल्क-दरों को जारी रखने के पक्ष में था क्योंकि इन्हीं के आधार पर ब्रिटेन अपनी अधिकांश खाद्य सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति राष्ट्रमण्डल के देशों से अत्यन्त कम मूल्य पर बिना प्रशुल्क लेता था। तीसरी बात यह थी कि फ्रान्स राजनीतिक कारणों से भी यह चाहता था कि ब्रिटेन को यूरोपियन साझा बाजार में सदस्यता प्राप्त हो।

1 जनवरी, 1973 को ब्रिटेन व साझा बाजार के मध्य जो समझौता हुआ उसमें निम्न बातें महत्वपूर्ण हैं:

(1) अन्य सदस्यों की भाँति ब्रिटेन भी यूरोपियन आर्थिक समुदाय के संयुक्त बजट तथा विशिष्ट सहायता कोषों के लिए धनराशि देगा। इसके फलस्वरूप ब्रिटेन को पहले वर्ष में 10 करोड़ स्टर्लिंग पौण्ड तथा पाँचवें वर्ष तथा इसके बाद में 20 करोड़ स्टर्लिंग पौण्ड का वित्तीय भार वहन करना पड़ेगा।

(2) ब्रिटेन फ्रान्सीसी कृषि-आयातों के लिए अपना बाजार खोल देगा तथा सभी अतिरिक्त वस्तुओं के आयात पर समान प्रशुल्क लगायेगा।

(3) ब्रिटेन व साझा बाजार ने अन्य देशों के बीच औद्योगिक वस्तुओं के आयात पर विद्यमान प्रशुल्क को पाँच चरणों में समान दर पर समाप्त कर दिया जायगा। जुलाई 1977 तक ब्रिटेन व साझा बाजार के अन्य देशों के बीच सभी औद्योगिक प्रशुल्क समाप्त कर दिये गये तथा बाहरी देशों के लिए समान प्रशुल्क-दरें लागू कर दी गयी।

(4) राष्ट्रमण्डल के देशों को दी गयी प्रशुल्क रियायतें कम कर दी गयी हैं।

भारत पर प्रभाव (Impact on India)

ब्रिटेन को साझा बाजार मे प्रवेश मिलने का भारत पर निश्चय ही प्रतिकूल प्रभाव होगा, *क्योकि भारत को वे सब प्रशुल्क रियायतें मिलना समाप्त हो जायेंगी जो ब्रिटेन द्वारा 1972 तक* राष्ट्रमण्डल के देशो को उपलब्ध थी। परन्तु यह प्रभाव आज उतना प्रतिकूल नही होगा जो 1961 मे ब्रिटेन को साझा बाजार की सदस्यता मिलने पर अपेक्षित था। 1961 म भारत के कुल निर्यात का 27% ब्रिटेन को जाता था जबकि 1970 मे यह घटकर केवल 12 प्रतिशत रह गया। इसके अतिरिक्त राष्ट्रमण्डल के देशो को ब्रिटेन से प्राप्त प्रशुल्क रियायतें समाप्त हो जाने का भारत के निर्यात व्यापार पर काफी प्रतिकूल प्रभाव होने की आशका है। ब्रिटेन अपने आयातो मे से अनिर्मित तम्बाकू का 48% चाय का 37%, ऊनी गलीचो का 26% सूती कपडो का 24%, तथा चमडे की वस्तुओ व शक्कर का 21% भारत से मँगाता है। ब्रिटेन 1970-71 तक लगभग 171 करोड रुपये की वस्तुएँ भारत से मँगाता था तथा इनमे से 85% करो से पूर्णतया मुक्त थी तथा लगभग 51% (कुल का) विशेष सुविधाओ के अन्तर्गत प्राप्त की जाती हैं। ब्रिटेन को साझा बाजार मे *प्रवेश मिलने के बाद अब भारत को प्राप्त सभी प्रशुल्क रियायतें समाप्त हो जायेंगी तथा ब्रिटेन के* बाजारो म भारतीय वस्तुएँ महँगी बिकने से उनकी खपत कम हो जायगी। साझा बाजार के नियमो के अनुसार ब्रिटेन के अन्य सदस्य देशो के समान ही बाहरी देशो से आयातित वस्तुओ पर प्रशुल्क *लगाना होगा जिससे भारतीय माल की खपत और भी कम हो जायगी।* साझा बाजार ने अफ्रीका के 18 देशो से एक समझौता किया हुआ है जिसके अनुसार साझा बाजार म इन देशो मे प्रशुल्क प्राथमिकताओ के अन्तर्गत वस्तुओ का आयात किया जाता है। ब्रिटेन के साझा बाजार मे सम्मिलित होने के बाद जहाँ राष्ट्रमण्डल के देशो से आयात में कमी होगी, वही इन अफ्रीकी देशो से ब्रिटेन के आयात मे वृद्धि हो जायगी।

भारत से ब्रिटेन जाने वाली वस्तुओ—विशेष रूप से तम्बाकू सूती वस्त्र एव सूत, ऊनी, अफीम, क्रूड ऑइल, इलाइची, नारियल जटा की वस्तुएँ, जूट की वस्तुएँ व काजू के निर्यात पर काफी प्रतिकूल प्रभाव पडने की आशका थी। अनेक वस्तुओ की उत्पादन-लागत भारत मे अधिक होते हुए भी अब तक प्रशुल्क रियायतो के कारण भारतीय उत्पादक को अधिक प्रतियोगिता का सामना नही करना पडता था। ब्रिटेन को साझा बाजार मे प्रवेश मिलने एव इन रियायतों की समाप्ति के पश्चात् अब भारत को कनाडा, पाकिस्तान, श्रीलका, ब्राजील, बगला देश आदि विकसित व अल्पविकसित देशो से प्रतियोगिता करनी पडेगी। सम्भव है इन सब को देखते हुए भारत को अपने निर्यात व्यापार की सरचना एव दिशाओ मे पर्याप्त परिवर्तन करना होगा। इसके साथ ही यह भी आवश्यक होगा कि भारत साझा बाजार के सदस्य देशो से पृथक् से कोई रियायतें प्राप्त करने का प्रयास करे। ब्रिटेन के साझा बाजार मे प्रवेश करने पर ब्रिटेन को भारत से निर्यात होने वाली 75 से 80 करोड रुपये के मूल्य की वस्तुओ के निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव पडने की आशका थी। *ब्रिटेन के साझा बाजार मे प्रवेश करने पर भी हमारा निर्यात व्यापार इस देश के साथ* 1973-74 की अपेक्षा 1974-75 मे अधिक हुआ।

साझा बाजार के विस्तार का भारत के निर्यात पर दीर्घकाल मे क्या प्रभाव होगा, यह निम्न दो बातो पर निर्भर करता है

(i) साझा बाजार के सदस्य या सहयोगी देशो मे अमुक वस्तुएँ या इनकी वैकल्पिक वस्तुएँ किस सीमा तक उपलब्ध हैं, तथा

(ii) ब्रिटेन मे इन वस्तुओ की माँग की लोच।

सक्षेप मे, जिस सीमा तक ब्रिटेन साझा बाजार के अन्य देशो को अधिक निर्यात कर पाता है, उस सीमा तक उन देशो को निर्यात की जाने वाली भारतीय वस्तुओ मे कमी हो जायगी। इसी प्रकार ब्रिटेन द्वारा दी गयी प्रशुल्क प्राथमिकताओ की समाप्ति के बाद कितनी मात्रा मे वह साझा बाजार के अन्य देशों से आयात कर पाया है, उस सीमा तक राष्ट्रमण्डल (भारत सहित) के देशों के ब्रिटेन को निर्यात घट जायेंगे।

जिन वस्तुओं के निर्यात पर ब्रिटेन के साझा बाजार में सम्मिलित होने का कोई प्रभाव नहीं होगा उनमें चाय, कॉफी, कच्चा लोहा आदि का उल्लेख किया जा सकता है। 1964 से तो भारत साझा बाजार के देशों को बिना प्रशुल्क चुकाये चाय का निर्यात करता रहा है।

उपर्युक्त आर्थिक प्रभावों के अतिरिक्त साझा बाजार की स्थापना एवं विस्तार का राजनीतिक प्रभाव भी हुआ है। साझा बाजार के देशों ने एक राजनीतिक संगठन की स्थापना हेतु प्रयास भी प्रारम्भ कर दिये हैं। सोवियत रूस से भारत की मैत्री-सन्धि होने के पश्चात् अब यह आवश्यक प्रतीत होता है कि भारत साझा बाजार के देशों में व्याप्त सन्देह एवं अविश्वास को समाप्त करने हेतु प्रयास करे। यदि हमारी विदेश-नीति तटस्थता के ठोस धरातल पर खड़ी है तो हमें इन देशों के व्यावसायिक क्षेत्र में भी सहानुभूति प्राप्त हो सकेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

भारत ने राष्ट्रमण्डलीय देशों की पूर्व में, ब्रिटेन से प्राप्त रियायतों की समाप्ति से हुई क्षति की पूर्ति करने हेतु साझा बाजार के देशों से प्रत्यक्ष सम्पर्क करना भी प्रारम्भ कर दिया है। भारत ने इन देशों को प्रस्तुत सहायता स्मरण-पत्र में अपनी स्थिति को स्पष्ट करने हेतु ब्रिटेन व अन्य देशों के साझा बाजार में सम्मिलित होने पर भारत के विदेशी व्यापार पर होने वाले प्रभावों का भी उल्लेख कर दिया था। भारत द्वारा यह भी बता दिया गया है कि विकासशील देशों को दी गयी आर्थिक सहायता का एक बड़ा भाग इनके निर्यात पर विद्यमान प्रशुल्क रियायतों की समाप्ति से होने वाले प्रतिकूल प्रभाव के कारण नष्ट हो जायगा। ब्रूसेल्स में ब्रिटेन के साझा बाजार में प्रवेश के समय सम्पन्न हुई सन्धि में यह स्वीकार किया गया था कि भारत, श्रीलंका, मलेशिया, सिंगापुर व पाकिस्तान जैसे राष्ट्रमण्डलीय देशों के निर्यात प्रतिकूल रूप में प्रभावित होंगे। सन्धि में इस दिशा में समुचित समाधान खोजने की आवश्यकता पर भी बल दिया गया।

ब्रिटेन के तत्कालीन साझा बाजार प्रतिनिधि श्री रियन ने सन्धि पर हस्ताक्षर होने से पूर्व अनेक राष्ट्र-मण्डलीय देशों का दौरा किया। भारत आने पर उन्होंने यह आश्वासन दिया कि ब्रिटेन के साझा बाजार में प्रवेश करने के पश्चात् भी यह भारत से पूर्ववत् 2/3 आयात जारी रखेगा और इन वस्तुओं पर या तो कोई प्रशुल्क नहीं होगा अथवा इन्हें यूरोपियन आर्थिक समुदाय की सामान्यीकृत योजना (Scheme) में सम्मिलित कर लिया जायगा। इस पर भी उन्होंने यह स्वीकार किया कि भारत से कुछ वस्तुओं के निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव होना सम्भव है। परिणामस्वरूप जूट व नारियल रेशे की वस्तुओं के उत्पादकों (केरल व बंगाल) ने स्वेच्छा से इन वस्तुओं का उत्पादन बन्द कर दिया। सूती वस्त्रों पर काफी ऊँची दर पर प्रशुल्क लगाया हुआ है। पिछले तीन-चार वर्षों में साझा बाजार के देशों ने भारत की अधिक वस्तुएँ आयात करने हेतु कुछ उपाय किये हैं। परन्तु इनके लिए दी गयी रियायतें बहुत कम हैं।

इसी सन्दर्भ में यह भी बता देना उपयुक्त होगा कि यूरोपियन साझा बाजार द्वारा विकासशील देशों से संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा तथा पूर्वी यूरोप के देशों से भी काफी पहले प्राथमिकता सामान्यीकृत योजना (GSP) के अन्तर्गत रियायती आयात करने की घोषणा कर दी थी। साझा बाजार ने 1971 में ही प्राथमिकता सामान्यीकृत योजना (GSP) के अन्तर्गत आयात प्रारम्भ कर दिये गये थे। अमरीका ने 1 जनवरी 1976 से प्राथमिकता सामान्यीकृत योजना (GSP) के अन्तर्गत आयात करने की घोषणा की थी।

परन्तु दिसम्बर 1976 में यह अनुभव किया गया कि साझा बाजार द्वारा घोषित प्राथमिकता सामान्यीकृत योजना (GSP) के अन्तर्गत आयात करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं तथा इनके अन्तर्गत दिये गये अवसरों का 1974, 1975 तथा 1976 में क्रमशः 65%, 76% एवं 60 से 62 प्रतिशत ही उपयोग हो पाया है। 1977 में प्राथमिकता सामान्यीकृत योजना (GSP) के अन्तर्गत आयातों का 40 से 54 प्रतिशत तक ही उपयोग में लाया जा सकेगा। साझा बाजार के प्रमुख देशों ने ऐसा अनुभव किया है कि विकासशील देशों द्वारा इस योजना (GSP) के अधिक अनुपात का उपयोग किया जाना चाहिए। इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु यूरोपियन आर्थिक आयोग ने दिसम्बर 1976 में एक द्वि-विभागीय विशेष एजेन्सी की स्थापना करने का निर्णय लिया। इसका प्रथम विभाग श्रेष्ठ उपभोग एवं व्यापार के विस्तार हेतु प्रयास करता है तथा द्वितीय विभाग मेलों व प्रदर्शनियों का आयोजन करता है।

यह स्मरणीय है कि आधुनिक सन्दर्भ में संयुक्त राज्य अमरीका प्राथमिकताओं की सामान्यीकृत योजना (Generalized Scheme of Preferences) को कार्यान्वित करने की स्थिति में नहीं है तथा अमरीका के सहयोग बिना विकासशील देशों को उक्त योजना से अधिक लाभ प्राप्त होने की सम्भावना कम है। इन सभी बातों को देखते हुए साझा बाजार के देशों को भारत के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाना ही होगा।

दिसम्बर 1972 में साझा बाजार की मन्त्रि-परिषद ने यूरोपियन आर्थिक आयोग के इस प्रस्ताव को स्वीकृति दे दी कि साझा बाजार एवं भारत के बीच मन्त्रणाएँ आयोजित की जायें। इन मन्त्रणाओं का प्रयोजन एक त्रिवर्षीय 'गैर-प्राथमिकतापूर्ण व्यापार समझौता'' करना था। इस समझौते का अभिप्राय यह होता है कि एक देश को दी जाने वाली प्राथमिकताएँ उन श्रेणियों की सभी वस्तुओं के समस्त निर्यातक देशों को समान रूप से दी जायेंगी। भारत ने इस बात पर जोर दिया कि मन्त्रणाओं में निम्न बातें शामिल होने पर ही किसी ठोस परिणाम की आशा की जा सकती है

(i) प्रस्तावित समझौते में साझा बाजार द्वारा भारतीय चाय, काली मिर्च, चमड़ा एवं जायफल आदि को दी गयी प्रशुल्क रियायतों को सम्मिलित किया जाय। समझौते में आयात की जाने वाली वस्तुओं पर प्रशुल्क छूट प्रशुल्क एवं व्यापार के सामान्य समझौते (GATT) के नियमों के अनुरूप होनी चाहिए।

(ii) इस समझौते में भारत तथा साझा बाजार के सदस्यों के बीच स्वतन्त्र रूप से हुए द्विपक्षीय समझौतों (विशेष रूप से फ्रान्स, पश्चिमी जर्मनी एवं इटली) में प्राप्त प्रशुल्क रियायतों को भी शामिल किया जाय।

(iii) इस प्रस्तावित समझौते में साझा बाजार व भारत के बीच जूट, सूती वस्त्र एवं हस्तकला की वस्तुओं के लिए घोषित प्रशुल्क रियायतों को भी शामिल किया जाय।

(iv) ब्रिटेन के साझा बाजार में प्रवेश लेने से भारतीय निर्यात व्यापार पर होने वाले सभी प्रतिकूल प्रभावों को इस समझौते द्वारा दूर किया जाय।

साझा बाजार एवं भारत दोनों ही पक्षों के अधिकारी यह चाहते हैं कि प्रस्तावित समझौता ऐसा हो जिसमें भारत के विदेशी व्यापार से सम्बद्ध समस्याओं के निदान में सहायता मिल तथा एक ऐसी व्यवस्था को जन्म दिया जाय जिससे भारत व साझा बाजार के देशों के मध्य भुगतान-असन्तुलन को सदा के लिए दूर किया जा सके। निश्चय ही एक आदर्श व्यवस्था के अनुसार इस समझौते का प्रयोजन साझा बाजार के देशों के लिए अधिकतम भारतीय वस्तुओं का निर्यात करना है।

जुलाई 1976 में साझा बाजार द्वारा घोषित प्राथमिकता सामान्यीकृत योजना (GSP) में निहित प्रस्तावों से यह आशा की जाने लगी है कि साझा बाजार के देशों की विकासशील देशों—विशेष रूप से भारत—के प्रति हाल के वर्षों में सहानुभूति बढ़ी है। गलीचों (हस्त निर्मित) तथा अनिर्मित वर्जीनिया तम्बाकू के अभ्यंश में साझा बाजार ने पर्याप्त वृद्धि कर दी है। आर्थिक समुदाय ने भारत की कृषि एवं मत्स्य सम्बन्धी निर्यातों से सम्बद्ध माँग को भी स्वीकार कर लिया है। 1975-76 में प्राथमिकता सामान्यीकृत योजना (GSP) के अन्तर्गत भारत के रियायती निर्यातों में 18 प्रतिशत वृद्धि हुई तथा उनका मूल्य 25 5 करोड़ तक पहुँच गया। वस्त्रों के अतिरिक्त अन्य संवेदनशील तथा अर्द्ध संवेदनशील निर्यात में 20 प्रतिशत तथा कृषि वस्तुओं तथा गैर-संवेदनशील वस्तुओं के निर्यातों में 24 प्रतिशत वृद्धि हुई। प्राथमिकता सामान्यीकृत योजना (GSP) के अन्तर्गत भारत से निर्यातित वस्तुओं में केवल वस्त्रों का निर्यात 1975-76 में 5 5 प्रतिशत कम हो गया।

यूरोपियन आर्थिक आयोग के अनुसार 1974 में प्राथमिकता सामान्यीकृत योजना (GSP) के अन्तर्गत जिन दस देशों से साझा बाजार में वस्तुएँ आयात की जाती थीं, भारत का स्थान उनमें चौथा था। सर्वाधिक लाभ यूगोस्लाविया को मिला था जिसने साझा बाजार के देशों को 35

करोड़ डालर का समान निर्यात किया । हांगकांग तथा ब्राजील ने इस वर्ष क्रमशः 26.5 करोड़ डालर तथा 22.8 करोड़ डालर की वस्तुएँ प्राथमिकता सामान्यीकृत योजना (GSP) के अन्तर्गत साझा बाजार को निर्यात की जबकि भारत ने 21.6 करोड़ डालर की वस्तुएँ साझा बाजार को इस वर्ष निर्यात की थी। अन्य महत्वपूर्ण देशों में दक्षिण कोरिया (18.5 करोड़ डालर), सिंगापुर (14.4 करोड़ डालर) तथा पाकिस्तान (13.8 करोड़ डालर) के नाम उल्लेखनीय हैं।

यूरोपियन साझा बाजार के देशों को भारत ने 1974 में 5.4 करोड़ डालर के वस्त्र निर्यात किये जो साझा बाजार द्वारा कोटा प्रणाली में आयातित कुल वस्त्रों का 11 प्रतिशत भाग था। परन्तु पाकिस्तान ने उस वर्ष कुल वस्त्रों का 99 प्रतिशत निर्यात किया। कुछ अर्द्ध संवेदनशील वस्त्रों का आयात साझा बाजार द्वारा कोटा-प्रणाली के अन्तर्गत न किया जाकर अधिकतम सीमा के अन्तर्गत किया जाता है। इन वस्त्रों के क्षेत्र में भी पाकिस्तान ने 1974 में भारत से अधिक निर्यात किया।

साझा बाजार में प्राथमिकता सामान्यीकृत योजना (GSP) के अन्तर्गत जूतों का भी विकासशील देशों में आयात किया जाता है। यहाँ भी 1974 में भारत की अपेक्षा पाकिस्तान के निर्यात अधिक थे। भारत ने इस वर्ष साझा बाजार को 1·68 लाख डालर के जूते निर्यात किये जबकि पाकिस्तान के निर्यातित जूतों का कुल मूल्य 36.2 लाख डालर था। वस्त्रों के अतिरिक्त संवेदनशील एवं अर्द्ध-संवेदनशील औद्योगिक वस्तुओं का निर्यात भारत से 1974 में 1.2 करोड़ डालर का था जबकि हांगकांग ने 8 करोड़ डालर, यूगोस्लाविया ने 8.5 करोड़ डालर, दक्षिण कोरिया ने 4.0 करोड़ डालर एवं सिंगापुर ने 3.5 करोड़ डालर की ऐसी वस्तुओं का साझा बाजार के देशों को निर्यात किया।

यूरोपियन आर्थिक समुदाय द्वारा संवेदनशील एवं अर्द्ध-संवेदनशील वस्तुओं के आयात पर विशेष रूप से कड़ी दृष्टि रखी जाती है तथा जैसे ही किसी देश से आने वाली सम्बद्ध वस्तु का मूल्य (या मात्रा) अधिकतम सीमा या निर्धारित अभ्यंश (Quota) से अधिक होने लगती है, इन वस्तुओं पर कर रोपित कर दिये जाते हैं। इसके विपरीत कृषि वस्तुओं पर गैर-संवेदनशील वस्तुओं के आयात हेतु कोई कोटा निर्धारित नहीं किया जाता। 1974 में आर्थिक समुदाय ने भारत से 9.7 करोड़ डालर के मूल्य की संवेदनशील औद्योगिक वस्तुओं तथा 3.8 करोड़ डालर के मूल्य की कृषि वस्तुओं का आयात किया।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, विकासशील देश प्राथमिकता सामान्यीकृत योजना (GSP) के अन्तर्गत स्वीकृत अभ्यंशों (Quotas) का पूर्णतः उपयोग नहीं कर पा रहे हैं। भारतीय निर्यातकर्ता भी इसके अपवाद नहीं हैं। सम्भवतः भारतीय व्यापारी संवेदनशील या अर्द्ध-संवेदनशील वस्तुओं के निर्यात में विद्यमान प्रतियोगितापूर्ण वातावरण में दृढ़तापूर्वक नहीं टिक पा रहे हैं। अनेक भारतीय वस्तुएँ अत्यन्त कम मूल्य की हैं जैसे कपास की छीजन, अनिर्मित तम्बाकू, खाने, चमड़ा एवं कृषि वस्तुएँ आदि। अनेक औद्योगिक परन्तु गैर-संवेदनशील वस्तुओं (जैसे इन्जीनियरिंग वस्तुओं, केमीकल्स, विद्युत उपकरण आदि) के निर्यात की वृद्धि करने में भी भारत सफल नहीं हो सका है।

भविष्य के लिए प्राथमिकता सामान्यीकरण योजना (GSP) का विशेष विभाग भारत जैसे विकासशील देश के संवेदनशील तथा गैर-संवेदनशील, दोनों ही प्रकार के आयातों में वृद्धि हेतु प्रयास करेगा। इसके अतिरिक्त आर्थिक समुदाय एवं विकासशील देशों के प्रतिनिधियों की वार्ता शृंखलाओं के परिणामस्वरूप निम्न निर्णय लिये गये हैं :

निर्णय 1 : संवेदनशील वस्तुएँ (वस्त्रों के अतिरिक्त) : 1976 की 13 वस्तुओं की सूची यथावत् है परन्तु अभ्यंशों (Quotas) का निर्धारण 1971 की अपेक्षा 1974 में आयातित मात्रा के आधार पर किया जायेगा। परिणामस्वरूप 1977 के अभ्यंश 50 प्रतिशत अधिक होंगे (विशेषतः गाय व बछड़ों का चमड़ा, ट्रैवलगुड्स, लेदर क्लोदिंग एवं सम्बन्धित वस्तुएँ, फर्नीचर एवं गार्मेन्ट्स आदि) परन्तु मूल्य के आधार पर अभ्यंशों में वास्तविक वृद्धि लाभप्रद नहीं हो सकेगी क्योंकि स्फीति ने इन वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि कर दी है।

कुछ अभ्यशो मे कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। इनमे जूते प्राथमिक (Primary) सैल एवं बैटरी आदि है जिनका भारत पर्याप्त मात्रा मे निर्यात करता है।

साझा बाजार के नौ सदस्य देशों के मध्य इन अभ्यशो का वितरण पूर्व की भाँति ही किया जायेगा, जिसके अनुसार प्रत्येक अभ्यश का 22 प्रतिशत ब्रिटेन को तथा 27 प्रतिशत भाग जर्मनी को आवंटित किया जाता है। परन्तु किन्ही-किन्ही वस्तुओ में अभ्यशो का 20 प्रतिशत आर्थिक समुदाय स्वय रख लेता है ताकि जो सदस्य देश अपने अभ्यशो को पूर्णतः उपयोग में ले चुके हो उनकी आयात माँग को पूरा कर सके।

निर्णय 2 । अर्द्ध-संवेदनशील वस्तुएँ 1977 के लिए इस श्रेणी की वस्तुओ को 29 से घटाकर 27 कर दिया गया है तथा 2 वस्तुओ को गैर-संवेदनशील वस्तुओं की श्रेणी म रखा गया है। इन वस्तुओ का आयात साझा बाजार में एक सीमा तक किया जाता है तथा अभ्यशो की भाँति इनका वितरण सदस्य देशो मे नही किया जाता। 1977 के लिए सभी वस्तुओ की सीमा म 50 प्रतिशत की वृद्धि कर दी गयी है। परन्तु साझा बाजार इन सीमाओं की घोषणा नही करता यद्यपि साझा बाजार **बटोइर** (butoir) के बारे मे सूचना अवश्य देता है। बटोइर वह अधिकतम अनुपात है जो अभ्यशो अथवा अधिकतम सीमा के अन्तर्गत प्राथमिकता सामान्यीकृत योजना (GSP) म किसी एक देश को प्राप्त हो सकती है। साधारणत बटोइर 50 प्रतिशत पर निर्धारित किया जाता है परन्तु कुछ वस्तुओ के सन्दर्भ मे तथा निर्दिष्ट सीमा तक दो साल तक इस सीमा तक पहुँचने वाले देशो के सन्दर्भ मे यह सीमा 15 से 20 प्रतिशत पर भी निर्धारित की गयी है। जिन अर्द्ध-संवेदनशील वस्तुओ से भारत को रुचि है वे हैं रबड के टायर व ट्यूब, छाते, जवाहरात, लौह व इस्पात की ट्यूब व नलियाँ, विद्युत जैनरेटर व मोटरें तथा वैक्यूम फ्लास्क।

निर्णय 3 गैर-संवेदनशील वस्तुएँ यद्यपि इन वस्तुओ के आयात भी सीमाबद्ध होते है, उनका कभी प्रकाशन नही किया जाता। सम्भवत इसका कारण यह है कि इनका प्रयोग कभी नहीं किया जाता है। इन वस्तुओ के सन्दर्भ मे भी बटोइर 50 प्रतिशत होती है परन्तु कुछ चमडे की वस्तुओ, बिजली की फिटिंग के कुछ उपकरण, कुछ लोहे व इस्पात की वस्तुओ आदि के सन्दर्भ मे यह सीमा 30 प्रतिशत तक भी रखी गयी है।

निर्णय 4 : वस्त्र : यूरोपियन आर्थिक समुदाय ने यह प्रस्ताव रखा है कि सूती तथा अन्य प्रकार के वस्त्रों का अन्तर समाप्त कर दिया जाय ताकि एक ही नियम से काम चलाया जा सके। 1976 मे समुदाय ने इसकी सूची मे हागकाग को भी सम्मिलित कर लिया है। परन्तु इस प्रावधान से लाभ उठाने वाले देश को अधिक स्पर्द्धाशील एव कम स्पर्द्धाशील श्रेणियो में रखा गया है। इस श्रेणीकरण के दो आधार हैं : (1) प्रति व्यक्ति आय 300 डालर या इससे अधिक वाले देश, तथा (2) साझा बाजार मे विकासशील देशो से आने वाली निर्दिष्ट वस्तुओ का अनुपात।

यह अन्तर 28 वस्तुओ के सन्दर्भ मे लागू किया जायेगा। प्रत्येक वस्तु के अभ्यश (Quota) को दो भागो मे विभाजित किया जायगा। अभ्यश का 60 प्रतिशत अधिक स्पर्द्धाशील देशो के लिए सुरक्षित रखा जायगा तथा शेष अन्य देशो के लिए सुरक्षित रहेगा। (हागकाग के अतिरिक्त जो 28 मे से 20 वस्तुओ के सन्दर्भ मे सर्वाधिक स्पर्द्धाशील है सभी विकासशील देश द्वितीय श्रेणी मे रखे गये है)। कम स्पर्द्धाशील देशो के लिए आवंटित अभ्यश का 70 प्रतिशत अश अर्द्ध-संवेदनशील वस्तुओ के लिए अधिकतम सीमा के रूप मे माना जायगा। इसे सदस्य देशो मे आवंटित नही किया जाकर इन वस्तुओ के आयात पर कडी दृष्टि रखी जायगी, तथा अधिकतम सीमा तक पहुँचते ही प्रशुल्क प्रारम्भ हो जायेंगे। शेष के लिए वस्त्र मे सम्बद्ध नियम पूर्ववत ही रहेंगे। यूरोपियन आर्थिक आयोग का प्रस्ताव है कि सात वस्तुओ (सूत तथा क्रे-कपाय) को संवेदनशील वस्तुएँ माना जाये तथा इनके लिए अभ्यश आवंटित किये जाएँ जबकि 24 वस्तुओ (हस्त निर्मित गलीचा सहित) को अर्द्ध-संवेदनशील तथा 53 वस्तुओ को गैर-संवेदनशील माना जाय। 1977 म सभी वस्तुओ को अभ्यश तथा अधिकतम सीमाओ को 5 प्रतिशत बढा दिया गया है।

निर्णय 5 : जूट तथा नारियल की जटा (coir) मे बनी वस्तुएँ : 1977 मे भारत, श्रीलंका बागलादेश व थाईलैण्ड से आयातित इन वस्तुओ पर प्रशुल्क कटौतियाँ जारी रखी जायेंगी। पूर्व के

समझौतों के अनुसार ब्रिटेन व डेनमार्क प्रशुल्क रहित राशि जारी रखेंगे। अन्य देशों में जूट का रेशा प्रशुल्क रहित आयात किया जायगा तथा अन्य वस्तुओं पर पहले के विद्यमान प्रशुल्क दरों को 20 प्रतिशत कम किया जायगा। 1977 में नारियल की जटा से निर्मित फर्श पर प्रशुल्क दर को 4.6 प्रतिशत तक घटा दिया गया है।

निर्णय 6 : अनिर्मित वर्जीनिया तम्बाकू : यह निर्णय महँगी तथा सस्ती दोनों ही प्रकार की तम्बाकू पर लागू है। भारत द्वारा सर्वाधिक निर्यातित कृषि वस्तु सन-क्योर्ड तम्बाकू भी इसी के अन्तर्गत आयात की जायगी। तम्बाकू के अभ्यंश में जहाँ एक ओर वृद्धि की गयी है वहीं विभिन्न प्रकार की तम्बाकू पर अधिक प्रशुल्क कटौतियाँ की गयी हैं। तम्बाकू का कुल अभ्यंश 1976 तक 38,000 टन था जो अब बढ़ाकर 60,000 टन पर कर दिया गया है। इसमें से ब्रिटेन 36,000 टन का आयात करेगा।

निर्णय 6 अ : वर्जीनिया के अतिरिक्त अन्य प्रकार की अनिर्मित तम्बाकू : 1977 में पहली बार वर्जीनिया के अतिरिक्त अन्य प्रकार की अनिर्मित तम्बाकू का प्रशुल्क अभ्यंश (Tariff quota) निर्धारित किया गया है। इस निर्णय से सर्वाधिक लाभ फिलीपीन्स तथा इण्डोनेशिया को होगा।

निर्णय 7 : अन्य ट्रापिकल कृषि वस्तुएँ—1976 में कुल वस्तुओं के अतिरिक्त विकासशील देशों की ट्रापिकल कृषि वस्तुओं के प्रशुल्क रहित आयात वाली वस्तुओं की संख्या 250 थी जिसे 1977 में बढ़ाकर 296 कर दिया गया है। जिन वस्तुओं पर प्रशुल्क है उनकी दरें भी बहुत कम रखी गयी हैं। भारत का गत दो वर्षों में साझा बाजार के उच्चाधिकारियों से यह अनुरोध रहा है कि वस्तुओं की संख्या में वृद्धि तथा प्रशुल्क कटौतियों को बढ़ाने हेतु और अधिक कदम उठाये जाएँ तथा इन्हें प्राथमिकता सामान्यीकृत योजना (GSP) में उपयुक्त स्थान दिया जाय। विशेष रूप से भारत का अनुरोध है कि भारतीय फलों, सब्जियों एवं मसालों के लिए इस योजना में उपयुक्त संशोधन किये जाने चाहिए।

निर्णय 8, 9 एवं 10 : इन निर्णयों के अन्तर्गत पूर्व में विद्यमान रियायतों को 1977 में नवीनीकरण किया गया है। विशेषतः इनमें कोको, मक्खन, तैयार कॉफी, एवं डिब्बा बन्द अनन्नास जैसी कृषि वस्तुएँ सम्मिलित हैं।

उपर्युक्त निर्णयों में से वस्त्रों के विषय में लिया गया निर्णय सर्वाधिक विवादास्पद है। 1976 में साझा बाजार के कुछ देशों ने हाथकरघे की कुछ संवेदनशील टैक्सटाइल मदों में सम्मिलित किये जाने के प्रस्ताव का विरोध किया था। सदस्य देशों (विशेष रूप से ब्रिटेन) का वस्त्र उद्योग भी इस दिशा में विरोध कर रहा है। सदस्य देशों ने कुछ वस्तुओं के कुछ अभ्यंशों तथा अधिकतम सीमाओं की वृद्धि के प्रस्ताव पर अभी तक अपनी स्वीकृति नहीं दी है।

साझा बाजार एवं कृषि संरक्षणवाद[1]

साझा बाजार के देशों ने अपने कृषकों को संरक्षण देने के उद्देश्य से सीमा-कर घोषित किये हैं। ये कर विशेष रूप से अमरीका से आने वाली कृषि-वस्तुओं पर लगाये गये हैं। इसके साथ ही कृषि-वस्तुओं के निर्यात करने वालों को अनुदान देने के भी प्रबन्ध किये गये हैं। इन प्रयासों का उद्देश्य साझा बाजार के सदस्य देशों के कृषकों को संरक्षण प्रदान करना है। जिन वस्तुओं का साझा बाजार के देशों में अभाव है उन्हें अभ्यंशों तथा परिवर्तनशील करों के अन्तर्गत आयात किया जाता है। अनुमानतः कृषि वस्तुओं के आयात का 33.7 प्रतिशत इन पाबन्दियों के अन्तर्गत प्राप्त किया जाता है। जहाँ इस नीति के फलस्वरूप साझा बाजार के देशों को अनुकूल शर्तों पर अमरीका तथा अन्य देशों से वांछित कृषि वस्तुएँ (खाद्यान्न तथा पशु-आहार) प्राप्त हो जाती हैं वहीं इस नीति के कुछ प्रतिकूल-प्रभाव भी हुए हैं जो इस प्रकार हैं :

(1) संरक्षण के कारण यूरोप में डेयरी तथा माँस उद्योग का तीव्र गति से विस्तार हुआ, परन्तु साझा बाजार की अभ्यंश नीति की जवाबी कार्यवाही के कारण अमरीका में यूरोप से निर्यातित डेयरी वस्तुओं व माँस की बिक्री लगभग समाप्त हो गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोप के देशों में डेयरी वस्तुओं (दूध, मक्खन व चीज) की आपूर्ति माँग से बहुत अधिक हो गयी।

---

1 Leonard Gomes, *International Economic Problems*, (1978), pp. 25-28

(ii) मक्खन, दूध व चीज के बढ़ते हुए स्टॉक से छुटकारा पाने हेतु साझा बाजार के देशों ने भारी अनुदान देकर उन्हें रूस तथा अन्य पूर्वी यूरोप के देशों में निर्यात करने का प्रयास किया है। इस प्रकार संरक्षण की भारी कीमत चुकानी पड़ी है।

(iii) साझा बाजार के देशों की संरक्षण नीति के कारण इन देशों की जनता को कृषि वस्तुएँ काफी महँगी प्राप्त होती हैं। उदाहरण के लिए 1976 में विश्व के बाजारों में विद्यमान कीमतों की अपेक्षा साझा बाजार के उपभोक्ताओं को गेहूँ, माँस तथा मक्खन के लिए क्रमशः 124 प्रतिशत, 158 प्रतिशत तथा 320 प्रतिशत अधिक कीमतें देनी पड़ती थीं। परन्तु दूसरी ओर इन देशों के छोटे कृषकों को भी इन ऊँची कीमतों के कारण लाभ नहीं हो पाता केवल बड़े कृषक ही संरक्षण से लाभान्वित हो रहे हैं।

परन्तु प्रतिबन्धों के बावजूद साझा बाजार के देश खाद्यान्न व पशु आहार का विश्व में सर्वाधिक आयात करते हैं। 1975 के वर्ष में ही कृषि वस्तुओं के व्यापार में इन देशों को 2150 करोड़ डालर का घाटा हुआ था।

प्रोजेक्ट 1992

यूरोपीय साझा बाजार के सदस्य देशों की यह योजना है कि 1992 तक उनके बीच वस्तुओं, सेवाओं तथा उत्पादन के साधनों का प्रवाह निर्बाध अथवा स्वतन्त्र हो जाय। इस निश्चय के पीछे यह उद्देश्य निहित है कि 1992 तक पश्चिमी यूरोप के सभी (सदस्य) देशों में विशिष्टीकरण के आधार पर उत्पादन किया जाय, परस्पर प्रतिस्पर्द्धा को बल मिले, तथा उत्पादन में दक्षता बढ़े।

वस्तुओं व सेवाओं के स्वतन्त्र प्रवाह के लिए साझा बाजार के देशों ने तीन उपाय किये हैं (1) सीमा नियन्त्रण की पूर्ण समाप्ति, (2) व्यापार सम्बन्धी तकनीकी प्रतिबन्धों की समाप्ति, जिनके अनुसार किसी एक देश में बिकने वाली वस्तु—जो चाहे वहीं उत्पादित हो अथवा आयातित—की सम्पूर्ण साझा बाजार में स्वतन्त्र रूप से बिक्री सम्भव है, (3) सार्वजनिक खरीद का प्रारम्भ जिनमें ऊर्जा, टेली-कम्यूनिकेशन्स, परिवहन तथा जल आपूर्ति से सम्बद्ध खरीद शामिल हैं।

इस प्रकार प्रोजेक्ट 1992 का मुख्य बिन्दु वस्तुओं का व्यापार है। जहाँ तक इससे विकासशील देशों पर होने वाले प्रभावों का प्रश्न है, बहुत कुछ इस पर निर्भर करेगा कि वस्त्र, सिले हुए कपड़े तथा केले आदि के विषय में 1990 के यूरेग्वे राउण्ड (गैट-मन्त्रणाओं) में क्या तय होता है।

वस्तुतः यूरोपीय साझा बाजार में निर्बाध प्रवेश पाना विकासशील देशों के लिए एक दुःस्वप्न है तथापि जो देश प्रतियोगिता के आधार पर दक्षतापूर्वक (कम लागत पर) उत्पादन कर रहे हैं उनके लिए साझा बाजार एक अभेद्य दीवार भी नहीं है।

भारत एवं यूरोपियन साझा बाजार (India and the European Common Market)

यूरोपियन साझा बाजार भारत के लिए समय-समय पर महत्वपूर्ण सहायता देता रहा है। जून 5, 1978 को भारत के प्रधानमन्त्री की ब्रूसेल्स यात्रा से भारत तथा साझा बाजार के बीच एक नये अध्याय की शुरुआत हुई। यूरोपीय साझा बाजार को भारत चाय, पटसन, सूती कपड़ा, कालीन, चमड़े का सामान इत्यादि का काफी मात्रा में निर्यात करके विदेशी पूंजी प्राप्त करता है।

यूरोपीय साझा बाजार द्वारा एशिया के अल्पविकसित देशों को 1978 में दी जाने वाली आर्थिक सहायता का 40% केवल भारत को ही दिया गया। भारत में डेरी उद्योग, अनाज के भण्डार तथा रासायनिक खाद के कारखानों की स्थापना हेतु यूरोपीय समुदाय का काफी योगदान रहा है।

निर्यात के आँकड़ों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि साझा बाजार देश के कुल निर्यात का 30% भाग भारत से खरीदते हैं किन्तु यह उसके कुल व्यापार का केवल 1% से अधिक नहीं है।

भारत के लिए यह एक चिन्तनीय प्रश्न बना हुआ है कि यूरोपीय देशों का झुकाव संरक्षण की ओर है। साझा बाजार के देशों द्वारा कोटा प्रणाली अपनाये जाने से भारतीय कपड़ा निर्यातकों की कठिनाइयाँ बढ़ गयी हैं।

1977-78 में यूरोपीय साझा बाजार के देशों को भारतीय निर्यात में पूर्व वर्ष (1976-77) की अपेक्षा 15% की वृद्धि हुई है। आयात में भी लगभग 22% की वृद्धि हुई है। साझा बाजार द्वारा गठित समिति (Smallmen Committee) का अनुमान था कि 1980-83 के तीन वर्षों में भारत को साझा बाजार से होने वाले व्यापार में लगभग तीन गुनी वृद्धि हो जायगी।[1]

यूरोपियन मुक्त व्यापार क्षेत्र
[EUROPEAN FREE TRADE ASSOCIATION—EFTA]

जब यूरोपियन साझा बाजार की स्थापना के विषय में वार्तालाप चल रहा था तभी यूरोप के भीतर ही प्रशुल्क की दुहरी नीति एवं इससे विदेशी व्यापार पर होने वाले प्रतिकूल प्रभावों को रोकने के लिए ब्रिटेन ने एक "मुक्त व्यापार क्षेत्र" की योजना बनायी। नवम्बर 1959 में ब्रिटेन के अतिरिक्त आस्ट्रिया, डेनमार्क, नॉर्वे, पुर्तगाल, स्वीडन तथा स्विट्जरलैण्ड ने मुक्त व्यापार क्षेत्र के प्रारूप पर स्टॉकहोम में हस्ताक्षर कर दिये। साझा बाजार की भाँति इन देशों ने भी आपसी व्यापार पर सभी प्रकार के प्रशुल्क को समाप्त करने का निश्चय किया। परन्तु अन्य देशों के साथ स्वतन्त्र प्रशुल्क-नीति बनाये रखने का निर्णय भी किया गया। साझा बाजार तथा मुक्त व्यापार क्षेत्र के बीच एक अन्तर यह भी था कि जहाँ साझा बाजार में सदस्य देशों के बीच श्रम व पूँजी का आवागमन स्वतन्त्र है, मुक्त व्यापार क्षेत्र में श्रम व पूँजी के आवागमन को पूर्ण छूट नहीं दी गयी है। इस प्रकार मुक्त व्यापार क्षेत्र एक ढीलाढाला आर्थिक संगठन है और इसमें केवल व्यापार से सम्बन्धित छूट का ही प्रावधान रखा गया है। यह भी निर्णय लिया गया कि मुक्त व्यापार क्षेत्र के देश पारस्परिक व्यापार पर विद्यमान प्रशुल्क को विभिन्न चरणों में समाप्त करेंगे। अब तक अधिकांश वस्तुओं पर मुक्त व्यापार क्षेत्र के देशों के आपसी व्यापार के लिए पूर्ण प्रशुल्क छूट दे दी है।

वस्तुतः मुक्त व्यापार क्षेत्र ब्रिटेन ने अपने लाभ के लिए बनाया था। ब्रिटेन अपनी कच्चे माल तथा खाद्य-सामग्री की आवश्यकताओं का अधिकांश भाग बाहर से मँगाता है तथा उसका यह भरसक प्रयास रहता है कि ये वस्तुएँ न्यूनतम मूल्य पर प्राप्त हों। राष्ट्र मण्डल के देशों से तो ब्रिटेन प्राथमिकता के आधार पर आयात करता ही रहा है। आवश्यकता इस बात की थी कि यूरोप के देशों से भी न्यूनतम लागत पर वस्तुएँ प्राप्त की जायें तथा अधिकतम मात्रा में इन देशों को वस्तुओं का निर्यात किया जाय। साझा बाजार के देशों में संगठन हो जाने के बाद पश्चिमी यूरोप की अन्य शक्तियों का एकीकरण करना आवश्यक था। मुक्त व्यापार क्षेत्र की स्थापना इस प्रकार मूलतः ब्रिटेन के हितों के पोषण के उद्देश्य को लेकर की गयी थी। इस पर भी ब्रिटेन क्षेत्र के अन्य सदस्य देशों के साथ पूर्ण रूप से आर्थिक एकता स्थापित करने के पक्ष में नहीं था। इसी कारण केवल आपसी व्यापार के लिए ही प्रशुल्क छूट की व्यवस्था रखी गयी जबकि शेष क्षेत्रों में प्रत्येक सदस्य को स्वतन्त्र नीति अपनाने की छूट थी। ब्रिटेन साझा व्यापार में सम्मिलित होने के बाद यूरोपियन मुक्त व्यापार क्षेत्र का महत्व अत्यन्त गौण हो गया है।

यूरोपियन भुगतान संघ
[EUROPEAN PAYMENTS UNION]

यूरोपियन भुगतान संघ (EPU) की स्थापना सितम्बर 1950 में की गयी थी। इसे यूरोपियन आर्थिक सहयोग संगठन (Organization of European Economic Cooperation—OEEC) की एक अन्तरंग इकाई के रूप में गठित किया तथा इसे उक्त संगठन की परिषद के नियन्त्रण में ही रखा गया। यूरोपियन आर्थिक सहयोग संगठन की परिषद प्रति वर्ष भुगतान संघ के कार्य-संचालन हेतु एक प्रबन्ध-मण्डल की नियुक्ति करती है। यह प्रबन्ध-मण्डल सदस्य देशों में से किसी भी देश के निरन्तर चल रहे भुगतान-असन्तुलन (घाटा या अतिरेक) को ठीक करने हेतु समुचित उपाय बताता है। इसका दायित्व उन शर्तों के लिए भी सुझाव देना था जिनके अनुसार यूरोपियन भुगतान संघ के प्रारम्भिक समझौतों का (दो वर्ष बाद) नवीनीकरण किया जाना था।

यूरोपियन भुगतान संघ का मुख्य आधार एक ऐसे वातावरण का निर्माण करना है जिसमें

1 *The Economic Times*, July 1980.

सदस्य देश के भुगतान-सन्तुलन का अतिरेक या घाटा पूर्ण रूप से स्वयमेव ही ठीक हो जाय। इसमें एक देश की दूसरे देशों से लेनदारी या उनके प्रति देनदारी को सम्बद्ध केन्द्रीय बैंक में अंकित कर लिया जाता है। प्रत्येक माह के अन्त में इन खातों की बाकियों (balances) का ब्यौरा बेसल स्थित अन्तर्राष्ट्रीय निबटारा बैंक (Bank for International Settlements) को भेजा जाता है जो यूरोपियन भुगतान संघ की ओर से कार्य करता है। सभी खातों की विशुद्ध बाकियों को देखने के बाद प्रत्येक देश की ऋणात्मक बाकी निकाली जाती है तथा इसी का निपटारा भुगतान संघ द्वारा किया जाता है।

यूरोपियन भुगतान संघ के पूंजी-साधनों के लिए यूरोपियन आर्थिक सहयोग संगठन के सदस्य देशों के उस व्यापार का 15% इन देशों के अभ्यंश के रूप में लिया गया है जो 1949 में होता था। भुगतान संघ इसके अतिरिक्त प्रत्येक देश के अभ्यंश का 40% साख के रूप में प्रदान कर सकता है। इस साख सीमा का उपयोग संघ के प्रति भुगतान के निपटाने हेतु किया जा सकता है। विशेष रूप में उस स्थिति में साख सीमा का उपयोग किया जा सकता है जब भुगतान-असन्तुलन की स्थिति अत्यन्त विकट हो जाय। इस प्रकार अभ्यंश का 20% भुगतान संघ या साख सीमा द्वारा घाटे या अतिरेक को पूरा करने हेतु प्रयुक्त किया जा सकता है। इस सीमा से आगे घाटा होने पर अभ्यंश (Quota) का 20% 40% 60% 80% तथा अन्तत 100% स्वर्ण या डालर के रूप में चुकाया जा सकता है। इसके विपरीत, लेनदार देश अभ्यंश की 20% सीमा से आगे स्वर्ण के रूप में 50% तक भुगतान प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु लेनदार देशों की अपेक्षा घाटे के भुगतान वाले देश अधिक थे और इससे भुगतान संघ के समक्ष तरलता संकट की स्थिति उत्पन्न हो गयी। इस संकट को संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा भुगतान संघ को दिये गये 35 करोड़ डालर *के पूंजी अनुदान ने किसी सीमा तक कम कर दिया।*

प्रारम्भ में यूरोपियन भुगतान संघ की स्थापना दो वर्ष के लिए की गयी थी तथा यह निर्णय लिया गया था कि प्रत्येक दो वर्ष बाद इसका नवीनीकरण किया जायगा। सामान्यतया इन नवीनीकरणों के साथ-साथ संघ के समझौते में भी समायोजन किये जाने का प्रावधान रखा गया था। 1952 में निपटारे की व्यवस्था में संशोधन किया गया। साख की सीमा 60% रखी *गयी परन्तु स्वर्ण के रूप में भुगतान और शीघ्रता से करने का निर्णय लिया गया। भुगतान संघ के* सुरक्षित कोषों को निर्दिष्ट स्तर पर बनाये रखने के लिए सभी सदस्य देशों को अब अस्थायी तौर पर स्वर्ण के रूप में भुगतान करने को कहा जा सकता था। जून 1954 में भुगतानों के निपटारे की व्यवस्था में फिर संशोधन किये गये। देनदार देशों को यह छूट दी गयी कि वे लेनदार देशों से सीधे समझौते करके भुगतान असन्तुलन को ठीक कर लें। 1956-58 के बीच अनेक देनदार देशों *(आस्ट्रिया, आइसलैण्ड, ग्रीस व टर्की) को संयुक्त राज्य अमरीका से विशेष अनुदान प्राप्त हुए तथा* यूरोपियन आर्थिक सहयोग संगठन के अन्तर्गत लिये गये अनेक दायित्वों से इन्हें छुटकारा मिल *गया। 1958 में संगठन के अनेक सदस्य देशों ने विविध सीमाओं तक अपनी मुद्राओं में परिवर्तन-*शीलता की घोषणा की।

दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग (South Asia Regional Cooperation)

दक्षिण एशिया के सात राष्ट्रों के मध्य आपसी सहयोग को बढ़ाने के उद्देश्य से नवम्बर 1985 में प्रथम 'सार्क' सम्मेलन ढाका में आयोजित किया गया। ये देश हैं: भारत, पाकिस्तान, बांगला देश, नेपाल, श्रीलंका, भूटान तथा मालदीव।

वस्तुतः 'सार्क' का स्वरूप एक साझा बाजार के अनुरूप न होकर एक ऐसे संगठन के रूप में होगा जिसके सदस्य देश आपसी विवादों को परस्पर सौहार्द्र के साथ निपटाना चाहेंगे। यही नहीं, ये देश मिल-जुलकर इस क्षेत्र की गरीबी, निरक्षरता, कुपोषण तथा महामारियों जैसी समस्याओं के निदान हेतु भी संयुक्त रूप से कार्य करेंगे। पारस्परिक आर्थिक सहयोग, तकनीकी ज्ञान का आदान-*प्रदान तथा व्यापार बढ़ाने के लक्ष्यों को भी 'सार्क' के अन्तर्गत उच्च प्राथमिकता दी गयी है।*

दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग संगठन (दक्षेस) का तीन दिन का तृतीय शिखर सम्मेलन काठमाण्डू में 4 सितम्बर, 1988 को समाप्त हुआ। सम्मेलन में संगठन के सातों सदस्य देश शामिल हुए थे। सम्मेलन के आरम्भ में नेपाल-नरेश श्री वीरेन्द्र विक्रम शाह देव ने अध्यक्ष पद ग्रहण किया और उन्हीं के संचालकत्व में सम्मेलन की शेष कार्यवाही सम्पन्न हुई। अन्त में, अपने समापन-

भाषण में महाराजा वीरेन्द्र ने सम्मेलन की सफलता पर सन्तोष व्यक्त करते हुए कहा कि इसके फलस्वरूप "हमारे क्षेत्र के (सात) देशों के बीच समन्वय और मैत्री-भावना अधिक पुष्ट हुई है।" दूसरे नेताओं की राय में यह एक सफल और सार्थक आयोजन रहा। प्रधानमन्त्री श्री राजीव गांधी के शब्दों में "सम्मेलन बहुत अच्छा रहा।"

आधुनिक विश्व में अनेक क्षेत्रीय संघ और संगठन हैं, जैसे अफ्रीकी एकता संगठन, यूरोपीय आर्थिक समुदाय, अमरीकी राष्ट्रसंघ, दक्षिण-पूर्व एशियाई संगठन इत्यादि। क्षेत्रीय संगठनों की इस शृंखला में दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग संगठन (दक्षेस) नवीनतम और सदस्य-संख्या की दृष्टि से वस्तुतः सबसे छोटा है, लेकिन इसमें भारत जैसा विशाल और विविधतापूर्ण देश शामिल है, जो अकेला ही समूचे यूरोपीय समुदाय के बराबर है। साथ ही इस क्षेत्र (दक्षिण एशिया) में दुनिया की कुल आबादी का लगभग चतुर्थांश बसता है, अतः इसकी समस्याएँ अन्य किसी भी क्षेत्रीय संगठन से कम नहीं हैं।

• वस्तुतः इन्हीं विभिन्न, व्यापक और विविध समस्याओं के सहयोगपूर्ण समाधान के निमित्त अगस्त 1983 में नई दिल्ली में क्षेत्रीय विदेश-मन्त्रियों की बैठक के बाद व्यापक क्षेत्रीय सहयोग के कार्यक्रम का विधिवत् श्रीगणेश हुआ और 8 दिसम्बर, 1985 को ढाका में हुए प्रथम शिखर-सम्मेलन में "दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग संगठन" (दक्षेस) का चार्टर यानी संविधान स्वीकार किया गया और संगठन की बाकायदा स्थापना हुई।

प्रभुत्ता-सम्पन्न राष्ट्रों के किसी भी समूह या संगठन में अन्तरंग सहयोग की भावना के बावजूद यह स्वाभाविक है कि उसके सदस्यों के बीच कुछ मतभेद देखने में आयें और कुछ मामलों पर न केवल उनके दृष्टिकोण ही में अन्तर हो बल्कि उनमें कुछ आपसी विवाद व शंकाएँ पायी जायें। दक्षेस भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एवं व्यवहार के इस सामान्य नियम का अपवाद नहीं है। अतः तृतीय दक्षेस शिखर सम्मेलन की उपलब्धियों, सीमाओं और सम्भावनाओं का मूल्यांकन इसी परिप्रेक्ष्य में करना उचित होगा।

इस क्षेत्र की विशालता और विविधता के कारण काठमाण्डू शिखर-सम्मेलन के समक्ष यों तो अनेक मसले और मुद्दे थे, लेकिन समय की सीमाओं और वर्तमान प्राथमिकताओं के कारण कुछ ही प्रश्नों पर व्यापक रूप से विचार करना सम्भव था। सभी सदस्य देश एक समस्या को लेकर अत्यधिक चिन्तित थे, वह थी आतंकवाद की समस्या।

पिछले कई वर्षों में दक्षिण एशिया के कुछ देशों में विशेषतः भारत और श्रीलंका में आतंकवादी गतिविधियाँ इतनी बढ़ गयी हैं कि उनकी राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए गम्भीर खतरा बन गयी हैं। पर जैसा कि सम्मेलन में भी स्पष्ट हुआ, भारत और श्रीलंका में इस समस्या के क्षेत्रीय आयाम अलग-अलग हैं जबकि अपने यहाँ आतंकवाद के संकट से निबटने में श्रीलंका सरकार को क्षेत्रीय पड़ोसी देश भारत से भरपूर सहायता मिल रही है, वहाँ भारत का यह दुखद अनुभव और विश्वास है कि उसका क्षेत्रीय पड़ोसी पाकिस्तान उसके यहाँ सक्रिय हो रहे आतंकवादियों को आश्रय, प्रशिक्षण और प्रोत्साहन दे रहा है।

प्रायः आतंकवादियों व अन्य गम्भीर अपराधियों से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर निबटने के लिए विभिन्न देशों के बीच द्विपक्षीय प्रत्यर्पण (एक्सट्रैडिशन) सन्धियाँ अथवा व्यवस्थाएँ होती हैं, लेकिन इस क्षेत्र के देशों के बीच ऐसी किसी भी व्यवस्था का वस्तुतः अभाव है। इसीलिए भारत ने पिछले वर्ष बँगलूर शिखर-सम्मेलन में इस प्रश्न को आग्रहपूर्वक उठाया था और आतंकवाद से निबटने के लिए व्यापक क्षेत्रीय सहमति और समझौते की माँग की थी। उस समय पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री मुहम्मद खाँ जुनेजो ने भारत को कुछ आश्वासन भी दिये थे। पर भारत की मान्यता है कि पाकिस्तान का वास्तविक व्यवहार इसमें बिल्कुल उलटा रहा है।

इस परिप्रेक्ष्य में काठमाण्डू में एक "आतंकवाद निरोधक समझौते" का स्वीकार किया जाना और सातों देशों के विदेश-मन्त्रियों का उस पर हस्ताक्षर करना शिखर सम्मेलन की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। आरम्भ में "आतंकवाद" की परिभाषा और परिधि को लेकर कुछ मतभेद थे, लेकिन बँगलूर में गठित विशेषज्ञ समिति की रपट की सहायता एवं आपसी बातचीत से इस पारिभाषिक और तकनीकी गुत्थी को सुलझा लिया गया।

प्रश्न एवं उनके संकेत

1 द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं आर्थिक सहयोग की बढ़ी हुई मात्रा ने अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र को विस्तृत किया है।" उपर्युक्त कथन की विवेचना कीजिए।

'The increasing volume of International Trade and Economic Cooperation during the post war period has widened the scope of International Economics Discuss

2 क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग से आप क्या समझते हैं ? इसके विभिन्न प्रकार कौन कौन से हैं ?
What do you mean by Regional Economic Cooperation ? What are its various forms ?

[संकेत—प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर मे आर्थिक सहयोग का अर्थ एवं आवश्यकता बताते हुए इसके विभिन्न वर्गों की व्याख्या करनी चाहिए।]

3 यूरोपीय साझा बाजार (ECM) तथा यूरोपीय स्वतन्त्र व्यापार संघ (EFTA) के विशिष्ट लक्षणों का स्पष्ट रूप से वर्णन कीजिए। ये क्षेत्रीय गुटबन्दियाँ विश्व व्यापार की वृद्धि मे कहाँ तक उपयुक्त हैं ?

Bring out clearly the distinctive features of European Common Market and European Free Trade Association How far these regional groupings are conductive to the expansion of world trade ?

4 यूरोपीय साझा बाजार पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
Write a short note on European Common Market

5 यूरोपीय साझा बाजार का विकसित एवं अल्प विकसित देशो पर प्रभाव बताइए। आपके विचार मे क्या इसी पद्धति पर आधारित एशियाई साझा बाजार के निर्माण की भी आवश्यकता है ?

Bring out the impact of European Common Market on developed and under developed countries Do you think there is need for an Asian Common Market based on the same pattern ?

6 इंगलैण्ड के यूरोपीय साझा बाजार मे प्रवेश करने से भारत का यूरोपीय साझा बाजार के देशो से होने वाला व्यापार किस प्रकार प्रभावित होगा ?

How does the entry of U K into ECM affect India s trade with ECM countries ?

7 यूरोपियन भुगतान संघ की स्थापना के पीछे क्या उद्देश्य था ? यह अपने उद्देश्य की प्राप्ति मे कहाँ तक सफल रहा है ?

What was the purpose behind establishment of European Payments Union ? To what extent it has been successful in achieving that role ?

8 भारत एवं यूरोपीय साझा बाजार पर एक टिप्पणी लिखिए।
Write a short note on India and European Common Market

9 'दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग" पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
Write a short note on ' South Asia Regional Cooperation '

परिशिष्ट

यूरोपियन आर्थिक समुदाय के देशों को निर्यात

[EXPORTS TO EEC COUNTRIES]

पिछले कुछ वर्षों से यूरोपियन आर्थिक समुदाय (EEC) भारत की इन्जीनियरिंग वस्तुओं का एक प्रमुख खरीददार बन गया है। यद्यपि पिछले 3-4 वर्षों में इन वस्तुओं का भारत से इतना अधिक निर्यात नहीं हो सका है। GATT की रिपोर्ट के अनुसार 1982-83 के विश्व निर्यात लगभग सभी क्षेत्रों में कम हुए हैं। इसका प्रभाव EEC के देशों पर भी पड़ा है। निम्न तालिका में EEC से सम्बन्धित व्यापार के आँकड़े दिये हुए हैं :

(बिलियन डालर में)

वर्ष	निर्यात	आयात
1979	222·31	158 71
1980	251 95	182 45
1981	229 04	160 84
1982	225 28	159·21

बाजार में निर्यातों की कमी का कारण पश्चिम यूरोप के देशों में अपनी प्रतियोगिता के साथ-साथ पूर्वी यूरोप के देशों में विशेष रूप से साइकिल के पुर्जे, ओटोमोबाइल के पार्ट्स तथा मशीन टूल्स इत्यादि के क्षेत्र में प्रतियोगिता का पाया जाना है। कुछ वस्तुओं के सम्बन्ध में (स्टील पर आधारित वस्तुओं) चीन की प्रतियोगिता भी महत्वपूर्ण रही है।

इन परिस्थितियों में हाल के कुछ वर्षों में पश्चिम यूरोप तथा EEC के देशों को भारत के इन्जीनियरिंग निर्यातों की प्रगति निम्न तालिका में स्पष्ट की गयी है :

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	पश्चिमी यूरोप (कुल)	EEC का हिस्सा
1976-77	63 85	57 49
1977-78	73 60	55·69
1978-79	95·93	70 33
1979-80	86 73	77·15
1980-81	94 68	86·44
1981-82	115 00	92·00
1982-83	130·00	110 00
1983-84	140·00	120 00
(लक्ष्य)	225 00	120 00

उपर्युक्त तालिका का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि EEC के देशों को हमारे निर्यात निरन्तर (1977-78 के अलावा) बढ़ रहे हैं।

1980-81 में EEC के देशों को हमारे निर्यातों का अंश कुल निर्यातों (900 करोड़ रुपये) का लगभग 10% था। फिर भी EEC देशों द्वारा इन्जीनियरिंग पदार्थों के कुल आयातों (जो कि लगभग 150 बिलियन अमरीकन डालर था) का 1980 में हमारा बाजार अंश केवल 0 06 प्रतिशत रहा था।

EEC को भारत से निर्यात किये जाने वाले मुख्य दो पदार्थ प्राय निम्न रहे हैं डीजल इंजन एव उनके पुर्जे हाथ-पुर्जे, छोटे एव काटने के यन्त्र, साइकिल के पुर्जे, ओटो पुर्जे, मशीनो के पुर्जे, साइटिफिक एव सर्जीकल यन्त्र कैमरे, हार्डवेयर तथा ग्रास की छडें इत्यादि हैं। इन वस्तुओ का EEC देशो को कुल इन्जीनियरिंग निर्यात मे लगभग 80% भाग रहता है।

1983-84 म निम्न वस्तुओ के सम्बन्ध मे हमारे निर्याता म गिरावट आयी है . हस्थ पुर्जे आटो पार्टस, साइकिल पार्टस, मशीन टूल्स आदि। *1984-85* के लिए समुदाय (EEC) द्वारा GSP के अन्तर्गत दी गयी टैरिफ रियायता तथा हमारे निर्याता के लिए EEC के देशो की बढती हुई माँग को दखते हुए भारत की निर्यात परिषद ने निम्न लक्ष्य निर्धारित किय है

(करोड रुपया मे)

देश	1983 84	1984-85
बेल्जियम	7 00	10 00
डेनमार्क	6 00	10 00
फ्रान्स	27 00	35 00
जर्मनी (DRG)	52 00	60 00
हॉलैण्ड	20 00	25 00
आयरलैण्ड	8 00	12 00
इटली	20 00	25 00
इगलैण्ड	*50 00*	*58 00*
ग्रीस	7 00	8 00
कुल	197 00	243 00

21

विकासशील देशों की समस्याएं (आर्थिक सहायता बनाम व्यापार)

[PROBLEMS OF DEVELOPING COUNTRIES—AID *Vs.* TRADE]

किसी देश के आर्थिक विकास हेतु अविरत पूंजी-निर्माण की आवश्यकता होती है। जहाँ अमरीका, इंगलैण्ड, जापान तथा जर्मनी आदि देशो में ऊँची पूंजी-निर्माण दर के कारण उत्पादन आय की वृद्धि-दरें भी काफी रहती हैं, वहीं विकासशील देशो में आय व बचत के निम्न स्तर के कारण उत्पादन व आय का स्तर एवं इनकी वृद्धि-दरें दोनों ही कम रही है। ऐतिहासिक दृष्टि से विकासशील देश प्राथमिक वस्तुओं के निर्यात द्वारा मशीनें एवं अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुएँ विदेशों से प्राप्त करते रहे हैं। आज लगभग सभी विकासशील देशों में नियोजित आर्थिक विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी है और इन्हें पर्याप्त मात्रा में पूंजी-निर्माण करने की आवश्यकता अनुभव हो रही है। परन्तु ये देश पूंजी की बढ़ती हुई आवश्यकता की पूर्ति हेतु अपने निर्यातों में वृद्धि करने में असमर्थ हैं।

यदि पूंजी-निर्माण आन्तरिक बचत या निर्यातों के माध्यम से सम्भव नहीं हो तो इसका एक विकल्प विदेशी आर्थिक सहायता हो सकता है। आज अमरीका विश्व का सबसे अधिक विकसित देश है और इसी प्रकार चीन व सोवियत रूस विश्व की महान शक्तियों में अपना स्थान रखते हैं, परन्तु इन देशो के आर्थिक विकास में विदेशी पूंजी का महत्वपूर्ण योगदान रहा था। इसी प्रकार जर्मनी, फ्रान्स व आज के अनेक विकसित देशो को आर्थिक विकास हेतु काफी पूंजी अन्य देशों से उधार लेनी पड़ती थी। विकासशील देशो को भी पूंजी-निर्माण हेतु विदेशी सहायता पर निर्भर रहना पड़ रहा था।

परन्तु विदेशी सहायता से इन देशो पर जहाँ एक ओर ब्याज का भार पड़ता है वहीं कुछ समय के अन्तराल से इन ऋणों को वापस करने की समस्या भी विद्यमान रहती है। इसके अतिरिक्त विदेशी सहायता किन शर्तों पर प्राप्त की जाती है यह भी एक महत्वपूर्ण एवं विचारणीय प्रश्न है। आर्थिक विकास के लिए कच्चे माल एवं मशीनों का आयात विदेशी सहायता के अन्तर्गत किया जाय, यहाँ तक तो ठीक है परन्तु यदि वस्तुओं की कीमतें बहुत ऊँची देनी पड़ें तो विदेशी सहायता की वास्तविक राशि काफी घट जाती है। अब तक विदेशी सहायता के नाम पर विकसित देशो ने विकासशील देशों को मशीनों, कच्चे माल व अन्य वस्तुओं की बिक्री बहुत ही ऊँची कीमत पर की है। दूसरी ओर, यदि विकसित देश विकासशील देशों से उदारतापूर्वक वस्तुओं का आयात करें तो इन देशो को पर्याप्त विदेशी विनिमय की प्राप्ति हो सकती है जिसका उपयोग विकासशील देश आवश्यक वस्तुओं के आयात हेतु कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त विदेशी सहायता से लगे हुए बन्धनों एवं अन्य कठिनाइयों से भी बचा जा सकता है।

प्रस्तुत अध्याय में हम विकासशील देशो को प्राप्त होने वाली विदेशी सहायता से सम्बद्ध समस्याओं का अध्ययन करेंगे तथा यह भी देखेंगे कि अधिक निर्यात तथा अधिक सहायता के बीच कौन-सा विकल्प अधिक श्रेष्ठ है।

विदेशी आर्थिक सहायता के उद्देश्य एवं महत्व
[OBJECTIVES AND IMPORTANCE OF ECONOMIC AID]

मायर के अनुसार विदेशी सहायता पूंजी-प्रवाह का वह भाग है जो सामान्य बाजार की परिस्थितियों के अनुरूप न होकर रियायती शर्तों पर दिया गया है।[1] दूसरे शब्दों में, वही पूंजी विदेशी सहायता के रूप में मानी जाती है जिसकी उपलब्धि रियायती शर्तों (जैसे कम ब्याज, ऋण वापसी की लम्बी अवधि) पर हो। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है विकासशील देशों की आन्तरिक बचत का स्तर अत्यन्त नीचा है। यही नहीं उनके द्वारा निर्यात की जाने वाली वस्तुओं से भी पर्याप्त विदेशी पूंजी (विनिमय) उपलब्ध होने की आशा नहीं है। इन्हीं कारणों से ये देश विदेशी सहायता के माध्यम से अपनी पूंजी सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति कर सकते हैं। संक्षेप में, प्राकृतिक साधनों के समुचित विदोहन एवं आर्थिक विकास की गति में वृद्धि करने हेतु इन देशों के लिए विदेशी सहायता का काफी महत्व है। दूसरी ओर विकसित देश जो भी विदेशी सहायता विकासशील देशों को देते हैं उनके पीछे इन (विकासशील) देशों के कल्याण की भावना के अतिरिक्त अनेक उद्देश्य भी निहित होते हैं। माइकसैल के मतानुसार विकसित देश तीन प्रमुख उद्देश्यों को लेकर विकासशील देशों को आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं[2]

(1) **राष्ट्रीय सुरक्षा (National Security)**—अमरीका विश्व का सबसे बड़ा साहूकार देश है। वहाँ के नेता इस बात पर बल देते रहे हैं कि आर्थिक सहायता केवल 'मित्रवत्' (friendly) देशों को ही दी जाय। वस्तुतः एशिया अफ्रीका व लेटिन अमरीका में दी गयी अमरीकी सहायता के पीछे इन महाद्वीपों में शक्ति-सन्तुलन बनाये रखने का उद्देश्य प्रमुख रहा है। सोवियत रूस व चीन की बढ़ती हुई राजनीतिक शक्ति को सीमित करने के उद्देश्य से अमरीका ने अरबों डालर अनेक पिछड़े हुए देशों को आर्थिक सहायता के नाम पर प्रदान किये हैं।

भारत जैसा अल्पविकसित देश भी इसका अपवाद नहीं है। तटस्थ देशों के बीच अपनी गरिमा विद्यमान रखने तथा इन देशों के राजनीतिक समर्थन को बनाये रखने के लिए भूटान, बंगला देश अफगानिस्तान, तंजानिया, नाइजीरिया, मारीशस आदि देशों के साथ भारत ने पूंजी विनियोग के समझौते किये हैं एवं इन देशों को आर्थिक सहायता दी है।

(2) **मानवीय दृष्टिकोण (Humanitarian Considerations)**—अमरीकी राजनीतिज्ञों में से कुछ का यह भी तर्क है कि विकासशील देशों में करोड़ों व्यक्ति बेकारी भूख, बीमारी, एवं आर्थिक विपन्नता से ग्रस्त हैं तथा उनकी सहायता हेतु न केवल खाद्यान्न व दवाइयाँ भेजना पर्याप्त होगा अपितु पूंजी-विनियोग के माध्यम से इन देशों में उपलब्ध प्राकृतिक साधनों के उपयोग द्वारा बेकारी एवं पिछड़ेपन की आर्थिक समस्याओं का दीर्घकालीन समाधान निकालना अधिक श्रेयस्कर होगा। इन राजनीतिज्ञों की ऐसी मान्यता है कि विकासशील देशों में भूमि-सुधारों व कर-नीति में आवश्यक संशोधनों के द्वारा आय व सम्पत्ति के वितरण में विद्यमान असमानताएँ कम करना भी जरूरी है और विदेशी सहायता के साथ यदि यह शर्त जोड़ दी जाय तो आर्थिक सहायता और अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

(3) **राष्ट्रीय आर्थिक हितों का पोषण (Promotion of National Economic Interests)**—विदेशी सहायता के साथ यदि यह शर्त जोड़ दी जाय कि राशि का उपयोग सहायता देने वाले देशों में ही किया जायगा तो इसके माध्यम से सहायता प्रदान करने वाले किसी (साहूकार) देश के बाजार का विस्तार किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, यदि सहायता देने वाला देश किसी विकासशील देश को दीर्घकालीन साख पर वस्तुएँ निर्यात करना चाहे तो इसमें उसे भी लाभ होगा। परन्तु इसके लिए शर्त यही है कि इस साख पर रियायती दर पर ब्याज लिया जाय। परन्तु माइकसैल ऐसा मानते हैं कि विदेशी सहायता के लिए निर्धारित यह लक्ष्य अनुचित

---

1 Gerald M Meier, *The International Economics of Development*, Harper and Row Publishers (1968), p 96

2 Raymond F Mikesell, *The Economics of Foreign Aid*, Chicago, Aldine Publishing Co., (1966), Chapter 1.

है । उनकी ऐसी मान्यता है कि इस उद्देश्य की पूर्ति से साहूकार देश को केवल परोक्ष रूप से ही लाभ हो पाता है।

जहाँ तक विकासशील देशों के लिए आर्थिक सहायता के महत्व का प्रश्न है इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे निश्चित रूप से इसके द्वारा लाभ उठाते हैं। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि आर्थिक सहायता के द्वारा ये देश आर्थिक विकास की गति को तीव्र कर ही लें। यदि अनेक अफ्रीकी व लेटिन अमरीकी देशों की भाँति आर्थिक सहायता के अन्तर्गत विलासिता की वस्तुएँ (जैसे महँगी मोटर-गाड़ियाँ, खाद्य वस्तुएँ, रेफ्रीजरेटर, व अन्य कीमती सामान) मँगायी जायें तो इससे देश के आर्थिक विकास पर कोई अनुकूल प्रभाव नहीं होगा, अपितु इसके विपरीत देश पर ऋण का भार बढ़ जायगा । यदि इसके विपरीत आर्थिक सहायता का उपयोग नयी प्रौद्योगिकी (Technology), पूँजी-उपकरण एवं आवश्यक कच्चे माल के आयात हेतु किया जाय तो इसका निश्चित रूप से इन देशों के आर्थिक विकास पर अनुकूल प्रभाव होगा एवं विकास की गति बढ़ जायगी।

विदेशी सहायता की आवश्यकता
[NEED FOR FOREIGN AID]

किसी विकासशील देश को कितने परिमाण में विदेशी सहायता की आवश्यकता है, यह मूल रूप से उस देश द्वारा निर्धारित आर्थिक विकास की दर पर निर्भर करती है। देश जितनी ऊँची दर से विकास करना चाहता है उसे उतनी ही अधिक मात्रा में विदेशी सहायता की आवश्यकता होगी । रोजन्स्टीन रोडां ने विदेशी सहायता की आवश्यकता को मापने हेतु निम्न सूत्र का प्रयोग किया है :[1]

$$F = (kr - b)\sum_{t=1}^{5} Y_t + 5Y_0 b - S_0/Y_0)$$

उपर्युक्त सूत्र में F विदेशी सहायता की आवश्यकता को दर्शाता है k पूँजी व उत्पादन का अनुपात (K/O) दर्शाता है, r देश की ऋण-ग्राह्य क्षमता (absorptive capacity) का प्रतीक है तथा देश के आकार व जनसंख्या के अनुसार निर्धारित विकास-दर के रूप में ध्यान किया जाता है, b आन्तरिक बचत की सीमान्त दर है तथा प्रत्येक वर्ष की नियोजित राष्ट्रीय आय का स्तर है। तदनुसार, Y_0 प्रारम्भिक राष्ट्रीय आय तथा S_0/Y_0 बचत की औसत दर को व्यक्त करता है । उपर्युक्त सूत्र में दो बातें और भी महत्वपूर्ण हैं। प्रथम, आर्थिक विकास के लिए विदेशी सहायता की आवश्यकता का अनुमान पाँच वर्ष की अवधि के लिए किया गया है। पाँच वर्ष की अवधि सम्भवतः इसीलिए ली गयी है कि अधिकांश देशों में पंचवर्षीय योजनाएँ ही बनायी गयी हैं। दूसरे, रोडां द्वारा k या पूँजी-उत्पादन का अनुपात 28 · 1 लिया गया था, परन्तु इससे अधिक या कम अनुपात लेने पर सहायता की आवश्यकता अधिक या कम हो जायगी।

वस्तुतः रोजन्स्टीन रोडां ने उपर्युक्त सूत्र द्वारा यह अनुमान किया है कि किसी देश को निर्धारित दर पर विकास करने हेतु कितने विदेशी विनिमय की आवश्यकता होगी, इस सूत्र द्वारा देश के लिए कुल पूँजी की आवश्यकता (जो विकास की वांछित दर पर निर्भर है) तथा आन्तरिक बचत के अन्तर को भी मापा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, इस सूत्र द्वारा किसी देश के बचत में अन्तर (saving gap) को मापा जा सकता है। रोजन्स्टीन रोडां के अतिरिक्त मैक्डोर हॉफमैन, टिम्बरजेन आदि ने भी अनुमान प्रस्तुत किये हैं कि "बचत-अन्तर" के आधार पर विकासशील देशों को कुल कितनी सहायता की आवश्यकता होगी। इन सभी अनुमानों को तालिका 21.1 में प्रस्तुत किया गया है।[2]

---

1 John Pincus, *Cost and Benefits of Aid · An Empirical Analysis*, UNCTAD II, (Vol. IV) Ch 2

2 देखिए Goran Ohlin, *Foreign Aid Policies Reconsidered*, pp 92 and 95

तालिका 21·1

विकासशील देशों में बचत-अन्तर के अनुमान

स्रोत	अवधि	प्रति व्यक्ति विकास-दर का लक्ष्य (प्रतिशत में)	पूंजी-उत्पादन अनुपात (c/o)	विदेशी सहायता की वार्षिक आवश्यकता (करोड़ डालर में)
मिलिकेन/रोस्टव	1953	2 0	3 0 : 1	650
हॉफमैन	1960-69	2 0	3 0 . 1	700
टिम्बेरजेन	1959	2 0	3 0 : 1	750
रोजन्टीन रोदा	1962-66	1 8	2 8 : 1	640
	1967-71	2 2	2 8 . 1	640
	1972-76	2 5	2·8 1	500

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट होता है कि प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय मे 1 8 प्रतिशत से 2 प्रतिशत तक वृद्धि करने हेतु विकासशील देशों को 640 करोड डालर से 750 करोड डालर तक की प्रति वर्ष आवश्यक्ता थी। रोदा का यह अनुमान भी उल्लेखनीय है कि विकास की प्रारम्भिक अवस्था की तुलना मे बाद की अवस्था मे विदेशी सहायता की आवश्यकता कम हो जाती है।

बचत-अन्तर से भिन्न एक अन्य विधि द्वारा भी विदेशी सहायता की आवश्यकता का अनुमान लगाया जा सकता है। इसे विदेशी विनिमय-अन्तर (Foreign Exchange Gap) कहा जाता है। इस विधि के द्वारा यह पता लगाया जाता है कि विकासशील देशो को कितने विदेशी विनिमय की आवश्यकता है। व्यापार एव प्रशुल्क पर हुए सामान्य समझौते (GATT), सयुक्त राष्ट्र सघ, व बलासा ने कुल विकास-दर 4 5 से 5 2 प्रतिशत मानते हुए ऐसा अनुमान लगाया कि 1960 से 1970 के बीच विकासशील देशो को 1,100 करोड से 2,000 करोड डालर तक की विदेशी विनिमय की आवश्यकता थी जिसमे से विदेशी व्यापार का अन्तर (आयात व निर्यात का अन्तर) 500 करोड से 1,200 करोड डालर अनुमानित किया गया था एव शेष अन्तर अदृश्य व्यापार एव सेवाओ से सम्बद्ध माना गया था। चैनरी व स्ट्राउट ने केवल विदेशी व्यापार के अन्तर को लक्ष्य करते हुए अनुमान किया था कि विकासशील देशो को 1962-70 की अवधि मे 5 2 प्रतिशत विकास-दर प्राप्त करने हेतु 7,600 करोड डालर की वस्तुओ का आयात करना होगा जबकि उनके कुल निर्यातो का मूल्य 5,700 करोड डालर ही होगा। तदनुसार, इन देशो को 1962-70 के बीच 1,900 करोड डालर की विदेशी सहायता की आवश्यकता अनुमानित की गयी।[1]

1982 के मूल्यो के अनुसार 1980-82 के मध्य इन देशो को 5 प्रतिशत की दर से आर्थिक विकास करने हेतु लगभग 1,760 करोड डालर की शुद्ध विदेशी सहायता की वार्षिक आवश्यकता थी।

यह स्पष्ट है कि विदेशी विनिमय का अन्तर बचत के अन्तर से अधिक अनुमानित किया गया है। वास्त मे विभिन्न सस्थाओ एव विद्वानो द्वारा आर्थिक सहायता की आवश्यकता राशि मे अनुमान उनमे निहित मान्यताओ पर निर्भर रहे हैं। आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक देश की विशिष्ट एव सामान्य समस्याओ को देखते हुए उसके विदेशी विनिमय या बचत का अन्तर अनुमानित किया जाय। विकासशील देशो के आकार, जनसख्या, सामाजिक एव राजनीतिक वातावरण तथा अर्थ-व्यवस्था की सरचना मे काफी अन्तर है। इसीलिए इनकी विदेशी सहायता सम्बन्धी आवश्यकताओ के अनुमान भी पृथक् रूप से ही लगाने होंगे।

---

1 Ohlin, *op. cit*, pp. 92 and 95.

विदेशी ऋण वृत्त-अवधारणा[1]
[THE DEBT CYCLE HYPOTHESIS]

आर्थिक विकास की प्रक्रिया में जैसे-जैसे पूंजी निवेश पर प्रतिफल की दर में वृद्धि होती है, अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के प्रवाह की दिशा में परिवर्तन होता जाता है। इसी प्रवृत्ति के आधार पर विदेशी ऋण-वृत्त की अवधारणा का प्रतिपादन किया गया है। इस अवधारणा के अनुसार विदेशी ऋण की स्थिति से सम्बद्ध पांच चरणों तथा देश की व्यापार व भुगतान-सन्तुलन की व्याख्या निम्न रूप से की जा सकती है :

चार्ट 21.1
विदेशी ऋण-वृत्त

चरण	संकेतक			
	व्यापार-शेष	ब्याज	पूंजी का निवल प्रवाह	ऋण की स्थिति
1 प्रथम (नवोदित ऋणी देश)	प्रतिकूल	भुगतान करता है	पूंजी की निवल प्राप्ति	ऋण की राशि वर्द्धमान दर से बढ़ती जाती है
2 द्वितीय (परिपक्व ऋणी)	व्यापार-घाटे में कमी होती है	भुगतान करता है	पूंजी की निवल प्राप्ति में कमी	ऋण की राशि में ह्रासमान दर से वृद्धि
3. तृतीय (ऋण में कमी होना)	अनुकूल व्यापार शेष में वृद्धि होती है	भुगतान में कमी प्रारम्भ	पूंजी का निवल बहिर्गमन	ऋण की राशि में कमी प्रारम्भ
4 चतुर्थ (नवोदित साहूकार देश)	अनुकूल शेष में कमी तथा अन्ततः व्यापार शेष का प्रतिकूल होना	भुगतान में कमी व अन्ततः ब्याज की निवल प्राप्ति	पूंजी का ह्रासमान दर पर बहिर्गमन	विदेशी परिसम्पत्ति का निवल संचय
5 पंचम (परिपक्व साहूकार)	प्रतिकूल	ब्याज की निवल प्राप्ति	निवल पूंजी प्रवाह में कमी	विदेशी परिसम्पत्ति की स्थिति में स्थिरता या धीमी गति से वृद्धि

यहां यह उल्लेखनीय है कि समूचे विश्व की ऋण स्थिति न तो अनुकूल हो सकती है और न ही प्रतिकूल। उपर्युक्त चार्ट व्यक्तिगत स्तर पर एक देश की बदलती हुई स्थिति को दर्शाता है। इसलिए जैसे-जैसे अधिक देश पांचवें चरण की ओर बढ़ते हैं, उनकी विदेशी परिसम्पत्ति की सापेक्ष स्थिति कम होती जाती है।

फिर भी इस अवधारणा से यह बात स्पष्ट नहीं होती कि कोई देश कितने समय तक किस चरण में रहेगा।

विदेशी सहायता का रूप एवं पर्याप्तता
[NATURE AND ADEQUACY OF FOREIGN ECONOMIC AID]

विकास सहायता समिति (Development Assistance Committee—DAC) के अनुसार वित्तीय सहायता के पांच रूप हो सकते हैं (i) अनुदान (ii) ऋणदाता या ऋण लेने वाले देश की मुद्रा में चुकाये जाने वाले ऋण, (iii) वस्तुओं के रूप में सहायता जो अनुदान या ऋण, किसी भी रूप में हो सकती है, (iv) विक्रेताओं द्वारा सरकारी प्रतिभूति (Guaranttee) कर दी गयी साख तथा (v) क्षतिपूर्ति के रूप में भुगतान।

प्रशासनिक दृष्टि से विदेशी सहायता को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है (अ) सरकारी बनाम निजी सहायता तथा (ब) बहुपक्षीय बनाम द्विपक्षीय सहायता। यदि किसी देश को अन्य किसी देश की सरकार द्वारा सहायता दी जाय तो यह सरकारी (official) सहायता

---

1 *World Development Report*, 1985, pp 46-47.

है। दूसरी ओर, निजी (private) सहायता की उपलब्धि गैर-सरकारी निगमों या संस्थाओं से होती है। बहुधा सरकारी सहायता का परिमाण दोनों देशों के राजनीतिक सम्बन्ध पर निर्भर करता है जबकि निजी सहायता की राशि दोनों देशों की सरकारों के निजी पूँजी के आगमन या बहिर्गमन के प्रति दृष्टिकोण तथा इस सम्बन्ध में अपनायी गयी नीति पर निर्भर करता है। बहुपक्षीय (multilateral) सहायता के अन्तर्गत किसी देश को अनेक देशों से ऋण प्राप्त करने की सुविधा रहती है जबकि द्विपक्षीय (bilateral) सहायता में दो देशों के बीच ही ऋण सम्बन्धी समझौते होते हैं।

सरकारी विकास सहायता
[OFFICIAL DEVELOPMENT ASSISTANCE]

सरकारी विकास सहायता से हमारा आशय उस आर्थिक सहायता से है, जो विकासशील देशों को बहुपक्षीय अथवा द्विपक्षीय सहायता के रूप में प्राप्त होती है। इस प्रकार की सहायता के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं

(i) यह सहायता रियायती ब्याज पर प्रदान की जाती है, (ii) इस सहायता का एक चौथाई अंश अनुदान के रूप में होता है (iii) इस सहायता का प्रयोजन विकासशील देशों के आर्थिक विकास में सहयोग देना है (iv) इस सहायता के अन्तर्गत दी जाने वाली राशि का निर्धारण किसी फार्मूले द्वारा न होकर विकसित व विकासशील देशों के राजनीतिक सम्बन्धों द्वारा किया जाता है।

सरकारी विकास सहायता की राशि[1]

1960 में केवल विकास सहायता समिति ही विकासशील देशों के आर्थिक विकास हेतु आर्थिक सहायता स्वीकृत करती थी। उस वर्ष समिति ने 1580 करोड़ डालर की राशि इन देशों की सहायतार्थ स्वीकृत की थी। पिछले तीन दशकों में तेल निर्यातक देशों तथा समाजवादी देशों द्वारा भी इस दिशा में योगदान दिया जाने लगा है। 1980 में विकासशील देशों द्वारा प्राप्त कुल 3740 करोड़ की सहायता राशि में से 70 4 प्रतिशत विकास सहायता समिति के माध्यम से प्राप्त की गयी जबकि 23 8 प्रतिशत राशि तेल निर्यातक देशों व शेष समाजवादी देशों द्वारा उपलब्ध करायी गयी।

तालिका 21 2 से यह पता चलता है कि 1960 तथा 1981 के बीच सरकारी विकास सहायता की राशि में 125 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस तालिका में यह भी स्पष्ट होता है कि 1960 में जहाँ केवल विकास सहायता समिति (17 देशों का आर्थिक सहयोग तथा विकास संगठन) द्वारा ही सरकारी स्तर पर विकास सहायता दी जाती थी, अब तेल-निर्यातक देश तथा समाजवादी देश भी इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे हैं। *1981* में कुल सरकारी विकास सहायता का 22 प्रतिशत इन देशों से प्राप्त हुआ, जबकि समाजवादी देशों से लगभग 6 प्रतिशत सहायता प्राप्त हुई।

तालिका 21 2

सरकारी विकास सहायता (करोड़ डालर में)

स्रोत	वर्ष 1960	1970	1980	1981
1 विकास सहायता समिति	1580 (100 0)	1790 (83 6)	2640 (70 6)	2560 (71 9)
2 तेल निर्यातक देश	—	100 (4 7)	890 (23 8)	790 (22 2)
3 अन्य (समाजवादी देश)	—	250 (11 7)	220 (5 6)	210 (5 9)
योग	1580 (100 0)	2140 (100 0)	3740 (100 0)	3560 (100 0)

नोट—कोष्ठक में कुल का प्रतिशत दिया गया है।

1 *ODA From Developed Countries*, Finance & Development, June 1983.

यद्यपि विकास सहायता समिति से प्राप्त सहायता की राशि 1981 में 1980 की अपेक्षा लगभग 3 प्रतिशत कम थी, 1982 में यह राशि 9 प्रतिशत बढ़कर 2790 करोड़ डालर तक पहुँच गयी।

बहुपक्षीय तथा द्विपक्षीय सहायता

सरकारी विकास सहायता बहुपक्षीय होगी अथवा द्विपक्षीय, यह काफी सीमा तक सहायता देने वाले देश में विद्यमान इस धारणा पर निर्भर करता है कि प्रदत्त सहायता का अमुक सीमा तक सही उपयोग किया जायगा। साथ ही, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उस (सहायता देने वाले) देश तथा आवेदक देश के मध्य आर्थिक एवं राजनीतिक सम्बन्ध किस प्रकार के हैं।

1977-78 के बाद से सरकारी विकास सहायता में द्विपक्षीय सहायता का अंश काफी कम हुआ है। जहाँ 1960 में 410 करोड़ डालर की द्विपक्षीय सहायता दी गयी थी, 1983 तक यह बढ़कर 2610 करोड़ डालर हो गयी। इसी अवधि में बहुपक्षीय सहायता की राशि 58 करोड़ डालर से बढ़कर 750 करोड़ डालर हो गयी। यद्यपि अनुपात की दृष्टि से बहुपक्षीय सहायता में वृद्धि हुई है (अनुपात 3·67 से बढ़कर 28 9 प्रतिशत हो गया है), तथापि आज भी विकसित देश इस बात को अधिक पसन्द करते हैं कि विकास सम्बन्धी सहायता द्विपक्षीय समझौतों के आधार पर ही दी जाये। इसका कारण यह है कि विकसित देश द्विपक्षीय सहायता के अन्तर्गत आवेदक देश को अनेक शर्तें मानने पर विवश कर सकते हैं। अन्य शब्दों में, प्रायः द्विपक्षीय सहायता बन्धन-युक्त सहायता होती है।

अन्य प्रकार की सहायता

आर्थिक सहयोग व विकास संगठन (OECD) की 1983 की रिपोर्ट में यह स्वीकार किया गया है कि 1972-1982 के दशक में विकासशील देशों को प्राप्त होने वाली सहायता में तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ दिखायी दी हैं (अ) इस दशक में बहुपक्षीय तथा द्विपक्षीय सरकारी विकास सहायता में केवल 20 प्रतिशत वृद्धि हुई है, परन्तु कुल सहायता में इसका अनुपात कम हुआ है, क्योंकि गत दशक में निजी अथवा बैंकों द्वारा आन्तरिक वित्तीय साधनों में काफी अधिक वृद्धि हुई है। (ब) रियायती सरकारी सहायता में जो कमी हुई है उसकी क्षतिपूर्ति विकसित देशों की सरकारों द्वारा समर्थित अन्य प्रकार की सहायता में हुई वृद्धि से हो गयी है। (स) निजी निवेश तथा ऋणों में गत दशक में काफी वृद्धि हुई है।

निम्नांकित तालिका 21 3 से यह पता चलता है कि 1970-1982 की अवधि में सरकारी विकास सहायता के अतिरिक्त विकासशील देशों को गैर-रियायती तथा निजी सहायता के रूप में कितनी पूँजी प्राप्त हुई

तालिका 21 3

विकासशील देशों को प्राप्त गैर-रियायती तथा निजी पूँजी (1970 व 1982)

(करोड़ डालर)

स्रोत	*1970*	*1982*
1 सरकारी गैर-रियायती सहायता	110	1100
2 निजी ऋण (व्यापारिक बैंक आदि)	470	3500
3 निजी प्रत्यक्ष निवेश	220	1530

स्रोत *World Development Report*, 1985, pp 94-95

इस प्रकार उपर्युक्त अवधि में गैर-रियायती सरकारी सहायता एवं निजी पूँजी प्रवाह की राशि 7·66 गुनी हो गयी।

विकासशील देशों को प्राप्त होने वाली सहायता के दो प्रमुख रूप और भी हैं : निर्यात साख तथा तेल निर्यातक देशों द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहायता। आर्थिक सहयोग तथा विकास संगठन (OECD) की विकास सहायता समिति (DAC) के सदस्य देशों द्वारा 1970-72 के वर्षों में 280 करोड़ डालर की निर्यात साख (वार्षिक औसत) प्रदान की गयी थी जिसमें से निजी निर्यात साख की राशि 190 करोड़ डालर थी। 1983 में कुल निर्यात साख की राशि 760 करोड़ डालर

हो गयी जिसका लगभग 70 प्रतिशत (550 करोड़ डालर) निजी साख तथा शेष सरकारी निर्यात साख के रूप में प्रदान किये गये। यह उल्लेखनीय है कि 1970-1983 के मध्य विकासशील देशों को प्राप्त कुल सहायता में निर्यात साख का अनुपात 15 प्रतिशत से घटकर 8 प्रतिशत रह गया हालांकि प्राप्त निर्यात-साख की राशि में पर्याप्त वृद्धि हुई है।[1]

एक रोचक तथ्य यह भी है कि यद्यपि विकसित देशों ने 1987 में अपनी राष्ट्रीय आय का लगभग 0 40 प्रतिशत विकासशील देशों को सहायतार्थ दिया था परन्तु ऋणों की वापसी व ब्याज के भुगतान के कारण शुद्ध अनुपात केवल 0 12 प्रतिशत रह गया।

जहाँ तक तेल-निर्यातक देशों द्वारा प्रदत्त रियायती सहायता का प्रश्न है, 1970 में इसकी कुल राशि लगभग 40 करोड़ डालर थी। इसमें से लगभग 31 करोड़ डालर अरब देशों से प्राप्त हुए थे व शेष अन्य तेल-निर्यातक देशों से। 1973 में तेल की कीमतें बढ़ाने के बाद इस सहायता राशि में लगातार वृद्धि की गयी है। 1976 में कुल सहायता राशि 624 करोड़ डालर (अरब देशों की राशि 509 करोड़ डालर) थी जो 1981 तक बढ़कर 852 करोड़ डालर हो गयी। 1982 एवं 1983 में यह राशि कम होकर क्रमश 589 करोड़ डालर तथा 547 6 करोड़ डालर रह गयी। 1986 में सभी तेल-उत्पादक व निर्यातक देशों द्वारा विकासशील देशों को 471 करोड़ डालर की सहायता दी गयी जिसमें से अरब देशों द्वारा 450 करोड़ डालर की सहायता दी गयी थी व शेष अन्य तेल-उत्पादक देशों द्वारा। 1987 में यह राशि घटकर 334 करोड़ डालर रह गयी और इसी के साथ इन देशों की कुल आय में विदेशी सहायता का अनुपात भी 0 95 प्रतिशत से घटकर 0 79 प्रतिशत रह गया।

विश्व बैंक के अध्यक्ष ने अनेक बार विकासशील देशों को प्राप्त होने वाली इस प्रकार की (गैर-रियायती) सहायता में हो रही तीव्र वृद्धि के प्रति गम्भीर चिन्ता व्यक्त की है। उनका कथन है कि व्यापारी बैंकों द्वारा प्रदत्त सहायता की वास्तविक राशि दो कारणों से बढ़ाने की अपेक्षा कम हुई है। प्रथम तो यह कि ऐसी सहायता या इन ऋणों पर ब्याज की दर अपेक्षाकृत काफी अधिक होती है। दूसरी बात यह है कि प्रतिवर्ष जो निजी स्रोतों से विकासशील देशों को सहायता मिलती है आज उनकी तुलना में उन्हें अधिक राशि लौटानी पड़ रही है। उन्होंने बताया कि 1983 में निजी ऋणदाताओं से जितनी राशि विकासशील देशों को मिली उसकी अपेक्षा उन्होंने 2100 करोड़ डालर अधिक लौटा दिये। 1981 तक भी निजी स्रोतों से 1600 करोड़ डालर की शुद्ध राशि विकासशील देशों को प्राप्त हुई थी जबकि अब यह प्रवाह ऊँची ब्याजदर तथा भुगतान की कठोर शर्तों के कारण ऋणात्मक बन गया है। विश्व बैंक के अध्यक्ष ने विकसित देशों के बड़े बैंकों से अपील की है कि वे विकासशील देशों पर बकाया ऋणों के भुगतान की शर्तों को उदार बनायें।

सरकारी सहायता का लक्ष्य तथा विकसित देशों का दृष्टिकोण

1960 में संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा ने विश्व चर्च परिषद् के इस अनुरोध को स्वीकार किया था कि विकसित देशों को उनकी राष्ट्रीय आय का 1 0 प्रतिशत विकासशील देशों को रियायती ऋणों तथा अनुदान के रूप में देना चाहिए। परन्तु कुछ समय बाद इस अनुपात को घटाकर 0 7 प्रतिशत कर दिया गया। 1971-80 के विश्व विकास दशक के अन्त तक इस लक्ष्य को पूरा करने हेतु सभी विकसित देशों से अनुरोध किया गया। जब 1979 में विकासशील देशों को प्राप्त सरकारी विकास सहायता की समीक्षा की गयी तो यह पाया गया कि अधिकांश विकसित देश इस लक्ष्य से काफी दूर थे। पुन वर्तमान विकास दशक (1981-90) के अन्त तक इस लक्ष्य को पूरा करने हेतु सभी विकसित देशों से अनुरोध किया गया है।

वस्तुस्थिति यह है कि विश्व के सबसे अधिक सहायता देने वाले देश, यानी संयुक्त राज्य अमरीका, ने तो प्रारम्भ से ही इस लक्ष्य के औचित्य को स्वीकार नहीं किया जबकि अन्य बड़े देश भी अपनी राष्ट्रीय आय का बहुत छोटा अंश विकासशील देशों को रियायती सहायता के रूप में देते हैं। यह एक विडम्बना ही है कि अपेक्षाकृत छोटे औद्योगिक देशों ने अपनी आय का अधिक भाग

1 *World Development Report*, 1989, pp 200 201.

सरकारी विकास (रियायती) सहायता के रूप में दिया है परन्तु उनसे प्राप्त राशि का कुल राशि में अंश बहुत कम है।

तालिका 21.4 से ज्ञात होता है कि अमरीका की राष्ट्रीय आय का उत्तरोत्तर कम अंश विकासशील देशों को रियायती सहायता के रूप में प्राप्त हो रहा है और सम्भवतः इसी कारण विकास सहायता समिति के सदस्य देशों की कुल आय में रियायती सहायता का अनुपात नहीं बढ़ पा रहा है। तालिका से यह स्पष्ट है कि बड़े देशों द्वारा प्रदत्त विकास सहायता का उनकी राष्ट्रीय आय में अनुपात पिछले कुछ वर्षों में बढ़ा है व कुल सहायता की राशि में भी वृद्धि हुई है। परन्तु अमरीका व ब्रिटेन जैसे देशों द्वारा प्रदत्त राशि का उनकी राष्ट्रीय आय के अनुपात का 0.30 प्रतिशत भी नहीं है। यह निस्सन्देह एक निराशाजनक स्थिति है। परन्तु इसके बावजूद नीदरलैण्ड्स, फ्रान्स व स्वीडन की सहायता का बढ़ता हुआ अनुपात स्वागत योग्य है हालांकि इनकी सहायता का अनुपात बड़े देशों से प्राप्त कुल सहायता का केवल 21.5 प्रतिशत है।

हाल में प्राप्त सूचनाओं के अनुसार 1982 में सभी औद्योगिक देशों द्वारा प्रदत्त सहायता का अनुपात उनकी राष्ट्रीय आय में 0.39 हो गया था। परन्तु जापान व संयुक्त राज्य अमरीका जिनका कुल सहायता में योगदान एक तिहाई है, की आय में रियायती सहायता का अनुपात अब भी 0.27 से कम है।

तालिका 21.4

विकसित देशों द्वारा प्रदत्त विकास सहायता का उनकी राष्ट्रीय आय में अनुपात

(प्रतिशत में)

देश	अनुपात				
	1970	1975	1980	1981	1988
1. कनाडा	0.41	0.54	0.43	0.43	0.50
2. फ्रान्स	0.66	0.62	0.64	0.73	0.73
3. पश्चिमी जर्मनी	0.32	0.40	0.44	0.47	0.39
4. इटली	0.16	0.11	0.17	0.19	0.35
5. जापान	0.23	0.23	0.32	0.28	0.98
6. नीदरलैण्ड्स	0.61	0.75	1.03	1.08	0.87
7. स्वीडन	0.38	0.82	0.79	0.83	0.32
8. ब्रिटेन	0.39	0.39	0.35	0.44	0.42
9. सं. रा. अमरीका	0.32	0.27	0.27	0.20	0.25
10. अन्य देश	0.23	0.47	0.45	0.47	0.47
कुल का औसत	0.34	0.36	0.38	0.35	0.38

स्रोत : *World Development Report*, 1989, pp. 200-201

नोट : 1988 में कुल सहायता की राशि 4973 करोड़ डालर की थी जिसमें से विभिन्न देशों का योगदान इस प्रकार रहा था (करोड़ डालर में) : अमरीका 1217, ब्रिटेन 262, पश्चिमी जर्मनी 470, जापान 770, फ्रान्स 696, स्वीडन 153, कनाडा 234 व नीदरलैण्ड्स 223।

सरकारी विकास सहायता में किसी देश की आवश्यकताओं की कितनी उपेक्षा की जाती है, यह इसी से स्पष्ट होता है कि भारत तथा चीन को कुल सहायता का केवल 5 प्रतिशत अंश प्राप्त हुआ है जबकि इन दोनों देशों में विकासशील देशों की 51 प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है तथा कुल आय का 19 प्रतिशत सृजित होता है। हाल ही में एशिया तथा प्रशान्त महासागर के देशों के एक सर्वेक्षण में बतलाया गया है कि एशिया के देशों में प्राप्त प्रति व्यक्ति सहायता सभी विकासशील देशों को प्राप्त प्रति व्यक्ति सहायता के औसत से आधी भी नहीं है।[1]

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि विकासशील देशों को अब विकसित देशों से अधिक रियायती सहायता की आशा न करके या तो स्वयं अपनी बचत अथवा उत्पादन-क्षमता में

1 *Financial Express*, May 8, 1984.

सुधार करना होगा अथवा पूंजी के निजी स्रोतों पर निर्भरता बढ़ानी होगी। जैसा कि ऊपर बतलाया गया था निजी स्रोतों से प्राप्त सहायता वस्तुत इन देशो के विकास मे अधिक सहायक नहीं हो सकती, और न ही इन देशो के निजी निवेश के प्रति राजनीतिक कारणो से अधिक उत्साह दिखायी देता है। इसीलिए इन देशो को विदेशी विनिमय की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने हेतु निर्यात मे वृद्धि करनी होगी।

अब हम विदेशी सहायता से सम्बद्ध कुछ महत्वपूर्ण समस्याओ का उल्लेख करेंगे।

विदेशी सहायता से सम्बद्ध समस्याएं
[PROBLEMS AND ISSUES INVOLVED IN FOREIGN AID]

एक ओर विकसित दशो की ओर से विकासशील दशो को अधिकाधिक सहायता दिलाये जाने के प्रयास किये जा रहे है तथा वस्तुत कुल विदेशी सहायता की राशि म भी वृद्धि हुई है, तो दूसरी ओर घटती हुई विदेशी सहायता क कारण अनेक जटिल समस्याएँ भी उत्पन्न हो गयी है।

(1) **राजनीतिक एव विदेशी आर्थिक सहायता**—ऊपर इस विषय पर चर्चा की जा चुकी है कि समाजवादी तथा पूंजीवादी दोनो ही प्रकार के देशो द्वारा किस विकासशील देश को कितनी आर्थिक सहायता दी जायगी, यह बहुधा राजनीतिक सम्बन्धो पर निर्भर करता है। विशेष रूप मे सयुक्त राज्य अमरीका (जो विश्व का सबसे धनी एव सर्वाधिक सहायता देने वाला देश है) उन दशो को अधिक सहायता देता है जो अमरीका की नीतियो का समर्थन करते हैं। अमरीकी ससद (कांग्रेस व सीनेट दोनो) मे विभिन्न प्रतिनिधि इस बात पर बल देते है कि अमरीकी सहायता "सच्चे मित्रो" को ही दी जाय। हाल म भारत को प्राप्त होने वाली सहायता मे कटौती इसी भावना का एक प्रतीक है। समाजवादी देशो का रुख तो इस दृष्टि स और भी कठोर है। सोवियत रूस व चीन की अधिकाश आर्थिक सहायता समाजवादी विचारधारा के प्रसार एव इसमे आस्था रखने वाले देशो को ही दी जाती रही है।

आर्थिक सहायता एव राजनीति क इस सम्मिश्रण के विरुद्ध अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए प्रोफेसर एडवर्ड मेसन ने लिखा कि "यदि आर्थिक सहायता का प्रयोजन सहायता प्राप्त करने वाले देश के राजनीतिक व्यवहार पर तात्कालिक प्रभाव डालना ही है तो श्रेष्ठ यह ही होगा कि हम सहायता देना बन्द कर दें।"[1]

प्रो हटिंगटन का तर्क है कि अमरीका अपने मित्रो को ही सहायता देता है तथा जो मित्रवत् नहीं हैं उन्हे सहायता देना अस्वीकार कर देता है। परन्तु फिर उनका प्रश्न है कि क्या सहायता देकर मित्र खरीदे जा सकते है? *हटिंगटन के शब्दो म, 'यह सोचना एक भारी भूल है कि दूसरे लोग हमे इसलिए पसन्द करते हैं कि हम उन्हें सहायता देते हैं।'*[2] *अप्रैल 1975 मे वियतनाम, कम्बोडिया व थाइलैण्ड मे हुई घटनाएँ इसी बात की द्योतक है कि राजनीतिक कारणो मे सहायता देने पर भी इन देशो की जनता अमरीकी नीतियों का घोर विरोध करती है।*

कुछ भी हो, तथ्य यह है कि विदेशी आर्थिक सहायता बडी मात्रा मे केवल उन्ही देशो को दी *जा रही है तथा भविष्य में भी दी जाती रहेगी जो सहायता देने वाले को राजनीतिक समर्थन देते हैं।*

(2) **आर्थिक विवाद**—आर्थिक सहायता से सम्बद्ध अनेक आर्थिक विवाद हैं परन्तु उनमे से प्रमुख विवाद इस प्रकार हैं

(अ) सहायता प्राप्त करने वाले देश की ग्राह्य-क्षमता (Absorptive Capacity),

(ब) बन्धनयुक्त सहायता (Tied Aid),

(स) सहायता का भार (Burden of Aid),

1 Quoted in Roy J Bullock, *Memorandum on What To Do About Foreign Aid*, U S Congress House Committee on Foreign Affairs 91st Congress, 1st Session, January 21, 1969

2 S P Huntington. "Foreign Aid For What and For Whom", an article appeared in *Foreign Policy*, 1971.

(अ) तकनीकी समस्याएँ (Technological Issues), तथा

(य) कार्यक्रम बनाम परियोजना सहायता (Programme vs Project Aid)।

अब हम संक्षेप में इन सभी की चर्चा करेंगे

(अ) ग्राह्य-क्षमता—आर्थिक सहायता का अभिप्राय केवल एक देश से दूसरे देश को पूँजी का हस्तान्तरण नहीं है। सहायता देने वाले देश को यह भी देखना चाहिए कि प्राप्तकर्ता देश की सहायता ग्रहण करने की क्षमता कितनी है। हैरी जॉन्सन के मतानुसार सहायता की राशि के निर्धारण हेतु विद्यमान सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति के अतिरिक्त प्राप्त सहायता को समुचित रूप से उपयोग करने की क्षमता को भी दृष्टिगत रखना चाहिए।"[1]

संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा अनेक एशियाई एवं लेटिन अमरीकी देशों में वितरित सहायता उनकी ग्राह्य-क्षमता से कहीं अधिक है। फलस्वरूप अमरीकी सहायता का इन देशों में काफी दुरुपयोग हुआ है। जब कभी ग्राह्य-क्षमता से अधिक ऋण किसी देश को प्राप्त होता है तो उसका दुरुपयोग होना स्वाभाविक भी है। एशिया, अफ्रीका एवं लैटिन अमरीका के अनेक देशों में व्याप्त मुद्रा-स्फीति के पीछे साधनों का यह दुरुपयोग भी निहित है।

इसी प्रकार, ऋण देने से पूर्व प्राप्तकर्ता देश के प्राकृतिक साधनों की उपलब्धि तथा ऋण के उपयोग के विषय में भी विचार किया जाना चाहिए। ये दोनों ही बातें सहायता प्राप्त करने वाले देश की भुगतान-क्षमता (repayment capacity) का निर्धारण करती हैं।

(ब) प्रतिबन्धयुक्त सहायता—सहायता देने वाले विकसित देश बहुधा किसी न किसी शर्त पर ही विकासशील देशों को सहायता देते हैं। विभिन्न प्रकार की सहायता पर जो भी बंधन या शर्तें थोपी जाती हैं, वे निम्न प्रकार हैं

(i) **औपचारिक प्रतिबन्ध**—इनके अन्तर्गत सहायता देने से पूर्व दोनों पक्ष सहायता की राशि किस प्रकार उपयोग में ली जायगी, इसके सम्बन्ध में औपचारिक समझौते कर लेते हैं।

(ii) **अनौपचारिक प्रतिबन्ध**—ये प्रतिबन्ध भी सहायता की राशि के उपयोग से सम्बद्ध होते हैं परन्तु बहुधा इनके विषय में दोनों पक्ष अनौपचारिक (informal) रूप से समझौता करते हैं। ऐसी स्थिति में सहायता प्राप्त करने वाला देश नैतिक रूप से उसी रूप में सहायता की राशि का उपयोग करने को बाध्य है जैसाकि सहायता देने वाला देश चाहता है।

(iii) **परोक्ष प्रतिबन्ध**—इन प्रतिबन्धों को सहायता देने वाला देश स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष रूप से सहायता प्राप्त करने वाले देश पर नहीं थोपता। इसके विपरीत समझौते में ये शर्तें इस प्रकार निहित (implicit) होती हैं कि बिना किसी औपचारिक या अनौपचारिक समझौते के भी सहायता की राशि का उपयोग सहायता प्रदान करने वाले देश की इच्छानुसार होता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी विकासशील देश को नवीन पद्धति पर आधारित मशीन सहायता के रूप में दी जाती है तो प्रारम्भ में इसके संचालन एवं कलपुर्जों की आपूर्ति हेतु उसे सहायता देने वाले देश पर ही निर्भर रहना होगा।

(iv) **निर्यात साख (Export Credit)**—यह एक ऐसी शर्त है जिसके अन्तर्गत सहायता देने वाला देश अपने या अपने किसी सहयोगी देश का निर्यात बढ़ाने हेतु किसी विकासशील देश को उधार बेचने हेतु सहमत हो जाता है। बहुधा यह माल अपेक्षाकृत महँगा होता है परन्तु अन्य कोई विकल्प न होने के कारण सहायता प्राप्त करने वाला देश ऊँची कीमतों पर भी वस्तुएँ उधार लेने को सहमत हो जाता है।

(v) **वस्तुओं व सेवाओं के रूप में सहायता**—यदि सहायता की राशि वस्तुओं व सेवाओं के रूप में है तथा सहायता प्राप्त करने वाले देश को इस बात के लिए विवश कर दिया जाय कि समस्त सहायता की राशि सहायता देने वाले देश से वस्तुएँ व सेवाएँ खरीदने हेतु ही उपयोग में ली जायेगी तो यह भी आर्थिक सहायता से सम्बद्ध हुई एक शर्त बन जाती है।

---

1 H. G Johnson, *Economic Policies Towards Less developed Countries*, The Brookings Institute, 1967, p 53.

जैसा कि स्पष्ट है, बन्धनयुक्त सहायता विकासशील देश के लिए आर्थिक सहायता प्राप्ति की एक व्ययशील विधि है। माइकसैल का मत है कि उक्त बन्धनों या शर्तों से अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में मूल्य एवं क्वालिटी सम्बन्धी स्पर्द्धा कम हो जाती है अर्थात् सहायता देने वाले देशों को एक प्रकार की एकाधिकारिक शक्ति प्राप्त हो जाती है। इस एकाधिकारिक शक्ति के माध्यम से सहायता देने वाला देश इच्छित वस्तुएँ इच्छित मूल्य पर सहायता प्राप्त करने वाले देशों पर थोप देता है।"[1]

कई बार समझौते में सहायता पर अनौपचारिक या परोक्ष प्रतिबन्ध होने पर भी यह शर्त लगा दी जाती है कि वस्तुओं को सहायता देने वाले देश के जहाजों में ही गन्तव्य स्थान पर ले जाया जायगा। इन सबके फलस्वरूप सहायता की राशि का वास्तविक मूल्य काफी कम हो जाता है। दूसरे शब्दों में, *बन्धनयुक्त सहायता का कुल भार सहायता प्राप्त करने वाले देशों पर बहुत अधिक होता है।*[2]

जगदीश भगवती का आरोप है कि विश्व के सबसे बड़े साहूकार देश अमरीका ने सर्वाधिक मात्रा में बन्धनयुक्त सहायता प्रदान की है।[3] वस्तुतः विकसित देश यथासम्भव विकासशील देशों को जो द्विपक्षीय सहायता देते हैं सातवें दशक तक उनका 18-20 प्रतिशत तकनीकी सहायता के रूप में तथा लगभग इतना ही भाग वस्तुओं के रूप में उपलब्ध कराया जाता था। परन्तु संयुक्त राज्य अमरीका से प्राप्त होने वाली द्विपक्षीय सहायता में बन्धयुक्त सहायता का अनुपात बहुत अधिक था।

परन्तु गत कुछ वर्षों से बहुपक्षीय सहायता (विशेष रूप से आर्थिक सहयोग व विकास संगठन तथा विश्व बैंक से प्राप्त) की बढ़ती हुई भूमिका के कारण द्विपक्षीय यानी बन्धनयुक्त सहायता का अनुपात बहुत कम रह गया है।

(स) सहायता का भार—यह ऊपर बताया जा चुका है कि पिछले 15-20 वर्षों में विकासशील देशों को प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता में काफी वृद्धि हुई है। जहाँ इसके फलस्वरूप इन देशों पर ऋण एवं ब्याज का भार बढ़ा है, वहीं इन देशों की भुगतान-क्षमता (repayment capacity) में पर्याप्त सुधार नहीं हो पाया है।

इस प्रकार विदेशी सहायता में वृद्धि होने के साथ साथ विकासशील देशों पर ऋण-प्रभार में होने वाली वृद्धि के कारण उन्हें अपनी निर्यात आय का उत्तरोत्तर अधिक भाग खोना पड़ रहा है। अल्पकाल के लिए वे ऋणों के पुनःसूचीकरण (debt-rescheduling) द्वारा इस समस्या को कुछ समय के लिए टाल सकते हैं। परन्तु दीर्घकाल में ऋण के भार से मुक्त होने के लिए यह आवश्यक होगा कि इन देशों के निर्यातों में पर्याप्त वृद्धि हो जैसा कि हम आगे देखेंगे इन देशों के निर्यातों में वृद्धि तभी सम्भव है जब विकसित औद्योगिक देशों का इनके प्रति दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण हो।

हाल के वर्षों में विकासशील देशों की ऋण-अदायगी से सम्बद्ध समस्या के समाधान हेतु निम्नलिखित उपाय किये गये हैं : प्रत्येक मामले का पुनः सारणीकरण, ब्याज का पूँजीकरण, औपचारिक बीमा, स्थिरीकरण कोषों की स्थापना, विकासशील देशों की सार्वजनिक इकाइयों में शेयर पूँजी लगाना आदि। किन्हीं परिस्थितियों में ऋणी देश की वित्तीय स्थिति अत्यधिक शोचनीय होने पर सभी ऋणदाता देश मिलकर समूचे ऋण अथवा इसके एक अंश की अदायगी स्थगित कर सकते हैं या इसे पूरी तरह माफ भी कर सकते हैं।

यह एक रोचक तथ्य है कि अनेक छोटे विकासशील देशों की निर्यात आय का बहुत बड़ा भाग ऋण भुगतान (debt servicing) के रूप में चला जाता है। 1981 में कुछ देशों के लिए ये अनुपात इस प्रकार थे (प्रतिशत में)[4] : पीरू 44.9, मोरक्को 30.1, ब्राजील 31.9, बोलीविया

1 Mikesell, *op cit*, pp 251-252
2 H G Johnson, *op cit*, pp 81-82
3 J Bhagwati, *"The Tying of Aid"*, an article appeared in UNCTAD Second Session Papers, Vol IV (1968).
4 *Ibid*, pp 178-179.

27·0; चिली 27·2 तथा मैक्सिको 28·2। वस्तुतः विदेशी ऋणों का बढ़ता हुआ भार विकासशील देशों के लिए एक गम्भीर समस्या का रूप ले चुका है।

(द) प्रौद्योगिक विषय (Technological Subjects)—विकासशील देशों में विद्यमान प्रौद्योगिकी परम्परागत है, जबकि आर्थिक सहायता के नाम पर जो मशीनें, यन्त्र एवं साज-सज्जा उन्हें विकसित देशों से प्राप्त होती है वह आधुनिक प्रौद्योगिकी के अनुरूप हैं। परिणाम यह होता है कि इन मशीनों व यन्त्रों के संचालन एवं मरम्मत हेतु भी विकासशील देशों को विकसित देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। बहुधा इन मशीनों के कलपुर्जे भी सहायता देने वाले देश से आयात करने पड़ते है, क्योंकि ये विकासशील देशों में उपलब्ध नहीं है।

एक अन्य तकनीकी पहलू और भी है। अनेक घनी जनसंख्या वाले देशों को, जहाँ पहले से काफी श्रमिक बेकार है, आधुनिक मशीनें सहायता के रूप में प्राप्त होती रही हैं। परिणामस्वरूप इन देशों में बेकारी की समस्या और भी विकट हो गयी। संक्षेप में, आर्थिक सहायता के अन्तर्गत यन्त्रों व मशीनों की पूर्ति के समय यह देखना आवश्यक है कि ये सब सहायता प्राप्त करने वाले देश में विद्यमान परिस्थितियों के अनुकूल भी है या नहीं।

(ध) कार्यक्रम बनाम परियोजना सहायता—परियोजना सहायता किसी विशिष्ट परियोजना हेतु ही उपलब्ध करायी जाती है। उदाहरण के लिए, किसी विद्युत परियोजना, सड़क-निर्माण, बाँध या उद्योग के विकास हेतु प्राप्त सहायता परियोजना सहायता कहलाती है। इसके विपरीत, कार्यक्रम सहायता का क्षेत्र व्यापक होता है एवं सहायता प्राप्त करने वाले देश को इस राशि के उपयोग में किसी सीमा तक स्वतन्त्रता भी दी जाती है। इसमें कृषि, परिवहन, औद्योगिक विकास एवं हाल ही में प्रारम्भ सूखा-निवारण कार्यक्रमों (DPAP) के अन्तर्गत दिये गये ऋण शामिल है।

जब कभी परियोजना ऋण दिये जाते हैं तो उनका उपयोग केवल परियोजना विशेष के लिए ही किया जा सकता है। अनेक बार बाँध के लिए ऋण मिल जाता है, परन्तु खेती में नालियाँ बनाने हेतु या उपलब्ध अतिरिक्त पानी के उपयोग के लिए कोई सहायता नहीं मिल पाती। यह ठीक है कि परियोजना-सहायता ऋणों के समुचित उपयोग हेतु सहायता प्राप्त करने वाले देश को बाध्य करती है, तथापि इसे अत्यधिक महत्त्व देने पर उस क्षेत्र (region) का सन्तुलित एवं सर्वांगीण विकास नहीं हो पाता। इसके लिए यह आवश्यक होगा कि कार्यक्रम-सहायता को प्रोत्साहन दिया जाये। दुर्भाग्यवश अब तक विकसित देश परियोजना सहायता को ही प्राथमिकता देते रहे हैं।

लैटिन अमरीकी देशों की समस्याएँ[1]

किसी भी अर्थव्यवस्था के आन्तरिक कुप्रबन्ध के कारण उस देश की न केवल आर्थिक प्रगति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ते है अपितु वह देश विदेशी ऋणों के भारी बोझ में दबने भी दब जाता है। इसके ज्वलन्त उदाहरण के रूप में लैटिन अमरीकी देश है। मैक्सिको, ब्राजील, अर्जेन्टीना, क्यूबा, पेरू व चिली आदि देशों में 1981 में मुद्रा-स्फीति की दर लगभग 57 प्रतिशत थी जो बढ़ती हुई 1984 में 175·4 प्रतिशत तक पहुँच गयी। इस अवधि में इन देशों में प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि-दर लगातार ऋणात्मक रही है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष इन देशों पर मितव्ययता हेतु दबाव डाल रहा है परन्तु इस प्रकार के प्रयासों का इन देशों ने घोर विरोध ही किया है। विदेशी ऋणों के भुगतान के दबाव ने वस्तुतः इन देशों की अर्थव्यवस्था को बुरी तरह झकझोर दिया है।

विकासशील देशों की ऋणग्रस्तता एवं हाल में प्रस्तुत कुछ सुझाव

हाल के तीन-चार वर्षों में फ्रान्स तथा अमरीका की ओर से विकासशील देशों की ऋणग्रस्तता से सम्बद्ध गम्भीर समस्या के समाधान हेतु कुछ सुझाव प्रस्तुत किये गये है। जून 1988 में टोरांटो (कनाडा) के आर्थिक शिखर सम्मेलन में फ्रान्स के राष्ट्रपति मितरां ने एक योजना

1 See *Economic & Political Weekly*, January 15, 1983, pp 49-50 तथा January 4, 1986, pp. 20-21.

प्रस्तुत की जिसे उन्होंने सितम्बर मे सयुक्त राष्ट्र सघ के अधिवेशन मे पुन. रखा। इस मितर्रां योजना के तहत निर्धन देशो के लिए ऋण-अदायगी की शर्तें काफी उदार बनाने की सिफारिश की गयी जबकि मध्यम आय वाले देशो के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के नियन्त्रण मे एक गारण्टी कोष बनाने का प्रस्ताव था जिसके लिए विशिष्ट रूप से SDR के आवटन किया जाना प्रस्तावित था। इस नये कोष के माध्यम से ऋण मे कमी किये जाने वाले कार्यक्रमो के लिए गारण्टी देकर ऋणी देशो को राहत देने की योजना थी।

1988 मे ही जापान ने भी एक प्रस्ताव रखा जिसके तहत ऋणदाता देशो के बैंको पर यह दायित्व डाला जाता था कि वे विकासशील देशो के ऋणो के एक भाग को गारण्टीशुदा बॉण्ड्स के बदले बदल लें और शेष भाग का पुनः सूचीकरण करें। इन बॉण्डस के बदले सम्बद्ध देश को गारण्टीकृत राशि के बराबर मुद्रा-कोष के पास रकम जमा करानी होगी।

मार्च 1989 मे अमरीका के विदेश वित्तमन्त्री निकोलस ब्रेडी ने भी विकासशील देशो को ऋण-भार से राहत देने हेतु एक योजना प्रस्तुत की जिसे **ब्रेडी योजना** कहा जाता है। यह कहा गया कि यह योजना एक ओर विकासशील देशो मे व्यापारी बैंको को उदार शर्तो पर पूँजी निवेश हेतु प्रेरित करेगी और दूसरी ओर उन्हे आर्थिक दृष्टि से सशक्त बनाते हुए उनके ऋण-भार मे कमी हेतु मार्ग प्रशस्त करेगी।

ब्रेडी योजना के प्रमुख प्रस्ताव इस प्रकार थे :

(1) विकासशील देशो को ठोस आर्थिक नीतियाँ अपनानी होगी जिनके अन्तर्गत स्वदेशी एव विदेशी पूँजी-निवेश को बढाने तथा पूँजी के निष्क्रमण को रोकना होगा।

(2) विश्व बैंक तथा मुद्रा-कोष द्वारा इन देशो के सुधार-कार्यक्रम हेतु सामयिक सहायता दी जायेगी जिसके अनुसार ऋण व ऋण-सेवा में कमी की जा सकेगी।

(3) ऋण तथा ऋण-सेवा मे कमी हेतु मन्त्रणाओ के आधार पर व्यापारी बैंको के माध्यम से अधिक वित्तीय सहायता दी जायगी।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की रिपोर्ट के अनुसार 1981 व 1984 के बीच इन देशो के विदेशी ऋणो की राशि 27,540 करोड़ डालर स बढकर 36,000 करोड डालर हो गयी। इसके फलस्वरूप मुद्रा-कोष ने इन देशो पर इस बात के लिए दबाव डाला है कि ये अपनी व्यापार नीतियो को उदार बनायें तथा मुद्राओ का अवमूल्यन करें। साथ ही मितव्ययता के दबाव के कारण इन देशो के आयात उक्त चार वर्षो मे 9580 करोड डालर से घटकर 5720 करोड़ डालर मूल्य के रह गये। परन्तु इसके फलस्वरूप औद्योगिक विकास अवरुद्ध हो गया। इसके साथ ही निर्यातो के डालर मूल्य (वास्तविक मूल्य) मे भी गिरावट आती गयी है। 1984 के मध्य से यह समस्या तथा मुद्रा-स्फीति और भी गम्भीर हो गयी है।

व्यापार बनाम आर्थिक सहायता
[TRADE Vs. ECONOMIC AID]

पिछले कुछ वर्षो मे विकासशील देशो को भी यह अनुभव होने लगा है कि आर्थिक सहायता के नाम पर बडे देश उनकी सहायता नही करते अपितु एक ऐसा व्यूह तैयार कर देते हैं जिसमें उत्तरोत्तर विकासशील देशो पर ऋण-भार बढता जाता है। साथ ही, यह भी अनुभव किया जा रहा है कि विकसित देश आर्थिक सहायता के माध्यम से अपने बाजारो का विस्तार करते हैं जबकि स्वय उन्होंने विकासशील देशो मे निर्यातित वस्तुओ के आयातो पर कठोर प्रतिबन्ध लगाये हुए हैं। इन प्रतिबन्धो के कारण विकासशील देशो के निर्यात कम हुए हैं अस्तु, एक ओर आर्थिक सहायता की प्रतिकूल शर्तों के कारण इन देशो पर ऋण का भार बढा है, दूसरी ओर इनके निर्यातो मे कमी होने के कारण इन देशो पर ऋण का भुगतान करने की क्षमता भी कम हुई है। उदाहरण के लिए, 1950-62 के बीच खनिज तेल के निर्यात के अतिरिक्त विकासशील देशो के अन्य निर्यात मे 12% की कमी हुई। इसके फलस्वरूप इन देशो को 1,200 करोड डालर का विदेशी विनिमय खोना पडा। यदि इसके विपरीत विकासशील देशो की व्यापार-शर्तें 1950 के

स्तर पर रहती तो 1962 में 1950 की अपेक्षा 2,300 करोड़ डालर का विदेशी विनिमय अधिक प्राप्त किया जा सकता था।[1]

गत कुछ वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में विकासशील देशों द्वारा निर्यात की जाने वाली प्राथमिक वस्तुओं (खनिज तेल को छोड़कर) की कीमतों में काफी कमी हुई है। इस कारण कुल मिलाकर विकासशील देशों की व्यापार-शर्तें और प्रतिकूल हो गयी हैं। खनिज तेल का आयात करने वाले विकासशील देशों की व्यापार शर्तों में कमी को तालिका 21·5 में स्पष्ट किया गया है।[2]

तालिका 21·5

(1978 = 100) (प्रतिशत में)

देश समूह	व्यापार-शर्तों का परिवर्तन		निर्यातों की क्रय-शक्ति में परिवर्तन	
	1973-76	1979-82	1973-76	1979-82
A. निम्न आय वर्ग में :				
एशिया	12·1	—3 2	58 5	15 7
अफ्रीका	—15 3	—13 8	—18 7	—3 5
B. मध्य आय वर्ग				
तेल-आयातकर्ता	—9 5	—10 7	4 5	2 5
तेल-निर्यातकर्ता	59 9	31·8	71 0	11 5

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि विकासशील देशों की व्यापार-शर्तों में 1979-82 की अवधि में 1973-76 की अपेक्षा कम गिरावट आयी है।

विकासशील देश अधिक निर्यात इसलिए करना चाहते हैं कि इनके कारण इन देशों की ऋण भुगतान क्षमता बढ़ने के साथ-साथ इनकी कच्चे माल व मशीनों का आयात करने की पर्याप्त आवश्यक क्षमता भी बढ़ जाती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के व्यापार एवं विकास पर सम्मेलन (अंकटाड UNCTAD) में (जेनेवा, 1964) विकासशील देशों ने इस विषय को उठाते हुए विकसित देशों से माँग की कि वे विद्यमान व्यापार प्रतिबन्धों में कटौती करें। डॉ. राउल प्रेबिश ने जो अंकटाड के तत्कालीन महासचिव थे, निम्न तर्क प्रस्तुत किये :

(i) विकासशील देशों की विकास-दर सन्तोषजनक (कम से कम 5%) तब तक नहीं हो सकती जब तक कि (निर्यात में वृद्धि द्वारा) उन्हें अधिक मात्रा में विदेशी विनिमय प्राप्त नहीं हो जाता है।

(ii) चूँकि विकासशील देशों के द्वारा अधिकांशतः प्राथमिक वस्तुओं का निर्यात किया जाता है, मुक्त व्यापार की नीति से इन्हें कोई लाभ नहीं होगा। इनमें भारत, ब्राज़ील देश, पाकिस्तान व नाइजीरिया आदि देशों के अतिरिक्त शेष देशों की तो जनसंख्या भी काफी कम है तथा इनमें अधिकांश विकासशील देशों के आन्तरिक या घरेलू बाजार बहुत संकुचित हैं। इन देशों की औद्योगिक इकाइयों द्वारा निर्मित या कृषि व खानों से प्राप्त प्राथमिक वस्तुओं की सम्पूर्ण मात्रा की देश में ही खपत नहीं हो सकती। अस्तु, इन देशों को विदेशी बाजारों पर निर्भर रहना होता है।

जैसा कि अठारहवें अध्याय में बतलाया गया था, बड़े व औद्योगिक देशों ने प्रशुल्क व प्रशुल्क-इतर व्यवधानों के द्वारा विकासशील देशों से किये जाने वाले आयातों को सीमित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। विश्व बैंक की एक रिपोर्ट (1986) बतलाया गया कि 1982 में कृषि वस्तुओं को इन देशों ने जिस रूप में संरक्षण (अनुदान सहित) दिया हुआ था उसके फलस्वरूप इन

1 Pierre Jalee, *The Pillage of Third World* (Translated from French by Mary Klopper), New York, Modern Paperbacks, (1963), p. 47.
2 *Ibid.*, pp. 12-13 and World Development Report, 1985.

देशो मे औसतन कृषि वस्तुओ की (आन्तरिक) कीमतें अन्तर्राष्ट्रीय कीमतो की तुलना मे काफी अधिक थी। प्रमुख वस्तुओ की आन्तरिक व अन्तर्राष्ट्रीय कीमतो का अनुपात वडे देशो मे इस प्रकार था .[1]

	अमरीका	यूरोपीय समुदाय	जापान
गेहूँ	1 15	1 25	3 80
माटे अनाज	1 00	1 40	4 30
चावल	1 30	1 40	3 30
गौ-मास	1 00	1 90	4 00
सुअर का मास व अण्डे	1 00	1 25	1 50
डेयरी उत्पाद	2 00	1 75	2 00
शक्कर	1 40	1 50	3 00
भारित औसत	1 16	1 54	2 44

इस प्रकार वडे देशो के सरक्षणवाद ने एक ओर विकासशील देशो के कृषि-निर्यातो को सीमित किया है वही दूसरी ओर इन देशो की जनता को महँगी वस्तुएँ खरीदने को विवश किया हुआ है।

(iii) पिछले दो दशको मे प्राथमिक वस्तुओ की व्यापार-शर्तें निर्मित वस्तुओ की तुलना मे प्रतिकूल हुई है तथा धनी देशो मे एकाधिकारिक प्रभावो के कारण इनके और भी प्रतिकूल होने की आशका है तथा

(iv) धनी एव विकसित देशो द्वारा अपनायी गयी व्यापार नीतियो एव उनसे सम्बद्ध बाधाओ के कारण भविष्य मे विकासशील देशो का व्यापार-अन्तर (trade gap) और अधिक प्रतिकूल होने की सम्भावना है।

प्रेविश ने उपर्युक्त समस्याओ के समाधान हेतु निम्नलिखित चार सुझाव दिये .

(अ) विकसित देश विकासशील देशो मे आने वाली वस्तुओ पर प्रशुल्क प्राथमिकताएँ प्रदान करें,

(ब) विकासशील देश स्वय कस्टम यूनियनो एव मुक्त व्यापार क्षेत्रो का निर्माण करें,

(स) प्राथमिक वस्तुओ के लिए ऊँची कीमत प्राप्त करने हेतु विकासशील देश वस्तु-बाजार (commodity markets) बनायें, तथा

(द) विकसित देश ऐसे कोष का सृजन करें जिसे विकासशील देशो के निर्यातो से दीर्घकाल तक होने वाली कमी की क्षतिपूर्ति हेतु उपयोग मे लिया जाय।

परन्तु डॉ प्रेविश ने आयात कम करने तथा निर्यात बढाने हेतु विकासशील देशो की मुद्राओ के अवमूल्यन के प्रस्ताव का विरोध किया। उनकी ऐसी मान्यता है कि अवमूल्यन के फलस्वरूप निर्यात पर दिये जाने वाले अनुदान का भार विकसित देशो की अपेक्षा विकासशील देशो पर पडता है और फलस्वरूप अवमूल्यन से विकासशील देशो की समस्या और भी विकट होने की आशका रहती है।

1964 से 1967 तक व्यापार एव प्रशुल्क पर हुए सामान्य समझौते (GATT) के अन्तर्गत विकसित एव विकासशील देशो के बीच विचार-विमर्श होता रहा परन्तु विकासशील देशो के निर्यात व्यापार के विस्तार हेतु कोई ठोस सुझाव स्वीकार नही किये गये। विकासशील देशो मे से कुछ ने तो यहाँ तक कहना प्रारम्भ कर दिया कि वे आर्थिक सहायता की अपेक्षा निर्यात वृद्धि हेतु विकसित देशो से रियायतें प्राप्त करना अधिक उपयुक्त मानते है। इन देशो की यह शिकायत थी कि व्यापार एव प्रशुल्क पर समझौते (GATT) के अन्तर्गत आयोजित मन्त्रणाओ पर धनी एव विकसित देशो का वर्चस्व रहता है; और ये देश विकासशील देशो से आने वाली वस्तुओ पर विद्यमान प्रतिबन्धो मे किसी प्रकार की रियायत करने को तैयार नही है।

1 Peter Kenen, *op cit*, p 239.

यद्यपि कुछ विकसित देशों, जैसे अमरीका व ब्रिटेन ने विकासशील देशों के साथ होने वाले व्यापार में कुछ रियायतें प्रदान कर दी, परन्तु वे पर्याप्त नहीं समझी गयीं। इसके अतिरिक्त, अन्य विकसित देशों के साथ हुई वार्तायें लगभग असफल ही सिद्ध हुईं। यह उल्लेखनीय है कि यूरोपियन आर्थिक समुदाय विकासशील देशों से 30% वस्तुएँ आयात करता है, परन्तु समुदाय का दृष्टिकोण इन देशों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नहीं रहा है।

विकासशील देशों का निर्यात व्यापार एवं सम्बद्ध समस्याएँ[1]

1965 तथा 1980 के मध्य सभी विकासशील देशों की निर्यात-आय 4,400 करोड़ डालर से बढ़कर 43,400 करोड़ डालर हो गयी। इस वृद्धि में खनिज तेल की बढ़ी हुई कीमतों का काफी योगदान रहा था। 1965 व 1980 के मध्य विकासशील देशों से निर्यात की गयी विभिन्न वस्तुओं के अनुपात को तालिका 21·6 में दिखाया गया है।

तालिका 21 6

(प्रतिशत में)

वस्तु-समूह	1965	1980
1. कृषि जन्य वस्तुएँ	43	20
2. खनिज तेल व ईंधन	15	33
3. विनिर्मित वस्तुएँ	16	26
4. खनिज व धातुएँ	10	6
5 अन्य (सेवाएँ)	16	15
योग	100	100

इस प्रकार यद्यपि विकासशील देशों के निर्यात उपर्युक्त 15 वर्ष की अवधि में 9 86 गुने हो गये, फिर भी इन देशों द्वारा निर्यातित कृषिजन्य वस्तुओं का निर्यातों में अनुपात काफी कम हो गया। जैसा कि पूर्व में बतलाया गया था, कृषिजन्य वस्तुओं की कीमतों में भारी उतार-चढ़ाव होते रहे हैं। यही नहीं, यूरोप के देशों में जहाँ इन वस्तुओं का सर्वाधिक आयात किया जाता है, संरक्षण तथा अभ्यशों के कारण इन वस्तुओं के आयात की सम्भावनाएँ क्षीण हो जाती हैं। उदाहरण के लिए, 1965-73 व 1973-80 में खाद्यान्नों की कीमतों में क्रमश. 5 8 प्रतिशत व 8·0 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई थी, परन्तु 1981 व 1982 में इनमें क्रमश 12·1 प्रतिशत व 17 4 प्रतिशत की कमी हो गयी। फिर 1983 व 1984 में इनकी कीमतों में 10 2 प्रतिशत व 7·3 प्रतिशत की वृद्धि हो गयी।

इन सभी वर्षों में 1984 को छोड़कर प्रायः समूची अवधि में निर्धन देशों की व्यापार शर्तों में गिरावट आयी है।[2]

1965 से 1984 की अवधि में विश्व की कुल व्यापार प्रवृत्तियों की समीक्षा करने पर पता चलता है कि हाल के वर्षों में विकासशील देशों में विनिर्मित वस्तुओं का अधिक निर्यात किया जाने लगा है, हालाँकि उनके कुल निर्यातों में अभी भी प्राथमिक वस्तुओं का अनुपात काफी अधिक है। विभिन्न देश-समूहों की निर्यात प्रवृत्तियों को तालिका 21 7 में स्पष्ट किया गया है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि प्राथमिक वस्तुओं के निर्यात विनिर्मित वस्तुओं के निर्यातों की तुलना में अधिक अनिश्चित रहे हैं।

1 World Development Report, 1983, Chapter 2.
2 *Ibid*, 1985, p. 153.

तालिका 21 7

(निर्यात म वार्षिक वृद्धि-प्रतिशत)

	1965-73	1973-80	1981	1982	1983	1984
1 सभी विकासशील देश						
विनिर्मित वस्तुएँ	13 8	11 0	14 0	1 0	11 5	15 0
खाद्यान्न	2 2	5 4	12 4	11 8	4 6	4 8
गैर खाद्यान्न	3 6	1 6	0 7	—3 9	1 3	—1 8
धातुएँ व खनिज	5 7	5 5	—2 4	5 9	—5 2	3 9
खनिज तेल	3 9	—1 0	—12 9	1 6	1 6	5 1
2 निर्धन देश						
(i) विनिर्मित वस्तुएँ	5 3	6 5	17 0	—4 8	6 2	23 5
(ii) प्राथमिक वस्तुएँ	2 0	4 4	—0 1	16 1	2 3	2 9
3 तेल निर्यातक देश	15 9	1 1	—7 3	—25 5	15 8	—7 6
4 प्रमुख औद्योगिक देश						
(i) विनिर्मित वस्तुएँ	17 4	12 6	13 8	1 4	10 9	12 9
(ii) प्राथमिक वस्तुएँ	5 1	5 5	13 6	9 2	2 6	2 8

Source *World Development Report*, 1985, p 152

1980-1981 की विश्वव्यापी मन्दी तथा विकासशील देश

1980 से लेकर 1982 तक की अवधि मे जहाँ विकसित देशो म मन्दी का दौर रहने के कारण उनकी राष्ट्रीय आय मे कमी हुई, वही विकासशील देशो मे भी आय की वृद्धि दर जो 1979 म 5 प्रतिशत से अधिक रही थी, 1980 मे 3 प्रतिशत, 1981 म 2 प्रतिशत तथा 1982 मे 1 9 प्रतिशत रह गयी।

इसी मन्दी के फलस्वरूप जहाँ एक ओर विकसित देशो मे विकासशील देशो के निर्यात की मात्रा कम हुई, वही माँग मे कमी के कारण निर्यातित वस्तुओ की कीमतो म काफी कमी हुई। कुल मिलाकर इस मन्दी के कारण गैर-तेल निर्यातक देशो के निर्यात आय मे 1980 82 की अवधि म 30 प्रतिशत की कमी आयी। यह भी उल्लेखनीय है कि 1981 म गैर-तेल प्राथमिक वस्तुओ की कीमतो म 7 0 प्रतिशत की कमी हुई जबकि 1982 मे यह कमी 12 0 प्रतिशत रही।

परन्तु खनिज तेल की कीमतो तथा उनके आयात मे पर्याप्त कमी के कारण गैर-तेल निर्यातक देशो का व्यापार घाटा जो 1981 मे 7,400 करोड डालर था, 1982 म घटकर 5,600 करोड डालर रह गया, और 1983 म घटकर 4,000 करोड डालर रहने का अनुमान था।[1] इस प्रकार विश्वव्यापी मन्दी का कुल मिलाकर गैर-तेल निर्यातक विकासशील देशो पर अनुकूल प्रभाव ही हुआ है।

1983 की व्यापार प्रवृत्तियाँ[2]

गॅट क द्वारा किये गये सर्वेक्षण से पता चलता है कि 1983 मे मात्रा की दृष्टि से विश्व के व्यापार म 2 प्रतिशत की वृद्धि हुई परन्तु मूल्य की दृष्टि से 2 प्रतिशत की कमी हुई। इस विरोधाभास का प्रमुख कारण कीमतो—विशेष रूप से खनिज-तेल की कीमतो म कमी होना है। 1983 मे वस्तुत औद्योगिक देशो की अर्थ-व्यवस्था मे सुधार हुआ, और इस कारण इन देशो म विकासशील देशो से अधिक आयात किये गये। 1983 मे अनेक प्राथमिक वस्तुओ की कीमतें बढी, हालांकि खनिज तेल की कीमतो म चौथे वर्ष भी गिरावट जारी रही।

1983 म गैर-तेल निर्यातक विकासशील देशो से निर्यातो मे 4 प्रतिशत की वृद्धि हुई (1983 मे इनका मूल्य 26,500 करोड डालर था) जबकि आयातो मे 7 प्रतिशत की कमी (विशेष रूप से

1 UNCTAD—Trade & Development Report, 1983 (*The Economic Times*, 6th October, 1983)

2 GATT Survey (*The Economic Times*, 25th May, 1984)

खनिज तेल की कीमतों में गिरावट के कारण) आयी, और इसके फलस्वरूप वस्तुतः इन देशों का व्यापार घाटा घटकर 1983 में 3,000 करोड़ डालर रह गया। 1974 के बाद यह घाटा पहली बार इतना कम रहा था।

इसके बावजूद 1983 में इन देशों का विश्व के कुल व्यापार (आयात व निर्यात) में अनुपात 30 प्रतिशत से भी कम था।

विकासशील देशों की व्यापार समस्याएँ

वस्तुतः पिछले कुछ वर्षों में विकासशील देशों के समक्ष अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं जिनके कारण वे अपने निर्यात व्यापार में अपेक्षित वृद्धि नहीं कर पाते। इनमें से प्रमुख समस्याएँ इस प्रकार हैं

(1) **प्राथमिक वस्तुओं की कीमतों में कमी**—विकासशील देशों के निर्यात प्रायः प्राथमिक वस्तुओं के होते हैं। गत कुछ वर्षों से इन वस्तुओं (खनिज तेल को छोड़कर) की कीमतों में भारी उच्चावचन होते रहे हैं। खनिज तेलों की कीमतें तो पिछले चार वर्षों से लगातार कम हो रही हैं। 1981 व 1982 में गैर-तेल प्राथमिक वस्तुओं की कीमतों में क्रमशः 7·0 प्रतिशत व 12·0 प्रतिशत कमी होने के बाद 1983 में इनकी कीमतों में 5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसके बावजूद 1983 की कीमतों का स्तर 1980 के स्तर से काफी कम था। कीमतों के इन उच्चावचनों का निर्यातों से प्राप्त आय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(2) **विकसित देशों को हुए निर्यातों के अनुपात में कमी**—विकासशील देशों के निर्यातों का अनुपात विकसित देशों के बाजारों में 1970 व 1980 के बीच काफी घटा है। उदाहरण के लिए, विकसित देशों को निर्यातित शक्कर, गेहूँ, मांस, मक्का आदि कृषिजन्य वस्तुओं की मात्रा में 1970 व 1980 के बीच काफी कमी हुई। इसी प्रकार, यद्यपि विनिर्मित वस्तुओं के निर्यात बढ़े हैं, तथापि 1970-77 की अपेक्षा 1977-80 के बीच निर्यातों की वृद्धि दर 8·4 प्रतिशत से घटकर 7·6 प्रतिशत हो गयी। अमरीका में यह वृद्धि दर 10·9 प्रतिशत से घटकर 1977-80 के बीच 5·1 प्रतिशत रही जबकि आस्ट्रेलिया में 14·9 प्रतिशत से घटकर 2·9 प्रतिशत रह गयी। इसके विपरीत, जापान व साझा बाजार के देशों को विकासशील देशों से निर्यातित विनिर्मित वस्तुओं की मात्रा में 1970-77 की तुलना में 1977-80 में अधिक दर से वृद्धि हुई है।

(3) **विकसित देशों में संरक्षणवादी नीतियाँ**—अधिकांश विकसित देशों ने विकासशील देशों से निर्यातित वस्तुओं पर मात्रात्मक या अन्य प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए हुए हैं और ऐसी स्थिति में विकासशील देश केवल उन्हीं वस्तुओं का निर्यात कर पाते हैं जिनसे विकसित देशों को लाभ है। यद्यपि गॉट के अन्तर्गत टोक्यो में आयोजित बैठक में तथा बेलग्रेड व जेनेवा में आयोजित अंकटाड के सम्मेलनों में विकसित देशों से इन संरक्षणवादी नीतियों को समाप्त करने की पुरजोर अपील की गयी, फिर भी ये देश अपनी आयात-नीतियों को उदार बनाने हेतु तैयार प्रतीत नहीं होते।

वस्तुतः विकसित देशों के संरक्षणवादी उपायों को तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है :

(i) वे उपाय जो विशेष तौर पर विकासशील देशों पर लागू किये गये हैं। इनमें कपड़े व पोशाकें शामिल हैं जिन पर मौजूद प्रतिबन्धों में धीरे-धीरे कमी की जा रही है। यद्यपि इन पर आयात-कर सम्बन्धी प्रतिबन्ध नहीं हैं फिर भी विकासशील देश स्वतन्त्रतापूर्वक इनका विकसित देशों को निर्यात नहीं कर सकते। मई 1988 में बहुदेशीय वस्त्र से सम्बद्ध समझौते को समाप्त करने हेतु 19 वस्त्र-निर्यातक देशों ने एक प्रस्ताव विकसित देशों के समक्ष रखा, परन्तु इन बड़े देशों ने यह कहकर उस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया कि उसके परिणामों की विस्तृत समीक्षा करनी जरूरी है।

(ii) वे उपाय जो प्रत्यक्षतः विकासशील देशों के विरुद्ध नहीं अपनाये जाते, परन्तु वे उन वस्तुओं के निर्यातों को प्रभावित करते हैं जिनमें उनकी रुचि है। ये वस्तुएँ हैं कृषिजन्य वस्तुएँ, जूते तथा चमड़े की अन्य वस्तुएँ। अमरीका व साझा बाजार के देशों ने कृषि-उत्पादन को भारी संरक्षण प्रदान किया हुआ है। वहाँ सरकारी अनुदान व संरक्षण के फलस्वरूप कृषि वस्तुओं का

उत्पादन काफी बढा है तथा इससे विकासशील देशो के कृषि निर्यातो मे वांछित वृद्धि नही हो पा रही है ।

(iii) वे उपाय जिनके द्वारा विकासशील देशो के प्रगतिशील उद्योगो मे निर्मित वस्तुओ के निर्यातो पर रोक लगायी जाती है । इनमे मोटर कारो तथा इलक्ट्रोनिक्स का सामान है ।

कृषिजन्य वस्तुओ के सन्दर्भ मे साझा बाजार के देशो द्वारा अपनायी गयी संरक्षणात्मक नीतियों के कारण वहाँ उत्पादन के अतिरेक की समस्या उत्पन्न हो गयी है ।

(4) **कृत्रिम वस्तुओं से प्रतिस्पर्द्धा**—विकासशील देशो के निर्मित कपास व जूट के रेशे तथा इनसे निर्मित वस्तुओ का निर्यात विकसित देशो म इस कारण भी कम हो रहा है कि अनेक विकसित देशो म नाइलोन/एक्रीलिक के धागो व इनसे निर्मित कपडे तैयार होने लगे हैं । कुल देशो मे कृत्रिम धागो का अनुपात 1950 व 1980 के बीच 11 प्रतिशत स बढकर 50 प्रतिशत हो गया । इस प्रवृत्ति का प्रतिकूल प्रभाव भारत बगलादेश पाकिस्तान सूडान आदि देशो पर हुआ है ।

(5) **विकासशील देशों की ऊँची उत्पादन लागतें**—विनिर्मित वस्तुओ के निर्यातो म वृद्धि हेतु विकासशील देशो को प्रतियोगी कीमतो पर वस्तुएँ निर्यात करनी होगी । अधिकांश विकासशील देशो मे या तो उत्पादन का पैमाना छोटा होने के कारण अथवा दक्षता का स्तर नीचा होने के कारण उत्पादन-लागतें ऊँची है । इसी कारण विश्व के बाजार म उन्हें निर्यात बढाने मे कठिनाई होती है ।

(6) विकासशील देशो की निर्यातित व आयातित, दोनो ही प्रकार की वस्तुओ की कीमत-लोच कम है । विकासशील देश मुख्य रूप मे खाद्यान्न, खनिज तेल अथवा पूँजीगत वस्तुओ का आयात करते है । इनम स अधिकांश आयात आवश्यक हैं, और इसी कारण इनकी कीमत-लोच प्राय कम होती है । इन वस्तुओ का आयात करन हेतु इन्हे निर्यात-आय बढानी होती है, भले ही निर्यातित वस्तुओ की कीमतो म कमी होती रहे । अनेक बार अधिक मात्रा म निर्यात करके भी ये देश निर्यात-आय को स्थिर नही रख पाते । यही नहीं अनेक विकासशील देश विशिष्ट वस्तुओ का ही उत्पादन करते हैं जिनका उन्हे प्रत्येक स्थिति मे निर्यात करना होता है ।

विकासशील देशो को अपने ऋणो का भुगतान करने हेतु भी निर्यात-आय मे वृद्धि करनी पडती है तथा ऐसी स्थिति मे कीमत कम होने पर भी वे निर्यात बढाने को विवश रहते हैं ।

(7) *विकासशील देशो की क्रयशक्ति कम होने के कारण उन्हे निर्यात हेतु विकसित देशो* का ही मुँह देखना होता है । 1970 म उनके परस्पर व्यापार का अनुपात [illegible] 5 प्रतिशत था जो 1981 तक भी बढकर 4 2 प्रतिशत तक ही हो पाया ।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि विकासशील देशों के समक्ष आज एक संकटपूर्ण स्थिति है । उन पर ऋण का भार बढ़ता जा रहा है परन्तु ऋणो का तेजी से भुगतान करने हेतु वे अपेक्षित रूप से अपने निर्यात बढाने मे असमर्थ है । जैसा कि ऊपर बताया गया है, इस गम्भीर समस्या के लिए किसी सीमा तक वे स्वयं उत्तरदायी हैं, परन्तु काफी सीमा तक विकसित देशो की उपेक्षापूर्ण नीतियों के कारण यह स्थिति उत्तरोत्तर गम्भीर रूप ले रही है ।

अंकटाड प्रथम (1964) के समय सामान्यीकृत अधिमान योजना लागू करने का निर्णय लिया गया था, परन्तु इन योजनाओ (GPS) के अन्तर्गत विकसित देशों मे से कुछ ही ने 1970 के बाद अधिमानों के आधार पर विकासशील देशो से आयात करने की घोषणाएँ की हैं । यह उल्लेखनीय है कि सामान्यीकृत अधिमान योजनाओ के अन्तर्गत विशिष्ट वस्तुओ को ही रियायती आधार पर आयात करने की छूट दी जाती है । 1971 मे साझा बाजार के देशो, डनमार्क, फिनलैण्ड, स्वीडन, कनाडा, बुल्गारिया, हगरी, चैकोस्लोवाकिया तथा अमरीका ने GSP सम्बन्धी घोषणाएँ की हैं । वस्तुत इन घोषणाओ का क्षेत्र अत्यन्त सीमित रहा है एव इनम बहुत थोडी वस्तुएँ शामिल की गयी हैं । उदाहरण के लिए अमरीका ने GSP के अन्तगत 1974 म 2,724 वस्तुओ को रियायती आधार पर आयात करन की घोषणा की जिनका मूल्य 2,500 करोड डालर था परन्तु इनमे से केवल 24 प्रतिशत ही विकासशील देशो के लिए था । मई 1976 म नैरोबी म हुए अंकटाड चतुर्थ के समय विकसित औद्योगिक देशो ने यह प्रस्ताव रखा था कि GSP की शर्तों को अधिक उदार

बनाया जाये तथा यथासम्भव प्रशुल्क रहित आयातों के परिमाण को बढ़ाया जाय। परन्तु उन्होंने यह भी प्रस्ताव रखा कि जहाँ तक सम्भव हो वहाँ तक कोटों तथा अधिकतम सीमाओं में वृद्धि करने की भी उन्हें छूट दी जाय।

अंक्टाड की विशेष समिति का यह मत था कि GSP के माध्यम से विकासशील देशों की निर्यात आय में वृद्धि हो सकेगी जिससे उनकी औद्योगीकरण एवं आर्थिक विकास की प्रक्रिया तीव्र हो सकेगी। जैसा कि ऊपर बताया गया है इन देशों को GSP से वांछित लाभ नहीं हो सके। 1973 के अन्त तक विकासशील देशों से निर्यातित वस्तुओं में से केवल 8% मूल्य की वस्तुएँ GSP के अन्तर्गत निर्यात की गयी थी। अमरीका द्वारा 1 जनवरी, 1976 को GSP की नयी नीति की घोषणा के बाद यह अनुमान बढ़कर 1976 में 10 प्रतिशत होने का अनुमान था। 1980 तक गॉट तथा अंक्टाड के अथक प्रयासों के बावजूद इन वस्तुओं का अनुपात बढ़कर 12 प्रतिशत तक पहुँच सका।

GSP का उपयोग बड़े देशों ने अपने उद्योगों को संरक्षण देने हेतु किया है। एक अनुमान के अनुसार पश्चिम के देशों के उपभोक्ता 200 बिलियन खर्च करते हैं उनका केवल $30 बिलियन विकासशील देशों को प्राप्त होता है जबकि शेष मध्यस्थों को प्राप्त हो जाता है। परि-निर्मित व विनिर्मित वस्तुओं का ESCAP क्षेत्र में कुल व्यापार में अनुपात 26% (1965) से बढ़कर 40% (1975) हो गया है।

GATT द्वारा किये गये अन्य अध्ययनों से पता चलता है कि आयात प्रतिबन्धों के कारण व्यापार प्रवाह में $30 बिलियन $50 बिलियन की कमी आ जाती है। इसके विपरीत, संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा अपने निर्यातों का 37 प्रतिशत, साझा बाजार के देशों के निर्यातों का 40 प्रतिशत, जापान के निर्यातों का 44 प्रतिशत तथा समाजवादी देशों के निर्यातों का 33 प्रतिशत विकासशील देशों को जाता है जिनके लिए इन्हें ऊँची कीमतें चुकानी होती हैं।[1]

निर्धन देशों का व्यापार-घाटा 1983 में 1134 करोड़ डालर तक पहुँच गया था। इनमें अकेले भारत का व्यापार-अशेष लगभग 386 करोड़ डालर का था, जबकि पाकिस्तान का घाटा इस वर्ष 227 करोड़ डालर के लगभग था।[2]

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि विगत एक दशक में गैर-तेल निर्यातक विकासशील देशों का व्यापार असन्तुलन गम्भीर रूप से प्रतिकूल हो गया है तथा उन्हें अपनी आय का एक बड़ा अंश विकसित देशों को हस्तान्तरित करना पड़ रहा है। फिर भी, जैसा कि ऊपर बतलाया गया था, 1983 में इस स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ है।

दिसम्बर 1973 में संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसके अन्तर्गत वस्तुओं के मूल्य की अनुक्रमणिका (Indexation of Commodity Prices) निर्धारित करने का भार अंक्टाड को सौंपा गया। महासभा के छठे विशेष अधिवेशन में यह निर्णय किया गया कि विकासशील देशों से कच्चे माल, प्राथमिक वस्तुओं, अर्द्ध-निर्मित वस्तुओं व निर्मित वस्तुओं के निर्यात मूल्यों तथा इन देशों द्वारा आयातित कच्चे माल, प्राथमिक वस्तुओं, खाद्य-पदार्थों, निर्मित वस्तुओं, मशीनों तथा अर्द्ध-निर्मित वस्तुओं के मूल्य के मध्य एक न्यायपूर्ण तथा समानता पर आधारित सम्बन्ध होना चाहिए। यह संयुक्त राष्ट्रसंघ की प्रस्तावित नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था (new international economic order) है। अंक्टाड चतुर्थ द्वारा प्रस्तावित तटस्थ भण्डार कोष का प्रायोजन भी प्राथमिक वस्तुओं के मूल्य में होने वाले उच्चावचनों से विकासशील देशों को होने वाली क्षति से सुरक्षित रखना है।

वस्तुतः आज गैर-तेल निर्यातक विकासशील देशों की प्रतिकूल व्यापार शर्तें किसी सीमा तक विकसित देशों तथा स्वयं विकासशील देशों में व्याप्त मुद्रा-स्फीति तथा विकासशील देशों की प्राथमिक वस्तुओं की अनिश्चित माँग के साथ ही विकसित देशों द्वारा अपनायी गयी प्रतिबन्धात्मक नीतियाँ भी उत्तरदायी हैं। विकसित देशों द्वारा आवंटित कोटों तथा ऊँची प्रशुल्क दरों के कारण

1 *The Economic Times*, October 8 1983
2 World Development Report, 1985, pp 190-191

विकासशील देशों की वस्तुओं का विकसित देशों के बाजारों में प्रवेश अत्यन्त कठिन हो जाता है। ऐसा अनुमान है कि अनेक विकसित देशों ने एक सौ से अधिक निर्मित ऐसी वस्तुओं (वर्तमान एवं भावी) पर आयात प्रतिबन्ध रोपित किये हुए हैं जिन्हें विकासशील देश निर्यात करना चाहते हैं। अंक्टाड के एक अध्ययन से यह पता चलता है कि अमरीका, साझा-बाजार, जापान व अन्य औद्योगिक देशों द्वारा आयातित वस्तुओं में भी आधी पर आयात कर लगे हुए थे।

अंक्टाड के ही एक अन्य अध्ययन के अनुसार 1969 में ट्रापिकल पेय तथा कुछ अन्य प्राथमिक वस्तुओं पर रोपित करों के द्वारा 9 विकसित देशों ने 200 करोड डालर की राशि प्राप्त की। केवल यही नहीं परिनिर्मित वस्तुएं तथा अन्य निर्मित व अर्द्ध-निर्मित वस्तुओं के आयात पर विकसित देशों ने विभेदक प्रशुल्क (differential tariffs) रोपित किये हुए हैं।

अंक्टाड चतुर्थ में विकासशील देशों ने विकसित देशों की इन सरक्षणात्मक नीतियों को समाप्त करने हेतु भरसक प्रयास किये परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिल सकी। अंक्टाड तृतीय तक विकासशील देशों की रुचि विकसित देशों से प्राथमिकतापूर्ण व्यापार प्राप्त करने तक ही सीमित थी। उनकी ऐसी धारणा थी कि विदेशी सहायता आवश्यक रूप से ऋण लेने वाले देशों के भार में वृद्धि करती है। यही कारण है कि पिछले कुछ वर्षों से उन्होंने विकसित देशों पर इस आशय से दबाव डालना प्रारम्भ कर दिया है कि वे अपनी प्रशुल्क दीवारों को यदि समाप्त न करें तो कम से कम उन्हें नीची तो कर ही दें।

विकासशील देशों की निर्यात आय में स्थिरता लाने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने क्षतिपूरक वित्तीय सहायता (compensatory finance) देना प्रारम्भ किया है। इसी प्रकार साझा-बाजार के देशों ने स्टैबैक्स (STABEX) योजना के अन्तर्गत विकासशील देशों से वार्ता करना प्रारम्भ कर दिया है यद्यपि हाल ही में भारतीय वस्त्रों के प्रति उनके रुख को देखकर ऐसा नहीं लगता कि यह योजना काफी लाभप्रद हो पायी है। यूरोपियन आर्थिक समुदाय ने कोटा सम्बन्धी प्रतिबन्धों से अधिकांश कृषि वस्तुओं को मुक्त कर दिया है।

नैरोबी में मई 1976 में सम्पन्न अंक्टाड चतुर्थ में विकासशील देशों ने व्यापार की प्रतिकूल शर्तों में सुधार करने हेतु निम्नांकित तीन सुझाव दिये

(i) दस महत्वपूर्ण प्राथमिक वस्तुओं के तटस्थ भण्डार बनाने हेतु एक कोष की स्थापना की जाये जिसमें 600 करोड डालर की राशि जुटाई जाये।

(ii) बहुपक्षीय व्यापार समझौते के लिए अधिक प्रयास किये जायें।

(iii) निर्यात-आय में कमी की क्षतिपूर्ति हेतु श्रेष्ठतम सुविधाएँ प्रदान की जायें। ऐसा अनुमान था कि शक्कर व कॉफी के मूल्य चक्र क्रमशः 13 माह व 24 माह के होंगे परन्तु सभी वस्तुओं का औसत चक्र 22 माह का होगा जिसके बीच इन वस्तुओं का क्रय-विक्रय किया जायेगा। विकासशील देशों का यह अनुरोध है कि प्रारम्भ में ओपेक, विश्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एवं विकसित देश 300 करोड की पूँजी से यह कोष प्रारम्भ करें।

परन्तु अमरीका तथा औद्योगिक देश सभी विकासशील देशों को एक साथ व्यापारिक रियायतें देने के पक्ष में नहीं हैं तथा चाहते हैं कि प्रत्येक वस्तु के लिए प्रत्येक देश की स्थिति को देखते हुए रियायतें दी जायें। मार्च 1977 में इस कोष की स्थापना पर फिर से विचार हुआ परन्तु कोई निर्णय नहीं लिया जा सका।

अंक्टाड VI में यह तय किया गया कि व्यापार तथा विकास बोर्ड निरन्तर इस बात की समीक्षा करेगा कि विकसित देशों द्वारा विकासशील देशों के निर्यातों को प्रोत्साहन देने की दशा में क्या प्रगति हुई है।

अंक्टाड VI के बेलग्रेड में सम्पन्न अधिवेशन (सितम्बर 1983) में पुनः प्राथमिक वस्तुओं की गिरती हुई कीमतों, विकसित देशों की संरक्षणात्मक नीतियों तथा विकासशील देशों की भुगतान-सन्तुलन की गम्भीर समस्या पर चिन्ता व्यक्त की गयी। यह बतलाया गया कि 1982 के वर्ष में ही खाद्यान्नों की कीमतों में 30 प्रतिशत की, वनस्पति तेलों की कीमतों में 23 प्रतिशत की तथा कृषि-जन्य कच्चे माल धातुओं व खनिजों की कीमतों में 13 प्रतिशत की कमी हो गयी थी। एक बार पुनः विकसित देशों से अनुरोध किया गया कि कीमतों में स्थिरता लाने हेतु प्रस्तावित 600 करोड डालर के कोष की स्थापना हेतु योगदान दें। परन्तु इस दिशा में वांछित प्रगति नहीं हो पायी।

जुलाई 1983 तक भी संयुक्त राज्य अमरीका व समाजवादी देशों ने उक्त कोष में सहयोग देने हेतु अपनी सहमति नहीं दी थी।

परन्तु दूसरी ओर विकासशील देश बढ़ती हुई प्रतिकूल भुगतान बाकी के प्रति भी चिन्तित है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, इन देशो के विदेशी ऋणों के भार में निरन्तर वृद्धि हो रही है और इससे उन पर ऋणों के ब्याज एवं किश्तों के भुगतान का भार बढ़ता जा रहा है। कुछ देशो की निर्यात आय का 20 से 30 प्रतिशत तक ऋण भुगतान में चला जाता है।

इसीलिए आज विकासशील देश इस बात के लिए दबाव डाल रहे हैं कि विकसित देश उन्हें व्यापार-रियायतें देकर उनके विद्यमान व्यापार घाटे को न्यूनतम करने में सहायता दें। आज विकासशील देशों में से अधिकांश आर्थिक सहायता की अपेक्षा व्यापार-रियायतों को प्राथमिकता देना पसन्द करते है। इस बढ़ती हुई प्राथमिकता के पीछे निम्नलिखित विचारधाराएँ सक्रिय प्रतीत होती हैं :

(1) आर्थिक सहायता के फलस्वरूप विकासशील देशो पर ब्याज के भार में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। आर्थिक सहायता की राशि बढ़ने पर ब्याज का भार प्रगतिशील रूप से बढ़ता जायगा। इसके विपरीत, निर्यात बढ़ने पर देश को किसी प्रकार का भार वहन नहीं करना पड़ता।

(2) भविष्य में प्राप्त होने वाली सहायता की राशि एवं इससे सम्बद्ध शर्तें अनिश्चित हैं। विकसित देशो की जनता या वहाँ के जन-प्रतिनिधि भी इस पक्ष में नहीं हैं कि वे देश विकासशील देशों को लम्बे समय तक आर्थिक सहायता प्रदान करें। उधर विकासशील देश भी यह जानते हैं कि राजनीतिक व अन्य कारणों से अधिक उपयुक्त यही होगा कि विदेशी सहायता पर अपनी निर्भरता को कम करते जायें। हटिंगटन[1] लिखते हैं : "यह आश्चर्य की बात नहीं होगी यदि एक समय जर्मनी व जापान आर्थिक सहायता को बहुत अधिक बढ़ा दें, जबकि दूसरा देश (अमरीका) अपनी घरेलू आवश्यकताओं पर अधिक ध्यान देने हेतु दी जाने वाली आर्थिक सहायता में कटौती करना अधिक उपयुक्त समझे।"

(3) आर्थिक सहायता का पूर्ण लाभ केवल उस समय प्राप्त हो सकता है जबकि सहायता प्राप्त करने वाले देश अपनी औद्योगिक क्षमता का पूर्ण उपयोग कर सकें; और इसके लिए यह आवश्यक है कि इन देशो को विस्तृत विदेशी बाजार उपलब्ध हों जहाँ वे अपनी वस्तुओं को बेच सकें।

(4) विकासशील देशो में इस भावना से भी वृद्धि होने लगी है कि अधिक सहायता में वृद्धि का अर्थ अन्य देशो पर अपनी निर्भरता में वृद्धि करना है। इस निर्भरता के अनेक राजनीतिक प्रभाव भी हो सकते है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि अधिकांश विकासशील देश कुछ समय पूर्व तक विकसित देशो के उपनिवेश थे। राजनीतिक स्वतन्त्रता के बाद भी वहाँ की जनता में विकसित देशो के प्रति आक्रोश विद्यमान है एवं वहाँ के शासक स्वतन्त्र विदेशी नीति अपनाने के पक्ष में हैं। इन (विकासशील) देशो के नेता ऐसा मानते है कि आर्थिक सहायता प्राप्त करने पर उनकी राजनीतिक स्वतन्त्रता कम हो जाती है जबकि व्यापार-रियायतें प्राप्त करने पर भी वे अपनी विदेश नीति को विकसित देशो की नीति से पृथक् रख सकते हैं।

माइकसैल इसे एक दुर्भाग्यपूर्ण प्रवृत्ति मानते है।[2] उनके मतानुसार "सहायता नहीं, व्यापार (trade, not aid)" के लोकप्रिय नारे का बहुधा दुरुपयोग किया गया है। माइकसैल का कहना है कि आर्थिक सहायता एवं रियायती व्यापार दोनो ही दशाओं में विकसित देशों से विकासशील देशों के साधनों का हस्तान्तरण होता है। परन्तु आर्थिक सहायता के अन्तर्गत विकासशील देश अधिक मात्रा में तथा प्रत्यक्षतः विकसित देशो से साधन प्राप्त करते है। वे इस तर्क को हास्यास्पद बताते है कि अधिक सहायता के अन्तर्गत विकासशील देश स्वतन्त्र विदेश नीति नहीं अपना सकते। उनका प्रश्न है, 'यदि विकासशील देश विकसित देशो से सहायता नहीं चाहते तो वे अपनी व्यापार-शर्तों

1 S. P Huntington, "Foreign Aid : For What and For Whom", an article appeared in *Foreign Policy*, January 1971.

2 Mikesell, *op cit*, pp 198-200.

को किसी ऐतिहासिक (भूतकालीन) स्तरों पर रखने की माँग किस नैतिक अधिकार के साथ कर सकते हैं ?"

इस पर भी माइक्सैल यह स्वीकार करते हैं कि दीर्घकालीन नीति की दृष्टि से विकासशील देशों को विकसित देशों में व्यापार-रियायतें प्राप्त होना आवश्यक है। परन्तु उनका ऐसा विश्वास है कि विकासशील देशों के निर्यातों की ऊँची कीमतें चुकाने की अपेक्षा व्यापार-प्रतिबन्धों में सामान्य कमी करना श्रेयस्कर होगा।

पीयर्सन आयोग ने भी यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि व्यापार-रियायतें आर्थिक सहायता का स्थान नहीं ले सकती। आयोग के मत में विकासशील देशों की उत्पादन-क्षमता में वृद्धि करने एवं उनकी आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने हेतु आर्थिक सहायता आवश्यक है। यद्यपि यह भी सम्भव है कि ये देश व्यापार-रियायतें प्राप्त करके अपने निर्यातों में वृद्धि कर लें। पीयर्सन आयोग ने सुझाव दिया कि विकासशील देशों को अपनी राजकोषीय (fiscal) एवं मौद्रिक (monetary) नीतियों को इस प्रकार समायोजित करना चाहिए कि वस्तुओं की उत्पादन-लागतों में कमी हो जाय। आयोग ने यह भी सुझाव दिया कि ये देश अपनी मुद्राओं की विनिमय-दरों को वास्तविक स्तर पर लायें ताकि विकसित देश स्वयमेव इनकी वस्तुओं का अधिक आयात करने लगें। आयोग का एक महत्वपूर्ण सुझाव यह भी था कि विकसित देशों पर ही निर्यातों के विस्तार हेतु निर्भर रहने की अपेक्षा इन देशों को यह चाहिए कि ये परस्पर व्यापार में वृद्धि करें।[1]

इस अध्याय में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि आज विकासशील देशों—विशेष रूप से तेल अनिर्यातक देशों के समक्ष बढ़ते हुए ऋण भुगतान की गम्भीर समस्या है। दूसरी ओर विकसित देशों की नीतियों के कारण विकासशील देशों की व्यापार शर्तें तथा व्यापार की बाकी उत्तरोत्तर प्रतिकूल होती जा रही है। दोनों ही समस्याएँ परस्पर सम्बद्ध हैं तथा व्यापार की समस्याओं का हल काफी सीमा तक विकसित औद्योगिक देशों के सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण पर ही निर्भर करता है। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि विकासशील तथा विकसित देशों में परस्पर सौहार्द्र एवं विकास की जो भावना होनी चाहिए उसका निरन्तर अभाव अनुभव किया जा रहा है। व्यापारिक रियायतों के साथ-साथ उदार शर्तों पर आर्थिक सहायता देने पर ही विकासशील देशों की समस्याओं का निदान सम्भव है।

लोकोमोटिव सिद्धान्त एवं विदेशी व्यापार

लोकोमोटिव सिद्धान्त के अनुसार यदि किसी एक देश या देश-समूह में आर्थिक विकास होता है तो इस प्रक्रिया से अन्य देशों के निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है। विशेष रूप से यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि विकसित देशों के आर्थिक घटना चक्र का सीधा प्रभाव विकासशील देशों के निर्यातों पर पड़ता है। विकसित देशों को किये जाने वाले इन निर्यातों से विकासशील देशों में भी विकास की गति बढ़ने लगती है।

परन्तु विकासशील देशों से किसी विकसित देश में जितनी अधिक वस्तुओं का निर्यात किया जाता है विकसित देशों का व्यापार-शेष उतना ही प्रतिकूल होता जाता है। अन्य शब्दों में, विकसित देश की व्यापार प्रतिकूलता इस बात की द्योतक है कि वह देश किसी विकासशील देश को उतना ही अधिक विकास प्रक्रिया में सहायता कर रहा है। संयुक्त राज्य अमरीका का विदेशी भुगतान घाटा 1984 में लगभग 10 000 करोड़ डालर था, तथा 1985 में 12 000 करोड़ डालर होने की सम्भावना थी। परन्तु इसमें एक धर्म संकट यह है कि यदि अमरीका अपने भुगतान-सन्तुलन को ठीक करने हेतु आयात को सीमित करने का प्रयास करता है तो इससे विकासशील देशों की विकास प्रक्रिया पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। सम्भवतः पश्चिमी यूरोप तथा जापान के साथ संयुक्त राज्य अमरीका के व्यापार घाटे को कम न कर पाने के पीछे भी यही कारण है कि ऐसा करने से इन देशों की अर्थ-व्यवस्था पर काफी प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

दूसरी ओर यह भी सच है कि यूरोप व अन्य विकसित देशों में विकास की धीमी गति के कारण विकासशील देशों के निर्यातों में हाल के वर्षों में कमी हुई है और इसके साथ ही उनके

1 Pearson Commission Report, *op. cit.*, pp. 80-82.

विकास सम्बन्धी व अन्य आयातों में आशातीत वृद्धि के कारण उनका व्यापार घाटा 1984 में 10,900 करोड़ डालर तक पहुँच गया था। प्रश्न है, क्या विकासशील देशों का यह दायित्व है कि वे विकसित देशों की विकास प्रक्रिया तथा निर्यातों में वृद्धि हेतु स्वयं का व्यापार-घाटा बढ़ायें ? यदि हाँ, तो किस सीमा तक ?

भारत तथा विदेशी सहायता
[INDIA AND FOREIGN ECONOMIC AID]

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत नियोजित आर्थिक विकास के मार्ग पर अग्रसर हो रहा है। चार पंच-वर्षीय एवं तीन वार्षिक योजनाओं की कार्यान्विति के बाद अब देश पाँचवीं पंचवर्षीय योजना काल में है। इस अवधि में भारत ने विकसित देशों से ही नहीं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से भी पर्याप्त मात्रा में आर्थिक सहायता प्राप्त की है। यह सहायता ऋणों तथा अनुदान, दोनों ही रूपों में प्राप्त की गयी है, और इसने देश के आर्थिक विकास में पर्याप्त योगदान भी दिया है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में केवल कुछ ऐसी नीतियों एवं प्रस्तावों का विवरण था जिन्हें सरकार कार्यान्वित करना चाहती थी। परन्तु इस योजना-काल में भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व उपार्जित विदेशी मुद्रा के सुरक्षित कोषों का उपयोग किया एवं विदेशी विनिमय का कोई संकट उपस्थित नहीं हो सका। परन्तु पर्याप्त परिमाण में विदेशी विनिमय के विद्यमान रहने से इन कोषों का विवेकपूर्ण ढंग से उपयोग नहीं किया जा सका और इसका एक बड़ा भाग उपभोग्य वस्तुओं के आयात पर व्यय हो गया।

विदेशी विनिमय की दृष्टि से द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भी उपयुक्त दिशा-निर्देशन प्राप्त नहीं हो सका। द्वितीय योजना विदेशी विनिमय की उपलब्धि पर बहुत कुछ निर्भर करती थी परन्तु किस प्रकार इन साधनों को जुटाया जायगा इस विषय में कुछ भी नहीं सोचा गया। फलस्वरूप द्वितीय योजना के प्रथम कुछ महीनों के पश्चात् ही विदेशी विनिमय का गम्भीर संकट उपस्थित हो गया जिसके परिणामस्वरूप उपभोग्य वस्तुओं के आयात में भारी कटौती करनी पड़ी। इसका एक कारण यह भी था कि द्वितीय योजना-काल में औद्योगिक विकास के लिए भारी मात्रा में निजी व सार्वजनिक दोनों ही क्षेत्रों के लिए पूँजीगत वस्तुओं का आयात किया गया था। इसके अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में इन वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि के कारण भी आयातों के मूल्य में भारी वृद्धि हो गयी थी। दूसरी ओर हमारे निर्यातों में अपेक्षित वृद्धि नहीं हो सकी। इसके अतिरिक्त, द्वितीय योजना के प्रारम्भिक वर्षों में देश गम्भीर खाद्य संकट की स्थिति में पहुँच गया था। इन सब कारणों से व्यापार का सन्तुलन काफी प्रतिकूल हो गया और भारत को भारी मात्रा में विदेशी सहायता प्राप्त करनी पड़ी। कुल 4,600 करोड़ में से द्वितीय योजना-काल में 1,100 करोड़ रुपये की विदेशी सहायता लेनी पड़ी जबकि मूल रूप में 800 करोड़ रुपये की सहायता लेने का प्रावधान था।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में यह प्रावधान रखा गया कि लगभग 2,000 करोड़ रुपये की विदेशी सहायता प्राप्त की जायगी। इस योजना का मूल उद्देश्य भारतीय अर्थ-व्यवस्था को स्वयं स्फूर्त अवस्था में ले जाना था। इतनी अधिक विदेशी सहायता के प्रावधान के उपरान्त भी योजना में आयात-प्रतिस्थापन (import substitution) के कार्यक्रम पर बल दिया गया। परन्तु योजना में आवश्यक कच्चे माल, खाद्यान्न एवं औद्योगिक साज-सज्जा के आयात पर इतना अधिक बल दिया गया था कि आयात-प्रतिस्थापन के प्रयास सफल हो जाने पर भी व्यापार-सन्तुलन की ऋणात्मक बाकी बहुत अधिक रहने की सम्भावना थी। इसी कारण तीसरी योजना में भारत की विदेशी सहायता पर निर्भरता में वृद्धि का संकेत दिया गया था एवं इसके लिए मित्र-देशों से अनुरोध भी किये गये। इस पर भी यह कहा जाता है कि भारत ने विदेशी सहायता का उचित ढंग से उपयोग नहीं किया। तीसरी योजना काल में 8 577 करोड़ रुपयों के व्यय में से 2,423 करोड़ रुपये की विदेशी सहायता प्राप्त की गयी। अर्थात् तृतीय पंचवर्षीय योजना-काल में कुल व्यय का 28·2 प्रतिशत विदेशी सहायता के रूप में प्राप्त किया गया।

इसी प्रकार तीन वार्षिक योजनाओं की अवधि में भी पर्याप्त विदेशी सहायता प्राप्त की गयी थी। चौथी पंचवर्षीय योजना-काल में 2,087 करोड़ रुपये की विदेशी सहायता प्राप्त की

गयी थी। संशोधित पाँचवीं योजना काल में 5 407 करोड रुपये की विदेशी सहायता लेने का प्रावधान रखा गया था। परन्तु छठी योजना के अन्तर्गत विदेशी सहायता का कुल सार्वजनिक व्यय में अनुपात कम होने पर लगभग 9 900 करोड रुपये की विदेशी सहायता प्राप्त करने का अनुमान है।

तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्त (मार्च 1966) तक भारत को कुल मिलाकर 5711 6 करोड रुपये की विदेशी सहायता की स्वीकृति प्राप्त हुई थी। इसमें से लगभग 4508 8 करोड का वास्तविक रूप से उपयोग कर लिया गया। मार्च 1983 तक स्वीकृत विदेशी सहायता की राशि बढ़कर 31,617 4 करोड रुपये तथा उपयोग में ली गयी राशि 24 015 6 करोड रुपये हो गयी। इसमें से 27,802 2 करोड रुपये ऋणों के रूप में तथा शेष अनुदान के रूप में स्वीकृत किया गया था।

यह एक रोचक तथ्य है कि 27 802 2 करोड रुपये के ऋणों में से 20,755 करोड रुपये यानी 74 6 प्रतिशत का उपयोग मार्च 1983 तक हो पाया था। परन्तु स्वीकृत अनुदान (3815 2 करोड रुपये) का अपेक्षाकृत अधिक यानी 85 46 प्रतिशत इस समय तक उपयोग में लिया जा चुका था।

अप्रैल 1984 में आर्थिक सहयोग तथा विकास संगठन की रिपोर्ट[1] के अनुसार 1983 के अन्त में भारत पर 2068 5 करोड डालर का विदेशी ऋण बकाया था, तथा विकासशील देशों में उसका स्थान पाँचवाँ था। रिपोर्ट में यह भी बताया गया कि भारत को प्राप्त ऋणों का केवल 5 प्रतिशत निजी बैंकों से प्राप्त हुआ था। भारत उन देशों में से रहा है जिन्हें 90 प्रतिशत सहायता सरकारी स्रोतों से मिलती है। इसके विपरीत, ब्राजील तथा मैक्सिको को 60 प्रतिशत से अधिक ऋण निजी वित्तीय संस्थाओं से प्राप्त हुआ है।

1983-84 के वर्ष हेतु भारत को 2 835 करोड रुपये की सहायता स्वीकृत की गयी थी, जिसमें से विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ द्वारा स्वीकृत राशियाँ क्रमश 1087 7 करोड रुपये एवं 762 करोड रुपये के तुल्य थी। 1984 85 के वर्ष हेतु 20 जून 1984 को भारत सहायता क्लब की बैठक में क्लब के सदस्य देशों ने 400 करोड डालर के ऋण स्वीकृत किये। यह राशि भारत सहायता क्लब द्वारा 1983-84 के लिए स्वीकृत राशि से 9 प्रतिशत अधिक है।

कुल मिलाकर इन आँकडों से ऐसा आभास हो सकता है कि भारत को प्राप्त विदेशी सहायता काफी अधिक है। वस्तुत ऐसा नहीं है। आर्थिक सहयोग तथा विकास संगठन (OECD) की पूर्व उद्धृत रिपोर्ट के ही आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत को प्राप्त प्रति व्यक्ति सहायता की राशि बहुत कम रही है। विकासशील देशों में चीन व भारत की जनसंख्या 51 प्रतिशत है पर इन्हें 1983 तक केवल 5 प्रतिशत ही सहायता मिल पायी थी। नीचे हम भारत को प्राप्त विदेशी सहायता की विस्तृत आलोचनात्मक समीक्षा प्रस्तुत करेंगे।

विदेशी ऋण सम्बन्धी नवीनतम प्रवृत्तियाँ

1983-84 में भारत को कुल मिलाकर 2,268 करोड रुपये के विदेशी ऋण प्राप्त हुए थे। 1984-85 में यह राशि 2,354 करोड रुपये रही जबकि 1985-86 में कुल मिलाकर 3 165 करोड रुपये की विदेशी सहायता प्राप्त होने की आशा थी। इन तीन वर्षों में ब्याज तथा किश्तों का भुगतान करने के पश्चात् प्राप्त शुद्ध विदेशी सहायता की राशि क्रमश 1,235 करोड रुपये, 1,178 करोड रुपये तथा 1 795 करोड रुपये रही। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि भारत को प्राप्त सकल विदेशी सहायता का 50 से 55 प्रतिशत ऋण-सेवाओं के रूप में वापस कर दिया जाता है।[2]

पेरिस में भारत सहायता क्लब की बैठक जून 1985 में आयोजित की गयी थी। इसमें 1985-86 के लिए क्लब के सदस्य-देशों ने 400 करोड SDR की सहायता का वचन दिया। यह सहायता 1984-85 में प्राप्त सहायता के बराबर ही रखी गयी थी।

1 *The Financial Express*, April 30, 1984
2 *Economic Survey*, 1985 86 (Table 8 7)

छठी पंचवर्षीय योजना के लिए ऐसा अनुमान था कि कुल सार्वजनिक व्यय (97,500 करोड़ रुपये) का 10 प्रतिशत (9,929 करोड़ रुपये) शुद्ध विदेशी सहायता के रूप में प्राप्त होगा। वस्तुत: इन पांच वर्षों में 110,821 करोड़ रुपये के सार्वजनिक व्यय में से केवल 7·7 प्रतिशत (8,529 करोड़ रुपये) शुद्ध विदेशी सहायता के रूप में प्राप्त किये गये।[1]

सातवीं पंचवर्षीय योजना की अवधि (1985-90) में कुल सार्वजनिक व्यय 1,80,000 करोड़ रुपये का होगा, इसका 10 प्रतिशत यानी 18,000 करोड़ रुपये शुद्ध विदेशी सहायता के रूप में प्राप्त होने की आशा है।

भारत को प्राप्त विदेशी आर्थिक सहायता की आलोचनात्मक समीक्षा

भारत को प्राप्त विदेशी सहायता की प्रकृति, शर्तों एवं भुगतान-सम्बन्धी व्यवस्था की निम्न लिखित क्षेत्रों में पर्याप्त आलोचना की गयी है :

प्रथम बात तो यह है कि विदेशी आर्थिक सहायता प्राप्त करने में भारत को विविध प्रकार के राजनीतिक दबाव सहन करने पड़ते हैं। अनेक बार सहायता इसलिए नहीं मिल पाती कि भारत सरकार राजनीतिक दबाव को स्वीकार न करते हुए स्वतन्त्र विदेशी नीति पर चलते रहना चाहती है। केवल इतना ही नहीं, अपितु कहा जा सकता है कि विश्व के बड़े देशों की गुटबन्दी से दूर रहते हुए पर्याप्त द्विपक्षीय सहायता मिलना एक कठिन कार्य हो है।

द्वितीय, भारत को अब तक प्राप्त 60 से 80 प्रतिशत तक विदेशी सहायता परियोजना सहायता के रूप में रही है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, परियोजना सहायता यदि द्विपक्षीय हो, और यदि उसके अन्तर्गत साहूकार देश के बाजारों में ही इस राशि को व्यय करना आवश्यक हो तो ऐसी सहायता की वास्तविक लागत काफी ऊंची हो जाती है।

तृतीय, भारत की जनसंख्या तथा यहाँ विद्यमान समस्याओं को देखते हुए इस देश को अब तक प्राप्त विदेशी सहायता काफी कम रही है। उदाहरणार्थ, 1951 से लेकर 1980 तक भारत को प्राप्त 31613 करोड़ रुपये की विदेशी सहायता को प्रति व्यक्ति सहायता की दृष्टि से यह औसत केवल 296 रुपये ही रहा। यदि सहायता की सकल (gross) राशि के स्थान पर निवल राशि (net aid) की जाय (जिसमें सहायता के अन्तर्गत प्राप्त राशि में से ब्याज व किश्त के भुगतान के ऋण-प्रभार को कम किया जाता है) तो यह औसत काफी कम हो जाता है। यहाँ तक कि पिछले तीन-चार वर्षों में भी जबकि पूर्वापेक्षा अधिक ऋण भारत को प्राप्त हुए हैं, प्रति व्यक्ति औसत (निवल) सहायता 1 50 डालर रही है जो भारत के राष्ट्रीय उत्पाद के 1 35 प्रतिशत से भी कम है। इसके विपरीत, इन्हीं वर्षों में पाकिस्तान को 9 2 डालर प्रति व्यक्ति (राष्ट्रीय उत्पाद का 5·6 प्रतिशत) तथा बांग्ला देश को 11 डालर प्रति व्यक्ति (राष्ट्रीय आय का 8 5 प्रतिशत) निवल सहायता के रूप में प्राप्त हुए। अस्तु, भारत को प्रति व्यक्ति प्राप्त सहायता की राशि देश की समस्याओं व जनसंख्या के आकार की तुलना में बहुत ही कम रही है।

चौथे, भारत को प्राप्त कुल सहायता में से ब्याज एवं ऋणों का भुगतान करने के बाद प्राप्त शुद्ध ऋण का अनुपात बहुत कम रह जाता है। छठी योजनाकाल में यह अनुपात 40-42 प्रतिशत रह जायेगा। जबकि पाँचवीं योजना की अवधि में यह अनुपात 55 से 60 प्रतिशत तक रहा था। इस प्रकार प्राप्त विदेशी सहायता का एक बड़ा अंश पुराने ऋणों की वापसी व ब्याज के भुगतान में लग जाता है। उदाहरण के लिए, 1981-82 व 1982-83 में भारत ने क्रमश: 1888 4 करोड़ तथा 2249 8 करोड़ रुपये की विदेशी सहायता प्राप्त की परन्तु इन दो वर्षों में क्रमश: 849 करोड़ रुपये तथा 947 3 करोड़ रुपये किश्त व ब्याज के रूप में चुकाने पड़े। इस प्रकार सकल सहायता के रूप में निवल सहायता का अनुपात घट रहा है।

पिछले कुछ वर्षों में भारत के ऋण प्रभार में भी काफी वृद्धि हुई है। सन् 1975 से 1980 तक भारत का निर्यात आय का 18 से 22 प्रतिशत तक विदेशी ऋणों की वापसी (किश्त तथा ब्याज) हेतु देने पड़े थे। 1982-83 में यह अनुपात घटकर लगभग 11 प्रतिशत रह गया था

---

1 *Seventh Five Year Plan* (1985-90), Vol. I, pp. 50-52.

क्योकि उस वर्ष हमारे निर्यात पूर्व वर्षों की तुलना मे काफी ऊँची दर से बढे थे। चूंकि भारत को विदेशो से प्राप्त सहायता इस देश की आर्थिक समस्याओ को देखते हुए नितान्त अपर्याप्त है हमे अपनी योजनाओ की क्रियान्विति हेतु आन्तरिक स्रोतो तथा घाटे की वित्त-व्यवस्था पर निर्भर रहना पड रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि साहूकार देश अपने दृष्टिकोण को कुछ और अधिक सहानुभूतिपूर्ण बनायें एव ऋण की शर्तों तथा भुगतान की अवधि के निर्धारण म उदारता बरतें।

यद्यपि विदेशी सहायता ने भारत मे अनेक कार्यक्रमो की क्रियान्विति मे योगदान दिया है। इस्पात, रसायन, इन्जीनियरिंग, विद्युत मशीन टूल आदि उद्योगो, परिवहन व सचार के साधना तथा कृषि के सर्वांगीण विकास के अतिरिक्त विदेशी सहायता का नगरो के विकास जल आपूर्ति एव शिक्षा के क्षेत्र मे भी पर्याप्त योगदान रहा। विदेशी सहायता से हमारी आयात क्षमता म भी वृद्धि हुई है तथा कच्चे माल, मशीनो व खाद्यान्नो की पर्याप्त उपलब्धि म विदेशी योगदान रहा है। नयी प्रौद्योगिकी के विकास म भी विदेशी सहायता का उल्लेखनीय योगदान रहा है।

फिर भी इस बात की आवश्यकता है कि हमारी विदेशी सहायता पर निर्भरता मे कमी की जाये। यह दो बातो से सम्भव होगा—हमारे निर्यातो के प्रति विकसित देशो का सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण एव विदेशी सहायता की उदार शर्तें। 'अधिक व्यापार तथा अधिक सहायता" म पूरकता है और इनम भारत जैसे देश के लिए विकल्प की कोई गुंजाइश नही है यह हमे भली-भाँति समझ लेना चाहिए। परन्तु निर्यातो म अपेक्षित वृद्धि दो बातो पर निर्भर करगी। प्रथम तो यह कि हमारी उत्पादन दक्षता म पर्याप्त वृद्धि की जाये ताकि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे हम प्रतियोगिता कर सकें। द्वितीय निर्यातो की वृद्धि हेतु विकसित देशो की नीतियाँ उदारतापूर्ण होनी आवश्यक है क्योकि उन्ही देशो मे पर्याप्त क्रय शक्ति विद्यमान है। यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि अन्य विकासशील देशो के साथ व्यापार बढाने म हम कहाँ तक सफल हो पाते हैं।

प्रश्न एवं उनके संकेत

1 **इस दृष्टिकोण का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए कि विदेशी आर्थिक सहायता का विकासशील देशों के आर्थिक विकास मे अधिक महत्त्व नहीं है।**

Critically examine the view that foreign economic aid is of minor importance in the economic development of under-developed countries

[संकेत—इस प्रश्न के उत्तर मे पहले विकासशील देशो की वर्तमान स्थिति, विशेष रूप से वहाँ पूंजी की उपलब्धि के विषय म बताइए। फिर यह बताइए कि विदेशी सहायता पूंजी के अभाव को दूर करके आर्थिक विकास की प्रक्रिया म कहाँ तक सहायक हो सकती है। परन्तु हाल ही म विकासशील देशो ने इस बात पर बल देना प्रारम्भ किया है कि अधिक निर्यात द्वारा उनके आर्थिक विकास मे वही सहायता मिल सकती है जो आर्थिक सहायता या पूंजी की उपलब्धि मे सम्भव है। इन दोनो ही प्रकार के विचारो की तुलनात्मक व्याख्या के आधार पर उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर दें।]

2. **आर्थिक विकास में विदेशी पूंजी का क्या योगदान है? विदेशी पूंजी का प्रवाह ऋणी व ऋणदाता देशों को किस प्रकार प्रभावित करता है?**

What is the role of foreign economic aid in economic development? How does a flow of foreign capital affect the lending and borrowing countries?

[संकेत—प्रश्न के प्रथम भाग का उत्तर प्रश्न 1 के अनुरूप होगा। प्रश्न के द्वितीय भाग के उत्तर मे यह बताइए कि विदेशी पूंजी प्राप्त करने पर ऋणी देश का क्या दायित्व होता है तथा दीर्घकाल में इन ऋणो के कारण उसकी क्या स्थिति होती है? इसी प्रकार ऋणदाता देश ऋण देते समय किन बातो की जांच करता है तथा पूंजी देने तथा ऋणो की वसूली के समय उस देश की अर्थ-व्यवस्था, व्यापार एव सामाजिक व्यवस्था पर किस प्रकार के प्रभाव होते हैं।]

3 **पूंजी का निर्यात ऋणदाता के लिए किस प्रकार सामाजिक दृष्टि से लाभप्रद या नुकसानदायक सिद्ध हो सकता है?**

In what respect may the export of capital be socially advantageous or disadvantageous from the point of view of the capital exporting country ?

[संकेत—उक्त प्रश्न का उत्तर प्रश्न 2 के उत्तर के अनुरूप होगा। परन्तु इसमें पूंजी देने वाले देश पर विदेशी सहायता के सामाजिक व आर्थिक प्रभावों की ही व्याख्या कीजिए।]

4 विकासशील देशों की विदेशी व्यापार सम्बन्धी समस्याओं पर विस्तार से प्रकाश डालिए।

Enunciate and explain the foreign trade problems of developing countries.

[संकेत—पिछले तीन दशकों में विकासशील देशों के विदेशी व्यापार में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गयी हैं। एक ओर उनके द्वारा निर्यात की जाने वाली (प्राथमिक) वस्तुओं की बेलोच माँग के कारण कुल माँग का विस्तार नहीं हो पा रहा है, तो दूसरी ओर विकसित देशों में अपनायी गयी संरक्षणात्मक नीति एवं कृत्रिम वस्तुओं (synthetics) से चल रही प्रतियोगिता के कारण भी ये देश अधिक मात्रा में निर्यात नहीं कर पा रहे हैं। इसी प्रकार इन देशों में परस्पर सहयोग का अभाव, विकसित देशों की पक्षपातपूर्ण नीति तथा आर्थिक विकास की धीमी गति के कारण व्यापार-सन्तुलन की ऋणात्मक बाकी तेजी से बढ़ रही है। इन सभी समस्याओं की विस्तृत विवेचना उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में कीजिए।]

5 क्या यह ठीक है कि विकसित देशों की तुलना में विकासशील देशों के निर्यातों से प्राप्त आय में अधिक अस्थिरता है ? इस स्थिति में इन देशों की सहायता हेतु अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली में क्या परिवर्तन होने चाहिए ?

Are under-developed countries suffering from greater instability in export earnings than high income countries ? Are any changes necessary in the international economic system to help the poor countries in this respect ?

[संकेत—इस प्रश्न के उत्तर हेतु विकसित एवं विकासशील देशों के आयातों व निर्यातों की प्रकृति का विश्लेषण करते हुए बताइए कि विकासशील देशों के निर्यातों में अस्थिरता के क्या कारण हैं जबकि विकसित देशों की निर्यात आय स्थिर है। विकासशील देशों के निर्यात बढ़ाने तथा उनके व्यापार-सन्तुलन को ठीक करने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों में आप किस प्रकार का सुधार चाहते हैं, यह भी बताइए।]

22

अवमूल्यन
[DEVALUATION]

हम पिछले अध्यायो मे यह कह चुके हैं कि स्वर्णमान के अन्तर्गत किसी भी देश की मुद्रा की विनिमय-दर विदेशी मुद्रा की माँग व पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। दीर्घकाल मे सामान्यतया मुद्रा की माँग व पूर्ति का साम्य ही स्थायी विनिमय-दर को निर्धारित करता है। यदि किसी समय विनिमय-दर साम्य-दर से अधिक या कम हो तो वस्तुओ के निर्यात या आयात मे वृद्धि होगी और फलस्वरूप देश की मुद्रा की माँग या विदेशी मुद्रा की माँग (अर्थात् देश की मुद्रा की पूर्ति) मे वृद्धि होगी तथा विनिमय-दर साम्य-स्तर पर पहुँच जायेगी। स्वर्णमान के अन्तगत विनिमय-दर की यही स्वचालित प्रवृत्ति आयातो व निर्यातो की स्वचालित प्रवृत्ति को प्रदर्शित करती है।

परन्तु पिछले चार दशको से विश्व के किसी भी देश मे स्वर्णमान विद्यमान नही रह गया है। यही नही, वैकल्पिक मुद्रामान (पत्र मुद्रामान) के प्रचलन के साथ-साथ सरकार का विनिमय दर की निर्धारित-प्रक्रिया म हस्तक्षेप भी बढा है। विश्व के लगभग सभी देशों में मुद्रा की विनिमय-दरें सम्बद्ध मुद्रा मे विद्यमान धातु पर नही अपितु विभिन्न सरकारो की नीतियो पर निर्भर करती है।

बहुधा यह देखा गया है कि अनेक देशो की सरकारें अपनी मुद्रा का अर्थ (बाह्य मूल्य) जानबूझकर ऊँचा रखने का प्रयास करती हैं। दूसरे शब्दो में, यह प्रयास किया जाता है कि एक डालर या पौण्ड-स्टर्लिंग के बदले देश की मुद्रा की विनिमय-दर (दय मूल्य) कम रखी जाय। यदि खुले बाजार मे डालर की माँग व पूर्ति (जिनका निर्धारण आयात व निर्यात की मात्रा द्वारा किया जाता है) के आधार पर विनिमय-दर 9 रुपये प्रति डालर निर्धारित हो और इसकी अपेक्षा भारत सरकार डालर की विनिमय-दर 7 रुपये प्रति डालर ही रखे तो इसे डालर के रूप मे भारतीय रुपये का अधिमूल्यन (over-valuation) या रुपये के रूप मे डालर का मूल्य कम रखने की प्रवृत्ति ही माना जायगा।

अवमूल्यन का अर्थ
[MEANING OF DEVALUATION]

ईविट (Evitt) के अनुसार, "जब कुछ कारणो के फलस्वरूप दूसरे देशो की मुद्रा की तुलना मे एक देश की मुद्रा को विनिमय-दर कम करके उसके विनिमय मूल्य को सस्ता कर दिया जाता है तो इस प्रक्रिया को ही अवमूल्यन कहते हैं।"[1]

पाल एन्जिग (Paul Enzig) के अनुसार, "अवमूल्यन से तात्पर्य मुद्राओ की अधिकृत समताओं मे कमी करने से है।"[2]

सरल शब्दो मे, अवमूल्यन का आशय किसी देश की मुद्रा के बाह्य मूल्य को कम करने से

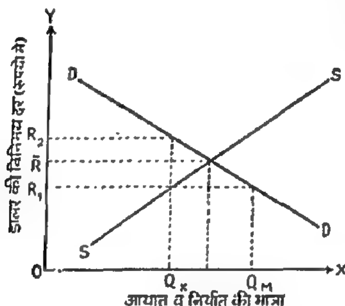
1 "Where for any reason it is considered necessary to cheapen the exchange value of a currency in terms of others by giving it a lower exchange value, the process is known as devaluation" —H E Evitt.

2 "Devaluation means lowering the official parities" —Paul Enzig

होता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इसके फलस्वरूप मुद्रा का आन्तरिक मूल्य भी आवश्यक रूप में कम हो।

मुद्रा का अर्घ साम्य-स्तर से ऊँचा रखने के प्रभाव
(Effects of maintaining a higher value of currency than the equilibrium level)

यदि किसी देश की मुद्रा का अर्घ कृत्रिम रूप से वास्तविक या साम्य-स्तर की अपेक्षा ऊँचा रखा जाता है तो ऐसी स्थिति में देश के आयातकर्ता को जहाँ एक डालर की वस्तु का आयात करने पर कम रुपये देने होते हैं, वहीं निर्यातकर्ता को एक डालर की वस्तु का निर्यात करने पर केन्द्रीय बैंक से कम रुपये प्राप्त होते हैं। रेखाचित्र 22·1 एक ऐसी ही स्थिति को प्रस्तुत करता है।



रेखाचित्र 22·1—साम्य की अपेक्षा कम विनिमय-दर (मुद्रा का अधिमूल्यन)

रेखाचित्र 22·1 में *DD* डालर की माँग तथा *SS* डालर की खुले बाजार में पूर्ति को प्रदर्शित करने वाले वक्र हैं। इस दृष्टि से खुले बाजार या प्रतियोगितापूर्ण स्थिति में डालर की विनिमय-दर *OR* होनी चाहिए। परन्तु यदि सरकार विनिमय-दर को OR_1 पर स्थिर रखना चाहती है तो इससे आयातकर्ताओं को OQ_m मात्रा में आयात करने की प्रेरणा मिलेगी जबकि निर्यातकर्ता केवल OQ_x मात्रा में ही निर्यात करने को तैयार होंगे। इस प्रकार मुद्रा के अधिमूल्यन के फलस्वरूप व्यापार-सन्तुलन के प्रतिकूल होने की काफी सम्भावना रहती है क्योंकि निर्यातकर्ताओं को अधिक मात्रा में निर्यात करने की प्रेरणा नहीं मिल पाती। इसी प्रकार डालर का मूल्य कृत्रिम रूप से नीचा रखे जाने के कारण विदेशी व्यापारियों को भारत से अधिक वस्तुएँ प्राप्त करने की प्रेरणा प्राप्त नहीं होती। कुल मिलाकर भारतीय रुपये के कृत्रिम रूप से ऊँचे अर्घ के कारण हमारे विदेशी व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ते हैं।

रुपये के ऊँचे अर्घ का एक और भी प्रतिकूल प्रभाव होता है। OR_1 विनिमय-दर पर डालर की माँग इसकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक होने के कारण आवश्यकतायुक्त लोग इसे काला-बाजार में खरीदेंगे। जिन व्यक्तियों के पास डालर उपलब्ध हैं वे केन्द्रीय बैंक को बेचकर इसके बदले OR_1 रुपये प्रति डालर सरकारी दर से प्राप्त करने की अपेक्षा काला-बाजार में OR_2 रुपये प्रति डालर प्राप्त करना अधिक श्रेयस्कर समझेंगे। इसके परिणामस्वरूप सरकारी कोषों में विदेशी विनिमय (डालर) की पर्याप्त प्राप्ति नहीं हो सकेगी एवं देश गम्भीर वित्तीय संकट में फँस जायगा। कुछ समय पूर्व तक डालर की सरकारी दर 7·50 रुपये थी, परन्तु काला बाजार में इसकी बिक्री व खरीद 13 रुपये की दर से की जा रही थी। भारत सरकार के दूषित मन्तव्य

ने 1965 में एक अनुमान के आधार पर बताया था कि भारत में आने वाले सैलानी या विदेशों में बसने वाले भारतीय यहाँ लायी गयी विदेशी मुद्रा में से तीन-चौथाई को केन्द्रीय या व्यापारी बैंकों में जमा नहीं करते थे अपितु व्यापारियों व दलालों को सरकारी दर की अपेक्षा ऊँची दर पर बेच देते थे। इस प्रकार रुपये का अर्घ कृत्रिम रूप में ऊँचा रखने के फलस्वरूप डालर के *काला-बाजार को प्रोत्साहन मिलता है एवं साथ ही सरकार भी पर्याप्त डालर प्राप्त नहीं कर* पाती। परन्तु पिछले कुछ महीनों में भारत सरकार की कड़ी निगरानी तथा विदेशी विनिमय की काला-बाजारी करने वालों के विरुद्ध उठाये गये कठोर कदमों के कारण काला-बाजार की गति-विधियों में पर्याप्त कमी हो गयी। गत 18 महीने में रुपये का सम्बन्ध नौ महत्वपूर्ण मुद्राओं से स्थापित करने के कारण भी डालर का अधिकृत मूल्य अब [illegible] 70 व 8·90 के बीच चल रहा है।

रुपये के साम्य से अधिक मूल्य रखने का एक और भी प्रभाव होता है। बहुधा यह देखा जाता है कि ऐसी परिस्थिति में सरकार विनिमय-प्रतिबन्धों के माध्यम से रुपये के अर्घ को ऊँचा या डालर के मूल्य को नीचा बनाये रखने का प्रयास करती है। फलस्वरूप निर्यातकर्ता प्रगट में अधिक निर्यात करने की अपेक्षा बीजक में कम मूल्य दिखाकर (under-invoicing) वस्तुओं का निर्यात करते हैं। बीजक में दिखाये गये मूल्य से जितनी अधिक राशि वास्तव में इन्हें प्राप्त करनी है वह *काला-बाजार के माध्यम से प्राप्त कर ली जाती है।*

ऐसी बात नहीं है कि देश की मुद्रा का अर्घ ऊँचा रखने के इन दुष्परिणामों से सरकार अनभिज्ञ हो। वस्तुत. मुद्रा का अर्घ कम करने का प्रस्ताव भी सरकार को मान्य नहीं होता क्योंकि इसका अर्थ मुद्रा की प्रतिष्ठा कम करने से लगाया जाता है। किसी भी स्वाधीन देश की सरकार इस तथ्य को सरलता से *(सरकारी रूप से) स्वीकार नहीं करना चाहती कि देश की मुद्रा का* वास्तविक अर्घ सरकारी रूप से घोषित अर्घ (विनिमय-दर) से कम है।

परन्तु जैसे-जैसे देश के व्यापार-सन्तुलन की प्रतिकूलता बढ़ती जाती है, सरकार को कुछ प्रभावकारी कदम उठाने ही पड़ते हैं। इन विधियों को, जिनके माध्यम से प्रतिकूल व्यापार-सन्तुलन को ठीक करने का प्रयास किया जाता है, संक्षेप में नीचे प्रस्तुत किया गया है :

प्रतिकूल व्यापार-सन्तुलन को ठीक करने के उपाय
(Measures to rectify disequilibrium of the Balance of Trade)

प्रतिकूल व्यापार-सन्तुलन को ठीक करने हेतु एक उपाय अवमूल्यन भी बताया जाता है। अवमूल्यन (devaluation) का अर्थ है मुद्रा के बाह्य मूल्य में कमी करना। दूसरे शब्दों में, यदि डालर का रुपये के रूप में मूल्य बढ़ा दिया जाय अथवा रुपये का मूल्य डालर के रूप में कम कर दिया जाय तो इसे भारतीय रुपये का अवमूल्यन कहा जायगा। मान लीजिए, वर्तमान विनिमय-दर \$ 1 = 7 00 रुपये है, जो साम्य-दर से नीची मानी जाती है। अब यदि विनिमय-दर \$ 1 = 8·75 रुपये कर दी जाय तो यह भारतीय रुपये का 25 प्रतिशत अवमूल्यन माना जायगा। उदाहरणार्थ, *यदि रेखाचित्र 22.1 में डालर की रुपये में व्यक्त अधिकृत विनिमय-दर OR_1 से बढ़ाकर OR कर* दी जाय (अथवा OR_1 से ऊपर कहीं भी) तो यह रुपये का अवमूल्यन माना जायेगा। ऐसी स्थिति में अमरीका से वस्तुएँ आयात करने पर एक भारतीय फर्म को पूर्वापेक्षा अधिक रुपये उतने ही डालर के बदले भुगतान करने होंगे। एंजिग के मतानुसार, *'किसी भी मुद्रा की अधिकृत समता में कमी* करना उसका अवमूल्यन है।"

अवमूल्यन के उद्देश्य
[OBJECTIVES OF DEVALUATION]

मुद्रा के अवमूल्यन के प्रमुख उद्देश्य निम्नांकित हो सकते हैं :

1. **निर्यातों को प्रोत्साहन देना**—*यदि सरकार को ऐसा आभास हो रहा हो कि मुद्रा का* अर्घ कृत्रिम रूप से ऊँचा रखने के कारण निर्यातों में पर्याप्त वृद्धि नहीं हो पा रही है तो अवमूल्यन के माध्यम से निर्यात में वृद्धि करने का प्रयास किया जाता है। यह उल्लेखनीय है कि अवमूल्यन के फलस्वरूप डालर (या पौण्ड स्टर्लिंग) की तुलना में रुपये का अर्घ कम किया जाता है परन्तु देश के भीतर मूल्य-स्तर या रुपये के आन्तरिक मूल्य में परिवर्तन नहीं किया जाता है।

अवमूल्यन के माध्यम से देश के निर्यातकर्ता को सरकारी रूप से पूर्वापेक्षा प्रति डालर अधिक रुपये का भुगतान किया जाता है और इसके फलस्वरूप निर्यातों की वृद्धि अपेक्षित होती है। डालर का अर्घ बढ़ जाने के फलस्वरूप अब विदेशी व्यापारियों को भी भारत से अधिक वस्तुएँ आयात करने की प्रेरणा मिलती है।

2 **आयातों को हतोत्साहित करना**—अवमूल्यन के फलस्वरूप देश के आयातकर्ताओं को उतने ही डालर के मूल्य की विदेशी वस्तुओं का भुगतान अधिक रुपयों में करना पड़ता है। आयातकर्ता को 1 डालर की वस्तु मँगाने पर अब 7.00 रुपये के बदले 8.75 रुपये चुकाने होते हैं, अतः उसे आयात में कटौती करने की प्रेरणा मिलेगी। कुल मिलाकर अवमूल्यन के फलस्वरूप व्यापार-सन्तुलन की प्रतिकूलता कम होने की सम्भावना होती है।

3. **अनुचित व्यापारिक तरीकों व विदेशी मुद्राओं की काला-बाजारी को रोकना**—अवमूल्यन के माध्यम से रुपये का अर्घ इसकी साम्य विनिमय दर के समीप लाया जाता है और इसके फलस्वरूप डालर की काला-बाजारी कम हो जाती है। विनिमय-दर साम्य-दर के जितनी समीप होगी, डालर की काला-बाजारी उतनी ही कम हो जायगी।

इसी प्रकार, अवमूल्यन से बीजक में कम मूल्य दिखाने (under-invoicing) की प्रवृत्ति को भी समाप्त किया जा सकता है।

4 **अन्य देशों द्वारा राशिपातन को रोकना**—कभी-कभी कोई दूसरा देश राशिपातन (dumping) की नीति द्वारा हमारे देश में कम मूल्य पर वस्तुएँ बेचने का प्रयास करता है तो अवमूल्यन के द्वारा देश की जनता को ऐसे देश की वस्तुएँ खरीदने से हतोत्साहित किया जा सकता है।

5. **विदेशी निवेशकर्ताओं को पूंजी निवेश हेतु प्रोत्साहित करना**—यह भी तर्क दिया जाता है कि डालर के अर्घ में वृद्धि करने (अर्थात् रुपये का अवमूल्यन करने) के फलस्वरूप विदेशी निर्यातकर्ताओं को भारत में पूँजी लगाने की प्रेरणा मिलती है। इसके फलस्वरूप अवमूल्यन करने वाले देश में विदेशी पूँजी लगाने की प्रेरणा मिलती है। इसके फलस्वरूप अवमूल्यन करने वाले देश में विदेशी पूँजी की क्रय-शक्ति में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार कुल मिलाकर अवमूल्यन का प्रयोजन देश की भुगतान-सन्तुलन की स्थिति में सुधार करना है।

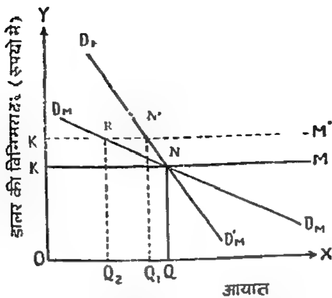
अवमूल्यन की सफलता की शर्तें
[CONDITIONS FOR THE SUCCESS OF DEVALUATION]

किसी भी मुद्रा का अवमूल्यन किस सीमा तक आयातों पर अंकुश लगाने, निर्यातों को प्रोत्साहन देने तथा पूंजी के विनियोग हेतु सहायक हो पाता है यह इस पर निर्भर करता है कि निम्न शर्तों की अनुपालना किस प्रकार होती है.

(1) **आयातित वस्तुओं की माँग अत्यधिक लोचदार होनी चाहिए**—यदि अवमूल्यन के फलस्वरूप आयातित वस्तुओं की माँग में आनुपातिक कमी नहीं होती तो कुल आयात-बिल बढ़ जायगा। दूसरे शब्दों में, अवमूल्यन के फलस्वरूप देश के आयात तभी कम होंगे जब आयातित वस्तुओं की माँग अत्यधिक लोचदार हो। रुपये का आन्तरिक मूल्य कम होने अथवा डालर के मूल्य में वृद्धि के साथ-साथ आयातित वस्तुओं की माँग में अनुपात से अधिक कटौती होने पर ही अवमूल्यन सफल माना जायगा।

यह मानते हुए कि आयातों की पूर्ति पूर्ण लोचदार है, रेखाचित्र 22·1 के माध्यम से उपर्युक्त तर्क की पुष्टि की जा सकती है।

रेखाचित्र 22·2 के अनुसार प्रारम्भिक विनिमय-दर OK (भारतीय रुपये में डालर का मूल्य) पर आयात की मात्रा OQ है। ऐसी दशा में आयातों का कुल मूल्य $OKNQ$ रुपये है। अब मान लीजिए, डालर की रुपयों के रूप में विनिमय-दर OK से बढ़कर OK' कर दी जाती है। चूँकि अब आयातकर्ता को प्रति डालर आयात हेतु अधिक रुपये चुकाने होते हैं, इस अवमूल्यन के फलस्वरूप वह कम मात्रा में वस्तुओं का आयात करेगा। यदि आयातित वस्तु की माँग बेलोच है ($\eta_m < 1$) तो $D'_m D'_m$ के अनुसार विनिमय-दर OK' हो जाने पर आयात की मात्रा OQ में

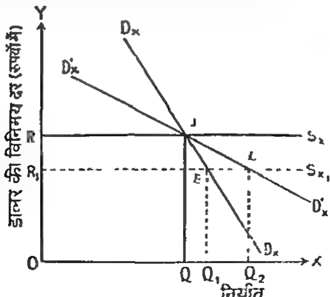


रेखाचित्र 22 2—अवमूल्यन का आयात बिल पर प्रभाव

घटकर OQ_1 ही रहेगी। एमी स्थिति मे आयात-विल (रुपयो म) पूर्वापेक्षा अधिक होगा ($OKNQ < QK'N'Q_1$) तथा अवमूल्यन का उद्देश्य पूर्ण नही हो पायेगा। यदि इसके विपरीत आयातों की माँग अत्यधिक लोचदार है ($\eta_m < 1$) अर्थात माँग-वक्र D_mD_m है तो नयी विनिमय-दर OK' पर आयातो की मात्रा OQ से घटकर OQ_2 हो जायगी और पूर्वापेक्षा आयात-बिल भी कम होगा ($OKNQ < OK'RQ_2$)। इस प्रकार अवमूल्यन के फलस्वरूप आयातो मे पर्याप्त कटौती केवल उसी दिशा मे सम्भव होगी जबकि आयातित वस्तुओ की माँग काफी लोचदार हो।

(2) अन्य देशों मे निर्यातित वस्तुओं की माँग भी अत्यधिक लोचदार होनी चाहिए ($\eta_x > 1$)—अवमूल्यन देश की प्रतिकूल भुगतान-बाकी को ठीक करने मे तभी सहायक हो सकता है जबकि हमारी निर्यातित वस्तुओ की माँग-लोच इकाई से अधिक हो।

रेखाचित्र 22 3 प्रचलित विनिमय-दर OR पर देश से OQ मात्रा मे वस्तुओ का निर्यात



रेखाचित्र 22 3—अवमूल्यन का निर्यातों पर प्रभाव

किया जाता था तथा उस स्थिति में देश के निर्यातकों को निर्यातों से कुल $ORJQ$ रुपये की आय प्राप्त होती थी। विनिमय-दर OR_1 किये जाने पर निर्यात में वृद्धि होना स्वाभाविक है। परन्तु निर्यात में कितनी वृद्धि होगी यह इस पर निर्भर करता है कि निर्यातित वस्तुओं की पूर्ति कितनी लोचदार है। यहाँ ऐसा मान लिया गया है कि निर्यातित वस्तुओं की पूर्ति पूर्ण लोचदार है। यदि माँग-वक्र D_2D_2 है तो विनिमय-दर OR_1 हो जाने पर निर्यात OQ से बढ़कर OQ_1 होंगे। ऐसी स्थिति में निर्यात से प्राप्त कुल आय (विदेशी विनिमय की प्राप्ति) पूर्वापेक्षा कम हो जायगी ($ORJQ > OR_1EQ_1$), परन्तु यदि निर्यात की माँग काफी लोचदार है (माँग-वक्र $D_2'D_2'$ हो) तो विनिमय-दर OR_1 होने पर निर्यात की माँग OQ से बढ़कर OQ_2 हो जायगी। ऐसी स्थिति में निर्यातों से प्राप्त आय भी पूर्वापेक्षा (अवमूल्यन से पूर्व प्राप्त आय की अपेक्षा) अधिक होगी ($ORJQ > OK_1LQ_1$) अस्तु, अवमूल्यन का लाभ देश को तभी होगा जबकि निर्यातित वस्तुओं की माँग काफी लोचदार हो।

(3) अवमूल्यन के साथ साथ देश में आन्तरिक मूल्य अपरिवर्तित रहें—यह ठीक है कि अवमूल्यन के फलस्वरूप आयातकर्ता को आयातित वस्तुओं का मूल्य अधिक देना होता है। यदि निर्यात की जाने वाली वस्तुओं का निर्माण मूलतः आयातित कच्चे माल द्वारा होता हो तो निर्यात योग्य वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होना स्वाभाविक है। इस प्रकार यदि अवमूल्यन के फलस्वरूप उत्पादन-लागत व मूल्यों में वृद्धि हो जाय तो इसके वांछित परिणाम नहीं निकल पायेंगे। इसीलिए यह कहा जाता है कि अवमूल्यन के पश्चात् भी वस्तुओं के आन्तरिक मूल्य अपरिवर्तित रहने पर ही निर्यातों में अपेक्षित वृद्धि होगी।

(4) निर्यातित वस्तुओं की पूर्ति पर्याप्त होनी चाहिए—अवमूल्यन के पश्चात् निर्यातों में अपेक्षित वृद्धि तभी सम्भव है जब देश में वस्तुओं का पर्याप्त उत्पादन हो तथा आन्तरिक माँग की पूर्ति करने के पश्चात् पर्याप्त निर्यात योग्य अतिरेक (surplus) उपलब्ध हो। देश के भीतर वस्तुओं के उपभोग में कटौती करके अधिक समय तक निर्यात की वृद्धि को स्थिर नहीं रखा जा सकता।

(5) अन्य देश अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन न करें—यह भी आवश्यक है कि अन्य देश हमारे साथ-साथ अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन न करें। यदि हमारे व्यापारिक भागीदार देश भी अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन कर देते हैं तो हमारे निर्यातों में अपेक्षित वृद्धि सम्भव नहीं होगी। ऐसी स्पर्द्धाशील अवमूल्यन की नीति को जॉर्ज एन हाम ने अत्यन्त खतरनाक 'मेरा पड़ौसी भिखारी बन जाये" नीति की संज्ञा दी है, तथा स्पष्ट किया है कि ऐसी नीति से किसी भी देश को लाभ नहीं हो सकता।[1]

(6) आयातित वस्तुओं का प्रतिस्थापन सम्भव होना चाहिए—कुल आयात-बिल में अवमूल्यन के पश्चात् वृद्धि न हो, उसके लिए यह जरूरी है कि देश में ही ऐसी वस्तुओं के उत्पादन हेतु प्रयास किये जायें जिनका हम भारी मात्रा में आयात करते रहे हैं। आयात-प्रतिस्थापन जितनी अधिक वस्तुओं का किया जायगा, उतना भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता में कमी करना सम्भव होगा। इसी प्रकार, निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की माँग पर आन्तरिक उपभोक्ताओं की माँग का दबाव न बढ़े इसके लिए इन वस्तुओं की प्रतिस्थानापन्न वस्तुओं का भी उत्पादन बढ़ाना उपयुक्त होगा।

(7) अवमूल्यन मुद्रा-स्फीति-काल में नहीं किया जाय—यदि देश में मुद्रा-स्फीति विद्यमान हो तो अन्य परिस्थितियाँ अनुकूल होने पर भी अवमूल्यन से वांछित परिणाम प्राप्त नहीं होंगे। देश की जनता को ऐसी स्थिति में यही आशंका रहती है कि वस्तुओं के मूल्यों में और अधिक वृद्धि होगी और इस कारण लोगों में संचय की प्रवृत्ति (hoarding) अधिक हो जाती है तथा निर्यात योग्य अतिरेक कम हो जाता है।

(8) देश की अर्थ-व्यवस्था में विदेशी व्यापार तथा पूंजी का पर्याप्त महत्व होना चाहिए—अवमूल्यन का लाभ उस देश को अपेक्षाकृत अधिक मिलता है जिसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

---

1 George N. Halm, *Monetary Theory*, p 250.

तथा/अथवा विदेशी पूँजी के निवेश का पर्याप्त महत्व हो, चाहे अन्तर्राष्ट्रीय निर्यातों या आयातों में इस देश के निर्यात या आयात का अनुपात बहुत ही कम हो।

उपर्युक्त सभी शर्तों की पूर्ति होने पर ही अवमूल्यन का वांछित लाभ देश को प्राप्त हो सकेगा तथा भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता में कमी हो सकेगी। जैसा कि आगे बताया गया है, भारतीय रुपये के अवमूल्यन (जुलाई 1966) के समय ये सभी बातें अनुकूल नहीं थीं और इसी कारण अवमूल्यन के पश्चात् भी हमारे व्यापार-सन्तुलन की ऋणात्मक बाकी में वृद्धि होती गयी।

भारतीय रुपये का अवमूल्यन
[DEVALUATION OF INDIAN RUPEE]

जैसा कि ऊपर बताया गया है सामान्यतः किसी भी देश की सरकार यह स्वीकार करने को तैयार नहीं होती कि देश की मुद्रा का वास्तविक अर्घ घोषित स्तर से कम है। यही कारण है कि मुद्रा का उच्च अर्घ बनाये रखा जाता है, यद्यपि इससे देश को आर्थिक क्षति ही क्यों न होती हो।

विश्व के लगभग सभी देशों में द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक स्वर्णमान का परित्याग किया जा चुका था। स्वर्णमान के परित्याग से पूर्व इंगलैण्ड में 1929 में एक कमेटी का गठन किया गया था जिसे मैकमिलन कमेटी या वित्त एवं व्यापार कमेटी कहा जाता है। इस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में स्पष्ट किया कि आकस्मिक रूप से मुद्रा के मूल्य में कमी करना एक अनुचित कार्य है। कमेटी ने यह आशंका व्यक्त की कि ऐसे कदम उठाने पर देश की मुद्रा की प्रतिष्ठा पर प्रतिकूल प्रभाव होगा।

द्वितीय महायुद्ध काल में अधिकांश देशों ने विनिमय प्रतिबन्धों तथा नियन्त्रित व्यापार नीतियों का आश्रय लिया था। महायुद्ध काल में इंगलैण्ड पर ऋण का भार बहुत अधिक बढ़ गया था क्योंकि उसके आयातों की मात्रा इस अवधि में निर्यातों की तुलना में काफी बढ़ गयी थी। महायुद्ध के कुछ समय बाद इसी कारण इंगलैण्ड ने 18 सितम्बर, 1949 को पौण्ड स्टर्लिंग का 30.5% अवमूल्यन कर दिया। चूँकि भारतीय रुपया पौण्ड स्टर्लिंग से सम्बद्ध था, अतः भारत ने भी 20 सितम्बर, 1949 को रुपये का 30.5% अवमूल्यन कर दिया। यह उल्लेखनीय है कि द्वितीय महायुद्ध-काल में अमरीकी डालर सर्वाधिक शक्तिशाली मुद्रा के रूप में प्रकट हो चुकी थी और इसीलिए पौण्ड स्टर्लिंग का अवमूल्यन डालर के सन्दर्भ में ही किया गया।

भारतीय रुपये का अवमूल्यन इसलिए करना आवश्यक समझा गया था कि भारत अपने निर्यातों के लिए मुख्य रूप से इंगलैण्ड पर ही निर्भर था, तथा इंगलैण्ड द्वारा पौण्ड स्टर्लिंग का अवमूल्यन करने के बाद भारत ने निर्यातों का स्तर बनाये रखने के लिए रुपये का अवमूल्यन करना आवश्यक था। इसके साथ ही, सरकार यह भी चाहती थी कि मूल्यों में कोई वृद्धि न हो तथा कृषि एवं औद्योगिक क्षेत्रों में उत्पादन में वृद्धि हो। रुपये के अवमूल्यन की पृष्ठभूमि में निहित उद्देश्यों की पूर्ति करने हेतु भारत सरकार ने एक आठ सूत्री कार्यक्रम की भी घोषणा की। इस कार्यक्रम की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित थीं :

(1) व्यापार-नीति में इस प्रकार संशोधन किये गये कि आयातों में पर्याप्त कटौती की जा सके तथा न्यूनतम विदेशी विनिमय की आवश्यकता पड़े।

(2) अवमूल्यन के प्रथम वर्ष में मुद्रा-स्फीति पर रोक लगाने हेतु सरकारी व्यय में 40 करोड़ रुपये तथा द्वितीय वर्ष में 80 करोड़ रुपये की कटौती का प्रस्ताव रखा गया।

(3) देश में उत्पादित वस्तुओं (निर्मित वस्तुओं सहित) के मूल्यों में 10% कमी करने का लक्ष्य रखा गया।

(4) देश की अन्य देशों के साथ मोल-भाव करने की शक्ति बढ़ाने का संकल्प किया गया ताकि आयातित औद्योगिक कच्चे माल को कम मूल्य पर प्राप्त किया जा सके।

(5) देश में प्रचलित मुद्रा की मात्रा एवं मूल्य-स्तर में कमी करने हेतु बचत अभियान को प्रोत्साहन देने का निर्णय लिया गया।

(6) युद्ध-काल में अर्जित लाभों पर देय करों को स्वेच्छा से चुकाने वालों को कुछ सुविधाओं की घोषणा की गयी।

(7) कठोर मुद्रा वाले देशों को निर्यात की जाने वाली वस्तुओं पर प्रशुल्क लागू करने की घोषणा की गयी।

सट्टेबाजी एवं अन्य प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने हेतु वैधानिक एवं अन्य उपायों की घोषणा की गयी।

परन्तु अवमूल्यन के वांछित परिणाम भारतीय अर्थ-व्यवस्था को प्राप्त नहीं हो सके। भारत ने तो रुपये का अवमूल्यन कर दिया परन्तु पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करना अस्वीकार कर दिया और परिणामस्वरूप वहाँ से प्राप्त जूट व लम्बे रेशे वाली कपास का हमें अत्यधिक मूल्य देना पड़ा। इसी प्रकार खाद्यान्न, आवश्यक कच्चे माल व अन्य अनेक वस्तुओं के आयात में कटौती करना सम्भव नहीं था। इसके फलस्वरूप यूरोप व अमरीका से प्राप्त वस्तुओं का आयात बिल काफी अधिक बढ़ गया। इसके अतिरिक्त हमारे निर्यातों में भी अपेक्षित वृद्धि नहीं हो सकी क्योंकि भारतीय वस्तुओं में कृषि-जन्य एवं अन्य प्राथमिक वस्तुओं (खनिज आदि) का ही मूलतः निर्यात किया जाता था जिन सभी की माँग अधिक लोचदार नहीं थी। देश के अनेक अर्थशास्त्रियों ने अवमूल्यन के कुछ ही महीनों बाद यह माँग प्रारम्भ कर दी कि भारत को इंगलैण्ड के साथ बँधे न रह कर रुपये का पुनर्मूल्यन (revaluation) कर देना चाहिए।

परन्तु 1951 में कोरिया-युद्ध प्रारम्भ हो गया तथा भारतीय वस्तुओं के निर्यात में तीव्रता से वृद्धि हुई। कुछ समय के लिए विदेशी विनिमय संकट टल गया। परन्तु जैसा कि स्पष्ट है, हमारे निर्यातों में वृद्धि अवमूल्यन के कारण नहीं अपितु कोरिया-युद्ध के कारण हुई थी तथा युद्ध के बाद पुनः व्यापार-सन्तुलन की ऋणात्मक बाकी काफी बढ़ गयी।

इसी बीच भारतीय अर्थ-व्यवस्था के नियोजित विकास हेतु पंचवर्षीय योजना की कार्यान्विति प्रारम्भ हो गयी तथा औद्योगिक विकास हेतु हमारी आयात सम्बन्धी आवश्यकताओं में वृद्धि हो गयी उधर देश में खाद्यान्नों का उत्पादन अनिश्चित होने के कारण इनका भी भारी मात्रा में आयात किया जा रहा था। दूसरी ओर, अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा व अन्य कारणों से हमारे निर्यातों में अपेक्षित वृद्धि नहीं हो पा रही थी। ऐसा अनुभव किया जाने लगा कि भारतीय रुपये का अर्घ इसके साम्य अथवा वास्तविक स्तर से ऊँचा होने के कारण देश के निर्यातों में वृद्धि नहीं हो पा रही थी। इन्हीं बातों को देखते हुए 5 जून, 1966 को भारत सरकार ने रुपये का दूसरी बार अवमूल्यन किया।

जहाँ सितम्बर 1949 में घोषित अवमूल्यन पौण्ड स्टर्लिंग के अवमूल्यन के कारण किया गया था, जून 1966 में भारत सरकार ने देश के भुगतान-सन्तुलन को ठीक करने हेतु स्वयमेव ही रुपये का अवमूल्यन किया, तदनुसार, स्वर्ण के रूप में रुपये का अर्घ 0·186621 ग्राम से घटाकर 2·118489 ग्राम कर दिया गया। डालर के रूप में भारतीय रुपये की विनिमय-दर $1 = 4·76 रुपये से बदलकर $1 = 7·50 रुपये कर दी गयी। इसी प्रकार, पौण्ड स्टर्लिंग के साथ भारत की विनिमय-दर £1 = 13·33 रुपये से बदलकर £1 = 21 रुपये एवं रूबल के साथ विनिमय-दर R1 = 5·21 रुपये से बदलकर R1 = 8·33 रुपये कर दी गयी। संक्षेप में, रुपये का अवमूल्यन विदेशी मुद्राओं व स्वर्ण के रूप में 36·5% के अनुपात में किया गया था जबकि विदेशी मुद्राओं का भारतीय रुपये के रूप में मूल्य 57·5% बढ़ गया ($1 = 4·76 रुपये से बदलकर $1 = 7·50 रुपये हो गया था)।

नवम्बर 1967 में इंगलैण्ड ने भी पौण्ड स्टर्लिंग का 14·3% अवमूल्यन कर दिया। इससे इंगलैण्ड के मुकाबले भारतीय मुद्रा की विनिमय-दर में कुछ सुधार हुआ परन्तु इससे भारतीय रुपये एवं डालर के बीच विनिमय-दर में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। वस्तुतः 1966 में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के पीछे निम्न उद्देश्य बताये गये थे :

(अ) भारतीय रुपये की विनिमय-दर वास्तविक या साम्य-स्तर के समीप लाना, जिससे डालर की कालाबाजारी को रोकना सम्भव था।

(ब) निर्यातों मे वृद्धि करना।

(स) आयातो पर अकुश लगाना, तथा

(द) आयात प्रतिस्थापन आदि उपायो द्वारा देश मे उत्पादन के स्तर म वृद्धि करना।

वस्तुत रुपय का अवमूल्यन पहले ही हो चुका था यद्यपि इसे भारत सरकार ने औपचारिक रूप से जून 1966 मे ही स्वीकार किया। एमी आशा व्यक्त की गयी थी कि अवमूल्यन के फलस्वरूप आयातो म काफी कटौती करना एव निर्यातो म पर्याप्त वृद्धि करना सम्भव होगा। आयात-प्रतिस्थापन की नीति को प्रोत्साहन दने हेतु सरकार ने 59 प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चे माल तथा साज-सज्जा (material) के आयात की छूट प्रदान की। इनमें वे उद्योग भी सम्मिलित थे जो निर्यात हेतु वस्तुओ के उत्पादन म सलग्न थे। अनेक आवश्यक वस्तुओ पर प्रशुल्क-दरें कम कर दी गयी जबकि अनावश्यक तथा विलासिता की वस्तुओं के आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये अथवा उन पर प्रशुल्क की दरें काफी बढा दी गयी।

अगले अध्याय म हमने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि पिछले कुछ वर्षों में भारत के निर्याता मे आशातीत वृद्धि हुई है। 1974-75 के वर्ष म भारत के निर्यात 3 200 करोड रुपयो के थे। परन्तु इसके साथ ही हमारे आयातों म भी पिछले वर्षो में काफी तीव्र-गति म वृद्धि हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि 1966 का रुपये का अवमूल्यन प्रत्यक्षत हमारे निर्यातों व आयातो को प्रभावित नही कर पाया है। **इसकी अपेक्षा हमारी सरकार की निर्यात-सवर्द्धन की नीति तथा इजीनियरिंग एव अन्य उद्योगों के क्षेत्र मे स्थापित अनेक कीर्तिमान भारतीय वस्तुओं के निर्यात बढ़ाने मे अधिक सहायक हुए हैं। भारत के परम्परागत निर्यातों एव आयातों की माँग बेलोच होने के कारण अवमूल्यन का इनकी मात्रा पर बहुत अधिक प्रभाव होने की आशा करना भी उपयुक्त नहीं है।** हमारे देश की कृषि आज भी प्रकृति की अनुकम्पा पर निर्भर है और इसी कारण खाद्यान्नो व कपास आदि का आयात तथा शक्कर खली, गम मसालों, चाय व जूट की वस्तुओं का निर्यात विदेशी विनिमय-दर की अपेक्षा इन वस्तुओं के उत्पादन पर कहीं अधिक निर्भर है। जैसा कि स्पष्ट है इन वस्तुओ का उत्पादन मानसून पर काफी सीमा तक निर्भर है। सूती वस्त्र, जूट की वस्तुओ तथा चाय के निर्यात भारतीय रुपये की विनिमय दर पर नही अपितु अन्य देशो से प्रतियोगिता तथा कृत्रिम वस्तुओं (synthetics) की उपलब्धि पर अधिक निर्भर करते हैं। उधर आयात के क्षेत्र मे आज भी भारत कच्चे माल, अनेक प्रकार के खनिज, पैट्रोलियम पदार्थ व मशीनों के आयात के क्षेत्र म कमी नही कर सकता क्योकि ऐसा करने पर हमारे औद्योगिक विकास की गति अवरुद्ध हो जायगी। इन्ही सब कारणों से *1965* का रुपये का अवमूल्यन वांछित परिणाम लाने मे सहायक नही हो सका।

परन्तु अवमूल्यन कोई रामबाण औषधि नही है जिससे अर्थ-व्यवस्था की बुराइयों को दूर किया जा सके। अवमूल्यन के साथ ही यह भी आवश्यक है कि देश के उद्योग व कृषि की दक्षता मे वृद्धि करने के समस्त प्रयास किय जायें। *जैसा कि हम आगामी अध्याय मे देखेंगे कि* यह दक्षता मे वृद्धि का ही परिणाम है कि हमारी इन्जीनियरिंग वस्तुओ का निर्यात आज लगभग 650 करोड रुपये का है तथा 1978-79 तक 1000 करोड रुपये तक पहुँचने की आशा है। दूसरी ओर दक्षता म ह्रास के कारण ही सूती वस्त्र, जूट एव अन्य उद्योगों में निर्मित वस्तुओं के निर्यात नही बढ पा रहे हैं।

पिछले दो वर्षों मे भारत के विदेशी मुद्राओ के कोष मे वृद्धि हुई है तथा भुगतान-सन्तुलन मे पर्याप्त सुधार होने के फलस्वरूप भारतीय रुपये की विनिमय-दर पर भी अनुकूल प्रभाव हुए हैं। 1971-1975 के बीच पाउण्ड स्टर्लिंग की विनिमय-दर खुले बाजार मे 30 प्रतिशत कम हो गयी। इस स्थिति मे भारत सरकार ने यही उचित समझा कि भारतीय रुपये का पाउण्ड स्टर्लिंग से सम्बन्ध-विच्छेद करना ही श्रेयस्कर होगा। अत सितम्बर 1975 में रुपये का सम्बन्ध स्टर्लिंग से विच्छेद करके नौ महत्वपूर्ण मुद्राओ से सम्बद्ध कर दिया गया। यह भी उल्लेखनीय है कि डालर की स्थिति भी आज उतनी दृढ नही है जो पाँच वर्ष पूर्व तक थी। दिसम्बर 1971 से फरवरी 1973 के बीच दो बार डालर का अवमूल्यन किया गया। इन बदली हुई परिस्थितियों में अगले कुछ वर्षो तक भारतीय रुपये का अवमूल्यन होने की सम्भावना नही है।

अवमूल्यन का घरेलू आय, मूल्यों तथा साधनों के आवंटन पर प्रभाव[1]

किसी देश की मुद्रा का अवमूल्यन आयातों में कमी तथा निर्यातों में वृद्धि के माध्यम से उस देश के व्यापार-सन्तुलन को प्रत्यक्षत: प्रभावित करता है। परन्तु दीर्घकाल में इसका प्रभाव उत्पादन तथा रोजगार पर भी होता है। विशेष: रूप से उन उद्योगों पर इसका प्रभाव अवश्य होता है जो निर्यात हेतु अथवा आयात प्रतिस्थापन हेतु वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। यह जानते हुए कि विदेशी व्यापार गुणक $K_t = \frac{1}{MPS+MPM}$ है (इनमें K_t विदेशी व्यापार गुणक है जबकि MPS एवं MPM क्रमश: सीमान्त बचत एवं सीमान्त प्रवृत्तियाँ हैं) हम सरलतापूर्वक व्यापार सन्तुलन में अवमूल्यन के कारण हुए परिवर्तन के द्वारा राष्ट्रीय आय में हुए परिवर्तन को माप सकते हैं। इसकी एक सरल विधि इस प्रकार है :

$$\triangle Y = \left(\triangle X - \triangle M \right) \frac{1}{MPS+MPM} \qquad (20)$$

उपर्युक्त समीकरण में $\triangle Y$ आय के परिवर्तन को तथा $\triangle X - \triangle M$ व्यापार की बाकी में हुए परिवर्तन को व्यक्त करते हैं जबकि $\frac{1}{MPS+MPM}$ व्यापार गुणक का प्रतीक है। जैसा कि अपेक्षित है, अवमूल्यन के फलस्वरूप निर्यातों में वृद्धि तथा आयातों में कमी होगी जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी। राष्ट्रीय आय में कितनी वृद्धि होगी, यह काफी सीमा तक गुणक के मूल्य पर निर्भर करेगा। अर्थात् राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने के कारण रोजगार के स्तर में भी वृद्धि होगी।

परन्तु विदेशी मुद्रा के अर्घ में वृद्धि या स्वदेशी मुद्रा के अवमूल्यन के फलस्वरूप यह भी सम्भव है कि किसी सीमा तक घरेलू मूल्य स्तर में भी वृद्धि हो जाय। चूँकि अनेक आयातित वस्तुओं के द्वारा हम औद्योगिक वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, अवमूल्यन के कारण आयात जब मँहगे होंगे तो ये औद्योगिक वस्तुएँ भी मँहगी हो जायेंगी। दूसरी ओर, यदि खाद्यान्नों का आयात किया जाता है तो आयातित खाद्यान्नों की बढ़ी हुई कीमतों के फलस्वरूप मजदूरों की मजदूरी में वृद्धि करना भी आवश्यक होगा तथा इससे उत्पादन लागतों में वृद्धि होगी।

अवमूल्यन के फलस्वरूप उत्पादन लागतों तथा मूल्य की यह वृद्धि दो बातों पर निर्भर करेगी : (1) वस्तुओं के उत्पादन में आयातित वस्तुओं का अनुपात, तथा (2) अवमूल्यन करने वाले देश में सरकार की मूल्यों को नियन्त्रित करने की नीति। यह याद रखना चाहिए कि अवमूल्यन के पश्चात् यदि सरकार अत्यन्त कठोर मूल्य नीति अपनाती है तो इससे आयातित वस्तुओं अर्थात् उन पर आधारित वस्तुओं की कालाबाजारी आरम्भ हो जायेगी।

कुछ भी हो, यदि देश अपनी वस्तुओं के उत्पादन में पर्याप्त आयातित वस्तुओं का उपयोग करता है तो इनके मूल्यों में वृद्धि होने पर निर्यातित वस्तुओं के मूल्यों में भी वृद्धि हो जायगी तथा अवमूल्यन का निर्यात आय पर होने वाले प्रभाव की अनुकूलता कम हो जायगी। इसके लिए सरकार को सजग एवं प्रभावपूर्ण नीति अपनानी होगी।

जहाँ अवमूल्यन का मूल्य-स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव हो सकता है वहीं साधनों के आवंटन पर इसके प्रभाव काफी अनुकूल होते हैं। इसके फलस्वरूप निर्यात हेतु वस्तुएँ बनाने वाले तथा आयात प्रतिस्थापन वाले उद्योगों में साधनों का अधिक आवंटन होगा। यह उल्लेखनीय है कि अवमूल्यन के फलस्वरूप मूल्य-वृद्धि अपेक्षाकृत उन्हीं क्षेत्रों में अधिक होती है जहाँ निर्यात योग्य या आयात प्रतिस्थापन हेतु वस्तुओं का उत्पादन होता है। इन उद्योगों में साधनों का अधिक आवंटन होने के साथ ही इन उद्योगों को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में स्पर्धाशील बनाने हेतु इनकी दक्षता में वृद्धि करने का प्रयास किया जायेगा और इसका भी देश की अर्थव्यवस्था पर कुल मिलाकर अनुकूल प्रभाव ही होगा।

---

1 M. E. Kreinin *International Economics : A Policy Approach*, The Harbrace Series Business & Economics (1971), pp. 101-104.

प्रश्न और उनके उत्तर-संकेत

1. अवमूल्यन के प्रमुख उद्देश्य बताइए। किसी देश के व्यापार-सन्तुलन में सुधार हेतु अवमूल्यन किन शर्तों के अन्तर्गत लाभप्रद हो सकता है ?

Discuss the principal objectives of devaluation Under what conditions can devaluation bring about an improvement in the balance of trade of a country ?

[संकेत—इस अध्याय में प्रस्तुत सामग्री के आधार पर अवमूल्यन के प्रमुख उद्देश्य बताइए। उत्तर के द्वितीय भाग में अवमूल्यन की शर्तें बताइए। इन शर्तों के विवरण हेतु समुचित उदाहरण देना श्रेयस्कर रहेगा।]

2 स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय रुपये का दो बार किन उद्देश्यों को लेकर अवमूल्यन किया गया ? यह बताइए कि रुपये के अवमूल्यन से इन उद्देश्यों की प्राप्ति में कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है ?

With what objectives was the Indian rupee devalued twice during the post independence era ? Explain the extent to which devaluation has helped in the attainment of these objectives ?

[संकेत—भारतीय रुपये का 1949 तथा 1966 में दो बार अवमूल्यन किया गया। दोनों बार अवमूल्यन करते समय कुछ उद्देश्य समान थे तो कुछ उद्देश्यों में अन्तर था। 1949 में अवमूल्यन का निर्णय मूलतः इसलिए किया गया कि भारतीय रुपया ब्रिटिश पौण्ड से सम्बद्ध था तथा पौण्ड स्टर्लिंग के अवमूल्यन के बाद रुपये का अवमूल्यन भी जरूरी था। 1966 में अवमूल्यन करने का प्रयोजन देश की भुगतान-सन्तुलन स्थिति में सुधार करना था। परन्तु संक्षेप में फिर यह बताइए कि अवमूल्यन से भुगतान-सन्तुलन में सुधार हेतु कुछ शर्तों का अनुकूल होना आवश्यक है। ये शर्तें भारतीय अर्थ-व्यवस्था के सन्दर्भ में अनुकूल नहीं थी और इसी कारण भारत के निर्यातों में अपेक्षित वृद्धि तथा आयातों पर अपेक्षित नियन्त्रण सम्भव नहीं हो सका। प्रश्न के द्वितीय भाग के उत्तर में बताइए कि भारतीय निर्यातों में अपेक्षित वृद्धि तथा आयातों में अपेक्षित कमी क्योंकर सम्भव नहीं हो सकी तथा भारतीय रुपये का वास्तविक अर्घ उत्तरोत्तर गिरता जा रहा है।]

3 उन घटकों का विवरण दीजिए जिनके कारण हाल के वर्षों में विश्व की प्रमुख मुद्राओं का अवमूल्यन किया गया है।

List the factors that have motivated the devaluation of the major world currencies in recent years.

[संकेत—पिछले एक दशक में पौण्ड स्टर्लिंग व डालर आदि विश्व की प्रमुख मुद्राओं का अवमूल्यन किया गया है। डालर का तो अल्प अवधि में दो बार अवमूल्यन किया गया। वस्तुतः वियतनाम युद्ध तथा अमरीकी सैन्य सहायता के कार्यक्रमों के अन्तर्गत अमरीका के बाहर पर्याप्त डालर व्यय किये गये और फलस्वरूप डालर का भारी मात्रा में जमाव हो गया। अमरीकी डालर की माँग की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में इसकी पूर्ति बहुत अधिक हो जाने के कारण इसकी प्रतिष्ठा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। इंगलैण्ड का भुगतान-सन्तुलन भी अमरीका की भाँति पिछले 10-12 वर्षों में प्रतिकूल है। फलस्वरूप विश्व के इन दो बड़े देशों ने अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन करके स्थिति में सुधार करने का यत्न किया है। प्रश्न के उत्तर में उन सभी कारणों का उल्लेख कीजिए जिन्होंने अमरीका व इंगलैण्ड को अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन करने को बाध्य किया। संक्षेप में, डालर व पौण्ड स्टर्लिंग के अवमूल्यन के सम्भावित परिणामों का भी उल्लेख कीजिए।]

23

भारत का विदेशी व्यापार[1]

[INDIA'S FOREIGN TRADE]

विदेशी व्यापार की आवश्यकता—भारत एक विशाल देश है, जहाँ विविध प्रकार की मिट्टियाँ, जलवायु एवं अन्य प्राकृतिक साधन विद्यमान हैं। प्रत्येक प्रदेश उपलब्ध प्राकृतिक साधनों तथा जलवायु के अनुरूप विशिष्ट प्रकार की वस्तु या वस्तुओं का उत्पादन करता है। उदाहरण के लिए, बंगाल में जूट व चावल का उत्पादन अधिक किया जाता है, तो हरियाणा व पंजाब में गेहूँ के उत्पादन को प्राथमिकता दी जाती है। आन्ध्र प्रदेश में यदि तम्बाकू का उत्पादन अधिक किया जाता है, तो उत्तर प्रदेश में गन्ने का तथा केरल में काली मिर्च, नारियल एवं काजू का। बिहार व राजस्थान में अभ्रक बहुतायत में पाया जाता है, तो उड़ीसा में लोह-धातु। इसी प्रकार, सूती वस्त्रों के उत्पादन में गुजरात व महाराष्ट्र ने विशिष्टता प्राप्त की है जबकि ऊनी होजरी में पंजाब ने तथा जूट की वस्तुओं में पश्चिमी बंगाल ने। चाय का उत्पादन आसाम, बंगाल व नीलगिरि प्रदेशों की विशेषता है, तो खाद्य तेलों में गुजरात की। इस प्रकार देश के प्रत्येक प्रदेश में उपलब्ध खनिज पदार्थों, मिट्टियों व जलवायु के अनुरूप वहाँ विविध प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन अपेक्षाकृत अधिक दक्षतापूर्ण किया जा सकता है। इसी विशिष्टीकरण (specialization) के कारण इन वस्तुओं की उत्पादन-लागत न्यूनतम की जा सकती है।

विशिष्टीकरण के साथ-साथ यह भी आवश्यक हो जाता है कि विभिन्न प्रदेशों में परस्पर व्यापार के माध्यम से इन वस्तुओं का आदान-प्रदान या व्यापार हो ताकि विशिष्टीकरण के लाभ सन्तुलित रूप से वितरित किये जा सकें। ठीक इसी प्रकार अनेक वस्तुओं का उत्पादन दक्षतापूर्वक भारत में नहीं किया जा सकता और इसलिए हम अपने यहाँ उत्पादित या निर्मित वस्तुओं का निर्यात करके उन वस्तुओं का आयात करते हैं। जैसा कि हम जानते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण से सभी पक्षों को न्यूनतम लागत पर आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध हो जाती हैं। इस दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में पर्याप्त समानता पायी जाती है।

भारत की विदेशी व्यापार स्थिति

[FOREIGN TRADE SITUATION IN INDIA]

भारत हजारों वर्ष पूर्व से ही अन्य देशों से व्यापार करता रहा है। सम्राट अशोक के जमाने में भी भारत से व्यापारिक मिशन पूर्वी एशिया के देशों को जाया करते थे। आगे चलकर यूरोप के देशों से भारत के साथ व्यापार करने की लालसा ने ही पुर्तगाल, हॉलैण्ड, फ्रान्स व इंगलैण्ड के लोगों को भारत आने की प्रेरणा दी। स्वेज नहर के निर्माण ने यूरोपीय देशों के साथ भारत के व्यापार को और भी सुगम बना दिया।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक भारत में दस्तकारी की वस्तुओं, सूती वस्त्र, काली मिर्च आदि का प्रचुर मात्रा में उत्पादन किया जाता था। इनमें से सूती वस्त्रों के उत्पादन हेतु भारत विश्व-विख्यात था तथा यहाँ के बने हुए गुणविपूर्ण वस्त्रों की विश्व भर में माँग थी। अठारहवीं सदी

---

1 इस अध्याय के आँकड़े निम्न स्रोतों से प्राप्त किये गये हैं : (i) *Economic Survey*, 1988-89, (ii) *India* 1987, तथा (iii) Seventh Five Year Plan (1985-90)

न होने के कारण भारत खाद्यान्नों की दृष्टि से आत्म-निर्भर था परन्तु कभी-कभी अकाल की स्थिति जनसाधारण को प्रताडित कर देती थी। यूरोप तब तक आर्थिक दृष्टि से विकसित नहीं था तथा अमरीका तो विश्व के मानचित्र पर उदय भी नहीं हो पाया था। 18वीं शताब्दी के अन्त तक भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की बाकी भारत के अनुकूल रहती थी।

परन्तु 18वीं शताब्दी के मध्य से ही ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में अपने पाँव पसारना प्रारम्भ कर दिया। प्रारम्भ में व्यापार करने के लिए स्थापित इस कम्पनी ने 19वीं शताब्दी के मध्य तक भारत के एक बहुत बड़े भू-भाग पर एवं शताब्दी के अन्त तक प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से लगभग सम्पूर्ण उपमहाद्वीप पर अधिकार कर लिया था। राजनीतिक प्रभाव जमाने के साथ-साथ इंगलैण्ड के शासकों ने भारत के परम्परागत हस्तकला उद्योगों को नष्ट करना प्रारम्भ कर दिया तथा इंगलैण्ड के कारखानों में बनी हुई वस्तुएँ भारत के बाजारों में बिकने लगीं। राज-दरबारों की समाप्ति तथा भारत के सम्पन्न वर्ग में पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप विदेशी वस्तुओं की माँग में और भी वृद्धि हुई। यही नहीं, कपास, जूट, कोयला, लोहा व अन्य खनिजों का भारत से निर्यात किया जाने लगा।

अस्तु 19वीं शताब्दी के मध्य से भारत का विदेशी व्यापार तो बढ़ा लेकिन कुल मिलाकर इस प्रवृत्ति ने भारत को कच्चे माल का निर्यातकर्ता एवं तैयार वस्तुओं का आयातकर्ता बना दिया। हस्तकलाओं के नष्ट हो जाने के फलस्वरूप देश के हजारों लोग बेकार हो गये थे। दूसरी ओर बार-बार पड़ने वाले अकालों के कारण भी जनसाधारण की आर्थिक स्थिति काफी निर्बल हो गयी थी। परिणामस्वरूप देश के लोग प्राकृतिक साधनों के विदोहन हेतु पर्याप्त पूँजी का विनियोग करने में असमर्थ थे।

आधुनिक ढंग पर देश में उद्योगों का प्रारम्भ तो 19वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में हो गया था, परन्तु स्वतन्त्रता के पूर्व तक भारत अपनी अधिकांश महत्वपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आयात पर निर्भर करता था। स्वतन्त्रता के पश्चात् नियोजित आर्थिक विकास के कार्यक्रमों की क्रियान्विति हेतु बड़े संयन्त्रों, अलौह धातुएँ व अन्य महत्वपूर्ण खनिज जो देश में उपलब्ध नहीं हैं, भारी इंजीनियरिंग की वस्तुओं व समय-समय पर अकाल से निपटने के लिए खाद्यान्नों का आयात करना पड़ा। परन्तु स्वतन्त्रता के बाद भी काफी समय तक हमारे निर्यातों में सूती वस्त्र, चाय, जूट की वस्तुओं, लोहा आदि का भी स्थान प्रमुख रहा।

सितम्बर 1949 में भारतीय रुपये का 30 5% अवमूल्यन किया गया। इस निर्णय के पीछे डालर क्षेत्र को हमारे निर्यात बढ़ाने का उद्देश्य निहित था। परन्तु कुल मिलाकर इस अव-मूल्यन का वांछित परिणाम प्राप्त नहीं हो सका। इसके विपरीत हमारी आयात सम्बन्धी आवश्यकताएँ बढ़ती जा रही थीं। परिणाम यह हुआ कि प्रथम पंचवर्षीय योजनाकाल से ही भारत के व्यापार-सन्तुलन की ऋणात्मक बाकी तेजी से बढ़ती जा रही थी। तालिका 23 1 से यह स्थिति स्पष्ट हो जाती है। जैसा कि इस तालिका से स्पष्ट होता है, गत पच्चीस वर्षों में भारत के निर्यात एवं आयात दोनों ही में आशातीत वृद्धि हुई है। फिर भी व्यापार सन्तुलन में आलोच्य अवधि में पर्याप्त उच्चावचन हुए हैं। तालिका 23 1 से यह स्पष्ट है कि 1972-73 एवं 1976-77 को छोड़ कर विगत तीन दशकों में कभी भी भारत की विदेशी व्यापार बाकी अनुकूल नहीं रही। 1976-77 में भारत के आयातों का मूल्य निर्यातों के मूल्य से 27 करोड़ रुपये कम था परन्तु सरकार की अपेक्षाकृत उदार आयात-नीति के कारण 1977-78 में आयात में लगभग 15 प्रतिशत वृद्धि हो गयी जबकि निर्यातों की वृद्धि केवल 2 8 प्रतिशत ही रही। इसके फलस्वरूप 1977-78 में हमारा विदेशी व्यापार सन्तुलन लगभग 580 करोड़ रुपये से प्रतिकूल हो गया।

तालिका 23 1 से यह स्पष्ट है कि भारत का विदेशी व्यापार घाटा पिछले कुछ वर्षों में काफी अधिक गति से बढ़ा है। परन्तु सकल राष्ट्रीय उत्पाद के अनुपात की दृष्टि से इसमें कमी हुई है। 1980 81 में व्यापार घाटे का यह अनुपात 4 6 प्रतिशत था, परन्तु 1981-82 में घटकर 3 9 प्रतिशत रह गया। 1985-86 में व्यापार घाटे का राष्ट्रीय उत्पाद में अनुपात घटकर 3 7 प्रतिशत रह गया था। पुन 1988-89 में यह घटकर GDP का 2 3% रह गया।

तालिका 23·1

भारत के विदेशी व्यापार-सन्तुलन की प्रवृत्तियाँ (1950-51 से 1984-85[1])

(राशि करोड़ रुपयों में)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापार-सन्तुलन
1950-51	650	601	—49
1955-56	679	596	—83
1960-61	1,140	660	—480
1970-71	1,634	1,535	—99
1974-75	4,519	3,329	—1,190
1976-77	5,074	5,146	+72
1977-78	5 833	5,253	—580
1978-79	7,398	5,555	—1,843
1979-80	9,143	6,418	—2,725
1980-81	12,549	9,711	—5,838
1981-82	13,608	7,806	—5,802
1982-83	*13,356*	*8,908*	*—5,448*
1983-84	16,763	9,872	—5,891
1984-85	16,485	11 297	—5,188
1985-86	19,657	10,895	— 8,762
1986-87	20,201	12,452	—7,748
1987-88	22 399	15.741	—6 658
1988-89	27,693	20 281	—7,412

कुल मिलाकर छठी योजना के पाँच वर्षों में आयात व निर्यातों के लक्ष्य क्रमशः 58 900 करोड़ रुपये व 41,100 करोड़ रुपये (1979-89 के मूल्यों पर) के थे। परन्तु स्थिर मूल्यों पर कुल आयात व निर्यात 54,000 करोड़ रुपये व 33,000 करोड़ रुपये के हुए। इस प्रकार उक्त योजना की अवधि में 17,800 करोड़ रुपये के अपेक्षित व्यापार घाटे की तुलना में वास्तविक घाटा 21,000 करोड़ रुपये का हुआ।[2] इसका प्रमुख कारण निर्यात के लक्ष्यों का पूरा नहीं होना था।

यह उल्लेखनीय है कि भारत का वार्षिक (औसत) व्यापार घाटा जो आठवें दशक में 800 करोड़ रुपये से भी कम था, विगत चार वर्षों में लगभग 8,762 करोड़ रुपये तक पहुँच गया है।

आयात तथा निर्यात की वृद्धि-दरें

[GROWTH RATES OF IMPORTS AND EXPORTS]

हाल के वर्षों में जहाँ हमारे निर्यातों में पर्याप्त वृद्धि हुई है वहीं आयात में भी वृद्धि हुई है। जैसा कि तालिका 23·1 से स्पष्ट होता है, भारत 1950-51 में कुल मिलाकर 650 करोड़ रुपये के मूल्य की वस्तुएँ आयात करता था, 1960-61 तक आयात 2½ गुने हो गये। 1973-74 में भारत ने लगभग 3,000 करोड़ रुपये की वस्तुओं का आयात किया था। योजना आयोग की चौथी पंचवर्षीय योजना (1969-1974) की अवधि में कुल 9,730 करोड़ रुपये के आयात होने का अनुमान लगाया था। वस्तुतः, इस अवधि में भारत के कुल आयात 10,828 करोड़ रुपये के रहे थे।

जहाँ तक निर्यातों का प्रश्न है नियोजन काल के प्रथम दो दशकों (1951-1971) में उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो सकी थी। इस अवधि में भारत के निर्यात 600 करोड़ रुपये से बढ़कर 1,535 करोड़ रुपये तक ही पहुँच सके। 1971-72 में 1970-71 की अपेक्षा निर्यात में केवल 5 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई थी। परन्तु 1972-73 तथा 1973-74 में निर्यातों की वृद्धि क्रमशः 22·5 प्रतिशत तथा 28·0 प्रतिशत रही थी।

---

1 *Economic Survey*, 1988-89.

2 Seventh Five Year Plan (1985 90), Vol. I, p. 63.

चौथी पचवर्षीय योजना काल में भारत के कुल निर्यातों में प्रति वर्ष 7 प्रतिशत वृद्धि का अनुमान लगाया गया था। चौथी योजनाकाल में वास्तविक निर्यात 9,000 करोड़ रुपये के थे जो लक्ष्य की अपेक्षा लगभग 9 प्रतिशत अधिक थे जबकि 1973-74 के निर्यात लक्ष्य की अपेक्षा 31 प्रतिशत अधिक थे। 1972-73 एवं 1973-74 में भारत के निर्यातों की वृद्धि-दरें क्रमशः 22·5 एवं 28 प्रतिशत रही थी। परन्तु पाँचवी योजना काल के प्रारम्भिक वर्षों में दरें काफी अधिक हो गयी।

सशोधित पाँचवीं योजना के अनुसार 1974-1979 के बीच भारत के निर्यातों में केवल 8·5 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि होने का अनुमान था। परन्तु 1974-75 व इसके बाद के दो वर्षों में निर्यात की वृद्धि-दरें इस लक्ष्य से बहुत ही अधिक रही। जिस समय भारत की वर्तमान छठी पचवर्षीय योजना (1980-85) को अन्तिम रूप दिया जा रहा था, उस समय यह आशंका व्यक्त की गयी थी कि 1979-80 के मूल्यों पर 1979-80 व 1984-85 के बीच भारत के निर्यात 8,790 करोड रुपये से बढकर 13,850 करोड रुपये के होंगे जबकि इसी अवधि में निर्यातों की राशि 6,420 करोड रुपये से बढकर 9 878 करोड रुपये होगी। योजना आयोग का अनुमान था कि छठी योजना की अवधि मे निर्यातो की वार्षिक (चक्रवृद्धि) वृद्धि दर 9 प्रतिशत रहेगी जबकि इसके पूर्व के एक दशक मे (1970-80) मे यह वृद्धि-दर [illegible] प्रतिशत हो रही थी। योजना आयोग का ऐसा भी अनुमान था कि 1980-85 के बीच आयातो की वार्षिक वृद्धि दर (1979-80 के मूल्यो पर) 7 9 प्रतिशत तक कम की जा सकेगी जबकि इसके पूर्व के दशक मे यह 16·5 प्रतिशत रही थी। परन्तु जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, छठी योजना के ये लक्ष्य पूरे नही हो पाये तथा भारत का व्यापार घाटा आशा से कही अधिक हो गया। सातवी योजना (1985-90) की अवधि मे निर्यातो मे (स्थिर मूल्यों पर) 7 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि होने की आशा थी जबकि आयातों की वृद्धि-दर 5 8 प्रतिशत रखी गयी थी।

परन्तु योजना आयोग की अपेक्षाएँ पूरी नही हो सकी। इसका स्पष्ट प्रमाण तालिका 23 1 से मिल जाता है। ऐसी आशा थी कि छठी योजना काल मे पैट्रोल से सम्बद्ध पदार्थों व क्रूड ऑयल का आयात 3,200 करोड रुपये से बढकर 4,641 करोड रुपये ही होगा, परन्तु 1980-81 के वर्ष मे ही इनका आयात 5,200 करोड रुपये की रिकार्ड राशि तक पहुँच गया था। 1984-85 तक आयात-बिल 17,092 करोड रुपये तक पहुँच गया।

(सकल घरेलू उत्पाद का प्रतिशत)

वर्ष	निर्यात	आयात	व्यापार-सन्तुलन	शुद्ध अदृश्य प्राप्तियाँ	चालू खाते का शेष
1980-81	4 8	9 2	—4 4	2 8	—1·6
1981-82	4 9	8·7	—3·8	2·1	—1·8
1982-83	5·1	8·4	—3·3	1·7	—1·5
1983-84	4·9	7·7	—2·8	1·5	—1·3
1984-85	5·2	8.1	—2·9	1·4	—1·5
1985-86	4·4	8·1	—3·7	1·3	—2 4
1986-87	5·1	8·7	—3·6	1·2	—2·4
1987-88	5·3	7 7	—2·4	1·2	—1·2
1988-89	5·7	8·0	—2 3	1·1	—1·2

छठी योजना की अवधि मे कुल मिलाकर रुपये मूल्य की दृष्टि से निर्यातों की वृद्धि-दर 12·5 प्रतिशत रही जबकि आयातो म वृद्धि का वार्षिक औसत 13·3 प्रतिशत रहा था। परन्तु SDR तथा डालर के रूप मे आयातो की वृद्धि-दरें क्रमशः 10·5 प्रतिशत तथा 5·0 प्रतिशत ही थी। इसी प्रकार निर्यातो की वृद्धि दरें SDR के रूप में 9 6 प्रतिशत व डालर के रूप में 4·2 प्रतिशत ही रही। संक्षेप मे, विदेशी मुद्रा के रूप मे आयात व निर्यात की वृद्धि-दरें रुपये के रूप में प्राप्त वृद्धि दरो से काफी कम रही थी।

मात्रा की दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि निर्यातों में वृद्धि का औसत छठी पंचवर्षीय योजना में केवल 3 प्रतिशत रहा था। इसी प्रकार क्रूड तेल के निर्यात को कम करने पर जहाँ निर्यात की वृद्धि-दर कम हो जाती है, आयात की वृद्धि-दर में वृद्धि हो जाती है।

भारत के प्रमुख निर्यात
[PRINCIPAL EXPORTS OF INDIA]

स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय भारत के प्रमुख निर्यातों में चाय, जूट की वस्तुएँ एवं सूती वस्त्र सम्मिलित थे। इसके अतिरिक्त भारत से मैंगनीज धातु, अभ्रक, मूँगफली, अलसी, अरण्डी एवं चमड़ा भी बाहर भेजे जाते थे, यद्यपि इनका अनुपात कुल निर्यातों में बहुत ही अल्प मात्रा में था। कुल निर्यात में चाय, जूट की वस्तुएँ एवं सूती वस्त्र का अनुपात 49% था। इन वस्तुओं का निर्यात 19वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में ही आरम्भ हो गया था और स्वतन्त्रता प्राप्ति तक भी इनका महत्व चला आ रहा था इसलिए इन्हें परम्परागत निर्यात की वस्तुएँ कहा जाता था।

किसी देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए कुछ ही वस्तुओं के निर्यात व्यापार पर निर्भर रहना उचित नहीं होता। विशेष रूप से कृषि-जन्य वस्तुओं (निर्मित वस्तुओं सहित) की तीव्र गति से बदलती हुई कीमतों के सन्दर्भ में इन वस्तुओं पर अत्यधिक निर्भर रहना ठीक नहीं होता। फिर, इन वस्तुओं की आन्तरिक माँग का अनुमान लगाना तो सम्भव हो सकता है, परन्तु इनकी अन्तर्राष्ट्रीय माँग का सही अनुमान लगाना कभी सम्भव नहीं होता, क्योंकि अन्य देश भी इन वस्तुओं की पूर्ति करने को तत्पर रहते हैं। अस्तु, कृषि-जन्य वस्तुओं के मूल्यों में बहुधा उच्चावचन होते रहते हैं। इसके विपरीत, यदि कोई देश अनेक वस्तुओं का निर्यात करता हो तो, वह अधिक मूल्य वाली वस्तुओं के निर्यात को प्रोत्साहन देकर अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में जिन वस्तुओं के मूल्य गिर रहे हैं उनका निर्यात कम कर सकता है। यही कारण था जिसने देश के नियोजकों को हमारे निर्यात व्यापार विविधीकरण हेतु प्रेरित किया।

निर्यात व्यापार का विविधीकरण
(Diversification of Exports)

स्वतन्त्रता के बाद से ही यह आवश्यक समझा गया कि हम अपने निर्यातों में वृद्धि करें। परन्तु निर्यात वृद्धि करना ही पर्याप्त नहीं था। जैसा कि ऊपर बताया गया है, कुछ ही वस्तुओं के निर्यात पर निर्भर रहना देश के लिए घातक हो सकता है, और इसलिए निर्यात व्यापार का विविधीकरण करना भी अत्यन्त आवश्यक समझा गया। सरकार ने न केवल निर्यात व्यापार में नयी वस्तुओं को सम्मिलित करने की नीति को प्रोत्साहन दिया अपितु भारत में उत्पादित या निर्मित वस्तुओं के लिए बाजारों की खोज भी आरम्भ कर दी।

स्वतन्त्रता के पश्चात् देश में अनेक नये उद्योगों का विकास किया गया है। इस्पात सम्बन्धी आवश्यकता को पूरा करने हेतु इस्पात के चार नये कारखानों की स्थापना की गयी है। इन्जीनियरिंग उद्योगों के विकास हेतु सिलाई मशीनों, साइकिलों, छोटे यन्त्रों एवं पम्पों आदि के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि की गयी है। देश से चमड़ा बाहर भेजने की अपेक्षा चमड़े की वस्तुओं के उत्पादन में काफी वृद्धि की गयी है। इन सभी वस्तुओं का उत्पादन मूल रूप से देश की जनता की आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु बढ़ाया गया है, परन्तु साथ ही यह भी प्रयास किया गया है कि इन वस्तुओं का निर्यात अधिकतम मात्रा में किया जाय।

सरकार की प्रेरणा एवं उपलब्ध सुविधाओं के कारण न केवल देश में नये उद्योगों का विकास हुआ है, अपितु पिछले दो दशकों में निर्यात व्यापार में भी भारत ने नये आयाम प्राप्त किये हैं। तालिका 23·2 से यह स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

तालिका 23 2 से भारत के निर्यात के विषय में निम्न महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों का ज्ञान होता है :

(1) निरपेक्ष दृष्टि से जूट की वस्तुओं का निर्यात 1987-88 तक लगभग स्थिर रहा है जबकि चाय के निर्यात में हाल के वर्षों में पर्याप्त वृद्धि हुई है।

(2) सूती वस्त्रों का निर्यात आलोच्य अवधि (1960 88) में चार गुने से अधिक हो गया है परन्तु इनके कुल निर्यात में अनुपात काफी कम हुआ है।

तालिका 23 2

भारत के प्रमुख निर्यात

(राशि करोड़ रुपयों में)

वस्तु	1960 61	1965 66	1974 75	1979 80	1980 81	1984 85	1986 87	1987 88
1 जूट की वस्तुएं	212 9	288 0	296 8	336 1	243 3	341 1	244 0	242 8
2 चाय	194 7	180 9	228 1	367 8	385 4	707 9	576 8	592 4
3 सूती वस्त्र	90 6	87 4	158 9	287 4	293 8	412 9	637 3	1063 8
4 लौह धातु	26 8	66 3	166 4	285 2	289 4	447 2	546 6	542 8
5 तम्बाकू	4 8	33 3	82 2	113 5	138 1	148 6	185 3	134 6
6 इन्जीनियरिंग वस्तुएँ	13 4	26 2	356 7	730 1	900 5	738 4	1132 7	1433 0
7 काफी	11 4	20 4	51 4	163 3	225 0	196 1	296 7	263 2
8 चमड़े की बनी वस्तुएँ (जूतों सहित)	39 3	43 1	145 0	519 5	376 0	456 8	922 4	1148 5
9 अभ्रक	16 0	17 8	18 2	20 6	18 2	नगण्य	नगण्य	नगण्य
10 शक्कर	3 8	16 5	339 0	128 9	36 0	21 7	1 4	0 8
11 मैंगनीज धातु	22 4	17 4	17 6	13 2	13 8	नगण्य	नगण्य	नगण्य
12 लौह व इस्पात	8 7	13 1	21 1	105 2	82 3	62 0	N A	N A
13 रासायनिक पदार्थ	5 4	14 4	92 9	197 8	209 8	370 6	583 2	823 4
14 मछली एव इससे बने पदार्थ	7 3	10 7	66 2	249 4	223 7	335 8	539 0	525 1
15 काजू	29 8	43 1	118 2	118 1	123 1	174 5	327 6	306 7
16 रुई	25 5	54 6	96 9	127 5	109 2	132 8	189 8	173 3
17 हस्तकला की वस्तुएँ	N A	40 8	186 6	832 5	903 5	1 521 4	2547 6	3253 3
18 क्रूड आयल	Nil	—	—	—	—	1 563 2	411 2	648 7
कुल निर्यात (अन्य वस्तुओं सहित)	660 0	1 268 9	2 328 8	6 458 8	6 711 0	11554 0	12452 4	15741 2

Source *Economic Survey* 1988 89 Table 8 6 (1986 87 तथा 1987 [redacted] के आंकड़ों के लिए)

(3) निर्यात की दृष्टि से सर्वाधिक प्रगति इन्जीनियरिंग तथा हस्तकला की वस्तुओं (आभूषण तथा जवाहरात को मिलाकर) के क्षेत्र में हुई है। हालांकि गत कुछ वर्षों में इन्जीनियरिंग वस्तुओं का निर्यात काफी घट गया है। इसके विपरीत हस्तकलाओं (जवाहरात को मिलाकर) की वस्तुओं का निर्यात 1965-66 तथा 1987-88 के बीच 80 गुना हो गया है।

(4) शक्कर के निर्यातों में इस अवधि में जितनी तेजी से वृद्धि हुई उतनी ही तेजी से ये कम भी हुआ। जहाँ 1974-76 में कुल निर्यात का 10 से 12 प्रतिशत भाग शक्कर के रूप में जाता था, 1984-85 में भारत को शक्कर का आयात करना पड़ा।

(5) अभ्रक एवं मैंगनीज धातु के निर्यात में पिछले दो दशकों में कमी हुई है। इसके विपरीत, लौह व इस्पात के निर्यात में पिछले कुछ वर्षों से भारी वृद्धि की प्रवृत्ति दिखायी दी है।

(6) इस अवधि में मछली एवं इससे निर्मित पदार्थों, रासायनिक पदार्थों, काजू, कॉफी, तम्बाकू, चमड़े की बनी वस्तुएँ आदि गैर-परम्परागत वस्तुओं के निर्यात में काफी वृद्धि हुई है। यही स्थिति लौह धातु के निर्यात की भी रही है। इससे प्राप्त विदेशी विनिमय की राशि तथा कुल निर्यातों में इनके अनुपात में काफी वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त सिले हुए वस्त्रों का निर्यात 1986-87 व 1987-88 में कुल निर्यातों में क्रमशः 6·18 प्रतिशत तथा 7·42 प्रतिशत रहा था, जो काफी अधिक है।

अन्य जिन वस्तुओं के निर्यात में पिछले 20 वर्षों में अत्यधिक वृद्धि हुई है, वे हैं : खली (oil cakes), चमड़ा व चमड़े की बनी वस्तुएँ, ऊनी वस्त्र एवं कम्बल।

(7) अन्य वस्तुओं के निर्यात पिछले 20 वर्षों में साढ़े तीन गुने हो गये हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि निर्यात व्यापार के विविधीकरण में इस अवधि में वृद्धि हुई है।

(8) यद्यपि भारत काफी मात्रा में स्वयं क्रूड ऑयल का आयात करता है, फिर भी देश में पर्याप्त तेल-शोधन क्षमता न होने से गत कुछ वर्षों में हमें काफी मात्रा में खनिज तेल का निर्यात करना पड़ रहा है। आशा है, देश में जैसे-जैसे तेल शोधन क्षमता का विस्तार होगा, ये निर्यात बन्द हो जायेंगे।

इस प्रकार आलोच्य अवधि में न केवल भारत के निर्यातों में काफी वृद्धि हुई है अपितु परम्परागत निर्यातों का स्थान नवीन उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं ने लिया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए कि भारत से परम्परागत निर्यातों का महत्व कम किया जा रहा है। वस्तुतः, अभ्रक, मैंगनीज, जूट की वस्तुओं, चाय व सूती वस्त्रों से 1982-83 तक भी कुल मिलाकर लगभग 850 करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा हमें प्राप्त हुई। हाँ, यह हमें स्वीकार करना होगा कि आधुनिक सन्दर्भ में परम्परागत निर्यातों का महत्व काफी घट गया है।

इस सब प्रगति के होते हुए भी निर्यात-प्रोत्साहन की नीति में शिथिलता की कोई सम्भावना नहीं है। हमारे निर्यात पिछले ढाई दशकों में साढ़े सत्रह गुने हो गये हैं, परन्तु इस वृद्धि का काफी बड़ा अंश भारतीय मुद्रा के रूप में विश्व की प्रमुख मुद्राओं के अवमूल्यन एवं कुछ क्षेत्रों में वस्तुओं के बढ़ते हुए अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य में निहित है। यह कहना अनुचित न होगा कि आलोच्य अवधि में मात्रा की दृष्टि से अधिकांश वस्तुओं के निर्यात अधिक उत्साहजनक नहीं रहे जबकि कृषि-जन्य कुछ वस्तुओं (तिलहन और खली आदि) के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में कमी के कारण इनकी काफी अधिक मात्रा का निर्यात करना पड़ा है। इन वस्तुओं की प्रतिकूल व्यापार शर्तों के कारण कुल मिलाकर भारत की अन्तर्राष्ट्रीय जगत में स्थिति काफी सुदृढ़ हो ऐसा मान लेना उचित नहीं होगा। अनेक वस्तुओं (सूती वस्त्र, चाय, जूट की वस्तुएँ, इन्जीनियरिंग की वस्तुएँ आदि) के लिए हमें अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में भारी प्रतियोगिता तथा/अथवा विकसित देशों की संरक्षणात्मक नीति का सामना करना पड़ रहा है। भविष्य में हमारे निर्यातों में वृद्धि का यही क्रम जारी रहता है या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि हमारी नीतियाँ अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के अनुरूप हैं या नहीं।

अब हम संक्षेप में भारत के प्रमुख निर्यातों का वर्णन करेंगे :

(1) जूट की वस्तुएँ—दो दशकों पूर्व तक भारत के निर्यात व्यापार में जूट की वस्तुओं का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण था। 1960-61 तक कुल निर्यात का लगभग 20% इनके रूप में था।

1965-66 मे भारत ने 9 लाख टन जूट की वस्तुओ का निर्यात किया, जिनका मूल्य 288 करोड रुपये तथा कुल निर्यात मे अनुपात लगभग 23% था। 1976-77 मे भारत ने 4 50 लाख टन जूट की वस्तुओ का निर्यात किया जिनका मूल्य 201 करोड रुपये आंका गया था। इनके कुल निर्यात मे अनुपात 1976 77 तक घटकर लगभग 4% से भी कम रह गया। 1977-78 मे 245 करोड रुपये की जूट की वस्तुओ का ही निर्यात किया गया। 1982-83 म घटकर लगभग 203 करोड रुपये रह गयी। इस वर्ष 1981-82 की तुलना म निर्यातित मात्रा 23 3 प्रतिशत कम थी। परन्तु जैसा कि तालिका 23 2 से स्पष्ट है 1987-88 मे जूट की वस्तुओ का निर्यात मूल्य 243 करोड रुपये था जो 1986 87 की तुलना म समान था। कुल निर्यात म इसका अनुपात घटकर 2 3 प्रतिशत रह गया है। वस्तुत जूट की वस्तुओ के निर्यात म वृद्धि न होने के तीन कारण रहे हैं। प्रथम पैकिंग के लिए कृत्रिम रेशे से बने टाट का पाश्चात्य देशो म बढ़ता हुआ उत्पादन, द्वितीय, बांगला देश एव लेटिन अमरीका के कुछ देशो से भारतीय जूट-निर्माताओ की प्रतियोगिता, एव भारत मे जूट (कच्ची जूट) की अपर्याप्त पूर्ति।

भारत से जाने वाली जूट की वस्तुओ के प्रमुख ग्राहक कनाडा एव अमरीका हैं परन्तु आस्ट्रेलिया न्यूजीलैण्ड, बर्मा क्यूबा, पीरू, थाईलैण्ड, अर्जेण्टाइना आदि देशो को भी भारत जूट की बनी हुई वस्तुओ का निर्यात करता है। 1971 म जूट की वस्तुओ के निर्यात म वृद्धि करने हेतु भारतीय जूट निगम की स्थापना की गयी थी।

यह उल्लेखनीय है कि देश म उत्पादित जूट की वस्तुओ मे से लगभग एक तिहाई का निर्यात कर दिया जाता है। फिर भी भारतीय जूट की वस्तुओ के निर्यात सवर्द्धन मे निम्न बाधाएँ हैं (i) सयुक्त राज्य अमरीका व कनाडा म कृत्रिम रेशे से बने पैकिंग मैटीरियल के कारण जूट की वस्तुओ की मांग मे कमी होना (ii) भारतीय जूट मिलो म ऊँची उत्पादन लागतें, (iii) बांगला-देश व भारतीय जूट निर्माताओ की अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो मे प्रतियोगिता। इन बाधाओ को दूर करने हेतु जूट मिलो का नवीनीकरण करके उत्पादन लागत मे कमी करना आवश्यक है। जूट के साथ कृत्रिम रेशे को मिलाकर टिकाऊ पैकिंग मैटीरियल का निर्माण भी इनके निर्यात मे सहायक हो सकता है।

(2) **चाय**—भारत के परम्परागत निर्यातो मे चाय का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है। 1960 61 मे कुल निर्यातो मे चाय का अनुपात 19% था। पिछले कुछ वर्षों मे चाय की अन्तर्राष्ट्रीय मांग मे काफी उच्चावचन हुए हैं। यही नही भारत को श्रीलका, चीन, ब्राजील आदि से अन्तर्राष्ट्रीय चाय बाजार म तीव्र प्रतिस्पर्धा करनी पडती है। एक सर्वेक्षण से यह ज्ञात हुआ कि पिछले एक दशक म जहाँ विश्व मे कॉफी के उपभोग मे अधिक वृद्धि हुई है वही चाय का उपभोग स्थिर रहा है। भारत से 1981-82 मे 21 38 करोड किलो ग्राम चाय के निर्यात से भारत को 395 करोड रुपये की विदेशी विनिमय प्राप्त हुई थी। 1982 83 म यह मात्रा 19 16 करोड किलोग्राम चाय के निर्यात से 367 5 करोड रुपये प्राप्त हुए। चाय की अन्तर्राष्ट्रीय कीमत मे अगस्त 1983 के बाद काफी वृद्धि हुई। 1983-84 तथा 1984-85 मे भारत से किये जाने वाले चाय के निर्यात मे क्रमश 35 8 तथा 41 2 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1984 85 मे निर्यातित चाय की मात्रा मे 9 5 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि लगभग 31 6 प्रतिशत वृद्धि चाय की कीमतो म हुई वृद्धि का परिणाम थी।

वस्तुत भारत की चाय के निर्यात हेतु 21·5 करोड किलोग्राम का अभ्यश प्रदान किया गया है और इसलिए 1984 85 मे हम अनुकूल परिस्थितियो के बावजूद इससे अधिक चाय का निर्यात नही कर पाये।

1985-86 म चाय की निर्यातित मात्रा मे कमी हुई है। 1987 88 म चाय का निर्यात 593 करोड रुपये का था जो इस वर्ष के कुल निर्यात मे 3 8% था जबकि 1986 87 म 577 करोड रुपय की चाय का निर्यात हुआ। इस प्रकार पिछले वर्ष की तुलना म 1987-88 मे निर्यात मे केवल 2 7% की वृद्धि हुई।

1960 61 तक भारत मे उत्पादित चाय का लगभग 60 प्रतिशत निर्यात कर दिया जाता था। यह अनुपात 1988-89 तक घटकर 27 0 प्रतिशत रह गया।

भारतीय चाय के निर्यात में एक विलक्षण बात यह है कि भारत से जाने वाली चाय का तीन-चौथाई भाग अमरीका को तथा शेष कनाडा, आयरलैण्ड, ब्रिटेन, सूडान, आस्ट्रेलिया, जर्मनी एवं नीदरलैण्ड्स को निर्यात किया जाता है। विश्व में चाय के कुल निर्यात का 28% भारत से जाता है। आज की परिस्थितियों में यही उचित होगा कि हम चाय की खपत में अन्य देशों में वृद्धि करने हेतु आवश्यक कदम उठायें। यह भी आवश्यक है कि चाय के प्रमुख उत्पादक देश परस्पर लाभ हेतु अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में कम से-कम स्पर्धा करें। इस सम्बन्ध में आठ प्रमुख चाय निर्यातक देशों—भारत, अर्जेन्टीना, श्रीलंका, बांग्लादेश, मलावी, मारीशस, तंजानिया तथा इण्डोनेशिया ने मध्य अन्तर्राष्ट्रीय चाय प्रोत्साहन संघ (ITPA) की स्थापना की गयी है। यह संघ चाय के निर्यात में वृद्धि हेतु एक व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यक्रम बनायेगा। इस कार्यक्रम की प्रमुख बातें इस प्रकार होंगी: (1) चाय के व्यापार की शर्तों में सुधार लाना, (2) छोटे चाय उत्पादकों के हितों की रक्षा करना, (3) चाय के मूल्यों में होने वाले उच्चावचनों को रोकना, (4) चाय के घरेलू व अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों की ऐसी नीति बनाना जो उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं के लिए उपयुक्त हो, (5) चाय के आयात करने वाले देशों में चाय का अनावश्यक भण्डार न होने देना, तथा (6) चाय की माँग में वृद्धि करने हेतु उपयुक्त कदम उठाना।

(3) **सूती वस्त्र**—भारत से सूती वस्त्रों के निर्यात की परम्परा काफी पुरानी रही है। भारत पिछले एक सौ वर्षों से सूती वस्त्र ही नहीं अपितु कपास व सूत का भी निर्यात करता रहा है। भारत से सूती वस्त्र मँगाने वाले देशों में अमरीका, श्रीलंका, बर्मा, आस्ट्रेलिया, मलेशिया, ब्रिटेन, पूर्वी अफ्रीका, अदन, इण्डोनेशिया, सूडान, इथोपिया आदि हैं। जैसा कि तालिका 23·4 में बताया गया है 1983-84 में सूती वस्त्रों का कुल निर्यात-मूल्य 276 6 करोड़ रुपये था जो 1984-85 में बढ़कर लगभग 413 करोड़ रुपये हो गया। अनुमानतः 1984-85 में गत वर्ष की तुलना में सूती वस्त्रों की निर्यात मात्रा में 44 प्रतिशत तथा कीमत में 49 प्रतिशत की वृद्धि हुई। परन्तु 1985-86 में कीमत व मात्रा दोनों की दृष्टि से सूती वस्त्रों के निर्यात कम हुए हैं। सूती वस्त्रों के अलावा पिछले कुछ वर्षों से तैयार पोशाकों (रैडीमेड वस्त्रों) का भी पर्याप्त मात्रा में निर्यात किया जाने लगा है। 1970-71 में जहाँ 8·6 करोड़ रुपयों के मूल्य के रैडीमेड वस्त्र निर्यात किये गये थे, 1982-83 में यह राशि बढ़कर 528 करोड़ रुपये की हो गयी, जो कुल निर्यातों का 6·0 प्रतिशत थी। यह अनुपात 1984-85 में बढ़कर 7 4 प्रतिशत (निर्यात-मूल्य 858 करोड़ रुपये) हो गया। केवल एक वर्ष में तैयार पोशाकों के निर्यात में 40 प्रतिशत से अधिक वृद्धि होने का प्रमुख कारण यूरोप में हमारी पोशाकों की माँग में हुई वृद्धि ही थी। यह प्रवृत्ति 1985-86 में भी जारी रही। 1986-87 में इसका निर्यात लगभग 637 करोड़ रुपये का था किन्तु 1987-88 में बढ़कर 1064 करोड़ रुपये हो गया। 1987-88 में कुल निर्यात में सूती धागे तथा वस्त्र का निर्यात लगभग 7% था। यहाँ यह बता देना उपयुक्त होगा कि भारत से बाहर जाने वाले वस्त्रों में लगभग 30 से 40 प्रतिशत हाथकर्घे के वस्त्रों के रूप में होते हैं। हमारी हांगकांग, चीन, पाकिस्तान, दक्षिणी कोरिया, ताईवान, जापान से रैडीमेड कपड़ों के क्षेत्र में काफी स्पर्धा है। यही नहीं, यूरोपीय साझा बाजार की कठोर नीति के कारण अब पश्चिमी यूरोप के देशों में भारत के तैयार कपड़ों के निर्यात हेतु कोटा (अभ्यश) बढ़वाने या बनाये रखने में भी भारतीय रैडीमेड वस्त्र उत्पादकों को काफी कठिनाई होती है। इसी प्रकार रेडीमेड वस्त्रों के निर्यात हेतु कनाडा, संयुक्त राज्य अमरीका, ग्रीस, आदि देशों से भी कोटे निर्धारित किये जाते हैं। इसीलिए भारत को नये बाजारों की खोज करनी पड़ रही है।

भारत की सूती वस्त्र मिलों में से आधी से अधिक के तकुए अथवा कर्घे बहुत पुराने एवं परम्परागत हैं और फलस्वरूप (उनकी दक्षता कम होने के कारण) भारत में वस्त्रों की उत्पादन-लागत उन देशों की अपेक्षा अधिक आती है जिनसे भारतीय वस्त्र-निर्माताओं को स्पर्धा करनी पड़ती है। यदि भारत को अन्तर्राष्ट्रीय वस्त्र बाजार में अपना स्थान पुनः स्थापित करना है तो सूती वस्त्र उद्योग का आधुनिकीकरण करके उत्पादन लागत में कमी करनी होगी। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक होगा कि हम ऊँची किस्म अर्थात् लम्बी रेशे वाली रुई का अन्य देशों से आयात बढ़ायें। इसी प्रकार रेडीमेड वस्त्रों के निर्यात बढ़ाने हेतु हमें इनकी उत्पादन लागत में पर्याप्त रूप में कमी करनी होगी। मई 1984 में, यह तय किया गया है कि राष्ट्रीय वस्त्र निगम राज्य व्यापार निगम

के माध्यम से सूती वस्त्रों के निर्यात मे पर्याप्त वृद्धि हेतु प्रयास करेगा। 1989 मे भारत सरकार ने भारतीय वस्त्र मिलो के आधुनिकीकरण को प्रोत्साहन देने हेतु अनेक घोषणाएँ की।

(4) **कच्ची लोह-धातु**—भारत मे कच्ची लोह-धातु (*Iron Ore*) या अयस्क का वार्षिक उत्पादन हमारी आवश्यकता से बहुत अधिक है। यही कारण है कि पिछले कुछ समय से कच्ची लोह-धातु के निर्यात द्वारा पर्याप्त विदेशी विनिमय अर्जित करने का प्रयास किया जा रहा है। 1965-66 मे भारत से 66 करोड रुपये की (1 2 करोड टन) कच्ची लोह-धातु का निर्यात किया गया था, परन्तु 1975-76 मे इसका निर्यात-मूल्य बढाकर लगभग 214 करोड रुपये हो गया। इस वर्ष भारत ने 2·3 करोड टन लोह-धातु विदेशो को निर्यात की। 1976-77 मे अनुमानत 210 करोड रुपये की लोह-धातु का निर्यात किया गया जो 1977-78 मे 241 करोड रुपये का हो गया। भारत से कच्ची लोह-धातु का आयात करने वाले देशो मे ब्रिटेन व जापान प्रमुख है। 1982-83 मे इस मद से भारत को लगभग 374 करोड रुपये की विदेशी मुद्रा प्राप्त हुई। 1983-84 मे भारत से लगभग 385 करोड रुपये मूल्य की लोह-धातु का निर्यात किया गया था। 1984-85 मे कुल 2 35 करोड टन लोह-धातु का निर्यात किया गया जिसका मूल्य 447 करोड रुपये था। इस वर्ष गत वर्ष की तुलना मे लोह-धातु के निर्यात की मात्रा तथा कीमत दोनो मे क्रमश: 10·8 प्रतिशत तथा 16 प्रतिशत वृद्धि हुई। कुल निर्यात मूल्य मे इस एक वर्ष मे लगभग 55·5 प्रतिशत वृद्धि हुई। इस वर्ष भारत से 2 07 करोड टन अयस्क बाहर भेजा गया जो 1981-82 की तुलना मे 13 प्रतिशत कम था। यद्यपि 1985-86 मे निर्यात बढकर 579 करोड रुपये का हो गया किन्तु 1986-87 तथा 1987-88 मे निर्यात घटकर क्रमश 547 एव 543 करोड रुपये रह गया। अर्थात् पिछले दो वर्षों मे इसका निर्यात कम हुआ। 1987-88 मे कुल निर्यात मे लोह अयस्क के निर्यात का प्रतिशत 3·4 था।

(5) **तम्बाकू**—1975-76 मे भारत ने लगभग 98 करोड रुपये की तम्बाकू का निर्यात किया। एक दशक पूर्व इस मद के निर्यात से भारत को केवल 33 करोड रुपये ही प्राप्त हुए थे। भारत से निर्यातित तम्बाकू का अधिकाश भाग ब्रिटेन, जापान स्वीडन, नीदरलैण्ड आदि देशों को भेजा जाता है। परन्तु इस सन्दर्भ मे यह उल्लेखनीय है कि रोडेशिया व अमरीका की तुलना मे भारतीय तम्बाकू की क्वालिटी अच्छी नही है और इसी कारण हमे तम्बाकू का बहुत ही कम मूल्य प्राप्त होता है। 1982-83 मे तम्बाकू के निर्यात से 208 करोड रुपये प्राप्त हुए परन्तु 1984-85 मे यह राशि केवल 148 6 करोड रुपये रह गयी। 1985-86 के प्रथम छह माह मे तम्बाकू के निर्यात मे काफी कमी हुई। यह उल्लेखनीय बात है कि 1970-71 मे तम्बाकू का निर्यात मूल्य लगभग 6 5 रुपये प्रति किलो था जो 1982-83 मे बढकर 21 27 रुपये प्रति किलो हो गया। भारत से हल्की किस्म के अलावा वर्जीनिया तम्बाकू का भी पर्याप्त मात्रा मे निर्यात किया जाता है। 1986-87 मे 185 3 करोड रुपये तथा 1987-88 मे 134·6 करोड रुपये का निर्यात किया गया।

(6) **इंजीनियरिंग की वस्तुएँ**—जैसा कि तालिका 23 4 से स्पष्ट होता है, भारत से पिछले 20 वर्षो मे इजीनियरिंग का वस्तुओ का निर्यात 70 गुना हो गया है। भारत से सिलाई की मशीनें, छोटे उपकरण, साइकिलें, डीजल इजन, आदि अरब देशो, ईस्ट एशियाई देशो, यूरोप व अफ्रीका के अनेक देशो को निर्यात की जाती है। 1980-81 मे भारत से लगभग 900 करोड रुपये की इजीनियरिंग वस्तुएँ बाहर भेजी गयी। यह हमारे निर्यात का 13½ प्रतिशत था। 1978-79 के पहले यह आशा व्यक्त की गयी थी कि भारत से लगभग 1,000 करोड रुपये की इजीनियरिंग वस्तुओ का निर्यात किया जा सकेगा। परन्तु 1977-78 मे इनका निर्यात आशानुरूप नही बढ पाया। योजना आयोग का ऐसा अनुमान था कि 1984-85 तक इन्जीनियरिंग वस्तुओ के निर्यात से भारत को 1275 करोड रुपये की आय प्राप्त हो सकेगी परन्तु 1982-83 मे पूर्वापेक्षा इन वस्तुओ के निर्यात से 7 5 प्रतिशत कम आय प्राप्त हुई। 1982-83 व 1983-84 मे इन्जीनियरिंग वस्तुओ के निर्यात मे क्रमश. 14·9 प्रतिशत तथ 13 5 प्रतिशत की कमी हुई। परन्तु 1984-85 मे इन वस्तुओं के निर्यात मे लगभग 6 8 प्रतिशत की वृद्धि हुई। वस्तुत भारत से निर्यातित इन्जीनियरिंग वस्तुओ की मात्रा मे कमी के लिए निम्न कारण उत्तरदायी रहे हैं: विकसित देशो मे मन्दी विकासशील देशो के समक्ष विद्यमान वित्तीय कठिनाइयाँ, पश्चिम एशिया के देशो मे चल

रही आर्थिक गतिविधियों मे कमी, भारतीय इन्जीनियरिंग वस्तुओं की ऊँची उत्पादन लागतें तथा चीन व अन्य देशो के साथ इस क्षेत्र मे स्पर्धा ।[1]

भारत से इन्जीनियरिंग वस्तुओं का निर्यात मुख्य रूप से पश्चिमी एशियाई व अफ्रीकी देशो को किया जाता है । हाल के वर्षों में दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशो को भी पर्याप्त मात्रा मे ये वस्तुएँ भेजी जाने लगी हैं । सऊदी अरब, ईराक, ईरान, लीबिया, अफगानिस्तान, मिस्र, सूडान, आदि इन्जीनियरिंग वस्तुओ के लिए भारत के प्रमुख ग्राहको मे से हैं । भारतीय निर्यातक अब अन्य देशो मे भी इनके निर्यात हेतु प्रयास कर रहे हैं । 1987-88 मे इसका निर्यात बढकर 1433 करोड रुपये हो गया जो कुल निर्यातो का लगभग 9% था ।

(7) चमड़ा व चमड़े की वस्तुएँ—1982-83 मे भारत से लगभग 374 करोड रुपये के जूतों तथा चमड़े की अन्य वस्तुओ का निर्यात किया गया । यह कुल निर्यात का लगभग 4·23 प्रतिशत था । हमारी चमडे की वस्तुओं के प्रमुख ग्राहक खाडी तथा पूर्वी यूरोप के देश रहे है । परन्तु 1982-83 मे साझा बाजार के देशो को निर्यात की जाने वाली चमड़े की वस्तुओ मे कमी हुई जिसके फलस्वरूप इन वस्तुओं के निर्यात मे 1982-83 मे 8 3 प्रतिशत कमी हुई । 1982-83 व 1983-84 में भारत से निर्यातित चमडे की वस्तुओ के मूल्य मे कोई वृद्धि नही हो पायी थी परन्तु 1984-85 मे इनकी निर्यातित आय मे 22·4 प्रतिशत वृद्धि हो गयी । 1985-86 मे इनका निर्यात 770 करोड रुपये, 1986-87 मे 922 करोड रुपये तथा 1987-88 मे 1149 करोड रुपये का हो गया । अर्थात् निर्यातो में 1986 87 मे पिछले वर्ष की तुलना मे 24·5% की वृद्धि हुई जबकि 1987-88 मे यह केवल 20% थी । कुल निर्यातो मे इसका प्रतिशत स्थिर अर्थात् 7·4% रहा । अमरीका, रूस, फ्रान्स, प. जर्मनी, हालैण्ड आदि देशो मे भारतीय चमडे की वस्तुएँ काफी लोकप्रिय हैं ।

(8) खली—भारत से पश्चिमी यूरोप व अन्य देशो को पर्याप्त मात्रा मे तिलहन व खली का भी निर्यात किया जाने लगा है । 1965-66 मे भारत से 55 करोड रुपये से कम मूल्य की खली का निर्यात किया गया था, जो 1976-77 तक बढकर 234 करोड रुपये हो गया । 1977-78 मे केवल 133 करोड रुपये की खली एव तिलहन का ही निर्यात हुआ था । इस प्रकार एक वर्ष के भीतर ही इस मद का निर्यात काफी घट गया । 1980-81 मे खली के निर्यात मे भारत को 149 करोड की विदेशी मुद्रा प्राप्त हुई । 1982-83 मे खली के निर्यात से भारत को 149 करोड रुपये की आय प्राप्त हुई । गत वर्ष की तुलना मे खली के निर्यात की मात्रा एव आय मे क्रमश: 27·5 प्रतिशत तथा 26 7 प्रतिशत की कमी हुई । 1987-88 मे इस मद से भारत को केवल 173·3 करोड रुपये की विदेशी मुद्रा प्राप्त हुई ।

(9) लोहू व इस्पात—भारत के निर्यात व्यापार मे गत कुछ वर्षों मे लौह व इस्पात ने भी प्रमुख स्थान ग्रहण कर लिया है । जैसा कि तालिका 23 4 से ज्ञात होता है, 1974-75 तक इनके निर्यात से हमें लगभग 20 । करोड रुपये ही प्राप्त हो पाये थे । 1975-76 मे लौह व इस्पात के निर्यात से 68 0 करोड रुपये प्राप्त हुए परन्तु 1976-77 मे भारत ने 111 करोड रुपये के लौह व इस्पात की वस्तुएँ अमरीका, जर्मनी, पूर्वी यूरोप व अरब देशो को निर्यात की । 1980-81 मे निर्यातित लोहू व इस्पात की वस्तुओ का मूल्य 82 करोड रुपये ही कम था । इस प्रकार निर्यात व्यापार में लोहू व इस्पात की वस्तुओ का अनुपात पिछले तीन-चार वर्षों मे काफी कम हुआ है । 1982-83 मे इस मद के निर्यात से लगभग 56 करोड रुपये की विदेशी मुद्रा अर्जित की गयी, जो 1987-88 मे बढकर 542 8 करोड रुपये हो गयी ।

(10) मछली व मछली से निर्मित पदार्थ—यह भी भारत की ऐसी गैर-परम्परागत निर्यात मद है जिनमे पिछले 5-6 वर्षों मे आश्चर्यजनक रूप से वृद्धि हुई है (तालिका 23·4 देखिये) । 1975-76 मे भारत ने इस मद से 127 करोड रुपये की निर्यात आय प्राप्त की थी, परन्तु 1976-77 मे यह आय बढकर लगभग 180 करोड रुपये हो गयी । 1977-78 मे भी लगभग इतने ही मूल्य की मछलियाँ एव इनसे निर्मित पदार्थों का निर्यात किया गया । उल्लेखनीय

---

1 *Economic Survey*, 1985-86.

बात यह है कि गत कुछ वर्षों मे मछली व इनसे बने खाद्यो के निर्यात की मात्रा 7 8 करोड किलोग्राम के लगभग स्थिर है। 1980-81 मे इनसे हमे 224 करोड रुपये की आय प्राप्त हुई थी। 1981-82 मे भारत से 73,900 टन सामुद्रिक खाद्य (मछली तथा इनसे निर्मित पदार्थ) का निर्यात किया गया जिसका मूल्य 280 करोड रुपये था। 1982-83 मे 94,800 टन सामुद्रिक खाद्य का निर्यात करके 349 करोड रुपये की विदेशी मुद्रा अर्जित की गयी, जो एक कीर्तिमान था। 1986-87 तथा 1987-88 के दो वर्षों मे क्रमश 539 करोड रुपये तथा 525 करोड रुपये मूल्य की सामुद्रिक खाद्य-सामग्री का निर्यात किया गया था।

(11) अन्य—भारत मे अन्य प्रमुख निर्यातो मे काजू रासायनिक पदार्थ, ऊनी वस्त्र व कॉफी हैं। 1987-88 म भारत ने काजू के निर्यात से लगभग 306 7 करोड रुपये की विदेशी मुद्रा अर्जित की थी। कॉफी के निर्यात से इस वर्ष 263 करोड रुपये की आय हुई। यह उल्लेखनीय है कि कॉफी की अन्तर्राष्ट्रीय कीमत मे 1987-88 म 20 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जबकि काजू की कीमत मे 25 0 प्रतिशत की कमी हुई। इसलिए 1987-88 म गत वर्ष क समान ही मात्रा मे काजू का निर्यात करने पर भी निर्यात आय मे 26 प्रतिशत की कमी हुई। 1987-88 मे काजू के निर्यात से भारत को लगभग 306 7 करोड रुपय की विदेशी मुद्रा प्राप्त हुई। भारत को अफ्रीका के देशो से काफी स्पर्धा करनी पडती है। यही नही, भारत काजू के निर्यात हेतु मुख्य रूप से सोवियत रूस पर आश्रित है जो ठीक नही है। हस्तकला की वस्तुओ के निर्यात से भारत को 1970-71 तक केवल 42 करोड रुपये की आय प्राप्त हुई थी। ये प्राप्तियां 1987-88 तक बढकर 3253 करोड रुपये की हो गयी। इनमे रत्न व आभूषणो की राशि 1970-71 तक जहाँ नगण्य होती थी, 1982-83 मे 209 करोड रुपये तक पहुँच गयी। रत्नो के निर्यात मे 1984-85 मे 10 प्रतिशत की कमी हुई क्योकि उस वर्ष औद्योगिक देशो मे मन्दी चल रही थी। पिछले कुछ वर्षों मे हीरो का निर्यात बढा है परन्तु समूचा कच्चा माल बाहर से आने के कारण भविष्य मे इनके निर्यात की मात्रा कितनी होगी यह अनिश्चित है। 1982 83 मे भारत ने 43 5 लाख टन क्रूड ऑइल का निर्यात करके 1023 करोड रुपये की विदेशी मुद्रा अर्जित की। यह क्रूड ऑइल देश म प्रशोधित करना सम्भव नही था इसीलिए इसका निर्यात किया गया। 1981 82 म इस मद की मात्रा 8 4 लाख टन तथा प्राप्त आय 196 करोड रुपये थी। 1984-85 मे क्रूड ऑइल के निर्यात मे 27% की वृद्धि हुई।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि भारत से निर्यात की जाने वाली लगभग सभी वस्तुओं क सन्दर्भ मे हमारी अन्य देशो से स्पर्धा हाल के वर्षों मे काफी बढी है और इस कारण निर्यातो की मात्रा व कीमत दोनो मे वांछित वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि इन वस्तुओं की किस्म मे सुधार करने के साथ-साथ उत्पादन की लागत मे भी कमी की जाये। यदि भारतीय उद्योगपति ऐसा न कर पाये तो आने वाले वर्षों मे हमारे निर्यातो मे सम्बद्ध अतिरिक्तता मे काफी वृद्धि हो जायेगी।

जहाँ सातवी योजना की अवधि मे निर्यातो मे 7 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य रखा गया था वही योजना आयोग ने कुछ वस्तुओं के निर्यात (मात्रा) में वृद्धि हेतु निम्न लक्ष्य निर्धारित किये थे [1] (पाँच वर्षों की अपेक्षित वृद्धि प्रतिशत मे)।

चाय 7 2, कॉफी 5 0, तम्बाकू 21 7, काजू 44; विनिर्मित खाद्य 29, सामुद्रिक खाद्य 15, लौह धातु 39, सूती वस्त्र 16, तैयार पोशाकें 53, रत्न व आभूषण 22, हस्तकला की अन्य वस्तुएँ 19, जूट की वस्तुएँ 7 0, इन्जीनियरिंग वस्तुएँ 114, अन्य 48 0।

इस प्रकार सातवी योजना के निर्यात लक्ष्यो की प्राप्ति मुख्य रूप मे इन्जीनियरिंग वस्तुओ, तैयार पोशाको, लौह-धातु व अन्य वस्तुओ के निर्यात पर ही निर्भर रही है।

भारत के प्रमुख आयात
[PRINCIPAL IMPORTS OF INDIA]

ऊपर हम यह देख चुके हैं कि भारत के निर्यातो मे उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। हमारी

1 Seventh Five Year Plan (1985-90), Vol I, Chapter 5.

तालिका 23·3

भारत के प्रमुख आयात एवं उनकी प्रवृत्तियाँ (1960-61 से 1984-85)

(राशि करोड़ रुपये में)

वस्तु-समूह	1960-61	1965-66	1974-75	1975-76	1976-77	1979-80	1980-81	1984-85	1986-87	1987-88
1 अनाज एवं अनाज से निर्मित पदार्थ	285·7	507·2	763·7	1,342 8	867 6	269·7	उपलब्ध नही	170·0	47·0	32·7
2. रुई	128 8	72·8	27 4	28 2	129·5	—	—	—	—	—
3 जूट व ऊन (कच्ची)	12 0	16 8	30 1	27 8	33 0	33·1	39·3	—	—	—
4. पैट्रोल एवं पैट्रोलियम पदार्थ	109·1	107·5	1,156 9	1 225 7	1,413·4	3,267·0	5,587·0	5,482·1	2,796·7	4,082·8
5. रासायनिक खाद तैयार व अर्द्ध निर्मित	9 6	N A	525 5	533·8	261·2	515·4	728 1	872 0	626·2	309·9
6 रासायनिक पदार्थ	130 0	N A	294 9	290 4	245 0	585 0	उपलब्ध नही	111 7	119 6	173 6
7. लोहा व इस्पात	193 0	154 3	423 7	311 9	219 7	1,100 4	779 2	777 3	1,449·7	1273 2
8. कागज, गत्ता एवं सम्बद्ध वस्तुएँ	22 4	29 9	69 3	73 7	69 3	834 2	—	175·1	194 8	258 1
9. विद्युत-यन्त्र व मशीनें	90 1	138 3	161 0	200 8	145 3	185 6	201·2			
10 गैर-विद्युत यन्त्र व साज-सज्जा	320 3	525 7	403·5	576 7	658·7	171·7	978·2	2,747·1	5,467·3	6,284·9
11 परिवहन-सामग्री व साज-सज्जा	114·0	111)	131 2	157·1	170·7	859·6	393 3			
12. अलौह धातुएँ	74·5	108 3	178·7	100 4	159 8	336 3	424·2	345·1	414 9	576·1
योग (अन्य आयातों सहित)	1,140 0	2,218 4	4,518 8	5,265 2	5,073 9	9,021·8	12,434·6	17,092 0	20200 7	22399·0

स्रोत : *Economic Survey*, 1985-86

नियोजित विकास की नीतियों के कारण हमें उत्तरोत्तर अधिक मात्रा में बाहर की वस्तुओं का आयात करना पड़ रहा है। परन्तु यह उल्लेखनीय है कि हमारे आयातों की प्रकृति में पिछले दो दशकों की अवधि में काफी परिवर्तन हुए हैं। इन वर्षों में भारत में उन वस्तुओं के आयात में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि की गयी है जिनकी देश के आर्थिक विकास हेतु अधिक आवश्यकता है।

पिछले अध्यायों में हम यह देख चुके हैं कि देश की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई सम्पन्नता के लिए यह आवश्यक है कि हमारे व्यापार-सन्तुलन की अनुकूल बाकी में वृद्धि होती रहे। दूसरे शब्दों में, निर्यात की वृद्धि का अनुपात आयात की वृद्धि के अनुपात से अधिक होने पर ही देश के विदेशी मुद्रा-कोष में वृद्धि हो सकती है। इसके लिए जहाँ एक ओर निर्यात में वृद्धि करना आवश्यक होता है वहीं यह भी आवश्यक होता है कि आयातों पर अंकुश लगाया जाय। परन्तु अब तक भारत में आयातों को सीमित करना दो कारणों से सम्भव नहीं हो पाया है :

(1) भारत में खाद्यान्नों का उत्पादन अनिश्चित होने के कारण हम तत्काल इनका आयात कम नहीं कर सकते। भारत में 1950 के बाद से अब तक अनेक बार व्यापक अकाल की स्थिति उत्पन्न हो चुकी है। आज भी देश के कृषि-क्षेत्र का लगभग 70 प्रतिशत भाग प्रकृति की कृपा पर निर्भर करता है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि भारत में मानसून का समय एवं वर्षा की मात्रा, ये दोनों ही अनिश्चित हैं। फलस्वरूप हमें प्रति वर्ष लाखों टन खाद्यान्न आयात करना पड़ता है। 1988-89 में लगभग 17 2 करोड़ टन खाद्यान्न का उत्पादन होने पर भी अप्रत्याशित संकट का मुकाबला करने हेतु खाद्यान्नों का आयात किया गया।

(2) देश में उपलब्ध प्राकृतिक साधनों के विदोहन हेतु हमें अनेक प्रकार के यन्त्रों, रसायनों व कच्चे माल का आयात करना पड़ता है। अनेक उद्योगों में सम्बद्ध मशीनों के क्षेत्र में आत्मनिर्भर हो जाने के पश्चात् भी भारत को अनेक नये उद्योगों के विकास अथवा विस्तार के लिए मशीनों का आयात करना पड़ता है। अनेक नयी औद्योगिक इकाइयों के लिए आवश्यक कच्चा माल भी हमें विदेशों से मँगाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त पेट्रोलियम पदार्थों तथा कृषि के विकास हेतु उर्वरकों का पर्याप्त मात्रा में आयात करना भी आवश्यक है। परन्तु ये सब आयात इस आशा के साथ किये जा रहे हैं कि अन्ततः भविष्य में इनकी आपूर्ति देश के आन्तरिक स्रोतों से ही करना सम्भव हो सकेगा।

भारत ने 1950-51 में 650 करोड़ रुपये की वस्तुओं का आयात किया था। 1955-56 में आयात 679 करोड़ रुपये के थे परन्तु 1960-61 में इनकी राशि बढ़कर 1,140 करोड़ रुपये हो गयी। 1965-66 में भारत में 2,218 करोड़ रुपये की वस्तुओं का आयात किया गया। परन्तु इसके बाद खाद्यान्नों का उत्पादन 1965-66 की तुलना में अधिक होने के कारण खाद्यान्नों का आयात कम किया गया और फलस्वरूप कुल आयात का स्तर भी 1965-66 की अपेक्षा कम रहा। 1969-70 में भारत के कुल आयात 1,582 करोड़ रुपये के थे। दिसम्बर 1973 के बाद पैट्रोलियम पदार्थों की कीमतों में भारी वृद्धि के बाद भारत का आयात-बिल काफी बढ़ गया है। 1975-76 में हमारे आयातों का कुल मूल्य लगभग 5,265 करोड़ रुपये था। 1976-77 में आयात पूर्वापेक्षा घटकर 5,074 करोड़ रुपये के रह गये जो 1975-76 की तुलना में 4% कम थे। इसके बाद लगातार भारत के आयात बिल में वृद्धि हुई है। जैसा कि तालिका 23 3 से ज्ञात होता है, 1979-80 में भारत ने 9,022 करोड़ रुपये की वस्तुओं का आयात किया जो 1976-77 की तुलना में 78 प्रतिशत अधिक थे। 1981-82 में यह राशि 13,608 करोड़ रुपये थी। जैसा कि ऊपर बताया गया था, 1988 89 में हमारे आयातों का कुल मूल्य 27,693 करोड़ रुपये था। वस्तुतः भारत के प्रतिकूल भुगतान व व्यापार सन्तुलन की पृष्ठभूमि में हमारे आयातों में हो रही आशातीत वृद्धि ही निहित है। तालिका 23·3 भारत के प्रमुख आयातों की प्रवृत्ति पर प्रकाश डालती है।

तालिका 23 3 से यह स्पष्ट होता है कि 1960-61 एवं 1987-88 के ढाई दशकों में भारत के आयात लगभग पन्द्रह गुने हो गये। तालिका 23·2 व 23 3 की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि पिछले कुछ वर्षों में आयातों की वृद्धि-दर निर्यातों की वृद्धि-दर से कम रही है। आयातों की इस वृद्धि को देखते हुए यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि भारत सरकार ने आयातों को सीमित करने हेतु कोई प्रभावी प्रयास ही नहीं किया। वस्तुतः पिछले ढाई दशकों में

आवश्यक वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के आयात हेतु अनेक प्रतिबन्ध लगाये हुए हैं। भारत में विलासिता की एवं अनावश्यक तथा खर्चीली वस्तुओं के आयात पूर्णतः निषिद्ध हैं। जिन वस्तुओं का उत्पादन देश में ही पर्याप्त मात्रा में होने लगता है उनके आयात का भी पूर्णतः निषेध कर दिया गया है। कुछ वस्तुओं का उत्पादन देश में माँग के अनुरूप न होने पर भी उनके आयात की अनुमति इस कारण नहीं दी जाती कि विदेशी विनिमय की अपर्याप्त उपलब्धि के कारण इन वस्तुओं के आयात को आवश्यक नहीं समझा जाता। इलेक्ट्रोनिक्स एवं कारों का आयात इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है।

भारत में विभिन्न वस्तुओं के आयात हेतु प्रत्येक आयातकर्ता को सरकार से लाइसेंस लेना होता है। अनेक परिस्थितियों में तो आयात लाइसेंस को व्यक्ति विशेष के द्वारा निर्यात की गयी वस्तुओं के मूल्य से सम्बद्ध कर दिया गया है। इस नीति से दोहरा लाभ हुआ है। एक ओर जहाँ इससे निर्यात को प्रोत्साहन मिला है वहीं दूसरी ओर इस नीति के द्वारा आयातों की मात्रा एवं प्रकृति पर प्रभावकारी अंकुश लगाया जा सका है। 1985 में भारत सरकार ने अनेक वस्तुओं के आयातों के सम्बन्ध में एक उदार नीति की घोषणा की।

तालिका 23·3 को देखने पर हमें ज्ञात होता है कि 1974-75 की अपेक्षा 1975-76 में आयात की राशि 14% अधिक थी। परन्तु 1972-73 से तुलना करने पर 1975-76 में हमारा आयात 2·76 गुना हो गया था। आयात में इस अल्प-अवधि में इतनी वृद्धि मुख्य रूप से खाद्यान्नों के आयात तथा पैट्रोलियम व पैट्रोलियम पदार्थों के मूल्य में आशातीत वृद्धि के कारण हुई थी। 1973-74 में खाद्यान्नों के आयात पर हमने 473 करोड़ रुपये व्यय किये जो 1972-73 की तुलना में 356 करोड़ रुपये अधिक थे। इसी प्रकार, जहाँ 1972-73 में हमने 204 करोड़ रुपये ही पैट्रोलियम पदार्थों के आयात पर व्यय किये थे, 1982-83 में इनका आयात बिल लगभग 5,600 करोड़ रुपये तक पहुँच गया। अस्तु 10 वर्ष में पैट्रोलियम पदार्थों का आयात बिल लगभग 28 गुना हो गया। परन्तु इसके बाद के वर्षों में पैट्रोलियम पदार्थों का भारत के कुल आयातों में अनुपात कम हुआ। जहाँ 1982-83 में यह अनुपात 39 प्रतिशत था, 1984-85 में यह घटकर 32 प्रतिशत रह गया। फिर भी अब तक भी पैट्रोलियम पदार्थों का आयात भारतीय नीति-निर्धारकों के लिए एक मुख्य सीमा है।

पैट्रोलियम पदार्थों के बाद पूँजीगत वस्तुएँ हमारे आयात बिल में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। इनमें विद्युत यन्त्र, गैर विद्युत यन्त्र तथा परिवहन सामग्री प्रमुख हैं।

अब हम भारत के प्रमुख आयातों की संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत करेंगे :

(1) **खाद्यान्न एवं सम्बद्ध पदार्थ**—भारत में अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया व अर्जेन्टाइना से अनाज का आयात किया जाता है। विभाजन के बाद से ही भारत को प्रति वर्ष अनाज का आयात करना पड़ा, क्योंकि पश्चिमी बंगाल का अन्न-बहुल प्रदेश पाकिस्तान में चला गया। 1960-61 में भारत ने लगभग 286 करोड़ रुपये के खाद्यान्नों का आयात किया। देश के एक बड़े क्षेत्र में अकाल पड़ने के कारण हमने 1966-67 में 423 करोड़ रुपये के खाद्यान्नों, विशेषत: गेहूँ का आयात किया परन्तु सामान्य मौसम एवं सामान्य उत्पादन के कारण खाद्यान्नों का आयात कम होता गया एवं 1972-73 के वर्ष में केवल 81 करोड़ रुपये के खाद्यान्न बाहर से मँगाये गये। 1970-71 तक भारत में मँगाये गये अधिकांश खाद्यान्न PL-480 के अन्तर्गत प्राप्त किये गये थे। खाद्यान्नों का बिल 1974-75 में बढ़कर 473 करोड़ रुपये तथा 1975-76 में बढ़कर 1,338 करोड़ रुपये का हो गया। 1976-77 में खाद्यान्नों का उत्पादन पर्याप्त होने पर भी हमने तटस्थ भण्डार के निर्माण हेतु 868 करोड़ रुपये के खाद्यान्नों का आयात किया। परन्तु कुल मिलाकर जैसे-जैसे भारत स्वावलम्बन की दिशा में बढ़ रहा है, हमारे खाद्यान्नों के आयात में कमी होती जा रही है। 1977-78 में खाद्यान्नों तथा इनसे बनी वस्तुओं का आयात 122 करोड़ रुपये का था। 1979-80 में खाद्यान्नों के आयात हेतु भारत ने 106 करोड़ रुपये व्यय किये थे। 1982-83 में भारत द्वारा 306·5 करोड़ रुपये के खाद्यान्नों एवं सम्बद्ध पदार्थों का आयात किया गया। इसके बाद 1988-89 में देश में खाद्यान्नों का रिकार्ड उत्पादन (17·2 करोड़ टन) होने के कारण आयात की मात्रा में काफी कमी हो गयी। इस वर्ष केवल 21 लाख टन खाद्यान्न का आयात किया गया। जैसा कि तालिका 23·3 से स्पष्ट है भारत ने अनाजों का आयात एकदम बन्द कर दिया है क्योंकि अब हम इस दृष्टि से लगभग आत्मनिर्भर हो चुके हैं।

खाद्यान्नो के अतिरिक्त भारत काफी मात्रा मे खाद्य-तेलो का भी आयात करता है। 1981-82 मे 625 करोड रुपये के तुल्य खाद्य तेलो का आयात किया गया परन्तु 1982-83 मे यह राशि घटकर 418 करोड रुपये रह गयी। 1981-82 तथा 1982 83 मे आयात किये गये खाद्य तेलो की मात्राएँ क्रमश 10 2 लाख टन व 9 8 लाख टन थी। यह उल्लेखनीय है कि 1982-83 मे विश्व के बाजारो म खाद्य तेलों की कीमतों मे औसतन 12 5 प्रतिशत की कमी हुई थी। 1982-83 व 1984-85 के मध्य कुल आयातो मे खाद्य तेलो का अनुपात 2 8 प्रतिशत से बढकर 4 9 प्रतिशत हो गया। देश मे खाद्य तेलो की काफी कमी होने से हम ये आयात करने पडते हैं। 1984 85 के वर्ष म आयात बिल की दृष्टि से खाद्य-तेलो के आयात मूल्य मे 53 5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। यह उल्लेखनीय है कि इस वर्ष खाद्य-तेलो की कीमतें 1983-84 की अपेक्षा 30 3 प्रतिशत अधिक रही थी। इसके साथ ही 1984 85 मे भारत ने पूर्वापेक्षा लगभग 18 प्रतिशत अधिक मात्रा मे खाद्य-तेलो का आयात किया।

(2) रुई ऊन तथा कच्ची जूट—देश के विभाजन के समय जहाँ जूट का उत्पादन करने वाला समस्त देश पूर्वी पाकिस्तान (अब बाँगला देश) म चला गया वहीं जूट की समस्त मिलें भारत म रह गयी। इसी प्रकार लम्बे रेशे की रुई का उत्पादन करने वाले क्षेत्र का एक बडा भाग भी पाकिस्तान मे चला गया। फलस्वरूप हमें इन दोनों ही की पूर्ति के लिए विदेशो पर निर्भर रहना पडा। जैसा कि तालिका 23 6 से स्पष्ट है, 1960 61 मे भारत ने लगभग 129 करोड रुपये की रुई तथा 12 करोड रुपये की कच्ची जूट का निर्यात किया था। धीरे-धीरे भारत मे ही रुई का उत्पादन बढाया गया और इसके फलस्वरूप आयात पर हमारी निर्भरता म पर्याप्त कमी हुई। 1977-78 म भारत ने 200 करोड रुपये की रुई का आयात किया। इसके बावजूद कच्ची ऊन के आयात मे पर्याप्त कमी करना सम्भव नही हो पाया है। 1977-78 मे भारत ने लगभग 29 करोड रुपये की ऊन का आयात किया। 1980-81 में भी लगभग 38 करोड रुपये के मूल्य की ऊन बाहर से मँगाई गयी थी। इसके विपरीत रुई व जूट का आयात गत वर्षों मे लगभग नगण्य रह गया है।

पिछले कुछ वर्षों से भारत ने मानव निर्मित (कृत्रिम) रेशे का पर्याप्त मात्रा मे आयात प्रारम्भ किया है। 1976-77 मे कृत्रिम रेशे का आयात 30 करोड रुपये के मूल्य का था जो 1977-78 मे बढकर 192 करोड रुपये का हो गया। इसके पश्चात इसमें कमी हुई है तथापि 1980-81 मे हम 90 करोड रुपये से अधिक की राशि कृत्रिम रेशो के आयात पर खर्च करनी पडी थी। यह राशि 1983 84 मे 103 करोड रुपये थी, परन्तु 1984-85 मे घटकर 49 करोड रुपये रह गयी।

(3) पैट्रोलियम एवं पैट्रोलियम पदार्थ—देश मे परिवहन के साधनो के विकास तथा औद्योगिक विकास के कारण एव बढती हुई ईंधन की आवश्यकता के कारण पैट्रोल एव पैट्रोलियम पदार्थों की माँग काफी बढी है। यद्यपि बॉम्बे हाई, गुजरात व असम मे पैट्रोल के विशाल भण्डार का पता चला है तथापि वह कितने समय बाद देश की आवश्यकता का कितना भाग पूरा कर सकेगा, यह कहना अभी कठिन है। भारत पैट्रोल व पैट्रोलियम पदार्थों का अपनी आवश्यकता का लगभग आधे से अधिक विदेशो से आयात करके पूरा करता है। जैसा कि ऊपर बताया गया है दिसम्बर 1973 से 1978 तक अरब देशो द्वारा क्रूड ऑयल के मूल्यो म आशातीत वृद्धि हुई और फलस्वरूप आन्तरिक उपभोग म कमी करने के उपरान्त भी हमारे क्रूड आयल के आयात बिल मे काफी वृद्धि हुई। 1973 74 मे भारत ने इस समूह पर 560 करोड रुपये व्यय किये। यह राशि 1974-75 में 1,157 करोड रुपये तक तथा 1975-76 मे 1,225 7 करोड रुपये तक पहुँच गयी। 1976-77 मे इस समूह के आयात पर 1,412 करोड रुपये व्यय किये गये। यह राशि गत वर्ष की इसी अवधि म हुए आयात से 15 प्रतिशत अधिक थी। जैसा कि तालिका 23 7 म प्रदर्शित किया गया है पैट्रोलियम पदार्थों का अनुपात आज हमारे कुल आयात मे लगभग 40 से 45 प्रतिशत है। 1977-78 मे भारत ने लगभग 1,550 करोड रुपये के मूल्य का पैट्रोल एव पैट्रोलियम पदार्थों का आयात किया। बॉम्बे हाई तथा देश के अन्य भागो म खनिज तेल की उपलब्धि के बाद यह आशा की जाने लगी है कि अगले दस वर्ष मे भारत पैट्रोलियम पदार्थों की दृष्टि से आत्मनिर्भर हो जायेगा। यह भी आशा की जाती है कि देश मे ऊर्जा के नये स्रोतों की खोज भी इस दिशा म सहायक होगी। इसके बावजूद भी 1979-80 व 1980-81 के वर्षों म

भारत ने क्रमश 3,267 करोड़ व 5,587 करोड़ रुपये के पैट्रोलियम पदार्थों का आयात किया। 1982-83 में भारत द्वारा लगभग 5,600 करोड रुपये के मूल्य के पैट्रोलियम पदार्थों का आयात किया गया। जैसा कि तालिका 23·3 से स्पष्ट है, 1987-88 में भारत ने लगभग 4,083 करोड रुपये मूल्य के खनिज तेलो का आयात किया। 1987-88 में अनुमानतः इनके आयात-मूल्य गत वर्ष की अपेक्षा 9 प्रतिशत अधिक रहे। वस्तुत. पिछले कुछ वर्षों में भारत में पैट्रोलियम पदार्थों का उपभोग 7 5 प्रतिशत की वार्षिक दर से बढ़ा है जो काफी अधिक है। इस दर को कम करने की दृष्टि से ही फरवरी 1986 मे इनकी कीमतो मे वृद्धि की गयी। सरकार को ऐसी आशा है कि इससे इनके उपभोग की वृद्धि दर तथा आयात बिल को कम करने में सहायता मिलेगी।

(4) उर्वरक (रासायनिक खाद) तथा रसायन—भारत के नियोजित आर्थिक विकास मे कृषि की महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की गयी है। विशेष रूप से गत एक दशक मे जिस गति से उन्नत बीजो का उपयोग बढ़ा है तथा सिंचाई के साधनो का विस्तार हुआ है, उसी के अनुरूप उर्वरको अर्थात् रासायनिक खाद की माँग मे भी वृद्धि हुई है। अब तक भी देश रासायनिक खाद के उत्पादन मे आत्मनिर्भर नही हो सका है और फलस्वरूप हमे भारी मात्रा में उर्वरकों या इनके उत्पादन हेतु आवश्यक कच्चे माल का आयात करना पड रहा है। इसी प्रकार, औद्योगिक विकास एव कीट-नाशक औषधियो के निर्माण हेतु हमे भारी मात्रा में रसायनों (Chemicals) का आयात करना पड रहा है। उर्वरक यूरोप के देशो तथा अमरीका से आयात किये जाते है। दो दशक पूर्व रासायनिक पदार्थों व उर्वरको का मिला-जुला आयात लगभग 14 करोड रुपये मूल्य का था। 1970-71 तक ये आयात बढ़कर 216·5 करोड रुपये के हुए परन्तु उसके बाद उनमे अनवरत रूप से तीव्र वृद्धि हुई है। 1979-80 मे इन दोनों का सयुक्त आयात 1,100 करोड़ रुपये मूल्य का था जिसमें से 515 करोड रुपये की राशि उर्वरको व सम्बद्ध कच्चे माल के आयात पर तथा शेष रसायनो के आयात पर व्यय की गयी थी। 1980-81 मे 758 करोड रुपये मूल्य के उर्वरक व इनसे सम्बद्ध कच्चे माल का आयात किया गया जबकि रसायनों के आयात की राशि लगभग 550 करोड रुपये थी। 1982-83 मे सभी प्रकार के आयातित रसायनो तथा रासायनिक उर्वरको का मूल्य लगभग 675 करोड रुपये था। 1984-85 मे 872 करोड रुपये मूल्य के तैयार तथा अर्द्ध-निर्मित उर्वरको का आयात किया जो कुल आयातो का 5·7 प्रतिशत भाग था। 1983-84 में यह अनुपात केवल 1 6 प्रतिशत ही रहा था। रासायनिक उर्वरको के आयात बिल में वृद्धि का एक कारण यह भी था कि 1984-85 मे इनकी आयात-कीमतो मे 56·4 प्रतिशत वृद्धि हो गयी थी। सातवी योजना के प्रथम वर्ष 1985-86 मे इनका आयात 1,436 करोड रुपये का था जो 1987-88 में घटकर 486 करोड़ रुपये का रह गया।

(5) कागज, गत्ता, लुग्दी व कागज की वस्तुएँ—हमारे देश मे कागज, विशेष रूप से उच्चकोटि के कागज एव अखबारी कागज का उत्पादन माँग की अपेक्षा बहुत कम है। शिक्षा व ज्ञान के प्रसार ने साथ-साथ इनकी माँग मे पर्याप्त वृद्धि हुई है। 1960-61 व 1975-76 के बीच इस समूह की मदो का आयात 22 करोड रुपये से बढ़कर लगभग 72 करोड रुपये का हो गया। 1976-77 मे भारत मे 73 7 करोड रुपये का कागज, गत्ता व लुग्दी का आयात किया गया। 1982-83 मे इनके आयात पर लगभग 147 5 करोड रुपये व्यय किये गये। जैसा कि तालिका 23 3 से स्पष्ट है, इस मद का आयात बिल 1986-87 से 1987-88 मे भी नाममात्र को बढ़ा था।

(6) लोहा व इस्पात—औद्योगिक विकास एव बढ़ती हुई निर्माण क्रियाओ के कारण भारत मे लोहा व इस्पात की माँग काफी तेजी से बढ़ रही है जबकि चारो सार्वजनिक क्षेत्र के एव दो निजी क्षेत्र के प्रमुख इस्पात कारखाने इस बढ़ती हुई माँग को पूरा करने मे असमर्थ है। यही कारण है कि भारत को काफी मात्रा मे ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी एव अमरीका से लोह व इस्पात का सामान मँगाना पडता है। 1972-73 मे इस समूह का आयात लगभग 326 करोड रुपये का था जो 1975-76 मे बढ़कर 312 करोड रुपये का हो गया। 1976-77 मे भारत ने 200 करोड रुपये के मूल्य के लोहे व इस्पात का आयात किया। 1977-78 मे 260 करोड रुपये के मूल्य का लोह व इस्पात आयात किया। परन्तु 1979-80 व 1980-81 मे क्रमशः इनकी राशि बढ़कर 834 करोड रुपये व 779 करोड रुपये हो गयी। 1987-88 मे लोहे व इस्पात के आयात पर 1,273 करोड रुपये की रिकार्ड राशि व्यय की गयी। इस वर्ष लोहे व इस्पात का कुल आयातो

मे अनुपात लगभग 8 प्रतिशत था। परन्तु इसके बाद के वर्षों मे इस मद का आयात बिल कम हुआ है। 1987-88 तक लौह-इस्पात का कुल आयात मे अनुपात घटकर 4 5 प्रतिशत रह गया था।

(7) **मशीनें व परिवहन उपकरण**—बढती हुई औद्योगिक आवश्यकताओ एव आर्थिक-सामाजिक चेतना के कारण पिछले दो दशको मे परिवहन के साधनो का भी पर्याप्त विस्तार हुआ है। इसी प्रकार यन्त्रो के बढते हुए उपयोग ने मशीनो की माँग को बढाया है। इन सभी का देश मे उत्पादन अत्यन्त अपर्याप्त है। इसी कारण भारत को काफी मात्रा मे मशीनो व परिवहन उपकरणो का आयात करना पडता है। इन उपकरणो का आयात मुख्य रूप से ब्रिटेन, अमरीका, कनाडा, पश्चिमी जर्मनी एव जापान से किया जाता है। 1972-73 म विद्युत-यन्त्रो के अतिरिक्त मशीनो का आयात 285 करोड रुपये का था। इनके अतिरिक्त विद्युत-यन्त्रो एव परिवहन उपकरणो के आयातो पर क्रमश 124 करोड रुपये एव 100 करोड रुपये व्यय किये गये। 1975-76 मे परिवहन उपकरणो का आयात 157 करोड रुपये का था जबकि विद्युत-यन्त्रो तथा गैर-विद्युत यन्त्रो एव साज-सज्जा के आयात का मूल्य क्रमश 201 करोड एव 577 करोड रुपय था। कुल मिलाकर भारत मे मशीनो तथा साज-सज्जा (सभी प्रकार की) के आयात राशि का कुल आयात मे अनुपात 18 से 20 प्रतिशत रहा है। 1977-78 1979-80 तथा 1980-81 मे क्रमश 1,306 करोड रुपये, 1 430 करोड रुपये एव 1 652 करोड रुपये के मूल्य की पूंजीगत वस्तुओ का भारत म आयात किया गया। जैसा कि तालिका 23 6 से ज्ञात होता है इन आयातो मे गैर-विद्युत यन्त्रो व साज-सज्जा का अनुपात लगभग 60 प्रतिशत तथा परिवहन साज-सज्जा का अनुपात लगभग 23 प्रतिशत रहा है। जैसा कि तालिका 23 3 मे बताया गया है 1982-83 मे लगभग 1,383 करोड रुपये मूल्य के गैर-विद्युत यन्त्रो लगभग 190 करोड रुपये मूल्य के विद्युत यन्त्रो तथा लगभग 600 करोड रुपये मूल्य की परिवहन साज सज्जा का आयात किया गया। 1986 87 मे सभी प्रकार की पूंजीगत वस्तुओ के आयात म 9 8 प्रतिशत की वृद्धि हुई। उस वर्ष इनका कुल मूल्य लगभग 2 888 करोड रुपये था। 1987 88 मे इनका आयात बिल घटकर 1,115 करोड रुपय रह गया। यह उल्लेखनीय है कि गत कुछ वर्षो म पूंजीगत वस्तुओ का अनुपात कुल आयातो मे 18-19 प्रतिशत रहा है।

इसके अलावा 1982-83 के आयातो मे अनिर्मित तथा अर्द्धनिर्मित जवाहरातो का महत्वपूर्ण स्थान था जिन पर लगभग 677 करोड रुपये व्यय किये गये। 1983-84 व 1984 85 मे यह राशि क्रमश 1,082 करोड रुपये व 1,027 करोड रुपये रही थी।

आयात व्यापार की प्रवृत्तियाँ

उपर्युक्त विवरण तथा तालिका 23 2 व 23 3 को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ भारत के निर्यातो मे पिछले दस-पन्द्रह वर्षो मे विविधीकरण हुआ है तथा परम्परागत निर्यातो का स्थान अनेक नयी वस्तुओं द्वारा लिया जाने लगा है, वहीं आयातो के क्षेत्र म आज भी कुछ मदो या आयात समूहो का प्रभाव अधिक है। तालिका 23 4 से यह प्रवृत्ति स्पष्ट हो सकती है।

तालिका 23 4 से यह स्पष्ट है कि भारत के आयातो मे 1976-77 तक भी लगभग एक चौथाई राशि खाद्यान्नो के लिए प्रयुक्त की गयी थी। लगभग 30% आयात 1960-61 मे सभी प्रकार की मशीनो के लिए किया गया था, परन्तु 1982-83 तक इसम कमी होती रही और इस समय अनुपात 12% रह गया। इसके बाद के वर्षों मे साज-सज्जा उपकरणो व मशीनो का कुल आयात म अनुपात 18 से 19 प्रतिशत रहा है। पैट्रोलियम पदार्थों व रासायनिक खाद क आयात पर व्यय की गयी राशि जो 1965-66 तक कुल आयात बिल म 13 प्रतिशत ही थी, 1979-80 तक बढकर लगभग 36 प्रतिशत हो गयी। यह अनुपात 1982-83 म 39 प्रतिशत था। परन्तु 1984-85 तक यह अनुपात घटकर 32 प्रतिशत रह गया था।

सातवीं पंचवर्षीय योजना तथा आयातों का पूर्वानुमान

सातवी योजना की अवधि (1985 90) मे पैट्रोलियम पदार्थों की माँग मे 5 5 प्रतिशत से 6 4 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि का अनुमान था। योजना के अन्त तक इनका आयात बिल 5 136 करोड रुपये होने की आशा है जो कुल आयात का 25 प्रतिशत होगा। पैट्रोलियम पदार्थों व उर्वरको का देश मे ही उत्पादन पर्याप्त बढाने हेतु मानवी योजना मे काफी प्रयास किये जायेंगे जिनके फलस्वरूप 1989-90 तक 20,694 करोड रुपये के कुल आयातो मे इनका संयुक्त अनु-

तालिका 23·4

आयातित वस्तुओं एवं समूहों का अनुपात (प्रतिशत)

मद/आयात समूह	1960-61	1965-66	1975-76	1979-80	1982-83	1983-84	1984-85	1987-88
1. अनाज एवं अनाज से निर्मित पदार्थ	15·9	22 8	25·9	2 99	2 13	3·1	1 0	0 1
2. रेशे	7 8	4 0	1·1	1·71	0 40	0 6	0 3	N.A.
3. पेट्रोल एवं पेट्रोलियम पदार्थ	6·1	4·8	23 8	36·21	39 00	30·6	32·1	18 2
4. रासायनिक उर्वरक एवं रसायन	7 8	8·3	15·2	12·20	4 70	2 0	5 8	2 0
5 लोहा व इस्पात	10 8	7·0	5 9	9 25	7 98	6·1	4 5	N A.
6. कागज, गत्ता, लुग्दी आदि	1·3	1·3	1·4	2 06	1 03	1 1	1·0	
7. विद्युत यन्त्र एवं साज-सज्जा	5·0	6·2	3 6	1 90	1 32			28·1
8 गैर-विद्युत यन्त्र व मशीनें	17 8	23·7	10 9	9·53	9 63	18 9	16 0	
9. परिवहन सामग्री व साज-सज्जा	6 3	5 0	2 5	3·73	4·18			
10. अलौह वस्तुएँ	4 2	4 9	1 9	3 73	1 94	2·3	2·0	1 8

पात 39 4 प्रतिशत (1984-85 मे 38 प्रतिशत) रहने की आशा है। लोहे व इस्पात के आयात का अनुपात सातवी योजना-काल म 6 2 प्रतिशत से घटकर 4 3 प्रतिशत रह जायेगा।

सातवी योजना के दौरान आयातो की वार्षिक वृद्धि दर 5 8 प्रतिशत तथा निर्यातो की वृद्धि दर 7 प्रतिशत रहने की आशा है। अनुमानत व्यापार का घाटा इस अवधि मे 55 37 अरब से थोडा सा बढकर 68 6 अरब रुपये का होगा। यदि निर्यातो की वृद्धि अपेक्षा से अथवा आयातो की वृद्धि से वस्तुत कम हुई तो व्यापार का वास्तविक घाटा 1989-90 में 68 8 अरब से कही अधिक होगा।

भारत के विदेशी व्यापार में प्रमुख परिवर्तन
[PRINCIPAL CHANGES IN INDIA S FOREIGN TRADE]

भारत के विदेशी व्यापार मे पिछले पैंतीस वर्षो मे अनेक परिवर्तन हुए। इनमे से प्रमुख परिवर्तनो को हम निम्न प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं

(1) विदेशी व्यापार के मूल्य एव परिमाण मे परिवर्तन—आर्थिक नियोजन के गत पच्चीस वर्षो मे भारत के विदेशी व्यापार म निरन्तर वृद्धि हुई। जैसा कि ऊपर बताया गया था, देश के आर्थिक विकास एव देश की जनता के लिए पर्याप्त खाद्यान्न की आपूर्ति हेतु हमने अपने आयातों मे काफी वृद्धि की है। इसी प्रकार, अधिकाधिक विदेशी विनिमय की प्राप्ति हेतु भारत सरकार ने निर्यात-सवर्द्धन नीति अपनायी है। विगत दो दशका म निर्यात एव आयात की जाने वाली वस्तुओ के मूल्य भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-स्फीति के कारण काफी बढ गये हैं। परन्तु जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है हाल के वर्षो मे आयातो के मूल्य निर्यातो की तुलना मे अधिक बडे हैं। परिणामस्वरूप हमारे विदेशी व्यापार (व्यापार व निर्यात) के परिमाण एव मूल्य दोनो में ही पिछले दो दशको म काफी वृद्धि हुई है। तालिका 23 5 इस प्रवृत्ति को स्पष्ट करती है।

तालिका 23 5 (राशि करोड रुपयो में)

वर्ष	आयात	निर्यात	कुल विदेशी व्यापार
1950-51	650 2	600 6	1,250·8
1955-56	678 8	596 3	1,275 1
1960-61	1,795 0	1,039 8	2 834 8
1965-66	2 218·4	1,268 9	3,447·3
1969-70	1,582 1	1,413 3	2 995 4
1973-74	2,920 9	2,483 2	5,404 1
1974-75	4,518 8	2,328 8	7,847 6
1975-76	5,265 2	4,042 8	9,308 0
1976 77	5 073·9	5,243 2	10,217·1
1977-78	602 2	5,407 9	11,428·1
1978-79	6,814 3	5,726 2	12 540 6
1979-80	9,041 8	6,458 8	15,480 6
1980-81	12,524 0	6,711 0	19,234 0
1981-82	13,608 0	7,806 0	21,414 0
1982-83	13,356 0	8,908 0	22,264 0
1983-84	16,763 0	9,872 0	26,635 0
1984-85	16,485 0	11,297 0	27,782 0
1985-86	19,657 0	10,895 0	30,552 0
1986-87	20,201·0	12,452 0	32,653 0
1987-88	22,399 0	15,741 0	38,140 0
1988-89	27,693 0	20,281 0	47,974 0

इस प्रकार आर्थिक नियोजन के विगत 35 वर्षो मे भारत का कुल विदेशी व्यापार लगभग 23 गुना हो गया है।

(2) **व्यापार के ढांचे (Composition) में परिवर्तन**—हमारे आयात व निर्यात की प्रमुख वस्तुओं में दो दशकों में हुए प्रमुख परिवर्तनों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, पूर्वापेक्षा भारत में गैर-परम्परागत निर्यातों में अधिक वृद्धि हुई है। विशेष रूप से इन्जीनियरिंग की वस्तुओं, चमड़े व दस्तकारी की वस्तुओं, लोहा व इस्पात तथा कच्चे लोहे के निर्यात से आज भारत को बहुत अधिक विदेशी विनिमय की प्राप्ति होती है। आज भारत के परम्परागत निर्यातों (जूट की वस्तुओं, चाय व सूती वस्त्र) का कुल निर्यात में अनुपात 12-13 प्रतिशत रह गया है जबकि 1950-51 में यह अनुपात 45% से अधिक था। पिछले दो दशकों में इन्जीनियरिंग की वस्तुओं के निर्यात भी काफी बढ़े हैं हालांकि विगत दो-तीन वर्षों में इनमें कुछ कमी हुई है, जबकि जवाहरात व आभूषणों के निर्यात से प्राप्त आय गत 20 वर्षों में ही बीस गुनी हो गयी है। आज भारत मछली व इनसे बने पदार्थों, हस्तकला की वस्तुओं, रेडीमेड वस्त्रों, रासायनिक पदार्थों, कॉफी तथा काजू जैसी गैर-परम्परागत वस्तुओं का भी भारी मात्रा में निर्यात कर रहा है, तथा उत्तरोत्तर निर्यातों में इनका अनुपात बढ़ रहा है। जैसा कि ऊपर बताया गया था, भारत से हाल के वर्षों में क्रूड ऑयल का भी निर्यात किया जाने लगा है। देश में पर्याप्त प्रशोधन क्षमता न होने के कारण 1987-88 में लगभग 648 करोड़ रुपये के तुल्य क्रूड ऑयल का निर्यात किया गया। कुल मिलाकर भारत के गैर-परम्परागत निर्यातों का अनुपात ढाई दशकों में काफी बढ़ा है जबकि परम्परागत वस्तुओं के निर्यातों में अपेक्षाकृत कमी हुई है।

जैसा कि पहले बताया गया है भारत के आयातों के गठन में भी पिछले दो दशकों में काफी परिवर्तन हुए हैं। आज हमारे प्रमुख आयातों में मशीनों, पैट्रोलियम व पैट्रोलियम पदार्थों, परिवहन उपकरणों व भारी विद्युत-यन्त्रों की गणना की जा सकती है। लोहा व इस्पात तथा सभी प्रकार की मशीनों का आयात काफी बढ़ने के पश्चात भी कुल आयात में इनका 1960-61 तथा 1987-88 के बीच 40% से घटकर 22 प्रतिशत रह गया है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि जहाँ स्वतन्त्रता के पूर्व तक हमारे आयात देश की जनता की उपभोग्य आवश्यकता की पूर्ति करते थे, आज अधिकांश वस्तुएँ आर्थिक विकास की गति को बढ़ाने हेतु आयात की जाती हैं। इसी प्रकार 1985 से आयात-नीति में उन वस्तुओं के आयात को उच्च प्राथमिकता दी गयी है जो हमारे निर्यातों को बढ़ाने में सहायक हो सकती हैं। इस प्रकार आयातों को आर्थिक विकास से जोड़ दिया गया है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, हमारे आयातों में भी गैर-परम्परागत वस्तुओं का अनुपात तेजी से बढ़ रहा है।

(3) **व्यापार की दिशा में परिवर्तन**—स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय तक हमारे अधिकांश निर्यात ब्रिटेन व राष्ट्रकुल के अन्य देशों को होते थे, आज भारत का निर्यात व्यापार जिन देशों से है उनमें अमरीका, सोवियत रूस व जापान प्रमुख हैं यद्यपि ब्रिटेन अब भी विदेशी व्यापार में हमारा एक प्रमुख भागीदार है। पिछले दो दशकों में भारत से अरब देशों, पूर्वी अफ्रीका के देशों तथा पूर्वी यूरोप के (समाजवादी) देशों को भी काफी मात्रा में वस्तुएँ भेजी जाने लगी हैं। यद्यपि ये विकासशील देश (पूर्वी यूरोप के देशों के अतिरिक्त) अभी तक भारतीय निर्यात व्यापार के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र नहीं बन पाये हैं, तथापि यह एक प्रसन्नता की बात है कि नये बाजारों में हमारी वस्तुओं का निर्यात होने लगा है। यही नहीं हमारी निर्यातित वस्तुओं की संख्या में भी पिछले दो दशकों में काफी वृद्धि हुई है। इसी प्रकार आयात के लिए भी हमारे व्यापारिक सम्बन्ध ब्रिटेन व राष्ट्रकुल के देशों तक सीमित न रहकर लैटिन अमरीकी देशों, जापान, पूर्वी एशिया, मध्य-पूर्व, रूस, पश्चिमी यूरोप के देशों एवं मध्य-अफ्रीका के देशों तथा अमरीका से बढ़े हैं।

तालिका 23.6 में 1970-71 तथा 1987-88 के बीच हमारे विदेशी व्यापार की दिशाओं में हुए परिवर्तन को प्रस्तुत किया गया है।

तालिका 23.6 से स्पष्ट होता है कि पिछले पन्द्रह वर्षों में भारत के विदेशी व्यापार में राष्ट्रकुल देशों की अपेक्षा सोवियत रूस, पूर्वी यूरोप के अन्य देशों के अतिरिक्त जापान तथा पेट्रोल निर्यातक देशों से काफी तेजी के साथ वृद्धि हुई है। पिछले 4-5 वर्षों में ईरान भी भारत के एक प्रमुख व्यापारिक भागीदार के रूप में उभरा है। संयुक्त राज्य अमरीका, ईरान, यूरोपियन साझा बाजार के देशों (ब्रिटेन को छोड़कर), आस्ट्रेलिया व कनाडा के साथ जहाँ हमारा व्यापार सन्तुलन लगातार ऋणात्मक चलता रहा है, वहीं सोवियत रूस व पूर्वी यूरोप के साथ भारत के निर्यात सामान्य तौर पर आयातों से अधिक रहे हैं।

तालिका 23 6

भारत के विदेशी व्यापार का क्षेत्रीय वितरण

(1970-71, 1980-81 तथा 1987-88)

(राशि करोड़ रुपयों में)

क्षेत्र/देश	1970-71		1980-81		1987-88	
	निर्यात	आयात	निर्यात	आयात	निर्यात	आयात
I. आर्थिक सहयोग तथा विकास संगठन :	769	1042	3126	5740	9256	13887
(अ) साझा बाजार के देश :	282	320	1447	2639	3957	7441
(i) बेल्जियम	20	11	144	296	484	1404
(ii) फ्रान्स	18	21	147	280	375	809
(iii) प. जर्मनी	32	107	385	694	1061	2178
(iv) नीदरलैण्ड्स	14	19	152	214	282	445
(v) ब्रिटेन	170	127	395	731	1033	1811
(ब) उत्तरी अमरीका :	235	570	806	1851	3078	2330
(i) कनाडा	28	117	62	332	170	305
(ii) सं. रा. अमरीका	207	453	743	1619	2907	2025
(स) एशिया एवं अन्य क्षेत्र :	234	121	708	932	1823	2668
(i) आस्ट्रेलिया	24	37	91	170	181	497
(ii) जापान	203	83	598	749	1615	2119

II. तेल-निर्यातक देश (OPEC) :	99	126	745	3486	981	3321
(i) ईरान	27	92	123	1339	139	120
(ii) इराक	10	3	52	725	17	373
(iii) कुवैत	16	6	97	338	106	483
(iv) सऊदी अरब	14	24	165	540	296	1387
III पूर्वी यूरोप :	323	220	1486	1296	2594	1796
(i) सोवियत रूस	25	19	49	44	106	95
(ii) पूर्वी जर्मनी	14	17	58	97	69	57
	210	106	1226	1014	1971	1279
IV. विकासशील देश :	305	239	1286	1966	2239	3877
(i) अफ्रीकी देश	129	169	350	205	320	672
(ii) एशियाई देश	166	54	900	1431	1874	2705
(iii) द. अमरीकी देश	10	16	36	313	44	500
V. अन्य देश :	'40	8	68	60	672	19
कुल योग (I से V)	1535	1634	6711	12549	15741	22399

Source : *Economic Survey*, 1988-89, Table 6·9.

तालिका 23 6 से निम्नलिखित महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त हो सकते हैं :

(i) 1970-71 तथा 1986-87 के बीच जहाँ भारत के निर्यातो व आयातो मे 7 5 गुनो व 10 5 गुनो वृद्धि हुई, वही हमारे व्यापार के भागीदार देशो के भारत के साथ हुए आयात व निर्यात मे भी भारी परिवर्तन हुआ है। आनुपातिक दृष्टि से प्रमुख भागीदारो का भारत के साथ व्यापार निम्न रूप मे परिलक्षित होता है :

(प्रतिशत)

	निर्यात			आयात		
	'70-71	'84-85	'86 87	'70-71	'84-85	'86 87
स रा अमरीका	13 5	15 3	18 5	27 ?	9 7	9 0
ब्रिटेन	11 1	5 8	6 6	7 8	6 0	8 1
जापान	13 3	9 2	10 3	5 1	7 3	9 5
प जर्मनी	2 1	4 1	6 7	6 6	7 6	8 1
नीदरलैण्ड्स	0 9	1 6	1 5	1 2	2·1	2 0
सोवियत रूस	13 7	14 3	12 5	6 5	10 5	5 7
सऊदी अरब	0 9	2 1	1 9	1 5	7 3	6 2
एशियाई विकासशील देश	10 8	3·3	11 9	10 1	13 4	12 1

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि जहाँ 1970-71 मे अमरीका, ब्रिटेन जापान आदि विकसित देशो की हमारे विदेशी व्यापार मे प्रमुख भागीदारी थी, 1987-88 तक आयातो मे सोवियत रूस तथा एशियाई विकासशील देशो का स्थान अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण हो गया। फिर भी, 1987-88 तक भी हमारे निर्यातो का लगभग 31 प्रतिशत उक्त तीन देशो को भेजा जा रहा था।

(ii) 1973 मे तेल की कीमतें बढने के फलस्वरूप तेल निर्यातक देशो से आयात के मूल्य अचानक बढ गये। जहाँ 1970-71 मे कुल आयातो म इनका अनुपात 7 67 प्रतिशत ही था, 1975-76 मे लगभग 22 प्रतिशत हो गया। 1987-88 मे यह अनुपात 20 75 प्रतिशत था।

(iii) यूरोप तथा खाडी के देशो मे निर्यात-संवर्द्धन हेतु किये गये प्रयासो के फलस्वरूप इन क्षेत्रो मे हमारे निर्यातो का अनुपात बढा है। 1970-71 मे ब्रिटेन को छोडकर पश्चिमी यूरोप के देशो को हमारे निर्यातो का अनुपात 7 प्रतिशत था जो 1987-88 मे बढकर 10 प्रतिशत हो गया। इसी अवधि मे प्रमुख खाडी के देशो को हमारे निर्यातो का अनुपात 3 6 प्रतिशत से बढकर 6·5 प्रतिशत हो गया।

(iv) निर्यातो का पर्याप्त विस्तार होने पर भी भारत विकासशील देशो मे अपनी वस्तुओं के लिए बाजार खोजने मे सफल नही हो पा रहा है।

भारत के निर्यात व आयात दोनो की दृष्टि से एशिया के अधिकाश देशो (जापान को छोड कर) अफ्रीका व लेटिन अमरीका के देशो से हमारे व्यापार सम्बन्धो मे उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ है। सभी विकासशील देशो से हमारे आयातो व निर्यातो का अनुपात 1987-88 मे क्रमश 18 प्रतिशत व 31 प्रतिशत हो ये।

यह एक रोचक तथ्य है कि जहाँ कुछ वर्ष पूर्व तक सोवियत रूस के साथ भारत का व्यापार-शेष अनुकूल रहा था, 1987-88 तक इस देश के साथ भी व्यापार-शेष प्रतिकूल हो गया। (47 प्रतिशत) पेट्रोल निर्यातक देशो के साथ किये गये व्यापार मे हुआ। यह घाटा 1987-88 मे बढकर 2,325 करोड रुपये का हो गया।

जिन देशो या क्षेत्रो के साथ गत 25 वर्षो मे भारत के आयात व निर्यात काफी अधिक बढे है वे इस प्रकार हैं : सोवियत रूस (11 गुना); जापान (8 गुना), कनाडा (4½ गुना),

संयुक्त राज्य अमरीका (4 गुना); ब्रिटेन (5 7 गुना) तथा ईरान (5 4 गुना)। नीदरलैण्ड्स में हमारा व्यापार 16 5 गुना होने पर भी कुल व्यापार में इन देशों का अनुपात कम है।

परन्तु जैसा कि आगामी पृष्ठों में और अधिक विस्तार से बताया जायगा, एक दशक पूर्व भारत के व्यापार का तीन चौथाई भाग पश्चिम के विकसित देशों से था। आज हमारे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में जापान, पेट्रोल निर्यातक देशों एवं साझा बाजार के देशों का महत्वपूर्ण स्थान होने पर भी सोवियत रूस से एवं पूर्वी यूरोप के साथ हमारे व्यापार में पिछले दस वर्षों में 10 से 12 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई है। यही नहीं, भारत ने निर्यात हेतु अफ्रीका, चीन तथा खाड़ी के देशों में भी नये बाजारों की खोज करके उसमें किसी सीमा तक सफलता अर्जित की है।

(4) भारत की व्यापार शर्तों एवं अन्तर्राष्ट्रीय अनुपात में गिरावट आयी है—यदि 1968-69 को आधार वर्ष मान लिया जाय तो पिछले वर्षों में भारत से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के इकाई मूल्यों की तुलना में आयातित वस्तुओं के इकाई मूल्यों में अधिक तीव्रगति से वृद्धि हुई है। परिणामस्वरूप भारत की निवल व्यापार शर्तों में 24 से 25 प्रतिशत की प्रतिकूलता आयी है। इस प्रतिकूलता को कुछ अंश तक कम करने हेतु जहाँ एक ओर निर्यात की मात्रा को 1968-69 एवं 1976-77 के मध्य 60 प्रतिशत बढ़ाया गया, वहीं आयात की मात्रा में 18% की कमी की गयी। विकसित औद्योगिक देशों से (निवल व्यापार शर्तें प्रतिकूल होने के कारण) हमारा व्यापार का घाटा बढ़ा है क्योंकि गत वर्षों में इन देशों के साथ हमारी निवल व्यापार शर्तें प्रतिकूल हुई हैं।

गत वर्षों में भारत के निर्यात व्यापार में अन्य देशों की अपेक्षा कम वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप जहाँ सातवें दशक के प्रारम्भ में विश्व के निर्यात व्यापार में भारत का अनुपात 1·0 प्रतिशत था, 1987-88 में वह 3·8 प्रतिशत रह गया। विभिन्न प्रमुख देशों के साथ इसी अवधि में हमारे निर्यात व्यापार के अनुपातों में कमी इस प्रकार रही थी : संयुक्त राज्य अमरीका 0 94 प्रतिशत से घटकर 0·58 प्रतिशत, साझा बाजार के देश 0 59 प्रतिशत से घटकर 0 28 प्रतिशत तथा जापान 2·25 प्रतिशत से घटकर 1·2 प्रतिशत।

(5) पिछले एक दशक में भारतीय उद्योगों की आयात पर निर्भरता काफी कम हुई है। 1955-56 व 1976-77 के बीच शक्कर मिलों व सूती वस्त्र मिलों की मशीनों की कुल उपलब्धि में आयातों का अनुपात क्रमशः 95 व 97 प्रतिशत से घटकर क्रमशः 0 2 व 3 5 प्रतिशत रह गया। इस्पात की कुल पूर्ति में यह अनुपात 40 प्रतिशत से घटकर 9 प्रतिशत तथा कागज के सन्दर्भ में 27 प्रतिशत से घटकर 1 6 प्रतिशत रह गया। आज हमने सोडा ऐश व कॉस्टिक सोडा का आयात बन्द कर दिया है, जबकि 1975-76 तक इनकी पूर्ति का 47 से 60 प्रतिशत तक आयात करते थे। अमोनियम सल्फेट की पूर्ति में आयात का अनुपात 34% से घटकर इस अवधि में 0 1% रह गया, जबकि अल्यूमीनियम के सन्दर्भ में यह अनुपात 68 5 से घटकर केवल 0·6 प्रतिशत रह गया। वस्तुतः उपर्युक्त वस्तुओं के क्षेत्र में आयातों पर हमारी निर्भरता में जो कमी हुई है, वह हमारी आयात प्रतिस्थापन नीतियों की आशातीत सफलता की द्योतक है। आशा है, सातवीं पंचवर्षीय योजना के अन्त तक भारत पेट्रोलियम पदार्थों की घरेलू माँग का लगभग 80 प्रतिशत आन्तरिक उत्पादन से पूरा कर सकेगा।

प्रमुख वस्तुओं के निर्यात में भारत का स्थान

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि आज विश्व के निर्यात व्यापार में भारत का अंश लगभग 0·4 प्रतिशत है। वस्तुतः कुछ वस्तुओं को छोड़कर लगभग सभी प्रमुख वस्तुओं के निर्यात में भारत की भागीदारी कम होती जा रही है। तालिका 23·7 इस निष्कर्ष की पुष्टि करती है।

तालिका 23·7 से दो बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम तो यह कि उत्तरोत्तर कमी होने पर भी विश्व के निर्यातों में आज तक भारत से जाने वाली परम्परागत वस्तुओं का अनुपात महत्वपूर्ण है। इनमें चाय, कॉफी, गरम मसाले, चावल, चमड़ा आदि हैं। दूसरे कुल मिलाकर निर्यातों में 'भारत का अंश' कम हो रहा है, हालांकि मछली, जवाहरात, रेडीमेड कपड़ों, लौह-अयस्क व चमड़े की वस्तुओं के सन्दर्भ में यह बढ़ रहा है।

तालिका 23 7

विश्व के निर्यातों मे भारत का स्थान (प्रतिशत)

वस्तु	1970	1981	1983	1986
1 मशीनें (गैर-विद्युत)	0 11	0 18	0 66	नगण्य
2. मछली	1 94	2 66	3 03	2 40
3. चाय	33 40	19 0	16 26	16 30
4 मसाले	20 47	9 03	10 29	11 00
5 चमड़ा व चमड़े की वस्तुएँ	14 00	14 68	13 00	11 90
6 जवाहरात	2 16	3 85	9 55	10 00
7 तिलहन व खली	0 39	2 08	1 15	0 10
8 लौह अयस्क	6 66	7 29	7 35	3 30
9. कपड़ा (ऊनी व सूती)	11 62	8 79	6 13	4 30
10 तम्बाकू (अनिर्मित)	3 98	2 18	2·16	1 90
कुल अंश	0 64	0 42	0 46	0 40

Source *Economic Survey*, 1988-89, Table 6 10

हमारे प्रमुख व्यापारिक भागीदार

भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार म जिन देशा का महत्वपूर्ण स्थान है उनमे ब्रिटेन, सयुक्त राज्य अमरीका, जर्मनी, ईरान, इराक, सोवियत रूस व जापान की गणना की जा सकती है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गत दो दशको मे हमारे व्यापारिक सम्बन्ध जहाँ ब्रिटन, जर्मनी व अमरीका से अपेक्षाकृत कम हुए हैं वहीं जापान, सोवियत रूस, ईरान, इराक आदि से काफी बढे है। हमारे आयातो व निर्याता म महत्वपूर्ण देशो का अनुपात 1960-61 व 1982-83 के वर्षो मे तालिका 23 8 म प्रदर्शित किया गया है।

तालिका 23 8 से स्पष्ट है कि ब्रिटेन तथा सयुक्त राज्य अमरीका पर भारत की निर्भरता मे काफी कमी हुई है फिर भी ये देश भारत के लिए महत्वपूर्ण व्यापारिक भागीदार हैं। आज भी अमरीका भारतीय वस्तुओ का सबसे बडा खरीदार है, जबकि आयातों मे इसका दूसरा स्थान है।

तालिका 23 8

(अनुपात प्रतिशत में)

देश	आयात			निर्यात		
	1960 61	1982-83	1986 87	1960 61	1982-83	1986 87
1 अमरीका	28 8	9 5	9 0	15 [illegible]	10 8	18 5
2 ब्रिटेन	19 0	6 2	8 1	26 1	5 2	6 6
3 पश्चिमी जर्मनी	10 8	8 1	8 1	3 0	2 2	6 7
4 जापान	5 4	7 5	9 5	5 3	9 0	10 3
5 सोवियत रूस	1 4	10 5	5 7	4 4	17 6	12 5
6 ईरान	0 2	3 1	0 5	0 5	1 0	0 9
7 ईराक	2 6	9 8	1 7	0 8	1 4	0 1
योग	68 2	54 7	42 6	55 7	47 2	55 6
कुल राशि (करोड रुपये)	1,140	14 360	22 399	660	8 834	15 741

स्रोत ' विभिन्न आर्थिक सर्वेक्षणो पर आधारित।

सोवियत रूस—भारत व सोवियत रूस का कुल व्यापार 1953-54 मे केवल 1 3 करोड रुपये का था। 1953 मे भारत व रूस के बीच सम्पन्न हुए द्विपक्षीय व्यापार समझौते के फलस्वरूप हमारे कुल व्यापार का मूल्य 1958-59 मे बढकर 43 1 करोड रुपये हो गया। 1958 म दानों

देशों के मध्य द्वितीय व्यापार समझौता हुआ तथा पाँच वर्ष के भीतर ही (1963-64 में) कुल व्यापार 156 करोड़ रुपये तक पहुँच गया। 1963 में एक और व्यापार समझौता पाँच वर्ष के लिए हुआ जिसे बाद में 1970 तक बढ़ा दिया गया। 1970-71 तक हमारे कुल व्यापार (निर्यात व आयात) का मूल्य बढ़कर 327 करोड़ रुपये तक पहुँच गया था। सोवियत रूस के साथ भारत का चौथा व पाँचवाँ व्यापार समझौता 1970 व 1976 में सम्पन्न हुआ, जैसा कि तालिका 23.6 से स्पष्ट होता है। 1974-75 में भारत ने सोवियत रूस को 428 करोड़ रुपये की वस्तुएँ निर्यात की जबकि वहाँ से 402.5 करोड़ रुपये की वस्तुओं का आयात किया गया। इस वर्ष रूस को हमारे निर्यातों का अनुपात 12.6 प्रतिशत एवं आयातों का अनुपात 9 प्रतिशत था। 1971-75 के मध्य भारत व सोवियत रूस का व्यापार 12.5 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से बढ़ा। अप्रैल 1976 में भारत-रूस व्यापार समझौता हुआ जिसे एक वर्ष बाद ही (अप्रैल 1977 में) जनता सरकार के पदासीन होने पर संशोधित किया गया। जैसा कि तालिका 23.6 में स्पष्ट होता है, गत वर्षों में केवल सोवियत रूस के साथ ही भारत के निर्यात आयात में अधिक रहे थे, हालाँकि अब रूस के साथ व्यापार करने से भारत को अनेक लाभ हुए हैं।

(1) सोवियत रूस के साथ भारत के बढ़ते हुए व्यापार से काफी सीमा तक हमारी पश्चिमी औद्योगिक देशों पर निर्भरता में कमी आयी है। यही नहीं, पश्चिमी देशों द्वारा पहले जो भी मूल्य हमारे निर्यातों के लिए प्रस्तुत किया जाता था, हमें वही स्वीकार करना पड़ता था। इसी प्रकार हमारी मशीनों तथा इलेक्ट्रॉनिक्स एवं कुछ प्रकार के औद्योगिक कच्चे माल का जो भी मूल्य पश्चिमी देश माँगते थे, हमें वही बाध्य होकर देना पड़ता था। सोवियत रूस तथा पूर्वी यूरोप के देशों (हंगरी, पोलैण्ड, चेकोस्लावाकिया, रूमानिया, यूगोस्लाविया आदि) के साथ बढ़ते हुए व्यापार ने काफी सीमा तक हमें इस शोषण से मुक्ति दिलाई है।

(2) रूस के साथ बढ़ते हुए व्यापार सम्बन्धों ने हमें काफी सीमा तक विदेशी विनिमय संकट से बचाया है। हमारा पूर्वी यूरोप के देशों व रूस के साथ व्यापार रुपये के आधार पर होता है और डालर अथवा दुर्लभ मुद्रा के अभाव में भी अपने आयात जारी रखते हैं। विशेष रूप से पेट्रोलियम पदार्थों के मूल्यों में तेल-निर्यातक देशों द्वारा आशातीत वृद्धि करने के बाद रूस ने हमें पर्याप्त क्रूड ऑइल तथा केरोसीन भेजकर हमारी समय-समय पर सहायता की है।

(3) सोवियत रूस के साथ व्यापार से तीसरा लाभ यह हुआ है कि वहाँ नियोजित अर्थ-व्यवस्था होने के कारण आयात-निर्यात के परिमाण एवं मूल्यों में अधिक उच्चावचन होने की आशंका नहीं रहती जो पूँजीवादी देशों के साथ किये जाने वाले व्यापार की एक सामान्य विशेषता है।

आज भारत सोवियत रूस को 130 से अधिक वस्तुएँ निर्यात करता है जिनमें अधिकांशतः काजू, इन्जीनियरिंग वस्तुएँ, लौह धातु, चमड़े की वस्तुएँ, सवारी वैगन्स व उपकरण, रेल वैगनें, ऊनी वस्त्र, सूती वस्त्र, रासायनिक पदार्थ, वनस्पति घी एवं मसाले जैसी गैर-परम्परागत वस्तुएँ अधिक हैं, जबकि एक दशक पूर्व हमारे निर्यातों में जूट की वस्तुएँ, चाय, कॉफी व चमड़ा आदि परम्परागत वस्तुएँ ही सम्मिलित थीं। इस प्रकार सोवियत रूस से हमारे आयातों में भी विविधीकरण हुआ है। जहाँ पहले मशीनों व साज-सज्जा का ही प्रधानतः आयात किया जाता था, आज रूस से हम बड़ी व जटिल मशीनें, कच्चा धातु, पेट्रोलियम पदार्थ (क्रूड ऑइल व केरोसिन), उर्वरक एवं औद्योगिक कच्चे माल का अपेक्षाकृत अधिक आयात करते हैं। सोवियत रूस आज भारत का दूसरा सबसे बड़ा व्यापारिक भागीदार देश है जबकि कुछ वर्ष पूर्व तक अमरीका व जापान के बाद इसका तीसरा स्थान हुआ करता था।

अगस्त 1978 में भारत तथा सोवियत रूस के मन्त्रियों के मध्य सम्पन्न वार्ताओं के बाद यह तय किया गया कि सोवियत रूस भारत को अधिक मात्रा में कच्चे माल का, विशेष तौर पर कोकिंग कोयला एवं टिम्बर का, निर्यात करेगा। यह भी तय किया गया कि प्रतिवर्ष की अपेक्षा दोनों देश पाँच वर्ष में एक बार व्यापार को सन्तुलित करने का यत्न करेंगे तथा प्रत्येक क्षेत्र की अपेक्षा समूचे व्यापार के सन्तुलन पर दृष्टि रखी जायगी। रूस ने अगले कुछ वर्षों में भारत को 30 से 40 लाख टन सीमेन्ट देने पर भी सहमति व्यक्त की है।

अन्य पूर्वी यूरोपीय देश—इन देशों में हंगरी, यूगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड,

पूर्वी जर्मनी, रूमानिया आदि देश हैं। इनसे हमारा व्यापार रूस की तुलना म धीमी गति से बढा है। भारत हगरी से मशीन टूल्स जल विद्युत स्टेशना, दूरदर्शन चित्र की ट्यूबों, इस्पात तथा कम्प्यूटर सम्बन्धी सामग्री, फोटो फिल्मो, बुलडोजर आदि का आयात करता है। अन्य पूर्वी यूरोप के देशो से भी विद्युत उपकरण व इलैक्ट्रोनिक्स का सामान आयात किया जाता है जबकि इन देशो को भारत को गर्म ममाले, साइकिलें, चमडे की वस्तुएँ लौह-धातु खेल का सामान खली, कॉफी, चाय मिले हुए कपडे आदि निर्यात किये जाते हैं।

भारत का एस्केप देशों से व्यापार—भारत के जापान, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड तथा पूर्वी एशिया के देशो के माथ पिछले कुछ वर्षों में व्यापार सम्बन्ध काफी प्रगाढ हुए हैं। जापान तो *भारत का एक प्रमुख व्यापारिक भागीदार रहा है। जापान भारतीय लौह-धातु का सबसे बडा* खरीदार देश है। 1974-75 मे इन देशा के निर्यात भारत के कुल निर्यात का 27 प्रतिशत (जापान को 9 प्रतिशत) किया गया था जबकि कुल आयात का 25 प्रतिशत (जापान स 10 प्रतिशत) इन देशों से किया गया था। 1986-87 मे कुल आयातो म पूर्वी एशिया के देशो (जापान सहित) आस्ट्रेलिया व न्यूजीलैण्ड का योगदान 16 37 प्रतिशत या जबकि कुल निर्यातो म से 20 प्रतिशत आय इन देशो से प्राप्त हुई थी। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, इन देशों म हमारा सबसे महत्वपूर्ण भागीदार जापान है।

हाल के वर्षों मे भारत ने वर्मा दक्षिण कोरिया हागकाग, फिलीपीन्स, थाइलैण्ड, आस्ट्रेलिया, जापान न्यूजीलैण्ड इण्डोनेशिया मलेशिया व सिंगापुर के साथ व्यापार सम्बन्धा को और अधिक बढाने हेतु प्रयास किये है। 1983-84 व 1984-85 मे भारत ने पर्याप्त माना म (क्रमश 1 231 करोड रुपये तथा 1 563 करोड रुपये मूल्य का) खनिज तेल निर्यात किया था। इसमे से *काफी मात्रा मे खनिज तेल सिंगापुर को निर्यात किया गया जहाँ पर्याप्त तेल शोधन क्षमता* विद्यमान है।

तेल-निर्यातक देशों के साथ व्यापार—तालिका 23 6 मे तेल निर्यातक देशो के साथ हमारे आयातो व निर्यातो की स्थिति बतायी जा चुकी है। जैसा कि इसमे पूर्व स्पष्ट किया जा चुका है, क्रूड ऑइल व पैट्रोलियम पदार्थों के बढते हुए आयात बिल के कारण इन देशो का हमारे कुल आयातो म अंश आशातीत रूप से बढा है। हमारे व्यापार की प्रतिकूल बाकी भी इन्ही देशो के साथ सर्वाधिक है। जनसख्या कम होने के कारण खाडी के देश, वेनेजुएला, नाइजीरिया आदि देशों को हमारे यहाँ से जाने वाली वस्तुआ की मात्रा भी बहुत अधिक नही होती।

तेल-निर्यातक देशो मे हमारा सबसे बडा व्यापारिक भागीदार ईरान है। 1981-82 में ईरान से भारत ने 1,300 करोड रुपये का क्रूड आइल आयात किया जब कि उसको भेजे गये निर्यातो का मूल्य केवल 125 करोड रुपये था। इसी प्रकार ईराक मे किये गये आयातो का मूल्य 404 करोड रुपये व *निर्यातो की राशि 85 करोड रुपये थी।* इन देशो को भारत से इंजीनियरिंग वस्तुएँ वस्त्र, मसाले, चाय, चमडे की वस्तुएँ व जवाहरात भेजे जाते हैं। परन्तु इसके बाद इन देशा म परस्पर लगातार युद्ध चलने के कारण भारत को खाडी के अन्य देशो (सऊदी अरब, कुवैत, कतार आदि) से अधिक तेल मँगाना पड रहा है।

आज भी हमारा अधिकाश व्यापार सयुक्त राज्य अमरीका तथा पश्चिमी यूरोप के देशों (ब्रिटेन सहित) के साथ होता है। इन देशो के साथ भारत के निर्यात व आयात की सूची भी पर्याप्त बडी है। 1970-71 मे भारत ने अमरीका से 453 करोड रुपये की वस्तुओ का आयात किया था। 1974 75 मे हमने अमरीका से 729 करोड रुपये की तथा 1975-76 मे 1,369 करोड रुपये की वस्तुआ का आयात किया। 1981-82 मे भारत ने अमरीका से 1,420 करोड रुपये मूल्य की वस्तुओं का आयात किया परन्तु इसके बाद से अमरीका से हमारे आयात बिल में कमी हुई है। 1986 87 मे अमरीका से किये गये कुल आयातो की कीमत 2,025 करोड रुपये थी।

जहाँ तक भारत से अमरीका को किये गये निर्याता का प्रश्न है, 1970-71 व 1974-75 के बीच इनका मूल्य 207 करोड रुपये से बढकर 376 करोड रुपये तथा 1975-76 मे 508 करोड रुपये हो गया। 1980 81 मे भारत ने अमरीका को 852 करोड रुपये की वस्तुएँ निर्यात की। यह उल्लेखनीय है कि *1975-76 की तुलना मे 1980-81 मे भारत ने अमरीका को*

50 प्रतिशत अधिक निर्यात किया। निर्यातित वस्तुओं में महत्वपूर्ण स्थान जवाहरात, मछली व इनसे बने पदार्थ, इन्जीनियरिंग वस्तुओं, हस्तकला की वस्तुओं, जूट की वस्तुएँ, चाय और सूती वस्त्रों का है। इनमें सूती वस्त्रों के अतिरिक्त 1980-81 में सभी वस्तुओं के निर्यात में 30 से 70 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। यद्यपि अमरीका भारत का सबसे बड़ा व्यापारिक भागीदार है, फिर भी इसके साथ हमारा व्यापार का घाटा निरन्तर बढ़ रहा है जो वस्तुत. एक चिन्ता का विषय है। हाल के वर्षों में यह घाटा इसलिए बढ़ रहा है कि अमरीका को हमारी शक्कर व जूट की वस्तुओं के निर्यात कम हुए हैं। परन्तु अमरीका के साथ भारत का निर्यात व्यापार भी आशानुसार नहीं बढ़ पा रहा है। 1986-87 में भारत के कुल निर्यातकों में से 18 5 प्रतिशत अमरीका को भेजे गये थे।

भारत एवं यूरोपीय साझा बाजार के देश—आज से दो दशक पूर्व हमारा सबसे बड़ा व्यापारिक भागीदार ब्रिटेन हुआ करता था, परन्तु आज कुल व्यापार में उस देश का अनुपात 10 प्रतिशत के लगभग है। इन वर्षों में हमारे यूरोपियन साझा बाजार के अन्य सदस्य देशों (मुख्यत. पश्चिमी जर्मनी, फ्रान्स, इटली, नीदरलैण्ड आदि) के साथ व्यापार में काफी अधिक वृद्धि हुई है। साझा बाजार के अधिकारियों के किसी सीमा तक प्रतिकूल दृष्टिकोण के पश्चात् भी भारत इन देशों को पर्याप्त मात्रा में सूती वस्त्र, रेडीमेड वस्त्र आदि निर्यात करता है। इनके अतिरिक्त खली, मसाले, इन्जीनियरिंग वस्तुऐं, काजू, चाय, स्टील ट्यूब, कॉफी, जूट की वस्तुएँ भी काफी मात्रा में इन देशों को भेजी जाती हैं। 1970-71 व 1986-87 के मध्य ब्रिटेन सहित साझा बाजार के देशों को हमारे निर्यात 280 करोड़ रुपये (18 प्रतिशत) से बढ़कर लगभग 3,957 करोड़ रुपये (25·1 प्रतिशत) हो गये। इसी अवधि में इन देशों से आयातित वस्तुओं का 315 करोड़ रुपये (20%) से बढ़कर 7,441 करोड़ रुपये (33 2 प्रतिशत) हो गया। परन्तु यह एक विडम्बना ही है कि लेटिन अमरीका, अफ्रीका तथा एशिया के विकासशील देशों के साथ भारत का व्यापार काफी कम है। 1986-87 में इन देशों को भारत ने 2,238 करोड़ रुपये मूल्य की वस्तुएं (कुल का 14·2 प्रतिशत) निर्यात की तथा 3,877 करोड़ रुपये की (17·8 प्रतिशत) वस्तुओं का आयात किया।

प्रश्न एवं उनके संकेत

1 **आर्थिक नियोजन की अवधि में भारत के विदेशी व्यापार की संरचना एवं दिशा में हुए परिवर्तन की विस्तृत समीक्षा कीजिए।**

Describe the changes that have taken place in the composition and direction of India's foreign trade during the planned period.

[संकेत—स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय मुख्य रूप से भारत जूट की वस्तुओं, चाय, नील, सूती वस्त्र एवं चमड़ा आदि का निर्यात करता था, पिछले 25 वर्षों की अवधि में निर्यात व्यापार में इन्जीनियरिंग की वस्तुओं तथा अनेक नयी मदों का समावेश ही नहीं हुआ इनके निर्यात में उत्तरोत्तर तीव्र गति से वृद्धि हुई है। इसी प्रकार आर्थिक विकास के सन्दर्भ में हमारी आयात सम्बन्धी आवश्यकताओं में भी पर्याप्त परिवर्तन हुआ है। दूसरी ओर पिछले 25 वर्षों में हमने नये देशों, विशेष रूप से पूर्वी यूरोप, अफ्रीका व एशिया के देशों से अपने व्यापारिक सम्बन्धों का विस्तार किया है। इस प्रश्न के उत्तर में आँकड़ों की सहायता से विदेशी व्यापार में सम्मिलित आयात व निर्यात की वस्तुओं की प्रकृति तथा व्यापार की दिशा में पिछले 25 वर्षों में हुए परिवर्तन का उल्लेख करें।]

2 **भारत के विदेशी व्यापार की संरचना में हाल ही में हुए परिवर्तन का वर्णन कीजिए। आप निर्यात बढ़ाने व आयातों का प्रतिस्थापन बढ़ाने हेतु क्या सुझाव देंगे ?**

Examine the recent trends in the composition of India's foreign trade. What steps do you suggest for promoting exports and substituting imports ?

[संकेत—प्रश्न के प्रथम भाग के उत्तर में आँकड़ों की सहायता से पिछले 25 वर्षों में हमारे आयात व निर्यात व्यापार की प्रमुख प्रवृत्तियों का विवरण दें। यदि आप अनुभव करते हैं कि हमारे निर्यात की प्रगति आयातों की तुलना में काफी धीमी है तो फिर निर्यात बढ़ाने

तथा आयातो को सीमित करने हेतु अपने सुझाव दीजिए। परन्तु इसके साथ ही सक्षेप मे उन सब उपायो का भी विवरण दें जो सरकार द्वारा इस दिशा मे किये जा चुके हैं या किये जा रहे हैं।]

3 **भारत के आयात व निर्यात व्यापार मे सम्मिलित प्रमुख वस्तुओं का विवरण दीजिए।**

Describe the main commodities of India's export and imports

[**संकेत**—इस प्रश्न के उत्तर मे भारत के वर्तमान विदेशी व्यापार अर्थात् आयात व निर्यात मे शामिल वस्तुओ तथा कुल आयात व निर्यात मे उनके सापेक्ष महत्व का विवरण प्रस्तुत *कीजिए। विद्यार्थियो से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपने उत्तर की पुष्टि मे उपयुक्त* आँकडा का उपयोग करेंगे।]

4 **स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत के व्यापार-सन्तुलन का विवरण दीजिए।**

Explain the position of India's balance of trade after independence

[**सकेत**—स्वतन्त्रता के पश्चात् एव विशेष रूप से पचवर्षीय योजना-काल मे हमारे आयातो व निर्यातो का विवरण देते हुए व्यापार-सन्तुलन की प्रवृत्तियों का वर्णन कीजिए। इस प्रश्न के उत्तर हेतु भी प्रश्न 3 की भांति पर्याप्त आंकडा का उपयोग वाछनीय है।]

5 **पिछले दो दशकों मे पूर्वी यूरोप के साथ भारत के व्यापार की सरचना तथा प्रवृत्ति का विवरण प्रस्तुत कीजिए।**

Discuss the composition and trend of India's trade with Eastern Europe *during the last two decades.*

[**सकेत**—आर्थिक नियोजन के प्रारम्भ मे अर्थात् 1951 मे हमारे देश के पूर्वी यूरोप के साथ व्यापारिक सम्बन्ध अत्यन्त सीमित थे। परन्तु आज न केवल सूती वस्त्र व जूट की वस्तुओ, अपितु खनिज पदार्थों, चाय, गर्म मसाले, इन्जीनियरिंग की वस्तुआ, रेलवे इंजनो तथा जूतो का इन देशो को काफी मात्रा मे निर्यात किया जा रहा है। इसी प्रकार इन देशो से भारी मशीनो कृषि-यन्त्रो व इस्पात का काफी मात्रा मे आयात किया जा रहा है। इस अध्याय मे प्रस्तुत सामग्री के आधार पर पूर्वी यूरोप के देशो के साथ होने वाले आयातो व निर्यातो की प्रवृत्ति का उल्लेख करें। परन्तु साथ ही इन देशो के साथ होने वाले विदेशी व्यापार की सीमाओ का उल्लेख सक्षेप मे करना उचित होगा।]

6. **भारत के (a) सयुक्त राज्य अमरीका, व (b) यूरोपियन साझा बाजार के देशो के साथ हुए व्यापार की हाल की प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।**

Fully explain the recent trends in India's trade with (a) U S. A, and (b) European Common Market

24

निर्यात-संवर्द्धन तथा आयात-प्रतिस्थापन की नीतियाँ
[EXPORT PROMOTION AND IMPORT SUBSTITUTION]

भारत की तृतीय पंचवर्षीय योजना से पूर्व तक सरकार की व्यापार नीति का मुख्य आधार आयात-प्रतिस्थापन था तथा निर्यात-संवर्द्धन को अधिक महत्व नहीं दिया जाता था। परन्तु सातवें दशक के प्रारम्भ से ही यह अनुभव किया जाने लगा था कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में भारतीय निर्यातकर्ताओं के समक्ष अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गयी थी और इस कारण निर्यात-संवर्द्धन के उपायों द्वारा निर्यात बढ़ाना आवश्यक हो गया था। तृतीय पंचवर्षीय योजना में इन्हीं कारणों से निर्यात-संवर्द्धन को काफी महत्व दिया गया। इस अवधि में चीन तथा पाकिस्तान से क्रमशः 1962 व 1965 में युद्ध हुए जिसके परिणामस्वरूप हमारी सैन्य आवश्यकताओं से सम्बद्ध आयात में काफी वृद्धि हुई। इसी योजना-काल में देश के कृषि उत्पादन में काफी उच्चावचन हुए जिसके फलस्वरूप हमें अधिक मात्रा में खाद्यान्नों का भी आयात करना पड़ा।

चीन व पाकिस्तान से हुए युद्धों तथा कुछ अन्य कारणों से भारत को प्राप्त होने वाली विदेशी सहायता में भी तृतीय योजना काल में कटौती हुई। इसके विपरीत, भारत द्वारा चुकाये जाने वाले विदेशी ऋणों की किस्तें व ब्याज की राशि में भी अधिक वृद्धि हो गयी थी। संक्षेप में, तृतीय योजना-काल में भारत के लिए गम्भीर विदेशी विनिमय संकट उपस्थित था। इस संकट से मुक्ति पाने के लिए अन्य उपायों के साथ व्यापार-नीति में भी आमूल-चूल परिवर्तन आवश्यक समझे गये। वर्तमान में आयात-प्रतिस्थापन के साथ-साथ निर्यात-संवर्द्धन को भी पर्याप्त महत्व दिया जाने लगा है।

निर्यात-संवर्द्धन की नीति
[THE POLICY OF EXPORT PROMOTION]

सन् 1951 से भारत के निर्यात व्यापार को दो मुख्य चरणों में विभाजित करना उचित होगा। प्रथम 1950-60 का दशक, जिसमें भारत के निर्यात लगभग स्थिर रहे। द्वितीय, 1961-71 का दशक जिसमें कुछ समय तक (1968 तक) निर्यातों में साधारण वृद्धि हुई परन्तु 1968 के बाद से हमारे निर्यात में तीव्रगति से वृद्धि हुई।

बहुधा यह तर्क दिया जाता है कि 1950-60 के दशक में हमारे निर्यात न बढ़ने का मुख्य कारण विदेशों में भारतीय वस्तुओं की बेलोच माँग में निहित था। दूसरी ओर यह भी कहा जा सकता है, कि हमारे देश में वस्तुओं के अपर्याप्त उत्पादन के कारण निर्यात योग्य अतिरेक भी अपर्याप्त था। शायद इन दोनों ही कारणों से 1961 तक भारतीय वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि नहीं हो सकी। उधर सरकार की औद्योगिक एवं व्यापारिक नीतियों में भी निर्यातों को प्रोत्साहन देने का प्रावधान नहीं था। पहली बार 1961-62 में सरकार ने निर्यात-संवर्द्धन के महत्व को स्वीकार करते हुए इस दिशा में आवश्यक कदम उठाये।

द्वितीय महायुद्ध काल में सरकार ने भारत से चाय, जूट, सूती वस्त्रों तथा तिलहनों के निर्यात पर कुछ नियंत्रण लागू किये थे। नियोजन-काल में काफी समय तक ये नियन्त्रण किसी न किसी रूप में विद्यमान रहे, जूट के लिए 1958 तक, सूती वस्त्रों के लिए 1953 तक, तिलहनों के लिए 1952 तक तथा चाय के लिए 1960 तक निर्यात प्रतिबन्ध विद्यमान थे। यही नहीं, 1953 में अनेक नयी वस्तुओं के निर्यात पर भी नियन्त्रण लगा दिया गया। इन वस्तुओं में कॉफी, मैंगनीज, चमड़ा व खालों आदि को शामिल किया जा सकता है।

निर्यात व्यापार पर विद्यमान नियन्त्रणो के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता के विषय मे हमारी उदासीनतापूर्ण नीति भी भारतीय वस्तुओ के अधिक मात्रा मे निर्यात मे बाधक थी। हमारी प्रमुख निर्यात वस्तुओ के सन्दर्भ म किये गये अध्ययनो से इस बात की पुष्टि हुई है कि भारत सरकार या व्यापारी ने काफी समय तक अन्तर्राष्ट्रीय बाजार म विद्यमान स्थिति का गम्भीरता से अध्ययन ही नही किया था। उदाहरण के लिए जूट की वस्तुओ के क्षेत्र मे जहाँ पाकिस्तान ने छठे दशक के प्रारम्भ मे ही निर्यात मूल्य का 25% अनुदान के रूप मे देना प्रारम्भ कर दिया था, भारत सरकार ने इन वस्तुओ के निर्यात को बढाना तो दूर रहा, निर्यात के स्तर को बनाये रखने के लिए भी कोई अनुदान नही दिया। भारत सरकार ने केवल जूट की वस्तुओ पर विद्यमान प्रशुल्क को समाप्त करके यह मान लिया था कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार म हमारे निर्यात बढ जायेंगे, पर सरकार यह भूल गयी कि निर्यात-सवर्द्धन की पाकिस्तानी नीति भारतीय नीति की अपेक्षा अधिक प्रभावपूर्ण थी। परिणाम यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे भारतीय जूट की वस्तुओ का अनुपात घटता गया।

इसी प्रकार चाय के निर्यात हेतु विश्व के बाजारो मे श्रीलका ने जितना प्रचार किया उसकी तुलना मे भारत सरकार ने कुछ भी नही किया। भारतीय निर्यातो के सम्बन्ध मे प्रोफेसर कोहेन द्वारा किये गये अध्ययन स पता चलता है कि छठे दशक मे भारतीय चाय के सापेक्ष मूल्य एव विश्व के बाजार मे भारतीय चाय के सापेक्ष निर्यात के बीच प्रतिकूल सम्बन्ध रहा था। भारत के घरेलू बाजारो म चाय का उपभोग तेजी से बढ रहा था, परन्तु विदेशी बाजारो मे भारतीय चाय की खपत बढाने हेतु कोई कारगर उपाय नही किये गये। एक ओर भारत म चाय के उत्पादन पर नाममात्र को उत्पादन शुल्क था तो दूसरी ओर इसके निर्यात पर 1950-60 के बीच पर्याप्त मात्रा मे निर्यात प्रशुल्क लगाया गया था।

सूती वस्त्रो की माँग तो विश्व के बाजारो मे ही स्थिर रही है। परन्तु नये बाजारो मे हमारे वस्त्रो की माँग के सृजन हेतु 1950-60 के बीच कोई प्रयास नही किया गया। आश्चर्य की बात तो यह है कि इस क्षेत्र म भी वस्त्रो के निर्यात-मूल्य तथा निर्यात की मात्रा के बीच विपरीत सम्बन्ध पाया जाता है। इसके लिए सरकार की वस्त्र उद्योग के प्रति अपनायी गयी नीति ही उत्तरदायी रही है। श्रमिक सघ के दबाव के कारण सूती वस्त्र मिलो म स्वचालन (automation) की नीति को हतोत्साहित किया गया। इसके विपरीत, श्रम-प्रधान तकनीक को प्रोत्साहन देने हेतु हाथकर्घा क्षेत्र को सरकार द्वारा प्रोत्साहन दिया गया। ऐसी आशा की गयी थी कि हाथकर्घा के वस्त्र कलात्मक और सस्ते होने के कारण विश्व के बाजारो मे अधिक मात्रा मे निर्यात किये जा सकेंगे। इस क्षेत्र म जापानी वस्त्र उद्योग मे भारतीय उत्पादक प्रतियोगिता करने म असमर्थ था, क्योकि जापान उत्तम कोटि के वस्त्रो को कम कीमत पर विश्व के बाजारो मे निर्यात करने की स्थिति मे था जबकि भारतीय मिलो एव हाथकर्घा उद्योग द्वारा निर्मित कपडे की उत्पादन-लागत अपेक्षाकृत ऊँची थी।

तिलहन व खाद्य तेलो के क्षेत्र मे भी निर्यात की अपेक्षा घरेलू उपभोग को अधिक महत्व दिया गया। कॉफी के निर्यात बढाने हेतु भी 1951-61 के बीच सरकार ने कोई प्रयास नही किया। सक्षेप मे, यह कहा जा सकता है कि आर्थिक नियोजन के प्रथम दशक (1951-61) मे या तो अनेक वस्तुओ के निर्यात बढाने हेतु कोई नीति नही बनायी गयी या फिर घरेलू उपभोग के स्तर को विद्यमान रखने हेतु इनके निर्यात को हतोत्साहित किया गया।

उपर्युक्त दशक (1950-60) मे जूट की वस्तुओ, चाय, सूती वस्त्र, तम्बाकू, खाद्य तेल एव तिलहनो के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भारतीय निर्यातो का अनुपात निरन्तर घटता रहा। कुल मिलाकर विश्व के निर्यात व्यापार मे भारत का योगदान 1950 म 2 5% था जो 1960 मे घटकर 1 5% तथा 1966 मे पुन घटकर 0 9% रह गया। जूट की वस्तुओ के निर्यात म भारत का योगदान 1948 50 म 97% था परन्तु 1960 तक यह अनुपात घटकर 73% रह गया। 1948 50 मे चाय के निर्यात म भारत का योगदान विश्व के कुल निर्यात का 49 4% था परन्तु 1960 तक यह घटकर 42 9% रह गया। एक ओर चाय के निर्यात मे भारत का योगदान घट रहा था तो दूसरी ओर विश्व के कुल निर्यातो मे श्रीलका एव अफ्रीकी देशो का अनुपात बढ रहा था। इसी प्रकार जहाँ 1934 तक भारत स विश्व के मूंगफली निर्यात का 44%

जाता था। यह अनुपात 1950 तक घटकर 12% एवं 1960 तक घटकर 30% रह गया। तम्बाकू के निर्यात में इसी अवधि में (1950-60) भारत का योगदान 9% से घटकर 5% रह गया। अन्य कारणों के अतिरिक्त निर्यातों की इस निम्नति के लिए भारत सरकार की दोषपूर्ण निर्यात नीति उत्तरदायी थी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना एवं निर्यात-नीति

तृतीय पंचवर्षीय योजना-काल में भारत के निर्यात व्यापार में सुधार हुआ। इस सुधार के लिए चार घटकों की भूमिका महत्वपूर्ण रही थी. (अ) गोआ के विदेशी व्यापार का भारत में विलय, (ब) नेपाल को भारत के मार्गों से पार्सल पोस्ट प्राप्त करने की छूट मिलना, (स) पूर्वी यूरोप के देशों के साथ हमारे विदेशी व्यापार में हुई वृद्धि, तथा (द) निर्यातों पर अनुदान देकर सरकार द्वारा निर्यात-संवर्द्धन के प्रयास।

अनुमानतः तृतीय योजना-काल में भारत के निर्यातों में लगभग 26% वृद्धि हुई। इस वृद्धि का लगभग आधा भाग पूर्वी यूरोप को हुए अतिरिक्त निर्यात व्यापार के कारण सम्भव हुआ था। गोआ के विदेशी व्यापार के भारत में विलय तथा नेपाल को पार्सल पोस्ट प्राप्त करने के अधिकार से भारत के निर्यात व्यापार में साधारण-सी वृद्धि हुई थी। वस्तुतः तृतीय योजना-काल में निर्यातों के लिए अनुदान दिये जाने की नीति स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात हुए भारत के विदेशी व्यापार के इतिहास में एक महत्वपूर्ण सोपान है। निर्यातों को प्रोत्साहन देने हेतु भारत सरकार ने दो प्रकार के उपाय अपनाये : राजकोषीय विधियाँ, जिनके अन्तर्गत निर्यात व्यापार हेतु अनुकूल कर एवं प्रशुल्क नीतियाँ अपनायी गयी तथा निर्यातों पर अनुदान दिये गये, जबकि द्वितीय उपाय के अन्तर्गत निर्यात-कर्ताओं को आयात करने का अधिकार (Import entitlement) दिये गये। इन दो उपायों के अतिरिक्त हमारे बाजारों के विस्तार हेतु बजट में प्रावधान रखा गया। अब हम निर्यात-संवर्द्धन हेतु अपनाये गये इन उपायों का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

निर्यात-संवर्द्धन के राजकोषीय एवं अन्य उपाय
(Fiscal and other Measures to Promote Exports)

(1) बिक्री-कर में छूट तथा उत्पादन-शुल्क व कच्चे माल पर प्राप्त प्रशुल्क की वापसी— निर्यात की जाने वाली वस्तुओं पर सरकार ने बिक्री-कर तथा उत्पादन-शुल्क *(excise)* में छूट देने के अतिरिक्त उस कच्चे माल पर वसूल किये गये प्रशुल्क को वापस करने की घोषणा भी की जिसका उपयोग निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के उत्पादन में किया जाता था। वैसे 1954 में इस प्रकार के कच्चे माल पर आयात कर में छूट देने की नीति लागू की गयी थी तथा 1956 में उत्पादन करों में छूट दी गयी थी। परन्तु इन सब रियायतों का क्षेत्र एवं सीमा सीमित होने के कारण इनका पर्याप्त लाभ नहीं मिल सका था। तृतीय योजना-काल में निर्यातों को प्रोत्साहन देने हेतु इन सब रियायतों के क्षेत्र (scope) एवं इनकी सीमाओं में पर्याप्त विस्तार किया गया। परन्तु इन सब रियायतों को प्राप्त करने में अनेक कठिनाइयाँ थी जिन्हें आगे चलकर ही दूर किया जा सका।

(2) निर्यातकर्ताओं के करों में प्रत्यक्ष छूट—सर्वप्रथम 1962 में निर्यातकर्ताओं को करों में प्रत्यक्ष छूट दी गयी। 1963 में करों में यह छूट निर्यातित वस्तुओं के मूल्य (f o b) से सम्बद्ध कर दी गयी। *1962 में अलग-अलग उद्योगों के लिए अलग-अलग दरों पर करों में छूट की* घोषणा की गयी।

(3) बजट में अनुदान का प्रावधान—सरकार ने शक्कर के निर्यात हेतु नकद रूप में तथा अन्य कुछ वस्तुओं के निर्यात में हुई क्षति की पूर्ति करने हेतु राजकीय व्यापार निगम (STC) को परोक्ष रूप में अनुदान देने की घोषणा की। राजकीय व्यापार निगम को कुछ महत्वपूर्ण वस्तुओं के आयात हेतु एकाधिकार *दिये गये जिनसे लाभों का उपयोग कुछ वस्तुओं के निर्यात में हुई* हानि को पूरा करने हेतु किया गया। इन वस्तुओं में सीमेण्ट, मूँगफली का तेल, नमी एवं कुछ रासायनिक पदार्थ सम्मिलित थे।

(4) रेल-भाड़े में छूट—निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में से कुछ पर रेल-भाड़े में भी छूट दी गयी। इस छूट का प्रयोजन निर्यातकर्ताओं को रेल-भाड़े में हुए घाटे की क्षति-पूर्ति करना था, यद्यपि परिवहन लागतों में इस छूट का कोई औचित्य नहीं था।

(5) **निर्यात-संवर्द्धन परिषदों की गतिविधियों के लिए बजट में प्रावधान**—प्रति वर्ष सरकारी बजट में निर्यात-संवर्द्धन परिषदों की गतिविधियों के लिए प्रावधान रखा गया। इन गतिविधियों में प्रदर्शनियों तथा व्यापार मेलों का आयोजन अथवा ऐसे मेलों में भाग लेना, बाजार-सर्वेक्षण एवं ऐसे कार्य सम्मिलित थे जिनके द्वारा भारतीय वस्तुओं की विदेशी माँग बढ़ायी जा सकती थी। इस प्रकार के बजट प्रावधान आज भी रखे जा रहे हैं।

(6) **निर्यातकर्ताओं को दुर्लभ वस्तुओं की उपलब्धि करना**—नियन्त्रित मूल्यों पर निर्यातकर्ताओं को दुर्लभ कच्चे माल तथा आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धि प्राथमिकता के आधार पर कराने की व्यवस्था की गयी। आज तक भी अनेक औद्योगिक इकाइयों को महत्वपूर्ण एवं दुर्लभ कच्चे माल की उपलब्धि प्राथमिकता के आधार पर करायी जाती है, यदि वे अपने उत्पादन का 10% या इससे अधिक निर्यात करती हों। इस नीति के अन्तर्गत ऐसी इकाइयों की उत्पादन-क्षमता में सुधार तथा विस्तार हेतु दी गयी सुविधाएँ भी शामिल हैं।

(7) **आयात करने का अधिकार**—इस योजना के अन्तर्गत निर्यातकर्ताओं को निर्यात वस्तुओं के कुल मूल्य का एक निर्दिष्ट अनुपात विदेशी विनिमय के रूप में इसलिए दिया जाता है कि वह विदेशों से निर्दिष्ट वस्तु/वस्तुओं का आयात कर सकें। तृतीय योजना-काल में यह योजना प्रारम्भ की गयी थी तथा इसके अन्तर्गत विभिन्न निर्यातकर्ताओं को निर्यात के मूल्य (f o b) के आधार पर आयात लाइसेंस दिये गये। निर्यातकर्ताओं को छूट दी गयी कि वे इन लाइसेंसों को उन व्यक्तियों को हस्तान्तरण कर दें जिन्हें सम्बद्ध वस्तुओं की वास्तव में आवश्यकता थी। बहुधा निर्यातकर्ताओं को आयात लाइसेंस पर 70% से 80% अतिरिक्त राशि (Premium) प्राप्त हो जाती थी। कुछ वस्तुओं के आयात लाइसेंसों पर 200% से 300% अतिरिक्त राशि प्राप्त की जा सकती थी। 1963 में इस योजना के अन्तर्गत 65 करोड़ रुपये के आयात लाइसेंस जारी किये गये। यह उल्लेखनीय है कि भारत से पहले इस प्रकार की योजना पाकिस्तान व जापान में लागू की जा चुकी थी। परन्तु भारत में लागू की गयी योजना में निम्न विशेषताएँ रही हैं

(i) निर्यात के मूल्य से कम मूल्य के आयात लाइसेंस जारी किये जा रहे हैं तथापि अन्य देशों की *तुलना में आयात लाइसेंस की राशि के अनुपात भारत में अधिक हैं। इन अनुपातों में* परिवर्तन किये जाते हैं।

(ii) हस्तान्तरणीय लाइसेंसों के बाजार पृथक् होने के कारण विभिन्न लाइसेंसों पर अतिरिक्त राशि की दरें भी भिन्न हैं।

(iii) इस योजना के अन्तर्गत उपयोग की वस्तुओं के आयात लाइसेंस नहीं दिये जाते।

(iv) इस योजना के अन्तर्गत 60% से अधिक निर्यात सम्मिलित नहीं है एवं केवल 30% निर्यातों पर कठोर नियमों के अन्तर्गत लाइसेंस देने की व्यवस्था है।

(v) उक्त आयात अधिकारों के अन्तर्गत प्राप्त आयात कुल आयात के मूल्य के लगभग 5% रहे हैं। वस्तुतः यह योजना उस समय लागू की गयी जबकि भारतीय रुपये का अर्घ (value) कृत्रिम रूप में ऊँचा रखा गया था तथा विदेशी विनिमय की कालाबाजारी अधिक होने के कारण आयात लाइसेंसों पर अतिरिक्त राशि प्राप्त करने के उद्देश्य से घाटा उठा कर भी निर्यात में वृद्धि की। परन्तु इस योजना का सबसे बड़ा दोष यह था कि इसके अन्तर्गत प्राप्त अतिरिक्त राशि विभिन्न वस्तुओं के सन्दर्भ में असमान एवं अस्थिर थी। इस नीति ने बीजक में निर्यातों के मूल्य बढ़ाकर प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया, क्योंकि सभी निर्यातकर्ता अधिक से अधिक राशि का आयात लाइसेंस प्राप्त करना चाहते थे। यह उल्लेखनीय है कि जैसे-जैसे निर्यात का मूल्य अधिक होता है वैसे-वैसे आयात लाइसेंसों पर प्राप्त अतिरिक्त राशि का अनुपात घटता जाता है जिसके अन्तर्गत निश्चित माँग के सन्दर्भ में पूर्ति बढ़ते जाने पर वस्तु का मूल्य घटता जाता है।

(8) 1985 में घोषित आयात-निर्यात नीति तथा दीर्घकालीन राजस्व नीति के अन्तर्गत देश के निर्यातोन्मुखी उद्योग को आधुनिकीकरण तथा कच्चे माल एवं पुर्जों के आयात हेतु उदारतापूर्वक अनुमति दी जायगी। इनके आयात पर नाम-मात्र को कर होंगे। इसके फलस्वरूप भारतीय उद्योगों की उत्पादन लागत में कमी होगी तथा अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में इनकी स्पर्द्धाशीलता सुदृढ़ होगी।

5 जून, 1966 को रुपये का अवमूल्यन करने के बाद सरकार ने निर्यात-संवर्द्धन के अधिकांश उपायों को समाप्त कर दिया। परन्तु जब यह अनुभव किया गया कि अवमूल्यन के पश्चात् निर्यातों में वृद्धि नहीं हो पा रही थी तो अनुदान सम्बन्धी योजना पुनः लागू की गयी। अवमूल्यन के पश्चात् लागू की गयी निर्यात-संवर्द्धन नीति में आयात लाइसेंस के साथ-साथ 10 से 20% नकद-अनुदान देने की भी व्यवस्था रखी गयी है। विभिन्न वस्तुओं पर उपलब्ध अनुदान एवं नकद-अनुदान की दरों में विभिन्नता है, यद्यपि प्रत्यक्ष अनुदान की योजना ही अधिकांश वस्तुओं के लिए प्रचलित है। 1967-68 में अनेक वस्तुओं के लिए सहायता की दरें बढ़ाई गयीं। पुनः 1968-69 में जिन क्षेत्रों में निर्यात में 10% से अधिक वृद्धि हुई थी, वहाँ नकद सहायता के स्तर में 2½% से 10% तक वृद्धि की गयी। 1967-68 तक निर्यात की गयी वस्तुओं में 10% पर नकद-अनुदान की योजना लागू की जा चुकी थी। इसके अगले दो वर्षों में कुछ नयी वस्तुओं को इस अनुदान योजना में शामिल किया गया।

इसी प्रकार कुल उत्पादन का 10% या अधिक भाग निर्यात करने वाली औद्योगिक इकाइयों को प्राथमिकता के आधार पर आयात लाइसेन्स देने की व्यवस्था की गयी। इसी प्रकार उन इकाइयों को सहायता देने का भी प्रयास किया जाता है जो अपनी वस्तुओं का निर्यात करने की इच्छुक हैं। इनके अतिरिक्त निर्यात-योग्य वस्तुओं के उत्पादन में संलग्न इकाइयों में विदेशी साझेदारी को भी प्रोत्साहन दिया जाता है। अप्रैल 1977 में सत्तारूढ़ होने के बाद जनता पार्टी की सरकार ने भी इन उपायों का अनुगमन किया।

तृतीय योजना-काल में निर्यातों को प्रोत्साहन देने हेतु अनेक संस्थाएँ स्थापित की गयीं अथवा इनके कार्यक्षेत्र का विस्तार किया गया। राजकीय व्यापार निगम (STC), खनिज एवं धातु व्यापार निगम (MMTC) तथा हाथकर्घा व हस्तकला निर्यात निगम (HHEC) इनमें से प्रमुख संस्थाएँ हैं जिनका उद्देश्य निर्यातों को प्रोत्साहन देना है। यह उल्लेखनीय है कि राजकीय व्यापार निगम की स्थापना मई 1956 में की गयी थी तथा इसे विविध प्रकार की वस्तुओं के आयात व निर्यात करने हेतु एकाधिकार दिये गये थे। 1956-57 में इस निगम के कुल व्यापार (आयात व निर्यात) की राशि लगभग 9 करोड़ रुपये थी परन्तु शीघ्र ही इसका कार्यक्षेत्र बढ़ने के साथ-साथ आयात व निर्यात में तेजी से वृद्धि हुई। फलस्वरूप अक्टूबर 1963 में खनिज व धातु व्यापार निगम की स्थापना की गयी जिसका मुख्य सम्बन्ध खनिज व धातु के आयात व निर्यात से है। तृतीय पंचवर्षीय योजना-काल में ही विदेशी व्यापार संस्थान (IFT) की स्थापना की गयी। इस संस्थान के मुख्य कार्यों में निर्यात व्यापार से सम्बद्ध अधिकारियों को विशेष प्रशिक्षण देना, बाजार सम्बन्धी सेवाओं की जानकारी देना तथा विदेशी व्यापार सम्बन्धी शोध करना शामिल है। इस क्षेत्र की उन्नति हेतु वर्तमान में व्यापार विकास संस्था (Trade Developing Authority) का निर्माण किया गया है जिसका कार्य चुने हुए तथा गहन निर्यातों के विकास को प्रोत्साहन देना तथा निर्यात उत्पादन एवं बिक्री के क्षेत्र में विभिन्न सेवाएँ प्रदान करना है। एक स्वतन्त्र विदेशी व्यापार मन्त्रालय की भी स्थापना की गयी है। यह सब इस बात की पुष्टि करते हैं कि सरकार ने निर्यात प्रोत्साहन की समस्या को तीव्र गति से हल करने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना-काल में निर्यात-नीति

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना-काल में प्राथमिकता प्राप्त व अन्य उद्योगों को निर्यात-संवर्द्धन हेतु और अधिक सुविधाएँ दी गयीं। प्राथमिकता प्राप्त उन उद्योगों को कुल उत्पादन का 10% या अधिक निर्यात करते थे, उत्पादन में वृद्धि करने तथा कच्चे माल एवं साज-सज्जा की उपलब्धि हेतु प्राथमिकता दी गयी। परन्तु यह स्पष्ट कर दिया गया कि कुल उत्पादन के 25% या अधिक का निर्यात करने वाली औद्योगिक इकाइयों को अधिक प्राथमिकता के आधार पर सहायता दी जायगी।

गैर-प्राथमिकता प्राप्त औद्योगिक इकाइयों को प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों के अनुरूप ही सुविधाएँ देने का निश्चय किया गया, यदि वे भी अपने उत्पादन का 10% या इससे अधिक निर्यात करती हों। प्राथमिकता प्राप्त 12 उद्योगों में संलग्न इकाइयों जैसे साइकिलों व इनके पुर्जों का निर्माण, निर्दिष्ट किस्म के डीजल इन्जन, ऑटोमोबाइल के पुर्जों, दवाइयों व रासायनिक पदार्थों आदि को उत्पादन के 5% से कम निर्यात करने पर प्राप्त आयात लाइसेंस में कटौती करने तथा

प्राथमिकता के आधार पर कच्चे माल व साज-सज्जा की उपलब्धि स्वगित करने की घोषणा की गयी। यह उल्लेखनीय है कि वह तृतीय पचवर्षीय योजना-काल में भी प्रचलित थी, परन्तु इसको और अधिक प्रभावपूर्ण ढग से कार्यान्वित करने का निर्णय चतुर्थ पचवर्षीय योजना-काल में लिया गया। परन्तु इन 12 उद्योगो में सलग्न 342 इकाइयों में से 1971-72 में केवल 88 (26%) ही उत्पादन के 5% भाग का निर्यात करने की शर्त पूरी कर सकी।[1]

1970 में निर्यात सवर्द्धन के महत्व को दृष्टिगत रखते हुए भारत सरकार ने **'निर्यात नीति प्रस्ताव'** पारित किया। इस प्रस्ताव में चतुर्थ पचवर्षीय योजना-काल में तथा उसके बाद अपनायी जाने वाली निर्यात-नीति की स्पष्ट घोषणा की गयी। इस प्रस्ताव में बताया गया कि "निर्यातो से प्राप्त आय में वृद्धि का उतना ही महत्व है जितना कि देश के आन्तरिक साधनो के विदोहन का है। देश के आर्थिक स्वावलम्बन की प्राप्ति तथा विदेशी सहायता पर निर्भरता में कमी लाने हेतु निर्यात-आय में तीव्र गति से वृद्धि की जानी आवश्यक है।"

इस प्रस्ताव में उन विधियो का भी उल्लेख किया गया है जो भारत सरकार द्वारा उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रो जैसे कृषि फसलो के उत्पादन, रेशम वन मत्स्य-पालन खनिज वस्त्र-उद्योगो, रसायन पदार्थों इन्जीनियरिंग उद्योगो एव विद्युत उद्योगो आदि के सम्बन्ध में अपनायी जाती हैं। कृषि के लिए उक्त प्रस्ताव में व्यापारिक फसलो के उत्पादन में वृद्धि हेतु किये जाने वाले प्रयासों का उल्लेख किया गया है। प्रस्ताव में ऐसा कहा गया कि इन फसलो, विशेष रूप से काजू की गुली, तिलहन कपास कच्ची जूट, गम मसालो तम्बाकू आदि के निर्यात में वृद्धि की काफी सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। प्रस्ताव में इन वस्तुओं की क्वालिटी में सुधार हेतु भी सरकार को उत्तरदायी बनाया गया।

इसी प्रकार फलो, सब्जियो व फलो की वैज्ञानिक ढग पर खेती करने पर 'निर्यात नीति प्रस्ताव' पर बल दिया गया। इसके उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि के आवश्यक कदम उठाये जाने की घोषणा की गयी। विशेष रूप से असली रेशम के उत्पादन में वृद्धि तथा इसकी क्वालिटी में सुधार हेतु आवश्यक उपायो पर बल दिया गया।

विदेशो में समुद्र से प्राप्त खाद्य-वस्तुओ (मछली, घोंघे, केकडो आदि) की भारी माँग की तुलना में इन वस्तुओ का भारत में बहुत ही कम उत्पादन है। 'निर्यात नीति प्रस्ताव' में इस तथ्य को स्वीकार करते हुए इन साधनो के उपयुक्त विदोहन की आवश्यकता पर बल दिया गया। इसके अतिरिक्त समुद्री खाद्य-वस्तुओ के परिनिर्माण (processing) हेतु भी आवश्यक कदम उठाने का निश्चय किया गया।

इसी प्रकार उक्त प्रस्ताव में हमारे वनो से प्राप्त साधनो के समुचित विदोहन एव इनका निर्यात बढाने का निश्चय किया गया। यह भी निर्णय किया गया कि देश में उपलब्ध खालों व चमड़े को निर्यात व्यापार के वृद्धि हेतु प्रयुक्त किया जायगा। 'निर्यात नीति प्रस्ताव' में यह भी स्पष्ट किया गया कि भारत में अनेक खनिज पदार्थ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं तथा उनके उत्पादन में वृद्धि एव निर्यात से देश को पर्याप्त विदेशी मुद्रा प्राप्त हो सकती है। इन खनिज पदार्थों में कच्चा लोहा, मैंगनीज क्रोम, बॉक्साइट, अभ्रक, सिलीमेनाइट, कैडमियम, क्यानाइट, फ्लोरस्पार आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से लोहे, मैंगनीज व अभ्रक के निर्यात में वृद्धि की काफी सम्भावनाएँ उपलब्ध हैं, ऐसा उक्त प्रस्ताव में स्पष्ट किया गया।

भारत से सूती वस्त्रो का पर्याप्त मात्रा में निर्यात किया जाता है। इनके अतिरिक्त ऊनी वस्त्रों, रेशमी वस्त्रो तथा टेरीलिन के कपडो का भी पिछले वर्षों से निर्यात किया जाने लगा है। 'निर्यात नीति प्रस्ताव' में वस्त्र उद्योगो में सलग्न इकाइयो के आधुनिकीकरण पर बल दिया गया। परन्तु चूँकि इनमें से सभी इकाइयो का आधुनिकीकरण सम्भव नहीं है, पहले उन इकाइयों के आधुनिकीकरण का निर्णय लिया गया जो पर्याप्त मात्रा में निर्यात करने में समर्थ हैं। उक्त प्रस्ताव में इन इकाइयो के आधुनिकीकरण पर बल दिया गया तथा यहाँ तक स्पष्ट कर दिया गया कि यदि आवश्यक हुआ तो आवश्यक साज-सज्जा के आयात द्वारा भी इनका आधुनिकीकरण किया जायगा।

---

1 *State Bank of India Review*, May 1972

'निर्यात नीति प्रस्ताव' में यह भी स्पष्ट किया गया कि क
समय अथवा पुरानी इकाइयों की उत्पादन-क्षमता के विस्तार की अनुज्ञाइयों को लाइसेन्स देते क्षमता को भी ध्यान में रखा जायगा। उन छोटी औद्योगिक इकाइयों तथे समय इनकी निर्यात-के निर्माताओं को उत्पादन बढ़ाने हेतु सभी प्रकार की सम्भव सहायता दी जायगी की वस्तुओं उत्पादन-क्रिया में संलग्न हैं। उक्त प्रस्ताव में यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि जो निर्यात हेतु एवं लदान-पूर्व निरीक्षण सम्बन्धी दायित्व को सरकार और कठोरतापूर्वक पूरा करेगी-नियन्त्रण

चुने हुए उद्योगों को निर्यात के बदले आयात लाइसेन्स प्रदान करने, मदद-उत्पादन करों, प्रशुल्क-दरों व रेल-भाड़े में छूट देने तथा रियायती ब्याज-दर पर निर्यातकों को साख उपलब्ध कराने की नीतियाँ चतुर्थ पंचवर्षीय योजना-काल में जारी रखी गयीं। यह बता देना उचित होगा कि जुलाई 1965 में विपणन विकास कोष की स्थापना की गयी जिसका उद्देश्य निर्यातकर्ताओं को वित्तीय सहायता उपलब्ध कराना था; परन्तु इस दिशा में उल्लेखनीय प्रगति चतुर्थ पंचवर्षीय योजना-काल में ही हो सकी। 1971-72 में उक्त कोष से निर्यातकर्ताओं को 4 करोड़ रुपये की साख उपलब्ध करायी गयी थी। 1972-73 में साख की यह राशि बढ़कर 62 करोड़ हो गयी। ऊपर यह कहा जा चुका है कि विभिन्न निर्यात-संवर्द्धन परिषदों एवं संस्थाओं को सरकारी बजट से अनुदान देने की योजना तृतीय पंचवर्षीय योजना काल में ही लागू कर दी गयी थी। इसके अतिरिक्त चुनी हुई वस्तुओं के निर्यात हेतु क्षतिपूरक सहायता का भी प्रावधान रखा गया। निर्यात-संवर्द्धन के लिए दी जाने वाली अनुदान राशि हाल के वर्षों में काफी बढ़ी है। 1970-71 में निर्यात-संवर्द्धन के लिए 70 करोड़ रुपये का अनुदान दिया गया था। यह राशि चतुर्थ योजना के अन्त तक 88 करोड़ रुपये हो थी। इसके बाद इसमें तीव्र गति से वृद्धि हुई है। 1982-83 में निर्यात-संवर्द्धन पर 542 करोड़ रुपये व्यय किये गये। 1983-84 में यह राशि 570 करोड़ रुपये थी। 1984-85 में इस मद पर 621 करोड़ रुपये व्यय किये जाने का प्रावधान है।[1]

1973 में निर्यात क्षेत्र से सम्बद्ध उद्योगों के उत्पादन, अतिरेक-सृजन (generation of surplus) तथा विदेशों में बाजार के विकास से सम्बद्ध समस्याओं पर अधिक गम्भीरतापूर्वक ध्यान देने हेतु वाणिज्य मन्त्रालय में 'निर्यात उत्पादन विभाग' (Department of Export Production) की स्थापना की गयी। इसके अतिरिक्त निर्यात व्यापार में सम्बद्ध इकाइयों की पूँजीगत वस्तुओं के आयात हेतु प्रस्तुत आवेदन-पत्रों के शीघ्र निपटारे हेतु औद्योगिक स्वीकृति सचिवालय (Secretariat for Industrial Approvals) को सीधा अधिकार दे दिया गया। इस सचिवालय की स्थापना केन्द्रीय सरकार के औद्योगिक विकास विभाग के अन्तर्गत ऐसी इकाइयों को प्राथमिकता के आधार पर पूँजीगत वस्तुएँ आयात करने हेतु विदेशी विनिमय के सामयिक आवंटन हेतु की गयी है जो अपने उत्पादन का एक भाग निर्यात करती है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना-काल में विशुद्ध निर्यात आय में वृद्धि हेतु ऊँची कीमत वाली वस्तुओं का आयात घटाने के भी प्रयास किये गये। देश में इस्पात का उत्पादन कम होने के कारण इसका भारी मात्रा में आयात करना आवश्यक था। जून 1973 में यह निर्णय लिया गया कि आयातित इस्पात केवल उन निर्यात अनुबन्धों के लिए उपलब्ध कराया जायगा जिनका निर्यात (f. o. b.) मूल्य इस्पात के आयात (c. i. f.) मूल्य से कम से कम 25% अधिक होगा। अर्द्ध-निर्मित खालों के स्थान पर तैयार किये गये चमड़े को प्रोत्साहन देने हेतु अगस्त 1973 में खालों के निर्यात की मात्रा सीमित कर दी गयी। इसके साथ ही चमड़ा उद्योग की उत्पादन बढ़ाने में सहायता देने हेतु सम्बद्ध इकाइयों की उत्पादन-क्षमता में विस्तार हेतु लाइसेंस प्रक्रिया को और सरल बनाया गया।

मनुष्य द्वारा निर्मित अर्थात् कृत्रिम रेशे, मिश्रित धागों एवं कुछ विशेष प्रकार के सूती धागों के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इसी प्रकार देशी ऊन के निर्यात पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इन प्रतिबन्धों का प्रयोजन तैयार वस्त्रों के निर्यात को प्रोत्साहन देना था। जूट की वस्तुओं के निर्यात को बढ़ाने हेतु 1973 में गलीचों के काम में आने वाले जूट के समान

1 *The Economic Times*, March 2, 1984.

(carpet backing) पर विद्यमान निर्यात-कर में कमी की गयी। अगस्त 1973 में टाट पर मौजूद निर्यात-कर में भी कमी की गयी जबकि बोरियों पर विद्यमान निर्यात-कर पूर्ण रूप से समाप्त कर दिया गया। बाद में मार्च 1974 में जूट की वस्तुओं के विश्व भर में मूल्य बढ़ जाने पर कार्पेट बैकिंग एवं टाट पर नवम्बर 1972 से पूर्व विद्यमान दरों से पुन: निर्यात-कर लगा दिये गये, जबकि जूट की बोरियों पर फिर से निर्यात-कर (अगस्त 1973 में विद्यमान दर से) लगा दिया गया।

भारत के निर्यात व्यापार की प्रवृत्ति

1972-73 में भारत से कुल 1,900 करोड़ रुपये की वस्तुओं का निर्यात किया गया था जबकि 1973-74 में लगभग 2,350 7 करोड़ रुपये की वस्तुओं का निर्यात किया। 1974-75 में लगभग 3,300 करोड़ रुपये के मूल्य की वस्तुओं का निर्यात किया गया। इस प्रकार उत्तरोत्तर हमारे निर्यातों में वृद्धि होती गयी। परन्तु विश्व में बढ़ती हुई प्रतियोगिता के कारण हम अनिश्चित काल तक निर्यात व्यापार को बढ़ा सकेंगे, इसमें सन्देह है। इसके विपरीत, 1972-73 की तुलना में 1973-74 व 1974-75 में हमारे आयातों में क्रमश: 56% तथा 62% वृद्धि हुई है। यही नहीं, तेल संकट के फलस्वरूप रासायनिक पदार्थों व उर्वरकों के भी मूल्य बढ़ गये हैं। इसके अतिरिक्त खाद्यान्नों के मूल्यों में भी पिछले 4-5 वर्षों में पर्याप्त वृद्धि हुई है।

यहाँ यह बता देना उपयुक्त होगा कि पिछले कुछ वर्षों से निर्यात आय में होने वाली वृद्धि का एक बड़ा भाग मात्रात्मक वृद्धि की अपेक्षा विश्वव्यापी मुद्रा स्फीति का ही एक परिणाम रहा है। 1974-75 के 'इकॉनामिक सर्वे' से इस तथ्य की पुष्टि होती है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना-काल में निर्यात के परिमाण में हुई वृद्धि केवल 42% थी। शेष वृद्धि वस्तुओं के मूल्यों में हुई वृद्धि का ही परिणाम थी। 1973-74 में विगत वर्ष की अपेक्षा निर्यात व्यापार की राशि 512·4 करोड़ रुपये अधिक थी। इस राशि का केवल 14% ही वस्तुओं की अधिक मात्रा निर्यात करने से प्राप्त हुआ जबकि शेष 86% भाग निर्यातित वस्तुओं में मूल्यों में वृद्धि का परिणाम था।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में निर्यात-रणनीति

भारत की पाँचवी पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भिक अभिलेख में ऐसी आशा व्यक्त की गयी थी कि योजना काल के अन्तिम वर्ष (1978-79) तक भारत को अपनी पूँजी सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिए विदेशों पर निर्भर नहीं रहना पड़ेगा। आत्मनिर्भरता के इस लक्ष्य के उद्घोष के साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया कि देश के सभी उद्योगों को यथासम्भव सभी उपकरण एवं कच्चे माल की उपलब्धि करायी जायेगी तथा निर्यात व्यापार में काफी ऊँची दर से वृद्धि हेतु प्रयास किये जायेंगे। इस लक्ष्य को 1970 के 'निर्यात-नीति प्रस्ताव' के सन्दर्भ में देखने पर एक वास्तविक निर्यात-रणनीति (export strategy) का अपनाया जाना आवश्यक हो जाता है।

पाँचवी पंचवर्षीय योजना-काल में निर्यात-रणनीति एवं निर्यातों में पर्याप्त (35%) वृद्धि के लक्ष्य के पीछे यह भावना निहित थी कि विश्व के बाजारों में उत्पन्न प्रतिकूल परिस्थितियों में भी हम अधिकाधिक विदेशी विनिमय प्राप्त करते हुए देश का आर्थिक विकास कर सकें। भारत सरकार ने छ: उद्योगों के लिए निर्यात कर आवश्यक (obligatory) अनुपात बढ़ा दिया क्योंकि इन उद्योगों की निर्यात-क्षमता अधिक होने का अनुमान किया गया था। ये उद्योग थे: इन्जीनियरिंग उपकरण (file), ढले हुए हस्तचलित औजार (hand tools), जैसे प्लायर्स, स्पैनर्स एवं रिंच, स्टोरेज बैटरियाँ, ऑटोमोबाइल पार्ट्स, स्टील पाइप एवं ट्यूब तथा ट्रान्समिशन टॉवर्स। इससे पूर्व इन उद्योगों के लिए उत्पादन का न्यूनतम 5% अंश निर्यात करना जरूरी था, परन्तु पाँचवी योजना में सीमा को बढ़ाकर 10% कर दिया गया। इससे पूर्व निर्यात के लिए आवश्यक लक्ष्य पूरा करने पर आयात अधिकार में श्रेणीकृत (graded) कटौती का प्रावधान था, परन्तु पाँचवी योजना में यह स्पष्ट कर दिया गया कि लक्ष्य से कम निर्यात करने वाली इकाइयों के आयात कोटे में आनुपातिक कटौती की जायगी।

1976-77 तथा 1977-78 के लिए निर्यात-नीति

1975-76 में भारत सरकार के निर्यात व्यापार में आशातीत वृद्धि होने के पश्चात् भी व्यापार का घाटा बढ़ गया। 1975-76 में वास्तविक निर्यात 3,941·6 करोड़ रुपये का हुआ

था जो कि लक्ष्य (5,500 करोड़ रुपये) से कहीं अधिक था। परन्तु इसी वर्ष मे आयातो मे वृद्धि निर्यातो की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से हुई। 1974-75 में व्यापार का घाटा 1,182 95 करोड़ रुपये का था जोकि 1975-76 मे बढ़कर 1,216 20 करोड़ रुपये का हो गया। इस प्रवृत्ति को देखते हुए 1976-77 मे व्यापार घाटे की स्थिति से निपटने हेतु निर्यातो मे और अधिक वृद्धि करने का निश्चय किया गया। भारत सरकार ने इस दृष्टिकोण को समक्ष रखते हुए 1976-77 तथा 1977-78 के दो वर्षों के लिए अपनी समस्त निर्यात-रणनीति (export strategy) का निर्माण किया। इस नीति के अनुसार 1976-77 मे 600 करोड़ रुपये से 700 करोड़ रुपये तक अतिरिक्त निर्यात तथा 1977-78 मे इससे भी अधिक राशि के निर्यातो का प्रावधान रखा गया।

इस रणनीति के अन्तर्गत निर्यात का विकास करने और उनमें विविधता लाने के प्रयासों को गतिशील करने के लिए कई उपाय अपनाये गये। इन प्रयासो मे निर्यात के लिए वित्तीय सहायता, परिवहन सुविधाएँ, बाजार-अनुसन्धान प्रशिक्षण, संस्थागत प्रबन्धो को युक्तिसंगत बनाना, संयुक्त राष्ट्र संघ के अभिकरणो और मित्र देशो से प्राप्त होने वाली तकनीकी सहायता सहित तकनीकी सेवाएँ प्रदान करना शामिल थी। इसके अतिरिक्त, निर्यातों मे विशिष्ट प्रयोजन के लिए विदेशी मुद्रा देना, आयात पुनर्भरण, दुर्लभ कच्चा माल प्राथमिकता से देना, कुछ दशाओं मे रियायती कीमत पर भी माल का निर्यात करना, रेल-भाड़े मे रियायत, आयात और उत्पादन शुल्को की वापसी और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक प्रणालियो के अनुरूप अन्य सामान्य और विशिष्ट सहायता देना आदि सुविधाएँ भी शामिल की गयी।

1976-77 की नीति मे निर्यात व्यापार को बैंकों से ऋण देने के लिए प्राथमिकता वाला क्षेत्र माना गया। निर्यातकों को व्यापारी बैंको से लदान पूर्व एव लदान के बाद रियायती ब्याज पर अग्रिम धन देने की सुविधा दी गयी। विदेशी बाजारो में प्रतियोगिता का सामना करने, देश की वर्तमान अर्थव्यवस्था मे निहित प्रतिकूल परिस्थितियो को प्रभावहीन करने और विपणन क्षमता का विकास करने के लिए कुछ चुनी हुई गैर-परम्परागत औद्योगिक वस्तुओ को नकद सहायता चालू रखी गयी तथा निर्यात की पर्याप्त सम्भावनाओ वाले चुने हुए मामलो में अधिक प्रतिपूरक सहायता देना भी जारी रखा गया।

इन्जीनियरिंग, रसायन और अन्य उद्योगो को निर्यात माल बनाने के लिए देश मे उपलब्ध आवश्यक कच्चा माल प्राथमिकता के आधार पर देने की घोषणा की गयी। आवश्यक कच्चे माल का आयात करने का भी इस निर्यात नीति मे प्रावधान रखा गया।

निर्यात संस्थान स्कीम (Export Houses Scheme) को विस्तृत रूप से संशोधित किया गया, तथा इसे और अधिक निर्यातवर्द्धक बनाया गया। इस नवीन विस्तृत स्कीम को 1976-77 की आयात नीति के साथ ही घोषित किया गया।

भारत सरकार ने 1976-77 की नयी लाइसेंस नीति की घोषणा के अन्तर्गत 100% निर्यातवर्धन उद्योगो को महत्त्व दिया। इन इकाइयो को अपने सम्पूर्ण उत्पादन को बिना सरकार की क्षतिपूर्ति सहायता पर निर्भर रहते हुए प्रतियोगिता के आधार पर बेचने की छूट दी गयी। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु सरकार ने अनेक सुविधाएँ उपलब्ध कराने की भी घोषणा की। आयात पर मुक्त कच्चे माल तथा पूँजीगत वस्तुओ की पूर्ति सम्बन्धित सुविधाओ के अन्तर्गत सरकार ने अनेक अतिरिक्त सुविधाएँ प्रदान करने की भी घोषणा की। निर्यात इकाइयों को बाजार की स्थिति के अनुसार उत्पादन की विविधता के लिए सुविधाएँ देने का भी प्रावधान रखा गया।

1976-77 के लिए निर्यात का सर्वाधिक लक्ष्य 4,350 करोड़ रुपये का निश्चित किया गया था, परन्तु इस वर्ष वस्तुतः 5,143 2 करोड़ रुपये का निर्यात किया गया, जबकि आयात का मूल्य उस वर्ष लगभग 5,074 करोड़ रुपये रहा। अतः 1975-76 के वर्ष मे जहाँ देश की आयात-निर्यात मे 1,216 20 करोड़ रुपये का घाटा था, वहाँ 1976-77 मे लगभग 72 करोड़ रुपये का लाभ हुआ। इस वर्ष निर्यात व्यापार मे जहाँ 27 2% से अधिक की वृद्धि हुई, वहाँ आयात में 3·6 की कमी हुई।

1976-77 मे भारत के लाभ की स्थिति मे आ जाने का एक कारण तो आयात स्थिति मे कुछ कठोर दृष्टिकोण द्वारा हुआ (जिसमे लाइसेंस कम किये गये और रोके भी गये)। दूसरा कारण

यह था कि 1976-77 मे अधिकाश निर्यातित वस्तुओं के इकाई मूल्य में वृद्धि का लाभ भी प्राप्त हुआ क्योकि विश्व के विकसित औद्योगिक देशो मे व्याप्त अवरोध स्थिति (Recessionary situation) समाप्त हो गयी थी। परन्तु इसका मुख्य कारण यह था कि भारत को विदेशी खाद्यान्न का आयात करने मे जिस बडे खाते का भुगतान करना पडता था, वह प्राय: बन्द हो गया। अतः इस लाभ का श्रेय देश मे खाद्यान्न उत्पादन की वृद्धि को दिया जा सकता है। इसके साथ ही एक तथ्य यह भी है कि सरकारी उद्योगो मे वर्षों से चली आयी गतिरोध की अवस्था म परिवर्तन हुआ। अस्तु इन्जीनियरिंग सामान, लोहा इस्पात, चमडा, खली और कुछ ऐसी वस्तुओ का निर्यात अधिक हुआ जो परम्परागत वस्तुओं के निर्यात से अधिक नही जा सकती है।

परन्तु देश के व्यापार सन्तुलन में हाल में जो प्रतिकूल स्थिति आयी उसकी जोखिम सरकार ने जान-बूझकर उठायी थी ताकि कई अत्यधिक महत्वपूर्ण वस्तुओं की देशीय सप्लाई में कुछ गम्भीर असन्तुलन के कारण उत्पन्न मुद्रा-स्फीति पर काबू पाया जा सके और विभिन्न किस्म के पूँजीगत सामान, फालतू पुर्जों आदि का उपलब्धि आसान हो जाये। ऐसी वस्तुओ के अत्यधिक आयात को मजूरी देने के लिए विनिमय उपायो मे पर्याप्त ढील देने के बावजूद भी देश के व्यापार सन्तुलन की स्थिति को अब तक अधिक नुकसान नही होने दिया गया।

1977-78 की निर्यात नीति के सम्बन्ध में सरकार ने स्पष्ट किया कि यह नीति घरेलू मांग की पूर्ति करने तथा आयात का भुगतान अपने ही ससोधनो द्वारा कर आत्म-निर्भर बनने में सन्तुलन स्थापित करने की होगी। वाणिज्य मन्त्री ने 1977-78 की निर्यात नीति को स्पष्ट करते हुए बताया कि इस वित्तीय वर्ष मे निर्यात का एकमात्र औचित्य आयात हेतु अपनी क्रय-शक्ति म वृद्धि करना था। उन्होने कहा कि प्रभावी ढग से निर्यात बढाने मे हमे अर्थव्यवस्था को पहुँचने वाले लाभ की अपेक्षा नही कर सकते परन्तु किसी उत्पादन विशेष के निर्यात के सम्बन्ध मे निर्णय करने से पूर्व हमें यह देखना होगा कि अप्रत्यक्ष रूप से उसके निर्यात अथवा आयात से वस्तुओं के अतिरिक्त अथवा सेवा के सृजन होने की सम्भावनाएँ बढ़ेंगी तथा यह लाभ उस उत्पादन के प्रत्यक्ष उपभोग से अधिक होगा अथवा नही। किसी वस्तु विशेष के निर्यात को प्रोत्साहन देने से पूर्व उस वस्तु मे लगी श्रम शक्ति तथा रोजगार, घरेलू-साधनो की तुलना मे लागत तथा अर्जित की जाने वाली विदेशी मुद्रा का ध्यान रखना चाहिए। यह भी स्पष्ट किया गया कि निर्यात के लिए किये जाने वाले उत्पादन तथा घरेलू-खपत के लिए किये जाने वाले उत्पादन मे कोई विभेद नही होना चाहिए।

अनिश्चितकालीन विदेशी सहायता से मुक्ति पाने के लिए तथा उत्तरोत्तर एक दूसरे पर निर्भर रहने वाली दुनिया मे आत्म-निर्भर बनने के लिए निर्यात मे वृद्धि करना ही एकमात्र उपाय है। अतः 1977-78 मे सरकार ने निर्यात को और भी बढावा देने की घोषणा की।

1977-78 मे इन्जीनियरिंग वस्तुओ के निर्यातो को बढावा देने के लिए इसके निर्यातको को सरकार द्वारा हर सम्भव सहायता देने के प्रयास किये गये। रजिस्टर्ड निर्यातको के लिए 1977-78 की नीति मे कच्चा माल अन्तर्राष्ट्रीय दरो पर उपलब्ध कराने के प्रयास किये गये। निर्यातको को सभी सुविधाएँ दी गयी। इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था को पुनर्जीवित करने के लिए निर्यात को प्रोत्साहन देना आवश्यक था। लेकिन मूल्य स्थिरता लाने के लिए आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं के निर्यात पर एकदम प्रतिबन्ध लगाना भी इतना ही आवश्यक था। परन्तु सरकार एक ऐसा तन्त्र गठित करने मे असमर्थ रही जो नकद सहायता और निर्यात अभियान का निरन्तर मूल्यांकन करता रहे। आज कई ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ सहायता ऐसे उच्च मुनाफा कमाने वाले निर्यातकों को दी गयी जिन्हें सहायता की आवश्यकता भी नही थी। 1977-78 मे विदेशी व्यापार और निर्यात प्रोत्साहन के लिए 303 करोड रुपये रखे गये, यद्यपि 1975-76 मे इसके लिए केवल 160 करोड रुपये की व्यवस्था ही की गयी थी। पिछले वर्ष निर्यात से हुए अतिरिक्त लाभ को देखते हुए सहायता और उत्पाद-प्रोत्साहन अथवा निर्यात विकास सगठन को दी गयी सहायता के रूप मे किये गये दुगुने खर्च को निश्चित ही उचित नहीं ठहाराया जा सकता। निर्यात सहायता की पूरी योजना की ही समीक्षा की जानी चाहिए ताकि यह देखा जा सके कि इससे अन्य सेवाओं को लाभ पहुँचा है अथवा हानि।

आर्थिक प्रोत्साहन, आर्थिक अनुशासन और निर्यात नीति, इन सबका प्रयोग उत्पादन की रफ्तार को बढाने के लिए किया जाना चाहिए। यह बात सच है कि वास्तविक राष्ट्रीय आय पिछले

25 वर्षों में दोगुनी से भी अधिक हो गयी है । इस सुस्पष्ट प्रगति के साथ-साथ इस अवधि में मूल्य भी तीन गुने हो गये । यह सब मुद्रा सम्बन्धी एवं व्यापारिक अनुशासनहीनता के कारण ही हुआ है । जब तक भारत सरकार पुराने तरीकों को एकदम नहीं बदलेगी तब तक भारतीय अर्थव्यवस्था मुद्रा स्फीति से प्रभावित बनी रहेगी । मुद्रा स्फीति का दूसरा कारण घरेलू उपयोग की कीमत पर निर्यात करना है । अगर गरीबी हटानी है तो सभी उपभोक्ता सामग्री की देश में खपत बढ़ाने को प्रोत्साहित करना होगा । वस्तुओं के उपभोग पर रोक लगाने की किसी भी नीति से न तो लोगों का रहन-सहन का स्तर ही ऊँचा हो सकता है और न ही उत्पादन वृद्धि और स्थायित्व का लक्ष्य प्राप्त हो सकता है । उत्पादन-दर बढ़ाने का अनिवार्य रूप से यही अर्थ है कि मौजूदा क्षमता का पूरा उपयोग और नयी क्षमता का विस्तार ओपन जनरल लाइसेन्स के अन्तर्गत आने वाली वस्तुओं में वृद्धि करने, मुक्त लाइसेन्स प्रणाली का विस्तार करने, विशिष्ट और गैर-विशिष्ट मदों के भेद को समाप्त करने, आयात की जाने वाली विभिन्न प्रकार की सामग्रियों को विघटित करने से उद्योग अपने विकासात्मक दायित्वों का और अधिक कारगर ढंग से निर्वाह कर सकेगा । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह भी आवश्यक है कि श्रेणीबद्ध मदों के वास्तविक उपभोक्ताओं को भी ये मदें प्रत्यक्ष आवंटन योजना के अधीन श्रेणीबद्ध वस्तुओं की एजेंसियों से ही प्राप्त हुआ करें ।

सरकार ने इस बात को माना है कि हमारी अर्थ-व्यवस्था का निर्यातोन्मुख विकास नहीं हो सकता; क्योंकि कुल राष्ट्रीय उत्पादन का एक बहुत छोटा भाग ही निर्यात किया जाता है । परन्तु साथ ही यह बात भी सच है कि कई वर्षों तक व्यापार सन्तुलन घाटे में रहने से किसी न किसी रूप में रुपये का भी मूल्य-ह्रास हुआ है । दूसरी बात यह है कि निर्यात नीति उत्पादन की गति, रोजगार उत्पादन और माल की सप्लाई में वृद्धि को ध्यान में रखकर तैयार की जानी चाहिए । इस मुद्दे से सम्बन्धित तीसरी बात यह है कि आयात से होने वाले सामाजिक लाभ निर्यात के कारण समाज को होने वाली क्षति की पूर्ति से भी अधिक होना चाहिए । निर्यात इसलिए किया जाता है कि आयात करने की क्रय शक्ति बनी रहे और आयात इसलिए होना चाहिए कि देश में सामान और सेवाओं की उपलब्धि में वृद्धि हो । यह स्पष्ट है कि सरकार ऐसी वस्तुओं के उत्पादन और निर्यात का समर्थन करेगी जिनसे श्रमिकों को प्रोत्साहन मिले और निर्यात प्रोत्साहन योजना में ऐसी वस्तुओं के निर्यात को प्राथमिकता देगी ।

छठी पंचवर्षीय योजना एवं निर्यात-संवर्द्धन नीति

छठी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत योजना आयोग ने ऐसा अनुमान किया था कि 1980-85 की अवधि में भारत के कुल आयात तथा निर्यात क्रमशः 58,900 करोड़ रुपये तथा 41,078 करोड़ रुपये सम-मूल्य के होंगे । छठी योजना काल में निर्यात की वार्षिक वृद्धि दर का लक्ष्य 9.0 प्रतिशत रखा गया था । सरकार ने यह तय किया था कि महत्वपूर्ण जन-उपभोग की वस्तुओं के निर्यात की अनुमति दी जायेगी जब इन वस्तुओं का देश में पर्याप्त अतिरेक हो । यह भी तय किया गया कि इन्जीनियरिंग वस्तुओं, चमड़े की बनी वस्तुओं, रसायनों, दस्तकारी की वस्तुओं, तैयार पोशाकों, जवाहरातों आदि के उत्पादन में भी पर्याप्त वृद्धि की जायेगी तथा इनके निर्यातों को प्रोत्साहन देने हेतु समुचित प्रयास किये जायेंगे । इन वस्तुओं के लिए नये बाजारों की खोज का भी प्रावधान रखा गया ।

छठी योजना-काल में निर्यातोन्मुखी उद्योगों में उत्पादन बढ़ाने तथा साथ ही लागत में कमी करने की दृष्टि से प्रौद्योगिकी सुधार का भी प्रावधान रखा गया । निर्यात-संवर्द्धन हेतु एक ओर विभिन्न वस्तुओं से सम्बद्ध निर्यात-संवर्द्धन परिषदों का कार्यक्षेत्र बढ़ाने की व्यवस्था थी जबकि दूसरी ओर निर्यातकों को देय सुविधायें जैसे नकदी क्षतिपूरक भुगतान, आयात प्रतिपूर्ति, साख सुविधायें आदि पूर्ववत् जारी रहेंगी । योजना-काल में कुछ वस्तुओं के निर्यात पर देय नकद सहायता का अनुपात 5 प्रतिशत से बढ़ाकर 20 प्रतिशत तक कर दिया गया ।

निर्यात-नीति पर टण्डन समिति

श्रीप्रकाश टण्डन की अध्यक्षता में सरकार ने निर्यात नीति निर्धारित करने के लिए एक 13 सदस्यों की समिति नियुक्त की । इस समिति ने 1980 के दशक में निर्यात नीति से सम्बन्धित अपनी अन्तरिम रिपोर्ट मई 1980 में प्रस्तुत की । समिति ने सुझाव दिया कि 1990-91 तक

देश के निर्यातों में 10% की वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य निर्धारित किया जाय ताकि विश्व व्यापार में भारत का हिस्सा 0.5% से बढ़कर 1% हो सके। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए समिति ने अपनी रिपोर्ट में अनेक उपाय बताये।

समिति ने यह स्पष्ट किया कि औद्योगिक व्यवस्था तथा नीति में पर्याप्त सुधार किये जाने चाहिए। बड़े औद्योगिक गृहों की परिस्थितियों की सीमा 20 करोड़ रुपये से बढ़ाकर 50 करोड़ रुपये तक करने का सुझाव भी दिया।

समिति का सुझाव था कि निर्यात उद्योगों को पर्याप्त सुविधाएँ देकर उनका विस्तार किया जाना चाहिए। इसके साथ-साथ वर्तमान सहायता में 10% की अतिरिक्त वृद्धि करने का भी समिति ने सुझाव दिया। निर्यात उद्योगों के आयात अधिक करने तथा उन्हें करों में छूट देने का भी सुझाव दिया गया। इन सुझावों को मानते हुए 1981-82 की आयात निर्यात नीति में सरकार ने निर्यात उद्योगों को पर्याप्त छूट तथा प्रोत्साहन देने की घोषणा की।

समिति ने अलग-अलग पदार्थों के निर्यात में वृद्धि करने के लिए अलग अलग सुझाव दिये हैं। इन्जीनियरिंग पदार्थों के निर्यातों म 1980-81 तक 100 करोड़ रुपये से बढ़ाकर 1990-91 तक 1[illegible]000 करोड़ रुपय के करने का सुझाव दिया।

चमड़ा तथा चमड़े के सामान का निर्यात 1979-80 म 400 करोड़ रुपये से बढ़ाकर 1990-91 तक 2,000 करोड़ रुपये करने का सुझाव दिया।

सूती कपड़े के निर्यात में 7% की वार्षिक वृद्धि अथवा इससे अधिक वृद्धि करने की बात कही है। कृषि पदार्थों के निर्यात में भी आगामी दशक में औसतन 8.5% की वार्षिक वृद्धि का सुझाव दिया है। चाय, कॉफी, काजू, मसाले, तिलहन, तम्बाकू तथा चीनी आदि के निर्यातों म भी वृद्धि करने का सुझाव दिया। समिति का अनुमान था कि कुल निर्यात 1980-81 में 7,000 करोड़ रुपये बढ़ाकर 1990-91 तक 17,968 करोड़ रुपये के किये जा सकते हैं।

यद्यपि समिति द्वारा 1990 91 के निर्यात के लिए विभिन्न वस्तुओं के लिए जो लक्ष्य रखे थे वे काफी सीमा तक अवास्तविक थे, तथापि टण्डन समिति ने निर्यात संवर्द्धन हेतु जो सुझाव दिये वे काफी महत्वपूर्ण हैं। इस समिति की सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने अपनी राष्ट्रीय निर्यात योजना में निम्न उपायों को सम्मिलित किया है :

(1) **संस्थागत उपाय**—सरकार ने निर्यातों में वृद्धि करने के लिए अनेक संस्थाओं की स्थापना की है। केन्द्रीय व्यापार एवं वाणिज्य मन्त्रालय के अन्तर्गत कई निदेशालय तथा राज्यों में सलाहकार बोर्ड निर्यात प्रोत्साहन के कार्य में विभिन्न प्रकार से सहायता प्रदान करते हैं।

(2) **वित्तीय प्रोत्साहन (Fiscal Incentives)**—सरकार ने कुछ गैर-परम्परागत वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि करने के लिए नकद सहायता प्रदान करने की व्यवस्था की है। इन वस्तुओं में इन्जीनियरिंग वस्तुएँ, लोहा-इस्पात, रसायन, खेल-कूद का सामान, इत्यादि प्रमुख हैं। एक बाजार विकास कोष (Market Development Fund) का भी निर्माण किया गया है। निर्यातकर्ताओं को प्राप्त वित्तीय सुविधाओं में निर्यातों पर करों में छूट (rebate) निर्यात साख, निर्यात वस्तुओं के उत्पादन में आवश्यक कच्चे माल पर उत्पादन शुल्क में कमी, गैर-परम्परागत पदार्थों के निर्यातों पर नकद क्षतिपूरक सहायता (Cash Compensatory Support) इत्यादि हैं। सरकार निर्यातकों को कम ब्याज पर ऋण भी प्रदान करती है। इसके लिए सरकार एक भारतीय आयात-निर्यात बैंक की स्थापना करने के लिए विचार कर रही है।

(3) **अन्य सुविधाएँ (Other Facilities)**—सरकार ने निर्यात व्यापार को एक प्राथमिकता क्षेत्र (priority sector) के रूप म मान्यता प्रदान कर दी है। प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों को सरकार उदारतापूर्वक आयात लाइसेंस देती है। पूंजीगत माल, साज-सामान व कच्चे माल के वितरण म निर्यात उद्योगों को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गयी है। सरकार ने निर्यात बढ़ाने के लिए 1979-80 से नकद सहायता देने की योजना तीन वर्षों के लिए पुन लागू कर दी है।

(4) **राजकीय व्यापार (State Trading)**—आयात तथा निर्यात की विभिन्न वस्तुओं के

लिए राजकीय व्यापार निगम ने विपणन खण्ड (Marketing Divisions) स्थापित किये हैं। कुछ सलाहकार तथा सेवा खण्ड (Advisory and Service Divisions) भी स्थापित किये हैं। राजकीय व्यापार निगम (STC) ने 1956-57 में कुल 9·2 करोड़ रुपये का व्यापार किया था जो 1982-83 तक बढ़कर 2,000 करोड़ रुपये के तुल्य हो गया।

(5) **व्यापारिक समझौते (Trade Agreements)**—विदेशी व्यापार में वृद्धि करने के लिए भारत सरकार ने समय-समय पर अन्य देशों से व्यापारिक समझौते भी किये हैं। अधिकांशतः यह समझौते द्विपक्षीय (bilateral) हैं। इन समझौतों में GATT, ECM तथा यूरोपीय स्वतन्त्र बाजार संघ (EFTA) के देशों से किये गये समझौते मुख्य हैं। इन समझौतों के अतिरिक्त पूर्वी यूरोप के देशों से किये गये समझौते भी महत्वपूर्ण हैं।

आयात-प्रतिस्थापन की नीति
[THE POLICY OF IMPORT SUBSTITUTION]

यह ऊपर बताया जा चुका है कि हमारे नियोजन-काल के प्रारम्भ में ही भारत सरकार ने नियन्त्रित आयात-नीति अपनायी है। इसी नीति के कारण देश में अनेक प्रकार की उन वस्तुओं का उत्पादन होने लगा है जिसका हम कुछ समय पूर्व तक आयात करते थे। दूसरे शब्दों में, नियन्त्रित आयात-नीति ने आयात-प्रतिस्थापन को प्रोत्साहन दिया है। आयात-प्रतिस्थापन से हमारा आशय उस नीति से है जिसके अन्तर्गत यथासम्भव आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धि देश में ही की जाती है। नियोजन-काल में जैसे-जैसे अर्थ-व्यवस्था का विविधीकरण हुआ है, अनेक क्षेत्रों में आयात-प्रतिस्थापन सफलतापूर्वक किया जा चुका है।

कुछ समय पूर्व तक कुछ क्षेत्रों में औद्योगिक कच्चे माल की आपूर्ति आयात द्वारा की जाती थी। इनके लिए हम आयातों की मात्रा न्यूनतम कराने का प्रयत्न कर रहे हैं। यह सब हमारी औद्योगिक उत्पादन प्रक्रिया में विवेकीकरण (rationalization) के माध्यम से सम्भव हो सका है। एक अन्य तरीके से भी हम आयात-प्रतिस्थापन के क्षेत्र में प्रयत्न कर रहे हैं। हम यह पता लगाने का प्रयास कर रहे हैं कि किन-किन उद्योगों में हम आयातित कच्चे माल के बदले देश में उपलब्ध कच्चे माल का प्रयोग कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, ताँबे को लीजिए। यद्यपि देश में ताँबे की खानों से अधिक धातु प्राप्त करने हेतु प्रयास किये जा रहे हैं फिर भी यह जानते हुए कि देश की खानों में पर्याप्त ताँबा विद्यमान नहीं है, हमने ताँबे के बदले एल्युमिनियम का उपयोग बढ़ा दिया है। इस प्रकार कच्चे माल के प्रतिस्थापन द्वारा ही हमने करोड़ों रुपये के विदेशी विनिमय की बचत की है।

हमारी आयात-प्रतिस्थापन नीति का मुख्य उद्देश्य देश को आत्मनिर्भरता की दिशा में आगे बढ़ाना है। इस नीति के कुछ अच्छे परिणाम भी सामने आये हैं। हमने अनेक ऐसी वस्तुओं के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता प्राप्त कर ली है जिनके लिए पहले हम विदेशों पर निर्भर थे। यह स्वीकार करना होगा कि इस सब के लिए प्रारम्भ में हमें पर्याप्त मात्रा में मशीनों का आयात करना पड़ा था, परन्तु अब हमें अधिक मात्रा में मशीनों का आयात करने की भी आवश्यकता नहीं है।

पैट्रोल एवं पैट्रोलियम पदार्थों का आयात भी आयात-प्रतिस्थापन का एक उल्लेखनीय उदाहरण है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व हम कुल माँग का 90% भाग आयात द्वारा पूरा करते थे। यद्यपि हमारी इन पदार्थों की माँग कई गुनी अधिक हो गयी है परन्तु उसकी तुलना में पैट्रोलियम पदार्थों एवं शुद्ध क्रूड आयल के आयात की मात्रा में बहुत कम वृद्धि हुई है परन्तु इसके मूल्यों में भारी वृद्धि के कारण आयात-बिल काफी बढ़ गया है। हमने देश में ही तेल की खोज की है तथा गोहाटी, बरौनी, कोहली, कोचीन व मद्रास में तेलशोधक कारखानों की स्थापना की है। हाल ही बॉम्बे-हाई में 'सागर सम्राट' तेल के विशाल भण्डारों का पता चला है तथा चार कुओं से तो तेल निकाला भी जाने लगा है। देश में जहाँ 1950-51 में शोधित (refined) पैट्रोलियम पदार्थों का उत्पादन केवल 2 लाख टन था, 1973-74 में यह बढ़कर लगभग 2 करोड़ टन हो गया। क्रूड ऑयल का आयात किया। बॉम्बे हाई से प्राप्त स्रोतों से 1982-83 तक खनिज तेल का उत्पादन 120 लाख टन हो जाने की आशा है। देश में तेल-शोधन क्षमता का विस्तार करने हेतु हल्दिया, बोंगाईगाँव

(आसाम) एवं मथुरा में क्रमश 25 लाख टन, 10 लाख टन व 60 लाख टन क्षमता के तेल-शोधन कारखाने लगाये जा रहे हैं। ये तेल-शोधन कारखाने भी वर्तमान कारखानों की भाँति विविध प्रकार की पैट्रोलियम वस्तुओं का उत्पादन करेंगे। इस प्रकार खनिज तेल पैट्रोल एवं पैट्रोलियम के क्षेत्र में पिछले कुछ वर्षों में पर्याप्त आयात-प्रतिस्थापन हुआ है। 1984-85 तक भारत पैट्रोल व पैट्रोल से सम्बद्ध पदार्थों की अपनी जरूरतों का लगभग 70 प्रतिशत स्वयं के उत्पादन से पूरा करने लगा था।[1]

शक्कर की हमारी कुल माँग का अधिकांश भाग 1955-56 तक आयात द्वारा पूरा किया जाता था। परन्तु विगत कुछ वर्षों से हम न केवल देश की समस्त माँग को पूरा कर रहे हैं, अपितु शक्कर का निर्यात भी करने लगे हैं। इसी प्रकार सोडा ऐश, कास्टिक सोडा सिलाई की मशीनों, साइकिलों, रेडियो आदि के क्षेत्र में हम पहले 80-90% माँग की पूर्ति आयात द्वारा करते थे, परन्तु विगत कुछ वर्षों से 80 से 90% माँग को देश में ही पूरा करने लगे हैं। इस्पात की माँग का 1950-51 में 25% आयात द्वारा पूरा किया जाता था। इन 30 वर्षों में इस्पात की माँग 6 से 7 गुनी हो गयी है परन्तु हम विगत कुछ वर्षों में इस्पात की कुल आवश्यकता का केवल 10 प्रतिशत ही आयात करते हैं। हमने इस अवधि में इस्पात का उत्पादन लगभग 10 लाख टन से बढ़ाकर लगभग 1 2 करोड टन (1983) तक कर दिया है। इसी प्रकार एल्युमिनियम, कागज, गत्ता मनुष्य द्वारा निर्मित (कृत्रिम) रेशे एवं सूत तथा ब्लीचिंग पाउडर के क्षेत्र में आयात-प्रतिस्थापन की दृष्टि से काफी प्रगति हुई है।

1966 में भारतीय रुपये के अवमूल्यन से हमारे आयातों में कुछ समय तक कमी हुई। भारत का कुल आयात-बिल 1967-68 में 2 000 करोड रुपये था परन्तु 1968 69 तथा 1969-70 में यह घटकर क्रमश 1 908 करोड रुपये एवं 1,582 करोड रुपये रह गया। परन्तु 1970-71 से मुख्य रूप से कच्चे माल व साज-सज्जा की माँग तथा आयातित वस्तुओं के मूल्यों में तीव्र वृद्धि के कारण आयात बिल निरन्तर बढ़ता जा रहा है। 1973-74 की तुलना में 1974-75 में हमारे निर्यातों का मूल्य 38% अधिक था परन्तु आयात बिल 1974-75 में 1973 74 की अपेक्षा 48% अधिक हो गया। परन्तु गत तीन वर्षों में क्रूड ऑयल व पैट्रोलियम पदार्थों के भारी आयात के कारण हमारा आयात बिल आशातीत रूप से बढ़ा है और फलस्वरूप 1984 85 तक भारत का व्यापार घाटा बढ़कर 5,537 करोड रुपये तक पहुँच गया।

पिछले पाँच-छह वर्षों से भारत को प्राप्त होने वाली विदेशी सहायता की राशि में भी कमी हो रही है। दूसरी ओर अब तक लिये गये ऋणों की ब्याज एवं किश्तों के रूप में प्रति वर्ष हमारे लिये देय राशि काफी बढ़ गयी है। हमें यह ध्यान रखना है कि अपनी निर्यात क्षमता को निरन्तर बढ़ाते रहने के लिए हम उत्तरोत्तर अधिक आयात करने होंगे। अगले पृष्ठों में हम भारत सरकार द्वारा चतुर्थ पंचवर्षीय योजना काल एवं पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में अपनायी गयी आयात-नीति की संक्षिप्त समीक्षा करेंगे। छठी पंचवर्षीय योजना (1980 85) में अपनायी जा रही नीति की भी इसी सन्दर्भ में व्याख्या की जायेगी।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजनाकाल की आयात नीति

भारत सरकार द्वारा आयात नीति की घोषणा वित्तीय वर्ष प्रारम्भ होने से पूर्व ही कर दी जाती है। अनेक बार भारत सरकार ने यह घोषणा स्पष्ट रूप से की है कि हमारी आयात नीति का उद्देश्य आयातों पर नियन्त्रण लगाना न होकर अपनी विदेशी व्यापार नीति को विवेकपूर्ण आधार प्रदान करना है। हमारी आयात नीति मुख्यत निम्नांकित तीन उद्देश्यों पर आधारित मानी जा सकती है

(अ) खाद्यान्न एवं अन्य अत्यावश्यक वस्तुओं की पर्याप्त पूर्ति करना,

(ब) कृषि, उद्योगों एवं परिवहन के दीर्घकालीन विकास के लिए आवश्यक कच्चे माल, साज-सज्जा एवं यन्त्रों की पर्याप्त पूर्ति करना, तथा

---

1 *Economic Survey* 1985-86, p 88

(ग) ऐसे उद्योगों का विकास करना जिनमें अन्ततः हमारा निर्यात व्यापार बढ़ने की पूर्ण आशा है। ऐसी अनेक वस्तुओं के आयात का पूर्ण अधिकार भारत सरकार अपने नियन्त्रण में ले लेती है जिनके लिए निजी क्षेत्र को छूट देना उपयुक्त नहीं समझा जाता। इसी दृष्टि से 1969-70 में 38 एवं 1970-71 में 22 वस्तुओं के आयात-व्यापार को पूर्णतया सरकारी नियन्त्रण में ले लिया गया। 30 अप्रैल, 1971 को घोषित 1971-72 की आयात नीति के अन्तर्गत पूर्ण रूप से सरकार द्वारा आयात हेतु 51 वस्तुओं को उक्त सूची में सम्मिलित किया गया। 1972-73 में भी 1970-71 व 1971-72 की आयात-नीतियों का ही विस्तार किया गया। परन्तु चतुर्थ पंचवर्षीय योजना काल में अपनायी गयी आयात-नीतियों में इस बात का पूरा ध्यान रखा गया कि प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों, लघु औद्योगिक इकाइयों, निर्यात व्यापार में संलग्न औद्योगिक इकाइयों तथा पिछड़े इलाकों में स्थापित उद्योगों की आयात-सम्बन्धी आवश्यकताएँ अवश्य पूरी की जायें। 1972-73 में 54 उद्योगों को उनकी उत्पादन-क्षमता दुगुनी करने के साथ-साथ उन्हें विदेशी विनिमय का विशेष आवंटन किया गया तथा अतिरिक्त कच्चे माल के आयात की छूट दी गयी। इसके अतिरिक्त विदेशी विनिमय की उपलब्धि को देखते हुए उद्योगों की आयात सम्बन्धी आवश्यकताओं को पहले की भाँति पूरा करने का आश्वासन दिया गया।

यद्यपि हमारी आयात-नीति में प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों की आवश्यकताओं का पूरा ध्यान रखा गया है, तथापि विदेशी सहायता की सीमित उपलब्धि को देखते हुए आत्मनिर्भरता की दिशा में देश को आगे बढ़ाने हेतु आयात-प्रतिस्थापन के कार्यक्रम अविरत रूप से चलाये गये हैं। आयात-प्रतिस्थापन के लिए चुनी गयी वस्तुओं के चुनाव में देश में कच्चे माल तथा साज-सामान की उपलब्धि एवं वस्तु विशेष की अनिवार्यता को ध्यान में रखा गया है। 1972-73 में घोषित आयात-नीति में 160 ऐसी वस्तुओं के आयात को निषिद्ध कर दिया गया जिनकी पहले वास्तविक उपभोक्ताओं को आयात करने की छूट थी। इससे पूर्व 1971-72 में 170 ऐसी वस्तुओं के आयात पर पूर्ण रोक लगायी गयी थी। इसके अतिरिक्त 1972-73 में 87 वस्तुओं के आयात को सीमित किया गया। पूर्ण रूप से प्रतिबन्धित वस्तुओं में अनेक प्रकार के बॉल-बेयरिंग, टेपर्ड रोलर बेयरिंग, 21 प्रकार के रंग, 26 प्रकार के रासायनिक पदार्थ, सामुद्रिक डीजल एन्जिन (400 अश्व शक्ति तक के), बिजली के पंखों में प्रयुक्त कुछ साधन, सूत आदि शामिल थे। जिन वस्तुओं के आयात को सीमित किया गया था उनमें स्टेनलैस स्टील के पाइप व ट्यूब (जिनका उपयोग वातानुकूल एवं रेफ्रीजरेशन की साज-सज्जा निर्माण हेतु किया जाता है), द्विधातु वाली पट्टियाँ (strips), मिश्रित धातु वाले पैन पॉइण्ट्स, नीडल्स, बुशेज एवं बेयरिंग, 14 प्रकार के रंग बनाने में प्रयुक्त सामग्री, सीड ग्लास ट्यूबिंग (जिसका उपयोग बिजली के बल्ब बनाने में किया जाता है), 24 प्रकार के रसायन, कार्बन स्टील आदि सम्मिलित थे।

इन सीमाओं के विद्यमान रहते हुए भी 1972-73 की आयात नीति न तो आवश्यक रूप से निषेधात्मक थी और न ही आवश्यक रूप से उदार। इस नीति का प्रमुख प्रयोजन विनियोग, औद्योगिक लाभों, निर्यात की मात्रा तथा रोजगार के स्तर को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किये बिना देश के कुल आयात-बिल में कटौती करना था। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्तिम वर्ष अर्थात् 1973-74 की आयात-नीति भी 1972-73 की नीति के ही अनुरूप थी।

1974-75 की आयात-नीति

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना-काल में अपनायी गयी सतर्कतापूर्ण आयात-नीति के निर्धारित करने पर भी विश्व के बाजारों में वस्तुओं के बढ़ते हुए मूल्यों तथा भारत में कृषि के उत्पादन की अनिश्चितता के कारण हमारा आयात-बिल बढ़ता गया। हमारे विदेशी विनिमय साधनों पर बढ़ते हुए दबाव के कारण यह आवश्यक समझा गया कि 1974-75 में पहले की आयात-नीति की आधारभूत विशेषता एवं ढाँचे को यथावत् रखते हुए निर्यात व्यापार में संलग्न उद्योगों के लिए हमारी आयात-नीति में प्राथमिकता पूर्ण ध्यान रखा जाय। 1974-75 में आयात लाइसेंस प्राप्त करने की प्रक्रिया को सरल बनाया गया, निर्यात व्यापार में संलग्न कुछ उद्योगों को उनकी निष्पत्ति (proformance) के आधार पर प्राथमिकता दी गयी, अतिरिक्त (spare) वस्तुओं के आयात

हेतु अधिक उदारतापूर्ण दृष्टिकोण अपनाया गया, तथा वर्तमान में निर्यात व्यापार में संलग्न संस्थाओं को निर्यात बढ़ाने हेतु अधिक सुविधाएँ देने की घोषणाएँ की गयी।

लघु औद्योगिक इकाइयों, निर्यात करने वाले उद्योगपतियों तथा प्रतिष्ठित आयातकर्ताओं के लिए आयात लाइसेंस प्राप्त करने की प्रक्रिया को सरल बनाया गया। लघु औद्योगिक इकाइयों को 1973-74 के लिए जितने लाइसेंस कच्चे माल, अतिरिक्त (spare) कलपुर्जों एवं अन्य प्रकार की सामग्री के आयात हेतु दिये गये थे, 1974-75 के प्रथम छह माह (अप्रैल-सितम्बर) में उनके 50% मूल्य का आयात करने की अनुमति अपने आप प्रदान कर दी गयी। इसे रिपीट ऑपरेशन (repeat operation) की संज्ञा दी जाती है।[1]

निर्यात करने वाले उद्योगपतियों को 1973-74 में दिये गये आयात लाइसेंसों के आधार पर *रिपीट ऑपरेशन' की सुविधा 1974-75 में भी दी जाती रही। परन्तु नये सूत्र के लिए* पुराने आयात लाइसेंस से उपभोग की छूट एवं रिलीज ऑर्डर प्राप्त करने से पूर्व उन्हें लाइसेंसिंग अधिकारियों से पुनः प्रमाण-पत्र प्राप्त करने के आदेश दिये गये। इस सुविधा के अन्तर्गत उपयोग *में लिये गये आयात लाइसेंसों का मूल्य 1 अप्रैल 1974 से 1½ वर्ष के भीतर प्राप्त सामान्य आयात* अधिकारों को देखकर निर्धारित करने का भी निर्णय लिया गया। इसी प्रकार प्रतिष्ठित (established) आयातकर्ताओं को 1973-74 में प्राप्त आयात-कोटे का उपयोग 1974-75 में करने *(repeat operation) की छूट की शर्तों की अनुपालना के आधार पर प्रदान की गयी।*

वास्तविक औद्योगिक उपभोक्ताओं को उनकी निर्यात निष्पत्ति (export performance) के आधार पर प्राथमिकता के आधार पर आयात लाइसेंस देने की नीति में 1974-75 में कुछ संशोधन किये गये। जिन औद्योगिक इकाइयों ने 1973-74 के वर्ष में अपने उत्पादन का 10% या इससे अधिक निर्यात किया था 1974-75 की उनकी उत्पादन-क्षमता को बढ़ाने हेतु दी गयी सुविधाओं के साथ-साथ उनकी कच्चे माल एवं साज-सज्जा की आवश्यकताओं को प्राथमिकता के आधार पर उपलब्ध कराने की व्यवस्था भी जारी रखी गयी। परन्तु गैर-प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों की इकाइयों को प्राथमिकता के आधार पर कच्चा माल एवं साज सज्जा के आयात हेतु अपने उत्पादन का 20% या इससे अधिक निर्यात करने को कहा गया। उत्पादन का 25% या अधिक आयात करने वाली औद्योगिक इकाइयों को खुले (free) *विदेशी विनिमय के बदले अपनी आवश्यकता का* और अधिक भाग आयात करने की छूट दी गयी। कुल उत्पादन के 10% या इससे अधिक परन्तु 25% से कम का निर्यात करने वाली लघु औद्योगिक इकाइयों को भी कच्चे माल एवं साज-सज्जा *के आयात हेतु वे ही सुविधाएँ दी गयी जो उत्पादन का 25% या अधिक का निर्यात करने वाली* बड़ी इकाइयों को उपलब्ध थी। परन्तु उन छोटी इकाइयों के लिए भी यही सुविधा रखी गयी जिनके निर्यात 1972 या 1972-73 की अपेक्षा 1973-74 में दुगुने थे।

विभिन्न उद्योगों में उपलब्ध उत्पादन-क्षमता के इष्टतम उपयोग के लिए अतिरिक्त कल-पुर्जे (*spare parts*) *के आयातों में 1974-75 में ढील दी गयी।* बड़ी इकाइयों को उनके द्वारा आयातित मशीनों के मूल्यों का 2½ प्रतिशत तथा छोटी इकाइयों को आयातित मशीनों के मूल्य का 4 प्रतिशत कल-पुर्जों के रूप में मँगाने की छूट दी गयी। 1973-74 तक ये अनुपात क्रमशः 2 व 3 प्रतिशत थे।

---

1 7 अक्टूबर, 1974 की घोषित नयी आयात-नीति में शेष वर्ष के लिए 'रिपीट ऑपरेशन' की यह सुविधा समाप्त कर दी गयी। इन इकाइयों को यह कहा गया कि वे 1974-75 के आयात अधिकारों के लिए अपने आवेदन-पत्र प्रस्तुत कर सकते हैं। परन्तु ऐसी घोषणा भी की गयी कि उन्हें आवंटित आयात कोटे का निर्धारण 1973-74 में उनके द्वारा उपयोग में ली गयी आयातित सामग्री की वास्तविक मात्रा के आधार पर होगा। 'रिपीट ऑपरेशन' में निर्धारित मूल्य को समायोजित करके ही 1974-75 की शेष अवधि के लिए आयात लाइसेंस जारी किये गये।

प्रतिष्ठित निर्यातकर्ताओं को प्रोत्साहन देकर उनके निर्यातों में वृद्धि हेतु 1974-75 में उदारतापूर्वक आयात अधिकार देने की व्यवस्था रखी गयी। आयात अधिकार के प्रमाणपत्र को लेने के लिए गैर-परम्परागत वस्तुओं की न्यूनतम निर्यात-राशि 25 लाख रुपये ही रखी गयी। परन्तु इन प्रमाण-पत्रों के नवीनीकरण हेतु आवेदक निर्यातकर्ता के लिए प्रमाण देना अनिवार्य कर दिया गया कि 3 करोड़ रुपये के निर्यात तक उनकी निर्यात-वृद्धि दर पिछले वर्षों मे 10% या इससे अधिक रही है। जिन निर्यातकर्ताओं में से प्रत्येक द्वारा 3 करोड रुपये से अधिक की वस्तुएँ निर्यात की जाती हैं उन्हे उक्त प्रमाण-पत्रों के नवीनीकरण हेतु यह प्रमाण प्रस्तुत करना होता है कि उनके निर्यात पिछले कुछ वर्षों मे कम से कम 5% रहे हैं। सरकार ने प्रतिष्ठित निर्यातकर्ताओं (export houses) के लिए यह घोषित करना भी अनिवार्य कर दिया है कि उनमे से प्रत्येक द्वारा निर्यातित वस्तुओं का 60% उन औद्योगिक इकाइयों द्वारा निर्मित किया गया था जिन्हें आयातित माल एवं सामग्री बेची गयी थी।

1974-75 में सार्वजनिक क्षेत्र की संस्थाओं का आयात व्यापार मे अधिकार बढ़ाने हेतु 10 नयी वस्तुओं के आयात अधिकार इन्हे सौंपे गये। इस प्रकार इन संस्थाओं को 1974-75 के अन्त तक 210 वस्तुओं मे आयात के एकाधिकार प्राप्त हो गये थे।

देश मे वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने हेतु 1973-74 तक पूर्णरूपेण प्रतिबन्धित 220 वस्तुओं के अतिरिक्त 1974-75 मे 75 नयी वस्तुओं के आयात पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया गया। शेष वस्तुओं के आयातों को हतोत्साहित करने के लिए उन पर विद्यमान आयात-कर की दरें बढा दी गयी। 60 प्रतिशत से 99 प्रतिशत तक आयात-कर (ad valorem) वाली वस्तुओं पर विद्यमान सहायक (auxiliary) आयात-कर 10% से बढ़ाकर 15% कर दिया गया। ह्विस्की, ब्रांडी, जिन एवं अन्य प्रकार की स्पिरिट पर आधारभूत आयात-कर 60 रुपये प्रति लिटर या मूल्य के 200% मे जो भी अधिक थी, से बढ़ाकर 80 रुपये प्रति लिटर मूल्य के 270% (ad valorem) मे जो भी अधिक हो कर दी गयी।

1975-76 की आयात नीति[1]

1975-76 की आयात नीति की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार थी :

(i) 1974-75 मे उपभोग की गयी आयातित सामग्री के आधार पर 1975-76 के वर्ष हेतु स्वयमेव आयात लाइसेंस की उपलब्धि का प्रावधान रखा गया, तथा

(ii) 1974-75 तक विद्यमान "प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों" की सूची के स्थान पर अब "विशिष्ट उद्योगों" की नयी सूची के आधार पर अतिरिक्त आयात लाइसेंस देने की घोषणा की गयी।

1975-76 मे 20% या अधिक उत्पादन का निर्यात करने वाली औद्योगिक इकाइयों को पूरक आयात लाइसेंस दिये गये। इस सुविधा का लाभ 29 उद्योगों को प्राप्त हुआ। नयी आयात नीति से 1,700 करोड़ रुपये के आयात 1975-76 मे प्रभावित हुए। इस नीति में आयात लाइसेंस जारी करने मे शीघ्रता करने का भी प्रस्ताव था। विशिष्ट उद्योगों में संलग्न छोटी इकाइयों को बड़ी इकाइयों की तुलना मे 10% अधिक (आनुपातिक) के आयात अधिकार दिये गये। इस आयात-नीति के अन्तर्गत प्रत्येक उद्योग के लिए निर्यात के बदले कितना आयात लाइसेंस दिया गया, इसकी भी स्पष्ट घोषणा की गयी।

प्रतिष्ठित निर्यातकर्ताओं (export houses) को दी गयी आयात सुविधाओं मे भी सरकार ने महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये। प्रत्येक ऐसे निर्यातकर्ता को कम से कम 50 लाख रुपये की वस्तुओं का निर्यात करना पड़ा जबकि 1974-75 तक यह न्यूनतम सीमा 25 लाख रुपये थी। इस नीति के अन्तर्गत प्रत्येक प्रतिष्ठित निर्यातकर्ता को आयात प्रमाणपत्र के नवीनीकरण हेतु यह प्रमाण देना आवश्यक था कि जिन वस्तुओं के निर्यात के बदले वह आयात अधिकार प्राप्त करना चाहता है, उनका कम से कम 5% भाग या 25 लाख रुपये के मूल्य की वस्तुओं मे जो भी कम हो, लघु इकाइयों द्वारा निर्मित किया गया था।

---

1 *The Economic Times*, April 8, 1975.

1976-77 के लिए आयात नीति[1]

14 अप्रैल 1976 को भारत सरकार द्वारा लोकसभा म घोषित 1976-77 की आयात नीति भी आर्थिक विकास की गति को बढाने के व्यापक उद्देश्य पर आधारित थी। यह नीति अब तक की नीतियो मे सर्वाधिक उदार एव लचीली थी। इस नीति की सबसे प्रमुख विशेषता यह थी कि इसम उद्यमियो के प्रति इस विश्वास एव आस्था को दुहराया गया था कि व उत्पादन मे वृद्धि करके निर्यात व्यापार को बढाने मे सहायक होगे। दूसरे, राजकीय सस्थाओ द्वारा आयातित कच्चे माल का आवटन सीधे वास्तविक उपभोक्ताओ मे किया जायगा तथा इसके लिए लाइसेंस प्रदान करने वाले अधिकरण मे अनुमति प्राप्त करना आवश्यक नही होगा। नयी आयात नीति की तीसरी विशेपता यह थी कि इसके अन्तर्गत सामान्य लाइसेंस व्यवस्था को अधिक उदार बनाया गया था तथा पूर्वापेक्षा आयात परिपूर्ति अधिकारो (replenishments) को बढा दिया गया। इसकी चौथी विशेपता यह है कि अब अगले सत्र मे मशीनो का आयात अधिक उदारतापूर्वक करने दिया जायगा। नयी आयात नीति की पाँचवी विशेपता यह थी कि इसमें लघु औद्योगिक इकाइयों की आवश्यकताओ पर विशेष ध्यान दिया गया। इस नीति की अन्तिम विशेपता यह थी कि आयात से सम्बद्ध औपचारिकताओ एव विविध प्रक्रियाओं को काफी सरल बना दिया गया था।

अब हम 1976-77 की आयात नीति की कुछ प्रमुख विशेषताओ का विस्तार मे वर्णन करेंगे।

स्वचालित (automatic) लाइसेंसिंग—1975-76 मे स्वचालित लाइसेंस प्रणाली लागू की गयी थी जिसके अन्तर्गत वास्तविक उपयोग करने वालो को सीधे ही आवश्यक कच्चे माल एव पुर्जों का आवटन करने की व्यवस्था थी। उत्पादन में वृद्धि के क्रम को जारी रखने हेतु स्वचालित लाइसेंसिंग प्रणाली को 1976-77 मे भी जारी रखा गया। यही नही इसे इस सत्र में अधिक लचीला बनाया गया। जिन औद्योगिक इकाइयो को अतिरिक्त कच्चे माल व पुर्जों की आवश्यकता थी वे भी लाइसेंसिंग अधिकारियो को पूरक लाइसेंस जारी करने हेतु आवेदन कर सकते थे। परन्तु उन्हें इसके लिए अपनी जामिन (Sponsoring) सस्थाओ के माध्यम से ही आवश्यक कदम उठाने होते थे। यह उल्लेखनीय है कि इस नीति मे पूरक आयात लाइसेंस के हकदार उद्योगो की सूची मे कॉफी, चाय जूट एव सूती वस्त्रों को भी शामिल कर लिया गया था।

बिचौली संस्थाओं की मार्फत आयात—जैसा कि ऊपर बताया गया है, 1976-77 की आयात नीति के अन्तर्गत केनालाइज्ड (विशिष्ट) श्रेणी की वस्तुओ को सीधे ही प्रत्यक्ष उपभोग करने वालो को आवटित करने की व्यवस्था की गयी। राजकीय व्यापार सस्थाएँ इन वस्तुओ को लाइसेंसिंग अधिकारियो की अनुमति बिना उपभोक्ताओ को दे सकते थे। इस व्यवस्था के अन्तर्गत लगभग 43 वस्तुओं की पूर्ति की गयी। इनमे से 11 वस्तुएँ मिनरल्स एण्ड मेटल्स ट्रेडिंग कॉर्पोरेशन द्वारा, 8 स्टेट केमीकल्स एण्ड फार्मास्यूटिकल्स कॉर्पोरेशन द्वारा तथा 24 स्टील ऑथोरिटी ऑफ इण्डिया लिमिटेड (SAIL) द्वारा वितरित की गयी। इन वस्तुओं के वास्तविक उपभोक्ता सम्बन्धित सस्थाओ को सीधे आवेदन पत्र प्रस्तुत कर सकते थे यदि सम्बन्धित सस्था आवश्यक कच्चे माल की पूर्ति करने मे समर्थ न हो तो वास्तविक उपभोक्ता लाइसेंसिंग अधिकारी को आवेदन कर सकता था।

खुला सामान्य लाइसेंस (OGL)—स्पेयर पुर्जों एव कच्चे माल के आयात हेतु 1976-77 की आयात नीति मे खुली लाइसेंस नीति का प्रावधान रखा गया। चमडे की वस्तुओ के लिए मशीनो का आयात इसी श्रेणी मे रखा गया, क्योकि जूतो तथा चमडे की वस्तुओ के निर्यात का भविष्य काफी उज्ज्वल समझा गया। कुछ लौह एव इस्पात की वस्तुएँ भी इसी श्रेणी मे रखी गयी। इनके अतिरिक्त काण्डला एव सान्ताक्रुज मे मुक्त व्यापार क्षेत्रों म स्थित औद्योगिक इकाइयो को भी खुले रूप मे कच्चे माल के आयात हेतु लाइसेंस दिये गये।

निर्यात की वस्तुएँ एव प्रतिपूर्ति स्कीमें—पजीकृत निर्यात करने वालो के लिए उत्पादन वृद्धि के उद्देश्य से आयात नीति मे परिवर्तन किये गये। अब उन वस्तुओ एव कच्चे माल के

---

1 State Bank of India, *Monthly Review*, April 1976 (Vol XV, No 4)

आयात की भी छूट दी गयी जो देश में उपलब्ध थी, परन्तु या तो जिनकी क्वालिटी ठीक नहीं थी अथवा कीमतें (देश में) अन्तर्राष्ट्रीय स्तर से ऊँची थीं तथा इस कारण निर्यातित वस्तुओं की उत्पादन लागतें बढ़ने की आशंका थी। इस दृष्टि से 129 वस्तुओं के निर्यात के बदले नयी आयात वस्तुओं के आयात की छूट दी गयी। इनमें 83 वस्तुओं के निर्यात पर अधिक परिपूर्ति आयात किये जा सकते थे, जबकि 46 ऐसी नयी वस्तुओं को निर्यात सूची में शामिल किया गया जिनके परिपूर्ति आयात किये जा सकते थे।

मशीनों का आयात—निर्यात उत्पादन में रत उद्यमियों को सम्पूर्ण आयात परिपूर्ति का उपभोग ऐसी मशीनों के आयात करने की छूट दी गयी जो प्रतिस्थापन, नवीनकरण, रिसर्च तथा विकास (R & D) के लिए प्रयुक्त की जाती थी। इनमें जिग्स, टूल्स एवं परीक्षण उपकरण भी शामिल किये गये। अब तक आयात परिपूर्ति के अन्तर्गत आयात किये जाने वाले यन्त्रों की अधिकतम मूल्य सीमा निर्धारित थी। 1976-77 में इन सीमाओं को हटा दिया गया। 15 लाख रुपये तक मशीनों के आयातों हेतु अब विज्ञापन देने की कोई जरूरत नहीं थी।

निर्यात गृह (Export Houses)—निर्यात गृह या सम्मान स्कीम के अन्तर्गत एक निर्यात संस्थान मुख्य आयात एवं निर्यात कण्ट्रोलर को आवेदन करके ही "एक्सपोर्ट हाउस सर्टीफिकेट" प्राप्त कर सकता था। वाणिज्य मन्त्रालय से मान्यता-प्रमाण पत्र प्राप्ति किये बिना भी मुख्य आयात एवं निर्यात कण्ट्रोलर से प्रमाण-पत्र लिये जा सकते थे। परन्तु आयात के लिए योग्यता प्रमाण-पत्र प्राप्ति हेतु निर्यात संस्था द्वारा अब कम से कम 50 लाख रुपये की वस्तुओं का निर्यात करना पड़ता था। पहले यह न्यूनतम सीमा 25 लाख रुपये थी। नयी (50 लाख रुपये की) सीमा विशिष्ट वस्तुओं के सन्दर्भ में लागू की गयी। अन्य वस्तुओं के लिए यह न्यूनतम सीमा 3 करोड़ रुपये रखी गयी। परन्तु लघु औद्योगिक इकाइयों को निर्यात-गृह प्रमाण-पत्र 2 करोड़ रुपये की वस्तुओं का निर्यात करने पर भी प्रदान किया जा सकता था। लघु उद्योगों के लिए विशिष्ट वस्तुओं के सन्दर्भ में भी न्यूनतम निर्यात सीमा 25 लाख रुपये की रखी गयी थी।

स्पेयर पुर्जे—नयी आयात नीति में स्पेयर पार्ट्स की आयात प्रक्रिया को काफी सरल बनाया गया। स्पेयर पुर्जों के आयात हेतु सम्बन्धित आयातकर्ता को केवल यह घोषणा-पत्र प्रस्तुत करना होता था कि मशीनों के रख-रखाव हेतु ये पुर्जे आवश्यक होते थे। गैर-अनुमति प्राप्त पुर्जों के आयात की सीमा पहले लाइसेंस पर उद्धृत मूल्य की 10 प्रतिशत थी जो अब 20 प्रतिशत हो गयी। परन्तु किसी एक स्पेयर पुर्जे का आयात-मूल्य 50 हजार रुपये से अधिक नहीं होना चाहिए।

कस्टम ड्यूटी—1976-77 की आयात नीति के अनुसार जिन कच्चे माल, पुर्जों आदि को निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के उत्पादन में प्रयुक्त किया जाता था, उनके आयात पर कोई आयात कर नहीं होता था। परन्तु इनके लिए पहले से आयात लाइसेंस प्राप्त करना आवश्यक था। प्रारम्भ में यह रियायत 55 निर्दिष्ट वस्तुओं के लिए दी गयी। यह सुविधा उन सभी उत्पादकों को दी गयी जो स्वयं निर्यात करते थे या जिन्हें निर्यात गृहों द्वारा मनोनीत किया गया था।

लघु औद्योगिक इकाइयाँ—1976-77 की आयात नीति में लघु औद्योगिक इकाइयों के लिए काफी उदारतापूर्ण व्यवस्था रखी गयी थी। इन इकाइयों को सामान्य से 20 प्रतिशत अधिक मूल्य के कच्चे माल एवं पुर्जों के आयात लाइसेंस दिये गये। ऐसी आशा थी कि इससे इन उद्योगों की पूरक लाइसेंस हेतु माँग काफी कम हो जायगी। इन उद्योगों की क्षमता का मूल्यांकन एकमुश्त पारी के आधार पर किया जाता रहेगा, परन्तु अधिरल रूप से उत्पादन करने वाली इकाइयों के लिए या अन्य परिस्थितियों में किसी अन्य आधार पर भी क्षमता का मूल्यांकन किया जा सकेगा। 1975-76 तक कोई भी लघु इकाई 10,000 रुपये तक विदेशी विनिमय का उपयोग स्वतन्त्र रूप से कर सकती थी, परन्तु इस सीमा को 1976-77 में बढ़ाकर 50 हजार रुपये कर दिया गया। इस सीमा तक कच्चे माल या यन्त्रों के उपयोग हेतु उपभोग-प्रमाण पत्र देने की आवश्यकता नहीं थी।

1976-77 में आयात नीति के अन्तर्गत पिछड़े हुए इलाकों की औद्योगिक इकाइयों तथा भूतपूर्व सैनिकों, इन्जीनियरिंग स्नातकों, विज्ञान स्नातकों या इन्जीनियरिंग में डिप्लोमाधारियों

द्वारा स्थापित औद्योगिक इकाइयों को दी जाने वाली रियायतें पूर्ववत् थी, परन्तु इन सभी को दिये जाने वाले आयात लाइसेंस के मूल्य में काफी वृद्धि की गयी थी। नयी नीति में ये सुविधाएँ अनुसूचित एवं जन-जाति के व्यक्तियों को भी दिये जाने का प्रावधान था।

1976-77 की आयात नीति की ऊपर वर्णित विशेषताओं को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि विगत वर्षों में सरकार आयात प्रतिस्थापन की अपेक्षा निर्यात-उत्पादन को अधिक महत्व दे रही थी। हाल ही के वर्षों में निर्यात व्यापार में आशातीत वृद्धि होने के पश्चात् भी हमारा व्यापार का घाटा बढ़ रहा है तथा आयातों में निर्यातों की अपेक्षा अधिक तेजी से वृद्धि हो रही है। *1974-75* में यह घाटा 1,189.95 करोड़ रुपये का था जो *1975-76* में काफी अधिक (1,216·20 करोड़ रुपये) हो गया यद्यपि उस वर्ष हमने 3,941.60 करोड़ रुपये की वस्तुओं का निर्यात किया। यद्यपि भारत को 1975-76 एवं 1976-77 में पर्याप्त विदेशी सहायता प्राप्त हुई है, तथापि हमारी भुगतान सन्तुलन स्थिति में अनिश्चितता बनी हुई है। हमें इस स्थिति से निपटने हेतु निर्यातों में आगामी 5-6 वर्षों में 19 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि करनी होगी (1975-76 में 1974-75 की तुलना में यह वृद्धि 6-7 प्रतिशत ही थी)। इस सन्दर्भ में *1976-77* के लिए घोषित आयात नीति उत्साहजनक रही थी क्योंकि इसके अन्तर्गत उन वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने पर काफी ध्यान दिया गया है, जिसका हम निर्यात करते हैं।

1977-78 के लिए निर्धारित आयात नीति[1]

27 अप्रैल, 1977 को भारत सरकार द्वारा लोक सभा में घोषित की गयी **1977-78** की आयात नीति लगभग पूर्व वर्ष (*1976-77*) की आयात नीति के ही अनुकूल थी, फिर भी मूल अन्तर आयात निर्यात प्रणाली को सरल बनाने की प्रक्रिया में दृष्टिगोचर होता है। *1977-78* की आयात नीति देश में उत्पादन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने और निर्यात की वृद्धि में सहायक होगी।

इस नीति की **सबसे प्रमुख विशेषता** यह थी कि इसमें आयात-निर्यात प्रणाली को सरल बनाने एवं *लाइसेंस देने की सुविधा को विकेन्द्रित करने के प्रयास किये गये।*

इसकी **दूसरी विशेषता** यह थी कि नयी आयात नीति में इस उद्देश्य का ध्यान रखा गया कि निर्यात की आय से आयात के व्यय को पूरा किया जाना चाहिए, साथ ही घरेलू उपभोक्ताओं को किसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़े।

नयी आयात नीति की **तीसरी विशेषता** यह थी कि इसके अन्तर्गत देश की औद्योगिक क्षमता का पूरा उपयोग करने और आयात में वृद्धि की दर को बढ़ाने का उद्देश्य सामने रखकर कई परिवर्तन किये गये।

इस नीति की **चौथी विशेषता** यह थी कि खुले-आम लाइसेंस और मुक्त लाइसेंस प्रणाली के *अन्तर्गत आयात की वस्तुओं* की सूची को काफी विस्तृत किया गया। लघु उद्योगों के लिए पूँजीगत माल और कच्चे माल की आयात नीति को उदार बनाया गया। लघु उद्योगों को ऑटोमैटिक लाइसेन्स और पूरक लाइसेन्सों की सुविधा तकनीकी विकास महानिदेशक से स्वीकृत इकाइयों के समान ही प्राप्त होगी। उदार नीति के अन्तर्गत लघु उद्योगों को कच्चे माल और पुर्जों के आयात में 20% वृद्धि की सुविधा दी गयी। रजिस्टर्ड निर्यातकों के लिए इसके अन्तर्गत यह सुविधा प्रदान की गयी कि वे अपना कच्चा माल अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों पर ही प्राप्त कर सकते थे। विदेशों में भारतीय उत्पादकों को अन्य देशों की तुलना में प्रतियोगी बनाने के लिए सभी सुविधाएँ देने का प्रावधान था।

सन् *1977-78* की आयात नीति की **पाँचवीं विशेषता** यह थी कि इस नीति में जीवन रक्षक और कैंसर के इलाज की औषधियों के साथ-साथ नेत्रहीनों, चिकित्सकों, अस्पतालों, चिकित्सा संस्थाओं की आवश्यकता की वस्तुओं तथा आयुर्वेदिक, यूनानी और होम्योपैथिक औषधियों के विकास करने में सहायता सामग्री के आयात की व्यवस्था भी थी।

इसकी **छठी विशेषता** यह थी कि इसमें विज्ञान, टेक्नॉलोजी और विशिष्ट विषयों पर

1 *The Economic Times*, April-May 1977.

भारत में अनुपलब्ध पुस्तकों के सरलता से आयात की भी व्यवस्था की गयी थी। कलाकारों के काम आने वाले उपकरणों और कुछ वस्तुओं को उदारतापूर्वक आयात करने की अनुमति दी जायेगी। इसके साथ-साथ पत्रकारों के लिए छोटे-छोटे टाइपराइटरों के खुले आयात की सुविधा देने की व्यवस्था की गयी।

शोध एवं विकास कार्यों में लगे संस्थानों को बिना लाइसेन्स कच्चा माल, उपकरण, पुर्जे आदि आयात करने की छूट दी गयी। किन्तु एक वर्ष में पाँच लाख रुपये तक के सामान का ही आयात करने का प्रावधान था।

सन् 1977-78 की आयात नीति की सातवीं विशेषता यह थी कि नये उद्योगपतियों और निर्यातकों को सुविधा देने हेतु यह निर्णय लिया गया कि सरकारी विभागों और गैर-सरकारी संगठनों के सहयोग से ऐसे केन्द्रों की स्थापना की गयी, जहाँ से आवश्यक सूचनाएँ दी जा सकें। इसके साथ ही देश में अनेक शोरूम खोलने का प्रस्ताव था, जहाँ आयातित मशीनों और फालतू पुर्जों के सम्बन्ध में तकनीकी एवं अन्य सूचनाएँ उत्पादकों को मिल सकती हों।

1977-78 की आयात-नीति की आठवीं विशेषता यह थी कि इसमें आयात लाइसेन्स की स्वीकृति में लगने वाले समय को कम करने का भी संकल्प किया गया।

1977-78 की आयात नीति की अन्तिम विशेषता यह थी कि इसे निर्धारित करते समय व्यापार में वृद्धि और औद्योगिक विकास के साथ-साथ जनता के सांस्कृतिक एवं सामाजिक विकास में वृद्धि का भी ध्यान रखा गया। आयात की उदार नीति का देश के मूल्यों पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करने हेतु मुख्य आयात-निर्यात नियन्त्रक के कार्यालय में एक विशेष विभाग गठित किया गया। यह विभाग समय समय पर समुचित कदम भी उठायेगा ताकि कीमतों पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े।

उपर्युक्त विशेषताओं के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि खाद्यान्न में आत्म-निर्भरता प्राप्त होने से आयात-निर्यात व्यापार में देश को लाभ हुआ और तिलहन तथा कपास जैसी व्यापारिक फसलों की कमी से देश को प्राप्त होने वाले लाभ का अंश समाप्त हो गया। इसलिए भारत सरकार की आयात-निर्यात नीति में कृषि उत्पादन को वरीयता देना देश की आर्थिक अवस्था को सुधारने का सबसे बड़ा आधार है। सरकार पिछले अनुभवों से पूर्ण परिचित है। वह जानती है कि उत्पादन, मूल्य और सरकारी नीतियों में पारस्परिक सम्बन्ध है। सरकार की निर्धारित नीति में ढिलाई आ जाने या क्या करें क्या न करें—करें या न करें—की दीर्घसूत्रता के कारण माँग और पूर्ति, उत्पादन और संचय, एवं मूल्य का सन्तुलन बिगड़ जाता है। सन् 1976-77 के अन्त में अचानक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी जबकि थोक मूल्य 12% बढ़ गये। इसका कारण यह था कि केन्द्र सरकार अपनी नीतियों की क्रियान्विति पर नियन्त्रण नहीं रख पायी। अतः आयात स्थिति में मूल्यों की स्थिरता को जो लाभ मिला वह मार्च 1976 से ही क्रमशः बाद में कम होता गया।

इस नीति के अन्तर्गत सरकारी संगठनों द्वारा आयात की सूची में 1977-78 में 164 वस्तुएँ रखी गयी, जबकि 1976-77 में इनकी संख्या 196 थी। वस्तुतः सरकार अब हर कीमत पर निर्यात करने की जरूरत नहीं समझती। देश की तत्कालीन आर्थिक स्थिति को देखते हुए अब इस बात की आवश्यकता नहीं थी कि केवल विकसित देशों को सस्ते दामों पर चीजें उपलब्ध कराने के लिए *निर्यात हेतु सरकारी सहायता दी जाये।*

जनता सरकार द्वारा 1978-79 की आयात नीति

जनता सरकार की पंचवर्षीय योजना (1978-83) की आयात रणनीति निर्धारित करते समय सरकार की दृष्टि में हमारी सुधरी हुई विदेशी विनिमय स्थिति थी जिसके अनुसार योजना के प्रारम्भ होने से पूर्व सरकार को श्री पी. सी. एलेक्जेण्डर की अध्यक्षता में गठित एक समिति की सिफारिशें प्राप्त हो चुकी थी। एलेक्जेण्डर समिति की नियुक्ति इस सीमा का पता लगाने के लिए 1977 में की गयी थी कि भारत की आयात नीति किस सीमा तक उदार बनाना सम्भव है।

एलेक्जेण्डर समिति ने प्रतिष्ठित आयातकर्ताओं के लिए विद्यमान आयात-कोटा लाइसेन्स व्यवस्था को समाप्त करने का सुझाव दिया। इसकी रिपोर्ट की अन्य प्रमुख सिफारिशें इस प्रकार थीं : (i) नयी आयात नीति का उद्देश्य "नियन्त्रण करने" की अपेक्षा देश की अर्थ-व्यवस्था को "विकासोन्मुख बनाना" हो, (ii) आयातित वस्तुओं का (Canalization) केवल उन वस्तुओं तक ही

सीमित रखा जाये जिससे सामूहिकीकरण, उपभोक्ताओं को बेहतर सेवा प्रदान करने, व्यापार में अनुचित नीति अपनाने पर अंकुश लगाने तथा दीर्घकाल तक पर्याप्त उपलब्धि आदि से सम्बद्ध शर्तों को पूरा करने की क्षमता हो, (iii) कच्चे माल, स्पेयर पार्ट्स तथा औद्योगिक प्रयोजन वाले अंशों के आयात को दो सूचियों में बाँटा जाय—प्रथम वे जिन पर पाबन्दी हो, और द्वितीय जिनका आयात पूर्णतः निषिद्ध हो (iv) निर्यात करने वाली संस्थाओं को आयात प्रतिपूर्ति (replenishment) की सुविधाएँ जारी रखी जायें तथा छोटी इकाइयों को निर्यात करने हेतु आवश्यक साज-सज्जा व कच्चे माल के आयात हेतु मुक्त रूप से विदेशी विनिमय दी जाय, (v) टेक्नॉलॉजी के आयात में उदारता बरती जाये, तथा (vi) निर्यातकों को दी जाने वाली नकदी सहायता को विवेकशील बनाया जाय।

समिति ने यह भी सुझाव दिया कि मुख्य निर्यात-आयात नियन्त्रक के पद को विदेशी महानिदेशक के रूप में परिवर्तित किया जाये।

वस्तुतः जनता सरकार की आयात नीति की जो रूपरेखा बनायी गयी थी इसमें एलेक्जेण्डर समिति के सुझाव को भी दृष्टिगत रखा गया था। उस आयात नीति का प्रमुख उद्देश्य प्राथमिक उद्योगों एवं निर्यात योग्य वस्तुएँ बनाने वाली इकाइयों के लिए कच्चे माल, मशीनों, पुर्जों आदि को सुलभ करना था। साथ ही उन इकाइयों की आयात आवश्यकताओं को भी पूरा किया जाने का उद्देश्य था जो अपनी क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं कर पा रही थीं तथा जिनके आधुनिकीकरण तथा तकनीकी सुधार से जिनकी उत्पादन-क्षमता में सुधार की अपेक्षा की जा सकती थी।

1979-80 की आयात नीति[1]

भारत सरकार ने 3 मई, 1979 को अपनी 1979-80 की आयात नीति की घोषणा की। इस नीति को पहले की भाँति उदार आयात नीति को जारी रखा गया। आयात नीति में अग्रिम लाइसेन्सों के द्वारा शुल्क से छूट देने की सुविधा प्रदान की गयी तथा कल-पुर्जों के सम्बन्ध में थोड़ी सी उदारता भी दिखायी गयी, किन्तु सेम्पल्स के आयात के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं। नयी आयात नीति की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थीं

(1) विदेशों में बसे भारतीयों को यहाँ के औद्योगिक उपक्रमों में विनियोजन करने के लिए अधिक रियायतें दी गयीं।

(2) अन्य देशों के प्रोजेक्टों पर प्रयुक्त उपकरणों (उन प्रोजेक्टों के पूरे हो जाने पर) की भारत में आयात की व्यवस्था की गयी।

(3) वैज्ञानिक एवं माप के उपकरणों पर प्रतिबन्ध लगाया गया।

(4) जिग्स, फिक्सचर्स व प्रेस टूल्स के आयातों को OGL पर (मुक्त सामान्य लाइसेन्स) के अन्तर्गत किया गया।

(5) बिक्री के बाद सेवा के लिए कल पुर्जों के आयात की अधिकतम सीमा बढ़ाकर 50 लाख रुपये कर दी गयी।

(6) सैम्पलों का आयात 10 हजार रुपये से बढ़ाकर 50 हजार रुपये कर दिया गया। डाक व हवाई मार्ग से आयात किये जाने वाले सैम्पलों की सीमा 500 रुपये से बढ़ाकर 5,000 रुपये कर दी गयी।

(7) आधुनिक कैमरों के आयात की अनुमति दी गयी।

(8) पूँजीगत वस्तुओं के क्षेत्रों में कुछ वस्तुओं का आयात सीमित किया गया।

1980 81 की आयात नीति

सरकार ने अपनी 1980-81 की आयात नीति में कुछ आवश्यक वस्तुओं के आयात को और अधिक सरल बना दिया तथा आयात नीति का मुख्य उद्देश्य आवश्यक पदार्थों की कीमतों में स्थिरता उत्पन्न करना था। सरकार ने घोषणा की कि वह 1980 81 की आयात नीति देश में औद्योगिक उत्पादन को बढ़ाने, कृषि को उन्नत करने, निर्यातों को प्रोत्साहित तथा छोटे उद्योगों के विकास को बढ़ाने में पूर्ण योगदान देगी। किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि उदार

1 *The Economic Times*, May 4, 1979

आयात नीति का परिणाम व्यापार के घाटे में वृद्धि करना होता है, अतः हमें अपने आवश्यक आयातों पर रोक लगाना अत्यधिक आवश्यक हो जाता है।

1980-81 की आयात नीति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित थी :

(1) औद्योगिक विकास एवं आयात निर्भरता को कम करने के लिए 57 मदों को खुली सामान्य लाइसेन्स (Open General Licence or OGL) व्यवस्था से हटाकर नियमित सूची में सम्मिलित किया गया।

(2) निर्यातित इकाइयों को मजबूत बनाने के लिए आयात लाइसेन्सों के उपयोग पर बल दिया गया।

(3) आयात लाइसेन्स प्रक्रिया को और अधिक सरल बनाया गया।

(4) निर्यात गृहों को प्रोत्साहित करने के लिए आयात नीति में अनेक सुविधाओं की घोषणा की गयी।

(5) OGL सुविधा के अन्तर्गत आयातों का विस्तार किया गया तथा रेलवे उद्योग के लिए भी यह सुविधा प्रदान की गयी।

(6) नयी आयात नीति विदेशियों को भी विशेष सुविधाएँ प्रदान करती रहेगी।

छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) तथा आयात रणनीति[1]

जैसा कि पिछले अध्याय में बतलाया गया था, छठी पंचवर्षीय योजना काल में हमारे निर्यात 6,420 करोड़ रुपये से बढ़कर 9,878 करोड़ रुपये तथा आयात 8,790 करोड़ रुपये से बढ़कर 13,850 करोड़ रुपये होने का अनुमान था। यह उल्लेखनीय है कि 1970-80 के दशक में निर्यातों में 6 प्रतिशत की वार्षिक दर से वृद्धि हुई थी जिसे छठी योजना काल में बढ़ाकर 9 प्रतिशत किये जाने का लक्ष्य था। इसके विपरीत आयातों की वृद्धि दर 7.9 प्रतिशत रखने का लक्ष्य रखा गया। छठी योजना में प्रस्तावित व्यापार नीति का सबसे बड़ा उद्देश्य यह कि योजना काल (1980-85) में व्यापार की प्रतिकूल बाकी को यथासम्भव निर्धारित सीमाओं में ही रखा जाये।

आयात रणनीति

भारत सरकार चाहती है कि देश में पैट्रोल, मशीनों, सीमेंट, उर्वरकों, इस्पात, अलौह धातुओं आदि के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि की जाये ताकि इनके आयातों को सीमित किया जा सके। फिर भी सरकार अनुभव करती है कि बढ़ती हुई आवश्यकताओं के कारण इनके आयात में वृद्धि होगी। यदि महत्वपूर्ण पदार्थों के आयात तत्काल कम किये जाते हैं तो इससे आर्थिक विकास की गति तथा निर्यात संवर्द्धन के प्रयासों पर प्रतिकूल प्रभाव होगा। यही कारण है कि **सरकार आयातों के सम्बन्ध में विवेकपूर्ण दृष्टिकोण अपनाना चाहती है न कि प्रतिबन्धात्मक।** सरकार तुलनात्मक लाभ के आधार पर देश का औद्योगिक विकास करना चाहती है, और ऐसा अनुभव करती है कि यदि हम अन्ततोगत्वा अपनी आयात सम्बन्धी जरूरतों को निर्यातों के माध्यम से पूरा कर लेते हैं तब भी यह आत्म-निर्भरता के हमारे लक्ष्य के प्रतिकूल स्थिति नहीं होगी। क्योंकि स्वावलम्बन का यह अर्थ नहीं है कि भारत को सभी क्षेत्रों में आत्म-निर्भर बना दिया जाये। शायद विश्व के विकसित देश भी सब क्षेत्रों में आत्मनिर्भर नहीं हैं। छठी पंचवर्षीय योजना की अवधि में जो भी आयात-निर्यात नीतियाँ घोषित की गयी उनका उद्देश्य योजना काल में प्रस्तावित लक्ष्यों को प्राप्त करके हमारे विदेशी व्यापार की प्रतिकूलता को कम करना था।

जैसा कि हम आगे देखेंगे हमारी आयात-निर्यात नीतियाँ जहाँ एक ओर आवश्यक वस्तुओं के आयात—विशेष रूप से प्रवासी भारतीय निवेशकर्ताओं तथा निर्यातकर्ताओं के लिए—को अधिक उदार बनाना चाहती है वहीं निर्यातकर्ताओं को सभी प्रकार के प्रोत्साहन देकर निर्यातों में पर्याप्त वृद्धि हेतु भी मार्ग प्रशस्त कर रही है।

1981-82 की आयात व निर्यात नीति

1981-82 में चौथी बार लगातार भारत सरकार ने ऐसी आयात नीति की घोषणा की जिसमें अर्थ-व्यवस्था के बहुमुखी विकास एवं उत्पादन की वृद्धि हेतु प्रयत्नशील वास्तविक प्रयोग-

1 Sixth Five Year Plan (1980-85), Chapter 6, pp. 84-85

कर्ताओं (actual users)[1] की आयात सम्बन्धी जरूरतों को लचीली व उदारतापूर्ण नीति के माध्यम से पूरा किया जाता था। इन व्यक्तियों या प्रतिष्ठानों के लिए कच्चे माल, पुर्जों व उपकरणों का आयात यथासम्भव खुले जनरल लाइसेन्स (open general licence) के तहत करने की छूट को जारी रखा गया। जो लघु इकाइयाँ पुन लाइसेन्स प्राप्त करनी चाहती थीं वे उपयोग सम्बन्धी प्रमाण पत्र प्रस्तुत किये बिना भी इस सुविधा से लाभ उठा सकती थीं। पुन लाइसेन्स की सीमा को 1980 में 50 000 रुपये से बढाकर 1 लाख रुपये कर दिया गया। सरकार का ऐसा अनुमान था कि इस छूट से 40,000 औद्योगिक इकाइयाँ लाभान्वित होंगी।

1980-81 में निर्माता-निर्यातकर्ता सस्थानो को न केवल सम्बद्ध निर्यात योग्य वस्तुओं के बदले *आयात प्रतिपूरक लाइसेंस* के आधार पर कच्चे माल व उपकरणों को आयात करने की छूट दी गयी थी अपितु स्वय के उपयोग हेतु पुर्जे व पैकिंग-मैटेरियल के आयात की भी सुविधा प्रदान की गयी थी। 1981-82 में यह छूट उन सभी उत्पादकों की दे दी गयी जो स्वय अपनी वस्तु का निर्यात करते हैं अथवा किसी अन्य के माध्यम से।

आयातो पर प्रशुल्क छूट के लिए **अग्रिम लाइसेंस** की व्यवस्था को 1981-82 में नयी वस्तुओं के लिए लागू करने के अतिरिक्त अग्रिम लाइसेंस जारी करने की प्रणाली को सरल बनाने की घोषणा की गयी। अग्रिम लाइसेंस प्राप्त करने हेतु पूर्व निर्धारित आदान-प्रदान अनुपात को आधार मानकर पजीकृत इजीनियरिंग के प्रमाण-पत्र की अनिवार्यता समाप्त कर दी गयी। तीन साल या इससे अधिक समय से निर्यात करने वालों को अग्रिम लाइसेंस देने की व्यवस्था की गयी।

हस्तकलाओ व लघु उद्योगो के क्षेत्र में निर्यातकों की कच्चे माल व उपकरणों की जरूरतों की पूर्ति हेतु '**वास्तविक प्रयोगकर्ता**" की शर्त को 1981-82 में समाप्त कर दिया गया। इस क्षेत्र में हाथ से बनी ऊनी कालीनों को भी शामिल किया गया।

लघु व बडी औद्योगिक इकाइयों को और अधिक निर्यात करने की प्रेरणा देने की दृष्टि से तथा बड़े निर्यातक सस्थानो पर सरकार ने 1981 में 'व्यापार गृह" नामक एक नयी स्कीम लागू की। सामान्य प्रतिपूरक लाइसेंस के लाभो के अतिरिक्त इन व्यापार गृहो को निम्न छूट/लाभ दिये जाने का प्रावधान किया गया :

(i) ये व्यापार गृह (Trading Housing) गत वर्ष प्राप्त निर्यात आय का 2 5 प्रतिशत विदेशो में निर्यात सवर्द्धन तथा भण्डार गृह के निर्माण हेतु खर्च कर सकेंगे। इस व्यय की अधिकतम सीमा 40 लाख रुपये होगी।

(ii) लघु इकाइयों द्वारा निर्मित वस्तुओ के निर्यात पर 20 प्रतिशत तथा अन्य चुनी हुई वस्तुओं के निर्यात पर 7½ प्रतिशत मूल्य के अतिरिक्त लाइसेंस प्राप्त करने की छूट भी इन व्यापार गृहो को दी जायेगी। व्यापार गृहो को प्रतिबन्धित वस्तुओं के आयात हेतु 20 लाख रुपये की सीमा तक प्रति वस्तु की दर से अतिरिक्त लाइसेंस भी प्राप्त करने का अधिकार होगा।

(iii) ये व्यापार गृह औद्योगिक कच्चा माल सहायता केन्द्रों (Industrial Raw Materials Assistance Centres) के रूप में कार्य करने हेतु भी अधिकृत होगे तथा इस नाते वास्तविक प्रयोगकर्ता (वास्तविक प्रयोगकर्ता लाइसेंस-धारी) पजीकृत निर्यातको तथा निर्यात गृहो को प्रतिपूरक लाइसेंसो व अतिरिक्त लाइसेंसो के बदले सुविधाएँ दे सकेंगे।

अन्य निर्यात-गृहों के सन्दर्भ में लघु-इकाइयो द्वारा निर्यात वस्तुओं के निर्यात के बदले निर्गमित अतिरिक्त लाइसेंस का अनुपात 33⅓ प्रतिशत से घटाकर 15 प्रतिशत कर दिया गया। परन्तु लघु इकाइयो के सगठनो या निर्यात गृहो पर यह कटौती लागू नही की गयी।

निर्यात गृहो तथा उनके सहायक उद्योगपतियों के मध्य सम्बन्धों को सुदृढ करने तथा

---

1 एक वास्तविक प्रयोगकर्ता वह व्यक्ति है जो किसी ऐसी वस्तु के आयात हेतु लाइसेंस प्राप्त करता है या तदर्थ आवेदन करता है जिसे वह सीधे बेचने की अपेक्षा स्वय प्रयोग में लेता है। इनमे औद्योगिक प्रतिष्ठानो द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले कच्चे माल के अलावा गैर-औद्योगिक इकाइयां जैसे अस्पतालो, शोध सस्थाओ, व्यक्तियो या अन्य इकाइयों द्वारा स्वय प्रयुक्त वस्तुएँ या आयातित मदें शामिल की जाती हैं।

लघु एवं कुटीर इकाइयों को कच्चे माल की नियमित पूर्ति कराने हेतु 1981-82 की व्यापार-नीति में कुछ धातुओं के चूर्ण (विशेष रूप से तांबा व पीतल) को खुले जनरल लाइसेंस (OGL) की श्रेणी में रखा गया।

सार्वजनिक इकाइयों को उनकी औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु खुले जनरल लाइसेंस के अन्तर्गत और अधिक वस्तुएँ आयात करने की छूट दी गयी, बशर्ते ये आयात उन्हें प्रदत्त सीमाओं के भीतर किये जायें। एल्युमीनियम रॉड्स, लेखन व मुद्रण योग्य कागज तथा सभी प्रकार के खाद्य व अखाद्य तेलों को कैनलाइज्ड सूची में रखा गया।

1981-82 की आयात-निर्यात नीति में विदेशों में बसे प्रवासी भारतीयों द्वारा स्वदेश में पूंजी लगाने हेतु अनेक रियायतें दी गयी। ये व्यक्ति न केवल नयी औद्योगिक इकाइयों की स्थापना हेतु, अपितु किसी विद्यमान प्रयोग के विस्तार में भागीदारी हेतु भी मशीनों का आयात कर सकेंगे। ऐसे आयातों पर नयी मशीनों के लिए 25 लाख रुपये की तथा पुरानी मशीनों के आयात हेतु 15 लाख रुपये की जो सीमाएँ थी उन्हें समाप्त कर दिया गया है।

1981-82 की नीति में तकनीकी विशेषज्ञों को विदेशों से प्रतिबन्धित मशीनों तथा कम्प्यूटर उपकरण लाने की छूट भी दी गयी।

1981-82 में क्षतिपूर्ति लाइसेंस तथा खुले जनरल लाइसेंस के तहत मशीनों के आयात की सीमा को भी बढ़ाया गया। इसी प्रकार पुर्जों व टूल्स की आयात-प्रणाली में पूर्वापेक्षा सुधार किया गया है।

भारत सरकार ने 200 करोड़ रुपये की पूंजी से एक निर्यात-आयात बैंक की स्थापना करने का भी निर्णय लिया। इस प्रस्ताव को 1981 में संसद की स्वीकृति भी प्रदान कर दी गयी।

1982-83 की आयात व निर्यात-नीति[1]

अप्रैल 1982 से लागू की गयी आयात व निर्यात नीति में कुल मिलाकर 1981-82 की नीतियों को जारी रखने का ही निर्णय लिया गया है। फिर भी प्रशासनिक व्यवस्था को ठीक करने तथा निर्यातकर्ताओं को और अधिक सुविधाएँ प्रदान करने की दृष्टि से आयात-निर्यात नीति में आवश्यक संशोधन अवश्य किये गये।

नयी नीति में पूर्णरूप से प्रतिबन्धित वस्तुओं की सूची में 134 प्रकार की पूंजीगत वस्तुएँ रखी गयी जबकि खुले सामान्य लाइसेंस के अन्तर्गत आयात की जाने वाली वस्तुओं की सूची को भी नयी नीति के अन्तर्गत काफी विस्तृत रूप दे दिया गया। इसके अतिरिक्त रासायनिक उर्वरकों, ग्यूर्जाइट, आधारभूत दवाइयों, शक्कर, सीमेंट, विद्युत उत्पादन व सचरण सम्बन्धी उपकरण, साज-सज्जा आदि 13 प्रकार की वस्तुओं के आयात हेतु लाइसेंसधारी को विश्वभर से टेण्डर मँगाने का प्रावधान किया गया।

यह भी प्रावधान रखा गया कि वास्तविक प्रयोगकर्ता (औद्योगिक व अन्य इकाइयाँ) आयातित प्लांट या मशीन की कीमत के 2 प्रतिशत मूल्य के समान पुर्जे आयात करने हेतु आवेदन कर सकता था। परन्तु इसकी अधिकतम सीमा 50 लाख रुपये की रखी गयी। विद्युत उत्पादकों के लिए यह सीमा 1 करोड़ रुपये थी।

खुले सामान्य लाइसेंस (कच्चे माल टूल्स या पुर्जों हेतु) तथा उत्पादन का 50 प्रतिशत निर्यात करने की अपेक्षा रखने वाली औद्योगिक इकाइयों (वास्तविक प्रयोगकर्ता) को आयात हेतु 1981-82 वाली सुविधाएँ 1982-83 में भी जारी रखी गयी। उपयुक्त अधिकारी की सिफारिश पर नयी औद्योगिक इकाइयों को एक साल की अवधि के लिए अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अधिकतम 5 लाख रुपये तक की वस्तुएँ आयात करने की अधिकृत सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों द्वारा जिन (canalized) वस्तुओं का आयात किया जाता है (जिनमें क्रूड ऑयल, पैट्रोलियम पदार्थ, नेफ्था, रूई 'अनाज' खाद्य तेल, इस्पात आदि अनेक वस्तुएँ हैं) वे इन्हें खुले सामान्य लाइसेंस के तहत आयात कर सकेंगी, परन्तु उन्हें पहले इस बात के लिए आश्वस्त होना पड़ेगा कि देश के भीतर

1 *Import & Export Policy*, April 1982 to March 1983, Vol I, Government of India, Ministry of Commerce.

इन वस्तुओं की उपलब्धि अपर्याप्त है। परन्तु इस व्यवस्था का सुचारु रूप से सचालन करने हेतु आयात-निर्यात के मुख्य नियन्त्रक की अध्यक्षता मे एक **मॉनिटरिंग समिति** की स्थापना की गयी। इसी प्रकार इन आयातित (canalized) वस्तुओं को देश मे किन कीमतो पर बेचा जायगा इसके लिए भी मुख्य आयात निर्यात नियन्त्रक की अध्यक्षता मे एक **कीमत-निर्धारण समिति** कार्य करेगी।

सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो मे एव राजकीय विभागो को सम्बद्ध मन्त्रालय से आवश्यक विदेशी विनिमय तथा व्यापार विकास के महानिदेशक (DGTD) से स्वीकृति प्राप्त करके आयात लाइसेंस हेतु आवेदन करना होगा। यह व्यवस्था रेलवे, विद्युत बोर्डों, तेल एव प्राकृतिक गैस आयोग, भारत गोल्ड माइन्स, कोल इण्डिया, दूर-दर्शन व आकाशवाणी तथा प्रतिरक्षा इकाइयो द्वारा किये जाने वाले आयातो पर भी लागू की गयी।

स्वदेश लौटने वाले प्रवासी भारतीयो द्वारा भारत म नयी औद्योगिक इकाइयो या मौजूदा किसी इकाई के विस्तार हेतु पूंजी का निवेश करने हेतु आयात नीति 1981-82 की नीति मे प्रदत्त सुविधाओं के अतिरिक्त कुछ अतिरिक्त रियायतें 1982-83 म दी गयीं। जिन भारतीयो ने विदेशी नागरिकता प्राप्त कर ली है यदि वे स्थायी रूप मे यहाँ वापस आना चाहे अथवा विदेश मे रहकर भी भारत में पूँजी का निवेश करना चाह तो उन्हे भी ये सब रियायतें प्रदान की गयी। निर्यात सवद्धन हेतु 1981-82 की नीति मे प्रस्तुत प्रावधान 1982-83 में भी जारी रखे गये।

निर्यात-आयात बैंक (Exim Bank) की स्थापना—जनवरी 1982 मे भारत सरकार ने निर्यातकर्ताओं की गतिविधियो को सुगम बनाने तथा उनके लिए वित्तीय सुविधाएँ जुटाने के उद्देश्य से निर्यात आयात बैंक की स्थापना की है। इस बैंक की अधिकृत पूँजी 50 करोड रुपये है। साथ ही इसे उदार शर्तों पर 20 करोड रुपये का ऋण भी उपलब्ध कराया गया। एक्सिम बैंक विदेशों से भी वित्तीय साधन जुटाने का प्रयास कर सकता है।

1984-85 की आयात-निर्यात नीति

अप्रैल 1984 म केन्द्र सरकार ने 1984-85 वर्ष के लिए आयात-निर्यात नीति की घोषणा की। इस नीति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इसमे सरकार के पूर्वापेक्षा अधिक उदार दृष्टिकोण की झलक मिलती थी। 1984-85 के लिए यहाँ सामान्य लाइसेंस के अन्तर्गत आयात की जाने वाली वस्तुओं की सूची मे 148 वस्तुओ को बढाया गया, वही 53 वस्तुओं को इस सूची से हटा दिया गया।

नयी आयात-निर्यात की नीति के निम्नलिखित उद्देश्य रखे गये :

(i) निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के उत्पादन मे वृद्धि का क्रम जारी रखना,
(ii) जहाँ तक सम्भव हो आयातो पर निर्भरता मे कमी लाना,
(iii) पूँजीगत वस्तुओं सहित सभी आदाओ (इन्पुट) की पर्याप्त उपलब्धि कराना ताकि औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि का क्रम जारी रह सके
(iv) उत्पादन विधि म सुधार करते हुए उद्योगो का आधुनिकीकरण करना,
(v) निर्यात के क्षेत्र मे लघु उद्योगों का प्रोत्साहन देना, तथा
(vi) उत्पादन-प्रक्रिया को और अधिक सरल व सहज बनाना।

इस नीति के अनुसार अधिक निर्यात करने वाले संस्थानो को पूँजीगत वस्तुओ तथा आदाओं का आयात करने की उदारतापूर्वक अनुमति देने की व्यवस्था थी। पूँजीगत वस्तुओ के आयात की अधिकतम सीमा (निर्यातको के लिए) 50 लाख रुपये से बढाकर 75 लाख रुपये कर दी गयी।

1984-85 मे केवल निर्यात हेतु उत्पादन करने वाले उद्योगपतियो को कच्चा माल व मशीनें मँगाने हेतु और अधिक रियायतें दी गयी।

निर्यात गृहो तथा अन्य निर्यातक इकाइयों के द्वारा किये जाने वाले न्यूनतम निर्यात लक्ष्य को अब बढा दिया गया हालाँकि निर्यात-गृहो की न्यूनतम निर्यात-वृद्धि दर (20 प्रतिशत) अपरिवर्तित रखी गयी।[1]

1984 85 की आयात-निर्यात नीति की अन्य प्रमुख विशेषताएँ अग्र प्रकार थी ·

1 *The Economic Times*, April 13, 1984

(i) आयात हेतु प्रतिबन्धित सूची को समाप्त कर दिया गया। अब केवल गाय की चर्बी ही प्रतिबन्धित वस्तु मानी गयी।
(ii) आयात लाइसेंस की अवधि 12 से बढ़ाकर 18 माह कर दी गयी।
(iii) आयात प्रतिपूर्ति लाइसेंस प्राप्त करने हेतु 13 नयी वस्तुओं के निर्यात की अनुमति दी गयी।
(iv) अधिक मूल्य अतिरेक (value added) वाली वस्तुओं का अधिक निर्यात किया जाये।
(v) सात वर्ष से पुरानी मशीनों के आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।
(vi) आयातित वस्तुओं की तत्काल आपूर्ति।
(vii) अधिकांश वस्तुओं को स्वतन्त्र रूप से निर्यात योग्य वस्तुओं की सूची में बनाये रखा गया।
(viii) अनेक पूँजीगत वस्तुओं को सामान्य लाइसेंस वाली आयात-योग्य वस्तुएँ माना गया परन्तु कुछ प्रकार के कल-पुर्जों के आयात पर प्रतिबन्ध लगाया गया।
(ix) स्वर्ण के आभूषणों के निर्यात हेतु विशेष सुविधाएँ दी गयी।
(x) स्टेनलैस स्टील का आयात खनिज व धातु निगम के स्थान पर स्टील ऑथोरिटी (SAIL) को एकाधिकार दिया गया।
(xi) प्रवासी भारतीयों के लिए उदारतापूर्वक नीति जारी रखी गयी।

सातवीं पंचवर्षीय योजना की व्यापार-रणनीति एवं आयात-निर्यात नीति[1]

छठी पंचवर्षीय योजना काल में आयात व निर्यात के निर्धारित लक्ष्य पूरे नहीं हो सके। जहाँ निर्यातों का कुल योग 41,078 करोड़ रुपये की अपेक्षा केवल 33,000 करोड़ रुपये ही रहा, वहीं आयात 58,900 करोड़ रुपये के स्थान पर लगभग 54,000 करोड़ रुपये सममूल्य के हुए। इस प्रकार पाँच वर्षों में व्यापार का प्रतिकूल शेष 17,800 करोड़ रुपये की अपेक्षा 21,000 करोड़ रुपये का हो गया। इसके फलस्वरूप भारत को गम्भीर भुगतान सन्तुलन के संकट का सामना करना पड़ा।

यह भी अनुभव किया गया कि 1965-1985 के दो दशकों की अवधि में भारत को केवल कुछ ही वस्तुओं (इंजीनियरिंग वस्तुओं, रसायनों, जवाहरात, तैयार पोशाकों, चमड़े की वस्तुओं तथा मछली से बने पदार्थों) के निर्यात में मात्रात्मक दृष्टि से सफलता मिल पायी थी। इसके फलस्वरूप अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। इसीलिए सातवीं योजना की अवधि (1985-1990) में निर्यातों का विविधीकरण करना आवश्यक समझा गया।

सातवीं योजना के अन्तर्गत निर्यातों की वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य 7·0 प्रतिशत रखा गया है, जो छठी योजना की अपेक्षा कम होने पर भी अधिक व्यावहारिक प्रतीत होता है। ऐसा अनुमान है कि ऊपर वर्णित वस्तुओं के निर्यात से सातवीं योजना काल में अतिरिक्त विदेशी विनिमय का 50 प्रतिशत भाग प्राप्त होगा। यह भी अनुभव किया गया कि औद्योगिक वस्तुओं के उत्पादन तथा निर्यातों में वृद्धि के लक्ष्य कृषिजन्य वस्तुओं की तुलना में अधिक सरलता से प्राप्त किये जा सकते हैं। इसी प्रकार धातुओं तथा अन्य कुछ वस्तुओं के निर्यातों में पर्याप्त वृद्धि करना सम्भव है जबकि चाय, मसाले, सूती वस्त्र आदि के निर्यातों में भी वृद्धि की प्रबल सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। परन्तु पोशाकों तथा जूट की वस्तुओं के सन्दर्भ में भारत को अन्य देशों से स्पर्द्धा करनी पड़ेगी।

आयात के सन्दर्भ में ऐसा अनुमान है कि पेट्रोलियम पदार्थों तथा उर्वरकों की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने हेतु इनके आयात बढ़ेंगे और इससे व्यापार-शेष पर प्रतिकूल प्रभाव होगा। दूसरी ओर सीमेण्ट, कृत्रिम रेशों, अखबारी कागज तथा अलौह धातुओं के आयात कम होने की आशा है। कुल मिलाकर सातवीं योजना में आयातों की वार्षिक वृद्धि 5·8 प्रतिशत रहने की सम्भावना है। परन्तु यन्त्रों व उपकरणों के आयात काफी अधिक बढ़ने की आशा है।

1 Seventh Five Year Plan (1985-90), Vol. I, pp 65-68.

1985-1988 की अवधि के लिए त्रिवर्षीय आयात-निर्यात नीति[1]

नियोजन काल में पहली बार भारत सरकार ने 2 अप्रैल 1985 में एक त्रिवर्षीय आयात-निर्यात नीति की घोषणा की। वस्तुतः यह नीति 1984 के अन्त में व्यापार नीति समिति द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन में निहित सिफारिशों पर आधारित थी तथा इसमें आयातों को नियन्त्रित करने हेतु प्रशुल्क नीति का आश्रय लिया गया था। इस मध्यमकालीन व्यापार नीति में निम्नलिखित मुख्य बातें निहित थीं

1 **विशेष श्रेणी के आयातकर्ताओं को उदारतापूर्वक आयात करने की अनुमति**—इस श्रेणी में निम्न आयातकर्ता रखे गये थे

(अ) निर्यात हेतु उत्पादन करने वाली पंजीकृत इकाइयाँ, (ब) प्रतिष्ठित निर्यात गृह, तथा (स) सार्वजनिक उपक्रम सरकारी विभाग तथा बैंक।

2 कच्चे माल का शीघ्रतापूर्वक एवं सरलता से आयात करने हेतु ऑटोमेटिक लाइसेंसिंग की श्रेणी को समाप्त करते हुए अनेक ऐसी वस्तुओं को खुले सामान्य लाइसेंस (OGL) के अन्तर्गत रख दिया गया था। इससे आयात की प्रक्रिया विलम्ब रहित बनी तथा विशेष रूप से लघु उद्योग लाभान्वित हो सके।

3 निर्यात हेतु उत्पादन करने वाले उद्योगों के आधुनिकीकरण हेतु औद्योगिक मशीनों की 201 मदों को खुले-सामान्य लाइसेंस की श्रेणी में रखा गया।

4 कम्प्यूटर प्रणाली के लिए आयात नीति को काफी उदार बनाया गया।

उपर्युक्त सभी श्रेणी के वस्तुओं के आयात हेतु विदेशी विनिमय का प्रतिबन्ध उदारतापूर्वक किया गया।

5. कच्चे माल सहित 53 वस्तुओं के आयात को (राज्य व्यापार निगम आदि) सरकारी एजेन्सियों के नियन्त्रण से मुक्त कर दिया गया।

6 निर्यात हेतु उत्पादन करने वाली इकाइयों के निष्पादन को आकलित करने हेतु आयात-निर्यात पास-बुक प्रणाली लागू की गयी। इसके आधार पर कच्चे माल का प्रशुल्क मुक्त-आयात किया गया।

7. अधिक निर्यात करने वालों को उदारतापूर्वक अतिरिक्त आयात लाइसेंस दिये गये।

8 क्षेत्रीय लाइसेंस अधिकारियों को पूँजीगत वस्तुओं के अधिक आयात देने हेतु प्रदत्त सीमा को बढ़ा दिया गया। अग्रिम लाइसेंस को बिना विलम्ब निर्गमित करने हेतु कलकत्ता, बम्बई, मद्रास तथा नई दिल्ली में क्षेत्रीय समितियाँ गठित की गयी।

परन्तु इस नीति में कुछ पाबन्दियाँ भी लगायी गयी जो इस प्रकार थी

1 74 ऐसी वस्तुओं के आयात पर अधिक पाबन्दियाँ लगायी गयी जिनका देश में पर्याप्त उत्पादन होता था।

2. उदारतापूर्ण आयात-नीति का दुरुपयोग करने वाली इकाइयों व व्यक्तियों के लिए कठोर दण्ड का प्रावधान किया गया।

3 ऐसी लघु इकाइयों तथा निगमों (निर्यात गृहों) के लिए निर्यात की न्यूनतम सीमा बढ़ा दी गयी जो उदारतापूर्ण आयात नीति का लाभ उठाने का दावा प्रस्तुत करना चाहते थे।

इस नीति के फलस्वरूप हमारे निर्यातोन्मुखी उद्योगों की स्पर्द्धा क्षमता अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में बढ़ी। इस नीति के फलस्वरूप हमारे उद्योग अपनी क्षमता का पूर्ण उपयोग कर सके।

व्यावसायिक व औद्योगिक क्षेत्र में 1985-88 की आयात-निर्यात नीति को तकनीकी उत्थान व आधुनिकीकरण को प्रोत्साहन देने वाली नीति के रूप में सराहा गया था। इसके द्वारा एक प्रगतिशील औद्योगिक व राजकोषीय नीति का क्रम जारी रखा गया। इसमें पिछले वर्षों में अपनायी गयी उदारता की प्रवृत्ति को स्वीकार किया गया। इस प्रकार भारत में व्यापार, उद्योग व राजस्व तीनों क्षेत्रों में एक एकीकृत नीति का विकास किया गया है।

---

1 *Economic Survey*, 1988-89

नयी त्रिवर्षीय आयात-निर्यात नीति, 1988-91

अप्रैल 1988 से मार्च 1991 तक की अवधि के लिए एक नयी त्रिवर्षीय आयात-निर्यात नीति 30 मार्च, 1988 को घोषित की गयी। इसके प्रमुख उद्देश्य व अन्य प्रमुख बातें निम्न प्रकार थीं :

मुख्य उद्देश्य—(1) औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन देना तथा इसके लिए आवश्यक *आयातित पूंजीगत वस्तुओं, कच्चे माल तथा कल-पुर्जों की व्यवस्था करना ताकि आधुनिकीकरण,* तकनीकी विकास एवं उत्तरोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति की ओर अग्रसर हुआ जा सके।

(2) कार्यकुशल आयात-प्रतिस्थापन व आत्म-निर्भरता को बढ़ावा देना।

(3) निर्यात-प्रोत्साहन को नयी प्रेरणा देना तथा इसके लिए प्रेरणाओं की गुणवत्ता व उनके प्रशासन में सुधार करना।

(4) नीति एवं विधियों को सरल एवं युक्ति-संगत बनाना।

नीति की प्रमुख बातें—(1) इस नीति के अन्तर्गत खुले सामान्य लाइसेन्स (OGL) का क्षेत्र बढ़ा दिया गया है और इसमें 745 अतिरिक्त मदें सम्मिलित की गयी हैं। इनमें से 329 मदें कच्चे माल, कल-पुर्जे व उपभोग्य माल की हैं, 209 मदें जीवनरक्षक उपकरणों की हैं, 108 मदें जीवनरक्षक दवाएँ तथा 99 मदें पूंजीगत वस्तुएँ हैं।

(2) आयात पुनःपूर्ति/पुनःभर्ती की स्कीम (REP Scheme) में काफी संशोधन किये गये हैं। गैर-परम्परागत व परम्परागत दोनों प्रकार के निर्यातों में अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा को बढ़ावा देने के लिए पुनःपूर्ति की स्कीम को अधिक व्यापक एवं उदार बनाया गया है। 10 लाख रुपये तक की पूंजीगत वस्तुएँ स्वदेशी क्लियरेन्स लिये बिना निर्यातकों द्वारा आयात की जा सकेंगी।

(3) सरकार ने निर्यातों पर से नियन्त्रण कम किये हैं, वर्तमान सूची में से 26 मदों को सरकारी क्षेत्र से मुक्त कर दिया गया है।

इस प्रकार यह दूसरी त्रिवर्षीय आयात-निर्यात नीति पहली त्रिवर्षीय आयात-निर्यात नीति की उपलब्धियों को और आगे बढ़ाने का प्रयास करेगी।

प्रश्न एवं उनके उत्तर

1. **'निर्यात संवर्द्धन' एवं 'आयात-प्रतिस्थापन' की भारत की वर्तमान आर्थिक स्थिति के सन्दर्भ में सापेक्ष प्राथमिकता का वर्णन कीजिए। आपकी दृष्टि में व्यापार नीति के लक्ष्य की सिद्धि हेतु कौन से उपाय अधिक प्रभावी होंगे?**

   Discuss the relative priority of 'export promotion' and import substitution' at the present stage of development of the Indian economy. Suggest suitable measures for your preference goal

   [**संकेत**—आर्थिक विकास के सन्दर्भ में आयात-प्रतिस्थापन तथा निर्यात-संवर्द्धन दोनों का ही अलग-अलग महत्व है। एक नीति के अन्तर्गत आयातों पर अंकुश लगाते हुए देश में ही इन वस्तुओं के उत्पादन हेतु प्रयास किया जाता है, जबकि दूसरी नीति के अनुसार निर्यात को प्रोत्साहन देकर अधिकतम विदेशी विनिमय अर्जित करने का प्रयास किया जाता है। परन्तु दोनों ही नीतियाँ आवश्यक रूप से परस्पर विरोधी नहीं हैं। प्रश्न के उत्तर में यह बताइए कि भारत के आर्थिक विकास हेतु आप दोनों में से एक नीति को पसन्द करेंगे अथवा दोनों ही नीतियों के मिश्रित स्वरूप को।]

2. **"निर्यात संवर्द्धन एवं आयात-प्रतिस्थापन भारत की आज सबसे बड़ी आवश्यकता है", इस कथन का भारत सरकार की नीति के सन्दर्भ में विवेचन कीजिए।**

   "Export Promotion and Import Substitution are the need of the hour in India." Discuss the statement in the context of government policy

   [**संकेत**—इस प्रश्न का उत्तर प्रश्न 1 के अनुरूप ही होगा।]

3. **"आर्थिक स्वावलम्बन का वास्तविक अर्थ यह है कि भारत को अपनी आयात सम्बन्धी**

आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अपने निर्यातों मे वृद्धि करनी चाहिए।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।

"Economic self-reliance really means that India should increase her export to such an extent that she may be able to import" Discuss this statement

[संकेत—निर्यात आयात का भुगतान करते हैं (Exports pay for imports), यह कहावत काफी पुरानी है। आर्थिक विकास के सन्दर्भ मे भारत को कच्चे माल, मशीनो व उपकरणो, उर्वरको ट्रैक्टरो व अन्य प्रकार की साज-सज्जा की भारी मात्रा म आवश्यकता है, तथा आर्थिक विकास के साथ-साथ आयात सम्बन्धी आवश्यकताओ मे वृद्धि होती जाती है। इनकी पूर्ति एव आवश्यक विदेशी विनिमय केवल निर्यातो से पर्याप्त वृद्धि द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। अतएव अधिक आयात करने के लिए निर्यात मे भी वृद्धि की जानी चाहिए। परन्तु आज विश्व के अधिकाश देश आयात प्रतिस्थापन तथा निर्यात सवर्द्धन दोनो ही प्रकार की नीतियो का आश्रय लेते हुए एक ओर आयातो को सीमित करने का प्रयास कर रहे हैं जबकि दूसरी ओर निर्यातों का अधिकतम करने का यत्न किया जा रहा है। प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर मे अधिक आयात करने हेतु निर्यातो मे वृद्धि की नीति की तुलना आयात-प्रतिस्थापन व निर्यात-सवर्द्धन की मिश्रित नीति से की जानी चाहिए। विद्यार्थियो को चाहिए कि इस सन्दर्भ मे भारत सरकार द्वारा अपनायी गयी नीति की उपयुक्त आँकडो के आधार पर समीक्षा करें।]

4 भारत सरकार की 1985-88 एव 1988-91 के लिए त्रिवर्षीय आयात निर्यात नीतियों की सक्षिप्त विवेचना कीजिए।

Explain briefly the three years import policy of the Government of India during 1985-88 and 1988-91

25

विदेशी व्यापार के विकास हेतु संस्थागत प्रबन्ध

[INSTITUTIONAL ARRANGEMENTS FOR THE DEVELOPMENT OF FOREIGN TRADE]

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत के विदेशी व्यापार मे सार्वजनिक क्षेत्र की संस्थाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वस्तुतः द्वितीय महायुद्ध-काल में सर्वप्रथम सरकारी क्षेत्र में व्यापार की धारणा का जन्म हुआ तथा बाद मे समय-समय पर इस पर विचार-विमर्श होता रहा। स्वतन्त्रता के पश्चात् 1950 मे "राजकीय व्यापार समिति" की नियुक्ति की गयी। इस समिति का उद्देश्य राजकीय क्षेत्र मे एक व्यापार निगम की स्थापना से सम्बद्ध विभिन्न पहलुओं पर विचार करना था। परन्तु समिति के सदस्यों मे से कुछ ने सामान्य राजकीय व्यापार (General State Trading)[1] के प्रस्ताव का समर्थन नही किया। परन्तु समिति ने यह भी बताया कि सरकारी विभागो द्वारा सम्पादित व्यावहारिक गतिविधियो मे अनेक दोष है और इस कारण राजकीय क्षेत्र मे किये जाने वाले आयात व निर्यात का दायित्व एक विशिष्ट संगठन को ही दिया जाना चाहिए। समिति का सुझाव था कि सरकारी विभागो को खाद्यान्नों एवं उर्वरकों से सम्बद्ध व्यावसायिक गतिविधियो को वैज्ञानिक रूप से स्थापित एक राज्य व्यापार निगम को सौंप दिया जाय। भारत सरकार ने इस सिफारिश को नही माना तथा 1952 मे इस विषय पर पुनः एक नयी समिति नियुक्त कर दी। इस द्वितीय समिति ने भी सिद्धान्त रूप मे राज्य व्यापार निगम की स्थापना के सुझाव का समर्थन किया तथा यह सुझाव दिया कि यह निगम एकाधिकारिक रूप से कार्य करने के साथ-साथ व्यावसायिक कार्य भी करे।

देश की द्वितीय पंचवर्षीय योजना मे सरकार के समक्ष अतिरिक्त साधन जुटाने की एक गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गयी थी। अन्य कार्यों के अतिरिक्त सरकारी कोष के लिए अतिरिक्त साधन जुटाने हेतु यह भी सुझाव दिया गया है कि सरकार को चुनी हुई वस्तुओं का व्यापार भी अपने नियन्त्रण मे ले लेना चाहिए। 1955 मे पहली बार वित्त-मन्त्री ने राजकीय व्यापार एजेन्सी की धारणा का समर्थन किया। इसी बीच अर्थशास्त्रियो के एक दल ने भी यह सुझाव दिया था कि अधिक आर्थिक एवं सामाजिक समानता की दिशा मे आगे बढ़ने के लिए राजकीय व्यापार प्रारम्भ करना अत्यन्त उपयोगी होगा। द्वितीय पंचवर्षीय योजना का एक उद्देश्य यह भी रखा गया था कि भारत को यथासम्भव विदेशी व्यापार का अधिकाधिक विस्तार करके अधिकतम विदेशी विनिमय प्राप्त करना चाहिए, तथा इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उसे पूर्वी यूरोप के (साम्यवादी देशों से साथ

1 राजकीय व्यापार से हमारा अभिप्राय सरकारी या सरकार द्वारा नियन्त्रित संस्था द्वारा आयात व निर्यात कार्यों के सम्पादन से है। यह संस्था व्यावसायिक उद्देश्य से वस्तुओं की खरीद करती है एवं उनका इसी उद्देश्य से साथ वितरण करती है। यही संस्था व्यावसायिक बिक्री के लिए वस्तुओं के उत्पादन मे प्रयुक्त सामग्री व कच्चे माल का आयात करके उनका उत्पादक इकाइयों मे आवंटन भी करती है। राजकीय व्यापार के अन्तर्गत विशिष्ट वस्तुओं के निर्यात तथा मूलतः सरकारी उपयोग के लिए आयात की गयी वस्तुओं के बचे हुए स्टॉक की बिक्री को भी शामिल किया जाता है। [विस्तृत विवरण के लिए देखें Govt of India, *Report of the Committee on State Trading*, New Delhi, (1950) p. 5]

अपने व्यावसायिक सम्बन्ध बढाने चाहिए। इन देशो के साथ व्यापार मे वृद्धि हेतु एक विशेष सरकारी व्यापार एजेन्सी की आवश्यकता थी। इस प्रकार द्वितीय योजना के प्रारम्भ से ही एक सावजनिक व्यापार एजेन्सी की स्थापना हेतु अनुकूल वातावरण बन गया था। अन्तत मई 1956 मे राज्य व्यापार निगम (State Trading Corporation or STC) की स्थापना की गयी। शनै-शनै राज्य व्यापार निगम की गतिविधियो का अत्यधिक विस्तार होने पर और भी राजकीय सस्थाएँ विदेशी व्यापार के लिए स्थापित की गयी। राजकीय क्षेत्र मे व्यापार कर रही सस्थाओं की सूची एव उनकी स्थापना के वर्षों का विवरण इस प्रकार है

1 राज्य व्यापार निगम (State Trading Corporation or STC)—मई 1956,
2 खनिज एव धातु व्यापार निगम (Minerals and Metal Trading Corporation or MMTC)—अप्रैल 1963,
3 निर्यात साख एव गारण्टी निगम (Export Credit and Guarantee Corporation) जनवरी 1964,
4 हस्तकला एव हाथकर्घा निगम (Handicrafts and Handloom Export Corporation)—1964
5 भारतीय चलचित्र निर्यात निगम (Indian Motion Pictures Export Corporation)—सितम्बर 1963;
6 धात्विक छीजन व्यापार निगम (Metal Scrap Trade Corporation)—सितम्बर 1964, तथा
7 भारतीय खाद्य निगम (Food Corporation of India)—जनवरी 1965।

अब हम इनमे से प्रत्येक सस्था के कार्यों एव तत्सम्बन्धी प्रगति की समीक्षा करेंगे।

राज्य व्यापार निगम
[STATE TRADING CORPORATION]

राज्य व्यापार निगम का पजीकरण भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत 18 मई, 1956 को किया गया था। वह पूर्ण रूप से एक सरकारी सस्था के रूप मे गठित किया गया एव इसकी प्रारम्भिक प्रदत्त पूंजी 1 करोड रुपये रखी गयी। आगे चलकर राज्य व्यापार निगम की अधिकृत पूँजी 5 करोड रुपये तथा प्रदत्त पूंजी 3 करोड रुपये कर दी गयी।

राज्य व्यापार निगम का प्रमुख उद्देश्य देश के निर्यातो का क्षेत्र (scope) विस्तृत करना तथा आवश्यक वस्तुओ के आयात की व्यवस्था करना है। यह निगम बहुधा कुछ वस्तुओं के न्यूनतम मूल्यो की प्रतिभूति (*guarantee*) देने तथा तटस्थ भण्डार (*Buffer Stock*) के निर्माण के कार्य भी करता है। निर्यात के क्षेत्र मे राज्य व्यापार निगम चालू बाजारों के विस्तार के साथ साथ नये बाजारो की खोज हेतु भी प्रयत्नशील है। राज्य व्यापार निगम की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि पूर्वी यूरोप के देशो के साथ हुए व्यापार मे आशातीत वृद्धि रही है। जहाँ 1955-56 मे इन देशो के साथ हमारा व्यापार अत्यन्त सीमित था, 1973-74 तक निर्यात का लगभग एक चौथाई केवल इन्ही देशो को निर्यात किया जाने लगा था। इसी प्रकार आयात का लगभग 20% इन देशों से प्राप्त किया जाने लगा है। यह उल्लेखनीय है कि इन देशो मे हमारे व्यापार के पिछले 20 वर्षों मे 20 से 25 गुनी वृद्धि हुई है। इस दिशा मे व्याप्त सफलता मे राज्य व्यापार निगम की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण रही है क्योकि निगम को ही इन देशो से किये जाने वाले व्यापार के एकाधिकार प्राप्त हैं।

परन्तु इतने पर भी राज्य व्यापार निगम देश के उद्योगपतियो एव व्यापारियो के लिए कोई भी वस्तु कही भी खरीदने को स्वतन्त्र है। इसी प्रकार निगम को किसी भी उत्पादक से वस्तु लेकर कही भी निर्यात करने की छूट प्राप्त है। आयात व निर्यात के अतिरिक्त निगम उद्योगपतियो व व्यापारियो को वित्त की उपलब्धि क्वालिटी-नियन्त्रण, जहाजो मे माल के लदान एव दुलभ कच्चे माल की खरीद व वितरण की सेवाएँ अर्पित करता है। विदेशी उपभोक्ताओं की आवश्यकताओ के अनुरूप वस्तुओ का उत्पादन करवाना एव इनकी पूर्ति करते हुए उनकी आवश्यकताओं को पूरा करना भी निगम का एक प्रमुख उद्देश्य है।

व्यावसायिक दृष्टिकोण एवं लाभ कमाने के उद्देश्य से कार्य करते हुए भी राज्य व्यापार निगम भारतीय उद्योगों को विश्व के बाजारों की स्थिति से अवगत कराता है तथा समय-समय पर उनका मार्गदर्शन करता है। निगम ऐसी वस्तुओं के उत्पादन हेतु प्रत्यक्ष रूप से पूंजी का विनियोग करता है जिनके निर्यात की सम्भावनाएँ काफी अधिक हैं। इसी प्रकार एक निश्चित बाजार की प्रतिभूति देने वाले विदेशी व्यापारी को निगम द्वारा समुचित सहायता प्रदान की जाती है।

राज्य व्यापार निगम पूर्ण रूप से एक विपणन संस्था है। विपणन से सम्बद्ध विशिष्ट समस्याओं के विश्लेषण एवं उन पर सतत् रूप से मार्गदर्शन हेतु निगम के कार्यक्रमों को वस्तुओं के आधार पर छह विभागों में विभाजित किया गया है : (i) इन्जीनियरिंग की वस्तुएँ (जिनमें मशीन-टूल्स एवं लघु उद्योगों की साज-सज्जा शामिल है), (ii) रेलवे वैगन तथा साज-सज्जा, (iii) रसायन दवाइयाँ एवं नमक, (iv) जूते, बाल व बालों से निर्मित वस्तुएँ, धागा, कपड़ा, तैयार कपड़े आदि उपभोग्य वस्तुएँ, (v) फल (केला व अन्य ताजा फल), फलों के रस, चावल एवं दालें, तथा (vi) सीमेण्ट।

उपर्युक्त विपणन-डिवीजन की सहायतार्थ परामर्शदाता एवं सेवा-डिवीजन बनाये गये हैं। राज्य व्यापार निगम ने 18 देशों में अपनी शाखाएँ तथा विश्व के लगभग सभी देशों में अपने सम्पर्क-सूत्र स्थापित किये हुए हैं। यह निगम देश के उद्योगों तथा विदेशी आयात व निर्यातकर्ताओं के बीच एक महत्वपूर्ण माध्यम के रूप में कार्य करता है। राज्य व्यापार निगम जहाँ विदेशी बाजारों का सर्वेक्षण करके भारतीय उद्योगपतियों एवं व्यापारियों को निर्यात बढ़ाने हेतु मार्गदर्शन करता है, वहीं विदेशी उपभोक्ताओं को उचित मूल्य एवं उचित समय पर निर्दिष्ट क्वालिटी की वस्तुएँ उपलब्ध करने का आश्वासन देता है।

आज के सन्दर्भ में राज्य व्यापार निगम के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं :

(1) निर्दिष्ट वस्तुओं का आयात व निर्यात करना, विशेष रूप से उन देशों के साथ व्यापार में वृद्धि करना जहाँ विदेशी व्यापार पूर्ण सरकारी नियन्त्रण में है।

(2) परम्परागत वस्तुओं के निर्यात हेतु नये बाजारों का विकास करना तथा निर्यात व्यापार के विविधीकरण (diversification) हेतु नयी वस्तुओं के निर्यात को प्रोत्साहित करना।

(3) सरकार के आदेशानुसार देश में अपर्याप्त पूर्ति वाली (दुर्लभ) वस्तुओं के आयात तथा/अथवा आन्तरिक वितरण की व्यवस्था करके मूल्यों में स्थिरता लाना तथा देश में वितरण-व्यवस्था को ठोस करना।

(4) सरकार के आदेशानुसार सार्वजनिक हित के पोषण हेतु निर्दिष्ट वस्तुओं के आयात, निर्यात या आन्तरिक वितरण की विशेष व्यवस्था करना।

इनके अतिरिक्त राज्य व्यापार निगम देश के आयातों व निर्यातों की प्रवृत्ति पर सावधानीपूर्वक दृष्टि रखता है तथा देश के उद्योगपतियों एवं व्यापारियों को आयात सुविधाएँ एवं निर्यात-समर्थन हेतु मार्गदर्शन प्रदान करता है।

राज्य व्यापार निगम की प्रगति[1]

राज्य व्यापार निगम के वार्षिक प्रतिवेदनों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि निगम को देश के विदेशी व्यापार में वृद्धि करने एवं इसके विविधीकरण करने में पर्याप्त सफलता मिली है। निगम को नये बाजारों के विकास में भी काफी सफलता मिली है। इसी प्रकार भारत का आयात व्यापार भी नये देशों से प्रारम्भ हुआ है तथा उसने अनेक वस्तुओं के आयात हेतु अधिक अनुकूल शर्तें प्राप्त की हैं तथा आवश्यक कच्चे माल के वितरण की व्यवस्था में सुधार किया है।

1975-76 में राज्य व्यापार निगम के निर्यात व्यापार में एक कीर्तिमान स्थापित किया गया। इस वर्ष निगम द्वारा अधिकृत वस्तुओं के निर्यात का मूल्य 760 करोड़ रुपये था। यह राशि 1974-75 के निर्यात (559 करोड़ रुपये) की तुलना में काफी अधिक थी। स्थापना के प्रथम वर्ष अर्थात् 1956-57 में निगम के आयातों व निर्यातों का कुल मूल्य 9.2 करोड़ रुपये

1 *The Economic Times*, April 8, 1989.

था। यह राशि 1976-77 मे 966 करोड रुपये, तथा 1981-82 मे 2,019 करोड रुपये तक पहुँच गयी। 1988-89 मे यह राशि पुन: बढकर 2,586 करोड रुपये हो गयी।

1988-89 मे निगम द्वारा किये गये कुल व्यापार की राशि 2,586 करोड रुपये हो गयी, जिसमे 526 करोड रुपये के निर्यात, 2,036 करोड रुपये के आयात, तट से दूर (offshore) की राशि 5 करोड रुपये व घरेलू बिक्री 19 करोड रुपये रही थी। 1991-92 के कुल व्यापार का लक्ष्य 2 225 करोड रुपये का रखा गया है, जिसमे निर्यात की राशि के 1,500 करोड रुपये करने का अनुमान है। इस प्रकार STC द्वारा निर्यात की राशि 1988-89 मे 526 करोड रुपये से बढकर 1991-92 मे 1,500 करोड रुपये हो जायेगी।

निर्यात—वस्तुत *1981-82* मे राज्य व्यापार निगम द्वारा निर्यात की गयी कैनेलाइज्ड मदो मे काफी कमी हुई। मूंगफली की खली का निर्यात इस वर्ष काफी घटा क्योंकि पश्चिमी यूरोप के बाजारो मे भारतीय उत्पादको को सोयाबीन की खली के उत्पादकों से स्पर्द्धा करनी पड़ी। इसके विपरीत गैर-कैनेलाइज्ड वस्तुओं का निर्यात जो 1979-80 व 1980-81 के वर्षों मे 32 करोड रुपये व 45 करोड रुपये था, 1981-82 मे 71 3 करोड रुपये हो गया। इस वर्ष निगम ने फूड सलाद सरसो का साग अदरक, लहसुन हाथ की बनी दरियाँ आदि भी निर्यात की। निगम के निर्यातो मे तम्बाकू का स्थान सबसे ऊपर है। 1981-82 मे 70 करोड रुपये की तम्बाकू का *निर्यात किया गया।*

आयातित वस्तुओ मे से निगम ने देश मे विभिन्न वस्तुओ का वितरण इस प्रकार किया : खाद्य तेल (10 3 लाख टन), *न्यूजप्रिंट (2 50 लाख टन); प्राकृतिक रबड (43,000 टन)।*

राज्य व्यापार निगम के कार्यों का विस्तार होने के साथ-साथ इसके प्रशासन मे विकेन्द्रीकरण किया गया तथा आज निगम की निम्नांकित चार सहायक सस्थाएँ भी विशिष्ट क्षेत्रो मे आयात व निर्यात मे कार्यरत हैं :

(1) परियोजना एव साज-सज्जा निगम।
(2) भारतीय काजू निगम।
(3) हस्तकला एव हाथकर्घा निगम।
(4) *खनिज एव धातु व्यापार निगम।*

परियोजना एव साज-सज्जा निगम लिमिटेड की स्थापना राज्य व्यापार निगम की एक सहायक एजेन्सी के रूप मे 1971 म की गयी थी। इस नयी सस्था को प्रारम्भिक चरण मे इजीनियरिंग एव रेलवे सामग्री के व्यापार के अतिरिक्त राज्य व्यापार निगम के इजीनियरिंग डिवीजनो का काम सौंपा गया। इस निगम का प्रमुख उद्देश्य इजीनियरिंग की वस्तुओ, औद्योगिक एव रेल सम्बन्धी साज-सज्जा के निर्यात मे वृद्धि करना है।

भारतीय काजू निगम की स्थापना भी राज्य व्यापार निगम की एक सहायक इकाई के रूप मे *1970 म की गयी थी। यह निगम कच्ची काजू का आयात करके उचित मूल्य पर उन्हें काजू* निर्यात करने वाली इकाइयो को परिनिर्माण हेतु उपलब्ध कराता है। भारतीय वस्तुओ के प्रचार हेतु निगम ने पेरिस एव न्यूयार्क मे अपने कार्यालय स्थापित किये हैं।

हस्तकला एवं हाथकर्घा निर्यात निगम को 1964 मे हस्तकला की वस्तुओ हथकर्घो के वस्त्रो, तैयार वस्त्रो एव ऊनी स्वेटर व जर्सियो के निर्यात को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से स्थापित किया गया। 1972-73 मे निगम ने केवल 5 65 करोड रुपये की वस्तुओ का निर्यात किया था जबकि 1973-74 मे इसके निर्यात का मूल्य बढकर 20 5 करोड रुपये हो गया। 1973-74 मे ऊनी स्वेटर व जर्सियो के निर्यात से ही निगम को 14 करोड रुपये प्राप्त हुए।

खनिज एव धातु व्यापार निगम (MMTC) देश मे उपलब्ध खनिज पदार्थों एव कच्ची *धातुओ (ores) के निर्यात हेतु अप्रैल 1963 मे स्थापित किया गया था।* यह इस निगम की ही कुशल कार्य-प्रणाली का परिणाम है कि 1975-76 मे भारत से 130 करोड रुपये की कच्ची धातुओ का निर्यात किया गया। 1973-74 मे निगम ने लगभग 350 करोड रुपये के खनिजो व धातुओ का आयात किया। निगम के कुल व्यापार (आयात व निर्यात) की राशि *1973-74* मे 475 करोड रुपय थी। 1974-75 मे अनुमानत निगम ने 780 करोड रुपये का व्यापार किया

जबकि 1975-76 में यह राशि 711 करोड़ रुपये रह गयी जोकि 1974-75 की तुलना में 5% कम थी। 1975-76 में इसके द्वारा 168 करोड़ रुपये के निर्यात किये गये जो पिछले वर्ष से 22% अधिक थे। 1975-76 में इसने 539 करोड़ रुपये के आयात किये जो पिछले वर्ष की तुलना में 11% कम थे।

खनिज एवं धातु व्यापार निगम की अधिकृत पूँजी 5 करोड़ रुपये एवं प्रदत्त पूँजी 2 करोड़ रुपये की है। निगम के प्रमुख निर्यातों में कच्चा लोहा, कच्चे मैंगनीज, फैरो-मैंगनीज तथा कोयले को सम्मिलित किया जा सकता है। 1975-76 में कच्चे लोहे के निर्यात में 130 करोड़ रुपये का विदेशी विनिमय प्राप्त किया गया। कोयला, कच्चे मैंगनीज तथा फैरो-मैंगनीज के निर्यात से भी काफी मात्रा में विदेशी विनिमय प्राप्त किया गया। 1975-76 में 1 5 करोड़ टन कच्चा लोहा, 10 लाख टन कच्चा मैंगनीज एवं 7 6 लाख टन कोयला भारत से निर्यात किये जाने का लक्ष्य था।

खनिज एवं धातु व्यापार निगम के आयातों में नॉन-फैरस धातुओं का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। 1974-75 में निगम ने लगभग 640 करोड़ रुपये के मूल्य की खनिज एवं धातुओं का आयात किया था जिसमें से लगभग 20% नॉन-फैरस धातुएँ थी। 1975-76 में नॉन-फैरस धातुओं के आयात का मूल्य 214 करोड़ रुपये नियोजित किया गया। इनमें से 30,000 टन तांबा, 55,000 टन जस्ता, 30,000 टन सीसा तथा टिन व निकल में से प्रत्येक 24,000 टन, 9,650 टन पैलेडियम तथा 3,215 टन प्लेटीनम शामिल था।

इनके अतिरिक्त 1975-76 में इस निगम द्वारा 358 करोड़ रुपये के मूल्य की रासायनिक खादों का आयात करने का लक्ष्य था। इनमें 5 लाख टन यूरिया, 2 लाख टन कैल्शियम अमोनियम नाइट्रेट, 15 लाख टन पोटाश का सामान, 0 67 लाख टन अमोनियम सल्फेट, 10 लाख टन रॉक फॉस्फेट तथा 8 लाख टन सल्फर शामिल था। 1973-74 में भारत द्वारा आयातित रासायनिक उर्वरकों का कुल मूल्य लगभग 250 करोड़ रुपये था।

खनिज तथा धातु व्यापार निगम के पिछले दो दशकों में अनेक बाजारों का विकास किया है। इसके निर्यात में ½ से अधिक केवल कच्चे लोहे के रूप में है। यूरोप और जापान के बाजारों में निगम ने भारतीय कच्चे लोहे के निर्यात व्यापार में काफी वृद्धि की है। यूरोपीय देशों को निगम 11-12 लाख टन कच्चे लोहे का निर्यात करता है। इसी प्रकार जापान को काफी मात्रा में कच्चे लोहे का निर्यात किया जाता है। उल्लेखनीय बात तो यह है कि पिछले 5-6 वर्षों में विश्व के बाजारों में कच्चे लोहे के मूल्यों में पर्याप्त वृद्धि हुई है और इसका पूरा लाभ भारतीय खनिज तथा धातु व्यापार निगम को प्राप्त हुआ है।

1978-79 में इस निगम द्वारा 1,163 करोड़ रुपये का व्यापार किया गया जो पिछले वर्ष की तुलना में 24% अधिक था। 1978-79 में निगम द्वारा 732 करोड़ रुपये के आयात किये गये थे जो गत वर्ष की तुलना में 31% अधिक थे। 1981-82 में निगम का कुल व्यापार 1,370 करोड़ रुपये का था जिसमें से आयातित वस्तुओं का मूल्य 840 करोड़ रुपये तथा शेष निर्यातित वस्तुओं का मूल्य था। 1984-85 में इसका कुल व्यापार 2,775 करोड़ रुपये का रहा था।

जून 1974 में खनिज एवं धातु व्यापार निगम की एक सहायक संस्था के रूप में अभ्रक व्यापार निगम की स्थापना की गयी।

राज्य व्यापार निगम ने 1969-70 से 1988-89 के मध्य में अपने व्यापार को लगभग पन्द्रह गुना कर दिया।

तालिका 25·1

राज्य व्यापार निगम की प्रगति[1]

(करोड़ रुपयों में)

गतिविधि	'73-74	'74-75	'75-76	'81-82	82-83	'88-89
निर्यात	273	559	760	680 8	787 2	526
आयात	206	232	217	1309·9	1189 8	2036
घरेलू बाजार में बिक्री	11	3	4	[illegible] 7	23 6	24
योग	490	794	981	2019 4	2000 6	2586

1 Reports on Currency & Finance.

वस्तुत 1975-76 तक राज्य व्यापार निगम के माध्यम से भारी मात्रा मे शक्कर का निर्यात किया जा रहा था, और इस कारण कुल निर्यातो मे इसका अनुपात 20 प्रतिशत से अधिक हो गया था। इसके बाद के वर्षों मे शक्कर के निर्यात काफी गिर गये और इसलिए कुल निर्यातो मे निगम का अनुपात 9 प्रतिशत रह गया। काजू का निर्यात काजू निगम द्वारा किए जाने से भी राज्य व्यापार निगम के कार्य-क्षेत्र मे कमी हुई है।

परन्तु गत तीन-चार वर्षों मे देश मे खाद्य-तेलो का जिस रूप मे अभाव चल रहा है उसकी पूर्ति हेतु राज्य व्यापार निगम को प्रति वर्ष 12 से 14 लाख टन खाद्य तेल का आयात करना पड रहा है। 1982 83 मे इसके द्वारा आयातित तेलों की मात्रा 13 लाख टन थी तथा इनका मूल्य लगभग 800 करोड रुपये था तथा इसका अनुपात निगम के कुल आयातो मे दो तिहाई से अधिक था।[1]

निर्यात का आधार और अधिक मजबूत बनाने की दृष्टि से राज्य व्यापार निगम ने निर्यात विकास कोष की स्थापना की है। इस कोष द्वारा छोटी औद्योगिक इकाइयो की स्थापना या इनकी उत्पादन क्षमता मे विस्तार हेतु सहायता दी जायगी। 1976-77 मे इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु 4 करोड रुपये का प्रावधान रखा गया था। यह उल्लेखनीय है कि राज्य व्यापार निगम के निर्यात मे से आधे लघु औद्योगिक इकाइयो से प्राप्त किये जाते हैं। इन इकाइयो को निगम द्वारा कच्चे माल की पूर्ति तकनीकी परामर्श आदि सेवाओ के अतिरिक्त क्वालिटी नियन्त्रण, भण्डारण (Warehousing), लदान-व्यवस्था (Shipping), निर्यात-विपणन एव प्रलेखन (Documentation) की सुविधाएँ भी उपलब्ध करायी जाती हैं।

राज्य व्यापार निगम के कुल निर्यातो मे से 40 प्रतिशत पूर्वी यूरोप के देशो को जाते हैं। इसके अतिरिक्त 30% निर्यात पश्चिमी यूरोप के देशों को होते हैं। 1956-57 मे राज्य व्यापार निगम द्वारा केवल 10 वस्तुओं का निर्यात किया जाता था जबकि 1971-72 मे इन वस्तुओं की सख्या बढकर 140 हो गयी। 1974-75 तक ऐसी वस्तुओं की सख्या लगभग 180 हो गयी थी। इस वर्ष राज्य व्यापार निगम को लगभग 30 करोड रुपये का कुल लाभ हुआ जिसमे से 15·3 करोड रुपये निर्यात व्यापार से, 11 8 करोड रुपये आयातित वस्तुओ के वितरण से एव शेष घरेलू बिक्री से प्राप्त हुए। मार्च 1976 तक निर्यातित वस्तुओ की सख्या 649 हो गयी जिनमे से 65% वस्तुएँ छोटे पैमाने के उद्योगो की थी। जनवरी फरवरी 1976 मे निर्यात विकास सस्था ने अमरीका मे क्रेताओं तथा विक्रेताओं के एक सम्मेलन (Meet) का आयोजन किया जिसके महत्वपूर्ण परिणाम निकले। 11 करोड रुपये के निर्यातो का उसी समय आर्डर प्राप्त हुआ तथा 35 करोड रुपये के निर्यात उसके बाद किये। इस सस्था ने 11 इकाइयो को सहायता प्रदान की जिन्होंने निर्यात की माँग की पूर्ति करने की क्षमता का विस्तार किया। इन इकाइयो के द्वारा 5 वर्ष के समय मे अपनी क्षमता के विस्तार के लिए लगभग 3 85 करोड रुपये का आयात किया जायेगा, परन्तु इसी समय म इनके द्वारा 63 4 करोड रुपये का निर्यात भी किया जा सकेगा। निगम लघु इकाइयों द्वारा निर्मित वस्तुओं के निर्यात बढाने हेतु भी सतत् रूप से प्रयत्नशील है। आज निगम द्वारा 800 से अधिक वस्तुओ का निर्यात किया जाता है।

राज्य व्यापार निगम के विभिन्न देशो मे स्थित कार्यालय भारत की परम्परागत एव गैर-परम्परागत वस्तुओ का विदेशी बाजारो मे प्रचार करके निर्यात हेतु अनुबन्ध प्राप्त करने का प्रयास करते है। निर्यात वृद्धि करने हेतु निगम अन्य देशो मे विद्यमान बडे-बडे व्यावसायिक प्रतिष्ठानो से सम्पर्क स्थापित करता है। हाल ही मे एक समीक्षक समिति ने राज्य व्यापार निगम के प्रशासन एव गतिविधियो मे गत्यात्मकता (dynamism) लाने हेतु कुछ सुझाव दिये है। निगम ने विशिष्ट वस्तुआ के निर्यात मे वृद्धि हेतु विशेषज्ञो से परामर्श एव निजी क्षेत्र के अनुभवी प्रतिष्ठानो से सहयोग प्राप्त करना भी प्रारम्भ कर दिया है।

राज्य व्यापार निगम की सीमाएँ

विगत 25 वर्षों के सन्तोषप्रद इतिहास एव अनेक उपलब्धियो के उपरान्त भी राज्य व्यापार निगम की अग्रांकित कारणो मे आलोचना की गयी है :

---

1 *The Economic Times*, October 5, 1983.

(1) कुछ लोगों का मत है कि निगम ने उन क्षेत्रों में भी अपना अधिकार जमाया है जहाँ निजी क्षेत्र की व्यावसायिक संस्थाएँ सन्तोषप्रद ढंग से काम कर रही थी। लोग सरकारी संस्था के इस अनावश्यक हस्तक्षेप को अनुचित मानते हैं।

(2) राज्य व्यापार निगम बहुधा विदेशी व्यापारियों एवं आयातकर्ताओं को समय पर वस्तुएँ उपलब्ध नहीं करा पाता। परिणामस्वरूप अनेक बार निर्यात हेतु प्राप्त आर्डर रद्द कर दिये जाते हैं। इससे भारी मात्रा में प्राप्त विदेशी विनिमय से देश वंचित रह जाता है।

(3) निगम के प्रशासन द्वारा बहुधा अत्यधिक विलम्ब से निर्णय लिये जाते हैं। इसी प्रकार लिये गये निर्णयों की कार्यान्विति में भी काफी विलम्ब होता है।

(4) राज्य व्यापार निगम अथवा खनिज व धातु व्यापार निगम आदि सहायक संस्थाओं के पास न तो अपनी कोई खानें हैं और न ही इनमें कोई भी संस्था स्वयं किसी अन्य प्रकार का उत्पादन करती है। इनके परिणामस्वरूप निगम तथा इनकी सहायक संस्थाओं का वस्तुओं की प्राप्ति एवं इनके वितरण (delivery) पर कोई नियन्त्रण नहीं है। अनेक बार विदेशी व्यापार को इस कारण भी समय पर निगम द्वारा वस्तुएँ नहीं भेजी जाती।

(5) अनेक तकनीकी समस्याओं के समाधान हेतु निगम वस्तुओं के उत्पादकों एवं आयात-कर्ताओं के बीच सम्पर्क स्थापित करने में असफल रहा है।

(6) वस्तुओं की माँग, पूर्ति, मूल्य आदि से सम्बद्ध बाजार की स्थितियों के प्रति राज्य व्यापार निगम पूर्णतः सजग एवं उत्तरदायी (responsive) नहीं है।

(7) यह ठीक है कि राज्य व्यापार निगम एवं इसकी सहायक संस्थाओं को पिछले कुछ वर्षों में बहुत लाभ हुआ है एवं इनकी व्यावसायिक गतिविधियों का पर्याप्त विस्तार हुआ है, परन्तु बहुधा यह शिकायत सुनने को मिलती है कि आयात व निर्यात व्यापार में एकाधिकार प्राप्त होने के बाद निजी क्षेत्र की कोई संस्था इससे कई गुना व्यापार करके बहुत अधिक लाभ कमा सकती थी। वस्तुतः निगम के अधिकारियों के दफ्तरशाही (bureaucratic) दृष्टिकोण एवं कार्य-प्रणाली में विद्यमान आवश्यक औपचारिकता के कारण इसके व्यापार में वांछित वृद्धि नहीं हो सकी है।

(8) निगम के अधिकारी बहुधा सरकार की ओर से प्रतिनियुक्ति (Deputation) पर भेजे जाते हैं तथा थोड़े समय बाद उनका स्थानान्तरण कर दिया जाता है। स्थायी कर्मचारियों व अधिकारियों के न होने से निगम की कार्यक्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव होता है। भारत सरकार के वाणिज्य मन्त्रालय का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप राज्य व्यापार निगम में स्वस्थ प्रबन्धन एवं स्वतन्त्र नीति निर्धारण की प्रक्रिया में एक बड़ी बाधा है।

(9) निगम आयात किये कच्चे माल पर भारी अनुपात में कमीशन वसूल करता है। इसके फलस्वरूप राज्य व्यापार निगम (एवं इसकी सहायक संस्थाओं) के लाभ में तो वृद्धि हो जाती है, परन्तु औद्योगिक इकाइयों की उत्पादन-लागत बढ़ जाती है।

(10) निगम ने रुपये में भुगतान के आधार पर पूर्वी यूरोप के देशों के साथ जो अनुबन्ध किये हैं उनके अन्तर्गत आयातित वस्तुओं व उपकरणों की निम्न घटिया एवं पुरानी होने के बाव-जूद निगम ने उनके लिए काफी ऊँचे मूल्य चुकाये हैं। समय-समय पर राज्य व्यापार निगम के अधिकारियों ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि साम्यवादी देशों के साथ किये जाने वाले अदला-बदल (barter) व्यापार में हमें घाटा रहता है।

(11) पुन. राज्य व्यापार निगम ने 1975 में उद्योगों को सहायता देने हेतु एक अलग निर्यात विकास कोष की स्थापना की थी। प्रार्थना पत्र इस कोष के उपयोग के लिए स्वीकृति हेतु पड़े हुए हैं। परन्तु राज्य व्यापार निगम ने किसी को भी इस मुद्रा के उपयोग करने के योग्य नहीं पाया है।

(12) हाल ही में यह भी आरोप लगाया गया है कि राज्य व्यापार निगम खाद्य तेलों का आयात करके भारी मुनाफा कमाने का प्रयास कर रहा है। निगम को अनेक वस्तुओं के आयात व निर्यात हेतु एकाधिकार प्राप्त है। आवश्यकता इस बात की है कि इसके कार्यकलापों से होने वाला लाभ आम जनता तक पहुँचे।

इस कोष की स्थापना का मुख्य उद्देश्य यह बताया गया था कि नये उत्पादकों के लिए क्षमता प्राप्त करने हेतु सहायता दी जायेगी तथा वर्तमान उत्पादकों के लिए निर्यातित वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए कोष में से सहायता दी जायगी। सहायता का रूप एक समय के लिए ऋण प्रदान करना नहीं बल्कि कच्चे माल तथा मशीनों के आयात के रूप में प्रदान करना है।

व्यापार-समझौते एवं भुगतान-व्यवस्था
[TRADE AGREEMENTS AND PAYMENTS ARRANGEMENTS]

समय-समय पर भारत ने अन्य देशों के साथ (द्विपक्षीय) व्यापार-समझौते किये हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल में बहुत बड़ी संख्या में ऐसे समझौते किये गये। परन्तु 1958 तक जहां इन समझौतों का मुख्य प्रयोजन समानता तथा पारस्परिक लाभ के आधार पर दोनों देशों के बीच व्यापार का विस्तार करना था, 1958 के बाद सम्पन्न व्यापार-समझौते मूल रूप से उन देशों के साथ हुए है जो रुपये में भुगतान लेने को सहमत हैं। यह उल्लेखनीय है कि 1958 तक भारत के जिन देशों के साथ व्यापार समझौते हुए उनमें केवल व्यापार के विभिन्न क्षेत्रों के विषय में हमारी उनके साथ सहमति व्यक्त की गयी थी। इन क्षेत्रों का निर्धारण दोनों ही देशों के आयात व निर्यात हेतु प्रयुक्त वस्तुओं की सूची के आधार पर किया जाता था, परन्तु दोनों देश निर्धारित मात्रा में वस्तुओं के आयात व निर्यात की मात्रा को स्वीकार करने या प्रदान करने के लिए बाध्य नहीं थे। व्यापार समझौते की अवधि के बाद अवशेष राशि का भुगतान स्टर्लिंग पौण्ड में चुकाने या प्राप्त करने की व्यवस्था थी।

परन्तु 1958 के पश्चात सम्पन्न हुए व्यापार-समझौतों के अन्तर्गत दोनों देश एक चालू खाते की अवशेष राशि के आधार पर व्यापारिक एवं गैर-व्यापारिक सौदों का समायोजन करते हैं। इन भुगतानों में स्वर्ण या स्वर्ण में परिवर्तनीय मुद्रा का प्रयोग नहीं किया जाता। उदाहरणार्थ, यदि पोलैण्ड के साथ हुए व्यापार-समझौते के अन्तर्गत भारत पोलैण्ड से वस्तुओं का आयात करता है तो रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया में पोलैण्ड के खाते में रिजर्व बैंक पोलैण्ड के नाम उतनी राशि लिख देता है। समझौते की अवधि के समाप्त होने पर दोनों देशों के व्यापार सन्तुलन के आधार पर खातों का समायोजन हो जाता है। इस प्रकार एक समय-बिन्दु पर तो इन खातों में असन्तुलन रह सकता है परन्तु निर्दिष्ट अवधि के अन्तर्गत भारत ने पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों, विशेष रूप से सोवियत रूस, चैकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया, पोलैण्ड, पूर्वी जर्मनी, हंगरी, बुल्गारिया व रूमानिया के साथ अपने व्यापार में वृद्धि की है। ये व्यापार समझौते दीर्घकाल के लिए किये गये हैं तथा इनमें भारतीय निर्यातों के बदले निर्दिष्ट वस्तुओं के आयात का प्रावधान है। 23वें अध्याय में पूर्वी यूरोप के इन देशों के साथ भारत के आयातों व निर्यातों की प्रगति का विस्तार से वर्णन किया गया है। उसी सन्दर्भ में इन देशों के साथ किये जा रहे व्यापार की सीमाओं का भी उल्लेख किया गया है।

पोलैण्ड व बुल्गारिया के साथ भारत के मूल व्यापार भुगतान-समझौतों की अवधि 31 दिसम्बर, 1973 को समाप्त हो गयी थी। तत्पश्चात् इनकी अवधि में वृद्धि कर दी गयी थी। इसी प्रकार, कोरिया गणतन्त्र के साथ 1974 में औपचारिक समझौता किया गया। फ्रान्स, इटली व बेल्जियम के साथ व्यापार प्रलेख (protocols) भी इसी अवधि (1973-74) में सम्पन्न किये गये तथा नीदरलैण्ड्स के साथ व्यापार हेतु पत्रों का आदान-प्रदान किया गया।

5 जुलाई, 1975 को बांगला देश के साथ एक नये व्यापार-समझौते पर हस्ताक्षर किये गये। यह समझौता 28 सितम्बर, 1973 से तीन वर्ष की अवधि के लिए सम्पन्न किया गया। इस समझौते के अन्तर्गत निर्धारित मौद्रिक सीमा के भीतर दोनों ही देशों के लिए निर्दिष्ट वस्तुओं के आयात व निर्यात का प्रावधान है। यह समझौता "सन्तुलन व्यापार एवं भुगतान-व्यवस्था" के सिद्धान्त पर आधारित है और इसके अनुसार प्रत्येक देश के व्यापार का मूल्य 30.5 करोड़ रुपये होगा। इस सीमा से अधिक मूल्य के आयात व निर्यात की अनुमति निर्दिष्ट वस्तुओं के सन्दर्भ में सामान्य आयात, निर्यात एवं विदेशी विनिमय के अन्तर्गत प्राप्त की जा सकेगी।

17 दिसम्बर, 1973 को यूरोपियन आर्थिक समुदाय के साथ व्यावसायिक सहयोग समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत समुदाय के सदस्य देशों के साथ तुलनात्मक लाभ एवं पारस्परिक लाभ

के आधार पर व्यापार किये जाने का प्रस्ताव है। इन देशों के साथ जूट व नारियल-जटा की वस्तुओं के सम्बन्ध में हुए समझौतों के अनुसार इन वस्तुओं पर विद्यमान सामान्य प्रशुल्क-दरों में भारी कटौती की गयी है। ये सभी समझौते 1 अप्रैल, 1974 से लागू हो गये हैं। इस समझौते का विस्तार में वर्णन आगे किया जायगा।

बुल्गारिया के साथ 6 मार्च, 1974 को सम्पन्न नये पाँच वर्षीय व्यापार तथा भुगतान समझौते में भी सन्तुलित-व्यापार का लक्ष्य रखा गया था। इसी प्रकार, 1974 में पश्चिमी जर्मनी के सम्पन्न व्यापार-प्रलेख में नयी वस्तुओं को सम्मिलित करते हुए व्यापार-सम्बन्धों को और प्रगाढ़ बनाने पर जोर दिया गया था। इसी प्रकार भारत के मिस्र एवं यूगोस्लाविया के साथ हुए मूल समझौतों की अवधि मार्च 1973 में समाप्त हो जाने पर इन्हें पाँच वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया। मंगोलिया के साथ हमारे व्यापार-समझौतों की अवधि 13 फरवरी, 1974 को समाप्त हो जाने पर इनका भी अगले तीन वर्षों के लिए नवीनीकरण कर लिया गया। कोरिया, मंगोलिया, रूस, रूमानिया, पूर्वी जर्मनी, बुल्गारिया, पोलैण्ड, हंगरी तथा चैकोस्लोवाकिया के साथ 1964 के वार्षिक व्यापार-प्रलेखों को भी अन्तिम रूप दे दिया गया।

विदेशी व्यापार में वृद्धि करने के लिए भारत सरकार ने 1974 से 1977 के बीच विश्व के विभिन्न देशों से व्यापारिक समझौते किये जो अधिकांश में द्विपक्षीय (bilateral) व्यापार समझौते थे। व्यापार समझौतों में 'तटकर एवं व्यापार के सामान्य समझौता' (G. A. T. T.), यूरोपीय साझा बाजार (ECM) तथा यूरोपीय स्वतन्त्रता बाजार संघ (E. F. T. A.) के देशों से व्यापारिक समझौतों के अतिरिक्त पूर्वी यूरोप के देशों से किये गये समझौते विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उदाहरण के लिए, भारत-रूस तथा भारत-रूमानिया समझौते मुख्य हैं। सोवियत रूस के साथ पाँच वर्ष के लिए 15 अप्रैल, 1976 को समझौता हुआ, जो कि जनवरी 1976 से लागू माना गया। इस समझौते के अनुसार कुल व्यापार 1975 में 755 करोड़ रुपये से बढ़कर 1980 तक 935 करोड़ रुपये हो गया। दिसम्बर 1975 में रूमानिया के साथ एक व्यापार समझौता किया गया जिसका समय भी पाँच वर्ष ही था। इस समझौते के अनुसार 1980 तक कुल व्यापार 200 करोड़ रुपये तक होने की आशा थी। सितम्बर 1975 में अफगानिस्तान के साथ एक तीन वर्षीय नया समझौता किया गया। इसी प्रकार बेल्जियम, पोलैण्ड, हंगरी, चैकोस्लोवाकिया, रूमानिया, पूर्वी जर्मनी, ईराक, कोरिया, तथा फ्रान्स आदि के साथ भी विभिन्न वार्षिक व्यापार समझौते सम्पन्न किये गये।

इन सब समझौतों का उद्देश्य भारत के विदेशी व्यापार को बहुमुखी बनाना, देश में भुगतान सन्तुलन की स्थिति में सुधार करना, विभिन्न देशों से प्रत्यक्ष व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना तथा साम्यवादी देशों के लिए भारतीय व्यापार के द्वार खोलना है।

कुछ द्विपक्षीय समझौते जो भारत ने रूस, यूगोस्लाविया, चैकोस्लोवाकिया, हंगरी, पोलैण्ड, पूर्वी जर्मनी, रूमानिया तथा बुल्गारिया जैसे देशों से किये हैं, रुपये में भुगतान किये जाने वाले समझौते (rupee payments agreements) हैं। इनके साथ व्यापार में विदेशी विनिमय की कठिनाई उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि अन्ततः वस्तुओं का विनिमय वस्तुओं द्वारा ही होता है।

व्यापार विस्तार तथा आर्थिक सहयोग के समझौते जो भारत ने यूगोस्लाविया आदि देशों के साथ किये थे, जिनका समय मार्च 1973 में समाप्त हो चुका था, तदुपरान्त 5 वर्ष के लिए पुनः लागू कर दिये गये जो 31 मार्च, 1978 तक वैध थे। तत्पश्चात् इनका नवीकरण किया गया है। जुलाई 1978 में टर्की के साथ 5 वर्षीय व्यापार समझौते पर हस्ताक्षर किये गये।

1988-89 में ईरान, ईराक, हंगरी, सोवियत रूस, दक्षिणी कोरिया, जापान, ईरान, चैकोस्लोवाकिया, कुवैत, सऊदी अरब आदि देशों के साथ व्यापार बढ़ाने हेतु समझौते किये गये हैं। पाकिस्तान के साथ भी दोनों देशों के संयुक्त आयोग ने व्यापार संवर्द्धन हेतु सहमति व्यक्त की है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि विदेशी व्यापार को बढ़ाने के लिए भारत सरकार ने समय-समय पर विश्व के अनेक व्यापारिक समझौते किये हैं जो अधिकांशतः द्विपक्षीय हैं। इन समझौतों से हमें अनेक प्रकार के लाभ प्राप्त हुए हैं।

भारत के व्यापारिक सम्बन्धों की हाल की प्रवृत्तियाँ [RECENT DEVELOPMENTS IN INDIA'S COMMERCIAL RELATIONS]

सन् 1973-74 से 1976-77 में हमारे व्यापारिक सम्बन्धों में सबसे महत्वपूर्ण घटना यूरोपियन आर्थिक समुदाय से हमारा विस्तृत व्यापारिक सम्बन्ध है। ब्रिटेन को आर्थिक समुदाय की सदस्यता मिल जाने पर 1 जनवरी, 1974 से ब्रिटेन ने भी विभिन्न चरणों में सामान्य बाहरी प्रशुल्क दरें लागू करना स्वीकार कर लिया था। इससे भारत की कुछ ऐसी महत्वपूर्ण वस्तुओं के निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की आशंका थी जिन्हें प्राथमिकता के आधार पर हम अब तक ब्रिटेन को निर्यात करते थे। इसी प्रकार सितम्बर 1973 में यूरोपियन आर्थिक समुदाय से विचार-विमर्श प्रारम्भ हुआ तथा जूट, नारियल-जटा की वस्तुओं को ब्रिटेन व डेनमार्क को 1 जनवरी, 1974 के बाद भी बिना प्रशुल्क चुकाये (duty-free) निर्यात करने की छूट प्राप्त कर ली गयी। यूरोपियन समुदाय के अन्य देशों ने भी दो चरणों में इन वस्तुओं को रियायती प्रशुल्क दरों के आधार पर भारत से आयात करना स्वीकार कर लिया। 1 जनवरी, 1974 से इन दरों में 40% कटौती (कारपेट बैंकिंग पर 10%) तथा 1 जनवरी, 1975 से अन्य वस्तुओं पर विद्यमान प्रशुल्क-दरों में 20% कटौती करने हेतु इन देशों द्वारा सहमति प्रदान कर दी गयी।

प्रशुल्क-दरों में रियायतें प्राप्त करने के बाद दिसम्बर 1973 में यूरोपियन आर्थिक समुदाय एवं भारत के बीच व्यावसायिक सहयोग समझौते (Commercial Cooperation Agreements) पर हस्ताक्षर किये गये। इस समझौते के अन्तर्गत एक संयुक्त आयोग की स्थापना की गयी है जो अन्य बातों के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विद्यमान अर्द्ध-प्रशुल्क (quasi-tariff) तथा गैर-प्रशुल्क (non-tariff) बाधाओं को दूर करने के उपाय बतायेगा। इस संयुक्त आयोग के निर्देशन में दो आयोगों की नियुक्तियाँ की गयी हैं, जिनमें से एक जूट व नारियल-जटा की वस्तुओं, वस्त्रों, हस्तकला की वस्तुओं एवं हाथकर्घे के वस्त्रों के विषय में व्यापार में वृद्धि हेतु समझौतों के प्रारूप तैयार करेगा तथा दूसरा उप-आयोग सामान्यीकृत प्राथमिकता की योजना (generalized scheme of preferences) की कार्यान्विति एवं भारत द्वारा विशिष्ट वस्तुओं पर विद्यमान प्रशुल्क में कटौती के प्रतिवेदन पर विचार करने के अतिरिक्त तकनीकी सहायता एवं संयुक्त रिसर्च सहित ऐसे उपायों का अध्ययन करेगा जिससे यूरोपियन आर्थिक समुदाय एवं भारत के बीच आर्थिक सहयोग तथा व्यापार का विस्तार हो।

1975-76 में यूरोपियन आर्थिक समुदाय उपभोग्य वस्तुओं के स्थान पर भारी मात्रा में भारत को पूँजी एवं टेक्नोलॉजी के निर्यात हेतु समझौते किये गये। समुदाय के नौ देशों ने एक संयुक्त घोषणा में भारतीय जूट व नारियल-जटा की वस्तुओं के आयात-कर में 40% कटौती कर दी है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, ब्रिटेन व डेनमार्क इन वस्तुओं के आयात हेतु कोई भी प्रशुल्क न लगाने को सहमत हो गये हैं। उपर्युक्त सामान्यीकृत प्राथमिकता की योजना (GSP) में बन्द चाय तथा डिब्बों में बन्द विशिष्ट प्रकार की मछलियाँ (prawns) भी शामिल हैं।

1977-78 में भारत व ईरान के मध्य व्यापार समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत ईरान भारत को क्रूड ऑयल देकर यहाँ की प्रमुख वस्तुएँ लेगा। भारतीय नेताओं द्वारा हाल में की गयी विदेश यात्राओं के दौरान अरब देशों, नेपाल, टर्की, बुल्गेरिया, सोवियत रूस आदि से नये व्यापार समझौते किये गये हैं अथवा इनके लिए पृष्ठभूमि बना ली गयी है। सऊदी अरब के साथ अप्रैल 1982 में एक आर्थिक समझौता हुआ। भारत ने अरब-पूँजी के निवेश के साथ-साथ इसके अन्तर्गत दोनों देशों के मध्य व्यापार में भी वृद्धि की जायेगी। इनके अलावा सऊदी अरब ने भारत को 20 लाख टन क्रूड ऑयल देना स्वीकार किया है।

प्रशुल्क एवं व्यापार पर हुए सामान्य समझौते (GATT) के अन्तर्गत हुई वार्ताओं के फलस्वरूप 31 सितम्बर, 1973 को समाप्त सूती वस्त्रों से सम्बद्ध दीर्घकालीन समझौते का एक बहुरेशीय (multi-fibre) समझौते के रूप में नवीनीकरण किया गया। इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के वस्त्रों, ऊन तथा मनुष्य द्वारा निर्मित (कृत्रिम) धागों को शामिल किया गया है। यह समझौता 1 जनवरी, 1974 से चार वर्ष के लिए लागू किया गया। इस समझौते की विशेष बात यह है कि इसमें विकासशील देशों के वस्त्रों (सभी प्रकार के) के निर्यात में पर्याप्त वृद्धि हेतु अनेक विशिष्ट प्रावधान रखे गये हैं।

इनके अतिरिक्त भारत अपने व्यापारिक सम्बन्धों का और अधिक विस्तार करने हेतु समय-समय पर व्यापारिक प्रतिनिधि-मण्डलों को अन्य देशों में भेजता है तथा अन्य देशों के प्रतिनिधि-मण्डलों को यहाँ आने हेतु आमन्त्रित करता है। इन प्रतिनिधि-मण्डलों की यात्राओं से नये व्यापार-समझौतों का मार्ग प्रशस्त होता है। यह उल्लेखनीय है कि 1972-75 के तीन वर्षों में हमारे व्यापारिक प्रतिनिधि-मण्डलों ने जिन देशों की यात्रा की उनमें अमरीका, कनाडा, ब्रिटेन या फ्रान्स जैसे बड़े देशों की अपेक्षा पूर्वी एशिया के देश, मध्य एवं पश्चिमी एशिया के देश, पूर्वी यूरोप के देश, लैटिन अमरीकी देश तथा पूर्वी एवं मध्य अफ्रीका के देश शामिल हैं। दूसरे शब्दों में, हम बड़े व धनी देशों पर अपनी निर्भरता को कम करके विकासशील एवं अपेक्षाकृत कम धनी देशों के साथ अपने व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाने हेतु प्रयत्नशील हैं।

1 अप्रैल, 1976 को यूरोपियन आर्थिक समुदाय (EEC) के देश इस बात से सहमत हो गये थे कि 1 जुलाई, 1975 से जूट की वस्तुओं पर 20% तटकर की कटौती कर दी जायेगी तथा अन्य वस्तुओं पर भी तटकर की कटौती का आश्वासन दिया गया। जुलाई 1976 से जनवरी 1978 के बीच चार अवस्थाओं में बचे हुए तटकर को समाप्त करने का भी निश्चय किया गया।

व्यापार बढ़ाने हेतु अन्य संस्थाओं का योगदान
[CONTRIBUTION OF OTHER INSTITUTIONS TO INCREASE TRADE]

उपर्युक्त संस्थाओं एवं व्यापार के विस्तार हेतु किये गये प्रयत्नों (व्यापार समझौतों सहित) के अतिरिक्त पिछले कुछ वर्षों में भारत सरकार ने विदेशी व्यापार एवं विशेष रूप से हमारे निर्यातों में वृद्धि हेतु कुछ अन्य संस्थाओं की स्थापना भी की है। इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि निर्यात-संवर्द्धन के इन प्रयासों में निजी क्षेत्र (Private Sector) का पूरा सहयोग प्राप्त हो। इन संस्थाओं में व्यापार-मण्डल (Board of Trade), व्यापार विकास अधिकरण (TDA), भारतीय निर्यात संस्था संघ (Federation of Indian Export Organizations), 17 निर्यात-संवर्द्धन परिषदें, 6 वस्तुओं से सम्बद्ध बोर्ड (चाय, कॉफी, इलायची, रबड़, नारियल, जटा एवं रेशम), प्रतिष्ठित निर्यात प्रतिष्ठान, इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ फॉरेन ट्रेड, निर्यात निरीक्षण परिषद् एवं भारतीय मध्यस्थता (Arbitration) परिषद् प्रमुख हैं। ये संस्थाएँ विभिन्न प्रकार के सर्वेक्षणों, क्वालिटी-नियन्त्रण, वस्तुओं के विकास, निर्यात की विधि एवं तौर-तरीकों में सुधार, भारतीय वस्तुओं की विदेशी माँग में वृद्धि हेतु प्रचार एवं निर्यातकर्ताओं को विभिन्न प्रकार की सेवाएँ प्रदान करने में संलग्न हैं। व्यापार विकास अधिकरण निम्न तरीकों द्वारा भारतीय वस्तुओं के निर्यात बढ़ाने में सहायता करता है :

(1) **गैर-परम्परागत वस्तुओं का निर्यात बढ़ाना**—इनमें 22 वस्तु समूह हैं जिनके निर्यात हेतु अधिकरण सरकार को कच्चे माल की उपलब्धि में एवं नकदी सहायता के लिए सुझाव देता है ताकि ये गैर-परम्परागत वस्तुएँ अधिकाधिक मात्रा में विकसित देशों को निर्यात की जा सकें।

(2) **नये बाजारों की खोज करना**—विशेष तौर पर व्यापार विकास अधिकरण पश्चिम के विकसित देशों एवं मध्यपूर्व के देशों से निर्यात बढ़ाने हेतु प्रयास करता है।

(3) निर्यात योग्य वस्तुओं का चुनाव करना तथा ऐसी इकाइयों को प्रोत्साहन देना जो अभी तक निर्यात नहीं कर पायी हैं।

(4) बाजार सम्बन्धी सूचनाओं को एकत्रित करना एवं निर्यातकर्ताओं को इन्हें उपलब्ध कराना।

(5) निर्यात योग्य वस्तुओं की क्वालिटी में सुधार करना तथा विभिन्न वस्तुओं को विदेशी माँग के अनुरूप तैयार करना।

(6) निर्यात-योग्य वस्तुओं के उत्पादन की क्षमता में विकास हेतु सहायता करना तथा तत्सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करना, तथा

(7) निर्यातकर्ताओं को मार्ग-दर्शन देना तथा उन्हें नये सम्पर्क-सूत्र खोजने में सहायता देना।

इसी दिशा मे सरकार ने हाल ही मे लेटिन अमरीकी देशो के साथ व्यापार बढाने की सम्भावनाओं का पता लगाने एव तत्सम्बन्धी कार्यवाही करने हेतु वाणिज्य मन्त्रालय के अन्तर्गत एक विशेष कोष्ठ की स्थापना की है।

भारत का आयात-निर्यात बैंक[1]
[EXIM BANK OF INDIA]

यद्यपि निर्यात-सवर्द्धन हेतु हाल के दशको मे सरकार ने काफी प्रयास किये हैं, तथापि देश मे आयात-निर्यात की वित्त-व्यवस्था हेतु कोई ऐसी सस्था नहीं थी जो व्यापार की बढती हुई वित्तीय आवश्यकता को पूरा कर पाती। इसी उद्देश्य को पूरा करने हेतु 1 मार्च, 1982 को निर्यात-आयात बैंक (एक्सिम बैंक) की स्थापना की गयी।

एक्सिम बैंक की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य निर्यात मे वृद्धि तथा निर्यात की जाने वाली वस्तुओ के लिए आवश्यक कच्चे माल के आयात को सुविधाजनक बनाना है। वह निर्यात व आयात व्यापार मे सलग्न व्यापारियो को वित्तीय सहायता प्रदान करता है। यह उन वित्तीय सस्थाओ (बैंको आदि) को भी वित्तीय सहायता देता है जो विदेशी व्यापार हेतु ऋण प्रदान करती है। प्राय व्यापारिक बैंक आयातको व निर्यातको को अल्पकालीन ऋण देते हैं जबकि एक्सिम बैंक मध्यम व दीर्घकालीन ऋण प्रदान करता है। इसके लिए बैंक ने अपने कार्यक्रम व स्कीमे प्रारम्भ की हैं।

1983 मे जहाँ एक्सिम बैंक द्वारा स्वीकृत ऋणो की कुल राशि 287 2 करोड रुपये थी, 1988-89 (15 माह) मे इसने 1,063 करोड रुपये के ऋण स्वीकृत किये जिसमे से 913 करोड रुपये की राशि का वास्तविक उपयोग किया गया। 31 मार्च, 1989 को एक्सिम बैंक द्वारा प्रदत्त ऋणों की बकाया राशि 935 करोड रुपये तक पहुँच गयी थी। 1988-89 के 15 माह मे एक्सिम बैंक को 28 4 करोड रुपये का लाभ हुआ।

कुछ वर्ष पूर्व सामुद्रिक वस्तुओ के लिए एक अधिकरण (Marine Products Export Development Authority) की स्थापना की गयी, जो इन वस्तुओ के निर्यात-सवर्द्धन हेतु प्रयत्नशील है। इसी प्रकार भारतीय चलचित्रो के निर्यात हेतु एक निगम की स्थापना की गयी है। साताक्रुज, बम्बई मे एक्सपोर्ट प्रोसेसिंग जोन स्थापित किया गया है जो इलैक्ट्रोनिक सामग्री एव सम्बद्ध पुर्जों के निर्यात-सवर्द्धन हेतु कार्य करेगा। अन्तर्राष्ट्रीय मेलो एव प्रदर्शनियो में भारतीय वस्तुओ के प्रचार-प्रसार हेतु केन्द्रीय सरकार का प्रदर्शनी व व्यापारिक प्रचार निदेशालय पिछले कुछ वर्षों से सराहनीय कार्य कर रहा है। इन मेलो मे भाग लेने हेतु निदेशालय को भारतीय व्यापारिक मेलों व प्रदर्शनियो से सम्बद्ध परिषद (Council of Trade Fairs and Exhibitions) का पूरा सहयोग प्राप्त होता है। विभिन्न निर्यात-सवर्द्धन परिषदें एव वस्तु-बोर्ड (Commodity Boards) भी विशिष्ट मेलो मे भाग लेकर भारतीय वस्तुओ का प्रचार करते हैं। महत्वपूर्ण व्यावसायिक केन्द्रो मे स्थापित शो-रूम एव कार्यालय भी निर्यात योग्य वस्तुओं का विदेशों मे प्रचार करते है। हाल ही मे नयी दिल्ली में हुई प्रदर्शनी ने भी भारतीय वस्तुओ की लोकप्रियता मे काफी वृद्धि की है।

प्रश्न एवं उनके संकेत

1. हाल के वर्षों मे भारत के निर्यातों में वृद्धि हेतु कौन-कौन से प्रयास किये गये हैं ? इन प्रयासों मे हमें कहाँ तक सफलता मिली है ?

   What efforts have been made in recent years to increase India's exports ? How far these measures have been successful ?

   [सकेत—पिछले दो दशको में देश मे अनेक ऐसी सस्थाओ का निर्माण किया गया है जो देश के निर्यात व्यापार मे वृद्धि हेतु महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत कर रही हैं। इस अध्याय में प्रस्तुत सामग्री के आधार पर इन सस्थाओ, विशेष रूप से राज्य व्यापार निगम एव इसकी सहायक सस्थाओं की प्रगति का विवरण दें। सक्षेप में, इनकी सीमाओ का वर्णन भी करें।

---

1 *Financial Express*, August 30, 1989.

अन्त में, निर्यात-संवर्द्धन से सम्बन्धित अन्य संस्थाओं के योगदान पर भी संक्षेप में प्रकाश डालें ।]

2. **राज्य व्यापार निगम के कार्यों, प्रगति एवं सीमाओं का विवरण देते हुए एक निबन्ध लिखिए।**
Write an essay, giving a detailed account of the functions, progress and limitations of the State Trading Corporation.
[**संकेत**—प्रश्न स्पष्ट है। विद्यार्थियों को चाहिए कि वे राज्य व्यापार निगम के उद्देश्यों, कार्यों तथा प्रगति का विवरण देते समय उपयुक्त आँकड़ों का उपयोग अवश्य करें। अन्त में, संक्षेप में, इस निगम की सीमाओं का विवरण दिया जाना चाहिए।]

3. **विदेशी व्यापार को बढ़ाने हेतु भारत ने हाल ही में कौन-कौन से प्रमुख व्यापार समझौते किये हैं ?**
What are the recent trade agreements of India to promote its foreign trade ?
[**संकेत**—इस प्रश्न के उत्तर में पहले व्यापार-समझौतों के उद्देश्य बताइए। इसके बाद यह बताइए कि पूर्वी यूरोप एवं यूरोपियन आर्थिक समुदाय के साथ हमारे व्यापार-समझौते की क्या विशेषतायें रही हैं। इसके अतिरिक्त बांगला देश व कोरिया के साथ हुए हाल के व्यापार-समझौतों का भी विवरण दें।]

4. **निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :**
   (i) राज्य व्यापार निगम,
   (ii) खनिज एवं धातु व्यापार निगम,
   (iii) यूरोपियन आर्थिक समुदाय एवं भारत का विदेशी व्यापार, तथा
   (iv) निर्यात-संवर्द्धन परिषदें तथा वस्तु-बोर्ड।
   Write short notes on :
   (i) State Trading Corporation,
   (ii) Minerals and Metals Trading Corporation,
   (iii) European Economic Community and India's Foreign Trade, and
   (iv) Commodity Board and Export Promotion Councils.

26

भारत की प्रशुल्क-नीति तथा उद्योगों को संरक्षण

[INDIA'S TARIFF POLICY AND PROTECTION TO INDUSTRIES]

प्रशुल्क-नीति का अर्थ किसी देश के निर्यात तथा आयात पर लगाये जाने वाले करो के सम्बन्ध म निर्धारित की जाने वाली नीति से है। इसमें प्राय आयात करो की ही प्रधानता होती है, यद्यपि समय समय पर निर्यात-कर भी लगाये जाते हैं।

किसी भी देश के औद्योगिक विकास पर न केवल राज्य की औद्योगिक नीति का प्रभाव होता है, अपितु राज्य की प्रशुल्क-नीति का भी गहरा प्रभाव पडता है। यदि देश की सरकार उद्योगो की वाह्य प्रतियोगिता (foreign competition) से रक्षा करने मे असमर्थ है अथवा उद्योगो की बाहरी प्रतियोगिता से रक्षा करना नहीं चाहती तो यह सम्भव है कि देश के बाजारो म विदेशी वस्तुएँ अत्यधिक मात्रा मे उपलब्ध हो और देश के उद्योगो की प्रगति पूर्णत अवरुद्ध हो जाय।

यदि देश की सरकार मुक्त व्यापार नीति (Free Trade Policy) को मान्यता देती है तो देश के उद्योगों के सरक्षण हेतु प्रशुल्क-नीति की कोई आवश्यकता नही होती। दुर्भाग्य से भारत मे दीर्घकाल तक ब्रिटिश राज्य रहा है। ब्रिटिश सरकार ने 19वी शताब्दी मे भारत के लिए इसी प्रकार की नीति (मुक्त व्यापार नीति) अपनायी और इसके फलस्वरूप देश के उद्योगो को जो 19वी शताब्दी के अन्त तक शैशवावस्था मे ही थे विदेशी कम्पनियो तथा विदेशी उद्योगपतियो से खुले सघर्ष के लिए छोड दिया गया। यहाँ तक कि अनेक भारतीय विद्वानो ने भी 19वीं शताब्दी तथा 20वी शताब्दी के प्रारम्भ म कई वर्षों तक राज्य की मुक्त व्यापार नीति का अनुमोदन किया, यद्यपि उन्होने यह भी स्वीकार किया कि इस प्रकार की नीति भारतीय उद्योगो के विकास मे बाधक होगी। श्री गोपालकृष्ण गोखले का 9 मार्च, 1911 को इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउन्सिल के समक्ष दिया गया भाषण इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।[1]

स्वतन्त्रता से पूर्व की प्रशुल्क-नीति
[TRIFF POLICY BEFORE INDEPENDENCE]

यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने मुक्त व्यापार नीति के आधार पर भारतीय उद्योगो को कोई सहायता प्रदान नहीं की परन्तु 19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध म जैसे-जैसे सरकार को अधिक राजस्व की आवश्यकता हुई वैसे-वैसे विदेशी वस्तुओ के आयात पर कर लगाये गये। अत. केवल राजस्व के दृष्टिकोण से ही कुछ आयात एव निर्यात कर लगाये गये। आयात कर लगाते समय यह ध्यान रखा गया कि कोई ऐसा कर न लगाया जाये जिससे भारत के उद्योगो को सरक्षण मिले और यदि ब्रिटेन म उत्पादित किसी वस्तु पर कर लगाने की आवश्यकता पड ही जाये तो भारतीय उत्पादन पर भी उतना ही उत्पादन कर लगा दिया जाये। सूत, सूती वस्त्र, लौह वस्तुएँ, शक्कर, तम्बाकू आदि वस्तुओ पर 1859 के पश्चात् 3½ प्रतिशत से लेकर 10% तक आयात-कर लगाये गये। 1871 के प्रशुल्क अधिनियम के अन्तर्गत इन करो को वैधानिक रूप दे दिया गया। यद्यपि ये आयात-कर सेना की बढती हुई आवश्यक्ताओं की पूर्ति हेतु लगाये गये थे, तथापि इनका आग्ल

1 *The Speeches and Writings of G K Gokhale*, Vol I, pp 331-32

व्यापारियों व उद्योगपतियों ने यह कहकर विरोध किया कि ये वस्तुतः संरक्षणात्मक कर थे। 1875 में भारत के तत्कालीन वाइसराय लॉर्ड नॉर्थब्रुक ने नील, चावल व लाख के अतिरिक्त सभी वस्तुओं पर से निर्यात-कर हटा दिये और अनेक वस्तुओं पर आयात-करों में वृद्धि कर दी ताकि भारतीय उद्योग विकास कर सकें। परन्तु मैन्चेस्टर व अन्य क्षेत्रों के वस्त्र निर्माताओं ने इन करों का विरोध किया तथा 1882 में सर एविलन बारिंग ने समस्त आयात-करों को समाप्त कर दिया एवं पूर्ण रूप से निर्बाध नीति की घोषणा कर दी।

1894 में पुनः आर्थिक संकट होने के कारण सूती वस्त्र व अन्य वस्तुओं के आयात पर 5%, इस्पात के आयात पर 1% व पैट्रोल पर 1 पैसा प्रति गैलन के हिसाब से कर लगाये गये। रेलों के सामान, औद्योगिक व कृषि-यन्त्र, कोयला आदि पर आयात-कर नहीं थे। लेकिन इन आयात-करों का लाभ भारतीय उद्योगपति नहीं उठा सके क्योंकि भारत में भी सूती वस्त्र के उत्पादन पर 5% उत्पादन-कर लगा दिया गया था। फलस्वरूप भारतीय वस्त्र उद्योग, जो 19वीं शताब्दी का एकमात्र वृहत् स्तरीय उद्योग था, विकास नहीं कर सका। 20वीं शताब्दी में भी काफी समय तक ब्रिटिश सरकार की भारतीय उद्योगों के प्रति नीति उदासीनतापूर्ण रही। यद्यपि 1911 में एक प्रस्ताव द्वारा शक्कर के आयात पर कर बढ़ाने का प्रयास इस उद्देश्य से किया गया कि इससे भारतीय चीनी मिलों को प्रगति करने का अवसर मिलेगा, परन्तु मुक्त व्यापार के समर्थकों ने इस प्रस्ताव को अधिनियम के रूप में पारित नहीं होने दिया।[1] अतः स्पष्ट है कि उस समय की प्रशुल्क-नीति का सामान्य लक्ष्य यह था कि इंगलैण्ड का बना हुआ माल भारत में अधिक से अधिक बिक सके और उसके बदले में इंगलैण्ड को भारत का कोई भी तैयार माल लेना न पड़े। अपने तैयार माल के बदले में इंगलैण्ड की नीति भारत के कच्चे माल और खाद्यान्नों को कम मूल्य पर प्राप्त करने की थी।

इस प्रतिकूल स्थिति में भी प्रथम महायुद्ध-काल में भारतीय उद्योगों ने आशातीत विकास किया। अगस्त 1917 में मॉण्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों (Montague-Chelmsford Reforms) के अन्तर्गत भारतीयों को स्वनिर्णय का अधिकार मिला। युद्ध के पश्चात् भारत को 1919 में राजकोषीय स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त स्वदेशी आन्दोलन तथा जर्मनी, जापान व अमरीका से बढ़ती हुई स्पर्धा ने ब्रिटिश सरकार को अपनी प्रशुल्क-नीति पर पुनर्विचार करने को बाध्य कर दिया। सामान्य आयात-कर जो 1917 में $7\frac{1}{2}\%$ तक बढ़ा दिया गया था, 1921 में बढ़कर 11% कर दिया गया। शक्कर तथा विलासिता की वस्तुओं पर आयात-कर क्रमशः 15% व 20% कर दिया गया। 1922 में आयातित वस्तुओं की आयात-कर की दृष्टि से 6 श्रेणियाँ थीं :[2]

(i) प्रथम श्रेणी में कर-मुक्त वस्तुएँ थीं।

(ii) द्वितीय श्रेणी में शक्कर, मछली, शराब, कोयला, चांदी, खनिज तेल, तम्बाकू सूत व सूती वस्त्र तथा हथियार थे, जिन पर विशिष्ट कर (specific duties) लगाये गये थे।

(iii) अनाज, दालों व कुछ मशीनों पर आयात-कर $2\frac{1}{2}\%$ था।

(iv) लौह एवं इस्पात की कुछ वस्तुओं (रेल की पटरियाँ, प्लाण्ट व रोलिंग स्टॉक को मिलाकर) पर 10% आयात-कर था।

(v) अन्य वस्तुओं पर (विलासिता की वस्तुओं के अतिरिक्त) कर की दर 15% थी, तथा

(vi) विलासिता की वस्तुओं पर 30% आयात-कर था।

इसी समय कच्चे माल, जूट, खालों, चावल व चाय पर निर्यात-कर लगाये गये। परन्तु इन सब करों के पीछे भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन देने की भावना निहित होने पर भी संरक्षण की कोई विशिष्ट नीति 1922 तक निर्धारित नहीं की गयी। फरवरी 1921 में प्रशुल्क स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पारित किया गया जिसके अनुसार अक्टूबर 1921 में सरकार ने सर इब्राहीम रहीमतुल्ला की अध्यक्षता में प्रथम राजकोषीय आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग ने 1922 के अन्त में भारत के औद्योगिक विकास की धीमी गति पर खेद प्रकट करते हुए घरेलू उद्योगों को विभेदात्मक संरक्षण (discriminating protection) देने की अपील की। आयोग ने सुझाव दिया कि

1 *Ibid* pp. 333-339
2 Vera Anstey, *The Economic Development of India*, p. 348

सरक्षण विवेकपूर्वक दिया जाना चाहिए, ताकि उसका भार देश की जनता पर कम से कम पड़े। अत यह कहा जा सकता है कि प्राशुल्किक स्वतन्त्रता का प्रस्ताव भारतीय प्रशुल्क-नीति की आधारशिला थी।

विवेचनात्मक सरक्षण
(Discriminating Protection)

जैसा कि ऊपर बताया गया है, 1921 मे भारत सरकार ने भारतीय उद्योग-धन्धो के सरक्षण हेतु सर इब्राहीम रहीमतुल्ला की अध्यक्षता मे एक 'राजकोषीय आयोग' (Fiscal Commission) की नियुक्ति की। इस आयोग को मुख्यत दो बातो पर विचार करने का आदेश दिया गया :

(i) भारत की प्रशुल्क या तटकर नीति क्या होनी चाहिए?

(ii) साम्राज्यीय अधिमान या प्राथमिकता (Imperial Preference) के सिद्धान्तों के सम्बन्ध मे क्या किया जाना चाहिए?

प्रशुल्क आयोग ने 1922 म अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। आयोग के मतानुसार भारत मे नये उद्योगो की स्थापना करने और पुराने उद्योगों का विकास करने के लिए सरक्षण प्रदान करना आवश्यक था। यहाँ पर आयोग ने अपनी रिपोर्ट मे उद्योग धन्धों की उन्नति के लिए विवेचनात्मक (discriminating) सरक्षण की नीति पर जोर दिया। इसका अर्थ यह था कि बिना सोचे-समझे सरक्षण नही दिया जाना चाहिए बल्कि केवल उन्ही उद्योगो को सरक्षण दिया जाना चाहिए जो इनके लिए योग्य हो अर्थात् निर्धारित शर्तों को पूरा करते हो। इसके लिए आयोग ने तीन बातें निश्चित की जिन्हे **त्रिमुखी सूत्र (Triple Formula)** कहते हैं। इन तीन बातो के आधार पर सरक्षण के योग्य उद्योगो का चुनाव किया जा सकता है। इस सूत्र की तीन बातें निम्नलिखित हैं

(1) प्राकृतिक साधनों की उपलब्धि—जिन उद्योगो के लिए कच्चा माल, शक्ति के सस्ते साधन, श्रम तथा उत्पादित वस्तुओ के लिए यथोचित बाजार देश मे ही उपलब्ध हों, उन उद्योगों को प्राथमिकता के आधार पर सरक्षण दिया जाना चाहिए। यदि देश मे उपर्युक्त सुविधाएँ उपलब्ध न हो तो उद्योगो के समाज पर भार बन जाने का भय है, अत पर्याप्त प्राकृतिक साधनो के अभाव मे उद्योग को सरक्षण नही दिया जाना चाहिए।

(2) राष्ट्रीय हित—*किसी उद्योग को सरक्षण देते समय जिस दूसरे सिद्धान्त का ध्यान* रखा जाना चाहिए, वह है 'राष्ट्रीय हित'। यदि उद्योग ऐसा है जिसका विकास राष्ट्रीय हित म आवश्यक है किन्तु उसे विदेशी स्पर्द्धा से बचाये बिना उसका विकास सम्भव नही है, तो भी सरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए।

(3) *सरक्षण अस्थायी हो*—*आयोग की तीसरी सिफारिश यह थी कि सरक्षण सोच समझ*कर दिया जाना चाहिए। अन्तत सरक्षण का उद्देश्य उद्योगो को सुदृढ़ स्थिति मे रखना होना चाहिए ताकि यह बिना सरक्षण के भी कुछ वर्ष बाद अपने पैरों पर खड़ा हो सके तथा विदेशी *प्रतियोगिता का सामना कर सके।*

इसके *अतिरिक्त प्रशुल्क आयोग ने कुछ अन्य सुझाव भी दिये जिनको सरक्षण* देते समय ध्यान मे रखा जाना आवश्यक था। ये बातें निम्नलिखित थीं :

(i) जो उद्योग कम लागत पर वस्तु बनाने की स्थिति मे हो उन्हें सरक्षण देने मे प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

(ii) *आधारभूत एव सुरक्षा-उद्योगों को सरक्षण प्रदान किया जाय।*

(iii) राशिपातन (dumping) के विरुद्ध सुरक्षा के लिए भी सरक्षण दिया जाना चाहिए।

(iv) आयोग ने एक स्थायी प्रशुल्क-मण्डल की स्थापना का भी सुझाव दिया।

(v) साम्राज्यीय अधिमान के सम्बन्ध मे आयोग ने स्पष्ट शब्दो मे सिफारिश की कि ब्रिटेन से *आने वाले माल को विशेष छूट दी जानी चाहिए तथा राष्ट्रमण्डल के अन्य देशों* से होने वाले आयात को समान आधार पर सुविधाएँ दी जानी चाहिए।

विवेचनात्मक संरक्षण की व्यावहारिक सफलताएँ

(1) **प्रशुल्क-मण्डल की स्थापना**—प्रशुल्क आयोग की सिफारिशों पर सरकार ने 1923 में विवेचनात्मक संरक्षण की नीति को कार्यान्वित करने के लिए एक प्रशुल्क-मण्डल की नियुक्ति की। प्रारम्भ में इसका कार्यकाल एक वर्ष रखा गया, किन्तु बाद में इसका कार्यकाल एक-एक वर्ष बढ़ता गया। 1923 और 1939 के बीच प्रशुल्क-मण्डल ने 51 जाँचें की। सरकार ने 45 उद्योगों के सम्बन्ध में उसकी सिफारिशों को मान लिया और 6 उद्योगों के सम्बन्ध में उसके सुझाव अस्वीकार कर दिये।

प्रशुल्क-मण्डल के सुझावों के अनुसार देश की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए सरकार ने कुछ महत्वपूर्ण उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया। लोहा एवं इस्पात उद्योग को 1924 में, कागज उद्योग को 1925 में, सूती वस्त्र उद्योग तथा चाय की पेटियाँ बनाने वाले उद्योग को 1927 में, दियासलाई उद्योग को 1928 में, नमक उद्योग, भारी रसायन उद्योग, मैगनीशियम क्लोराइड उद्योग और सुनहरे तार बनाने वाले उद्योग को 1931 में, रेल के डिब्बे, लोहे के तार एवं कीलें और चीनी उद्योगों को 1932 में तथा कृत्रिम उद्योग को 1934 में संरक्षण प्रदान किया गया।

यह संरक्षण दीर्घकाल तक विद्यमान रहा और जब ये उद्योग अपने आप पनपने की स्थिति में हो गये, तभी इन पर से संरक्षण हटाया गया। सूती वस्त्र उद्योग, कागज उद्योग, लोहा एवं इस्पात उद्योग पर से 1947 में, चीनी उद्योग पर से 1950 में, दियासलाई उद्योग पर से 1965 में, नमक, मैगनीशियम क्लोराइड और सुनहरे तार बनाने वाले उद्योगों पर से 1945 में तथा कृत्रिम रेशम उद्योग पर से 1958 में संरक्षण हटाया गया।

(2) **औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि**—1923 से 1939 के बीच संरक्षण उद्योगों के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई। इस्पात का उत्पादन आठ गुना, सूती वस्त्र का $2\frac{1}{2}$ गुना, दियासलाई बक्सों के उत्पादन में 38%, कागज उत्पादन में 180% एवं चीनी के उत्पादन में 300% वृद्धि हुई।

(3) **नये उद्योगों की स्थापना**—भारत में अनेक छोटे या सहायक उद्योग संरक्षण की छाया में ही स्थापित और विकसित हुए। इन उद्योगों में कृषि-औजार, इन्जीनियरिंग, टिन प्लेट, रसायन आदि उद्योगों के नाम उल्लेखनीय हैं।

(4) **रोजगार में वृद्धि**—संरक्षण के परिणामस्वरूप पुराने उद्योगों का विस्तार हुआ और नये उद्योगों की स्थापना हुई। इसके फलस्वरूप रोजगार में भी वृद्धि हुई। 1923 में संरक्षित उद्योगों में श्रमिकों की संख्या 5 लाख 80 हजार थी, जो 1939 में बढ़कर 8 लाख 31 हजार हो गयी अर्थात् रोजगार में 46.8% की वृद्धि हुई।

(5) **कृषि का विकास**—संरक्षण की नीति का कृषि पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ा। सूती वस्त्र उद्योग तथा चीनी उद्योग को संरक्षण मिलने के फलस्वरूप कपास व गन्ने के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई क्योंकि संरक्षण की अवधि में कच्चे माल की माँग में भी वृद्धि की गयी। लम्बे रेशे वाली कपास के उत्पादन को विशेष प्रोत्साहन मिला। कपास की मात्रा व किस्म दोनों में ही सुधार हुआ। गन्ने की खेती का क्षेत्र विस्तृत होने के साथ-साथ प्रति एकड़ उपज में भी वृद्धि हुई।

(6) **मन्दी का दृढ़तापूर्वक सामना**—उद्योगों के महान् मन्दी के समय (1929-30) में संरक्षित उद्योग न केवल इस महान् मन्दी का सामना करने में समर्थ हुए, वरन् इस महान् औद्योगिक संकट में उनका विकास भी हुआ।

विवेचनात्मक संरक्षण की नीति की आलोचनाएँ

प्रो. कुच्छल (Kuchhal) ने विवेचनात्मक संरक्षण की नीति में निम्न दोष बताये हैं :[1]

(1) **सीमित दृष्टिकोण**—सरकार द्वारा निजी उद्योगों को भी सहायता करने का विचार किया गया। उन्हें केवल आयात-कर लगाकर ही संरक्षण प्रदान किया गया। वास्तव में सरकार ने

1. S. C. Kuchhal, *Indian Economy*, pp. 149-51.

औद्योगिक विकास का दृष्टिकोण नहीं अपनाया बल्कि देशी उद्योगों को केवल विदेशी माल की प्रतिस्पर्धा से बचाने मात्र का प्रयत्न किया। इस प्रकार संरक्षण को सामान्य आर्थिक विकास का साधन बनाने की अपेक्षा केवल कुछेक उद्योगों के विकास का ही उपकरण बना दिया गया।

(2) त्रिमुखी सूत्र दोषपूर्ण—आयोग द्वारा जो त्रिमुखी सूत्र प्रस्तावित किया गया था, वह स्वयं दोषपूर्ण था क्योंकि किसी आयोग से सम्बन्धित सभी सुविधाएँ उपलब्ध होने पर उसे संरक्षण की आवश्यकता ही क्यों होगी ?

(3) शर्तों का पालन करना असम्भव—प्रशुल्क आयोग ने संरक्षण प्रदान करने के लिए जिन तीन सिद्धान्तों के आधार पर उद्योग का चुनाव करने का सुझाव दिया, उनका अक्षरश: पालन करना असम्भव था। इसी प्रकार संरक्षण की अवधि के विषय में प्रशुल्क आयोग निश्चित रूप से बताने में समर्थ नहीं था।

(4) अस्थायी प्रशुल्क मण्डल—राजकोषीय आयोग ने एक स्थायी प्रशुल्क-मण्डल बनाने का सुझाव दिया था परन्तु सरकार ने केवल आवश्यकता पड़ने पर ही अस्थायी मण्डलों की नियुक्ति की। प्रो. अदारकर के मतानुसार सरकार का यह दृष्टिकोण वस्तुतः मुक्त व्यापार नीति में ही सरकार की आस्था का प्रतीक है।

*(5) **सरकार का नियन्त्रण**—प्रशुल्क मण्डलों की गतिविधियों को सरकार ने नियन्त्रित रखा* और फलतः औद्योगिक विकास के प्रति इन मण्डलों का दृष्टिकोण प्रगतिशील न हो सका।

(6) ब्रिटेन को लाभ—विवेचनात्मक संरक्षण की नीति के अन्तर्गत यद्यपि भारतीय माल को जापान, जर्मनी तथा अन्य विदेशी माल की प्रतिस्पर्धा से रक्षा हुई तथापि इस नीति में ब्रिटिश व्यापार को अत्यधिक लाभ हुआ, क्योंकि ब्रिटेन के माल पर साम्राज्यीय अधिमान नीति के अन्तर्गत नीची दर से आयात कर लगाये गये।

(7) नये उद्योगों को विशेष सहायता प्राप्त नहीं हुई—वास्तव में इस नीति के अन्तर्गत नये उद्योगों की पूर्णतः उपेक्षा कर दी गयी।

(8) द्वितीय महायुद्ध-काल में संरक्षणात्मक आयात-कर प्रभावहीन हो गये थे।

(9) निर्णय की देरी—संरक्षण-नीति को कार्यान्वित करने में बड़ा समय लगता था। प्रशुल्क-मण्डल के पास प्रार्थना पत्र भेजने, मण्डल द्वारा जाँच-पड़ताल करने तथा मण्डल के सुझावों को सरकार द्वारा स्वीकार करने आदि में काफी समय लगता था।

द्वितीय विश्व-युद्ध एवं प्रशुल्क-नीति
[WORLD WAR II AND TARIFF POLICY]

भारतीय उद्योगों को द्वितीय महायुद्ध ने बहुत प्रोत्साहित किया। इस अवधि (1939-1954) में बहुत से नये उद्योगों को प्रारम्भ किया गया। युद्ध की समाप्ति से कुछ समय पूर्व ऐसी *आशंका होने लगी थी कि बिना संरक्षण के वे सभी उद्योग युद्ध के पश्चात् नष्ट हो जायेंगे जिनको* द्वितीय विश्व युद्ध में ही आरम्भ किया गया था, और जो तब तक शैशवावस्था में ही थे। अप्रैल 1945 में युद्ध-काल में प्रारम्भ किये गये उद्योगों को संरक्षण के विषय पर उनके विचार प्रस्तुत *करने को आमन्त्रित किया गया। 3 नवम्बर, 1945 को दो वर्ष के लिए* **अन्तरिम प्रशुल्क-मण्डल** (Interim Tariff Board) को इन सभी उद्योगों के प्रतिवेदन सौंप दिये गये। नयी नीति के तीन सिद्धान्त इस प्रकार रखे गये :

(1) संरक्षण के द्वारा देश के प्राकृतिक साधनों का इष्टतम उपयोग होगा तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी।

(2) देश प्रतिरक्षा के लिए दृढ़तापूर्वक तैयार होगा।

(3) उच्चस्तरीय एवं स्थायी रोजगार की व्यवस्था की जायगी।

ऐसा निर्णय किया गया कि इन शर्तों की पूर्ति होने पर ही बोर्ड संरक्षण की प्रकृति, मात्रा तथा अवधि का निर्णय करेगा। इस बोर्ड के दो वर्षों के कार्यकाल में 49 उद्योगों ने संरक्षण की माँग की जिनमें से 42 को संरक्षण दिया गया। इनमें चार उद्योग (सूती वस्त्र, इस्पात, कागज तथा चीनी) पुराने उद्योग थे तथा शेष 38 उद्योग विश्व युद्ध के समय में स्थापित किये गये नये

उद्योग थे। परन्तु अन्तरिम प्रशुल्क-मण्डल सुविधाओं के अभाव में उचित रूप में कार्य नहीं कर सका।

देश के विभाजन के बाद नवम्बर 1947 में उपर्युक्त प्रशुल्क-मण्डल का पुनर्गठन किया गया। इसका कार्यकाल 3 वर्ष रखा गया। अन्तरिम तटकर-बोर्ड के अधिकारों के अतिरिक्त इसे दो अधिकार और दिये गये—(1) सरकार को आवश्यकता पड़ने पर यह बताना कि आयातित वस्तुओं की अपेक्षा संरक्षण प्राप्त वस्तुओं की लागतें क्यों तथा किस समय से बढ़ रही हैं ? एवं (2) आवश्यकता पड़ने पर लागत-व्यय को कम करने के लिए आवश्यक सुझाव देना। इस प्रकार प्रशुल्क-मण्डल को उद्योगों की प्रगति तथा उत्पादन स्थिति पर निगरानी रखने का अधिकार दिया गया। इस प्रमण्डल ने बहुत-से उद्योगों की जाँच की तथा उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया। इस मण्डल ने 1950 तक 38 उद्योगों को पहली बार संरक्षण प्रदान करने तथा 22 उद्योगों को संरक्षण जारी रखने की सिफारिश की। लेकिन यह सब अस्थायी प्रबन्ध था और वास्तविक प्रशुल्क नीति का प्रारम्भ 1950 से हुआ।

नवीन प्रशुल्क-नीति
[NEW TARIFF POLICY]

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश की आर्थिक नीतियों में परिवर्तन किया गया। भारत में लोक-कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की स्थापना का लक्ष्य रखा गया तथा नियोजित आर्थिक विकास (Planned Economic Development) की नीति अपनायी गयी। पंचवर्षीय योजनाओं में औद्योगीकरण को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। अप्रैल 6, 1948 को औद्योगिक नीति के प्रस्ताव में यह घोषणा की गयी कि सरकार की प्रशुल्क या तटकर नीति इस प्रकार गठित की जायेगी कि अनुचित विदेशी प्रतिस्पर्धा की रोकथाम हो सके तथा उपभोक्ताओं पर अनुचित भार डाले बिना ही आर्थिक साधनों का इष्टतम प्रयोग हो सके। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु स्वर्गीय टी. टी कृष्णमाचारी के नेतृत्व में द्वितीय राजकोषीय आयोग की नियुक्ति की गयी। इस आयोग ने भारतीय अर्थव्यवस्था के सर्वांगीण विकास हेतु उद्योग के सन्तुलित विकास की आवश्यकता पर बल दिया और प्रशुल्क-नीति को इसी कार्यक्रम के अनुरूप बनाने की अपील की। 1950 में कृष्णमाचारी आयोग की रिपोर्ट प्रस्तुत की गयी तथा उसी वर्ष नवीन प्रशुल्क-नीति की घोषणा कर दी गयी।

नवीन प्रशुल्क-नीति का निम्नलिखित शीर्षकों में अध्ययन किया जा सकता है :

(1) **संरक्षण का अर्थ**—संरक्षण को सामान्य आर्थिक विकास का एक आवश्यक उपकरण बनाने की आवश्यकता पर बल दिया गया है। द्वितीय प्रशुल्क-आयोग के मतानुसार आर्थिक नियोजन में संरक्षणात्मक आयात-करों का एक विशिष्ट महत्व होना चाहिए। इस प्रकार प्रथम आयोग ने जहाँ विवेचनात्मक संरक्षण के लिए सुझाव दिया था, अब संरक्षण का उद्देश्य सामान्य हित की वृद्धि मान लिया गया।

(2) **उद्योगों का वर्गीकरण**—संरक्षण प्रदान करने हेतु आयोग ने उद्योगों को तीन भागों में विभाजित किया तथा इनके सम्बन्ध में संरक्षण की नीति का उल्लेख किया—

(i) **प्रतिरक्षा सम्बन्धी उद्योग**—इस श्रेणी में सुरक्षा से सम्बन्धित सभी उद्योगों को शामिल किया गया जैसे अस्त्र-शस्त्र निर्माण सम्बन्धी उद्योग, वायुयान-निर्माण, वायरलेस तथा केबिल उद्योग आदि। यह सुझाव दिया गया कि इस श्रेणी के उद्योगों का प्रत्येक स्थिति में राष्ट्रीय स्तर पर विकास किया जाना चाहिए।

(ii) **आधारभूत उद्योग**—इस श्रेणी में वे उद्योग रखे गये जिन पर अन्य उद्योग निर्भर है जैसे यातायात के सामान सम्बन्धी उद्योग, जहाज, रेल के डिब्बे, इन्जन इत्यादि। इस श्रेणी के उद्योगों को भी संरक्षण देने की सिफारिश की गयी। संरक्षण के पश्चात् इन उद्योगों की प्रगति की जाँच प्रशुल्क-मण्डल द्वारा करने का सुझाव दिया गया।

(iii) **अन्य उद्योग**—इस श्रेणी में शेष सभी उद्योग रखे गये। इनके सम्बन्ध में आयोग ने यह मत व्यक्त किया कि योजना के उच्च स्थान प्राप्त उद्योगों तथा आधारभूत उद्योगों में सहायक

या पूरक उद्योगो को सरक्षण मिलना चाहिए। इनके अतिरिक्त अन्य उद्योगो की परिस्थिति तथा उद्योग की क्षमता एव स्थिति क अनुसार सरक्षण प्रदान करने का सुझाव दिया गया।

(3) सरक्षण के लिए सुझाव—1922 के प्रशुल्क आयोग द्वारा निर्धारित त्रिमुखी सूत्र (Triple Formula) के सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक पक्ष का अध्ययन करने के पश्चात् इस प्रशुल्क आयोग ने सरक्षण के सम्बन्ध मे निम्नलिखित सुझाव दिये

(i) यदि किसी उद्योग को अन्य आर्थिक लाभ प्राप्त हैं जैसे आन्तरिक बाजार, श्रम-शक्ति, यातायात की सुविधाएँ आदि, तो उसको केवल इसी आधार पर सरक्षण से वचित नही करना चाहिए कि उसके लिए आवश्यक कच्चा माल देश में पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नही हैं।

(ii) यदि सरक्षण के कारण किसी उद्योग का इस सीमा तक विकास हो सकता है कि उससे उचित समय के भीतर आन्तरिक माँग का अधिकाश भाग पूरा किया जा सके तो उसे सरक्षण प्रदान कर देना चाहिए। उसके लिए यह शर्त नही लगायी जानी चाहिए कि उसम देश की सम्पूर्ण माँग को पूरा करने की क्षमता है।

(iii) सरक्षण देते समय निर्यात की भावी सम्भावनाओ पर भी ध्यान देना चाहिए।

(iv) उन उद्योगो को भी सरक्षण मिलना चाहिए जो सरक्षित उद्योग द्वारा उत्पादित माल का प्रयोग कच्चे माल के रूप मे करते हो।

(v) सरक्षण करो से प्राप्त आय मे से कुछ धनराशि पृथक् करके एक विकास कोष (Development Fund) स्थापित करना चाहिए जिसके माध्यम से आवश्यकतायुक्त उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान की जा सके।

(vi) उन नये उद्योगो को सरक्षण विशेष रूप से मिलना चाहिए जिनमे प्रारम्भ मे अधिक पूँजीगत विनियोग की आवश्यकता हो।

(vii) राष्ट्रीय हित मे होने पर सीमित मात्रा मे 5 वर्ष के लिए कृषि को भी सरक्षण प्रदान किया जा सकता है परन्तु कृषिगत सरक्षित पदार्थों की सख्या कम होनी चाहिए।

(viii) सरक्षित उद्योगो की प्रगति का अध्ययन करने के लिए एक अलग सस्था स्थापित की जानी चाहिए।

(ix) एक स्थायी प्रशुल्क-आयोग की स्थापना की जानी चाहिए।

(x) सरक्षित उद्योगो पर उत्पादन कर नहीं लगाना चाहिए परन्तु यदि उत्पादन-कर का उद्देश्य सरकारी आय मे वृद्धि करना हो तो उत्पादन-कर लगाया जा सकता है।

(4) सरक्षित उद्योगों के कर्तव्य—आयोग ने सरक्षित उद्योगो के कर्तव्यों व दायित्वो का भी उल्लेख किया है। इन दायित्वो का उद्देश्य सरक्षित उद्योगो की कार्यक्षमता मे वृद्धि करना है। *सरक्षित उद्योगों के कर्तव्य इस प्रकार निर्धारित किये गये हैं* -

(i) उद्योगो मे नवीनतम मशीनो तथा उत्पादन-प्रणालियो का प्रयोग करना चाहिए।

(ii) उद्योग के उत्पादन का पैमाना निरन्तर बढते रहना चाहिए।

(iii) उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तु निश्चित किये गये प्रतिमानो के अनुसार होनी चाहिए।

(iv) जहाँ तक सम्भव हो, स्थानीय कच्चे माल का प्रयोग करना चाहिए।

(v) सरक्षित उद्योगो को शोध कार्य व प्राविधिक शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(vi) सरक्षित उद्योगो को समाज के हितो के प्रतिकूल कार्य नही करना चाहिए।

सरक्षण देते समय या सरक्षण का नवीनीकरण करते समय उपर्युक्त दायित्वों का ध्यान रखा जाना चाहिए। परन्तु ये दायित्व सरक्षण की आवश्यक शर्त के रूप म नही रखे गये हैं।

(5) सरक्षण की विधियाँ—प्रशुल्क आयोग ने सरक्षण की निम्नलिखित विधियाँ बतायीं

(i) **तटकर (Tariff)**—विदेशों से आने वाली वस्तुओ पर आयात कर लगाना।

(ii) ***परिमाण सम्बन्धी नियन्त्रण (Quantitative Restrictions)***—*आयात* होने वाली वस्तुओ की मात्रा निश्चित करना।

(iii) आर्थिक सहायता (Economic Subsidies)—विदेशी माल से प्रतिस्पर्द्धा का सामना करने के लिए देश के उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान करना।

(iv) एकीकरण (Pooling)—इसके अन्तर्गत सरकार द्वारा स्थापित संस्था विदेशों से माल मँगाकर उसको अधिक मूल्य पर बेचती है।

व्यापार एवं उत्पादन की परिस्थितियों तथा वस्तुओं के मूल्यों में तेजी से हो रहे परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए प्रशुल्क-आयोग ने यह सुझाव दिया कि भारत की टैरिफ योजना में मूल्य पर आधारित (ad valorem) सीमा शुल्क को ही प्रधानता दी जानी चाहिए। विशिष्ट सीमा-शुल्क (specific duties) का प्रयोग उस स्थिति में किया जाना चाहिए जब वस्तु के मूल्य को निश्चित करने में कठिनाई हो।

इस प्रकार प्रशुल्क-आयोग ने देश के समक्ष एक नवीन प्रशुल्क या तटकर-नीति प्रस्तुत की। आयोग ने इस बात पर जोर दिया कि प्रशुल्क-कर उद्योगों की उन्नति का एकमात्र साधन नहीं है। देश की औद्योगिक प्रगति सरकार की आर्थिक नीति, व्यापार नीति तथा औद्योगिक नीतियों की श्रेष्ठता और उनकी कुशल कार्यान्विति पर भी निर्भर करती है। वास्तव में औद्योगिक विकास रचनात्मक उपायों द्वारा ही किया जा सकता है। आयोग ने संरक्षण प्रदान करने के सम्बन्ध में लागू की जाने वाली शर्तों को अधिकांशतः दूर किया। संरक्षित उद्योगों की संख्या में प्रति वर्ष वृद्धि होती जा रही है। भारत सरकार की वर्तमान प्रशुल्क-नीति आयोग द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों पर ही आधारित है।

तटकर-आयोग, 1952
[TARIFF COMMISSION, 1952]

द्वितीय प्रशुल्क-आयोग ने संरक्षण की नीति को प्रभावशाली बनाने के लिए एक स्थायी तटकर-आयोग स्थापित करने का सुझाव दिया था। फलस्वरूप 1952 में प्रशुल्क-आयोग अधिनियम पारित किया गया। इसके परिणामस्वरूप 1952 में एक प्रशुल्क आयोग या तटकर-आयोग की नियुक्ति हुई। इस तटकर आयोग के अधिकार प्रशुल्क-मण्डलों से अधिक हैं, क्योंकि यह आयोग न केवल वर्तमान उद्योगों के विषय में संरक्षण सम्बन्धी रिपोर्ट राज्य को प्रस्तुत कर सकता है अपितु जो उद्योग प्रारम्भ नहीं हुए हैं, उनके विषय में भी राज्य को सुझाव दे सकता है, किसी भी उद्योग के विषय में चाहे वह संरक्षण प्राप्त हो अथवा नहीं, यह राज्य को विवरण भेज सकता है; तथा संरक्षण के सामान्य प्रभावों के विषय में भी सरकार को रिपोर्ट दे सकता है।

तटकर-आयोग के कार्य
(Functions of the Tariff Commission)

प्रमुख रूप से तटकर-आयोग के कार्य निम्न प्रकार हैं :

(1) पहले से स्थापित एवं भविष्य में उत्पादन आरम्भ करने वाले उद्योगों की संरक्षण सम्बन्धी माँगों पर विचार करना।

(2) सरकार के कहने पर सुरक्षा सम्बन्धी एवं आधारभूत उद्योगों को संरक्षण देने के मामलों की जाँच-पड़ताल करना।

(3) संरक्षण की शर्तें निर्धारित करना तथा उद्योगों का दायित्व निश्चित करना।

(4) उद्योगों की संरक्षण-अवधि निश्चित करना।

(5) सरकार को यह बताना कि संरक्षण का लघु एवं कुटीर उद्योगों पर क्या प्रभाव पड़ा है या पड़ सकता है।

(6) संरक्षणात्मक करों में परिवर्तन करने के लिए सरकार को सुझाव देना।

(7) विदेशी वस्तुओं से अनुचित प्रतिस्पर्द्धा तथा राशिपातन को रोकने के लिए उचित कदम उठाना।

(8) व्यापार-समझौतों के अन्तर्गत प्रशुल्क-सुविधाओं का उद्योगों के विकास पर पड़ने वाले प्रभाव की जाँच करना।

तटकर-आयोग के कार्यों का मूल्यांकन
(Evaluation of the Functions of the Commission)

1973 तक इस आयोग ने कुल 262 जाँचें की जिनमे से 181 तटकर सम्बन्धी और 71 मूल्य सम्बन्धी जाँचें तथा 10 जाँचें विशिष्ट प्रकार की थी। 181 तटकर जाँचो मे से 20 जाँचें नये सरक्षण के सम्बन्ध मे थी तथा शेष 161 पुराने सरक्षण को चालू रखने के सम्बन्ध मे थी। इस आयोग की सिफारिश पर 17 उद्योगो को सरक्षण प्रदान किया गया। सरक्षित उद्योगों की सख्या 1952 मे 42 थी। 1953 मे यह 44 हो गयी। इसके बाद धीरे-धीरे यह सख्या घटती गयी। 1 अप्रैल, 1971 को सरक्षित उद्योगो की सख्या केवल 4 रह गयी थी।

द्वितीय योजना-काल के समय से ही देश के सामने विदेशी विनिमय की समस्या निरन्तर बनी हुई है अत आयातो मे कमी करने का बराबर प्रयत्न किया जा रहा है। आयात प्रतिस्थापन की नीति के कारण उद्योगो को अप्रत्यक्ष रूप से स्वत सरक्षण प्राप्त हो गया है। अत सरक्षण के लिए प्रस्तुत प्रार्थना-पत्रो की सख्या मे बहुत कमी हो गयी है। वर्तमान मे आयात प्रतिस्थापन की नीति के साथ-साथ औद्योगिक लाइसेंस नीति तथा पचवर्षीय योजनाओ मे उद्योगो के विकास के अनेक कार्यक्रमो के प्रारम्भ ने तटकर सरक्षण के महत्व को बहुत ही कम कर दिया है।

पुन सुरक्षित उद्योग जैसे टी चेस्ट्स शक्ति व वितरण ट्रान्सफार्मर एव साइकिल उद्योगों ने अपने पूर्वनिर्धारित लक्ष्य से कही अधिक उत्पादन किया है। अत इन उद्योगो से सरक्षण हटा दिया गया है। सक्षेप मे, हम कह सकते हैं कि वर्तमान मे तटकर आयोग की आवश्यकता समाप्त हो चुकी है। इसका कारण वर्तमान में उद्योगों को नियोजित विकास तथा सरकार की कडी आयात नीति कहा जा सकता है।

कुछ वर्षों पूर्व प्रशासनिक सुधार आयोग (Administrative Reforms Commission) ने भी तटकर आयोग को समाप्त करने का सरकार को सुझाव दिया था। इसकी मान्यता थी कि उद्योगों पर अनावश्यक नियन्त्रण को समाप्त किया जाना चाहिए तथा जिन आयोगों के उद्देश्यो की प्राप्ति हो चुकी हो उनका अस्तित्व बना रहना उचित नहीं है। 1974 मे सरकार ने कीमत जाँचो के लिए एक नया आयोग (Bureau of Industrial Costs and Prices) स्थापित किया। अत 1974 से कीमत जाँचो का कार्य भी तटकर आयोग का नही रहा। इन सब कारणो से ही भारत सरकार ने मई 1976 में तटकर आयोग को समाप्त कर दिया।

दीर्घकालीन राजस्व नीति तथा प्रशुल्क नीति[1]
[LONG-TERM FISCAL POLICY AND TARIFF POLICY]

अप्रैल 1985 मे सरकार त्रिवर्षीय आयात-निर्यात नीति के अन्तर्गत यह स्पष्ट कर चुकी थी कि नयी नीतियो का उद्देश्य प्रशुल्क नीति को इस प्रकार समायोजित करना है ताकि देश के उद्योगों का आधुनिकीकरण हो, तथा वे अपनी क्षमता का पूरा उपयोग करते हुए लागत मे इस प्रकार कमी ले आयें कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो में स्वस्थ प्रतियोगिता के लिए सक्षम हो सकें। सक्षेप मे, प्रशुल्क दरो का प्रयोग देश के उद्योगो की स्पर्द्धा-शक्ति का विकास करना है।

दिसम्बर 1985 मे भारत सरकार ने दीर्घकालीन राजस्व नीति की घोषणा की। इसमें यह स्पष्ट कर दिया गया कि प्रशुल्क दरो के माध्यम से आयातो का नियमन किया जायगा ताकि मात्रात्मक प्रतिबन्धो को प्रगतिशील रूप मे कम किया जा सके। यह भी कहा गया कि प्रशुल्क नीति के निम्न उद्देश्य महत्वपूर्ण हैं (i) अधिक राजस्व प्रदान करना, (ii) आयातो पर निर्भरता को कम करना, तथा (iii) देश के उद्योगो को प्रभावी एव उपयोगी सरक्षण प्रदान करना जिसके द्वारा उद्योग अपनी उत्पादन लागतो मे उत्तरोत्तर कमी ला सकें।

सरकार ने यह निश्चय किया कि सभी पूँजीगत वस्तुओ, कच्चे माल, पुर्जों तथा मध्यवर्ती वस्तुओ के आयात पर बहुत कम परन्तु सम-दरो पर आयात कर लिये जायें ताकि अनुचित रूप मे वस्तुओ का श्रेणीकरण करके करो की चोरी करने की सम्भावना सीमित हो जाये। परन्तु सम-दरो

---

1 *Long-Term Fiscal Policy*, December 1985, pp 40-42

पर कर केवल दीर्घ-काल में ही रोपित किये जा सकेंगे। फिलहाल पुर्जों की अपेक्षा कच्चे माल पर आयात करों की दर कम की गयी है। पूंजीगत वस्तुओं पर भी कच्चे माल की भाँति कम प्रशुल्क होगा परन्तु जो आयातित पूंजीगत वस्तुएँ स्वदेशी उत्पादकों की प्रतियोगी है उन पर कर की दरें अधिक होंगी। व्यापक प्रयोग में आने वाली मध्यवर्ती वस्तुओं पर आयात कर अपेक्षाकृत काफी कम होगा ताकि सम्बद्ध उद्योगों में उत्पादन लागतें कम कर सकें। जहाँ अनिवार्य खाद्य वस्तुओं पर या तो नाममात्र का आयात कर होगा अथवा इन्हें कर-मुक्त रखा जायगा, वहीं गैर-आवश्यक उपभोग वस्तुओं का आयात पूर्णतः निषिद्ध होगा।

दीर्घकालीन राजकोषीय नीति में *छठी तथा सातवीं योजना की वित्तीय व्यवस्था के प्रारूप* निम्न प्रकार दिये गये थे :

सकल घरेलू उत्पत्ति (GDP) के प्रतिशत के रूप में

	छठी योजना (सम्भावित)	सातवीं योजना (अनुमान)
योजना के लिए केन्द्रीय साधन	9·2	10·1
(i) विदेशों से पूंजी का शुद्ध आगम	1·2	1·4
(ii) घरेलू आधार	5·2	5·1
(iii) सार्वजनिक बचत	2·8	3·6
(अ) चालू राजस्व से बकाया	0·7	नगण्य
(ब) सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों का योगदान	2·1	3·6

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि सातवीं योजना में सार्वजनिक बचतों का योगदान छठी योजना की तुलना में काफी ऊँचा रखा गया है। चूंकि चालू राजस्व से बकाया राशि सातवीं योजना की अवधि में नगण्य मानी गयी है, अतः सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों पर साधन जुटाने की भारी जिम्मेदारी आ गयी है। यह उनके लिए एक चुनौती के समान है।

केन्द्रीय सरकार के गैर-योजना राजस्व का लगभग *70%* भाग सुरक्षा, ब्याज के भुगतान तथा खाद्य एवं उर्वरक सब्सिडी पर व्यय किया जाता है। सुरक्षा-व्यय को कम करना कठिन है। सरकार द्वारा ली गयी उधार की मात्रा के बढ़ने पर ब्याज के भुगतान बढ़ते जा रहे हैं। इसके साथ-साथ भारत में खाद्यान्नों पर सब्सिडी की राशि भी बहुत ऊँची है। उर्वरकों की लागत कम करके इस राशि को कम किया जाना चाहिए। सब्सिडी समाज के कमजोर वर्ग को दी जानी चाहिए।

भारत सरकार के कर-ढाँचे में परोक्ष करों की प्रधानता है। 1985-86 के बजट में केन्द्र के कर राजस्व में प्रत्यक्ष करों का अंश 19% तथा परोक्ष करों का प्रतिशत 81% था। दीर्घ-कालीन राजकोषीय नीति के अन्तर्गत परोक्ष करों—जैसे सीमा-शुल्कों तथा उत्पादन-शुल्कों में इस प्रकार परिवर्तन करने होंगे कि भौतिक नियन्त्रणों के स्थान पर राजकोषीय उपाय उत्तरोत्तर अधिक मात्रा में प्रयुक्त किये जा सकें। दीर्घकालीन राजकोषीय नीति में यह स्पष्ट किया गया है कि सरकार कम से कम 5 वर्षों के लिए वैयक्तिक आय-कर व धन-कर की वर्तमान दरों को स्थिर रखेगी।

प्रश्न एवं उनके संकेत

1. टटकर किसे कहते हैं ? भारत के विदेशी व्यापार को नियमित रखने में टटकर के कार्यों का विवेचन कीजिए।

   What is tariff ? Discuss the role of tariff in regulating the foreign trade of India

   [*संकेत—प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर में विद्यार्थियों को टटकर का अर्थ स्पष्ट करना चाहिए तथा भारत के विदेशी व्यापार को नियमित करने के लिए विभिन्न प्रशुल्क आयोगों के कार्यों का विस्तृत वर्णन देना चाहिए।*]

2. भारत में विवेचनात्मक संरक्षण-नीति की सफलता की परीक्षा कीजिए।

   Examine the working of the policy of discriminating protection in India

[संकेत—इस प्रकार के उत्तर मे प्रथम प्रशुल्क आयोग द्वारा सुझाई तथा ब्रिटिश सरकार द्वारा अपनायी गयी विवेचनात्मक सरक्षण नीति को विस्तृत रूप से स्पष्ट करना आवश्यक है।]

3. भारतीय प्रशुल्क आयोग (*1949-50*) की मुख्य सिफारिशों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

Examine critically the main recommendations of the Indian Tariff Commission, 1949-50

4 नवीन वित्तीय-नीति के प्रमुख लक्षणों की विवेचना कीजिए।

Describe the *main* features of *new* fiscal policy.

[संकेत—प्रश्न 3 एव 4 के उत्तर मे विद्यार्थियो को चाहिए कि वे तटकर नीति की मुख्य विशेषताओ का वर्णन करें जो कि द्वितीय तटकर आयोग ने बतायी हैं। यह भी बताइए कि इस नीति की मुख्य आलोचना इसका अनावश्यक विस्तृत आकार है। पुनः तटकर आयोग ने स्वय यह स्वीकार किया है कि केवल तटकर नीति के द्वारा ही देश का औद्योगिक विकास नही किया जा सकता।]

5 दिसम्बर 1985 में सरकार द्वारा घोषित दीर्घकालीन राजस्व नीति एवं प्रशुल्क-नीति की विवेचना कीजिए।

Discuss the Long-Term Fiscal Policy and Tariff Policy as announced by the Government in December 1985

27

भारत की भुगतान-सन्तुलन स्थिति
[BALANCE OF PAYMENTS POSITION OF INDIA]

किसी देश के भुगतान-सन्तुलन से आशय उसके अन्य देशो से सम्पूर्ण आर्थिक लेन-देन (economic transactions) के ब्यौरे (Account or Balance Sheet) से होता है। इस ब्यौरे मे प्राय. आयात और निर्यात के मद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं और इन मदो के अतिरिक्त, पूंजी, ऋण, ब्याज और भुगतान सम्बन्धी अन्य सभी प्रकार के लेन-देन सम्मिलित किये जाते हैं।

व्यापार-सन्तुलन ज्ञात करने मे सम्बन्धित देश के केवल आयातो और निर्यातो को सम्मिलित किया जाता है जबकि भुगतान-सन्तुलन के अन्तर्गत आयात और निर्यातों के अतिरिक्त पूंजीगत लेन-देन भी सम्मिलित होते है। वास्तव मे, व्यापार-सन्तुलन भुगतान-सन्तुलन का ही एक भाग होता है। अत. किसी देश का व्यापार-सन्तुलन पक्ष या विपक्ष में हो सकता है, किन्तु भुगतान-सन्तुलन सदैव सन्तुलित रहता है।

वर्तमान समय मे विश्व के आर्थिक लेन-देन मे अत्यधिक वृद्धि हो गयी है जिसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे काफी वृद्धि हुई है।[1] विशेषतः यह वृद्धि इसलिए हुई कि आज विभिन्न देश अलग-अलग प्रकार की वस्तुओ का उत्पादन करते हैं (जिनमे उनको तुलनात्मक लाभ प्राप्त होता है) और इन वस्तुओ का पारस्परिक विनिमय होता रहता है। इनके साथ-साथ अल्पविकसित देश विकसित देशों से माल खरीदना तो चाहते हैं परन्तु उनके पास तत्काल भुगतान के लिए विदेशी विनिमय का अभाव रहता है, अत वे विकसित देशो से ऋण की मांग करते हैं। विकसित देश अविकसित देशो को उधार माल बेच देते हैं क्योकि उन्हे उनको अपना माल बेचकर अपनी अर्थ-व्यवस्था को मजबूत बनाये रखना होता है। अतः यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि अनेक देशो (विकसित) का वर्तमान समय मे व्यापार-सन्तुलन प्रतिकूल (या विपक्ष मे) होने पर भी यह कहना उचित नहीं है कि उनकी आर्थिक स्थिति ठीक नही है। वास्तव मे, भुगतान-सन्तुलन के आधार पर (न कि व्यापार-सन्तुलन के आधार पर) ही देश की आर्थिक स्थिति को मापना अधिक उचित होगा, *यद्यपि प्रतिकूल-सन्तुलन भी चिन्ता का कारण बन सकता है।*

भुगतान-सन्तुलन से सम्बद्ध मदें—किसी भी देश के भुगतान-सन्तुलन को जानने हेतु उससे सम्बद्ध मदो की जानकारी होना आवश्यक है। इस दृष्टि से निम्नलिखित विवरण लाभप्रद प्रतीत होता है :

भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता का अर्थ यह है कि चालू खाते व पूंजीगत मदों मे भुगतान की राशि सभी प्रकार की प्राप्तियो की अपेक्षा अधिक हो। भुगतान-सन्तुलन प्रतिकूल होने पर ऋणात्मक चिह्न लगाया जाता है।

परन्तु भुगतान-शेष सदैव सन्तुलित होना चाहिए। अस्तु, किसी देश का भुगतान-सन्तुलन प्रतिकूल होने पर उसे उतनी ही राशि विदेशी सहायता, अनुदानो या अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से सहायता के रूप मे प्राप्त करके इसे सन्तुलित करना पड़ता है।

अल्पविकसित देशों का व्यापार-सन्तुलन प्राय: प्रतिकूल रहता है, क्या वे अधिकाधिक माल या प्राविधिक सेवाएँ आयात कर धीरे-धीरे अपनी अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाकर कुछ समय में ही विकसित देशो से प्राप्त सभी ऋणो को भुगतान करने की आशा रखते हैं। इस दृष्टि से कुछ समय

---

1 विस्तृत अध्ययन के लिए कृपया अध्याय 21 का अवलोकन कीजिए।

तक व्यापार-सन्तुलन का प्रतिकूल रहना कोई विशेष चिन्ता का विषय नहीं माना जाता। परन्तु दीर्घकाल तक व्यापार-सन्तुलन के विपक्ष में रहने पर स्थिति चिन्ताजनक हो जाती है।

भुगतान सन्तुलन तैयार करना

मद	प्राप्तियाँ (I)	भुगतान (II)
1 चालू खाता		
(अ) दृश्य मदें	निर्यात	आयात
(ब) अदृश्य मदें		
(i) विदेशी पर्यटन	पर्यटकों का आगमन	भारतीय पर्यटकों की विदेश यात्रा
(ii) परिवहन	जहाज भाड़े की प्राप्ति	जहाज भाड़े का भुगतान
(iii) बीमा प्रीमियम	प्राप्तियाँ	भुगतान
(iv) लाभांश	प्राप्तियाँ	भुगतान
(v) अन्य	प्राप्तियाँ	भुगतान
चालू खाते का शेष (I व II का अन्तर)		
2 पूंजीगत मदें		
(i) निजी निवेश (दीर्घ व अल्पकालीन)	विदेशी पूंजी का भारत में निवेश	भारतीय पूंजीपतियों द्वारा विदेशों में पूंजी निवेश
(ii) ऋण (निजी क्षेत्र)	प्राप्तियाँ	ऋणों का सकल भुगतान
(iii) सरकारी क्षेत्र के ऋण	प्राप्तियाँ	भुगतान (ऋण सेवाएं)
(iv) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से रुपये की खरीद	—	भुगतान
(v) बैंकिंग पूंजी	प्राप्तियाँ	भुगतान
पूंजीगत मदों का शेष (+) या (—)		

जब कोई विकसित देश अनुकूल व्यापार-सन्तुलन की स्थिति में होते हुए भी अन्य देशों को निरन्तर पूंजी उधार देता रहता है अथवा वहाँ विनियोग करता रहता है तो वह कभी-कभी व्यापार-सन्तुलन को धनात्मक बाकी या अनुकूलता से अधिक पूंजी ऋण या विनियोग के रूप में निर्यात कर देता है जिससे चालू खाते में उस देश का भुगतान-सन्तुलन भी विपक्ष में हो जाता है।

इस प्रकार माल के लेन-देन को देखने पर किसी देश के व्यापार की यथार्थ स्थिति ज्ञात नहीं होती। एक देश की वस्तुओं के लेन-देन के आधार पर उसका व्यापार-सन्तुलन अनुकूल हो सकता है किन्तु अन्य सभी प्रकार के लेन-देनों को ब्यौरे में शामिल करने के उपरान्त वह ऋणी देश हो सकता है अर्थात् उसका भुगतान-सन्तुलन प्रतिकूल हो सकता है। इसके विपरीत स्थिति का भी सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। आधुनिक युग में ऐसे अनेक देश हैं जिनके व्यापार (माल के आयात-निर्यात) की बाकी की तुलना में सोने, सेवाओं और पूंजी का आयात-निर्यात अधिक होता है। अतएव आज के युग में किसी भी देश की व्यापारिक स्थिति का सही अध्ययन तभी हो सकता है जब हर प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देनों को दृष्टिगत रखा जाय। सभी प्रकार के लेन-देनों के ब्यौरे में लेने के उपरान्त जो खाता (Account) बनाया जाता है उससे किसी देश के ऋणी अथवा ऋणदाता होने का पता चलता है। यदि यह खाता सन्तुलित स्थिति प्रदर्शित करता है तो उसका अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सन्तुलित समझा जाता है। यदि वह खाता धनात्मक (*Positive*) शेष प्रदर्शित करता है तो भुगतान-सन्तुलन उस देश के पक्ष में समझा जाता है अर्थात् उस देश को उतनी धनराशि किसी न किसी देश से प्राप्त करनी शेष है। इसके विपरीत, यदि उक्त खाता ऋणात्मक (negative) शेष प्रदर्शित करता है तो इसका यह अर्थ हुआ कि उस देश को अन्य देशों को उक्त धनराशि देनी है, अर्थात् उसका भुगतान-सन्तुलन उस सीमा तक प्रतिकूल है।

प्रस्तुत अध्याय में हम भारत की भुगतान-सन्तुलन की स्थिति का वर्णन करेंगे। वास्तव में यह अध्याय, अध्याय 23 का ही एक भाग है जिसमें कि भारत के विदेशी व्यापार तथा व्यापार-

भुगतान का विस्तार से वर्णन प्रस्तुत किया गया है। चूँकि व्यापार-भुगतान को प्रभावित करने वाले तत्व ही भुगतान-सन्तुलन को भी निश्चित करते हैं अतः प्रस्तुत अध्याय में अध्याय 23 की कुछ सामग्री को ही पुनः दोहराया गया है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व भुगतान-शेष की स्थिति [BALANCE OF PAYMENTS SITUATION BEFORE INDEPENDENCE]

स्वतन्त्रता से पहले शताब्दियों तक भारत का दूसरे देशों से अतिरेक (Surplus) भुगतान-शेष चल रहा था। भारत में अंग्रेजों के आने तक वह पश्चिमी एशिया तथा यूरोप के विभिन्न देशों को बने हुए माल का निर्यात करता था और आयातों की अपेक्षा निर्यात अधिक होने से अतिरेकों का भुगतान स्वर्ण द्वारा होता था और इस प्रकार भारत को काफी मात्रा में स्वर्ण प्राप्त होता था।

ब्रिटिश शासन-काल में भी भारत का व्यापार-सन्तुलन अनुकूल चलता रहा, परन्तु अब ये अधिशेष निर्मित माल के निर्यात के कारण नहीं होती थी। इस समय भारत से कृषि-पदार्थों का (विशेष रूप से कच्चे माल का) निर्यात किया जाता था तथा निर्मित माल का विदेशों से (इंगलैण्ड से) आयात किया जाता था। *ब्रिटिश-काल में भारत का अधिकांश आयात-निर्यात ब्रिटेन से ही होता था।* निर्यात की अधिकता से जो विदेशी विनिमय हमें मिलता था वह सम्पूर्ण ही गृह-व्ययों (Home-expenses) के रूप में ब्रिटेन को देना पड़ता था और कभी-कभी वह इन खर्चों की पूर्ति के लिए भी पर्याप्त नहीं होता था। अतएव शेष के लिए देश को स्वर्ण का निर्यात भी करना पड़ जाता था। इस प्रकार से इस व्यापार-आधिक्य (Trade surplus) का अपव्यय किया जाने लगा।

द्वितीय विश्व-युद्ध के समय में इस स्थिति में एक परिवर्तन आया। चूँकि ब्रिटेन युद्ध में लिप्त था, इसलिए युद्धजन्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उसने भारत से भारी मात्रा में वस्तुओं का आयात किया। इस प्रकार युद्ध के कारण एक ओर तो भारत के निर्यात में भारी वृद्धि हुई और दूसरी ओर माल की अप्राप्यता, परिवहन में कठिनाई आदि के कारण आयात में कमी हुई और फलस्वरूप भारत का व्यापार-अधिशेष पौण्ड-पावनों (Sterling balances) के रूप में भारी मात्रा में संचित हो गया। ऐसा अनुमान है कि अप्रैल 1946 में यह राशि अधिकतम 1,733 करोड़ रुपये की थी। इसके साथ-साथ राजनीतिक दबाव में आकर ब्रिटेन ने यह भी स्वीकार कर लिया कि वह इस राशि का युद्ध की समाप्ति के बाद भुगतान कर देगा। इस अधिशेष का स्वतन्त्रता के बाद हमारे व्यापार घाटों को पूरा करने के लिए उपयोग किया गया।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भुगतान-शेष की स्थिति [BALANCE OF PAYMENTS SINCE INDEPENDENCE]

स्वतन्त्रता से पूर्व ब्रिटिश सरकार भारत के भुगतान-सन्तुलन से सम्बद्ध आँकड़े प्रायः प्रकाशित नहीं करती थी। सर्वप्रथम जुलाई 1949 में रिजर्व बैंक ने इन आँकड़ों का प्रकाशन प्रारम्भ किया और तब से प्रति वर्ष इनका प्रकाशन होता आया है। इन आँकड़ों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय से ही भारत के विदेशी व्यापार में घाटे की स्थिति रहने लगी। चालू खाते के भुगतान-शेष में 1948-49 तथा 1949-50 के दौरान घाटा रहा लेकिन 1950-51 में कुछ अधिशेष (surplus) भी रहा। घाटों का मुख्य कारण यह था कि द्वितीय विश्व युद्ध के कारण अवरुद्ध माँगों की पूर्ति करने और अर्थ-व्यवस्था का पुनर्निर्माण करने के लिए हमें काफी मात्रा में आयात करने पड़े। इसके विपरीत, 1950-51 में व्यापार-अधिशेष (Trade surplus) का कारण यह था कि 1949 में भारतीय रुपये का अवमूल्यन होने के कारण निर्यातों में वृद्धि हुई, तथा कोरिया-युद्ध के कारण कृषिजन्य कच्चे माल की कीमतों में भी तेजी से बढ़ोत्तरी हो गयी। इसके अतिरिक्त अदृश्य निर्यातों से प्राप्त आय के कारण भी इस अधिशेष में वृद्धि हुई।

प्रथम योजना-काल (1951-56)—इस योजना-काल में विदेशी विनिमय की स्थिति काफी सुदृढ़ थी तथा विदेशी विनिमय कोष की मात्रा 127 करोड़ रुपये थी जो उस समय की स्थिति को देखते हुए पर्याप्त थी। यद्यपि योजना के पहले वर्ष में काफी घाटा हुआ, फिर भी बाद के चार

वर्षों मे भुगतान-अधिशेष की स्थिति रही। इस समय मे यद्यपि व्यापार-शेष मे 541 करोड रुपये का घाटा रहा, किन्तु चालू खाते के भुगतान-शेष मे, यह घाटा केवल 42·3 करोड रुपय ही था। प्रथम योजना के दौरान भुगतान-शेष की अनुकूल स्थिति के दो कारण थे :

प्रथम, आयातो के सम्बन्ध मे उदार नीति अपनाये जाने के कारण पहले वर्ष में आयातो मे भारी वृद्धि हुई। यद्यपि बाद के दो वर्षों म इसमे कमी आ गयी, क्योंकि देश मे कृषि उत्पादन अधिक मात्रा मे होने के कारण खाद्यान्नो के आयात मे कमी हुई। योजना के चौथे वर्ष मे आयातो मे वृद्धि हुई, परन्तु उनका स्तर नीचा रहा क्याकि सरकार ने आयात-नीति मे जो उदारवादी रुख पहले अपनाया था उसे अब नियन्त्रित कर दिया गया। योजना के पाँचवें वर्ष मे पुन आयातो मे वृद्धि करनी पडी क्योकि योजना के प्रारम्भ मे चलायी जाने वाली अनेक परियोजनाओ की पूर्ति करने के लिए विकास सम्बन्धी आयात आवश्यक हो गये थे।

द्वितीय प्रथम योजना-काल म कोरिया-युद्ध के कारण हमारे निर्यातो म काफी वृद्धि हुई। योजना का पहला वर्ष निर्यातो की दृष्टि से एक रिकार्ड था। इसके बाद निर्यातो मे निरन्तर कमी आती गयी।

द्वितीय योजना-काल (1956 61)—इस काल में भुगतान शेष निरन्तर घाटे मे रहा। इस घाटे के कारण देश म विदेशी मुद्रा का सकट उत्पन्न हो गया। इस अवधि मे व्यापार-शेष म कुल घाटे की रकम 2,339 करोड रुपये तक पहुँच गयी और चालू खाते के भुगतान-शेष म 1,721 6 करोड रुपये का घाटा रहा।

इस भारी घाटे का मुख्य कारण यह था कि विकास-कार्यों के लिए आयातो मे तीव्र वृद्धि हुई। द्वितीय योजना के लिए प्रसिद्ध अर्थशास्त्री महलोनोवीस द्वारा प्रतिपादित नियोजन मॉडल का प्रयोग किया गया था जिसम आधारभूत तथा भारी उद्योगो को प्राथमिकता प्रदान की गयी थी और इनकी स्थापना के लिए हम काफी मात्रा मे पूंजीगत माल का आयात करना पडा। इस प्रकार प्रथम योजना के अन्तिम वर्ष में उत्पन्न हुए विकासगत आयातो मे भी इस योजना-काल मे अत्यधिक वृद्धि हुई।

द्वितीय योजना-काल मे प्रतिकूल भुगतान शेष रहने का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी था कि इस योजना काल और विशेष रूप में इस योजना के अन्तिम वर्ष मे देश में खाद्यान्न के उत्पादन में कमी के कारण हम खाद्यान्नो का भारी मात्रा मे आयात करना पडा। प्रथम योजना के अन्तिम वर्ष अर्थात् 1955-56 मे कुल आयातो का मूल्य 773 1 करोड रुपये था, वह दूसरी योजना के प्रथम वर्ष मे बढकर 1,102 1 करोड रुपये तथा द्वितीय वर्ष (1957-58) मे 1,233 2 करोड रुपये हो गया।

द्वितीय योजना-काल मे हमारे व्यापार-शेष मे भारी प्रतिकूलता का तीसरा कारण यह था कि हमारे निर्यात इस अवधि म कम हो गये थे। प्रथम योजना के अन्तिम वर्ष की अपेक्षा द्वितीय योजना के प्रथम वर्ष म निर्यात कम हो गये, और यह कमी अगले वर्षों मे और अधिक हो गयी, क्योंकि कृषि-क्षेत्र मे उत्पादन-दर काफी कम हो गयी थी। इसके परिणामस्वरूप आयात और निर्यात के बीच जो भारी अन्तराल उत्पन्न हुआ, उसकी वजह से विदेशी मुद्रा-सकट उत्पन्न हो गया। इस स्थिति से निबटने के लिए सरकार ने आयातो पर कडे प्रतिबन्ध लगाने की नीति अपनायी। ये सब प्रयत्न करने पर भी 1960-61 के अन्त मे हमारा विदेशी विनिमय-कोष घटकर 303 6 करोड रुपये रह गया।

तृतीय योजना-काल (1961-66)—भुगतान-शेष की स्थिति इस काल मे भी वैसी ही रही जैसी कि द्वितीय योजना-काल म थी। जैसा कि हम जानते हैं तीसरी पचवर्षीय योजना-काल म चालू खाते का घाटा 2,567 2 करोड रुपये का था जबकि योजना मे कुल घाटा 3,075 5 करोड रुपय का हुआ। इस कुल घाटे का अधिकाश भाग (2,312 करोड रुपये) हमारे व्यापार-सन्तुलन का घाटा था। प्राप्त आँकडो के अनुसार तीसरी पचवर्षीय योजना के घाटे की पूर्ति सामान्यतया बाहरी ऋणों से की गयी।

वार्षिक योजनाएँ (1966 67 से 1968-69)—इन तीन वार्षिक योजनाओ की अवधि के काल मे चालू खाते म *भुगतान शेष की प्रतिकूलता जारी रही। इस स्थिति* के अनेक कारण थे।

इस समय आयात का औसत स्तर तृतीय योजना के स्तर से काफी ऊँचा था और इसका कारण बड़े पैमाने पर विकासगत माल का आयात था। जून 1966 में किये गये रुपये के अवमूल्यन से भी अनम्य (बेलोच) आयातों के मूल्य में वृद्धि हुई। परन्तु 1968-69 में अच्छी फसल हो जाने के फलस्वरूप खाद्यान्नों के आयात में काफी कमी हुई जिससे भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता में कुछ कमी आयी।

सन् 1966-67 में व्यापार का घाटा 994·6 करोड़ रुपये के तुल्य था, जबकि कुल घाटा 1,157 8 करोड़ रुपये का था जिसकी पूर्ति हेतु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से 89·3 करोड़ रुपये तथा विनिमय रिजर्व कोषों से 36·5 करोड़ रुपये प्राप्त किये गये। शेष घाटा विदेशी सहायता से पूरा किया गया। इस प्रकार 1966-67 में विदेशी विनिमय-कोषों में 36 5 करोड़ रुपये की कमी हुई। परन्तु देश के निर्यातों में वृद्धि होने के फलस्वरूप 1967-68 तथा 1968-69 के दो वर्षों में विदेशी विनिमय-कोषों में औसतन 115 करोड़ रुपये की वृद्धि हुई।[1]

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना-काल (1969-74)—इस योजना के प्रथम वर्ष (1969-70) में कृषि उत्पादन में वृद्धि होने के फलस्वरूप खाद्यान्नों के आयातों में कमी हुई। इसके साथ ही निर्यातों में वृद्धि हुई। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना काल में कुल मिलाकर भारत के विदेशी विनिमय कोषों में वृद्धि हुई, हालाँकि 1972-73 में खाद्यान्नों के आयात तथा खनिज तेल की कीमतों में वृद्धि के कारण आयात बिल भी काफी बढ़ गये थे। भारत को 1973-74 में खाद्यान्न के आयात हेतु लगभग 350 करोड़ रुपये व्यय करने पड़े। अनुमान है कि इस वर्ष क्रूड ऑयल के आयात पर लगभग 500 करोड़ रुपये व्यय किये गये क्योंकि इस वर्ष तेल की अन्तर्राष्ट्रीय कीमतें चार गुनी कर दी गयी थीं। इसके साथ-साथ उर्वरकों, अलौह धातुओं व इस्पात के मूल्यों में भी अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में काफी वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप हमें अपने आयातों की अधिक कीमत चुकानी पड़ी है। इस प्रकार 1973-74 में विदेशी विनिमय के संकट ने गम्भीर रूप धारण कर लिया। 1974-75 में लगभग 1,000 करोड़ रुपये का व्यापार-शेष में घाटा रहा। जनवरी 1974 में विदेशी विनिमय के कुल कोष (total reserves) 776·5 करोड़ रुपये के थे जिसमें स्वर्ण व विदेशी विनिमय की राशि 592·6 करोड़ रुपये की थी और 183·9 करोड़ रुपये के विशेष आहरण (आहरण) अधिकार (SDRs) थे। विदेशी विनिमय-कोषों की यह राशि केवल तीन-चार महीनों के आयात हेतु पर्याप्त थी। 1970-71 में हमारे निर्यात लगभग स्थिर रहे, परन्तु आयात में वृद्धि होकर ये 1,582 करोड़ रुपये से 1,720 करोड़ रुपये के हो गये। 1971-72 में आयातों में पुनः वृद्धि हुई तथा आयात बढ़कर 1,994 करोड़ रुपये के हो गये परन्तु निर्यात 1,403 करोड़ रुपये से बढ़कर केवल 1,555 करोड़ रुपये के ही हो सके। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I. M. F.) से 279 करोड़ रुपये की राशि का ऋण प्राप्त किया जबकि 2,482 करोड़ रुपये का ऋण अन्य संस्थाओं/देशों से प्राप्त किया गया। इन ऋणों की प्राप्ति से भारत की विदेशी विनिमय स्थिति किसी सीमा तक सुदृढ़ हो गयी जिसके फलस्वरूप विदेशी विनिमय-कोष में 272 करोड़ रुपये की अतिरिक्त वृद्धि हुई। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, भारत के पास अप्रैल 1972 में 848·7 करोड़ रुपये के कुल विदेशी विनिमय-कोष थे।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-79)—भारतीय नियोजकों को पाँचवीं पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में प्रचलित भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूल स्थिति से पूर्ण जानकारी थी।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना-काल में नियोजकों को यह अपेक्षा थी कि कुल आयात बिल 14,100 करोड़ रुपये, तथा निर्यात आय 12,580 करोड़ रुपये के तुल्य होने के कारण कुल व्यापार का घाटा (पाँच वर्षों में) केवल 1,520 करोड़ रुपये के तुल्य होगा। अदृश्य व्यापार व सेवाओं को मिलाकर चालू खाते का कुल घाटा 2,231 करोड़ रुपये का अनुमानित किया गया था। परन्तु जब पाँचवीं योजना को 1976 में अन्तिम रूप दिया गया तो आयातों (28,524 करोड़ रुपये) व निर्यातों (21,722 करोड़ रुपये) का अन्तर 6,802 करोड़ रुपये तथा व्यापार का कुल घाटा 6,802 करोड़ रुपये अनुमानित किया गया। अदृश्य व्यापार सहित चालू खाते का कुल घाटा 1974-

1 Reserve Bank of India, *Report on Currency and Finance*, 1973-74.

79 के मध्य 5 431 करोड रुपये अनुमानित किया गया। इसमें 2,377 करोड रुपये निवल हस्तान्तरण राशि, तथा ऋण सेवाओं की 1,180 करोड रुपये को भी समायोजित किया गया था। परन्तु नियोजकों की अपेक्षा से विपरीत हमारे व्यापार की प्रतिकूल बाकी में अनवरत रूप से वृद्धि होती रही। इसके साथ ही ऋण सेवाओं के रूप में भी भारत को योजना के प्रथम तीन वर्षों में ही 1 200 करोड रुपये से अधिक का भुगतान करना पडा। परन्तु विदेशों में बसे प्रवासी भारतीयों द्वारा प्रेषित धनराशि ने भारत की भुगतान-सन्तुलन स्थिति को अत्यन्त सन्तोषप्रद स्थिति में ला दिया। इसी अवधि में भारत द्वारा 1976-77 व 1977-78 में क्रमश: 303 करोड तथा 248 करोड रुपये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को चुका दिये गये।

छठी पंचवर्षीय योजना एवं भुगतान-सन्तुलन के अनुमान—छठी पंचवर्षीय योजना-काल में यह अनुमान किया गया था कि इस अवधि (1980-85) में व्यापार-शेष की प्रतिकूल राशि 17,800 करोड रुपये की रहेगी परन्तु अदृश्य प्राप्तियों तथा भुगतान की शुद्ध अनुकूल राशि 8,700 करोड रुपये होने के कारण चालू खाते की प्रतिकूल राशि घटकर 9,100 करोड रुपये की रह जायगी। इस घाटे की पूर्ति हेतु 5 900 करोड रुपये की विदेशी सहायता (निवल राशि) तथा अन्य स्रोतों से 3,200 करोड रुपये की व्यवस्था करने का प्रावधान था।

जहाँ योजना के प्रथम वर्ष में हमारा आयात 12,549 करोड रुपये था, 1984-85 के अन्त में बढकर 16,485 करोड रुपये का हो गया। पूरी योजना-अवधि का व्यापार-घाटा कुल 28 167 करोड रुपये का रहा। किन्तु, इसी अवधि में अदृश्य मदों (अनुदान को छोडकर) से वास्तविक प्राप्ति 16,500 करोड रुपये की होने के कारण वास्तविक घाटा 11,667 करोड रुपये का हुआ।

सातवीं योजना (1985-90) एवं भुगतान-सन्तुलन के अनुमान—सातवीं योजना में निर्यातों की मात्रा में लगभग 7% वार्षिक वृद्धि दर तथा आयातों में लगभग 5·8% वार्षिक वृद्धि-दर के लक्ष्य रखे गये। योजनाकाल में क्रूड तेल व पेट्रोल पदार्थों एवं उर्वरकों के आयात 1989-90 में 1984-85 की तुलना में अधिक आँके गये हैं। लेकिन इस्पात, सीमेण्ट, सिन्थेटिक रेशों, अखबारी कागज व अलौह धातुओं में इस अवधि में आयातों के कम होने के अनुमान लगाये गये हैं। सातवीं योजना के पाँच वर्षों में चालू खाते में कुल घाटा 20 हजार करोड रुपये आँका गया है जिसके लिए विदेशों से भारी मात्रा में सहायता लेनी होगी। भारत सरकार के अनुसार 31 मार्च, 1988 को विदेशी कर्ज की राशि 55 हजार करोड रुपये आँकी गयी है, जबकि वाशिंगटन के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संस्थान ने इसे 90 हजार करोड रुपये बतलाया है। भारत पर कर्ज का ब्याज चुकाने का भार काफी ऊँचा हो गया है। 1988-89 में भारत सहायता क्लब से 6 3 अरब डालर की भारी मात्रा में सहायता के स्वीकृत होने से इस वर्ष संकट को कम करने में काफी मदद प्राप्त हुई, लेकिन इसके आगे के वर्षों में कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं। अत: विदेशी सहायता का उत्पादक ढंग से उपयोग किया जाना चाहिए।

भारत के भुगतान-सन्तुलन की स्थिति की समीक्षा

भारत के भुगतान-सन्तुलन की दशा, जो 1980 के पूरे दशक में कठिन बनी रही, अब अत्यन्त खराब हो गयी है। चालू दशाब्दी में यह दूसरा मौका है जब देश को विदेशी विनिमय की तीव्र समस्या का सामना करना पड रहा है। इससे पूर्व यह समस्या 1980 के प्रारम्भ में आयी थी जब विश्व-बाजार में तेल की कीमत बहुत तेजी से बढी थी। उस समय इस समस्या से निपटने के लिए IMF से 5 बिलियन SDR का ऋण प्राप्त किया गया था, जो तीन वर्षों में प्राप्त होना था। बीच में भुगतान-सन्तुलन की दशा में सुधार होने के कारण इस ऋण की आखिरी किश्त 0 9 बिलियन SDR की प्राप्त नहीं की गयी थी। जिस समय इस ऋण को प्राप्त करने की बातचीत चल रही थी उस समय यह कहा गया था कि आठवीं योजना के प्रथम वर्ष में भुगतान-सन्तुलन की दशा में पर्याप्त सुधार हो जायेगा। परन्तु अब यह आशा धूमिल होती नजर आ रही है।

नवीनतम आर्थिक समीक्षा के अनुसार बाह्य भुगतानों की स्थिति समस्त सातवीं योजना में कठिन बनी रहने के पीछे अनेक मध्यकालीन तत्व उत्तरदायी हैं, जिनमें से प्रमुख हैं—घरेलू तेल के उत्पादन की वृद्धि-दर में कमी, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में संरक्षण की प्रवृत्ति का बढना, IMF तथा

अन्य संस्थाओं के ऋण की वापसी, बाह्य सहायता के लिए प्रतिकूल वातावरण इत्यादि। इस समस्या से निपटने के लिए सरकार ने आयातों पर कड़े नियन्त्रण लगाने का निर्णय लिया है।

पिछले एक वर्ष में ही देश के विदेशी विनिमय कोषों में बहुत तेजी के साथ कमी आयी है। यह कोष, जो मार्च 1987 में 8,317 करोड़ रुपये के थे, घटकर मार्च 1988 में 7,686 करोड़ रुपये के रह गये। इसके पश्चात् इनमें बहुत तेजी से कमी हुई और 10 मार्च, 1989 को यह 5,035 करोड़ रुपये के ही रह गये। इसके पश्चात् इनमें थोड़ा सा सुधार हुआ और यह 31 मार्च, 1989 को बढ़कर 6,000 करोड़ रुपये के हो गये। वास्तव में इसका कारण भोपाल गैस समझौते के अन्तर्गत 470 मिलियन डालर का प्राप्त होना रहा है। इस दशा में भी इतने विनिमय कोष देश के ढाई माह के आयातों के बिलों का भुगतान करने में भी समर्थ नहीं हैं। इसके अतिरिक्त यदि इन कोषों में से गैर-प्रवासी भारतीयों की जमाओं को निकाल दिया जाय तो दशा और भी खराब हो जायगी।

1980 के दशक में व्यापार घाटे में निरन्तर वृद्धि होती रही है और यह दशा सातवीं योजना में छठी योजना की तुलना में अधिक खराब रही है। 1984-85 में व्यापार घाटा 5,390 करोड़ रुपये का था, जो बढ़कर 1985-86 तथा 1986-87 में क्रमशः 8 763 करोड़ रुपये तथा 9,354 करोड़ रुपये का हो गया। 1987-88 में यद्यपि यह अन्तर घटकर 6,660 करोड़ रुपये का हो गया परन्तु इसके पुनः 1988-89 में बढ़कर 8,000 करोड़ रुपये रहने का अनुमान है।

वाणिज्य मन्त्रालय की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार 1988-89 के प्रथम 10 माह में निर्यात प्राप्तियाँ 15,992 करोड़ रुपये की रहीं जो पिछले वर्ष की इसी अवधि की तुलना में 26·8 प्रतिशत अधिक हैं। वास्तव में इस वृद्धि का कारण रुपये की विनिमय दर में ह्रास होना है। डालर के रूप में इस समयावधि में निर्यात-वृद्धि केवल 14 8 प्रतिशत की है। इसी समयावधि में आयातों में भी तेजी से वृद्धि हुई और यह बढ़कर 22,988 करोड़ रुपये के हो गये जिनमें पिछले वर्ष की तुलना में 27 5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस प्रवृत्ति का कारण 1985 में सरकार द्वारा आर्थिक नीतियों का उदारीकरण है। उदारीकरण के परिणामस्वरूप निर्यातों में आशाजनक वृद्धि नहीं हो सकी है। हाँ, आयातों में अवश्य बहुत तेजी से वृद्धि हुई है।

व्यापार-घाटे को कम करने में अदृश्य प्राप्तियों का प्रारम्भ के वर्षों में जो योगदान था वह अब कम होता जा रहा है। छठी योजना में शुद्ध अदृश्य प्राप्तियों ने व्यापार-घाटे को औसतन 60 प्रतिशत कम कर दिया था। अदृश्य प्राप्तियों का अनुपात, जो व्यापार-घाटे का 1980-81 में 72 प्रतिशत था, घटकर 1984-85 में 57 प्रतिशत रह गया। इसके पश्चात् के वर्षों में यह अनुपात 38 प्रतिशत के आस-पास रहा।

भारत का भुगतान सन्तुलन : प्रमुख सूचक

(सकल घरेलू उत्पाद का प्रतिशत)

वर्ष	निर्यात	आयात	व्यापार-सन्तुलन	शुद्ध अदृश्य प्राप्तियाँ	चालू खाते का शेष
1980-81	4·8	9 2	—4 4	2 8	—1·6
1981-82	4 9	8·7	—3 8	2 1	—1 8
1982-83	5 1	8 4	—3·3	1 7	—1 5
1983-84	4·9	7 7	—2 8	1 5	—1·3
1984-85	5 2	8·1	—2 9	1 4	—1 5
1985-86	4 4	8·1	—3·7	1 3	—2·4
1986-87	5·1	8 7	—3·6	1 2	—2 4
1987-88	5·3	7 7	—2 4	1 2	—1 2
1988-89	5·7	8 0	—2·3	1 1	—1 2

पिछले अनेक वर्षों से अदृश्य प्राप्तियाँ 3,500 करोड़ रुपये से 3,900 करोड़ रुपये के बीच रही हैं। इसी के साथ यह, जो 1980-81 में GDP का 2·8 प्रतिशत थीं, कम होकर 1987-88 में 1·2 प्रतिशत के आस-पास रह गयी है।

1988-89 की आर्थिक समीक्षा के अनुसार भारत के मध्यकालीन व दीर्घकालीन ऋणो की मात्रा 1987-88 मे 55,000 करोड रुपये थी। परन्तु इसमे केवल सरकारी तथा गैर-सरकारी खाते के घाटे ही शामिल हैं। अन्य दायित्व जैसे भारतीय बैंको के पास गैर-प्रवासी भारतीयो की जमाएँ आदि इसमें शामिल नही हैं। एक अनुमान के अनुसार 1988 के अन्त मे भारत के बाह्य ऋणो की मात्रा 76 000 करोड रुपये थी और इसके 1989 के अन्त तक 90,000 करोड रुपये पहुँच जाने की आशा है। बाह्य ऋणो के सम्बन्ध मे चिन्ता का विषय क्रमशः व्यापारिक उधारियो का बढना है क्योंकि विश्व बैंक, IDA आदि सस्थाओ ने छूट वाले ऋणो मे कमी कर दी है। भारत के व्यापारिक ऋण, जो मार्च 1982 के अन्त मे 1,269 मिलियन डालर के थे, बढकर मार्च 1986 मे 6,263 मिलियन डालर के हो गये। मार्च 1989 तक इनके 12,000 मिलियन डालर पहुँच जाने की आशा थी। अभी हाल के वर्षों मे भारत के ऋण-भुगतान तथा ऋण-सेवा के भार मे अत्यधिक वृद्धि हुई है। अनुमान है कि ऋण-सेवा अनुपात जो 1983-84 मे 13·3 प्रतिशत था, बढकर 1988-89 मे 26 8 प्रतिशत हो गया है।

भुगतान-सन्तुलन की इस वर्तमान कठिन परिस्थिति से निपटने का कोई आसान तरीका नही है। इसके साथ व्यापारिक ऋणो तथा ऋण-सेवा अनुपात मे वृद्धि और जटिल परिस्थिति पैदा किये हुए हैं। आयातो पर कडे नियन्त्रण से जहाँ निर्यात-वृद्धि पर बुरा प्रभाव पड़ेगा वहाँ समस्त आर्थिक विकास पर भी प्रतिकूल प्रभाव होगा। अत इस समस्या से निपटने हेतु कुछ कदम उठाने होंगे। अल्पकालीन समस्याओ से निपटने के लिए जहाँ IMF से ऋण प्राप्त करने पड़ेंगे वहाँ मध्य-कालीन तथा दीर्घकालीन समस्याओ से निपटने के लिए आयात-शुल्को तथा निर्यात-अनुदानो के ढाँचे तथा एक सीमा तक विदेशी पूँजी के आगमन की नीति का पुनर्गठन करना होगा। तकनीकी, पूँजीगत वस्तुओ तथा कच्चे माल के क्षेत्र मे जहाँ उदार आयात नीति अपनानी चाहिए वहाँ गैर-आवश्यक उपभोग वस्तुओ पर प्रतिबन्धात्मक नीति अपनानी चाहिए। इसके अतिरिक्त उपभोग *प्रवृत्ति को कम करना चाहिए तथा घरेलू बचतो को बढाने हेतु कदम उठाने चाहिए क्योंकि हाल* के वर्षों मे घरेलू बचतो की दर मे कमी आयी है।

व्यापार घाटे की समस्या
[PROBLEM OF TRADE DEFICITS]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत को भारी व्यापार-घाटे का सामना करना पड रहा है। यह घाटा मुख्य रूप से पूँजीगत माल, अनुरक्षण माल, औद्योगिक कच्चे माल एवं खाद्यान्नो के आयात के कारण हुआ है।

साधारणतया व्यापार-घाटे को दो कारणो से बुरा माना जाता है। एक तो यह कि निर्यात *की अपेक्षा आयात अधिक होने से आयात-आधिक्य होता है जिसका भुगतान या तो सोने मे करना* पडता है अथवा विदेशी मुद्रा मे करना होता है। इसे बुरा मानने का दूसरा कारण यह है कि घाटे की अर्थ-व्यवस्थाओ को सामान्यतः ऐसी कमजोर अर्थ-व्यवस्था मान लिया जाता है जो खरीदे हुए माल का भुगतान करने में असमर्थ होती है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे ऐसी अर्थ-व्यवस्था की साख कम हो जाती है। परन्तु इस सन्दर्भ मे भारत के व्यापार-घाटे के विषय मे निम्न बातें महत्वपूर्ण हैं :

(i) हमारा व्यापार-घाटा ऐसी वस्तुओं के आयात मे वृद्धि के कारण हुआ जो मुख्य रूप से अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिए प्रयुक्त की गयी। प्रथम योजना के अन्तिम वर्ष मे तथा द्वितीय एवं तृतीय योजनाओं के काल मे मुख्य रूप से मशीनो आदि पूँजीगत वस्तुओ का आयात हुआ। *तृतीय योजना के अन्तिम वर्षों मे, वार्षिक योजनाओ के समय मे तथा चतुर्थ योजना काल मे* मशीनो के आयात के साथ-साथ अनुरक्षण वस्तुओ, औद्योगिक कच्चे माल तथा खाद्यान्नो का भी भारी मात्रा मे आयात किया गया। इसका कारण यह था कि विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे तो पूँजीगत माल (capital intensive commodities) की प्रधानता होती है और उसके बाद इस प्रकार के माल के साथ-साथ इन मशीनो को चालू रखने और उनका पोषण करने के लिए अनुरक्षण वस्तुओं तथा कच्चे माल का आयात भी महत्वपूर्ण बन जाता है। इस अर्थ मे भारतीय आयात विकास के लक्ष्य की पूर्ति कर रहे हैं।

(ii) आयातों के विषय में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि ये योजनाबद्ध हैं अर्थात् स्वयमेव ही इनकी आवश्यकतानुसार व्यवस्था की गयी है। इसी के साथ आयात-प्रतिस्थापन की वस्तुओं के उत्पादन की नीति को भी अपनाया गया है। जो भी आयात किये गये, वे सब प्रायोजनाओं के लिए थे और विदेशी मुद्रा के साधनों को ध्यान में रखकर किये गये थे।

(iii) हमारे व्यापार घाटे का एक कारण हमारे निर्यातों की बेलोचदार माँग भी है। हाल में ही भारत ने कुछ गैर-परम्परागत वस्तुओं का निर्यात करना प्रारम्भ किया है, जैसे इंजीनियरिंग की वस्तुएँ, कच्चा लोहा, तथा इस्पात आदि। अभी तक इन वस्तुओं के निर्यात की प्रगति सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। हमारे निर्यातों का लगभग आधा भाग अब भी परम्परागत वस्तुओं का ही है, जैसे चाय, कॉफी, जूट की वस्तुएँ, सूती वस्त्र तथा कुछ कृषिगत पदार्थ आदि। अधिकांश परम्परागत वस्तुओं की कीमत तथा आय की लोचें सापेक्ष रूप से कम हैं। परिणामस्वरूप, पिछली दशाब्दी में इन वस्तुओं से प्राप्त आय में सन्तोषजनक वृद्धि नहीं हो पायी है। दूसरे, इन वस्तुओं को विदेशी व्यापार में कड़ी प्रतियोगिता का सामना भी करना पड़ जाता है, अतः इन वस्तुओं के निर्यात का भविष्य उज्ज्वल नहीं। इसके फलस्वरूप हमारे भरसक प्रयत्न करने के पश्चात् भी हम अपने परम्परागत वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि करने में असमर्थ रहे हैं।

(iv) वर्तमान वर्षों में भारतीय वस्तुओं के लिए व्यापार की शर्तें बहुत कुछ प्रतिकूल हो गयी हैं। *तालिका 27·1 से स्पष्ट है कि भारत के लिए शुद्ध व्यापार की शर्तें पिछले कुछ वर्षों में बहुत गिर गयी हैं।*

तालिका 27·1

भारत के निर्यात, आयात तथा व्यापार-शर्तों के निर्देशांक

(आधार वर्ष 1978-79 = 100)

	निर्यात		आयात		व्यापार-शर्तें		
	इकाई-मूल्य निर्देशांक	मात्रा निर्देशांक	इकाई-मूल्य निर्देशांक	मात्रा निर्देशांक	सकल	शुद्ध	आय
1969-70	44	56	35	65	117	125	70
1970-71	45	59	35	67	114	127	75
1971-72	46	59	33	81	136	140	83
1972-73	51	67	34	77	116	150	100
1973-74	62	70	49	88	125	127	88
1974-75	78	74	85	77	105	92	68
1975-76	84	[illegible]	99	76	93	85	69
1976-77	89	97	96	76	79	93	90
1977-78	100	93	88	100	107	114	106
1978-79	100	100	100	100	100	100	100
1979-80	105	106	114	116	110	92	98
1980-81	109	108	134	138	128	81	87
1981-82	124	110	133	151	131	93	103
1982-83	132	117	136	155	132	97	113
1983-84	151	113	126	185	164	120	136
1984-85	170	121	162	156	129	105	127
1985-86	171	111	160	181	163	107	119

(v) तालिका 27·1 से स्पष्ट है कि पिछले कुछ वर्षों में भारत के निर्यातों में हुई वृद्धि का मुख्य कारण इनके इकाई मूल्य (unit value) में वृद्धि होना रहा है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा स्फीति का परिणाम है। 1978-79 को आधार वर्ष मानते हुए (1978-79 = 100) निर्यातों का प्रति इकाई मूल्य निर्देशांक (unit value index) 1985-86 में 171 था और मात्रा निर्देशांक (quantum index) 171 था। अतः स्पष्ट है कि निर्यातों के आकार में इतनी अधिक वृद्धि

नहीं हुई जितनी कि कुल मूल्यों में हुई है। निर्यातों में वृद्धि की अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्ति को देखते हुए भारत के निर्यातों में वृद्धि सन्तोषजनक नहीं है। हमारे निर्यात मन्द गति से बढ़ रहे हैं, परन्तु विश्व-निर्यात के प्रतिशत के रूप में भारत का निर्यात-अंश उत्तरोत्तर गिरता चला गया है। उदाहरण के लिए, 1948 में 2.4% से घटकर 1951 में यह विश्व-निर्यात का 2% तथा 1961 में 1.3% एवं 1965 में 1.1% रह गया। पुन: 1988 में भारत का विश्व-निर्यात में अंश केवल 0.40% ही रह गया। इसके विपरीत आयातों के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि हुई है। 1978-79 के आधार पर आयातों का प्रति इकाई मूल्य निर्देशांक 1985-86 में बढ़कर 160 तक पहुँच गया जबकि मात्रा निर्देशांक 181 था। हमारे आयातों की वृद्धि में आयात-पदार्थों के मूल्य में वृद्धि का अधिक योगदान है जबकि मात्रा में वृद्धि तो केवल नाममात्र की ही हुई है। इन सबके परिणाम-स्वरूप भारत के लिए व्यापार की शर्तें (terms of trade) प्रतिकूल हो गयी हैं। अतः भारत के व्यापार-सन्तुलन एवं भुगतान-सन्तुलन के प्रतिकूल होने का यह एक महत्वपूर्ण कारण है।

(vi) तेल-समस्या (oil crisis) भी भुगतान-सन्तुलन को प्रतिकूल बनाने में सहायक हुई है। 1978-79 को आधार वर्ष मानते हुए, पैट्रोल तथा इससे बनी हुई वस्तुओं की कीमतों में लगभग 8 गुनी वृद्धि हो गयी है। इसके साथ-साथ ही इन वस्तुओं के आयात को भी कम नहीं किया जा सका। इसके परिणामस्वरूप पैट्रोल की वस्तुओं का आयात पिछले तीन वर्षों (1983-84, 1984-85 व 1985-86) में लगभग 3½ गुना बढ़ गया। पुन: 1969-70 के बाद से अब तक खनिजों, ईंधन आदि की कीमतों में पाँच गुना वृद्धि हो गयी है तथा रासायनिक पदार्थों (chemical products) की कीमतों में 4 गुनी वृद्धि हुई है। इन सबके कारण भारत का भुगतान-सन्तुलन असन्तुलित हो गया है। परन्तु 1980 से अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में क्रूड ऑयल की कीमतें कम हो रही हैं और इसका लाभ भी भारत को मिला है। फिर भी देश में पूर्वापेक्षा काफी अधिक मात्रा का आयात करने से तेल का आयात बिल 1982-83 में बढ़कर लगभग 5,600 करोड़ रुपये तक पहुँच गया था।

(vii) बाह्य ऋणों की सेवाओं (मुख्यतया ब्याज) का भार भी भुगतान-असन्तुलन को प्रतिकूल बनाने में सहायक हुआ है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में विदेशी ऋणों का ब्याज 13 करोड़ रुपये था। तीसरी योजना में इन ऋणों की सेवाओं का भार बढ़कर 543 करोड़ रुपये हो गया जिसमें से ब्याज की राशि 237 करोड़ रुपये थी। पुन: 1974-75 में 626 करोड़ रुपये तथा 1975-76 में 687 करोड़ रुपये विदेशी ऋणों की सेवाओं के रूप में भुगतान किये गये। 1981-82 में भारत ने विदेशों को कुल 837 करोड़ रुपये चुकाये जिनमें से 206 करोड़ रुपये ब्याज था, एवं शेष राशि मूलधन से सम्बद्ध किश्त थी। अगर भविष्य में हमारी विदेशों पर निर्भरता में वृद्धि हुई तो इन ऋणों की सेवाओं का भार और अधिक हो जाने का भय बना हुआ है।

उपर्युक्त सभी कारणों से देश का भुगतान-सन्तुलन अभी तक भी प्रतिकूल बना हुआ है।

वस्तुत भारत की प्रतिकूल भुगतान-शेष-स्थिति के लिए हाल के वर्षों में निम्न कारण उत्तरदायी रहे हैं :[1]

(1) पैट्रोलियम पदार्थों का भारी आयात-बिल जारी रहना।

(2) पूँजीगत वस्तुओं, मध्यवर्ती साधनों, खाद्य तेलों तथा उर्वरकों जैसे आवश्यक आयातों की मात्रा व कीमतों में वृद्धि होना।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा अन्य स्रोतों से लिये हुए ऋणों का भुगतान। ये भुगतान 1986-87 में और अधिक होंगे।

(4) अदृश्य व्यापार की मदों में भुगतानों की राशि में गत दो-तीन वर्षों में पर्याप्त वृद्धि होना। ऐसी आशंका है कि अदृश्य व्यापार का अतिरेक 1986-87 से स्थिर हो जायेगा। इससे चालू खाते का घाटा बढ़ेगा।

---

1 S Kumarasundaram, "India's Balance of Payment Prospects," *Economic & Political Weekly*, Feb. 22, 1986.

(5) 1985-86 का व्यापार घाटा इस बात का प्रतीक है कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में हमारी निर्यात-संवर्द्धन-क्षमता अधिक सफल नहीं रह पायी है। एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षणवाद हमारे लिये बाधक सिद्ध हो रहा है, तो दूसरी ओर हमारी विनिमय दरें अब भी अवास्तविक स्तर पर बनी हुई हैं। 1984-85 व 1985-86 के निर्यातों में से क्रूड ऑयल के निर्यात कम कर दिये जायें तो हमारा निर्यात व्यापार और भी अधिक निराशाजनक वृद्धि दर्शाता है।

1985-86 व 1986-87 के लिए हमारे भुगतान सन्तुलन की स्थिति को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है

(करोड़ रुपये में)

	1985-86	1986-87
निर्यात	10,500	11,250
आयात	18,000	17,000
व्यापार-घाटा	(—) 7,500	(—) 5,750
ऋणों का भुगतान	3,000	3,750
अदृश्य प्राप्तियाँ	4,250	4,000
भुगतान-सन्तुलन-शेष	(—) 6,250	(—) 5,500

इस प्रकार 1986-87 में भुगतान-शेष की प्रतिकूलता 1985-86 की तुलना में कुछ कम हुई। यदि आयातों की वृद्धि का क्रम जारी रहा तो सम्भवतः प्रतिकूल भुगतान-शेष की समस्या और भी गम्भीर हो जायेगी।

भुगतान-असन्तुलन की समस्या को दूर करने के उपाय [REMEDIES TO SOLVE THE PROBLEM OF BALANCE OF PAYMENT DISEQUILIBRIUM]

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि भुगतान-सन्तुलन प्रति वर्ष निश्चित रूप से सन्तुलित हो जाता है या कर लिया जाता है, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि भुगतान-सन्तुलन सदैव ही सन्तुलित रहता है। वास्तव में, चालू खाते में (आयात-निर्यात तथा विभिन्न सेवाओं की मदों को सम्मिलित करते हुए) भुगतान-सन्तुलन देश के विपक्ष में हो सकता है। इसे ठीक करने के लिए निम्नलिखित उपायों को प्रयुक्त किया जाता है -

(1) **निर्यातों को प्रोत्साहन**—भारत की वर्तमान समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में चालू खाते में भुगतान-असन्तुलन ठीक करने के लिए सबसे महत्वपूर्ण उपाय यह है कि देश के निर्यातों में बड़ी मात्रा में वृद्धि की जाय। ऋण भारों (burden of debts) को चुकाने की जो बड़ी समस्या हमारे सामने है और जिसे वर्तमान में हम और अधिक कर्जा लेकर सुलझाने का प्रयत्न कर रहे हैं, उसका समाधान यही है कि हम उन ऋणभारों को अपनी आय से ही चुकायें। इसके अतिरिक्त, विदेशी सहायता मिलने में अनिश्चितता और उसमें निरन्तर होने वाली गिरावटों की प्रवृत्ति को देखते हुए भी यह आवश्यक है कि हम अपने निर्यातों को बढ़ायें जिससे विदेशी सहायता की अपर्याप्तता को पूरा किया जा सके।

यद्यपि भारत को निर्यातों में वृद्धि करने की बड़ी आवश्यकता है, किन्तु अभी तक हम अपनी आशाओं को पूरा करने में असफल रहे हैं। जैसा कि 23वें अध्याय में बताया गया था, निर्यात-संवर्द्धन के लिए सरकारी नीति का आरम्भ द्वितीय योजना-काल में हुआ। पहली दो योजनाओं में विशेष जोर आयात-प्रतिस्थापन पर था। तीसरी योजना में निर्यात-प्रोत्साहन की नीति को अपनाया गया। *6 जून, 1966 को निर्यात बढ़ाने के लिए रुपये का 36.5 प्रतिशत अवमूल्यन* किया गया। इससे पूर्व निर्यात बढ़ाने के लिए कई वस्तुओं पर से निर्यात कर हटाये गये अथवा इनमें कमी की गयी। निर्यात-संवर्द्धन-परिषदें स्थापित की गयीं। निर्यात-साख व गारण्टी निगम स्थापित किया गया। राज्य व्यापार निगम स्थापित किया गया। हमारी निर्यात योग्य वस्तुओं के लिए नये बाजारों की खोज भी की जा रही है। 1971 के आरम्भ में व्यापार विकास अधिकरण

(TDA) की स्थापना की गयी। अन्य देशों के साथ व्यापार-समझौते किये गये। निर्यात बढाने के लिए नकद सहायता (cash assistance), निर्यात के लिए साख की उदार व्यवस्था एवं करो में आवश्यक परिवर्तन करने की नीतियाँ भी अपनायी गयी हैं। सातवी योजना मे निर्यात-संवर्द्धन हेतु देश के उद्योगो की स्पर्द्धाशीलता बढाने पर जोर दिया गया है।

(2) *आयातों पर नियन्त्रण*—निर्यातो को प्रोत्साहित करने के साथ-साथ आयातो का यथोचित नियन्त्रण करना आवश्यक है। 1956-57 के बाद से प्रतिबन्धात्मक आयात-नीति प्रारम्भ की गयी जिसके अनुसार खाद्यान्नो के अतिरिक्त अन्य सभी उपभोक्ता वस्तुओं के आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। जब विदेशी मुद्रा-सकट अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया, तब उस समय पूँजीगत माल के आयातो पर भी प्रतिबन्ध लगा दिये गये। परन्तु गैर-उपभोक्ता वस्तुओं के मामले मे चयनात्मक नीति का ही अनुसरण किया गया। आयोजन-काल के बहुत प्रारम्भ में शुरू की गयी आयात-प्रतिस्थापन की नीति आज तक चल रही है। चतुर्थ योजना के अन्तिम वर्षों में इसी नीति को और भी महत्व प्रदान कर दिया गया है तथा पाँचवी योजना मे भी इसका अनुसरण किया गया है। छठी पचवर्षीय योजना मे भी आयातो को कम करने का प्रयास किया जा रहा है।

(3) *विनिमय नियन्त्रण*—सरकार आयात-निर्यात नीतियो मे कठोरता लाने के लिए विदेशी मुद्रा के लेन-देन पर भी यथोचित नियन्त्रण लगा देती है, जिससे निर्यातो द्वारा अर्जित विदेशी मुद्रा अनिवार्य कार्यों के लिए ही प्रयुक्त की जाती है। भारत मे इस उपाय को भी अपनाया जाता है।

(4) *विदेशी पर्यटकों को प्रोत्साहित करना*—देश मे विदेशी यात्रियों तथा पर्यटको के लिए विशेष सुविधाओं की व्यवस्था करनी चाहिए। जैसा कि ऊपर बतलाया गया था, आज विदेशी पर्यटकों से भारत को प्रतिवर्ष लगभग 1,100 करोड रुपये की प्राप्ति होने लगी है। इस दिशा म और अधिक प्रयास करने की आवश्यकता है।

(5) *उत्पादन मे वृद्धि*—देश मे कपास व कच्चे जूट के उत्पादन में वृद्धि करके इनका आयात कम करने का प्रयत्न किया गया है। निर्यात उद्योगो में भी उत्पादन मे वृद्धि करने हेतु इनके लिए आवश्यक पूँजी कच्चा माल व यन्त्रो की व्यवस्था करनी होगी। यही नहीं, उत्पादकता मे भी वृद्धि करने हेतु उद्योगो का आधुनिकीकरण करना आवश्यक है ताकि निर्यातोन्मुखी उद्योगों के उत्पादन मे वृद्धि के साथ-साथ इनकी उत्पादन लागतो मे भी कमी हो। इससे इन उद्योगों की अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो मे स्पर्द्धाशीलता बढेगी।

आगामी वर्षों में भी इन सब प्रयत्नो को जारी रखा जायगा। हम यह तो नहीं कह सकते कि 1994-95 तक हम अपने भुगतान खातो को पूर्णत. सन्तुलित कर लेंगे, फिर भी हमें यह मानना होगा कि इस दिशा मे सरकार द्वारा किये जा रहे उपायो का पर्याप्त अनुकूल प्रभाव हुआ है।

प्रश्न एवं उनके संकेत

1 **व्यापार-सन्तुलन और भुगतान-सन्तुलन मे अन्तर बताइए। भारत सरकार द्वारा अपने भुगतान-असन्तुलन को दूर करने के लिए किये गये उपायों का संक्षिप्त मे वर्णन कीजिए।**

Distinguish between balance of trade and balance of payment. Briefly discuss the measures adopted by Government of India to correct its adverse balance of payments.

[संकेत—विद्यार्थियो को चाहिए कि वे पहले व्यापार-सन्तुलन तथा भुगतान-सन्तुलन के अर्थों को स्पष्ट करें। यह स्पष्ट करें कि व्यापार-सन्तुलन, भुगतान-सन्तुलन का एक भाग है। फिर हमारे देश के प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन की स्थिति का वर्णन करिये तथा इसके दूर करने के लिए भारत सरकार द्वारा किये गये प्रयत्नो की विवेचना कीजिए।]

2. भुगतान-सन्तुलन का क्या अर्थ है ? भारत के भुगतान-असन्तुलन की विषमता के कारणों का विवेचन कीजिए।

   What is meant by balance of payments ? Discuss the reasons of adverse balance of payments of India

3 भारत के प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन की विवेचना कीजिए। इसे समुचित करने के लिए सरकार ने क्या उपाय किये हैं ?

   Account for the adverse balance of payments in India. What has been done by the government so far to set the balance rights ?

   [संकेत—प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर में विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत विद्यमान प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन की स्थिति को स्पष्ट कीजिए तथा अध्याय के अन्त में वर्णित उपायों का उल्लेख कीजिए।]

28

भारत एवं अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सुधार

[INDIA & INTERNATIONAL MONETARY REFORMS]

22 जुलाई, 1972 को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के बोर्ड ऑफ गवर्नर्स द्वारा पारित एक प्रस्ताव द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सुधार एवं सम्बद्ध विषयों पर एक समिति (The Committee on Reform of the International Monetary System and Related Issues) की स्थापना की गयी। इसे कमेटी ऑफ ट्वेन्टी (20 देशों की समिति) (Committee of Twenty) भी कहा जाता है। इस समिति को अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था से सम्बद्ध सभी पहलुओं पर विचार करने तथा इसमें सुधार हेतु अपने सुझाव देने का दायित्व सौंपा गया। इस समिति ने 14 जून, 1974 को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें तात्कालिक कार्यान्विति हेतु कुछ सुझावों के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में सुधार हेतु भी मार्गदर्शन प्रदान किया।

कमेटी ऑफ ट्वेन्टी में भारत का प्रतिनिधित्व तत्कालीन वित्त-मन्त्री श्री यशवन्तराव बी चह्वाण ने किया था। प्रस्तुत अध्याय में हम देखेंगे कि कुल मिलाकर उक्त समिति ने अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सुधार हेतु कौन-से प्रमुख सुझाव दिये तथा इस सम्बन्ध में भारत की स्थिति एवं दृष्टिकोण को किस रूप में प्रस्तुत किया गया। इससे पूर्व यह बता देना उचित होगा कि अगस्त 1971 में अमरीका द्वारा डालर की परिवर्तनशीलता को समाप्त करने एवं जून 1972 में पौण्ड स्टर्लिंग तथा स्विस फ्रैंक की स्थिति के डाँवाडोल होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय बाजारों में अस्थिरता का वातावरण बनने लगा था एवं इससे सट्टा प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिल रहा था। 1973 में अरब देशों द्वारा क्रूड ऑइल के मूल्यों में भारी वृद्धि के पश्चात् नवम्बर-दिसम्बर 1973 तक विश्व भर में गम्भीर तेल-संकट (oil crisis) उत्पन्न हो गया था तथा इसके बाद विद्यमान अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली की सीमित उपादेयता और भी स्पष्ट हो गयी थी। इन परिस्थितियों पर विचार करते हुए कमेटी ऑफ ट्वेन्टी ने यह निर्णय किया कि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में सुधार हेतु निम्नलिखित बातों का ध्यान रखा जाय

(i) भुगतान प्रणाली में समायोजन की व्यवस्था इस प्रकार की जाय कि अतिरेक (surplus) व घाटे (deficit) वाले देशों द्वारा स्वयमेव सुधारात्मक (corrective) कदम उठाये जा सकें।

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के अधिकार-क्षेत्र में वृद्धि की जाय ताकि यह भुगतानों में समायोजन की प्रक्रिया पर अधिक प्रभावपूर्ण नियन्त्रण रख सके एवं साथ ही श्रेष्ठ ढंग से सदस्य देशों को परामर्श दे सके।

(iii) विनिमय-दरों के समता मूल्यों में समायोजन की छूट दी जाय तथा एक सीमा तक परिस्थिति के अनुसार इनमें परिवर्तनशीलता के महत्व को समझा जाय।

(iv) विशेष आहरण (ड्राइंग) अधिकारों (SDRs) को प्रमुख सुरक्षित (reserve) पावने के रूप में स्वीकार करते हुए सुरक्षित मुद्राओं की भूमिका को कम किया जाय।

(v) विकासशील देशों को उपयुक्त छूट देते हुए भुगतान-सन्तुलन को ठीक करने हेतु व्यापार पर लगाये जाने वाले प्रतिबन्धों को हतोत्साहित किया जाय।

(vi) यथासम्भव ऐसी व्यवस्था का विकास किया जाय कि वास्तविक साधनों का अधिकाधिक मात्रा में विकसित देशों से विकासशील देशों में आर्थिक विकास हेतु हस्तान्तरण हो सके।

परन्तु कमेटी ऑफ ट्वेन्टी में विद्यमान विकसित देश दीर्घकाल के लिए किसी भी नयी

मौद्रिक व्यवस्था में बँधने के पक्ष में नहीं थे। फलस्वरूप जनवरी 1974 में कमेटी ने अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली की केवल तात्कालिक समस्याओं के समाधान की खोज करने का निर्णय किया।

कुल मिलाकर 1971 में अमरीकी सरकार की इस घोषणा के पश्चात् कि डॉलर स्वर्ण में अब परिवर्तनीय नहीं रहेगा, विकासशील देशों ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान एवं समायोजन सम्बन्धी किसी भी नयी व्यवस्था में विकासशील देशों की विशिष्ट समस्याओं के लिए पृथक् से कोई प्रावधान होना चाहिए। इन देशों की ऐसी धारणा थी कि उनकी भुगतान समस्याएँ विकसित देशों से भिन्न होने के कारण वहाँ विनिमय दरों में समायोजन कम प्रभावशाली तथा अधिक समय लेने वाला होता है।

समिति में विभिन्न प्रतिनिधियों में इस बात पर गहरा मतभेद था कि अतिरेक तथा घाटे वाले देशों के बीच भुगतान-समायोजन की प्रक्रिया का स्वरूप क्या हो। कुछ सदस्य यह चाहते थे कि एक सीमा से अधिक भुगतान-असन्तुलन होने पर पावनों का समायोजन अनिवार्य रूप से (mandatory) किया जाय, जबकि अमरीका व कुछ अन्य देशों के प्रतिनिधियों का यह मत था कि जहाँ सुरक्षित मुद्रा वाले देशों को उनकी मुद्रा की मात्रा बढ़ने पर समस्त अतिरेक को प्राथमिक सुरक्षित पावनों (सोने) या अन्य देशों की मुद्राओं के रूप में परिवर्तित करने से रोक दिया जाय, वहीं अतिरेक वाले देशों (surplus countries) को इस परिवर्तन हेतु बाध्य नहीं किया गया। भारत आदि विकासशील देश समायोजन-प्रक्रिया को कानूनी रूप देने की अपेक्षा इसमें लचीलापन रखने के पक्ष में थे और चाहते थे कि इसके लिए द्विपक्षीय निर्णयों की अपेक्षा बहुपक्षीय निर्णय (multilateral decisions) लिये जायें।

जून 1974 में कमेटी ऑफ ट्वेन्टी की अन्तिम बैठक में तत्कालीन सर्वाधिक गम्भीर अर्थात् विश्व तेल-संकट के तात्कालिक हल हेतु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा संकट के तत्वावधान में तेल (oil facility) का सृजन किया गया। परन्तु विकासशील देशों के उस प्रस्ताव को विकसित देशों का समर्थन नहीं मिल सका जिसके अन्तर्गत नयी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली के अन्तर्गत विशेष आहरण अधिकार (SDRs) तथा विकास-सहायता (development assistance) में प्रत्यक्ष सम्बन्ध होना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में सुधार की प्रथम रूपरेखा

कमेटी ऑफ ट्वेन्टी ने अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में सुधार हेतु प्रथम रूपरेखा सितम्बर 1973 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा विश्व बैंक की वार्षिक बैठक के समय नैरोबी (केनिया) में प्रस्तुत की। इस रूपरेखा में मौद्रिक व्यवस्था के सुधार हेतु निम्नलिखित महत्वपूर्ण बातों का समावेश किया गया :

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सुधार के मुख्य लक्षण

कमेटी ने अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सुधार के वे ही प्रमुख लक्षण बताये जिनका इसी अध्याय में वर्णन किया जा चुका है। संक्षेप में, कमेटी चाहती थी कि नयी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणाली निम्नलिखित बातों पर आधारित हो :

(अ) विनिमय दर समायोजन की अधिक महत्वपूर्ण भूमिका के लिए इसके समता-मूल्यों (par-values) में परिस्थितियों के अनुरूप निश्चित सीमा तक परिवर्तन की छूट दी जाय।

(ब) असन्तुलन उत्पन्न करने वाले पूँजी-प्रवाहों से निपटने के लिए विभिन्न देशों के मध्य सहयोग की भावना का विकास हो।

(स) असन्तुलन की स्थिति को सुधारने का दायित्व सभी देशों पर डाला जाय तथा इसके लिए परिवर्तनशीलता की उपयुक्त सीमा एवं स्वरूप का निर्धारण किया जाय।

(द) अन्तर्राष्ट्रीय तरलता (international liquidity) का श्रेष्ठतम अन्तर्राष्ट्रीय प्रबन्ध हो जिसके अन्तर्गत विशेष आहरण अधिकारों को प्रमुख सुरक्षित पावने की भूमिका देते हुए स्वर्ण एवं सुरक्षित मुद्राओं के अनावश्यक महत्व को समाप्त किया जाय।

(य) भुगतान समायोजन, परिवर्तनशीलता एवं अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के मध्य सम्बन्धों में निश्चितता एवं अनुरूपता लायी जाय।

(र) अधिक मात्रा मे वास्तविक साधनो के विकासशील देशो को हस्तान्तरण हेतु प्रयास किये जायें।

अब हम इनमे से प्रत्येक के विषय मे कुछ विस्तार से वर्णन करेंगे।

समायोजन प्रक्रिया (Adjustment Process)—यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा भुगतान-सन्तुलन मे अतिरेक एव घाटे वाले देश अपने पावनो मे समायोजन करके भुगतान-सन्तुलन को ठीक करते हैं। कमेटी ऑफ ट्वेन्टी ने सुझाव दिया कि अतिरेक व घाटे वाले दोनो ही प्रकार के देशो को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के तत्वावधान म परस्पर विचार-विमर्श के आधार पर समायोजन हेतु तात्कालिक परन्तु कोई उपयुक्त उपाय खोजना चाहिए। इस उपाय की खोज करते समय सम्बद्ध देशो को अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के परिणाम एव उनके द्वारा किये गये भुगतान-सन्तुलन के समायोजन का अन्य देशो पर क्या प्रभाव होगा, यह भी ध्यान रखना चाहिए। असन्तुलन के ऐसे विषय, जिनका अन्तर्राष्ट्रीय एव व्यापक प्रभाव होने की आशका है, मुद्रा-कोष (I M F) की विशेष बैठको मे विचारार्थ प्रस्तुत किये जायेंगे। विशेष रूप से इन विषयो मे किसी देश के सरकारी सुरक्षित कोषो म अत्यधिक उच्चावचन से उत्पन्न स्थिति को शामिल करने की सिफारिश की गयी। मुद्रा-कोष की परामर्शदात्री समिति ऐसे देशो को अपने आन्तरिक एव बाहरी आर्थिक नीतियो मे समुचित परिवर्तन करते हुए भुगतान-असन्तुलन को ठीक करन की सम्मति दे ऐसा भी सुझाव दिया गया। यह भी कहा गया कि यदि आवश्यक हुआ तो अत्यधिक अतिरेक एव घाटे वाले देशो पर निरन्तर भुगतान-असन्तुलन रहन की स्थिति म वित्तीय एव अन्य प्रकार के दबाव डाले जायें।

'कमेटी ऑफ ट्वेन्टी' ने यह भी सुझाव दिया कि नयी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में विनिमय-दरो को महत्वपूर्ण भूमिका दी जाती रहेगी परन्तु निश्चित सीमाओं के बीच इनम परिवर्तन की छूट होगी। यह भी कहा गया कि ये परिवर्तन अतिरेक तथा घाटे वाले देशो द्वारा तत्काल ही किये जायें, परन्तु इनके लिए मुद्रा-कोष की पूर्व-स्वीकृति लेना पहले की भाँति आवश्यक होगा। अनावश्यक एव सीमा से अधिक परिवर्तन की अनुमति न देने का सुझाव भी कमेटी ने दिया। कमेटी ने यह भी सुझाव दिया कि भुगतान-असन्तुलन को ठीक करने के लिए यथासम्भव चालू खातो की मदो स सम्बन्धित आवश्यक नियन्त्रणो को समाप्त किया जाय।

असन्तुलन उत्पन्न करने वाले पूंजी प्रवाह (Disequilibrating Capital Flows)—कमेटी ऑफ ट्वेन्टी ने सुझाव दिया कि विभिन्न देशो को असन्तुलन उत्पन्न करने वाले पूंजी प्रवाहो को सीमित करने हेतु परस्पर सहयोग करना चाहिए। इसके लिए इनको मौद्रिक नीतियों मे सादृश्यता लाने के अतिरिक्त विनिमय-दरो मे सीमित परिवर्तनशीलता एव दुहरे विनिमय बाजारो सहित प्रशासनिक नियन्त्रण सम्बन्धी कार्यवाही होनी चाहिए। परन्तु कमेटी ने दीर्घकाल तक व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले प्रशासनिक नियन्त्रणो के उपयोग के विरुद्ध सम्बद्ध देशो को चेतावनी दी।

परिवर्तनशीलता (Convertibility)—कमेटी ऑफ ट्वेन्टी का सुझाव था कि सशोधित परिवर्तनशीलतायुक्त प्रणाली के अन्तर्गत सभी देशो का दायित्व समान होना चाहिए। इनमे इन देशो को भी शामिल किया जाना चाहिए जिनकी मुद्राएँ सरकारी सुरक्षित कोष मे रखी गयी हैं। इनके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षित कोषो के श्रेष्ठ प्रबन्ध, सुरक्षित मुद्राओ की जमा मे अनावश्यक वृद्धि को रोकने एव सम्पूर्ण व्यवस्था मे पर्याप्त लचीलेपन हेतु भी सुझाव दिये गये। कमेटी की ऐसी मान्यता थी कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के परिणाम एव विशेष रूप से सरकारी मुद्राओ की जमा राशि को अन्तर्राष्ट्रीय देख-रेख एव प्रबन्ध के अन्तर्गत रखा जाना चाहिए। कमेटी ने यह भी सुझाव दिया कि जिन सदस्य देशो के प्राथमिक सुरक्षित कोष पूर्व-निर्धारित सीमा से अधिक हो जायें उन्हें मुद्रा के परिवर्तन के आधार से वचित कर दिया जाना चाहिए और मुद्रा को निर्गमन करने वाले देश को भी उसके दायित्व से मुक्त कर दिया जाय।

प्राथमिक सुरक्षित पावने (Primary Reserve Assets)—कमेटी ऑफ ट्वेन्टी का सुझाव था कि विशेष आहरण अधिकारो (SDRs) को प्रमुख सुरक्षित पावनो की भूमिका दी जाय तथा उन्हीं के रूप म विभिन्न मुद्राओ के समता-मूल्य व्यक्त किये जायें। स्वाभाविक है कि कमेटी के मतानुसार स्वर्ण के महत्व मे कमी होनी चाहिए। इन विशेष आहरण अधिकारो का आवटन इस प्रकार किया जाय कि अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षित कोषो की मात्रा पर्याप्त हो तथा वे समायोजन एव भुगतान

प्रणालियों के अनुरूप हो। प्रत्येक विशेष आहरण अधिकार पर प्रतिफल इतना पर्याप्त हो कि सदस्य देश इसे अपने पास रखने को प्रेरित हों, परन्तु यह इतना ऊँचा न हो कि घाटा होने पर भी सदस्य देश इसका उपयोग न करें।

मुद्रा-कोषों का एकत्रीकरण एवं प्रबन्ध (Consolidation and Management of Currency Reserves)—सामान्य परिवर्तनशीलता की पुनरावृत्ति को सुविधापूर्ण बनाने हेतु सभी बकाया सुरक्षित मुद्राओं की अवशेष मात्रा को एकत्रित किये जाने हेतु सुझाव दिया गया। यह एकत्रीकरण निम्न स्वरूप ले सकता है :

(अ) मुद्राओं के धारकों एवं निर्गमन करने वाले देशों के बीच निर्धारित शर्तों के अनुसार निर्दिष्ट मात्रा में इन मुद्राओं का एकीकरण द्विपक्षीय सहमति के आधार पर किया जाय, तथा/अथवा

(ब) मुद्रा-कोष के माध्यम से इन मुद्राओं को निर्धारित शर्तों के आधार पर विशेष आहरण अधिकार के रूप में परिवर्तित किया जाय। इस व्यवस्था के अन्तर्गत किसी सदस्य देश द्वारा स्वेच्छा से मुद्राओं के परिवर्तन की छूट जारी रखने का सुझाव दिया गया। विभिन्न देशों से यह अपेक्षा की जायेगी कि वे सरकारी कोषों के असन्तुलनकारी प्रभावों को रोकने में सहायता देंगे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जिस देश की मुद्रा सरकारी सुरक्षित कोष में रखी गयी है, उसे अन्य देशों को उसकी मुद्रा का एक सीमा से अधिक जमाव करने से रोकना होगा तथा स्वयं भी अपने मुद्रा-रिजर्व कोषों की सरचना में अनावश्यक परिवर्तन न करने का उत्तरदायित्व लेना होगा।

विकासशील देशों की सहायता (*Assistance to Developing Countries*)—विकासशील देशों के आर्थिक विकास हेतु दी जाने वाली सहायता तथा विशेष आहरण अधिकारों के आवटन में प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने का भी कमेटी ऑफ ट्वेन्टी ने सुझाव दिया। परन्तु इनके कुल परिमाण का निर्धारण केवल विश्व की तरलता सम्बन्धी आवश्यकताओं के आधार पर किया जायेगा। विशेष आहरण अधिकारों तथा आर्थिक सहायता के आवटन हेतु वित्तीय सहायता देने वाली अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को प्रत्यक्षतः विशेष आहरण अधिकारों के रूप में कोषों का आवटन कर दिया जायगा।

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सुधारों की प्रथम रूपरेखा पर भारत का दृष्टिकोण

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में सुधार हेतु प्रस्तुत प्रथम रूपरेखा पर भारत का दृष्टिकोण तत्कालीन वित्त-मन्त्री श्री चह्वाण ने प्रस्तुत किया। वित्त-मन्त्री ने अपने भाषण में यह स्पष्ट किया कि एक सुधरी हुई अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था विकासशील देशों की आकांक्षाओं एवं आशाओं की पूर्ति तभी कर सकती है जब कि विकसित एवं औद्योगिक देश विकासशील देशों की समस्याओं के प्रति आवश्यक एवं सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण अपनायें। वित्त-मन्त्री ने स्पष्ट रूप से कहा कि आज की अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समस्याओं का समाधान तकनीकी बातों पर नहीं अपितु राजनीतिक दृष्टिकोण पर निर्भर करता है।

भुगतान-सन्तुलन के समायोजन के विषय में वित्त-मन्त्री ने कहा कि समायोजन प्रक्रिया अर्थपूर्ण हो इसके लिए यह आवश्यक है कि उसके आर्थिक विकास की प्रक्रिया, विदेशी व्यापार एवं रोजगार के स्तर पर (विशेष रूप से विकासशील देशों के सन्दर्भ में) कोई प्रतिकूल प्रभाव न हो। वित्त-मन्त्री ने परिवर्तनशीलता एवं निश्चित सीमाओं के भीतर परिवर्तनशील विनिमय-दरों के विषय में कमेटी ऑफ ट्वेन्टी के सुझावों का अनुमोदन किया। परन्तु उन्होंने कहा कि यदि बहुत बड़ी मात्रा में मुद्राओं की बकाया राशि को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को हस्तान्तरित कर दिया गया तथा इन्हें विशेष आहरण अधिकार के रूप में प्रतिस्थापित कर दिया गया तो इसका अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव ही होगा तथा सुरक्षित कोष के रूप में विशेष आहरण अधिकार की प्रतिष्ठा कम हो जायगी। वित्त-मन्त्री का सुझाव था कि बकाया मुद्रा-कोषों की समस्या को निर्गमित करने वाले एवं इनके धारक (holder) देशों के बीच द्विपक्षीय आधार पर हल किया जाय। परन्तु साथ ही उन्होंने विशेष आहरण अधिकार को प्राथमिकता सुरक्षित इकाई के रूप में बनाने के प्रस्ताव का पुरजोर समर्थन किया तथा कहा कि स्वर्ण के महत्त्व में कमी होनी चाहिए।

वित्त-मन्त्री ने आशा व्यक्त की कि नयी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में कुछ मुद्राओं को आधारभूत (Key) मुद्राओं की तथा शेष को उपमुद्राओं (satellite currencies) की भूमिका नहीं दी जायेगी। उन्होंने विकासशील देशों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता तथा विशेष आहरण

अधिकारों (SDRs) के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने के प्रस्ताव का स्वागत किया। उन्होंने यह भी आशा प्रकट की कि नयी मौद्रिक व्यवस्था में विकासशील देशों को उनके आकार, जनसंख्या एवं संख्या को देखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एवं विश्व बैंक की निर्णय लेने की प्रक्रिया में अधिक महत्व दिया जायगा।

कमेटी ऑफ ट्वेन्टी की रिपोर्ट एवं सुधारों का प्रारूप [REPORT OF THE COMMITTEE OF TWENTY AND OUTLINE OF REFORMS]

कमेटी ऑफ ट्वेन्टी ने 14 जून, 1974 को अपनी रिपोर्ट अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के संचालक मण्डल को प्रस्तुत की थी। इस रिपोर्ट के प्राक्कथन में ही कमेटी ने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि मुद्रा-स्फीति, ईंधन (तेल) की उपलब्धि एवं अन्य क्षेत्रों में विद्यमान अनिश्चितताओं के कारण भावी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था के सभी पहलुओं पर आज विचार करना उपयुक्त नहीं है। इनकी अपेक्षा कमेटी ने यह सुझाव देना अधिक उपयुक्त समझा कि परिस्थितियों के अनुरूप मौद्रिक प्रणाली में समय-समय पर सुधार किये जा सकते हैं।

कमेटी ने अपनी उक्त रिपोर्ट में उन सब उपायों को प्रस्तावित रूपरेखा बतायी जिनके आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में सुधार करना सम्भव है। हम नीचे संक्षेप में प्रस्तावित सुधरी हुई अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली का अध्ययन करेंगे :

*(1) **प्रस्तावित मौद्रिक प्रणाली के प्रमुख लक्षण**—कमेटी की राय में प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय* मौद्रिक प्रणाली के लक्षण वही होंगे जिनका हम प्रथम रूपरेखा के सन्दर्भ में वर्णन कर चुके हैं। कमेटी ने आगे कहा कि मौद्रिक व्यवस्था में सुधार के प्रयोजन में सफलता अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, पूंजी, विनियोग एवं आर्थिक सहायता की परिस्थितियों तथा विकासशील देशों में वस्तुएँ बेचने की क्षमता पर निर्भर करेगी।

(2) **भुगतान का समायोजन**—कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में प्रथम रूपरेखा की भाँति अतिरेक तथा घाटे वाले दोनों ही प्रकार के देशों पर समायोजन के लिए समान दायित्व बताया। कमेटी ने सुझाव दिया कि समायोजन हेतु सामयिक एवं तात्कालिक उपाय किये जाने चाहिए। इसी प्रकार प्रत्येक देश पर यह उत्तरदायित्व डाला गया कि वे अपने सरकारी सुरक्षित कोषों को समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर निर्धारित सीमाओं से कम या अधिक न होने दें। इसके लिए मुद्रा-कोष के कार्यकारिणी परिषद तथा साधारण परिषद पर यह जुम्मेदारी डाली गयी कि वे नियमित रूप से समायोजन-प्रक्रिया पर दृष्टि रखें तथा विश्व की भुगतान स्थिति का समय-समय पर सर्वेक्षण करते रहें ताकि विशेष असन्तुलन की ऐसी स्थिति का गम्भीरतापूर्वक परीक्षण कर सकें जिनके अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर प्रभाव पड़ने की आशंका है। भुगतानों के समायोजन के विषय में कमेटी के शेष सुझाव प्रथम रूपरेखा के ही अनुरूप थे।

(3) **विनिमय-दर**—कमेटी ऑफ ट्वेन्टी के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था के संशोधित स्वरूप के अन्तर्गत भी विनिमय दरों का महत्व बना रहेगा। प्रथम रूपरेखा की भाँति अन्तिम रिपोर्ट में भी समिति ने यह सुझाव दिया कि विनिमय-दर में प्रतियोगितात्मक अवमूल्यन नहीं किया जाना चाहिए। सदस्य देश सीमाबद्ध रूप से विनिमय-दरों में परिवर्तन केवल मुद्रा-कोष की अनुमति से ही करें, ऐसा भी समिति ने सुझाव दिया। यदि कोई सदस्य मुद्रा-कोष द्वारा सुझाई गयी शर्तों का अनुपालन न करे अथवा मुद्रा-कोष को ऐसा लगे कि विनिमय-दर में परिवर्तन की अनुमति से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव हो सकते हैं तो परिवर्तन की अनुमति वापस भी ली जा सकती है।

(4) **चालू खातों से सम्बद्ध नियन्त्रण**—कमेटी ऑफ ट्वेन्टी ने सुझाव दिया कि कोई भी देश दृश्य या अदृश्य व्यापार के विषय में यथासम्भव नियन्त्रणों का उपयोग न करे। इसके लिए उसने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोषों एवं प्रशुल्क तथा व्यापार पर हुए सामान्य समझौते *(GATT)* के बीच अविरत सहयोग बनाये रखने की आवश्यकता पर बल दिया। समिति ने यह भी कहा कि पंजीगत सौदों पर नियन्त्रण रखकर अनुपयुक्त स्तर पर विनिमय-दरों को बनाये रखने की प्रवृत्ति भी अनुचित है। जो देश ऐसा करते भी हों उन्हें ऐसे अनावश्यक प्रशासनिक नियन्त्रणों का उपयोग

नहीं करना चाहिए जिनसे व्यापार तथा उपयोगी पूँजी-प्रवाहों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े और न ही इन नियन्त्रणों को दीर्घकाल तक प्रयुक्त किया जाय। समिति का यह भी सुझाव था कि विकासशील देशों के आर्थिक विकास हेतु लगाये गये आयात-प्रतिबन्धों के अतिरिक्त चालू खातों पर प्रशासनिक नियन्त्रण बिना भेद-भावपूर्ण नीति के आधार पर लगाये जाने चाहिए।

(5) असन्तुलन उत्पन्न करने वाले पूँजी-प्रवाहों, मुद्राओं की परिवर्तनशीलता, सुरक्षित मुद्रा-कोषों के एकीकरण तथा प्रबन्ध एवं प्राथमिक सुरक्षित पावनों के विषय में कमेटी ऑफ ट्वेन्टी की रिपोर्ट में उन्हीं सुझावों को शामिल किया गया जो अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था के सुधार हेतु सितम्बर 1973 में प्रस्तुत प्रथम रूपरेखा में बताये गये थे।

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सुधार हेतु प्रस्तावित तात्कालिक उपाय
(Immediate Steps Proposed for the International Monetary Reforms)

जैसा कि ऊपर बताया गया था, कमेटी ऑफ ट्वेन्टी ने यह स्पष्ट संकेत दिया था कि एक सर्वमान्य एवं स्थायी रूप से प्रभावकारी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था का निर्माण केवल भविष्य की परिस्थितियों के अनुसार ही सम्भव है। फिर भी समिति ने तात्कालिक समस्याओं के निदान हेतु कुछ उपाय बताये जिनका संक्षेप में यहाँ उल्लेख किया जा रहा है :

(1) समिति ने सुझाव दिया कि मुद्रा-कोष के प्रत्येक क्षेत्र (Constituency) से एक सदस्य को लेकर एक स्थायी परिषद की स्थापना की जाय। यह परिषद नियमित रूप से (वर्ष में तीन से चार बार) मौद्रिक व्यवस्था के प्रबन्ध एवं भुगतान-व्यवस्था पर विचार करेगी। परिषद का यह भी कार्य होगा कि यह आकस्मिक रूप से उत्पन्न समस्याओं के समाधान की व्यवस्था करे। जब तक इस परिषद की स्थापना नहीं हो जाती तब तक समायोजन-प्रक्रिया पर निगरानी रखने हेतु मुद्रा-कोष के संचालक मण्डल की अन्तरिम समिति को यह कार्य सौंपा जाय। समस्त देशों से यह अपेक्षा की जायेगी कि वे संचालक-मण्डल तथा बाद में परिषद को अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान व्यवस्था में सुधार हेतु पूर्ण सहयोग दें।

(2) तेल के मूल्यों में वृद्धि से सदस्य देशों के भुगतान-सन्तुलन पर होने वाले प्रतिकूल प्रभावों को कम करने के लिए मुद्रा-कोषों के अन्तर्गत तेल-सुविधा (oil facility) दी जायें।

(3) अन्तरिम अवधि में विनिमय-दरों में अनावश्यक अवमूल्यन को रोकने हेतु विचार-विमर्श जारी रखा जाय तथा इस बात का ध्यान रखा जाय कि सदस्य देश मुद्रा-कोष द्वारा निर्धारित आचार-संहिता का पालन करते हैं अथवा नहीं।

(4) अन्तरिम अवधि में सदस्य देशों द्वारा दृश्य एवं अदृश्य व्यापार पर लगाये जाने वाले प्रतिबन्धों को परिमित किया जाय। प्रत्येक सदस्य देश से यह घोषणा करायी जाय कि जब तक भुगतान-सन्तुलन की स्थिति अत्यन्त विकट नहीं होगी वह दृश्य या अदृश्य व्यापार पर न तो कोई प्रतिबन्ध लगायेंगे और न ही विद्यमान प्रतिबन्धों को और कड़ा करेंगे।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष विभिन्न देशों को आवंटित विशेष आहरण अधिकारों (SDRs) एवं अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षित कोषों की स्थिति पर विचार करेगा तथा विभिन्न सदस्य देशों का सहयोग लेकर अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के श्रेष्ठतम प्रबन्ध की व्यवस्था करेगा।

(6) नयी मौद्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत विशेष आहरण अधिकारों का मूल्यांकन "स्टैण्डर्ड बास्केट" विधि के अनुरूप मुद्राओं के एक समूह (basket of currencies) के आधार पर किया जायगा। इस विधि के अनुसार मुद्राओं के समूह में प्रत्येक मुद्रा का परिमाण पहले से निर्धारित किया जाकर एक विशेष आहरण अधिकार का किसी भी मुद्रा के रूप में मूल्य जानने हेतु प्रत्येक मुद्रा के परिमाण का मूल्य विद्यमान दरों के आधार पर अंकित किया जायेगा। इस विधि के अन्तर्गत किसी मुद्रा के समूह (basket) में वृद्धि या कमी से अधिकार के रूप में व्यक्त दूसरी मुद्रा का अर्थ बढ़ जायगा या कम हो जायगा। इस व्यवस्था के अन्तर्गत बाजार की परिस्थितियों के अनुसार ब्याज की दरों में भी संशोधन किया जायगा। प्रारम्भ होने के दो वर्ष पश्चात् मुद्रा-कोष इस व्यवस्था की प्रभावकारिता की जाँच करेगा।

(7) विकासशील देशों की सहायतार्थ कम ब्याज पर अधिक ऋणों की उपलब्धि करायी जाय तथा इस दिशा में विकसित देश इनकी सहायता करें। इसके लिए मुद्रा-कोष एवं विश्व बैंक

की एक संयुक्त मन्त्रिस्तरीय समिति बनायी जाय जो विकासशील देशों की विशिष्ट समस्याओं पर विचार करते हुए उनकी सहायता हेतु कार्य करे।

भारत का दृष्टिकोण

भारत के तत्कालीन वित्त-मन्त्री ने जून 1974 में आयोजित बैठकों में यह स्पष्ट कर दिया कि भारत कमेटी ऑफ ट्वेन्टी की रिपोर्ट में प्रस्तुत सिफारिशों से सहमत होते हुए भी इनका पूर्ण रूप से समर्थन तब तक नहीं करेगा जब तक कि विकासशील देशों की मतदान-शक्ति एवं उनके अंशदान (quota) में वृद्धि नहीं की जाती तथा वास्तविक साधनों के हस्तान्तरण हेतु मुद्रा-कोष तथा विश्व बैंक की संयुक्त समिति नहीं बनायी जाती।

वित्त-मन्त्री ने मुद्रा-कोष द्वारा विशेष आहरण अधिकारों पर लिये जाने वाली ब्याज-दरों में वृद्धि के प्रस्ताव को विकासशील देशों के हितों के प्रतिकूल एवं अन्यायपूर्ण बताया। उन्होंने कहा कि विकासशील देश विशेष रूप से भारत ने मुद्रा-कोष को सदस्य देशों की एक सहकारी संस्था माना है जहाँ विकसित तथा विकासशील देश परस्पर सहायता एवं सहयोग की भावना से कार्य करते हैं। इसी आधार पर भारत ने मुद्रा कोष के अधिकारियों से ऊँची ब्याज-दर पर कार्य करने वाली व्यावसायिक संस्था के रूप में कार्य न करने की अपील की। उन्होंने स्पष्ट संकेत दिया कि भारत उस नयी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था को कभी समर्थन नहीं देगा जिसमें मुद्रा-कोष के साधनों का उपयोग करने वाले देशों के हितों की उपेक्षा की जाकर साहूकार (creditor) देशों को ही लाभ पहुँचाने का प्रयास किया जाय।

भारतीय तत्कालीन वित्त-मन्त्री ने यह भी चेतावनी दी कि विश्व की विद्यमान परिस्थितियाँ विकासशील देशों के लिए इतनी प्रतिकूल हैं कि शीघ्र ही इनमें से बहुत से देश गम्भीर भुगतान-असन्तुलन की समस्या के शिकार हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में इन देशों के समक्ष दृश्य तथा अदृश्य व्यापार पर कठोर नियन्त्रण लगाने के अतिरिक्त कोई और विकल्प शेष नहीं रह जायगा। उन्होंने यह भी कहा कि ब्याज की दर बढ़ाकर हम इन देशों की समस्या को अत्यधिक जटिल बना देंगे और ये देश और भी कठोर व्यापार-नियन्त्रण लागू करने को बाध्य हो जायेंगे।

सितम्बर 1974 में पुनः वित्त-मन्त्री ने विकासशील देशों की समस्याओं के प्रति अधिक सहानुभूतिक दृष्टिकोण अपनाने हेतु विकसित देशों से अपील की। उन्होंने मुद्रा-कोष तथा विश्व बैंक के वार्षिक अधिवेशन में भाषण करते हुए इन देशों को याद दिलाया कि तेल, रासायनिक खाद, खाद्यान्नों एवं कच्चे माल की कीमतों में हुई वृद्धि ने विकासशील देशों की भुगतान-असन्तुलन की स्थिति को और अधिक विकट बना दिया था। उन्होंने कहा कि भारत को खनिज तेल, रासायनिक खाद (उर्वरकों) एवं खाद्यान्नों के आयातों पर ही 1973-74 में अपनी निर्यात-आय का 80% व्यय करना पड़ा क्योंकि इन वस्तुओं की कीमतें बहुत अधिक बढ़ गयी थीं। इसके विपरीत, उनके कथनानुसार भारत द्वारा निर्यात की जाने वाली अधिकांश वस्तुओं के मूल्य पिछले वर्षों में यथावत् रहे हैं। यही स्थिति अन्य विकासशील देशों की भी रही है। इसी कारण पिछले 2-3 वर्षों में विकासशील देशों की भुगतान समस्या अत्यन्त विकट हो गयी है। श्री चह्वाण ने कहा कि निकट भविष्य में इन देशों की भुगतान-सन्तुलन की स्थिति में सुधार होने के आसार भी नहीं दिखायी दे रहे हैं।

वित्त-मन्त्री ने यह भी याद दिलाया कि पिछले कुछ समय से विकसित देश भी उनके दृश्य एवं अदृश्य व्यापार (चालू खाते) में भीषण ऋणात्मक बाकी की समस्या से पीड़ित हैं परन्तु दुर्भाग्य से वे गम्भीरतापूर्वक विश्व को आने वाले गम्भीर संकट से बचाने हेतु कोई भी गम्भीर उपाय सोचने एवं उन्हें कार्यान्वित करने को तैयार नहीं हैं। वित्त-मन्त्री ने यह आशंका प्रकट की कि विकसित देश सीमित राष्ट्रीय हितों के पोषण हेतु ऐसी नीतियाँ अपना सकते हैं जो शेष विश्व के आर्थिक हितों के प्रतिकूल हों। उन्होंने याद दिलाया कि पिछले कुछ वर्षों में संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा ने विश्व की बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति को सँभालने हेतु अनेक अल्प व मध्यकालीन उपायों को सुझाया है तथा एक विशेष कोष के सृजन की सिफारिश भी की है। परन्तु उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया कि विकसित देशों ने इस ओर कोई रुचि नहीं दिखायी।

खनिज तेल व कच्चे माल के बढ़ते हुए मूल्यों तथा विश्व के अनिश्चित खाद्य-उत्पादन ने जहाँ एक ओर विकासशील देशों को गम्भीर आर्थिक संकट में डाल दिया है, वहीं विश्व बैंक तथा

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के समक्ष एक चुनौती प्रस्तुत की है। इस सन्दर्भ में वित्त-मन्त्री ने कमेटी ऑफ ट्वेन्टी द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में सुधार हेतु प्रस्तुत सुझावों का स्वागत करते हुए इस बात पर खेद व्यक्त किया कि इनमें विकासशील देशों की विशिष्ट भुगतान-समस्याओं एवं उनके उद्गम की उपेक्षा की गयी है।

वित्त-मन्त्री ने मुद्रा-कोष के संचालक-मण्डल द्वारा एक अन्तरिम समिति की स्थापना के निर्णय का स्वागत किया तथा इस बात पर बल दिया कि अन्तरिम समिति का एक प्रमुख कार्य विकासशील देशों को *प्रत्यक्ष लाभ पहुँचाने वाले कुछ सुझावों को तुरन्त कार्यान्वित करना होना* चाहिए। इस प्रकार जहाँ उन्होंने तेल सुविधा के माध्यम से विकासशील देशों को उपलब्ध राहत पर सन्तोष व्यक्त किया वहीं यह भी कहा कि इस सुविधा की लागत बहुत ऊँची होने के कारण अनेक देश लाभ उठाने से वंचित रह गये हैं।

स्वर्ण के नये मूल्य एवं इसकी भावी भूमिका के विषय में भारत के भूतपूर्व मन्त्री ने कहा कि मुद्रा-कोष को इनसे सम्बद्ध निर्णय लेते समय सदस्य देशों की भावनाओं के साथ-साथ उन देशों की तरलता सम्बन्धी आवश्यकताओं को भी ध्यान में रखना चाहिए जिनके पास स्वर्ण-कोष नहीं है। विश्व बैंक तथा मुद्रा-कोष की संयुक्त मन्त्रि-स्तरीय समिति के विषय में उन्होंने सुझाव दिया कि यह समिति आर्थिक सहायता की क्वालिटी एवं मात्रा, विकासशील देशों पर बढ़ते हुए ऋण के भार एवं अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (IDA) आदि संस्थाओं के लिए साधन जुटाने आदि समस्याओं पर विस्तार से विचार करे। उन्होंने आशा व्यक्त की कि यह समिति हाल की घटनाओं से अधिक प्रभावित होने वाली विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओं की समस्या पर अधिक सहानुभूतिपूर्वक विचार करेगी। वित्त-मन्त्री ने यह भी सुझाव दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के अभ्यंशों का आवंटन किसी देश की आर्थिक स्थिति (economic status) के आधार पर न होकर उसके आर्थिक विकास के कार्यक्रमों, भुगतान-सन्तुलन की स्थिति तथा वर्तमान ऋणों एवं ब्याज के आधार पर आधारित होना चाहिए। उन्होंने इन देशों के आकार (जनसंख्या) एवं इनकी समस्या को देखते हुए इनकी समस्याओं के प्रति अधिक मानवीय दृष्टिकोण अपनाने की अपील की। साथ ही उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि विश्व के व्यापार में हुई आशातीत वृद्धि के कारण अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की आवश्यकताओं को देखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा आकार में भी पर्याप्त वृद्धि की जानी चाहिए। अक्टूबर 1976 में मनीला में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा विश्व बैंक की संयुक्त बैठकों में भारत के तत्कालीन वित्त-मन्त्री श्री सी. सुब्रह्मण्यम ने पुनः इस बात को दोहराया कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि के लिए मुद्रा-कोष के अभ्यंशों में तत्काल वृद्धि के अतिरिक्त बड़े देशों द्वारा निर्धन देशों को दी जाने वाली सहायता में उदारतापूर्ण दृष्टिकोण अपनाने की नितान्त आवश्यकता है।

उपसंहार—अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान-असन्तुलन की समस्या को देखते हुए मौद्रिक व्यवस्था में सुधार आवश्यक हो गये थे। इसलिए कमेटी ऑफ ट्वेन्टी द्वारा प्रस्तुत सुधार स्वागत योग्य हैं। अभी इन सुझावों की कार्यान्विति शेष है। परन्तु इस दिशा में दो बातें उल्लेखनीय हैं। प्रथम तो यह कि आज भुगतान-असन्तुलन की समस्या विकसित देशों की अपेक्षा विकासशील देशों के लिए अधिक विकट है और इसलिए विकसित देशों को उस अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था के सृजन हेतु कृतसंकल्प होना चाहिए जो विश्व में विद्यमान आर्थिक विषमताओं को कम करने हेतु विकासशील देशों के आर्थिक हितों का अधिक पोषण कर सके। द्वितीय, विश्व समुदाय में समक्ष विद्यमान आर्थिक अनिश्चितता को देखते हुए विकासशील देशों के भुगतान-असन्तुलन एवं आर्थिक विकास से सम्बद्ध समस्याओं का समाधान तभी हो सकता है जब विश्व के सभी देशों पर इसके लिए समान दायित्व रखा जाय। भुगतान सन्तुलन का अतिरेक व घाटा दोनों ही दीर्घकाल तक चलना अनुचित है और इसलिए दोनों ही प्रकार के असन्तुलन वाले देशों को प्रभावपूर्ण ढंग से समस्या के निदान हेतु सहयोग करना होगा। इन्हीं सब बातों को देखते हुए भारत का दृष्टिकोण पूर्ण रूप से उपयुक्त एवं न्यायसंगत माना जा सकता है।

29

अल्प एवं दीर्घकालीन पूँजी-अन्तरण
[SHORT AND LONG-TERM CAPITAL MOVEMENTS]

इस पुस्तक मे अब तक हमने मुख्यत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्तो तथा इससे सम्बद्ध समस्याओ का विश्लेषण किया था, यद्यपि स्थान-स्थान पर हमने विदेशी सहायता के विभिन्न पहलुओ पर भी विचार किया था। इस अध्याय मे हम एक देश मे दूसरे देश के मध्य पूँजी के अन्तरण से सम्बद्ध सिद्धान्तो एव अवधारणाओं की समीक्षा करेंगे। पिछले कुछ दशको म पूँजी-अन्तरण का महत्व काफी बढा है तथा विभिन्न देशो क आर्थिक विकास म इनकी भूमिका और अधिक महत्वपूर्ण हुई है।

यह कहना अनुचित न होगा कि 19वी शताब्दी म भी विकसित एव औद्योगिक देशों मे उपलब्ध बचत का निवेश अन्य देशो मे किया जाता था। इस पूँजी-अन्तरण ने अनेक परम्परागत एव कृषि प्रधान देशो मे उद्योगो तथा परिवहन के विकास मे सहायता प्रदान की। बो सोडर्स्टन का अनुमान है कि प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व पाँच दशको म विदेशी व्यापार के लगभग 10 प्रतिशत का वहिर्गमन विदशी पूँजी के रूप मे हुआ करता था।[1] यह भी एक कटु सत्य है कि पूँजी के इस निर्यात के एक बहुत बडे भाग का निवेश विकसित देशो मे ही किया गया था।

परन्तु कुछ दशको से विकसित एव औद्योगिक देशो से बाहर जाने वाली पूँजी प्रधानत विकासशील एव कृषि प्रधान देशो मे औद्योगीकरण एव आधुनिकीकरण मे योगदान दे रही है। पूँजी के इन अन्तरणों को अनेक प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है। अगले अनुभाग मे हम पूँजी-अन्तरण के विभिन्न प्रकारो का विवरण प्रस्तुत करेंगे।

पूँजी अन्तरण के प्रकार

पूँजी-अन्तरण का सबसे सामान्य वर्गीकरण अवधि या काल के अनुसार किया जाता है। उदाहरणार्थ, पूँजी का अन्तरण अल्पकाल के लिए किया जा सकता है अथवा दीर्घकाल के लिए। परन्तु सोडर्स्टन की मान्यता है कि कभी-कभी सहायता हेतु दी गयी अल्पकालीन पूँजी नियोजित स्वायत्त मध्यकालीन पूँजी प्रवाह (planned autonomous flows of medium term capital) का रूप धारण कर लेती है।[2] इसके अतिरिक्त पूँजी-अन्तरणो को प्रेरित तथा स्वायत्त (induced and autonomous), स्थिरता लाने वाले तथा अस्थिरता उत्पन्न करने वाले (stabilizing and destabilizing), वास्तविक तथा समानीकरण करने वाले (real and equalising), साम्य स्थिति तक पहुँचाने वाले (equilibrating), सट्टा सम्बन्धी (speculative), तथा स्वायत्त (autonomous) प्रवाह के रूप मे भी वर्गीकृत किया जाता है।

पूँजी का अल्पकालीन अन्तरण
[SHORT-TERM MOVEMENT OF CAPITAL]

किसी भी पूँजी-अन्तरण को अल्पकालीन उस सन्दर्भ म माना जाता है जबकि यह एक वर्ष से कम परिपक्वता वाली अवधि के किसी प्रपत्र (instrument) मे निहित हो। यदि कोई प्रपत्र 3 या 4 वर्ष की अवधि के लिए लिखा गया हो तो उसके आधार पर अन्तरित पूँजी को मध्यकालीन अन्तरण की सज्ञा दी जाती है।

---

1 Bo Sodersten, *International Economics*, 1971, London, Macmillan, pp 121-23
2 *Ibid*, p 516

जहाँ तक अल्पकालीन पूंजी-अन्तरण का प्रश्न है, इसके अनेक स्वरूप हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, यदि भारतीय नागरिकों के अन्य देशों के नागरिकों पर स्थित स्वत्व या दावों में कोई परिवर्तन हो जाये अथवा विदेशी नागरिकों के प्रति अमरीकी नागरिकों के दायित्व में परिवर्तन हो जाये तो इन परिवर्तनों को अल्पकालीन पूंजी-अन्तरण माना जायेगा। इस सन्दर्भ में भारतीय नागरिकों में हम भारत सरकार, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, व्यापार बैंकों, अन्य मुद्रा बाजार में कार्यरत संस्थाओं, दलालों, व्यापारियों व सट्टे बाजों को सम्मिलित करते हैं। उपर्युक्त पूंजी-अन्तरणों में सम्बद्ध प्रपत्र, व्यापार बैंकों के निक्षेपों, हुण्डियों (बिल ऑफ एक्सचेन्ज), अधिविकर्ष (overdraft) तथा खुली साख (open book credit) के रूप में हो सकते हैं।

यदि किसी देश में स्वर्णमान हो तो अल्पकालीन पूंजी-अन्तरण का आशय विदेशी भुगतान को निपटाने हेतु अन्तरिम किये गये स्वर्ण से होगा। यह भी सम्भव है कि स्वर्ण का यह अन्तरण सट्टेबाजों की उन गतिविधियों का परिणाम हो जिनके अन्तर्गत विदेशी मुद्रा का अर्घ (value) में वृद्धि की आशा से पूंजी का अन्तरण किया जाता है। किन्हीं परिस्थितियों में केन्द्रीय बैंक अपने विदेशी विनिमय कोषों को स्वर्ण के रूप में परिवर्तित करना चाहते हैं। ऐसी परिस्थितियों में भी अल्पकालीन पूंजी-अन्तरण के फलस्वरूप स्वर्ण का अन्तरण होगा।

जब अल्पकालीन पूंजी केन्द्रीय बैंक पावनों (asset) के रूप में विद्यमान होती है तो यह मुद्रा का रूप ले सकती है। परन्तु इसके विपरीत यदि यह केन्द्रीय बैंक के दायित्व (liability) के रूप में हो तो यह आवश्यक नहीं कि मुद्रा की पूर्ति कम हो जाय। यदि निवल पावनों (अर्थात् स्वर्ण एवं विदेशी विनिमय कोषों में से विदेशी लोगों को देय राशि) की अपेक्षा सकल पावनों (स्वर्ण तथा विदेशी विनिमय कोषों) में होने वाले परिवर्तनों के आधार पर केन्द्रीय बैंक की नीति निर्धारित की जाय तो इसे विकासशील व्यवस्था नहीं कहा जा सकता।

अब हम अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन पूंजी-अन्तरण के बीच अन्तर बतायेंगे। साधारणतया अल्पकालीन पूंजी प्रवाह मौद्रिक व्यवस्था को प्रभावित करते हैं, जबकि दीर्घकालीन पूंजी प्रवाह का मौद्रिक व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं होता। वस्तुतः अल्पकालीन पूंजी में हम इन वित्तीय अभिव्यक्तियों को दृष्टिगत रखते हैं : साख, बैंक, निक्षेप आदि। इसके विपरीत दीर्घकालीन पूंजी-अन्तरण के फलस्वरूप निक्षेपों के परिमाण की अपेक्षा भौतिक परिसम्पत्ति (physical assets) में परिवर्तन होते हैं।

परन्तु यदि कोई देश अविरल रूप से अल्पकालीन पूंजी बाहर से प्राप्त करना चाहता है तो इससे एक खतरा उत्पन्न हो सकता है। यदि विदेशी हमारे दायित्वों (liability) के बदले एक साथ भुगतान प्राप्त करना चाहें तो हमारा केन्द्रीय बैंक संकट में पड़ सकता है क्योंकि बहुधा एक साथ सभी विदेशी साहूकारों को चुकाने हेतु केन्द्रीय बैंक के पास पर्याप्त स्वर्ण नहीं होता। कुछ लोगों का यह तर्क है कि सभी विदेशी एक साथ हमारे दायित्वों का भुगतान नहीं चाहते। यह ठीक वही तर्क है जो व्यापारी बैंकों के माँग निक्षेपों के सन्दर्भ में दिया जाता है। तथापि, विदेशी दायित्वों के परिमाण पर अंकुश तो आवश्यक ही है।

अल्पकालीन पूंजी-अन्तरण तथा मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन

यदि यह मान लिया जाये कि केन्द्रीय बैंक के दायित्वों (liabilities) एवं पावनों (assets) की स्थिति में परिवर्तन हो जाता है, तो ऐसी स्थिति में पूंजी के अल्पकालीन अन्तरण के फलस्वरूप देश की मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन आयेगा। ये परिवर्तन प्राथमिक, माध्यमिक अथवा तृतीय डिग्री (tertiary) के हो सकते हैं। जब कभी देश के निर्यात आयातों की तुलना में अधिक होते हैं तो निर्यात करने वालों के पास मुद्रा की मात्रा में निवल रूप में वृद्धि हो जाती है। आयात यदि निर्यात से अधिक हो जायें तो आयात करने वालों के पास मुद्रा में कमी आयेगी। मुद्रा की मात्रा में ये परिवर्तन प्राथमिक परिवर्तन कहलाते हैं तथा इनकी सीमा का निर्धारण व्यापार की बाकी अथवा चालू खाते की बाकी द्वारा होता है।

जब भुगतान सन्तुलन के चालू खाते की बाकी के कारण मुद्रा की पूर्ति में हुए परिवर्तनों के साथ-साथ देश में साख का विस्तार अथवा संकुचन भी किया जाता है तो इससे मुद्रा की पूर्ति में होने वाला कुल परिवर्तन और अधिक हो जाता है। जब कभी पूंजी के अल्पकालीन अन्तरण के कारण केन्द्रीय बैंक के सदस्य व्यापारी बैंकों के सुरक्षित कोषों में परिवर्तन होते हैं तो इससे मुद्रा

की पूर्ति के माध्यमिक (secondary) परिवर्तनों का जन्म होता है। मान लीजिए आयातो की तुलना मे निर्यात अधिक हैं तथा इनका निपटारा हमारे केन्द्रीय बैंक के पास विद्यमान विदेशी मौलिक अधिकारियो के निक्षेपो मे कटौती द्वारा किया जाता है। फलस्वरूप सदस्य बैंको के निक्षेप बढ़ते हैं जो वस्तुत निर्यातकर्ताओ के निक्षेपो मे हुई मुद्रा की प्राथमिक वृद्धि का ही प्रतिरूप है। परन्तु व्यापारी बैंक अपने बढे हुए निक्षेपो के आधार पर अब अधिक ऋण दे सकते हैं और इस प्रकार मुद्रा का माध्यमिक प्रसार होता है। इसके विपरीत यदि आयात निर्यात से अधिक हो तथा आयातकर्ताओ के बैंक निक्षेपो मे कमी आती है तो मुद्रा के इस प्राथमिक सकुचन के फलस्वरूप बैंक को अपने ऋणो के परिमाण मे कटौती करनी होगी और यह मुद्रा का माध्यमिक (secondary) सकुचन कहलायेगा। परन्तु मुद्रा मे माध्यमिक प्रसार अथवा सकुचन के विश्लेषण के पीछे यह मान्यता निहित है कि व्यापारी बैंका के पास फालतू सुरक्षित कोष नही हैं।

यदि केन्द्रीय बैंक सुरक्षित कोपो के आधार पर कार्य करता हो तथा सुरक्षित कोपो की मात्रा बढाने पर बट्टो (discounts) या खुल बाजार के निवेशों मे विस्तार करन, अथवा सुरक्षित कोप (reserve) कम होने पर या विदेशी दायित्वो मे वृद्धि होने पर अपने बट्टो अथवा खुले बाजार के निवेश म सकुचन करने को तत्पर रहता हो तो इन्हें अल्पकालीन पूँजी-अन्तरण से उत्पन्न तृतीय डिग्री (tertiary) के परिवर्तन कहा जायगा। यदि मुद्रा मे हुए प्राथमिक एव माध्यमिक परिवर्तनो के फलस्वरूप ब्याज की दरो तथा निवेश के स्तर मे परिवर्तन हो, जिनके कारण राष्ट्रीय आय एव कुल देशीय व्यय म भी परिवर्तन हो जायें तो इन्हें अल्पकालीन पूँजी-अन्तरण से उत्पन्न बैंकिग आय परिवर्तन कहा जाता है।

यदि अल्पकालीन पूँजी-अन्तरण की पूर्ति केन्द्रीय बैंक की अपेक्षा बाजार द्वारा की जाये, तो मुद्रा की पूर्ति मे होने वाले परिवर्तनो का विश्लेषण सर्वथा भिन्न होगा। मान लीजिए, अमरीकी सटोरिये स्टर्लिंग पाउण्ड के सस्ता होने पर इस अपेक्षा के साथ खरीद लेते हैं कि आगे चलकर इसके मूल्य मे वृद्धि होने पर वे इसे बेच सकेंगे तो उनकी इस क्रिया के फलस्वरूप पूँजी का अल्पकालीन या मौसमी अन्तरण होगा। मान लीजिए निर्यात का आधिक्य होने पर इसका निपटारा करने हेतु पूँजी का जोखिमी (speculative) अल्पकालीन बहिर्गमन होता है जिससे निर्यात करने वालो के निक्षेप बढ़ेंगे जबकि सटोरियो के निक्षेप कम हो जायेंगे। कुल मिलाकर मुद्रा की कुल पूर्ति यथावत् रहेगी। यदि निर्यातकर्ता बढे हुए निक्षेपो को व्यापार मे प्रयुक्त कर देते हैं जबकि सटोरिये अपने सचित कोपो मे से उन्हें भुगतान करते हैं तो मुद्रा की कुल पूर्ति यथावत् रहने पर भी व्यापार हेतु इसके सचालन मे वृद्धि होगी जिससे राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होगी।

यदि निर्यातकर्ता स्वय अल्पकालीन पूँजी-अन्तरण मे योगदान देने लगें तो मुद्रा की पूर्ति मे कोई परिवर्तन नही होंगे। मान लीजिए, हमारे निर्यातकर्ता विदेशी आयात करने वालो को भुगतान हेतु छह माह की छूट देते हैं। इसके फलस्वरूप निर्यात अतिरेक का निपटारा निर्यातकों द्वारा प्रदत्त अल्पकालीन पूँजी के प्रवाह से हो जायेगा। यदि निर्यात करने वाली सस्था बिलो को भुनाती है अथवा अपने बैंक से साख प्राप्त कर लेती है तो चाहे अल्पकालीन पूँजी सीधे ही बैंक द्वारा दी गयी हो, अथवा निर्यात करने वाली इकाई को बैंक द्वारा प्रदत्त ऋण द्वारा इसकी पूर्ति की गयी हो मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि आवश्यक होगी। यदि निर्यातकर्ता को अतिरिक्त वित्त की आवश्यकता नही हो, तो उसके द्वारा विदेशी आयातकर्ता को दी गयी साख के कारण उसके स्वय के निक्षेप कम होंगे जबकि जिन फर्मों ने उसे वस्तुएँ बेची हैं उनके निक्षेप बढ़ जायेंगे। यद्यपि अब भी मुद्रा की कुल पूर्ति यथावत् रहती है। परन्तु कोई भी निर्यातक इस प्रकार की अल्पकालीन पूँजी का अन्तरण तभी कर सकता है जबकि उसके पास फालतू कोष विद्यमान हो।

अन्त मे, हम उस स्थिति का विचार करेंगे जिसम अल्पकालीन पूँजी-अन्तरण के कारण स्वर्ण का अन्तरण होने लगता है। मान लीजिए, चालू खाता सन्तुलित होने पर भी अल्पकालीन पूँजी का अन्तरण होता है। इसके फलस्वरूप स्वर्ण की मात्रा मे कमी होगी जिसके फलस्वरूप मुद्रा की पूर्ति मे प्राथमिक एव माध्यमिक सकुचन होगा, परन्तु मुद्रा की पूर्ति मे हुए प्राथमिक एव माध्यमिक प्रसार भी किये जा सकते हैं। परिणाम यह होगा कि मुद्रा की कुल पूर्ति यथावत् रहेगी परन्तु सम्भव है स्वर्ण की कमी से मुद्रा की पूर्ति म होने वाले परिवर्तनो की तुलना मे पूँजी के

बहिर्गमन से मुद्रा की पूर्ति में होने वाले प्राथमिक एवं माध्यमिक सकुचन क्रम निश्चित हों, जिसके परिणामस्वरूप कुल मिलाकर मुद्रा की मात्रा में कमी होगी।

जोखिम (सट्टा सम्बन्धी) अल्पकालीन पूंजी-अन्तरण तथा ब्याज की दरें

19वीं शताब्दी के स्वर्णमान के अन्तर्गत ब्याज की दरों में परिवर्तन होने पर अल्पकालीन पूंजी का अन्तरण होता था और इनके कारण भुगतान-सन्तुलन में महत्वपूर्ण समायोजन हो जाते थे। परन्तु ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब व्यापारी बैंक, केन्द्रीय बैंक तथा मुद्रा बाजार के अन्य अल्पकालीन घटक जोखिम उठाने अर्थात् विदेशी मुद्राओं के रूप में व्यक्त स्वत्वों (claims) एवं दायित्वों (liabilities) के बीच असन्तुलन बनाये रखने को तैयार रहें। यदि कोई भी व्यक्ति स्टर्लिंग पाउण्ड के लिए सट्टा करने को तैयार न हो तो लन्दन में बट्टा दर बढ़ाने का एक मात्र प्रभाव यह होगा कि करेन्सी पर अग्रिम बट्टा दर बढ़ जायेगी या अतिरिक्त राशि (premium) की दर कम हो जायेगी। ब्याज की दर में परिवर्तन होने के फलस्वरूप पूंजी के आगमन को अग्रिम बाजार में प्रतिबन्धित (hedging) किया जायगा ताकि विनिमय दर में होने वाले परिवर्तन की जोखिम से बचा जा सके। जब तक कि तैयार (spot) की खरीद को बराबर करने वाली अग्रिम बाजार की बिक्री के लिए जोखिमी अग्रिम खरीद (forward purchases) नहीं की जाती (जो वस्तुतः नहीं हो पाता) तब तक अग्रिम बाजार में बिक्री करना सम्भव होगा तथा स्टर्लिंग के दाम गिर जायेंगे। जब अग्रिम बट्टा दर (forward discount rate) ब्याज की दरों में अन्तर के समान हो तो ऊंची ब्याज दर वाले मुद्रा बाजार में प्रतिबन्ध कोषों के अन्तरण से कोई लाभ नहीं होगा।

इस प्रकार अल्पकालीन पूंजी-अन्तरण को जन्म देने हेतु बट्टा दर के प्रयोग के लिए ऐसे जोखिमी (speculative) पूंजी-अन्तरण आवश्यक हैं, जिनमें विनिमय जोखिम (exchange-risk) निहित न हो। पूंजी के अन्तरण से तभी लाभ होगा जब ब्याज की दरों का अन्तर अग्रिम बट्टा दर के समान न हो। 19वीं शताब्दी में एक विदेशी व्यापारी इस बात की चिन्ता नहीं करता था कि उसके पावने (assets) स्टर्लिंग के रूप में व्यक्त किये जाते हैं या उसकी स्वयं की करेन्सी के रूप में। यही नहीं, उसे यह भी देखने की चिन्ता नहीं थी कि उसके दायित्व किस करेन्सी में व्यक्त किये जाते हैं। समूची 19वीं शताब्दी में डालर स्टर्लिंग दोनों ही का मूल्य स्वर्ण के रूप में स्थिर था। विनिमय दरों के विषय में अपेक्षाएं बेलोच थीं तथा सट्टाकारी प्रवृत्तियों में स्थिरता आ रही थी। इसीलिए ब्याज की दर में परिवर्तन के फलस्वरूप अल्पकालीन पूंजी का अन्तरण होता था।

हॉट्रे एवं अनेक परम्परागत विचारकों की मान्यता थी कि स्वर्णमान पर बट्टा दर माल के माध्यम से मूल्यों में तथा इनके द्वारा निर्यात एवं आयात के परिमाण में परिवर्तन ला सकती है। हॉट्रे ने बताया कि लन्दन के बाजारों में थोक व्यापारी उधार लिये कोषों के आधार पर कार्य करते थे। पुनर्बट्टा दर में वृद्धि के फलस्वरूप वस्तुओं को लाने ले जाने की लागत में वृद्धि होगी और इससे वे बाध्य होकर बेचना प्रारम्भ करेंगे। इससे मूल्यों में कमी आयेगी, निर्यात को प्रोत्साहन मिलेगा तथा आयात हतोत्साहित होंगे। इससे विपरीत बैंक दर या बट्टा दर में कटौती करने पर उन्हें अपने स्टॉक में वृद्धि करने की प्रेरणा मिलेगी। इसके फलस्वरूप मूल्यों में वृद्धि होगी जिसके कारण आयात में वृद्धि होगी तथा निर्यात कम हो जायेंगे। इस प्रकार बट्टा दर या बैंक दर को स्वर्णमान के सन्दर्भ में भुगतान की बाकी (भुगतान-सन्तुलन) को प्रभावित करने वाला एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उपकरण माना गया था। बैंक दर में वृद्धि या कमी करने पर निर्यातों तथा आयातों में ऊपर लिखे अनुसार परिवर्तन होंगे जिनके फलस्वरूप स्वर्ण का देश में आगमन होगा अथवा व्यापार सन्तुलन प्रतिकूल होने पर स्वर्ण देश के बाहर चला जायेगा।

बाद में किये गये अध्ययनों से पता चलता है कि स्थिर अपेक्षाओं वाले वर्तमान विश्व में यह गोल-मोल प्रक्रिया छोटी रह जाती है। ब्याज की दर में वृद्धि के फलस्वरूप लन्दन के बाजार में स्वर्ण का आगमन इसलिए होगा कि अब लन्दन के बाजार से उधार लेने की अपेक्षा वहां अपने कोष (स्वर्ण) उधार देना अधिक लाभप्रद हो जाता है। ब्याज की दर ऊंची होने पर बाहर के ऋणी लोग अपने ऋणों का नवीकरण करने की अपेक्षा इनका भुगतान करना अधिक उपयुक्त समझेंगे। इसके साथ ही विदेशी बैंक स्टर्लिंग के आहरित बिलों को भुनाने की अपेक्षा इन्हें स्वयं रख लेंगे तथा ऊंचा प्रतिशत प्राप्त करेंगे। दोनों में से कोई भी स्थिति हो लन्दन में बैंक या बट्टा दर बढ़ने के फलस्वरूप वहां स्वर्ण के आगमन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जायगी। इसके विपरीत, बट्टा दर कम

होने पर इससे विपरीत प्रक्रिया प्रारम्भ होगी और लन्दन के बाजारो से स्वर्ण का बहिर्गमन होगा। इस दूसरी स्थिति मे लन्दन के बाजारो पर अधिक बिल आहरित होंगे तथा अधिक बिलो का वहाँ भुनाया जायगा। जब कभी देशीय या अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो मे सकट की स्थिति आयी अथवा जब कभी भुगतान बाकी के चालू खाते के घाटा होने पर स्वर्ण के काफी अधिक अन्तरण की आशका हुई, तभी बैंक ऑफ इगलैण्ड ने इस विधि का (अनेक बार) प्रयोग किया। जब कभी सटोरिये विश्व की अन्य प्रमुख मुद्राओ से सम्बद्ध विनिमय जोखिम (exchange risks) की उपेक्षा करते हैं, तो ब्याज की दर मे परिवर्तन के फलस्वरूप तत्काल ही पूंजी का अल्पकालीन अन्तरण प्रारम्भ हो जायगा। परन्तु ऐसी स्थिति मे देश मे मौद्रिक प्रयोजनो के लिए ब्याज की दरो के परिवर्तनो का कम से कम उपयोग किया जायेगा। भुगतान-सन्तुलन की अपेक्षा देश की आन्तरिक व्यवस्था को ठीक करने हेतु ब्याज की दर मे कमी की गयी या वृद्धि का प्रयास अल्पकालीन पूंजी प्रवाहो के कारण निरर्थक हो जाता है।

अस्थिरता उत्पन्न करने वाले (destabilizing) पूंजी-अन्तरण

जब कभी सटोरियो द्वारा स्वयमेव ही विनिमय जोखिम लेने के कारण पूंजी के अल्पकालीन अन्तरण होते है ये स्थिरता लाने वाले हो सकते हैं अथवा अस्थिरता उत्पन्न करने वाले। ऐसी दशा मे बट्टा दर मे वृद्धि करने पर बहुधा स्वर्ण का बहिर्गमन होगा जबकि बट्टा दर मे कमी के फलस्वरूप स्वर्ण का बाहर से आगमन होगा। ऐसी स्थिति मे पूंजी का बहिर्गमन मौद्रिक अधिकारियो की सामर्थ्य का परिचायक नहीं है जिसके अनुसार वे भुगतान-सन्तुलन को बनाये रखने हेतु तत्काल कदम उठाते हैं, अपितु सटोरियो की क्रियाशीलता के सन्दर्भ मे पूंजी का बहिर्गमन अधिकारियो की दुर्बलता का परिचय देता है और अन्तत. इसके कारण देश की मुद्रा का अवमूल्यन हो सकता है।

अस्थिरता कारक सट्टा प्रवृत्ति के अन्तर्गत आयात का अतिरेक होने पर विनिमय दर मे ह्रास होता है तथा भुगतान बाकी के चालू खाते की वित्त-पूर्ति के स्वर्ण के लिए आगमन की अपेक्षा इसके द्वारा पूंजी का बहिर्गमन होता है तथा सुरक्षित (reserve) कोष कम हो जाते हैं। इसके विपरीत निर्यात का अतिरेक होने पर विनिमय मे वृद्धि होती है, ब्याज की दर मे कमी होती है तथा स्थिरता लाने वाले सट्टे से सम्बद्ध पूंजी के बहिर्गमन की अपेक्षा स्वर्ण का बाहर से आयात होता है।

यदि चालू खाता असमतल रूप मे सन्तुलित है, तो अस्थिरता उत्पन्न करने वाला पूंजी का बहिर्गमन स्वर्ण के बहिर्गमन को जन्म देगा जबकि पूंजी के आगमन की अभिव्यक्ति स्वर्ण के आगमन के रूप मे होगी। कभी कभी पूंजी प्रवाह का मौद्रिक प्रभाव स्वर्ण के अन्तरण के फलस्वरूप नष्ट हो जाता है।

कागजी मान के अन्तर्गत पूंजी-अन्तरण

स्वतन्त्र रूप से परिवर्तनशील कागजी मान के अन्तर्गत स्थिरता उत्पन्न करने वाले पूंजी-अन्तरण अल्पकाल के लिए हो सकते हैं तथा विनिमय दर के समायोजन की सीमा तय कर सकते हैं अथवा इससे अस्थिरता उत्पन्न करने वाले अन्तरण हो सकते हैं जिससे विनिमय दर के समायोजन की कमी मे वृद्धि हो जाती है। हमे इतिहास मे दोनो ही प्रकार के उदाहरण देखने को मिलते हैं, यद्यपि यह कहना कठिन है कि किस प्रकार की सट्टा सम्बन्धी गतिविधियाँ घटित होंगी।

कीन्स ने एक बार सुझाव दिया था कि स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण बिन्दुओ के अन्तर मे वृद्धि किये जाने हेतु केन्द्रीय बैंक की क्रय एव विक्रय दरो के अन्तर मे वृद्धि की जानी चाहिए। इस सुझाव का उद्देश्य स्थिरता उत्पन्न करने वाले अल्पकालीन पूंजी-अन्तरणो को प्रोत्साहित करने हेतु स्वर्ण आयात बिन्दु मे ठीक नीचे खरीदी गयी तथा स्वर्ण निर्यात बिन्दु से ठीक ऊपर बेची गयी। विदेशी विनिमय द्वारा सटोरियो को अधिक लाभ प्रदान करना था। ऐसी आशा की गयी थी कि विदेशी विनिमय दर मे परिवर्तन की छूट देकर अग्रिम दरो द्वारा स्थिरता लाने वाले सट्टे को प्रभावी बनाया जा सकता है, परन्तु अग्रिम बाजार की स्थापना अपने आप मे इस बात की प्रतिभूति (guarantee) नही है कि सट्टा स्थिरताकारी होगा। 1950-61 की अवधि मे कनाडा के डालर की विनिमय दर मे एक सेंट के परिवर्तन से 4 5 करोड डालर की पूंजी का आवागमन हो जाता था। एक सेंट की मूल्य वृद्धि से पूंजी का बहिर्गमन होता था तथा एक सेंट की कमी से पूंजी का बाह्य आगमन होता था। इसके विपरीत दीर्घकालीन पूंजी बाजार मे ब्याज की दरों में अन्तर के कारण

पूंजी का भारी मात्रा में अन्तरण होता था क्योंकि निवेशकर्ता विनिमय दर की चिन्ता नहीं करते थे। इस प्रकार ब्याज की दरों में परिवर्तन से पूंजी का दीर्घकालीन अन्तरण होता था जिसके कारण विनिमय दर में परिवर्तन होते थे। फिर इनके कारण पूंजी का अल्पकालीन अन्तरण होता था। इस प्रकार विनिमय दर के परिवर्तनों से पूंजी के अल्पकालीन अन्तरण प्रभावित होते थे जो स्वयं (विनिमय दर) पूंजी के दीर्घकालीन अन्तरण से प्रभावित होती थी।

पूंजी का दीर्घकालीन अन्तरण
[LONG-TERM MOVEMENT OF CAPITAL]

पूंजी के दीर्घकालीन अन्तरण या तो अन्य देशों में क्रय की गयी प्रतिभूतियों के रूप में हो सकते हैं अथवा ये सरकारों के बीच हुए ऋण समझौतों का परिणाम हो सकते हैं। प्रथम स्थिति में निजी व्यावसायिक संस्थान अथवा व्यक्ति विदेशों में क्रियाशील संस्थाओं के शेयर अथवा बॉण्ड खरीद सकते हैं अथवा दोनों पक्षों के बीच कच्चे माल, मशीनों या विनिर्मित वस्तुओं की आपूर्ति हेतु दीर्घकालीन समझौते हो सकते हैं।

विदेशी तथा देशीय निवेश (Foreign and Domestic Investment)

जैसे ही निर्यात अतिरेक के कारण विदेशों में पूंजी का आगमन होता है, देशीय (domestic) आय एवं रोजगार में गुणक के आधार पर वृद्धि होती है। परन्तु विदेशी निवेश के फलस्वरूप आय में हुई वृद्धि देशीय पूंजी के निवेश से आय में होने वाली वृद्धि से भिन्न होती है। चूंकि देश के नागरिकों की पूंजी विदेशों में विद्यमान है, विदेशी निवेश के कारण राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी, परन्तु इससे सार्वभौमिक आय नहीं बढ़ेगी। इसके विपरीत ऋणी देश के सार्वभौमिक (geographic) उत्पादन में वृद्धि होती है, परन्तु राष्ट्रीय आय में इसकी अपेक्षा कम वृद्धि होती है क्योंकि उत्पादन में वृद्धि के एक अंश पर उन विदेशियों का अधिकार है जिन्होंने उस देश को उत्पादन के साधन प्रदान किये हैं।

देशीय (Domestic) तथा विदेशी पूंजी निवेश में अन्तर—विदेशी निवेश एवं देशीय पूंजी निवेश का देशीय साधनों के अनुपातों पर एक जैसा प्रभाव होता है। विदेशी निवेश के फलस्वरूप पूंजी व श्रम का अनुपात (देशीय पूंजी निवेश की भांति ही) अपरिवर्तित रहता है। देशीय निवेश के कारण श्रम का सीमान्त उत्पादन बढ़ता है तथा पूंजी का सीमान्त उत्पाद घटता है जबकि देश की पूंजी का विदेशों में निवेश होने पर इसके विपरीत प्रभाव होता है। यही कारण है कि विदेशों को पूंजी निर्यात करने का देश के श्रमिकों द्वारा ठीक उसी प्रकार विरोध किया जाता है जैसा कि भूतकाल में श्रम-साधन आयातों के प्रशुल्क (tariffs) घटाने पर करते थे। श्रमिकों का हित इसमें अधिक है कि देश की पूंजी देश में ही निवेश की जाये क्योंकि उससे उनकी सीमान्त उत्पादकता बढ़ती है।

कीण्स ने देशीय तथा विदेशी निवेश के मध्य एक अन्य प्रकार से अन्तर स्पष्ट किया है। एक निजी निवेशकर्ता के लिए देश के भीतर अथवा विदेश में निवेश की गयी पूंजी में विद्यमान जोखिम एक जैसी ही होती है। परन्तु यदि उसकी गणना में कहीं भूल हो जाये तथा उसका निवेश निरर्थक सिद्ध हो जाये तो उसे कम से कम यह सन्तोष तो अवश्य रहता है कि भौतिक परिसम्पत्तियां देश की सीमाओं के भीतर ही विद्यमान हैं। इसके विपरीत यदि वह विदेश में पूंजी निवेश करता है तो इसके निरर्थक सिद्ध होने पर सभी भौतिक परिसम्पत्तियां विदेश में रह जाती हैं। यह अन्तर उस दशा में उपयुक्त माना जाता है, जबकि निवेशकर्ता द्वारा निवेश की सरकार द्वारा पर्याप्त क्षतिपूर्ति किये बिना सम्पत्ति को जब्त करने से सम्बद्ध जोखिम का सही अनुमान नहीं कर पाये। परन्तु यह अन्तर आर्थिक जोखिमों (economic risks) के लिए उपयुक्त नहीं है। एक रेल-मार्ग अथवा कारखाने में किया गया निरर्थक निवेश चाहे देश में किया गया हो अथवा विदेश में—प्रत्येक स्थिति में निरर्थक है। इसी प्रकार किसी पावने का निस्तारण मूल्य (salvage value) वही होगा, चाहे उसे देश में बेचा जाय अथवा विदेश में। तीसरी बात यह है कि अधिकांश निवेशकर्ता विदेशों में किये जाने वाले पूंजी निवेश के प्रति आश्वस्त नहीं रहते। यह भी हमें ध्यान रखना चाहिए कि अन्य देशों में निवेश द्वारा विद्यमान लाभ प्राप्ति के अवसरों के विषय में पूर्ण एवं सही सूचना को प्राप्त करने हेतु हमें पर्याप्त लागत वहन करनी होती है।

चतुर्थ अधिकाश विदेशी निवेश अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ के माध्यम से सम्पादित किये जाते हैं जिनके पास विदेशी निवेशो के इतिहास, उनके सम्भावित क्षेत्रों तथा उन पर सम्भावित प्रतिफल के विषय मे पर्याप्त सूचनाएँ रहती हैं। बैंकिंग सस्थाएँ, प्रतिष्ठित दलाल तथा निवेश कम्पनियाँ बहुधा विदेशी पूंजी के अन्तरण को सुगम बनाने मे महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करती हैं।

अन्त मे, देशीय पूंजी के प्रवाह के विपरीत विदेशी निवेशो पर दोनो देशो की सरकारों का पूर्ण अकुश रहता है। 'अ" देश की सरकार "ब" देश को दिये जाने वाले ऋण को निषिद्ध कर सकती है यदि यह निवेश 'अ" की निवेश नीति के प्रतिकूल हो, अथवा यदि "अ" तथा "ब" की सरकारो के मध्य राजनीतिक सम्बन्ध अच्छे न हो। इसी प्रकार "अ" देश से आने वाली पूंजी पर 'ब" देश की सरकार रोक लगा सकती है, यदि यह निवेश उसकी विदेशी नीति के अनुकूल नहीं है। राजनीतिक कारणो से अथवा, देशीय निवेशकर्ताओ के हितो की रक्षा हेतु सरकारी हस्तक्षेप या नियन्त्रण द्वारा समय-समय पर निजी पूंजी के आगमन या बहिर्गमन को रोका जाता रहा है। पिछले कुछ वर्षों मे पूंजी के बहिर्गमन पर इन नियन्त्रणो का उद्देश्य उधार देने वाले देश को भुगतान बाकी (balance of payments) को बनाये रखना भी हो गया है, क्योंकि पूंजी के बहिर्गमन से अन्य बातो के अतिरिक्त अल्पकाल मे देश की भुगतान बाकी पर प्रतिकूल प्रभाव अवश्य होता है।

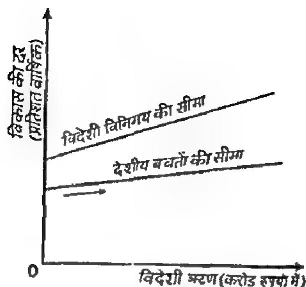
स्थिरता लाने वाले ऋण (Stabilization Loans)

सरकार की ओर से दिये जाने वाले ऋण दो प्रकार के हो सकते हैं : स्थिरता लाने वाले ऋण तथा ऐसे ऋण जिनके द्वारा ऋणदाता के विशिष्ट निर्यातो अथवा ऋण लेने वालों के विशिष्ट आयातो के लिए वित्त व्यवस्था की जाती है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के वर्षों मे ब्रिटेन ने 375 करोड डालर के स्थिरताकारी ऋण मुख्यत इस उद्देश्य से लिये कि वह स्टर्लिंग की डालर मे परिवर्तनशीलता को बनाये रखना चाहता था। परन्तु परिवर्तनशीलता की प्राप्ति मे कुछ समय लग सकता था और इसलिए इस ऋण के एक भाग का उपयोग ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण हेतु आवश्यक आयातो के लिए किया गया। 1970 मे ब्रिटिश सरकार ने न्यूयार्क के बाजारों मे पाउण्ड स्टर्लिंग की स्थिरता बनाये रखने हेतु एक निजी कम्पनी को नियुक्त किया, जिसका कार्य पाउण्ड की कीमत एक स्तर से नीचे जाने पर इसे खरीदने तथा निर्दिष्ट स्तर से अधिक मूल्य वृद्धि होने पर इसे बेचने का था, बाद मे इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु कुछ बैंको ने ब्रिटिश सरकार को ऋण दिये।

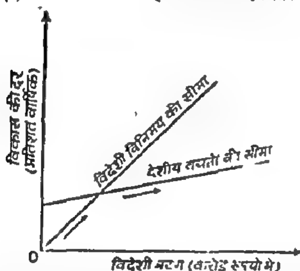
स्थिरता उत्पन्न करने वाले ऋणो से मिलते-जुलते औपनिवेशिक ऋण थे जिनके लिए ब्रिटेन मे समझौते होते थे। निर्दिष्ट उपनिवेश अथवा भूतपूर्व उपनिवेश मे निर्गमित करेन्सी की पृष्ठभूमि हेतु ऋण मे ली गयी राशि को लन्दन मे जमा रखा जाता था। विशेष रूप से ऐसा उन उपनिवेशों के सन्दर्भ मे किया जाता था जहाँ करेन्सी के पीछे शत-प्रतिशत विदेशी मुद्रा या लन्दन मे जमा स्टर्लिंग निक्षेप रखे जाते थे। जिन उपनिवेशो की अथवा स्वतन्त्र देशो की मुद्राएँ स्टर्लिंग प्रणाली से सम्बद्ध थी, वे दीर्घकाल के लिए ऋण ले सकते थे, इन ऋणो की राशि को लन्दन मे ही निक्षेप के रूप मे जमा कर सकते थे तथा इन स्टर्लिंग निक्षेपों के आधार पर देशीय मुद्रा (domestic money) का निर्गमन कर सकते थे। इन ऋणो की लागत सुरक्षित (Reserve) विदेशी विनिमय पर आय तथा साधनों के रूप मे वास्तविक लागत के अन्तर की अपेक्षा अल्पकालीन व दीर्घकालीन दरो के अन्तर के समान होती थी। परन्तु इस लागत के बदले स्थानीय मुद्रा के धारक बिना साधनों के उत्सारण (drain) के बाहर वस्तुओ का आयात कर सकते थे।

स्थिरता लाने वाले ऋण प्राप्त करने का अर्थ यह कदापि नही होता कि ऋणी देश की वित्तीय स्थिति दुर्बल है। पूर्णतया सफल स्थिरताकारी ऋण का सम्भवत कभी उपयोग ही नहीं किया जाता। ऐसी स्थिति मे अल्पकालीन पूंजी का सट्टा-सम्बन्धी प्रवाह भी स्थिरताकारी बन जाता है क्योकि ऋण देने वाले देश मे वे कोष जमा रहने के कारण दीर्घकालीन स्थिरताकारी ऋण तथा अल्पकालीन ऋण बराबर हो जाते हैं। न तो मुद्रा का अन्तरण होता है और न ही साधनो का वास्तविक अन्तरण हो पाता है।

आयातों के लिए वित्त जुटाने हेतु ऋण लेना—प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व तथा 1929 तक भी विदेशो से ऋण इसलिए प्राप्त किये जाते थे क्योंकि उनकी लागत देश मे विद्यमान ब्याज दर की अपेक्षा कम होती थी। निवेश या बजट के घाटे की पूर्ति हेतु पूंजी चाहने वाला देश अन्य देशों



पैनल (a)—विदेशी बचत पर्याप्त होने पर विदेशी ऋण लिये जाते हैं।



पैनल (b)—आयातों के लिए वित्त-प्रबन्ध हेतु विदेशी ऋण लिये जाते हैं।

चित्र 29·1—देशीय साधनों को निर्यात में परिवर्तित करने की क्षमता से सम्बद्ध मान्यताओं के अनुसार विदेशी ऋण

से उस स्थिति में ऋण लेता था जब विदेशी निवेशकर्ताओं द्वारा चाहा गया जोखिम का पुरस्कार (प्रीमियम) देश व विदेश में प्रचलित ब्याज दरों के अन्तर से कम होता था।

परन्तु महान मन्दी के समय जोखिम के अतिरिक्त राशि (Premium) में आशातीत वृद्धि हो गयी। विकासशील देशों में सस्ती मुद्रा (उदारतापूर्ण) नीति अपनाये जाने से वहाँ ब्याज की दरें कम होने लगीं। इस अवधि में क्रयशक्ति की उपलब्धि देश में ही हो सकती थी तथा विदेशी ऋणों की माँग केवल प्रतिकूल भुगतान को ठीक करने हेतु की जाती थी।

आधुनिक सन्दर्भ में जिन देशों के निर्यातों की माँग पर्याप्त अधिक लोचदार होती है वे साधारणतया देशीय बचतों के अपर्याप्त होने पर विदेशों से ऋण लेते हैं। वे अपने निवेश के स्तर में वृद्धि करते हैं तथा देशीय (domestic) साधनों को निर्यातों के माध्यम से आयातों में बदल लेते हैं। परन्तु इस प्रक्रिया में बहुत-सी आयातित वस्तुओं की पूरकता के कारण कठिनाई आ सकती है। उदाहरणार्थ, कारों व ट्रकों के लिए पैट्रोलियम पदार्थों का आयात आवश्यक हो सकता

है अथवा इस्पात के उत्पादन हेतु लौह धातु या कोयले का आयात आवश्यक हो सकता है। यदि उत्पादन के वर्तमान स्तर पर साधनों के पुनर्आवंटन की कठिनाई के कारण अथवा निर्यात वस्तुओं की मांग बेलोच होने के कारण देश में उपलब्ध साधनों को आयातों में बदलना सम्भव न हो तो आयातों के लिए वित्तपूर्ति हेतु विदेशी ऋणों की आवश्यकता होगी।

अब मान लीजिए, हम एक ऐसा सरल संवृद्धि मॉडल (growth model) लें जिसमें किसी देश का विकास पूंजी की मात्रा पर निर्भर करता है। इस पूंजी के दो घटक हो सकते हैं—देशीय तथा विदेशी—जिनमें से प्रत्येक का पूंजी-उत्पादन अनुपात (K/O) भिन्न है अथवा प्रत्येक का विकास की दर पर अलग प्रभाव होता है। यह सम्भव है कि देशी साधनों को आयात में परिवर्तित करने की क्षमता पर्याप्त है तथा निर्यातों की मांग भी पर्याप्त लोचदार है, तो कोई देश केवल इसीलिए ऋण लेगा कि निवेश योग्य पूंजी की मांग की तुलना में देश में उपलब्ध बचत की मात्रा कम है। ऐसी स्थिति में विकास के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा देशीय बचतें (domestic savings) ही मानी जायेंगी। यह भी सम्भव है विदेशी ऋणों का प्रयोग उस समय तक ऐसे आयातों के लिए किया जाये जब तक कि निर्यात वस्तुओं अथवा आयात प्रतिस्थापन की वस्तुओं के उत्पादन में पर्याप्त रूप में वृद्धि नहीं हो पाती।

चित्र 29 1 के पैनल (a) में विकास के सन्दर्भ में देशीय बचतों (domestic savings) तथा विदेशी विनिमय सीमाओं के सम्बन्धों का प्रभाव इस प्रकार बताया गया है मानो विकास की दर पर वास्तव में बचतों के परिमाण का अधिक प्रभाव पड़ता हो। इस स्थिति में विशिष्ट वस्तुओं के आयातों की अपेक्षा सामान्य क्रय शक्ति प्राप्त करने हेतु विदेशी ऋणों की आवश्यकता होती है। पैनल (b) में एक दूरी तक विदेशी विनिमय की उपलब्धि विकास की दर को सीमित करती है। इस स्थिति तक देश की उत्पादन क्षमता का पर्याप्त रूप से विकास कर दिया जाता है। तत्पश्चात वास्तविक सीमा देशीय बचतों द्वारा ही तय की जाती है।

सशर्त तथा परियोजना पर आधारित ऋण (Tied and Project based Loans)

अधिकांश परिस्थितियों में ऋण लेने वाला देश विदेशी ऋणों को देशीय (domestic) पूंजी में परिवर्तित नहीं कर पाता। इसी प्रकार केवल विशिष्ट आयातों को क्रय करने की आवश्यकता अनुभव की जाती है। ऋणदाता ऋणों की राशि को विशिष्ट निर्यातों के प्रयोग में लेने की शर्त जोड़ देता है। महान मन्दी के समय अनेक देशों ने अपने निर्यातों में वृद्धि करने हेतु ही ऋण दिये थे। वर्तमान में विकासशील देश सामान्य प्रयोजन वाले ऋण लेना अधिक पसन्द करते हैं, क्योंकि ऋणों के साथ यह शर्त जोड़ देने पर कि उन्हें ऋणदाता से निर्दिष्ट वस्तुओं के आयात हेतु ही प्रयुक्त किया जायगा, ऋण की वास्तविक लागत में वृद्धि हो जाती है। यह हम पहले देख चुके हैं कि पेरेटो इष्टतम स्थिति की प्राप्ति हेतु एक आवश्यक शर्त यह है कि क्रेता प्रत्येक वस्तु के लिए न्यूनतम कीमत चुकायें और ऐसा तभी सम्भव है जब वस्तुओं का आदान-प्रदान (आयात-निर्यात) बिना किसी शर्त के अर्थात पूर्ण प्रतियोगिता वाली स्थिति में सम्पन्न हो। संक्षेप में, सशक्त ऋणों के कारण आयातों की वास्तविक लागत में वृद्धि हो जाती है, भले ही ऋण पर घोषित ब्याज की दर कम हो।

परन्तु एक स्थिति में ऋण के प्रयोग में शर्त जोड़ देने पर भी कोई विशेष हानि नहीं होती। मान लीजिए, कोई सरकार सैन्य सामग्री के उत्पादन का कारखाना खोलना चाहती है और साथ-ही इसकी योजना एक इस्पात का कारखाना खोलने की भी है। यह भी मान लीजिए, कि आर्थिक सहायता तो उपलब्ध नहीं है परन्तु सैन्य सहायता उपलब्ध है। यदि सरकार अपने स्वयं के साधनों को सैन्य-सामग्री की अपेक्षा इस्पात के कारखाने में प्रयुक्त कर दे, तथा उपलब्ध सैन्य (विदेशी) सहायता को अस्त्र-शस्त्र के उत्पादन में लगाये तो विदेशी सहायता के साथ जुड़ी शर्त की लागत को न्यूनतम किया जा सकता है।

वस्तुत: इसके लिए यह आवश्यक है कि सरकार में साधनों को परिवर्तित करने की सामर्थ्य हो। यदि सरकार की यह सामर्थ्य अत्यन्त सीमित हो तथा सरकार की रुचि देश में निवेश बढ़ाने में हो, तो ऐसी सरकार के लिए ऋणों के प्रयास में शर्त जोड़ देने पर बड़ी कठिनाई उपस्थित हो सकती है। यही नहीं सशक्त ऋण विदेशी विनिमय की आवश्यकता के प्रथम चक्र में ही सहायक हो सकते हैं, तथा किसी परियोजना की कुल लागत के एक अंश की ही पूर्ति कर सकते हैं। कल्पना

कीजिए, उस समय क्या होगा जब अगले चक्रों के आयातों की माँग में वृद्धि हो जाय तथा इनकी पूर्ति हेतु देश के पास पर्याप्त विदेशी विनिमय कोष न हो ? स्वाभाविक है, तब देश को या तो मुद्रा का अवमूल्यन करना होगा अथवा विदेशी विनिमय नियन्त्रण अपनाना होगा।

हाल ही तक विश्व बैंक द्वारा सामान्य रूप से परियोजनाओं के लिए ऋण दिये जाते थे। एक ऋण लेने वाले देश को यह स्पष्ट करना होता था कि उसे किस प्रयोजन हेतु ऋण की आवश्यकता थी तथा इसके लिए अस्पष्ट रूप में यह कहना पर्याप्त नहीं था कि "इन ऋणों के द्वारा बजटीय घाटे की पूर्ति की जायेगी।" इसके अतिरिक्त, ऋण लेने वाले को यह भी स्पष्ट करना होता था कि परियोजना के लिए किस नये आयातों की आवश्यकता थी तथा वे कहाँ से प्राप्त किये जा सकते थे। यदि विश्व बैंक परियोजना की स्वीकृति दे देता था तथा आयातों को न्यायोचित मान लेता था तो उन आयातों की वित्त व्यवस्था हेतु आवश्यक विदेशी विनिमय ऋण के रूप में प्रदान कर देता था।

परन्तु इस व्यवस्था में दो दोष थे। प्रथम, इसके अन्तर्गत विश्व बैंक सामान्य क्रय-शक्ति उधार देने की अपेक्षा केवल वह करेन्सी देता था जिसकी उस देश को आवश्यकता थी, और इस प्रकार यह नीति भेदभावपूर्ण थी। एक पूर्णतया भेदभाव रहित व्यवस्था में ऋण सबसे सस्ते स्रोत से दिये जाने चाहिए अर्थात् न्यूनतम ब्याज पर दिये जाने चाहिए तथा साथ ही यह भी छूट होनी चाहिए कि ऋण लेने वाला देश सस्ते से सस्ते बाजार में वस्तुएँ खरीद सके। इस व्यवस्था का दूसरा दोष यह था कि परियोजना पर आधारित ऋण केवल एक ही स्थिति के अतिरिक्त कभी भी अन्तर्राष्ट्रीय खातों को सन्तुलित करने हेतु पर्याप्त नहीं थे। वह स्थिति ऐसी थी जहाँ समस्त स्थानीय व्यय अवस्फीतिकारी रूप से जुटाये जाते थे। परियोजना-सम्बन्धी स्थानीय खर्चों की पूर्ति स्फीतिकारी रूप से करने पर आय के साथ-साथ आयातों में भी वृद्धि होगी जिससे अन्तर्राष्ट्रीय खाते असन्तुलित हो जायेंगे। परन्तु विश्व बैंक द्वारा अब तक अपनायी गयी नीति के अन्तर्गत सीमित विदेशी मुद्रा के बदले सामान्य क्रय-शक्ति की उपेक्षा की जाती थी। इन परियोजनाओं तथा उन पर प्राप्त ऋणों के कारण देश का भुगतान-सन्तुलन अनुकूल होने की अपेक्षा और अधिक प्रतिकूल हो जाता था।

प्रति-चक्रीय ऋण देना (Counter-Cyclical Lending)

कभी-कभी प्रति-चक्रीय ऋणों के पक्ष में तर्क दिये जाते हैं। ऐसे ऋणों की राशि में मन्दी के काल में वृद्धि कर दी जाती है, जबकि सम्पन्नता की अवधि में इसे कम कर दिया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि इन ऋणों से दो लाभ होते हैं : प्रथम, इनके द्वारा ऋणदाता देश में व्यावसायिक स्थिति में स्थिरता लायी जा सकती है; तथा द्वितीय, इनसे भुगतान की बाकी में सन्तुलन रखा जा सकता है।

मान लीजिए, A देश के देशीय निवेश में परिवर्तन होने पर व्यापार चक्र प्रारम्भ हो जाते हैं, जबकि शेष विश्व में मान लीजिए, B में राष्ट्रीय आय तथा ब्याज स्थिर है। मन्दी के काल में A देश में ब्याज की दीर्घकालीन दर में कमी आयेगी जिससे B की व्यावसायिक इकाइयों को A के बाजारों से ऋण लेने की प्रेरणा मिलेगी। इसके विपरीत उत्कर्ष (prosperity) के समय A देश में ब्याज की दीर्घकालीन दर में वृद्धि होगी जिससे B देश के लोग A से ऋण लेने से हतोत्साहित होंगे। इस प्रकार A द्वारा मन्दी के काल में अधिक ऋण दिये जाते हैं, जबकि उत्कर्ष के समय A द्वारा दिये जाने वाले ऋणों में कमी आती है। परिणामस्वरूप A के देशीय व्यय (domestic spending) में होने वाले परिवर्तन आंशिक अथवा पूर्ण रूप से बराबर हो जाते हैं। ऐसा 1914 से पूर्व ब्रिटेन में हुआ जहाँ बढ़ते हुए देशीय निवेश के काल में विदेशी लोग कोई ऋण प्राप्त नहीं कर पाये, परन्तु जब भी मन्दी का आविर्भाव हुआ, देश की व्यावसायिक संस्थाओं ने अन्य देशों को निवेश योग्य कोष भेजना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु यह प्रवृत्ति प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् परिवर्तित हो गयी।

ऋण देने का चक्रीय पैटर्न (Cyclical Pattern of Lending)

मन्दी के कारण देशीय निवेश में कमी होने पर आय एवं आयात में कमी होने के साथ ही विदेशों में निवेश की सम्भावनाएँ भी प्रभावित होती हैं। दूसरे देश के निर्यातों में कमी होने से इसकी राष्ट्रीय आय कम हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप विदेशी निवेशकर्ताओं को उस देश

मे रुचि भी कम हो जाती है। इसके साथ ही सम्भावित ऋणो के निर्यात कम होने पर विदेशी विनिमय के माध्यम से नये ऋणो के ब्याज एव परिशोधन (amortization) मे अन्तरण के प्रति दृष्टिकोण भी परिवर्तित हो जाता है। अन्य शब्दो मे, निर्यात का स्तर जितना निम्न होगा उतनी विदेशो मे इस देश की ऋण हेतु साख कम हो जायेगी। यह सरल त्वरक सिद्धान्त है जिसके अनुसार व्यापार चक्र के काल मे विदेशी ऋणो मे निश्चित रूप से परिवर्तन होते हैं क्योकि उधार लेने वाले देश के भुगतान सन्तुलन तथा निर्यातो की लाभप्रदता मे भी व्यापार चक्रो के काल मे परिवर्तन हो जाते हैं। वस्तुत पुनरुत्थान (recovery) के विषय मे बहुत अल्प व्यक्ति ही आश्वस्त होते हैं तथा इस कारण वे मन्दी के समय मे देश या विदेश म पर्याप्त पूंजी निवेश करना पसन्द नही करते। निष्कर्षत उत्कर्ष के समय दिये जाने वाले निजी ऋणो का स्तर अधिक होता है जबकि मन्दी के समय इसमे कमी हो जाती है।

सचयी-ऋण (Cumulative Lending)

सामान्य रूप से निवेश के अवसरो के अनुरूप उत्कर्ष के समय विदेशो को अधिक तथा मन्दी के समय उन्हे कम ऋण दिये जाते हैं परन्तु कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी होती हैं जब कुछ व्यक्ति या देश ऋण देते रहने अथवा लेते रहने का औचित्य स्वीकार करते हैं। फिर भी हम यह याद रखना चाहिए कि विदेशी ऋण दीर्घकाल तक देश मे विद्यमान निवेश के अवसरो के अभाव की पूर्ति नही कर सकते, क्योकि इनके साथ ब्याज तथा परिशोधन (amortization) के दायित्व जुडे रहते हैं। यदि कोई देश अनन्तकाल तक प्रतिवर्ष 100 करोड रुपये का निर्यात अतिरेक बनाये रखना चाहते हो तो इसे प्रत्येक वर्ष 100 करोड रुपये तथा पिछले ऋणो की ब्याज व बकाया परिशोधन की राशि ऋण स्वरूप देनी होगी। ब्याज की दर एव परिशोधन की राशि जितनी अधिक होगी, निर्दिष्ट निर्यात अतिरेक को बनाये रखने हेतु दिये जाने वाले ऋण की राशि उतनी ही तीव्र गति से बढती जायेगी। हिन्शॉ द्वारा निर्मित एक तालिका को किण्डलबर्गर ने अपनी पुस्तक म प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार यदि ब्याज की दर 2 प्रतिशत है तो देश को पाँचवें वर्ष म 135 करोड रुपये विदेशो मे निवेश करने होगे। प्रत्येक अगले वर्ष मे निवेश की यह राशि बढती जायेगी तथा बीसवें वर्ष मे यह देश 328 करोड रुपये का निवेश करके ही वार्षिक निर्यात अतिरेक का स्तर 100 करोड रुपये बनाये रख सकता है। परन्तु यदि ब्याज की दर 6 प्रतिशत हो तो उपर्युक्त स्तर को बनाये रखने हेतु पाँचवें वर्ष की निवेश राशि 152 करोड रुपये तथा 20वें वर्ष की निवेश राशि 532 करोड रुपय तक बढ जायेगी। हिन्शॉ की ऐसी मान्यता है कि यदि ब्याज की दर 8 प्रतिशत हो, तथा 50वें वर्ष की आवश्यकता ज्ञात की जानी हो तो स्थायी रूप से बिना परिशोधन के 469 करोड रुपये का निवेश करना होगा।[1]

यदि प्रसविदे के अनुरूप पुराने ऋणो के भुगतान, तथा तदनुसार दुर्बल करेन्सी वाले विकासशील देशो से पूंजी के सशक्त करेन्सी वाले देशो म पूंजी के आगमन से बचना हो तो अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे प्रतिवर्ष विकासशील देशो मे भारी मात्रा म नये ऋण देती रहे। पूंजी की सीमान्त उत्पादकता की समानता बनाये रखने के लिए पूंजी-बहुलता वाले देशो को चाहिए कि वे स्थायी पावनो के परिमाण को बनाये रखने हेतु पूंजी की कमी वाले देशो म स्थायी रूप से ऋण दें। परन्तु यहाँ परिशोधन की शर्त एक भ्रान्ति उत्पन्न करती है। किसी ऋण विशेष के लिए महत्वपूर्ण होने पर भी इसके कारण विदेशो की ऋण देने की प्रक्रिया म कुल मिलाकर जटिलता उत्पन्न हो जाती है क्योकि जब तक नये ऋणो द्वारा स्थिति को सँभाला नही जाता, इससे पूंजी के अन्तरण की मात्रा म निरन्तर वृद्धि होती जाती है।

परिशोधन के अतिरिक्त पुराने ऋणो पर ब्याज की वसूली भी एक समस्या उत्पन्न करती है। यदि ऋण देना समाप्त कर दिया जाय तो प्रसविदे के अन्तर्गत प्राप्य ब्याज के कारण ऋणदाता या साहूकार देश का भुगतान-सन्तुलन बिगड जायेगा। बकाया विदेशी ऋणो की राशि की वृद्धि दर तथा विदेशी ऋणो पर प्राप्त ब्याज की दर समान होने पर ही इस विवर्तन को रोका जा सकता है। यदि कोई देश जिस ब्याज दर पर विदेशो को ऋण देता है, उसी दर पर देश की उत्पादकता तथा आय मे वृद्धि हो, तथा यदि इस कारण इसकी ऋण राशि की वृद्धि दर यही रहती है जो अन्य बातें यथावत् रहने पर, व्यापार सन्तुलन भी परिवर्तित रहेगा।

---

1 Kindleberger, *op cit*, pp 381-82

ब्याज के भुगतान हेतु ऋण लेना (Borrowing for Paying Interest)

यदि मूल ऋण का निवेश उत्पादक कार्यों हेतु किया गया हो तथा इसमे प्राप्त आय से अन्ततः ब्याज चुकाये जाने की आशा हो तो ब्याज के भुगतान हेतु प्रारम्भिक वर्षों में विदेशों से ऋण लेने में कोई बुराई नहीं है। परन्तु यदि विदेशों से प्राप्त ऋणों के उपयोग से होने वाली समस्त आय बचत में प्रयुक्त कर ली जाय तथा दूसरी ओर उन ऋणों को निवेश के बदले उपभोग मे व्यय कर दिया जाय तो देश पर उत्तरोत्तर ऋण के भार में वृद्धि हो जायगी।

साधारण रूप से एक साहूकार देश विदेशों में उधार दी गयी राशि पर आय प्राप्त करता है। निर्यात में वृद्धि की भाँति इस आय का भी राष्ट्रीय उत्पाद एवं रोजगार पर गुणक प्रभाव (multiplier effect) होता है। बहुधा इस आय का एक भाग देशीय वस्तुओं पर व्यय किया जाता है, एक अंश को आयात पर व्यय किया जायगा तथा शेष को बचत में प्रयुक्त कर दिया जायेगा।

अब पुन: हम ब्याज के भुगतान हेतु ऋण लेने की आवश्यकता का वर्णन करेंगे। बहुधा हमारे सामने यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि गरीब देश जितनी राशि नवीन पूंजी-निवेश में प्रयुक्त करते हैं उससे कहीं अधिक राशि धनी साहूकार देश उधार दी गयी राशि पर ब्याज या निवेश की गयी पूंजी के लाभ के रूप में उनसे (गरीब देशों से) वसूल कर लेते हैं। डोमर ने एक लेख में लिखा है कि यदि कुल दिये जाने वाले ऋणों की वृद्धि दर बकाया ऋणों की ब्याज दर के समान न हो, तो उधार लेने वाले देश की भुगतान बाकी शीघ्र ही प्रतिकूल हो जायेगी।

परन्तु यदि कोई ऋण ऐसी परियोजना के लिए प्राप्त किया जाये जिसके पूरा होने में काफी समय लगता हो तो जब तक उत्पादन प्रारम्भ नहीं हो जाता तब तक के लिए ब्याज के भुगतान हेतु विदेशों से ऋण लिये जा सकते हैं। व्यक्त राशि तथा उधार ली गयी पूंजी की वास्तविक राशि का अन्तर उत्पादन प्रारम्भ करने तक की संचयी ब्याज के समान है। इसके पीछे यह धारणा निहित है कि दीर्घकाल तक चलने वाली परियोजना के द्वारा उत्पादन (तथा उत्पादकता) में अन्ततः इतनी वृद्धि हो जायगी कि देश अपने आयातों में कटौती, तथा निर्यातों में पर्याप्त वृद्धि करने में सफल हो जायगा। यह विश्लेषण इस मान्यता पर आधारित है कि उपभोग की वित्त-व्यवस्था विदेशी सहायता द्वारा होनी चाहिए। परन्तु ब्याज के भुगतान हेतु ऋण लेने के पीछे यह धारणा है कि ऋण देने वाली एजेन्सियाँ विदेशों से प्राप्त अपनी ब्याज व लाभांश की आय को ऋणी देश में पुन: निवेश करने को तत्पर हैं।

ऋण प्रभार अनुपात (Debt Service Ratio)

21वें अध्याय में हम ऋण प्रभार अनुपात (विदेशी ऋणों पर ब्याज व परिशोधन की राशि का निर्यात-आय से अनुपात) का परिचय प्रस्तुत कर चुके हैं। द्वितीय विश्व युद्ध काल में बहुत से देशों ने विकसित देशों, विशेष रूप से अमरीका व कनाडा से काफी अधिक ऋण प्राप्त किये। ऐसा कहा जाता है कि आज उन ऋणों की ब्याज व परिशोधन की राशि बहुत अधिक बढ़ चुकी है। जैसा कि पूर्व के अध्यायों में बताया गया है, पिछले दो-तीन दशकों में अनेक विकासशील देशों ने आर्थिक विकास के नाम पर भी भारी मात्रा में ऋण प्रदान किये हैं तथा इनके ऋण प्रभार का अनुपात भी काफी ऊँचा चला गया है। कुछ देशों के लिए तो यह अनुपात 25 प्रतिशत से भी अधिक है, अर्थात् ये अपनी निर्यात आय का एक चौथाई से भी अधिक ऋणों की ब्याज एवं परिशोधन में व्यय कर रहे हैं।

परन्तु ऋण-भार का अनुपात अत्यधिक चिन्ता का विषय नहीं होना चाहिए। यदि निर्यात की वृद्धि तथा आयात की कटौती काफी अधिक है यदि नये निवेश काफी अधिक उत्पादक हों, तथा ऋणी देश की अतिरिक्त आय का एक बहुत बड़ा अंश बचत में प्रयुक्त किया जाता है तो अल्पकाल में ऋण प्रभार का अनुपात अधिक हो सकता है, परन्तु कुछ समय के बाद ही यह कम हो जायेगा। किसी एक समय-बिन्दु पर एक निर्दिष्ट ऋण-प्रभार अनुपात को लेकर कोई भी निष्कर्ष देना उचित नहीं होगा, वस्तुत: इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी-प्रवाह (विशेषतया ऋणी देश के सन्दर्भ में) के अनेक पहलुओं को देखकर ही कोई विवेकपूर्ण निष्कर्ष दिया जाना चाहिए। इनमें से महत्त्वपूर्ण पहलू निम्नांकित हो सकते हैं :

(1) ऋणों को उत्पादक कार्यों हेतु निवेश किया गया है;

(2) बढे हुए उत्पादन का एक बडा भाग निर्यात हेतु प्रयुक्त किया जाना चाहिए जबकि शेष का उपयोग ऋण-सेवा तथा नयी परियोजनाओ के लिए बचत हेतु किया जाना चाहिए;

(3) अर्थ-व्यवस्था के लिए यह सम्भव होना चाहिए कि देश के अधिकाधिक साधनो को निर्यात तथा आयात प्रतिस्थापन उद्योगो मे पुन आवटित कर सके;

(4) अर्थ-व्यवस्था का प्रबन्ध कुल मिलाकर कुशलतापूर्वक होना चाहिए।

प्रत्यक्ष निवेश (Direct Investment)

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र मे प्रत्यक्ष निवेश सम्भवतः सबसे अधिक सवेदनशील विषय है। विकसित देश अपनी कम्पनियो द्वारा विदेश मे किये जाने वाले निवेश पर अकुश रखकर भुगतान-सन्तुलन को बनाये रखने का प्रयास करते हैं, जबकि विकासशील देश बाहर से आने वाली निवेश पूंजी को सशय की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि यह पूंजी शोषणकारी हो सकती है तथा इसके निवेश द्वारा विदेशी कम्पनियाँ देश मे उपलब्ध साधनो का अपहरण कर सकती हैं। यही कारण है कि अधिकाश विकासशील देश विदेशी प्रत्यक्ष निवेश के लिए यह शर्त लगा देते हैं कि ऐसी कम्पनियों के प्रबन्ध, कर्मचारियो की नियुक्ति तथा निर्यात व्यापार मे स्थानीय भागीदारी भी रखी जायगी। यदि किसी कम्पनी की शेयर पूंजी मे 100, 90, 51 या 49 प्रतिशत स्वामित्व प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के रूप मे हो, तो इससे निवेश करने वाली कम्पनी का नियन्त्रण भी तदनुरूप ही होता है। परन्तु विभागीय निवेश (Portfolio investment) मे किसी विदेशी कम्पनी का इस प्रकार का नियन्त्रण निहित नही होता। हमे यह ध्यान रखना चाहिए कि कम्पनी पर नियन्त्रण के सन्दर्भ मे हम देखते है कि उत्पादन की प्रकृति व मात्रा उच्च-स्तरीय अधिकारियो की नियुक्ति, पूंजी-अनुदान (Capital budget), शोध आदि मे सम्बधित नियन्त्रण कौन व किस प्रकार लेते हैं।

यदि किसी अन्य देश मे निवेश करने वाली कोई फर्म वहाँ के स्थानीय बाजारों मे ऋण लेती है तो इस प्रकार के प्रत्यक्ष निवेश मे पूंजी का कोई अन्तरण नही होता। एक बार निवेश लाभप्रद बन जाने पर वह विदेशी कम्पनी अपने ऋणो का भुगतान कर देगी और यहाँ तक कि अपने लाभो को पुन निवेश करने लगे। परन्तु, अधिकाश स्थितियो मे प्रत्यक्ष निवेश के अन्तर्गत पूंजी का अन्तरण तो होता ही है अन्य देश मे स्थित कम्पनी ने प्रबन्ध पर आशिक (या कहीं-कहीं पूर्ण) नियन्त्रण भी होता है। यही नही, बहुधा पूंजी के साथ-साथ प्रौद्योगिकी (technology) का भी अन्तरण किया जाता है। कभी-कभी सयुक्त उद्योग (Joint ventures) स्थापित किये जाते हैं, जिनके अन्तर्गत विदेशी कम्पनियाँ विदेशी विनिमय के रूप मे शेयर पूंजी प्रदान करती हैं, अथवा उनके पेटेन्ट (Patents), मशीनो, प्रौद्योगिकी या अन्य प्रकार के योगदान को ही शेयर पूंजी मे उनके योगदान के रूप मे मान लिया जाता है।

आर्थिक इतिहास मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनके अन्तर्गत कुछ कम्पनियो ने भूतकाल मे *लाभ अर्जित करने के उद्देश्य से नहीं, अपितु निवेश के विविधीकरण (diversification)* अथवा हानि से बचने के लिए अन्य देशो मे पूंजी का निवेश किया था। फिर भी यदि लाभ का 50 प्रतिशत अथवा इससे अधिक उन्ही कम्पनियो मे पुनः निवेश कर दिया जाय तो विदेशी प्रत्यक्ष निवेश तथा जुए मे कोई अन्तर नही रह जायेगा।

चूंकि किसी कम्पनी के लिए किसी दूसरे देश मे व्यवसाय करना स्थानीय (वहाँ के) उद्यमियो की अपेक्षा अधिक खर्चीला तथा कम लाभप्रद कार्य है। विदेशो मे निवेश करने वाली अधिकाश कम्पनियाँ इस कमी की पूर्ति करने हेतु स्थानीय फर्मों की अपेक्षा अपनी प्रौद्योगिकी, या अपने पेटेन्ट आदि की श्रेष्ठता को विद्यमान रखना चाहेगी। यदि फर्म को देश के बाहर पूंजी निवेश करके लाभ अर्जित करना है तो यह विशिष्ट लाभ अथवा श्रेष्ठता आवश्यक ही है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि कम्पनी पूंजी का अन्य देशो मे निवेश करके देश मे लिये जाने वाले निवेश की अपेक्षा अधिक लाभ अर्जित करे। यही नही, विदेशी कम्पनी के लाभ मेजवान देश की फर्मों द्वारा उतनी ही पूंजी निवेश से प्राप्त लाभों की अपेक्षा अधिक होनी चाहिए।

प्रत्यक्ष निवेश के प्रस्तुत उपर्युक्त विवरण से निम्न तीन बातें स्पष्ट होती हैं :

(1) जिन उद्योगो मे पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान है उनमे प्रत्यक्ष विदेशी निवेश नही किया

जायगा । यही कारण है कि कृषक या खुदरा व्यापारी विदेशों में प्रत्यक्ष रूप से निवेश करना पसन्द नहीं करते,

(2) एक कम्पनी यथासम्भव स्थानीय उद्यमियों की तुलना में अपनी श्रेष्ठता को बनाये रखने का प्रयास करती है जबकि ये स्थानीय उद्यमी भी विदेशी निवेशकर्ता को संशयात्मक दृष्टि से देखते हैं,

(3) प्रत्यक्ष निवेश एक ही उद्योग में दो दिशाओं में प्रयुक्त किये जाते हैं, कुछ तो विभेदात्मक स्थिति के लाभों में अन्तर के कारण, तथा कुछ अल्पाधिकारिक स्थिति के कारण, जिसके अन्तर्गत एक फर्म यथासम्भव किसी दूसरे फर्म को अप्रत्याशित लाभ प्राप्त नहीं करने देगी । यह उस नौका-दौड़ की भाँति है जिसमें कोई भी नाविक किसी दूसरे की नौका को अपने से आगे नहीं जाने देता, अपितु नेता के पीछे रहकर अपनी स्थिति को बनाये रखता है ।

प्रारम्भिक गणित में प्रस्तुत आय के स्थायी प्रवाह को पूँजीकरण करने वाले एक सरल सूत्र द्वारा प्रत्येक निवेश के सिद्धान्त का संक्षिप्त रूप बताया जा सकता है':

$$C = \frac{I}{i}$$

इस सूत्र में C पावने (Asset) या निवेश का मूल्य है, I इस निवेश से प्रतिवर्ष प्राप्त होने वाला आय प्रवाह है जबकि i बाजार की ब्याज दर है । कुछ अर्थशास्त्रियों का तर्क है कि विदेशी लोग A देश में आय प्रदान करने वाले किसी पावने या व्यवस्था के लिए उस देश के निवासियों की तुलना में अधिक पूँजी निवेश करने को इसलिए तैयार नहीं होते कि A में ब्याज की दर (i) कम है, अपितु इसलिए कि इस निवेश से प्राप्त आय प्रवाह (I) अधिक है । अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी बाजारों में पूर्ण प्रतियोगिता नहीं है, तथा सामान्यतः ब्याज की दरों के अन्तर का पूँजी के अन्तरण (प्रवाह) पर प्रभाव भी पड़ता है । परन्तु विदेशी लोग ब्याज की दर वही होने पर I का भी मूल्य अधिक होने के कारण किसी दूसरे देश में पूँजी का निवेश कर देते हैं ।

भुगतान की बाकी पर प्रत्यक्ष निवेश के कारण [EFFECT OF DIRECT INVESTMENT ON THE BALANCE OF PAYMENTS]

प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के कारण निवेश करने वाले, तथा निवेश प्राप्त करने वाले दोनों ही देशों की भुगतान बाकी प्रभावित होती है । यह तो सामान्यतया स्वीकार किया जाता है कि प्रत्यक्ष निवेश के कारण साज-सज्जा (equipment), कल पुर्जों, भण्डार आदि के निर्यात में तो वृद्धि होती ही है, इनके कारण कुछ परोक्ष निर्यातों में भी वृद्धि होती है । इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष निवेश के कारण निवेशकर्ता को लाभांश तथा ब्याज की प्राप्ति होती है । इस प्रकार, यद्यपि प्रत्यक्ष निवेश से निवेश करने वाले देश की भुगतान बाकी पर एक बार तो प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, परन्तु ब्याज व लाभांश की प्राप्ति (remittances) तथा बढ़ते हुए निर्यातों के कारण उसकी भुगतान बाकी अगले अनेक वर्षों तक अनुकूल बनी रहेगी । परन्तु दीर्घकाल में मेजबान (host) देश निवेश करने वाले देश से अनेक वस्तुओं का आयात बन्द कर सकता है, क्योंकि तब तक उसकी स्वयं की उत्पादन क्षमता में (विदेशी निवेश के कारण) काफी सुधार हो सकता है । इसके फलस्वरूप उस समय के पश्चात् निवेश करने वाले देश की भुगतान बाकी पर प्रतिकूल प्रभाव हो सकता है, फिर भी बहुधा यह प्रतिकूल प्रभाव अन्य वस्तुओं के निर्यात में हुई वृद्धि, रॉयल्टी भुगतानों, तथा मेजबान देशों से आने वाली ब्याज व लाभांश की राशि की तुलना में बहुत कम होता है ।

प्रत्यक्ष निवेश के प्रथम वर्ष में मेजबान देश की भुगतान बाकी काफी अनुकूल हो जाती है । परन्तु आगे के वर्षों में परिशोधन, ब्याज तथा लाभांश के भुगतानों के कारण इसकी भुगतान बाकी प्रतिकूल होने लगती है । ये बाहरी भुगतान किस सीमा तक उसकी भुगतान बाकी पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं, यह इस पर निर्भर रहता है कि मूल निवेश पर कितना लाभ प्राप्त होता है तथा ब्याज व लाभांश के अन्तरण हेतु क्या शर्तें स्वीकार की गयी हैं ।

उपसंहार (Conclusion)

दीर्घकालीन पूंजी-अन्तरण के अन्य पहलुओ, जैसे विकसित देशो द्वारा विकासशील देशो को दी जाने वाली आर्थिक सहायता की शर्तों तथा विकसित देशो द्वारा विकासशील देश के "शोषण" आदि का विस्तृत वर्णन अध्याय 22 मे किया गया है। अन्त मे, हम केवल यही कह सकते हैं कि अल्पकालीन व दीर्घकालीन पूंजी-अन्तरणो को धनी देशो से निर्धन देशो के पक्ष मे पूंजी अन्तरण के रूप मे नहीं माना जाना चाहिए, और न ही यह समझना चाहिए कि इन पूंजी-अन्तरणो के माध्यम से धनी देश निर्धन देशो पर कोई एहसान करते हैं। जिन देशो के पास पर्याप्त निर्यात अतिरेक हैं यह उन्हीं के हित मे होगा कि वे आयात करने वाले देशो को अल्पकालीन साख प्रदान करें। व्यक्तियो व निजी कम्पनियो द्वारा किये गये प्रत्यक्ष निवेश ठीक उसी प्रकार दीर्घकाल तक निवेशकर्ता को आय प्रदान करते हैं, जिस प्रकार कि देश मे ही पूंजी निवेश करने पर उन्हें लाभाश प्राप्त होते हैं। फिर भी, अधिकांशत विदेशी निवेशो पर प्राप्त प्रतिफल देश की पूंजी, यही निवेश करने पर प्राप्त होने वाले लाभाश से अधिक होते हैं।

यद्यपि विदेशी निवेशो का मेजवान देश की भुगतान बाकी पर दूरगामी प्रभाव होता है। प्रथम, इन निवेशो की शर्तें इस प्रकार निर्धारित की जानी चाहिए ताकि देश की भुगतान बाकी पर कम से कम प्रतिकूल प्रभाव पडे। द्वितीय, मेजवान देश के लिए यह भी आवश्यक है कि वह कालान्तर में इन विदेशी निवेशो की वृद्धि पर अकुश लगा दे। अन्त मे, मेजवान देश का अन्तत यही लक्ष्य होना चाहिए कि वह अपने निर्यात मे पर्याप्त वृद्धि करे ताकि वह विदेशो से प्राप्त पूंजी का ब्याज सहित भुगतान कर सके। इसके लिए यह आवश्यक होगा कि निवेश हेतु विदेशो से प्राप्त पूंजी का दक्षतापूर्वक उपयोग किया जाये।

प्रश्न एवं उनके संकेत

1. **अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूंजी के एकतरफा अन्तरण के सम्बन्ध में प्रथम विश्व युद्ध के बाद से चल रहे विवादों की चर्चा कीजिए। "अन्तरण क्षति" तथा 'प्राथमिक' एवं 'माध्यमिक' "अन्तरण भार" की अवधारणाओं का अर्थ बताइए। भुगतान की बाकी के समायोजन से सम्बद्ध आधुनिक सिद्धान्त इस अन्तरण प्रक्रिया पर क्या प्रकाश डालता है ? क्या आप द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से पूंजी तथा अन्य प्रकार के कोषों के अन्तर्राष्ट्रीय अन्तरण के उदाहरणों सहित अपना विश्लेषण दे सकते हैं ?**

   Discuss the essentials of theoretical controversy after the World War II, relating to unilateral transfers of capital on an international level Explain the terms "transfer loss" and "transfer burdens"—'primary' and 'secondary' What light does the modern theory of adjustment in the balance of payments throw in explaining the transfer process ? Can you illustrate your analysis with instances of international movements of capital and other funds since the end of World War II ?

   [सकेत—प्रश्न स्पष्ट एव सरल है। पुस्तक मे दी गयी सामग्री के आधार पर इसका उत्तर दें।]

2. **दीर्घकालीन पूंजी-अन्तरण के सन्दर्भ मे देशीय तथा विदेशी पूंजी निवेश के मध्य अन्तर बताइए।**

   Distinguish between domestic and foreign capital investment in the context of long-term capital movements

   [सकेत—पहले तो विद्यार्थी को दीर्घकालीन पूंजी-अन्तरण का अर्थ बताना चाहिए और फिर देशीय पूंजी निवेश तथा विदेशी पूंजी निवेश का अर्थ बताते हुए इनका अन्तर बतलाना चाहिए। इस सन्दर्भ मे कीन्स द्वारा सुझाया गया अन्तर बताना अधिक उपयुक्त रहेगा।]

3 **निम्न पर सक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए :**

   (i) सशर्त तथा परियोजना आधारित ऋण,
   (ii) आयातों के वित्त प्रबन्ध हेतु ऋण लेना,
   (iii) स्थिरता लाने वाले ऋण,
   (iv) ऋण देने का पक्षीय पैटर्न।

Write short notes on :

(i) Tied and Project-based loans,
(ii) Borrowing to finance imports,
(iii) Stabilization loans,
(iv) The cyclical pattern of lending.

4. प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के भुगतान को बाकी पर क्या प्रभाव होते हैं ?

What are the effects of direct foreign investment on the balance of payments ?

[संकेत—प्रस्तुत अध्याय में इस विषय का पृथक् से विस्तृत वर्णन किया गया है। उसी विवरण के आधार पर विद्यार्थी इस प्रश्न का उत्तर दें।]
